हिन्दी विश्व-भारती

पहला खण्ड

संपादक

कृष्णवल्लभ द्विवेदी—श्रीनारायण चतुर्वेदी

सहयोगी लेखक

डा० गोरखप्रसाद, डी० एस-सी० (एडिनबरा), एफ० आर० ए० एस०, रीडर, गणित, प्रयाग-विश्वविद्यालय।

श्री० भगवतीप्रसाद श्रीवास्तव, एम० एस-सी०, एल-एल० बी०, लेक्चरर, भौतिक विज्ञान, धर्मसमाज कॉलेज, अलीगढ़।

श्री० मदनगोपाल मिश्र, एम० एस-सी०, प्रिंसिपल, कान्यकुब्ज कॉलेज, लखनउ।

डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, एम० ए०, एल एल० बी०, पी एच० डी०।

श्री० रामनारायण कपूर, बी० एस-सी० (मेटल०)।

डा० शिवकण्ठ पाण्डेय, डी० एस-सी०, रीडर, वनस्पति-विज्ञान, लखनऊ-विश्वविद्यालय।

श्री० श्रीचरण वर्मा, एम० एस-सी०, एल-एल० बी०, रीडर, जीव-विज्ञान, प्रयाग-विश्वविद्यालय।

श्री० सीतलाप्रसाद सक्सेना, एम० ए०, बी० काम०, भू० लेक्चरर अर्थशास्त्र, लखनऊ-विश्वविद्यालय।

डा० रामप्रसाद त्रिपाठी, एम० ए०, डी० एस-सी० (लंदन), उपकुलपति, सागर-विश्वविद्यालय।

डा० राधाकमल मुकर्जी, एम० ए०, पी-एच० डी०, प्रोफेसर, समाज-विज्ञान, लखनऊ-विश्वविद्यालय।

श्री० वीरेश्वर सेन, एम० ए०, वाइस-प्रिंसिपल, गवर्नमेंट स्कूल ऑफ़ आर्ट्स् एण्ड क्राफ्ट्स्, लखनऊ

श्री० द्वारकाप्रसाद, एम० ए०, लोहारदगा।

डा० डी० एन० मजूमदार, एम० ए०, पी-एच० डी० (कैंटब), पी० आर० एस, एफ० आर० ए० आई०, लेक्चरर, मानव-विज्ञान, लखनऊ-विश्वविद्यालय।

श्री० श्यामसुंदर द्विवेदी, एम० ए०, एल-एल० बी० साहित्यरत्न जूडीशियल ऑफिसर, मध्यभारत।

श्री० शम्भुप्रसाद बहुगुणा, एम० ए०, अध्यापक, इसाबेला थाबर्न कॉलेज, लखनऊ।

श्री० लक्ष्मीशंकर मिश्र 'अरुण', बी० ए०।

श्री० भगवतशरण उपाध्याय, एम० ए०।

प्रकाशक

राजराजेश्वरप्रसाद भार्गव,

हिन्दी विश्व-भारती कार्यालय,

चारबाग़, लखनऊ.

विषय-सूची

विश्व की कहानी

पृथ्वी की कहानी

मनुष्य की कहानी

मनुष्य की कहानी (क्रमशः)

हमारा मस्तिष्क

मानव समाज

इतिहास की पगडंडी

प्रकृति पर विजय

मनुष्य की कलात्मक सृष्टि

मनुष्य की कहानी (क्रमशः)

साहित्य-सृष्टि

देश और जातियाँ

भारत भूमि

मानव विभूतियाँ

अमर कथाएँ

क्या, क्यों और कैसे ?

हिन्दी विश्व-भारती—क्या और क्यों ?

अपनी इस प्रगति की यात्रा में हम मानव आज दिन उस स्थिति पर आ पहुँचे हैं, जहाँ से भविष्य की ओर पाँव बढ़ाने के पहले एक बार अपने आसपास की इस दुनिया और स्वयं अपने आप पर भी एक विहंगम दृष्टि डाल लेना हमारे लिए नितान्त आवश्यक हो गया है।

हमें देख लेना है कितना रास्ता हम पार कर चुके, इस समय हम किस परिस्थिति में हैं, और इस जगह से यह दुनिया हमें कैसी दिखाई दे रही है। हमारे लिए यह अनिवार्य रूप से आवश्यक है; क्योंकि अब हम यह दिन पर दिन अनुभव करने लगे हैं कि देह और अवयव की तरह इस दुनिया से हमारा रक्त और मांस का सबंध है—इसकी ओर से मुँह चुराकर या इसके प्रति आँखें बन्द कर पल भर के लिए भी हम अपनी सभ्यता की इमारत को खड़ा नहीं रख सकते।

मुश्किल से कुछ हज़ार, या संभव है कुछ लाख, वर्ष अभी बीत पाये होंगे, जब सहसा अपने हमजोली दूसरे जीवधारियों को पीछे छोड़कर हम एक दिन अपनी इस पगडंडी पर चल पड़े थे। हमारे मन में इस अद्भुत दुनिया को जानने और समझने की एक अजीब उत्कंठा जग उठी थी, और भीतर ही भीतर कुछ प्रश्न हमारे मस्तिष्क में खलबली मचाने लगे थे। अपने वे आरंभ के प्रश्न तो किसी न किसी तरह हमने हल कर लिये। पर लाख कोशिश करने पर भी अपनी उस प्रबल ज्ञान की प्यास को हम न दबा पाये। ज्यों-ज्यों पुरानी गुत्थियाँ सुलझती गईं, नए-नए प्रश्न आ-आकर हमारे सामने जुटते गये। और आज भी, जब कि अपने पेचीदे यन्त्रों से हमने इस दुनिया के रहस्य की एक झाँकी देख पाने में सफलता पा ली है, अपने इतिहास के प्रभातकाल की ही तरह ज्ञान की एक प्रकाश-रेखा के लिए हम ज्यों-के-त्यों अंधकार में हाथ फटफटाते हुए लगातार पुकार रहे हैं—"तमसो मा ज्योतिर्गमय" (इस अंधकार से हमें प्रकाश की ओर ले चल)।

लड़खड़ाते और ठोकरें खाते जब पहले-पहल हम जंगलों से बाहर निकले थे तब तो यह दुनिया हमारे लिए कोई बहुत बड़ी न थी। साथी-संगी कुछ जानवर, पानी से घिरी थोड़ी-सी धरती और सिर पर चमकते हुए चाँद, सूरज और जुगनू जैसे कुछ हज़ार तारे—यही थी हमारी उन दिनों की दुनिया! किन्तु पिछले दो-तीन हज़ार वर्षों की अवधि ही में हमने अपने औज़ारों और यन्त्रों से मानो फैलाकर इस छोटी-सी दुनिया को कितनी लम्बी-चौड़ी बना लिया है! और इसके साथ-ही-साथ स्वयं हमने भी जिस अद्भुत नवीन सृष्टि की रचना कर डाली है, वही क्या कम अचरज की वस्तु है। चींटी से हाथी बनकर आज हम न सिर्फ संसार के विकास की धारा में बहते हुए आगे बढ़ रहे हैं, बल्कि अपनी सृजन शक्ति, द्वारा उसे गति देते हुए किसी अज्ञात लक्ष्य की ओर मोड़ते भी जा रहे हैं। उस प्रेरक शक्ति का मूल क्या हमारा वह ज्ञान ही नहीं है जिसे हमने अपनी जिज्ञासा के फल के रूप में पाया है?

युग-युग की कठोर साध और पराक्रम से उपार्जित यह अनमोल ज्ञान-राशि ही हमारी इस जीवन-संग्राम-यात्रा का एकमात्र सबल है। इसी पर हमारे वर्त्तमान या भावी जीवन का स्वरूप निर्भर है। भारत में तो आज दिन हमें इस संबल की सबसे अधिक आवश्यकता है, क्योंकि यहाँ इस समय हम एक महान् युगान्तर की घड़ियों में से गुज़र रहे हैं। राजनीतिक, सामाजिक और सांपत्तिक दासता की बेड़ियों में जकड़ा हुआ भारत आज मुक्ति के लिए जीवन-मरण के घोर संग्राम में प्रवृत्त है। किन्तु क्या उसकी यह साध कभी पूरी हो पायगी यदि वह दासता के सबसे घोर रूप अविद्या और अज्ञानांधता के चंगुल से अपनी मुक्ति न कर पाया? ज्ञान का यह प्राचीन रश्मिकेन्द्र आज निरक्षरता के घोर शाप से ग्रस्त है। उसके अस्त्र-शस्त्र कुंठित हो गये हैं—वे पुराने पड़ गये हैं। और ज़ंग ने उन्हें चाट खाया है। फिर भी मोहवश वह इन्हीं टूटे हथियारों को लेकर जीवित रहने की विडम्बना में फँसा हुआ है। क्योंकर इस घोर मृत्युरूपी अविद्या-पाश से उसका छुटकारा हो?

भारत ही के आर्षग्रंथों में वर्णित एक प्रसंग में प्रश्न का बड़ा महत्वपूर्ण उत्तर निहित है। कहते हैं, बार जब असुरों (या अविद्या की शक्ति विश्व की रक्षा करने का सामर्थ्य

रत में ज्ञान की अधिष्ठात्री वीणापाणि भारती (विद्या या ज्ञान की शक्ति) ने ही र णभूमि में उतरकर संसार की रक्षा की थी । आज भी जब कि अपने ही पैदा किए हुए अपने मस्तिष्क के जालों के कारण हमारी दृष्टि धुंधली पड़ गई है और विचारों में एक अजीब संकीर्णता आ गई है; जब कि व्यक्तिगत स्वार्थपरता ही हमारा एकमात्र व्यवसाय हो गया है और उसके कारण यह दुनिया हमारे लिए दुःखदैन्य का आगार बन गई है ; जब कि ज्ञान-विज्ञान का भी उपयोग मुख्यतया मानव द्वारा मानव के शोषण और हत्या के लिए ही किया जाने लगा है और एक दृष्टि से मानव-जाति फिर से बर्बरावस्था की ओर अग्रसर होती दिखाई देने लगी है—पारस्परिक संघर्ष और सांस्कृतिक पतन की इस घड़ी में हम सिवा उसी अविद्यानाशिनी ज्ञानमूर्त्ति भारती के किसका आह्वान करें ? हमारी यह जड़ता और अज्ञान ही तो हमारे इस समस्त दुःख-दैन्य और संघर्ष की जड़ है । इससे छुटकारा पा जाने पर क्या फिर इस बात को समझना हमें कठिन होगा कि सब मनुष्य समान हैं और सबके हित ही में प्रत्येक का सच्चा कल्याण है ?

यही है 'हिन्दी विश्व-भारती' की कहानी का प्रारंभ । 'हिन्दी विश्व-भारती' कोरा एक ग्रंथ ही नहीं, यह युग-परिवर्त्तन की घड़ियों में से गुज़र रहे हम भारतवासियों की अंध विचारों या कूपमण्डूकता से मुक्ति पाने के लिए जगी हुई एक नयी साध है । यह हमारे लिए मानव-जाति के संचित ज्ञान को अपनी ही भाषा में पाने का प्रयास ही नहीं, वरन् अपने मस्तिष्क में छाये हुए विचारसंकीर्णता के जालों को झाड़-बुहारकर एक नवीन वैज्ञानिक दृष्टिकोण को अपनाने और आनेवाली पीढ़ी के लिए रास्ता साफ़ कर जाने की एक क्रांति का प्रतीक है ।

अब हम कुएँ में मेढक बन कर नहीं रहने के । अनंत आकाश में चिनगारियों की तरह चमकते हुए चाँद, सूरज, और तारे ; क्षण भर में उमड़-घुमड़कर सिर पर छा जाने वाले बादल और उनमें कौंधती हुई बिजली; बादलों में भी ऊँचे सिर उठाए हुए हिमान्वित गिरिशिखर और उछल-उछलकर उनसे होड़ करती हुई सागर की लहरें ; पृथ्वी को एक अजायबघर-सा बनाये हुए अनगिनत जानवर और पेड़-पौधे, और इन सबसे कहीं अधिक निराला और आश्चर्य-जनक बर्बरावस्था के युग से हवाई जहाज़ और कल-कारख़ानों के इस युग तक बढ़ा चला आ रहा स्वयं हमारा ही अद्भुत जीता-जागता जुलूस, एवं मानव द्वारा चिरंतन सौंदर्य और अनंत की खोज, कला का विकास, और आत्म-ज्ञान की प्राप्ति के सफल प्रयास—ये सब आज अपना रहस्य खोलने को बरबस हमें अपनी ओर खींच रहे हैं । उनको जान लेने की प्रबल उत्कंठा हमारे मन में जग उठी है । किंतु इन सबका ज्ञान क्योंकर हमें सुलभ हो जब तक अपनी ही भाषा में, अपने ही विश्वसनीय पथ-प्रदर्शकों द्वारा और अपने ही वातावरण के अनुरूप और अनुकूल रूप में इनकी कहानी हमें पढ़ने को न मिल सके ?

'हिन्दी विश्व-भारती' आज उसी मनचाहे रूप में विश्व, पृथ्वी और मनुष्य की संपूर्ण कहानी हमारे सामने ला रही है ।

— कृष्णवल्लभ द्विवेदी

विश्व
की कहानी
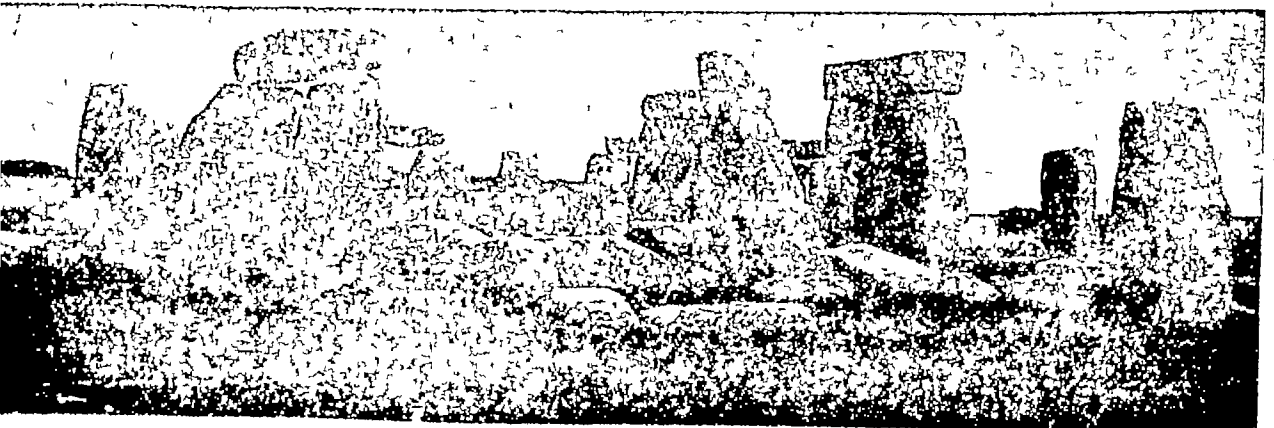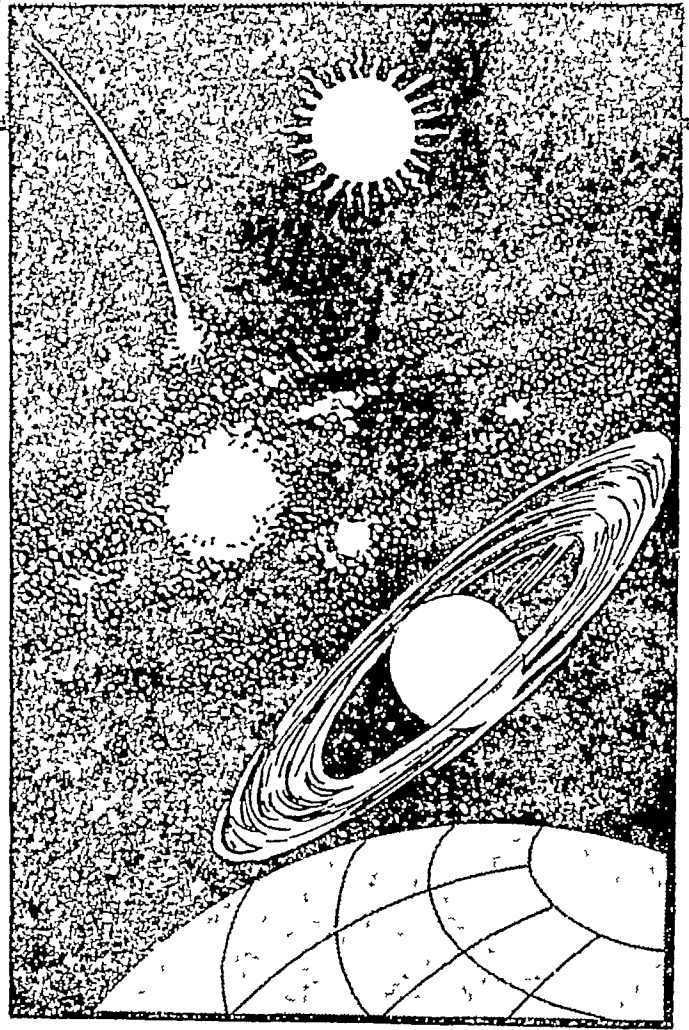
अनन्त ब्रह्माण्ड की एक झलक

जब से मनुष्य को दूरदर्शक के रूप में मानो दिव्य दृष्टि प्राप्त हुई है, एक के बाद एक नवीन क्षेत्र सृष्टि के सुदूर धुँधले क्षितिज से ऊपर उठते हुए उसके सामने फैलने लगे हैं, जिससे उसके मन पर अब इस बात की गहरी छाप जम गई है कि यह विश्व सचमुच ही अनंत है। ऊपर मृगशीर्ष (Orion) नक्षत्रमण्डल में दिखाई पड़नेवाली महान् नीहारिका का माउन्ट विल्सन के १०० इंच शीशेवाले दूरदर्शक से लिया गया एक चित्र है। नंगी आँखों से देखने पर यह नीहारिका शायद एक धुँधले बिन्दुमात्र-सी दिखाई पड़ेगी, किन्तु इसका आकार इतना बड़ा है कि यदि हम लगभग ३० करोड़ मील व्यास के एक गोले की कल्पना करें, और तब ऐसे १० लाख गोलों की लम्बाई-चौड़ाई का अनुमान करें फिर भी उक्त नीहारिका की लम्बाई-चौड़ाई के सामने यह अपरिमेय आकार भी तुच्छ होगा! और हमारे इस विश्व-ब्रह्माण्ड में हजारों ऐसी और इनसे भी बड़ी नीहारिकाएँ हैं, जो आकाश में बिखरी पड़ी हैं, तथा इतनी दूरी पर हैं कि १ लाख ८६ हज़ार मील प्रति सेकंड की गति से चलनेवाले प्रकाश को भी वहाँ से पृथ्वी तक पहुँचने में दस से तीस लाख वर्ष तक लगते हैं! [फोटो—'माउन्ट विल्सन वेधशाला' की कृपा से प्राप्त]

ज्योतिष—प्रारंभिक बातें

दृश्य जगत् के व्यापक रूप अनंत आकाश और उसमें एक दूसरे से लाखों करोड़ों मील की दूरी पर शून्य में चक्कर काटते हुए ग्रहों और नक्षत्रों की अचरज-भरी कहानी।

सूर्य और चन्द्रग्रहण, पुच्छल तारे या चमकती हुई उल्काएँ हमें आश्चर्य में डाल देती हैं। हम सोचने लगते हैं कि तारे क्यों टूटकर गिरते हैं; पुच्छल तारे क्या हैं; उनमें क्यों लंबी-सी पूँछ होती है; सभी तारों में पूँछें क्यों नहीं होती हैं; पुच्छल तारे कुछ दिनों में अंतर्धान क्यों हो जाते हैं; कैसे लोग पहले से ही बतला सकते हैं कि ग्रहण किस दिन और किस समय लगेगा, इत्यादि।

परंतु ज्योतिष-संबंधी साधारण बातें भी कुछ कम आश्चर्य-जनक नहीं। किसी भी स्वच्छ अँधेरी रात में तारों को देखो। कैसा सुंदर दृश्य आँखों के सामने उपस्थित होता है! फिर विचार करो कि इन्हीं तारों के समान अन्य तारे पृथ्वी के अगल-बगल और नीचे भी हैं और उन्हीं के बीच तुम पृथ्वी पर सवार होकर बड़ी तेज़ी से उड़े चले जा रहे हो। असली बात यही है, पृथ्वी तारों के बीच आकाश में प्रचंड गति से सदा दौड़ रही है और तुम उस पर सवार हो! पृथ्वी हमको कितनी बड़ी जान पड़ती है, परंतु इन तारों के सामने वह धूल के एक कण से भी छोटी है!

पाठशालाओं और विश्वविद्यालयों से जनता तक में ज्ञान फैल जाने के कारण अब कई बातों पर हमें आश्चर्य नहीं होता; परंतु प्राचीन मनुष्यों को ऐसी बातें भी अत्यंत रहस्यमयी जान पड़ती थीं। जैसे सूर्य का प्रति दिन पूर्व में उदय होना या ऋतुओं का क्रमानुसार नियमपूर्वक आते रहना, एक वर्ष में कितने दिन होते हैं—कितने दिनों बाद वर्षा ऋतु फिर आयेगी—ऐसी मोटी बातों का पता लगाने में भी हमारे पूर्वजों को अत्यंत कठिनाई पड़ी थी।

आधुनिक विज्ञान ने अनेक बातों का पता लगा लिया है; परंतु साथ ही अनेक नवीन समस्याएँ भी उपस्थित हो गई हैं, जिससे वैज्ञानिक भी आश्चर्यसागर में डुबकियाँ खा रहे हैं। मनुष्य का स्वभाव ही ऐसा है कि वह जानना चाहता है—क्यों? कैसे? क्या हो रहा है? क्या होगा? जिससे प्रत्यक्ष लाभ हो रहा है, उसकी तो बात ही दूसरी है; परंतु जिससे प्रत्यक्ष में कोई लाभ होने की संभावना नहीं है, उसके जानने के लिए भी मनुष्य उत्सुक रहता है। सत्य क्या है, इसके जानने पर जो आनंद मिलता है, जो

आकाश में दौड़ती हुई पृथ्वी

जिस पर सवार हम ६६,६०० मील प्रति घण्टे की गति से शून्य में यात्रा कर रहे हैं!

तृप्ति मिलती है वही खोज के सारे परिश्रम का पुरस्कार है। संसार की मोह-ममता, नोच-खसोट में ज्ञान की खोज मनुष्य को ऊपर उठाती है और इस संबंध में ज्योतिष के अध्ययन से बढ़कर शायद ही कोई दूसरा ध्येय हो सकता हो।

ज्योतिष का अध्ययन हमारे पूर्वजों के लिए वाञ्छित ही नहीं, आवश्यक भी था। पूजा पाठ, खेती-बारी, बही-खाता, इन सभी के लिए ज्योतिष की मोटी-मोटी बातों का जानना आवश्यक था। परंतु ज्योतिष की बातें किसी-न किसी को प्रकृति से ही सीखना था और जो लोग इन विषयों की खोज करते थे, वे ऋषि और ज्ञानी कहलाते थे, उनका सर्वत्र आदर होता था। धीरे-धीरे संहिताएँ और सिद्धात बने, जिनके सहारे ग्रहण आदि तक टेढ़ी बातों की भविष्यद्वाणी की जा सकती थी। ससार के अन्य देशों में भी इसी प्रकार ज्योतिष के ज्ञान की वृद्धि हुई। अति प्राचीन काल में वाणिज्य खूब बढ़ा चढ़ा था। लोग व्यापार के लिए दूर दूर की यात्रा करते थे और इस प्रकार ज्ञान भी एक देश से दूसरे देश तक पहुँच जाता था। भारतवर्ष के अतिरिक्त बैबिलोनिया, चीन और मिस्र दश में भी ज्योतिष का ज्ञान उच्च कोटि का था। इसके बाद यूनानियों ने इस विद्या में बड़ी उन्नति की और वहाँ का ज्ञान भारतवर्ष में भी फैल गया।

सोलहवीं शताब्दी में दूरदर्शक का आविष्कार गैलीलियो ने किया। तब से ज्योतिष में एक नवीन प्रकार का अध्ययन भी होने लगा। पहले सूर्य, चन्द्रमा और ग्रह कैसे चलते हैं, किस समय उनकी स्थिति आकाश में कहाँ होगी, ग्रहण कब लगेगा, इत्यादि, बातों का अध्ययन होता था। दूरदर्शक के आविष्कार के बाद यह भी देखना संभव हो गया कि सूर्य और चंद्रमा का आकार क्या है, उनके पृष्ठों पर क्या-क्या है, कौन-सा ग्रह किस आकार का है, इत्यादि। धीरे-धीरे उनकी नाप-तौल का भी ज्ञान प्राप्त हुआ। कई आश्चर्यजनक बातों का पता

आकाश में पुच्छल तारे का अद्भुत् दृश्य

यह हेली के सुप्रसिद्ध पुच्छल तारे का मई ६, १९१०, को लिया गया चित्र है, जब वह अंतिम बार दिखाई दिया था। [फ़ोटो 'लिक - वेधशाला' की कृपा से प्राप्त]
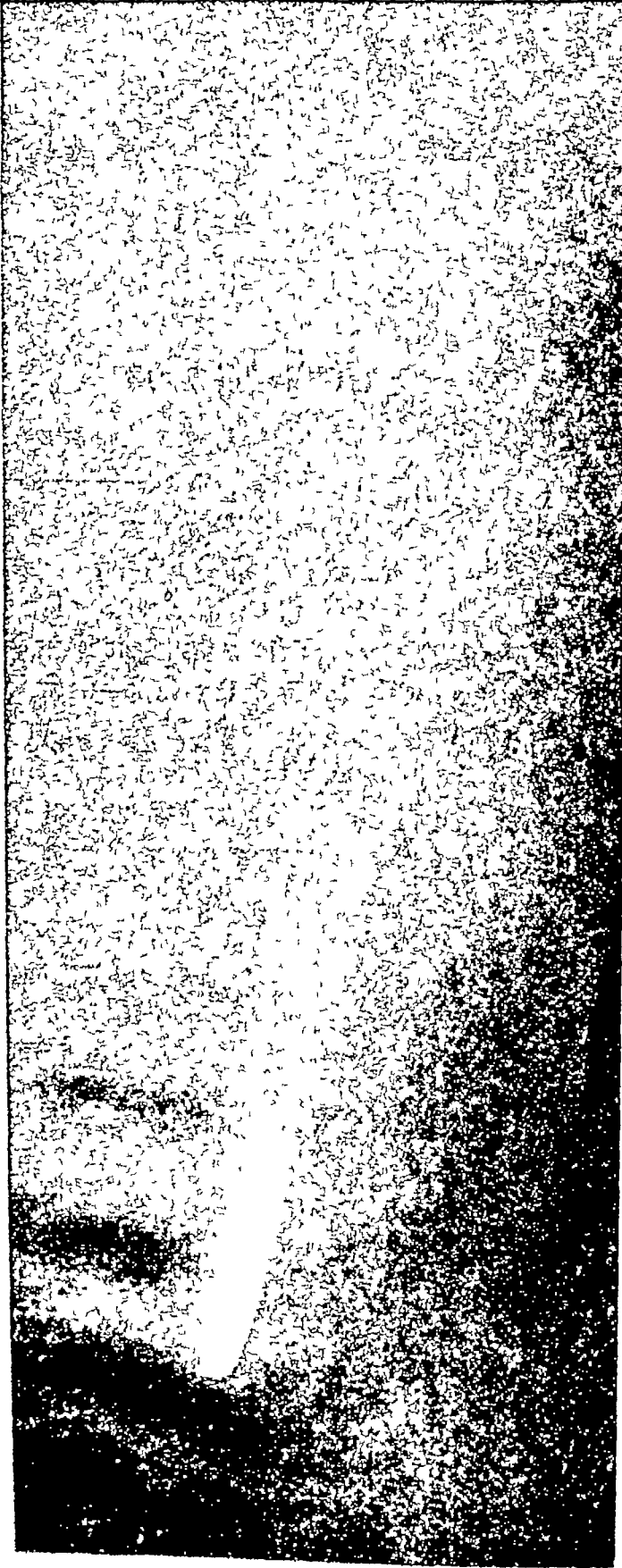
चला। शनि के चारों ओर एक वलय (छल्ला) है; शुक्र में वैसी ही कलाएँ दिखलाई पड़ती हैं, जैसी चद्रमा में; मंगल में धारियाँ दिखलाई पड़ती हैं, जो शायद नहरें हैं। संभव है ये कृत्रिम हों और वहाँ जीवधारी भी हों, इत्यादि।

गत साठ-सत्तर वर्षों मे ज्योतिष-संबन्धी अनुसंधान ने दूसरा मार्ग पकड़ा है। अब आकाशीय पिंडों की रासायनिक बनावट की जाँच होने लगी। जिस यत्र से इन आश्चर्यजनक आविष्कारों का सफल होना सभव हुआ, वह वही छोटा-सा शीशे का टुकड़ा है, जो झाड़-फानूसों में सजावट के लिए लगा रहता है। इसमें तीन पहलें होती हैं और इसलिए त्रिपार्श्व कहलाता है। इसके द्वारा देखने से चीज़ें रंग-बिरंगी दिखलाई पड़ती हैं और इन्हीं रंगों को देखने से आकाशीय पिंडों की रासायनिक बनावट, तापक्रम इत्यादि का पता चला। इन अनुसधानों में फाटोग्राफी से भी पूरी सहायता ली जाती है।

पिछले तीस-चालीस वर्षों में तारों पर विशेष ध्यान दिया गया है। तारे ज्योतिषियों की दृष्टि में पहले केवल बिन्दु-सरीखे थे। न उनमें गति थी कि वे गणित ज्योतिषियों को प्रिय लगते और न वे इतने बड़े थे कि उनकी विशेष जानकारी प्राप्त होने की सभावना देखकर भौतिक ज्योतिष-प्रेमी उनकी ओर झुकते। परतु अब ज्योतिषियों के यंत्र इतने शक्तिशाली होते हैं और साथ ही अब गणित, भौतिक विज्ञान और रसायनशास्त्र का ज्ञान इतना बढ़ा-चढ़ा है कि ऐसे रोचक प्रश्नों का भी उत्तर मिल गया है; जैसे, तारे गिनती में कितने हैं; वे कितनी दूर हैं; वे कितने बड़े हैं; कितने भारी हैं; उनकी भौतिक और रासायनिक बनावट क्या है; वे किस प्रकार जन्म लेते, युवा होते और मरते हैं; हमारी पृथ्वी और सूर्य का जन्म सभवतः कैसे हुआ होगा, इत्यादि।

इनमें से प्रायः सभी प्रश्नों का उत्तर अत्यंत आश्चर्यजनक है। पता चला है कि कुछ चमकीले तारे भी इतनी दूर हैं कि वहाँ से पृथ्वी तक प्रकाश के आने में लाखों वर्ष लगते हैं। यद्यपि प्रकाश इतना शीघ्रगामी है कि वह केवल एक सेकंड में १,८६,००० मील चल लेता है! ज्येष्ठा तारा इतना बड़ा है कि उसमें ७,००,००,००,००,००,००० पृथ्वियाँ समा जायँगी। कुछ तारे इतने हलके द्रव्य के बने हैं कि वे गुब्बारों में भरे जानेवाले गैसों से कहीं अधिक हलके हैं, और इसके विपरीत कुछ तारे इतने ठोस हैं कि यदि कोई अपनी अँगूठी में नग के बदले उनका एक टुकड़ा जड़वा ले तो अँगूठी तौल में आठ मन की हो जायगी!

हमारा निकट पड़ोसी-मंगल ग्रह

जिस पर दिखाई पड़नेवाली कृत्रिम सी धारियों को कोई वैज्ञानिक नहरें बताता है और कोई हरे भरे खेत या वन। इन्हीं के आधार पर वहाँ जीवधारियों के होने का भी अनुमान किया जाता है।

[फ़ोटो 'माउण्ट विल्सन वेधशाला' की कृपा से प्राप्त]

प्रसिद्ध हास्यरस के लेखक मार्क ट्वेन ने अपनी कहानी 'कैप्टेन स्टॉर्मफील्ड की आकाश यात्रा' में एक घटना लिखी है, जिसमें अवश्य ही लेखक ने यथाशक्ति असीम अतिशयोक्ति की है। एक देवदूत गुब्बारे पर चढ़कर विश्व का नक़शा देखने गया, जो नाप म र्होड द्वीप (क्षेत्रफल लगभग १००० वर्ग मील) के बराबर था। अभिप्राय था सूर्य और इसके ग्रहों की स्थिति जानना। लौटने पर दूत ने कहा कि शायद नक़शे में सौर जगत् था तो, पर उसे संदेह यह हो रहा था कि कहीं वह किसी मक्खी का चिह्न न रहा हो!

परन्तु अतिशयोक्ति के बदले कहने में कुछ कमी ही रह गई। आधुनिक अनुसंधानों के आधार पर बने सारे भारतवर्ष के बराबर विश्व के मानचित्र में भी हमारा सौर जगत् केवल सुई की नोक के बराबर होगा। मार्क ट्वेन के

सूर्य-ग्रहण
जिसके समय की ठीक-ठीक पूर्व सूचना हमारे भारतीय ज्योतिषी अपने गणितज्ञान के आधार पर सदियों से देते चले आ रहे हैं। यह सूर्य के संपूर्ण ग्रहण का चित्र है। सूर्य और चन्द्र के ग्रहण मनुष्य को आदि काल ही से आश्चर्य में डालते रहे हैं और इनके सम्बन्ध में हर देश में भिन्न भिन्न किंवदंतियाँ प्रचलित हैं [फ़ोटो 'लिक वेधशाला' की कृपा से प्राप्त।]
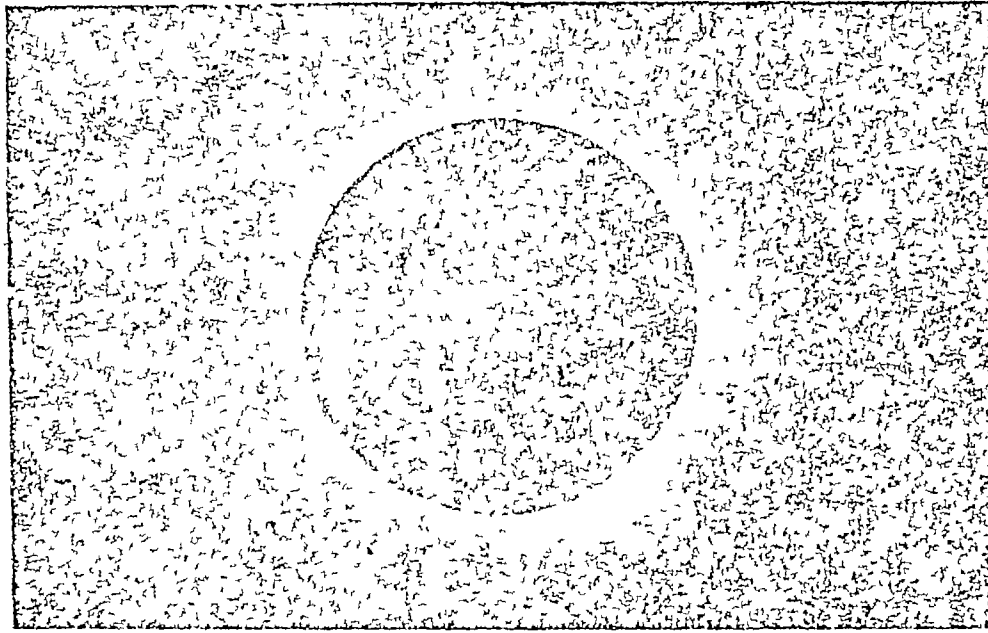
दूत को इस मानचित्र में हमारे सौर जगत् का देख पाना भी कठिन होगा। परंतु यदि वह कहीं इस चित्र में पृथ्वी को देखना चाहे, तो आजकल के बड़े-से-बड़े सूक्ष्मदर्शक यंत्र लगाने पर भी वह पृथ्वी को न देख सकेगा। इतने बड़े पैमाने पर भी पृथ्वी इतनी नन्हीं होगी।

निस्सदेह ज्योतिष अन्य विज्ञानों का पिता है। सूर्य, चंद्रमा और नक्षत्रों के नियमित उदयास्त से, चंद्रमा के विधियुक्त घटने-बढ़ने से और जाड़ा, गरमी, बरसात आदि ऋतुओं के नियमानुसार लौटने से ही पहले-पहल मनुष्यों ने यह सीखा होगा कि इस परिवर्तनशील संसार में कोई नियम भी है और नियमों का ज्ञान करना ही विज्ञान की उत्पत्ति का मूल कारण है। इसके अतिरिक्त जैसे तुच्छ धातुओं से सुवर्ण बनाने की खोज में रसायनशास्त्र और रोगों से मुक्ति पाने की चेष्टा में वैद्यकशास्त्र की उत्पत्ति

आकाश में टूटती हुई उल्काएँ और उल्कापिण्ड
इस चित्र के दाहिनी ओर का पत्थर-जैसा पिण्ड आतिशबाज़ी की तरह आकाश में टूटती हुई इन्हीं उल्काओं का पृथ्वी पर गिरा हुआ एक अंश है।
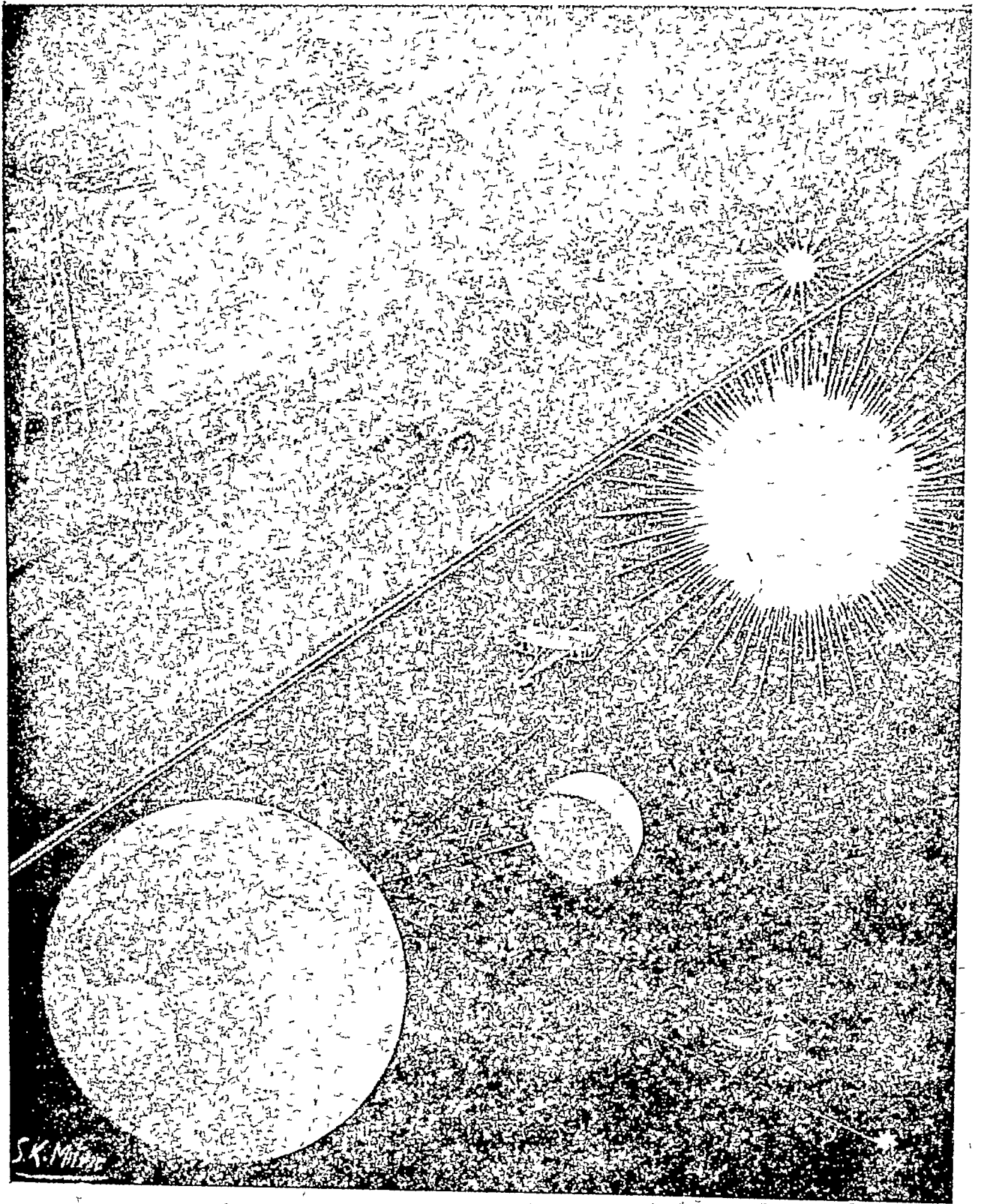
गति और दूरी की तुलना

रेल (चित्र में नं० १) प्रति घण्टा ६० मील, मोटर (नं० २) ३०० मील, हवाई जहाज़ (नं० ३) ४०० मील और तोप का गोला (न० ४) १२०० मील तक की गति से यात्रा कर सकते है। किन्तु पृथ्वी और प्रकाश किरण या विद्युत् इन सबसे कहीं अधिक अर्थात् क्रमशः लगभग १८½ और १,८६,००० मील प्रति सेकंड की गति से यात्रा करते हैं। यदि हम उपरोक्त ४०० मील प्रति घंटे की गति के हवाई जहाज़ द्वारा लगातार यात्रा करें तो चंद्रमा तक लगभग एक महीने में, सूर्य तक २७ वर्ष में, और सबसे नज़दीक तारे तक साढ़े सात हज़ार वर्ष में पहुँच पायँगे।

हुई, उसी प्रकार ज्योतिष के प्रश्नों को हल करने में गणित शास्त्र के अनेक अंगों की उत्पत्ति हुई और आज-कल भी ज्योतिष के कारण गणित और भौतिक विज्ञान में उन्नति हो रही है।

क्या ज्योतिष की अनुपस्थिति में कोलंबस कभी यह समझ सकता था कि योरप से पश्चिम जाने पर भारतवर्ष या अन्य कोई देश अवश्य मिलेगा ? कदापि नहीं। उसने बार-बार तारों, सूर्य और चंद्रमा को पूर्व में उदय होकर पश्चिम में अस्त होते देखा था। इससे उसने निश्चय किया कि वह भी यदि पश्चिम चलता जाय, तो अवश्य कभी न कभी भारतवर्ष पहुँच जायगा, यद्यपि यह देश योरप से पूर्व दिशा में है।

कोलंबस की बात तो पुरानी है। अब भी जहाज़ के कप्तानों को ज्योतिष की आवश्यकता नित्य पड़ा करती है। ज्योतिष ही के द्वारा समुद्र में जहाज़ की स्थिति का पता लगता है और इसके बिना लंबी समुद्र-यात्रा सफल हो ही नहीं सकती। पृथ्वी पर और वायु में भी यात्रा करनेवाले को ज्योतिषशास्त्र का यथेष्ट ज्ञान अवश्य होना चाहिए। नये देशों और रेगिस्तानों में रास्ता निकालने के लिए ज्योतिष की विशेष आवश्यकता पड़ती है। फिर, जब किसी देश की पैमायश करनी पड़ती है, तब ज्योतिष की शरण लेनी पड़ती है। समय का शुद्ध ज्ञान ज्योतिष के यंत्रों से ही होता है।

इतिहास को भी ज्योतिष ने बड़ी सहायता पहुँचाई है। कई एक तिथियों का, जिनका ठीक पता अन्य किसी भी प्रकार न चलता, ज्योतिष ने ही निर्णय किया है। प्राचीन और मध्यकालीन युग के अनेक सूर्य और चंद्रग्रहणों की चर्चा पुराने ग्रंथों में मिलती है। इन सब पर अन्य ऐतिहासिक सामग्री के साथ विचार करने से इतिहास की तिथियों को शुद्ध करने के लिए अमूल्य सामग्री मिलती है। ग्रहणों के आधार पर ही अति प्राचीन काल की तिथियाँ थोड़ी बहुत निश्चित रूप से श्रेणीबद्ध की जा सकी हैं।

ज्योतिष के अध्ययन से मानसिक विकास होता है और आनंद मिलता है। हमारे प्राचीन ऋषिगण ने भी ज्योतिष की बड़ी प्रशंसा की है। ज्योतिष वेदांग के ग्रंथकार ने लिखा है—

यथा शिखा मयूराणां नागानां मणयो यथा।
तद्वद्वेदांगशास्त्राणां ज्योतिषं मूर्धनि स्थितम्॥

जैसे मोरों के मस्तक पर शिखा या साँपों के मस्तक पर मणि, उसी प्रकार वेदांग शास्त्रों के मस्तक पर ज्योतिष स्थित है।

सूर्यसिद्धांत ने ज्योतिष को सब वेदांगों में श्रेष्ठ, परम पवित्र और रहस्यमय बतलाया है। भास्कराचार्य ने भी लिखा है कि शब्दशास्त्र वेद भगवान् का मुख है, ज्योति शास्त्र आँख है, निरुक्त कान हैं, कल्प हाथ है, शिक्षा नासिका है, छन्द पाँव हैं। इसलिए जैसे सब अंगों में आँख श्रेष्ठ होती है, वैसे ही सब वेदांगों में ज्योति शास्त्र श्रेष्ठ है।

कुछ लोग ज्योतिष शब्द से सदा फलित ज्योतिष समझते हैं। उनके विचार में ज्योतिष वह विद्या है, जिसके आधार पर बतलाया जा सकता है कि किसी के भाग्य में क्या है, विवाह आदि के लिए शुभ मुहूर्त्त क्या है; परन्तु ज्योतिष का अर्थ अति प्राचीन काल में कुछ दूसरा ही था। इसमें संदेह नहीं है कि वेद और ब्राह्मणों के काल में ज्योतिष से गणित ज्योतिष—वैज्ञानिक ज्योतिष—समझा जाता था। उस समय ज्योतिष का तात्पर्य उस विद्या से था, जिसमें सूर्य चंद्रमा और ग्रहों की गति एवं स्थिति का अध्ययन किया जाता था। फलित ज्योतिष उस समय कोई जानता न था।
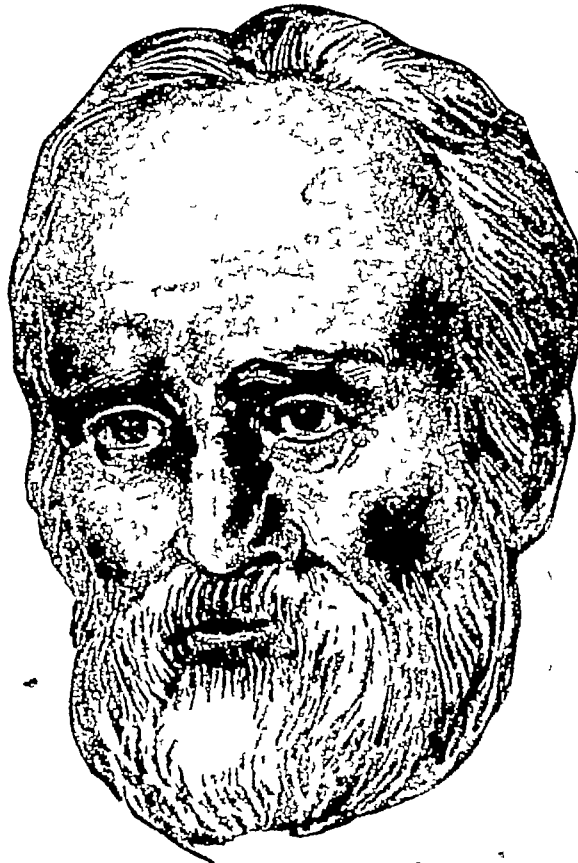
दूरदर्शक का आविष्कारक गैलीलियो
जिसने सामान्य दृष्टि से छिपे हुए अगणित नक्षत्रों और ब्रह्माण्डों की एक झलक देखना हमारे लिए संभव कर दिया।
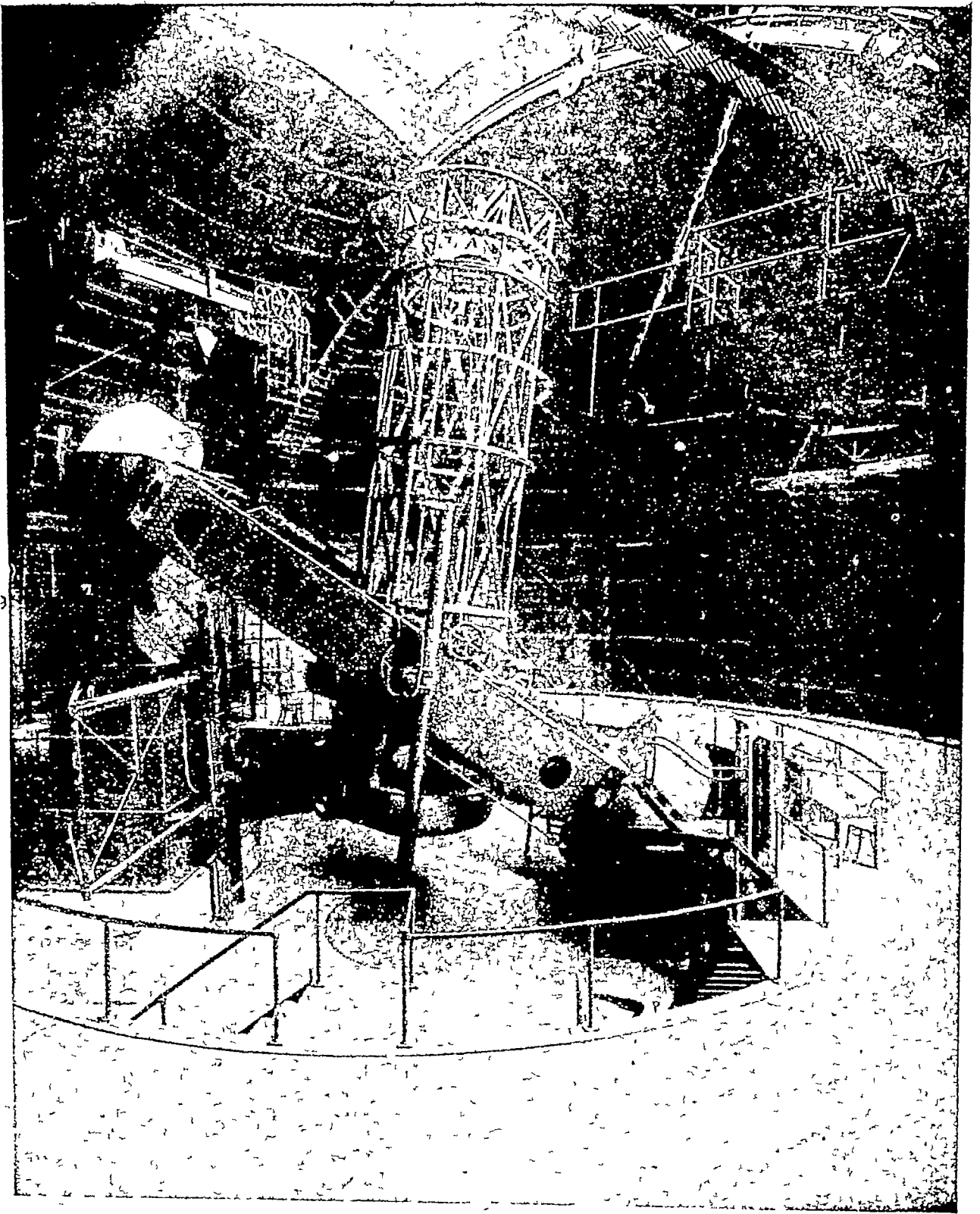
दुनिया का वर्त्तमान सबसे बड़ा दूरदर्शक

यह अमेरिका की प्रसिद्ध 'माउन्ट विल्सन वेधशाला' में लगा है। इसके शीशे का व्यास १०० इंच और मोटाई १२ इंच है। इससे भी बड़ा एक दूरदर्शक बनाया जा रहा है, जिसके शीशे का व्यास २०० इंच होगा। गैलीलियो के खिलौने-जैसे छोटे से दूरदर्शक से आज के इस भीमकाय १०० इंच या २०० इंच के दूरदर्शक के विकास की कथा पिछले तीन सौ वर्ष की तुच्छ अवधि ही में मनुष्य के ज्योतिष संबधी ज्ञान की आश्चर्यजनक उन्नति की मू
कथा है। [फ़ोटो 'माउन्ट विल्सन वेधशाला' की कृपा से प्राप्त]

कदाचित् यह कहना कि उस समय के ऋषि सूर्य आदि की स्थिति और मनुष्य के भाग्य में कोई संबंध जोड़ना अनुचित समझते थे, अधिक उपयुक्त होगा। पीछे ग्रीक लोगों के संपर्क से भारतवर्ष मे भी फलित ज्योतिष का प्रचार हुआ। फलित ज्योतिष के अनेक शब्द स्पष्ट रूप से ग्रीक उत्पत्ति के हैं। और अन्य प्रमाण भी हैं। सत्रहवीं, अट्ठारहवीं और उन्नसवीं शताब्दियों मे ज्योतिष के अध्ययन का इतना क्षय हुआ कि बहुत-से विद्यार्थी केवल उतना ज्योतिष पढ़ते थे, जितने की उनको फलित ज्योतिष के लिए आवश्यकता पड़ती थी। इसीलिए धीरे-धीरे ज्योतिष और फलित ज्योतिष में कोई अतर ही न रह गया। लोग ज्योतिष से फलित ज्योतिष ही समझने लगे।

इस ग्रंथ में आरभ से 'ज्योतिष' शब्द वैज्ञानिक ज्योतिष के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। भविष्य मे भी जहाँ कहीं भी यह शब्द आयेगा, उसका यही अर्थ लगाना चाहिए।
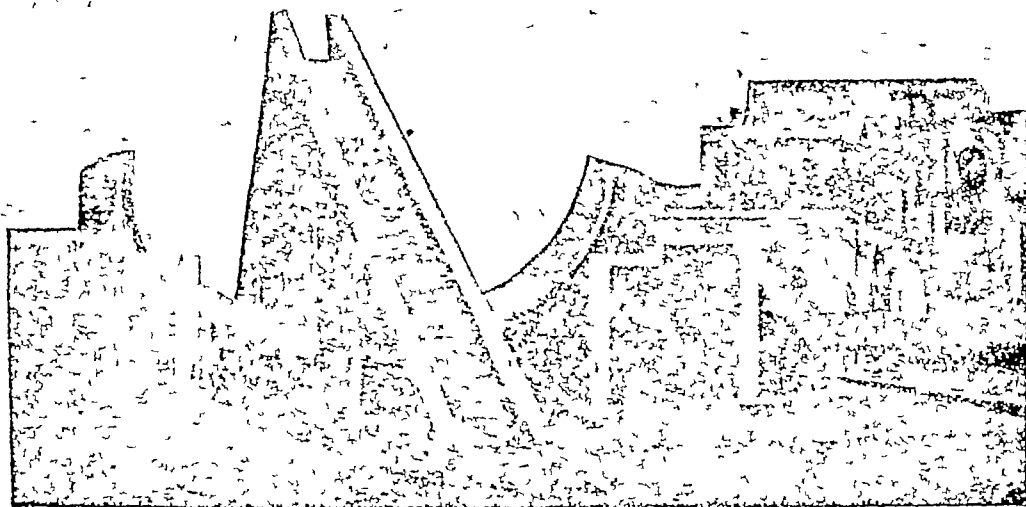
दिनोंदिन ज्योतिष मे विशेष यत्रों के बिना नवीन बातों का पता चलाना कठिन होता जा रहा है। परन्तु अब भी कोरी आँख से या सौ-पचास रुपये के छोटे दूरदर्शक से कोई भी व्यक्ति आधुनिक अनुसंधानों में सहायता कर सकता है और यदि भाग्य उसकी सहायता करे, तो ख्याति प्राप्त कर सकता है। हजारों तारे ऐसे हैं, जिनकी ज्योति घटा-बढ़ा करती है। परतु समयाभाव के कारण ज्योतिषी सबकी ज्योति के घटने-बढ़ने के नियम नहीं निकाल पाये हैं। गणित और भौतिक विज्ञान न जाननेवाले भी इसमें सहायता दे सकते हैं। फिर टूटकर गिरनेवाले तारों—उल्काओं—का वेध भी आसानी से किया जा सकता है और ज्योतिषी लोग सावधानी से किये गये ऐसे वेधों का स्वागत करते हैं। कोई तारा चंद्रमा के पीछे कब छिपा, इसका भी वेध जन-साधारण थोड़े से अभ्यास के बाद सुगमता से कर सकते हैं, या वे नवीन पुच्छल तारों की खोज कर सकते हैं, परन्तु इन सबके लिए बड़े धैर्य की आवश्यकता है।

इन दिनों ज्योतिष में सर्व साधारण की रुचि बढ़ती ही जा रही है और कितने धनी सज्जन ज्योतिष मे खोज करने के लिए काफी धन दे जाते हैं। दुनिया-भर में सबसे बड़ी वेधशाला, जो अमेरिका में माउण्ट विल्सन पर है, एक सज्जन के दान से ही स्थापित हुई है। कई धनी लोग अपने मकानों में निजी वेधशाला बनवा लेते हैं। हाल मे ऐसी 'ग्रहशालाएँ' भी बनी हैं, जिनकी छतें अर्ध गोलाकार होती हैं और सिनेमा-यंत्र की तरह बनी मशीन से इन छतों पर ग्रहों और नक्षत्रों के चित्र डालकर उनकी गति दृष्टिगोचर कराई जाती है।

ज्योतिष की बहुत-सी बातें और उनकी यथार्थता का प्रमाण प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति समझ सकता है। जिन सिद्धांतों पर तर्क करके और रीतियों का प्रयोग करके आधुनिक ज्योतिष ने तारों की दूरी, तौल, बनावट आदि का ज्ञान प्राप्त किया है, उनका समझना पाठक के लिए कठिन न होगा। इसलिए प्रस्तुत ग्रंथ मे केवल ज्योतिष के परिणाम ही नहीं बतलाए जायँगे, वरन् इस बात के समझाने की भी चेष्टा की जायगी कि ज्योतिषीगण कैसे और क्यों किसी परिणाम पर पहुँचे हैं। मेरा विश्वास है कि परिणामों की उपेक्षा उनके प्राप्त करने की रीतियाँ अधिक मनोरंजक प्रतीत होंगी, जैसे, यह जानकर कि ध्रुवतारा २,५०,००,००,००,००,००० मील दूर है, इतना आनंद नहीं मिलता, जितना इसे समझ लेने में कि यह दूरी नापी कैसे गई।

यों तो सुशिक्षित मनुष्य को विद्या की सभी शाखाओं का थोड़ा बहुत ज्ञान होना चाहिए, परन्तु मनुष्य को कुछ

जयपुर की वेधशाला

इस तरह की वेधशालाएँ उज्जैन, काशी और दिल्ली में भी हैं। भारतवर्ष में आधुनिक विज्ञान के विकास के पहले भी विशुद्ध ज्योतिष की ओर कितनी अधिक रुचि थी इसकी ये सजीव प्रमाण हैं।

सूर्य के प्रचण्ड स्वरूप की एक कल्पना

प्रकाश का जो चमकता हुआ गोला नित्य हमारी पृथ्वी के पूर्व क्षितिज पर उदय होते और पश्चिम में अस्त होते दिखाई देता है; वह वास्तव में हमारी इस पृथ्वी से कई गुना बड़ा एक प्रचण्ड आग का गोला है, जिसकी सतह पर हजारों मील ऊँची लपटें धू-धू करती हुई अपना ताण्डव किया करती हैं। सूर्य ही हमारी इस दुनिया के प्रकाश और उष्णता का मूल स्रोत है, जिसके अभाव में हमारी यह पृथ्वी जीवन और ज्योति दोनों से विहीन हो जायगी।
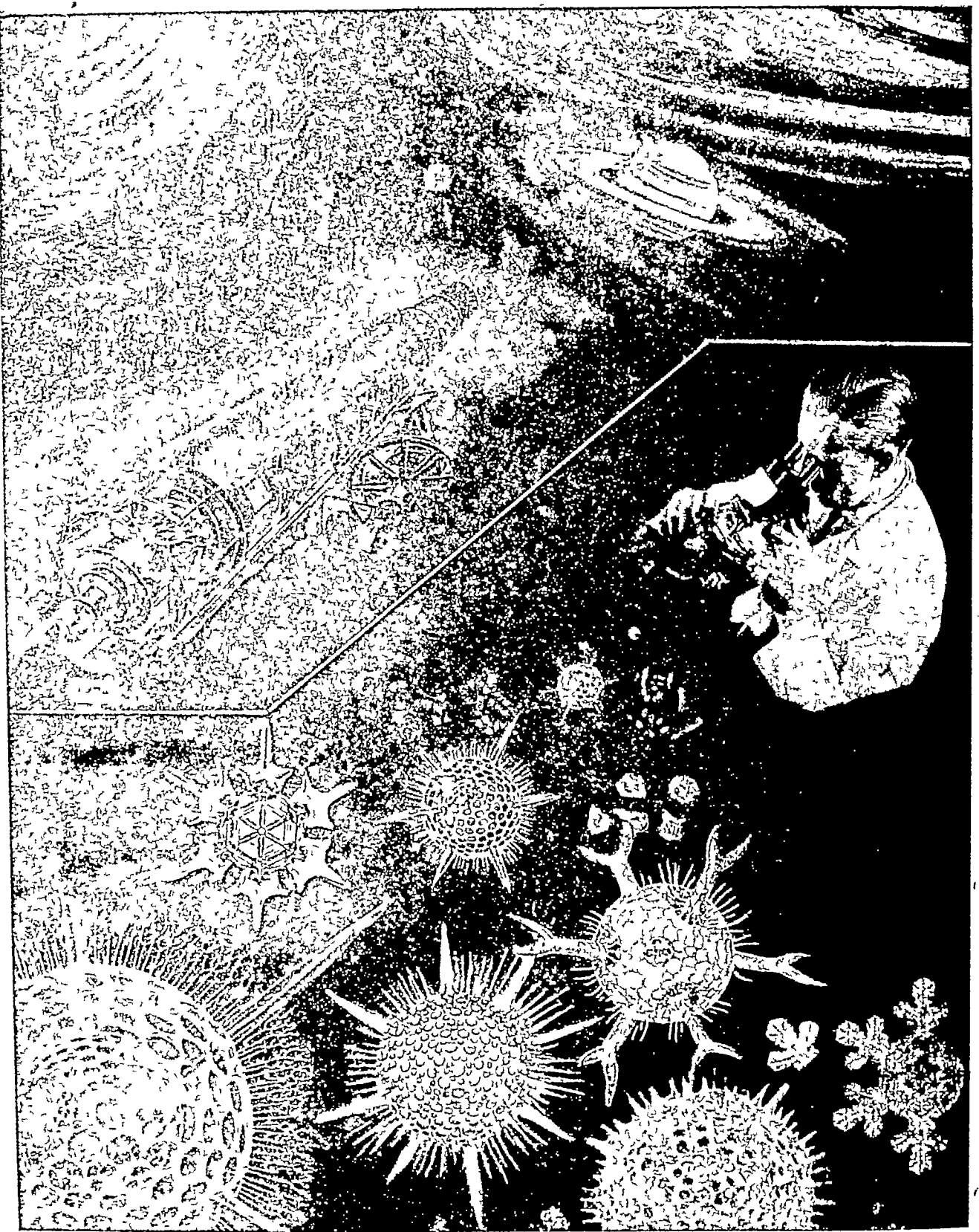
'अणोरणीयान् महतोमहीयान्'

'सूक्ष्म से सूक्ष्म और महान् से भी महान्'—दार्शनिक की तरह आज वैज्ञानिक भी दूरदर्शक द्वारा करोड़ों मील दूर के अनगिनत नक्षत्रपुंजों तथा सूक्ष्मदर्शक द्वारा उतने ही अपरिमेय और अनंत अणु-परमाणुओं की एक साधारण सी झलक देख पाकर ईश्वर के विराट रूप के सम्बन्ध में उपनिषदों के उपरोक्त वाक्यों को सृष्टि पर लागू करते हुए दोहरा रहे हैं। वास्तव में, सृष्टिकर्त्ता की तरह उसकी यह अद्भुत कृति भी न केवल महानता में बल्कि सूक्ष्मता में भी अनंत है।
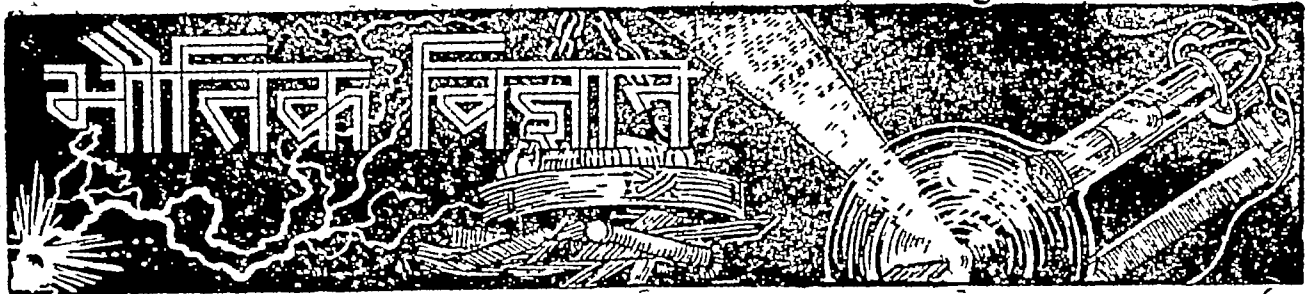
रहस्यमय जगत्

उन तत्त्वों और प्राकृतिक शक्तियों की कहानी जिनसे इस विशाल विश्व की रचना हुई है और जिनकी क्रिया-प्रतिक्रिया के फलस्वरूप सृष्टि का संचालन होता है।

नित्य ही तरह-तरह की घटनाएँ हमें चारों ओर देखने को मिलती हैं। कभी आसमान में बादल छा जाते हैं, तो कभी बिजली कौंधती है। कभी तो इतनी गर्मी पड़ती है कि पखे के नीचे भी चैन नहीं मिलता, तो कभी इतनी ठंडक कि लिहाफ के भीतर भी हमारे दाँत कटकटाते हैं। तो ये बादल आते कहाँ से हैं ? क्या सचमुच इन्द्रदेव इन्हें हमारे पास पुरस्कार-स्वरूप भेजते हैं ? वर्षा एक ख़ास ऋतु में ही क्यों होती है ? बिजली क्या इसीलिए कौंधती है कि देवराज इन्द्र क्रुद्ध होकर बादलों में बर्छी भोंक देते हैं ? निस्संदेह प्रत्येक विचारशील व्यक्ति के मन में इस प्रकार के प्रश्न उठते हैं। स्वभावतः वह जानना चाहता है कि क्यों जेठ की धूप में रक्खी हुई लोहे की कुर्सी इतनी तपने लगती है कि उस पर बैठना असंभव हो जाता है जबकि उसी की बग़ल में रक्खा हुआ लकड़ी का स्टूल गर्म नहीं हो पाता ? क्यों गर्म चाय डालने से शीशे की गिलास टूट जाती है, जबकि काँसे की गिलास में ठंडी गर्म हर प्रकार की चीज़ें पी जा सकती हैं ? नगे पैरों बिजली के तार छूने पर हमें ज़बर्दस्त झटका क्यों लगता है, जबकि लकड़ी की खड़ाऊँ पहनकर उस तार को हम निरापद छू सकते हैं ? गर्मी के दिनों में कघी करते समय बालों से चिनगारियाँ क्यों निकलने लगती हैं ?
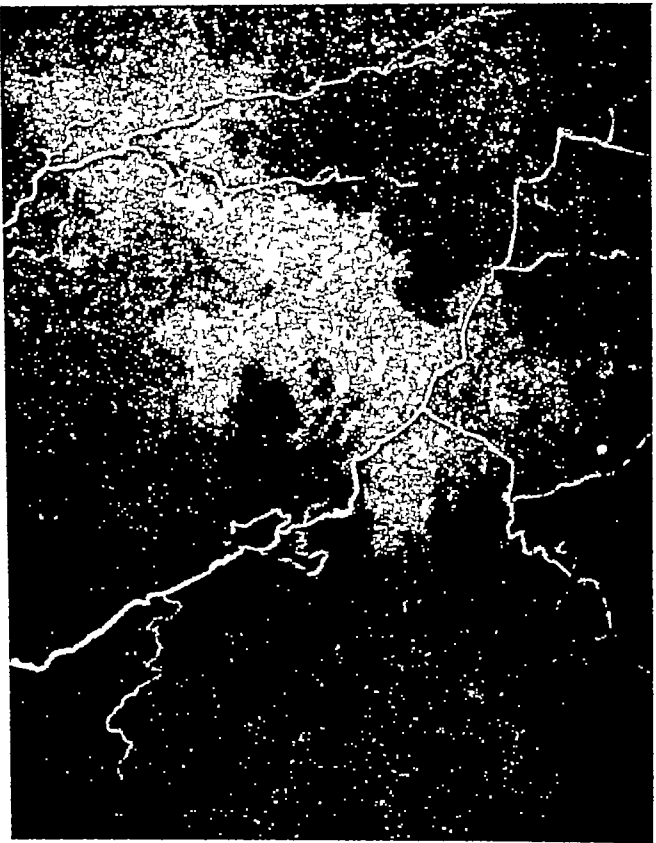
आकाश में विद्युत् की चमक
क्या सचमुच बिजली इसलिए कौंधती है कि इन्द्र क्रुद्ध होकर बादलों में बर्छी भोंक देते हैं ?

इस प्रकार के सैकड़ों प्रश्न हमारे मन में उठते हैं और हज़ारों वर्ष से लोग इन प्रश्नों को हल करने की कोशिश कर रहे हैं। बाह्य जगत् की अनोखी समस्याओं के प्रति मनुष्य ने प्राचीन काल से ही गहरी दिलचस्पी दिखाई है। वह देखता है, भिन्न-भिन्न चीज़ें एक सी ही परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न तरीक़ों से पेश आ[illegible] हैं। मेज़ पर [illegible] दीजिए, तो [illegible]

पहले तक यह मेज़ ही पर पड़ी रहेगी, किन्तु पानी मेज़ पर डालिए, तो समूची मेज़ पर फैलकर वह नीचे जा गिरेगा और पानी की भाप तो और भी क़ाबू में नहीं आती। खौलते हुए पानी की देगची का ढक्कन उठा लीजिए, तो भाप कमरे में चारों ओर फैल जायगी। फिर भी आप जानते हैं कि बर्फ़, पानी और भाप वास्तव में एक ही चीज़ के भिन्न-भिन्न रूप हैं। जाड़े के दिनों मे घी जमकर पत्थर-जैसा कड़ा हो जाता है, किन्तु धूप दिखाने पर वही पिघलकर पानी ऐसा बन जाता है और आग पर चढ़ा देने पर वही वाष्परूप मे परिवर्तित होने लगता है। तो क्या संसार की सभी वस्तुएँ पानी ही की तरह अनिवार्य रूप से तीनों रूप—ठोस, द्रव और वाष्परूप—धारण कर सकती हैं? श्वास लेने के लिए हम हवा का प्रयोग करते हैं, तो क्या हवा भी समुचित परिस्थितियों में पानी की तरह बोतलों में से उँडेली जा सकती है? तब तो हमारा यह कहना कि लोहा ठोस पदार्थ है और पारा द्रव, एक प्रकार से गलत है; क्योंकि वैज्ञानिक हमें बताता है कि दुनिया के सभी ठोस पदार्थ गर्म किये जाने पर द्रव या वाष्परूप मे परिणत किये जा सकते हैं। किसी भी द्रव पदार्थ को लीजिए, उसमें थोड़ी ठंडक पहुँचाइए और उस पर ज़रा दबाव (Pressure) डालिए; बस, फौरन् ही वह ठोस बन जायगा। उदाहरण के लिए आप दूध को आइसक्रीम की मशीन में डालते हैं, दूध के डिब्बे के चारों ओर बर्फ़ भरी रहती है। मशीन घुमाने पर बर्फ़ की ठंडक दूध में पहुँचती है और फ़ौरन् आपकी आइसक्रीम जम जाती है।

निस्संदेह हम अपने आस-पास की चीज़ों में तरह-तरह का कुतूहल भरा हुआ पाते हैं। वैज्ञानिक प्रयोगशालाओं के भीतर विचित्र यन्त्रों की सहायता से बाह्य जगत् के इसी रहस्य का अध्ययन करता है। मनुष्य वास्तव में यह जानना चाहता है कि सैकड़ों हज़ारों तरह की भिन्न भिन्न चीज़ें जो हमें संसार में दिखाई देती हैं, आख़िर उनके पीछे मूल तत्त्व क्या है? चाकू, फाउन्टेनपेन, घड़ी, मोटरकार आदि को मनुष्य ने फ़ैक्टरियों में बनाया है; किंतु लोहा, लकड़ी, पानी, वायु आदि का निर्माण कैसे हुआ? क्या उनके मूल तत्त्वों में किसी प्रकार की समानता है? प्राकृतिक रूप में जितनी वस्तुएँ पाई जाती हैं, क्या विधाता ने उनमें से प्रत्येक को अलग अलग मसाले से बनाया है या उनकी तह मे एक ही मूल तत्त्व है?

द्रव्य के तीन रूप
प्रकृति ही में हमें वायुरूप बादल, शिलारूप बर्फ़ और लहराते जल के रूप में एक ही द्रव्य जल के वायुरूप, ठोस और तरल ये तीन भिन्न रूप मिलते हैं।

आज से हजारों वर्ष पहले भी मानव समाज जब अपनी शैशवावस्था से होकर गुज़र रहा था, तब मनुष्य ने इन प्रश्नों के उत्तर ढूँढ़ने का सराहनीय प्रयत्न किया था। विज्ञान की नींव शायद तभी पड़ चुकी थी। उन दिनों लोगों के पास यंत्र न थे। अतएव केवल अपनी इंद्रियों

की सहायता से ही उन्हें प्रकृति का अध्ययन करना पड़ता था। अमुक वस्तु गर्म है या ठंडी, यह जानने के लिए उन्हें उस चीज़ को हाथ से छूना पड़ता था, उनके पास आधुनिक युग के थर्मामीटर न थे। यही कारण है कि उनका प्रकृतिज्ञान प्रायः अधूरा और ग़लत होता था। अनेक बातें उनकी समझ में ही नहीं आती थीं। फलस्वरूप वे मान बैठे थे कि प्रकृति रहस्यमय है। इस रहस्य को समझाने के लिए प्राचीन काल के विद्वानों ने पौराणिक कहानियों की रचना की। पृथ्वी कहाँ पर कैसे टिकी हुई है, इसका ठीक-ठीक जब वे पता न लगा सके, तो उन्होंने कल्पना की कि एक विशाल नाग—शेषनाग—के फण पर पृथ्वी रक्खी हुई है और जब कभी शेषनाग अपने फण हिलाते हैं, पृथ्वी पर भूचाल आता है। किंतु इन पौराणिक कहानियों को सच मानकर लोगों ने संतोष कर लिया हो, यह बात भी नहीं थी। प्रकृति के रहस्योद्घाटन का कार्य निरंतर जारी रहा। लोगों ने एक-एक कर पौराणिक कहानियों की निस्सारता देखी। वैज्ञानिक ने कल्पना की ऊँची उड़ान न उड़कर वास्तविकता की कठोर भूमि पर चलना सीखा। भौतिक विज्ञान का नवीन युग इसी ज़माने से आरंभ होता है। हरएक नया प्रश्न, हरएक नई समस्या अब प्रयोग की कसौटी पर कसी जाने लगी—कोरे अनुमान के दलदल से विज्ञान बाहर निकला। प्रयोग और शुद्ध तर्क इन दोनों की सहायता से विज्ञान ने दिन-दूनी रात-चौगुनी तरक्क़ी की। प्रकृति का प्रत्येक कार्य नियमित सिद्धांतों के अनुसार होता है, इस अखंड सत्य का आभास मनुष्य को मिला। अत प्रकृति के नियमों की उसने पूरी जानकारी हासिल की और इस जानकारी से उसने पूरा लाभ भी उठाया। इन नियमों के आधार पर उसने तरह-तरह के यंत्र बनाये और अपनी इंद्रियों की शक्ति बढाने में इनका प्रयोग किया। नेत्र की जहाँ पहुँच नहीं थी, वहाँ के लिए सूक्ष्मदर्शक और दूरदर्शक का निर्माण किया, कान जिन शब्दों को ग्रहण नहीं कर पाते थे, उनको सुनने के लिए बढ़िया क़िस्म के यंत्र बनाये। इस प्रकार अपनी निरीक्षण-शक्ति बढ़ाकर वैज्ञानिक ने प्रकृति से घनिष्ठ संसर्ग पैदा किया। प्रकृति का भेद जान लेने के उपरांत वैज्ञानिक ने उसे अपने वश में करने का भी सफल प्रयत्न किया। ऊँचे-ऊँचे झरनों से उसने बिजली उत्पन्न की और उसे अपने घर में लाकर उससे दिया-बत्ती का काम लिया, चूल्हा गर्म कराया, यहाँ तक कि घर की चक्की भी उसी से चलवाई।

मनुष्य के मन में एक नये आत्मविश्वास का आविर्भाव हुआ। अज्ञानवश जिन चीज़ों को वह समझ नहीं पाता था, जिनसे वह डरता था, उन्हीं को पूर्णतया उसने अपने वश में कर लिया है। प्रकृति के सामने वह नगण्य नहीं है, इस बात का वह अब अनुभव करने लग गया है।

वैज्ञानिक अनुसंधान के रास्ते में वैज्ञानिक को एकाग्र मन और अपनी शक्ति से काम करना होता है। प्रयोगशालाओं के भीतर वह रात-रात भर जागता है। यंत्रों की खटखट में उसे खाने-पीने की सुध नहीं रहती, उसे ओस की परवा नहीं होती और शायद ठंड भी उसे नहीं लगती। ऐसी अद्भुत लगन अन्यत्र आपको शायद ही मिलेगी। वैज्ञानिक की यह कठिन तपस्या सदैव सफल ही होती हो, यह बात भी नहीं है। अनुसंधान के क्रम में वैज्ञानिकों ने भी भूलें की हैं, और इस कारण उन्हें पीछे भी हटना पड़ा है, किंतु वे हताश कभी नहीं हुए।

पदार्थ-जगत इतना विस्तृत है कि इसकी वैज्ञानिक मीमांसा करने के लिए इसे दो विभागों में बाँटना पड़ा। पदार्थ के बहिर्देश में जितने परिवर्त्तन होते हैं—उनका रूप, उनका ताप, उनका रंग, उनका भारीपन तथा अन्य बातें, जिनका ज्ञान हम इंद्रियों अथवा यंत्रों द्वारा कर सकते हैं—उन सबका अध्ययन भौतिक विज्ञान के ज़िम्मे है। और पदार्थ के मूल तत्त्व क्या हैं? एक पदार्थ एकदम दूसरे पदार्थ में कैसे परिवर्त्तित हो जाता है? क्या हजारों लाखों चीज़ें जो हमें संसार में दिखाई पड़ती हैं, वे सभी वास्तव में भिन्न-भिन्न पदार्थों से बनी हैं, अथवा संसार में केवल सौ-पचास ही मूल पदार्थ हैं, जिनके आपस के हेर-फेर से हम तरह-तरह की अनगिनत चीज़ें बना लेते हैं? इन मौलिक प्रश्नों का हल आपको रसायन विज्ञान में मिलेगा।

हमने देखा है कि भौतिक और रसायन-विज्ञान दोनों ही पदार्थ का निरीक्षण करते हैं, केवल उनके दृष्टिकोण में अंतर है। एक का संबंध बाह्य रूपरंग से है, तो दूसरा पदार्थ के भीतर की बातों का पता लगाता है। अतः भौतिक और रसायन-विज्ञान वास्तव में दो भिन्न-भिन्न चीज़ें नहीं हैं। ये दोनों बहुत दूर तक अलग-अलग नहीं चलते। आगे बढ़ने पर प्रकृति के मूल सिद्धांतों पर दोनों ही आ पहुँचते हैं, और तब भौतिक और रसायन विज्ञान के बीच की विभाजक रेखा भी मिट जाती है। प्रकृति के रहस्योद्घाटन के लिए दोनों ही हाथ-में-हाथ मिलाकर अनुसंधान के पथ पर चलते हैं। रसायन-विज्ञान

कुल ९२ मौलिक पदार्थ इस संसार में पाये जाते हैं। इन्हीं में से कुछ को लेकर प्रकृति या मनुष्य, पेड़ पौधों, आसमान के तारे, सूर्य, चंद्रमा, नदी, तालाब, हमारी काम की चीज़ें और स्वयं हमारे शरीर की रचना हुई है; और मौलिक विज्ञान आपको बताता है कि इन ९२ मौलिक पदार्थों का पारस्परिक संबंध क्या है, लोहे में चुम्बकीय शक्ति कहाँ से आ गई, इन मौलिक पदार्थों का वज़न, उनका आकार कैसा है, क्या मौलिक पदार्थों के अवयव में आकर्षण-शक्ति मौजूद है, विद्युत् और चुम्बकीय शक्तियों का इन अवयवों पर कैसा प्रभाव पड़ता है, आदि आदि।

वैज्ञानिक आपको बताता है कि मौलिक पदार्थों के अवयव भी गेंद की भाँति ठोस नहीं होते, वरन् उनके भीतर अधिकांश भाग एकदम खोखला रहता है। जिस प्रकार सूर्य के इर्द-गिर्द पृथ्वी, मंगल, बृहस्पति आदि ग्रह चक्कर लगाते हैं, उसी तरह अवयवों के अंदर भी एक केंद्रीय अणु के चारों ओर दो-चार परमाणु चक्कर लगाया करते ... परमाणुओं की रफ़्तार भी बेहद तेज़ होती है। ... के अवयवों के खोखलेपन का यह हाल है कि यदि समूचे संसार के पदार्थ को मींजकर हम इन अणु-परमाणुओं को एक दूसरे से मिला दें, तो हमें एक छोटी नारंगी के बराबर की चीज़ मिलेगी।

अणु-परमाणुओं की दुनिया में प्रवेश किये हुए अभी वैज्ञानिक को ४० वर्ष भी नहीं हो पाये हैं, किन्तु इतने अल्प काल में ही उसने आश्चर्यजनक रहस्यों का पता लगा लिया है। आज दिन जहाँ दूरदर्शक के द्वारा उसने इस सृष्टि के व्यापक महान् रूप के अनतत्व का आभास पा लिया है, वहाँ सूक्ष्मदर्शक उसे इस अद्भुत विश्व के सूक्ष्म रूप—अणु-परमाणुओं—के अनंतत्व की एक झलक दिखाकर चक्कर में डाल रहा है। मनुष्य के चिरसंचित स्वप्नों को वह आज सच बनाने जा रहा है। उसके हाथ पारस पत्थर लग गया है। उसे पूर्ण आशा है कि निकट भविष्य में वह सभी मौलिक पदार्थों को भी एक दूसरे में परिणत कर सकेगा।
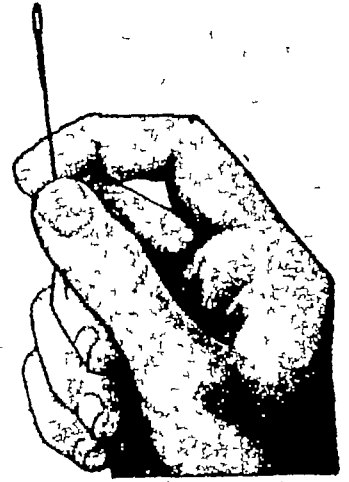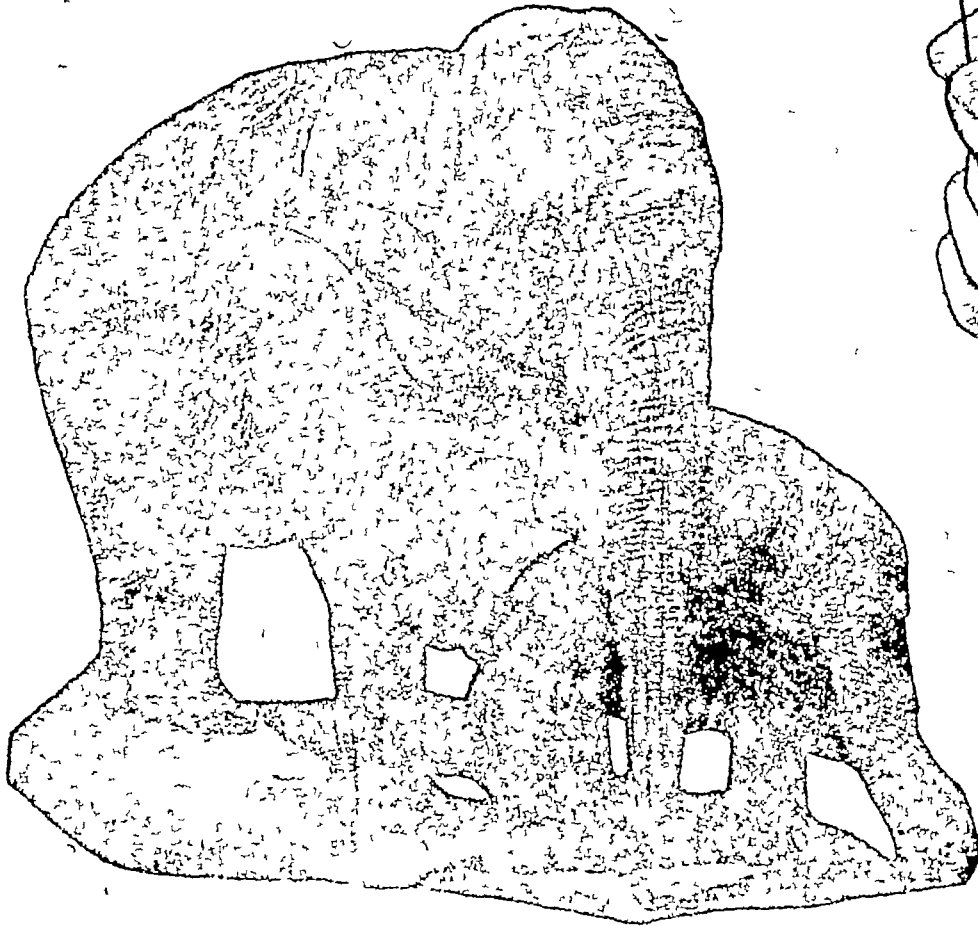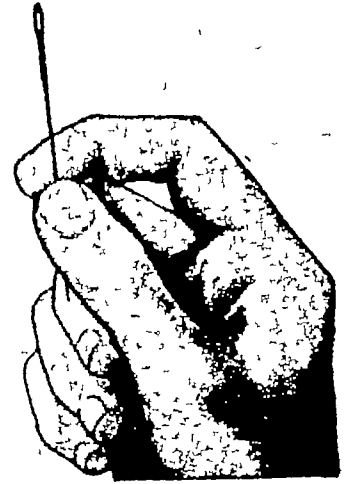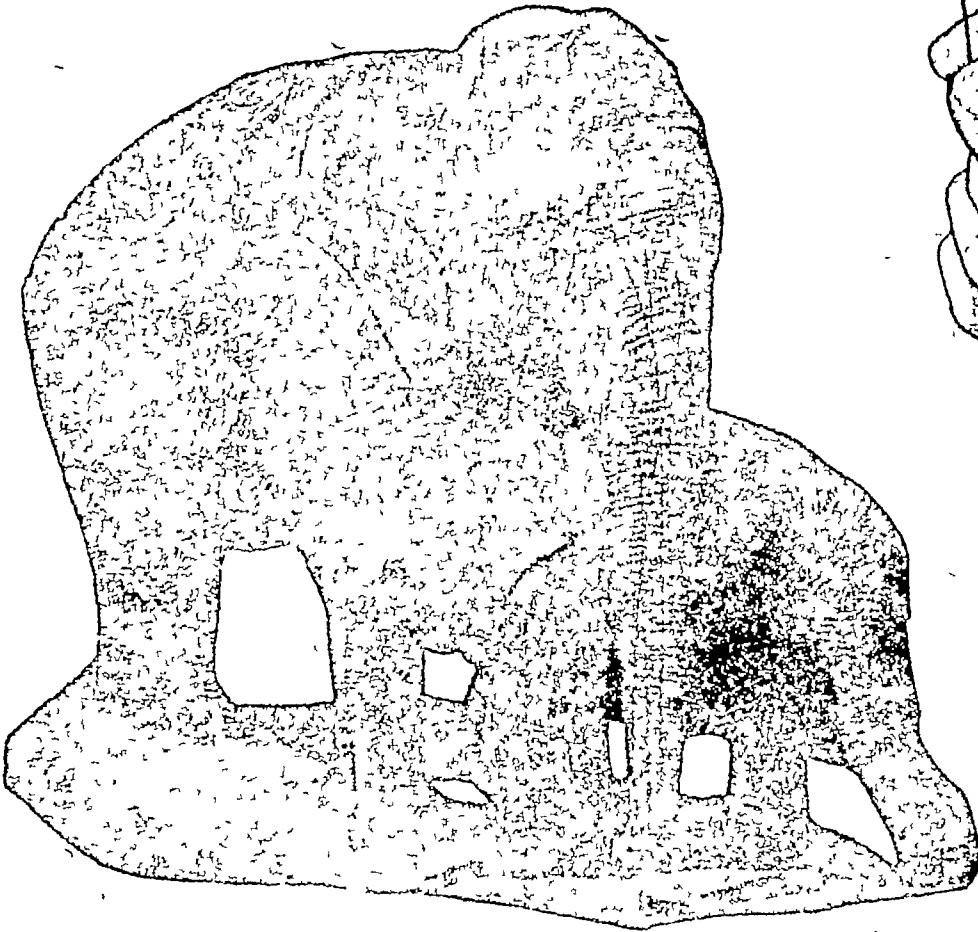
द्रव्य का खोखलापन
पदार्थों के अवयवों के खोखलापन का यह हाल है कि यदि इस हाथी और उसके बच्चे के शरीर के परमाणुओं को मींजकर एक दूसरे में मिला दें तो केवल इतना द्रव्य रहेगा जो एक सुई के छेद में से निकाला जा सके!

रसायन क्या है ?

जिससे इस अद्भुत विश्व की रचना हुई है उस मूल द्रव्य के विभिन्न रूपों, गुणों, और उसकी क्रिया-प्रतिक्रिया के फलस्वरूप होनेवाली रासायनिक क्रियाओं की विवेचना।

यदि हम थोड़ा-सा विचार करें, तो हमें इस बात का अनायास ही अनुभव हो सकता है कि सारी सृष्टि का निर्माण दो वस्तुओं से हुआ है। एक तो अनंत आकाश (endlees Space) और दूसरे, उसमें स्थित वह वस्तु, जिसका अनुभव हम अपनी ज्ञानेंद्रियों से कर सकते हैं, जो जगह घेरती है और जिसका भार हम तौल कर निकाल सकते हैं। इस दूसरी वस्तु को हम द्रव्य (matter) कहते हैं। पत्थर, पानी, लकड़ी, हवा, लोहा, कोयला, हमारा शरीर आदि सभी द्रव्य से बने हैं। क्योंकि इनमें द्रव्य के सभी गुण पाये जाते हैं। लेकिन जब हम इस द्रव्य को परखते हैं, तो हमें उसमें सहस्रों प्रकार के रंग, रूप और गुण दृष्टिगोचर होते हैं। कोई लाल है, तो कोई नीला; कोई चमकदार है, तो कोई धुँधला; कोई ठोस है, तो कोई तरल, या वाष्परूप, कोई मीठा है, तो कोई खट्टा; कोई भारी है, तो कोई हलका, किसी में गर्मी और बिजली दौड़ती है, तो किसी में नहीं, किसी मे एक-ही प्रकार का द्रव्य पाया जाता है, तो किसी मे द्रव्य के विभिन्न प्रकारों का संयोग; किसी में किसी प्रकार का परिवर्त्तन होता है, तो किसी में किसी प्रकार का।

मनुष्य सदा से ही द्रव्य के इन विभिन्न गुणों का निरीक्षण करता रहा है, और इन गुणों और अपनी बुद्धि के अनुसार द्रव्य के विभिन्न प्रकारों का वर्गीकरण भी। किसी प्रकार के द्रव्य को उसने ठोस कहा, तो किसी को तरल; किसी को धातु (metal) कहा, तो किसी को अधातु (non-metal); किसी को अम्ल (acid) कहा, तो किसी को खार (alkali)। जो वस्तु द्रव्य के दो या अधिक प्रकारों में पृथक् न हो सकी और जिसमें एक ही प्रकार का द्रव्य पाया गया, उसका नाम मूल तत्त्व (element) पड़ा; और पदार्थ द्रव्य के जो दो या अधिक प्रकारों में पृथक् हो सका, अथवा जो द्रव्य के दो या अधिक प्रकारों से बना हुआ पाया गया, वह संयुक्त पदार्थ (compound) कहलाया। द्रव्य के नये-नये प्रकारों के आविष्कार और उनके गुणों के निरीक्षण के साथ उनका वर्गीकरण भी होता जा रहा है। मनुष्य द्वारा द्रव्य के वर्गीकरण का यह प्रयास रसायन-शास्त्र का एक अंग है।

परन्तु इस निरीक्षणात्मक परीक्षा के बाद इस प्रश्न का उठना स्वाभाविक है कि आखिर द्रव्य में इस विभिन्नता का कारण है क्या? क्या बात है कि हवा पानी से, शक्कर नमक से, लकड़ी लोहे से, पत्थर हीरे से, तथा सोना कोयले से इतना अधिक विभिन्न है? इस जिज्ञासा ने मनुष्य की बुद्धि को द्रव्य की रचना (composition) की ओर आकर्षित किया। आज प्रारंभिक रसायन के जाननेवालों को भी यह ज्ञात है कि हवा मुख्यत. दो मूल गैसों, 'नाइट्रोजन' और 'आक्सिजन', का मिश्रण है; पानी दो अदृश्य मूल गैसों, 'आक्सिजन' और 'हाइड्रोजन', के रासायनिक संयोग से बना है; शक्कर, मैदा और रुई, ये तीनों वस्तुएँ पानी के अवयवों ('हाइड्रोजन' और 'आक्सिजन') और 'कार्बन' (कोयले का मूल तत्त्व) के संयोग से बनी हैं, नमक, जो हमारे दैनिक जीवन की एक साधारण वस्तु है, दो ऐसे मूल पदार्थों से बना हुआ है, जिनसे साधारण लोग नितांत अपरिचित रहते हैं, यानी पहला 'सोडियम', जो एक विचित्र धातु है और जो हवा और पानी में रखने से इतनी शीघ्रता के साथ अन्य संयुक्त पदार्थों में परिणत हो जाती है कि उसे मिट्टी के तेल में रक्खा जाता है, और दूसरा 'क्लोरीन' जो पीलापन लिये हुए

कुल ६२ मौलिक पदार्थ इस संसार में पाये जाते हैं। इन्हीं में से कुछ को लेकर प्रकृति या मनुष्य, पेड़ पौधों, आसमान के तारे, सूर्य, चंद्रमा, नदी, तालाब, हमारी काम की चीज़ें और स्वयं हमारे शरीर की रचना हुई है; और भौतिक विज्ञान आपको बताता है कि इन ६२ मौलिक पदार्थों का पारस्परिक संबंध क्या है, लोहे में चुम्बकीय शक्ति कहाँ से आ गई, इन मौलिक पदार्थों का वज़न, उनका आकार कैसा है, क्या मौलिक पदार्थों के अवयव में आकर्षण-शक्ति मौजूद है, विद्युत् और चुम्बकीय शक्तियों का इन अवयवों पर कैसा प्रभाव पड़ता है, आदि आदि।

वैज्ञानिक आपको बताता है कि मौलिक पदार्थों के अवयव भी गेंद की भाँति ठोस नहीं होते, वरन् उनके भीतर अधिकांश भाग एकदम खोखला रहता है। जिस प्रकार सूर्य के इर्द-गिर्द पृथ्वी, मंगल, वृहस्पति आदि ग्रह चक्कर लगाते हैं, उसी तरह अवयवों के अंदर भी एक केंद्रीय अणु के चारों ओर दो-चार परमाणु चक्कर लगाया करते हैं। इन परमाणुओं की रफ़्तार भी बेहद तेज़ होती है। [पदार्थ]ों के अवयवों के खोखलेपन का यह हाल है कि यदि समूचे संसार के पदार्थों को भींजकर हम इन अणु-परमाणुओं को एक दूसरे से मिला दें, तो हमें एक छोटी नारंगी के बराबर की चीज़ मिलेगी।

अणु-परमाणुओं की दुनिया में प्रवेश किये हुए अभी वैज्ञानिक को ४० वर्ष भी नहीं हो पाये हैं, किन्तु इतने अल्प काल में ही उसने आश्चर्यजनक रहस्यों का पता लगा लिया है। आज दिन जहाँ दूरदर्शक के द्वारा उसने इस सृष्टि के व्यापक महान् रूप के अनतत्व का आभास पा लिया है, वहाँ सूक्ष्मदर्शक उसे इस अद्भुत विश्व के सूक्ष्म रूप—अणु-परमाणुओं—के अनतत्व की एक झलक दिखाकर चक्कर में डाल रहा है। मनुष्य के चिरसंचित स्वप्नों को वह आज सच बनाने जा रहा है। उसके हाथ पारस पत्थर लग गया है। उसे पूर्ण आशा है कि निकट भविष्य में वह सभी मौलिक पदार्थों को भी एक दूसरे में परिणत कर सकेगा।

द्रव्य का खोखलापन
पदार्थों के अवयवों के खोखलापन का यह हाल है कि यदि इस हाथी और उसके बच्चे के शरीर के परमाणुओं को भींजकर एक दूसरे में मिला दें तो केवल इतना द्रव्य रहेगा जो एक सुई के छेद में से निकाला जा सके!

रसायन क्या है ?

जिससे इस अद्भुत विश्व की रचना हुई है उस मूल द्रव्य के विभिन्न रूपों, गुणों, और उसकी क्रिया-प्रतिक्रिया के फलस्वरूप होनेवाली रासायनिक क्रियाओं की विवेचना।

यदि हम थोड़ा-सा विचार करें, तो हमें इस बात का अनायास ही अनुभव हो सकता है कि सारी सृष्टि का निर्माण दो वस्तुओं से हुआ है। एक तो अनन्त आकाश (endlees Space) और दूसरे, उसमें स्थित वह वस्तु, जिसका अनुभव हम अपनी ज्ञानेंद्रियों से कर सकते हैं, जो जगह घेरती है और जिसका भार हम तौल कर निकाल सकते हैं। इस दूसरी वस्तु को हम द्रव्य (matter) कहते हैं। पत्थर, पानी, लकड़ी, हवा, लोहा, कोयला, हमारा शरीर आदि सभी द्रव्य से बने हैं। क्योंकि इनमें द्रव्य के सभी गुण पाये जाते हैं। लेकिन जब हम इस द्रव्य को परखते हैं, तो हमें उसमें सहस्रों प्रकार के रंग, रूप और गुण दृष्टिगोचर होते हैं। कोई लाल है, तो कोई नीला; कोई चमकदार है, तो कोई धुँधला, कोई ठोस है, तो कोई तरल, या वाष्परूप; कोई मीठा है, तो कोई खट्टा; कोई भारी है, तो कोई हलका, किसी में गर्मी और बिजली दौड़ती है, तो किसी में नहीं, किसी मे एक ही प्रकार का द्रव्य पाया जाता है, तो किसी में द्रव्य के विभिन्न प्रकारों का संयोग; किसी में किसी प्रकार का परिवर्तन होता है, तो किसी में किसी प्रकार का।

मनुष्य सदा से ही द्रव्य के इन विभिन्न गुणों का निरीक्षण करता रहा है, और इन गुणों और अपनी बुद्धि के अनुसार द्रव्य के विभिन्न प्रकारों का वर्गीकरण भी। किसी प्रकार के द्रव्य को उसने ठोस कहा, तो किसी को तरल, किसी को धातु (metal) कहा, तो किसी को अधातु (non-metal), किसी को अम्ल (acid) कहा, तो किसी को खार (alkali)। जो वस्तु द्रव्य के दो या अधिक प्रकारों में पृथक् न हो सकी और जिसमें एक ही प्रकार का द्रव्य पाया गया, उसका नाम मूल तत्त्व (element) पड़ा; और पदार्थ द्रव्य के जो दो या अधिक प्रकारों में पृथक् हो सका, अथवा जो द्रव्य के दो या अधिक प्रकारों से बना हुआ पाया गया, वह संयुक्त पदार्थ (compound) कहलाया। द्रव्य के नये-नये प्रकारों के आविष्कार और उनके गुणों के निरीक्षण के साथ उनका वर्गीकरण भी होता जा रहा है। मनुष्य द्वारा द्रव्य के वर्गीकरण का यह प्रयास रसायन-शास्त्र का एक अंग है।

परन्तु इस निरीक्षणात्मक परीक्षा के बाद इस प्रश्न का उठना स्वाभाविक है कि आखिर द्रव्य में इस विभिन्नता का कारण है क्या? क्या बात है कि हवा पानी से, शक्कर नमक से, लकड़ी लोहे से, पत्थर हीरे से, तथा सोना कोयले से इतना अधिक विभिन्न है? इस जिज्ञासा ने मनुष्य की बुद्धि को द्रव्य की रचना (composition) की ओर आकर्षित किया। आज प्रारंभिक रसायन के जाननेवालों को भी यह ज्ञात है कि हवा मुख्यतः दो मूल गैसों, 'नाइट्रोजन' और 'आक्सिजन', का मिश्रण है, पानी दो अदृश्य मूल गैसों, 'आक्सिजन' और 'हाइड्रोजन', के रासायनिक संयोग से बना है; शक्कर, मैदा और रुई, ये तीनों वस्तुएँ पानी के अवयवों ('हाइड्रोजन' और 'आक्सिजन') और 'कार्बन' (कोयले का मूल तत्त्व) के संयोग से बनी हैं, नमक, जो हमारे दैनिक जीवन की एक साधारण वस्तु है, दो ऐसे मूल पदार्थों से बना हुआ है, जिनसे साधारण लोग नितांत अपरिचित रहते हैं, यानी पहला 'सोडियम', जो एक विचित्र धातु है और जो हवा और पानी में रखने से इतनी शीघ्रता के साथ अन्य संयुक्त पदार्थों में परिणत हो जाती है कि उसे मिट्टी के तेल मे रक्खा जाता है, और दूसरा 'क्लोरीन' जो

सेब काटकर खुला रखने पर गेरुवा रंग का क्यों हो जाता है ?

कोयला हवा में रखने पर क्यों धधकता है ?

कोई भी जानवर दौड़ते-चलते वक़्त आवश्यक शक्ति कहाँ से पाता है ? किस प्रकार उसका खाया हुआ आहार रक्त मांस और हड्डियों में बदल जाता है ?

भीगा चाक़ू हवा में रखने पर क्यों मोर्चा खा जाता है ?

किसी बरतन में कुछ घंटे रखे रहने पर आप ही आप दूध जमकर दही जैसा क्यों बन जाता है ?

पौधा हवा और रोशनी ही में क्यो फलता-फूलता है ?

दियासलाई रगड़ने से क्यों आग पैदा हो जाती है ?

नित्य हमारे आस-पास होनेवाली रासायनिक क्रियाओं के कुछ उदाहरण

हलके हरे रंग की गैस होती है और जो सूँघने में कर्कश और विषाक्त होती है, लकडी मे भी मुख्यतया कोयला और पानी के तत्त्व ('कार्बन', 'हाइड्रोजन' और 'आक्सिजन') ही रहते हैं; परंतु लोहा और सोना स्वयं मूल धातु हैं, जिनसे दो या अधिक वस्तुएँ नही निकाली जा सकतीं ; सगमरमर पत्थर तीन मूल पदार्थों के संघात-से बना है, अर्थात् 'कैल्शियम' धातु (जो चूने में रहती है) 'कार्बन' और 'आक्सिजन' गैस ; किंतु हीरा शुद्ध कोयले ('कार्बन') का ही एक दूसरा रूप है। इस प्रकार विभिन्न वस्तुओं के रचना-ज्ञान को प्राप्त करने का मानव प्रयास रसायन विज्ञान का दूसरा अंग है।

हमारा निरीक्षण केवल द्रव्य के रूप रंग और गुणों तक सीमित नहीं रह सकता था। हम देखते हैं कि सारी सृष्टि भाँति-भाँति के परिवर्त्तनों द्वारा परिचालित और स्फुरित हो रही है। सृष्टि के सारे कार्यों का समावेश हम परिवर्त्तन मे ही पाते हैं। स्वयं हमारा जन्म, जीवन और मृत्यु अविरत परिवर्त्तन के ही उदाहरण हैं। हमारे शरीर का निर्माण होता है, बचपन से यौवन और यौवन से वृद्धावस्था आती है, और फिर मृत्यु के बाद शरीर मिट्टी में मिल जाता है। इसी प्रकार पेड़ और पौधे उगते हैं, फूल खिलते हैं और फिर सूखकर अथवा मुरझाकर धूल में मिल जाते हैं। वास्तव में ससार की कोई भी वस्तु सदा के लिए अपरिवर्त्तित नहीं रह सकती। लकड़ी, कोयला तथा अनेक अन्य वस्तुएँ जलने से भस्म हो जाती हैं; लोहा खुले में छोड़ देने से मोर्चे में बदल जाता है ; दूध रख देने से दही में परिणत हो जाता है ; हवा हमारे फेफड़ों में पहुँचकर परिवर्त्तित रूप में बाहर निकलती है ; भोजन के रूप में खाई जाने वाली वस्तुएँ शरीर के अंदर पचकर रक्त, मास और हड्डियों मे बदलती हैं;

संयोग से बने हुए पदार्थ रहते हैं। चावल, आटा, शकर, आलू, साबूदाना, मक्खन आदि में मुख्यतः 'कार्बन' और पानी ही संयुक्त रूप में रहते हैं। अंतर केवल यही होता है कि मशीनों के पुर्ज़े कारीगर लोग बदलते रहते हैं, लेकिन शरीर के इस अभाव की स्वयं भोजन ही, प्रोटीन आदि अपने अन्य अंशों द्वारा, पूर्ति किया करता है। लकड़ी के जलने की क्रिया उतनी सादी नहीं है, जितनी कोयले की। लकड़ी में जो 'कार्बन' होता है, वह 'कार्बन डाइ-आक्साइड' गैस में परिणत होकर हवा में मिल जाता है, उसका पानी भाप के रूप में परिवर्त्तित होकर उड़ जाता है और उसकी 'हाइड्रोजन' भी हवा की 'आक्सिजन' से मिलकर जल वाष्प मे बदल जाती है। लकड़ी यदि थोड़ी हवा देकर ही जलाई जाती है, तो वह कोयले में बदल जाती है; क्योंकि इस कोयले को जलाने के लिए पर्याप्त 'आक्सिजन' नहीं मिलती। पृथ्वी के अंदर कोयले की खानों की उत्पत्ति इसी प्रकार हुई है; अंतर केवल इतनी ही है कि पहला परिवर्त्तन शीघ्रता से होता है, किंतु दूसरा 'आक्सिजन, और गर्मी की कमी के कारण युगों में समाप्त होता है।

इस प्रकार मनुष्य और जंतुओं के फेफड़ों से और कोयला, लकड़ी आदि जलने से जो 'कार्बन डाइआक्साइड' गैस निकलती है, वही वनस्पतिवर्ग का भोजन हो जाती है। पेड़ अपनी पत्तियों के छिद्रों (stomata) से साँस लेते हैं और जो' कार्बन डाइआक्साइड' हवा के साथ मिलकर उनकी हरी पत्तियों में पहुँचती है, उसका कार्बन वे ले लेते हैं और 'आक्सिजन' बाहर निकाल देते हैं। इस कार्य को करने के लिए शक्ति उन्हें सूर्य की किरणों से मिलती है। और जिस यंत्र द्वारा यह कार्य होता है, वह पत्तियों का हरा पदार्थ 'क्लोरोफिल' (chlorophyll) है। इस 'कार्बन' का सयोग पेड़ों की जड़ द्वारा आये हुए पानी से होता है, जिससे पेड़ों में पाये जानेवाले पदार्थ—मैदा (माँड़ी), शकर, रेशे आदि—बन जाते हैं। जड़ द्वारा पानी के साथ-साथ जिस खाद का शोषण वृक्ष करते हैं, उससे उनके कलेवर के 'प्रोटीन', लवण आदि बनते हैं।

अब कुछ छोटे-छोटे परिवर्त्तनों को लीजिए। लोहा हवा और पानी में छोड़ देने से एक भूरे-लाल मोर्चे में बदल जाता है। इसका कारण यह है कि लोहे के दो परमाणु हवा और नमी के संपर्क से 'आक्सिजन' के तीन परमाणुओं से संयुक्त हो जाते हैं, और इस प्रकार जो संयुक्त पदार्थ बनता है, उसी को लोहे का मोर्चा अथवा 'फेरिक आक्साइड' (लैटिन, फ़ेरम=लोहा, फ़ेरिक=लोहे का) कहते हैं। 'मैग्नेशियम' धातु के रिबन के एक टुकड़े को चिमटी से पकड़कर जलाइए। वह चकाचौंध करनेवाले उजाले और सफ़ेद धुएँ के साथ जल उठता है और 'मैग्नेशियम' की जगह पर एक सफेद बुकनी बन जाती है। यह परिवर्त्तन कैसे हुआ और यह कौन-सी वस्तु बन गई? यह सिद्ध है कि यह परिवर्त्तन 'मैग्नेशियम' धातु और 'आक्सिजन' गैस के योग से होता है। 'मैग्नेशियम' का एक परमाणु 'आक्सिजन' के एक परमाणु से सयुक्त होता है और 'मैग्नेशियम आक्साइड' का एक कण बन जाता है। इस प्रकार के, जैसे—'कार्बन डाइआक्साइड' ,पानी, 'फेरिक आक्साइड' 'मैग्नेशियम आक्साइड'—के कणों को अणु (molecule) कहते हैं। मूलतत्त्वों के भी अणु होते हैं। जैसे, आक्सिजन गैस के प्रत्येक अणु में दो परमाणु संयुक्त रूप में रहते हैं। साधारण दशाओं में 'आक्सिजन' गैस का अस्तित्व इन्हीं अणुओं में होता है।

यहाँ कुछ उदाहरणों द्वारा मैंने यह संक्षेप में बता दिया है कि वैज्ञानिक मनुष्य ने किस प्रकार सफलता के साथ पदार्थों के परिवर्त्तन के रहस्यों का उद्घाटन किया है। हम देखते हैं कि इस प्रकार के परिवर्त्तन द्रव्य के विभिन्न प्रकारों के सपर्क अथवा पृथक् होने से हुआ करते हैं। रसायन विज्ञान का तीसरा कार्य द्रव्य की इन क्रियाओं अथवा पारस्परिक प्रतिक्रियाओं पर प्रकाश डालना है।

अतः रसायन मनुष्य का वह वैज्ञानिक प्रयास है, जो द्रव्य के विभिन्न प्रकारों के वर्गीकरण, उनकी रचना, तथा उनकी क्रियाओं और पारस्परिक प्रतिक्रियाओं से संबंध रखता है।

इस युग में रसायन विज्ञान का एक बहुत महत्त्वपूर्ण अंग है। विभिन्न धातुओं, मशीनों और यत्रों का बनाना इसी विज्ञान के प्रयोग से संभव है। सोना, चाँदी, लोहा, ताँबा, 'प्लैटिनम', 'रेडियम', 'अलुमीनियम,' राँगा आदि बहुमूल्य धातुएँ; शीशा, साबुन, रंग, रासायनिक खादें, शकर, औषधियाँ, सीमेंट, चूना आदि अनेकानेक उपयोगी चीज़ें; मनुष्य के लिए नितांत उपयोगी, किन्तु साथ-ही साथ मानव युद्ध को भीषण रूप देनेवाले विस्फोटक पदार्थ आदि, इस युग की सहस्रों वस्तुएँ इसी विज्ञान के द्वारा मनुष्य को उपलब्ध हो सकी हैं। मनुष्य का ऐसा कोई निर्माणात्मक कार्य नहीं है, जिसमें इस विज्ञान का प्रयोग न होता हो। यदि इस विज्ञान का विकास न हुआ होता, तो मनुष्य, वास्तव में, अब भी पत्थर के युग में ही पड़ा होता।

जिज्ञासा

एक अद्‌भुत पहेली की तरह हज़ारों वर्षों से मनुष्य के मस्तिष्क को उलझन में डाले हुए अचरज-भरे सृष्टि प्रपंच के वास्तविक रहस्य के संबंध में अब तक के संचित तत्त्व-ज्ञान का विवेचन।

मैं कौन हूँ, यह सृष्टि क्या है, इसका बनानेवाला कौन है, यह कब बनी और कब इसका अन्त होगा, मैं स्वयं भविष्य में रहूँगा या नहीं, इससे पूर्व मेरा अस्तित्व था या नहीं, मैं सुखी क्यों हूँ, प्राणी दुःखी क्यों हैं, उनके कर्मों का फल होता है या नहीं, सच्चा सुख क्या है, मनुष्य का प्रकृति के साथ क्या संबंध है, इंद्रियों से होनेवाला ज्ञान विश्वास के योग्य है या नहीं—इस प्रकार के असंख्य प्रश्नों की जिज्ञासा से दार्शनिक विचार का जन्म होता है। मनुष्य को जब से अपने इतिहास का ज्ञान है, तब से आज तक कोई समय ऐसा नहीं हुआ, जब उसकी मननात्मक प्रवृत्ति ने उसे चैन से बैठने दिया हो। विचारों का बवंडर न केवल संसार के दुःखों से पीड़ित प्राणी को ही झकझोरता है, वरन् कभी-कभी सब प्रकार से सुखी मनुष्य के मन में भी उथल पुथल मचा डालता है। यह आँधी जितनी बलवती होती है, उतनी ही गहराई से मनुष्य विचार करने पर विवश होता है। 'कस्त्वं कोऽहम्' की मीमांसा मनुष्य के लिए उतनी ही आवश्यक है, जितनी कि अन्नवस्त्रादिक के द्वारा उसकी सामान्य रहन-सहन। गौतम बुद्ध के जीवन से हम इस नियम की सत्यता को समझ सकते हैं। एकछत्र राज्य का अपरिमित वैभव जिस विलास की सामग्री को उपस्थित कर सकता है, उसके बीच सुकुमारता से पले हुए राजकुमार सिद्धार्थ को कोई भी प्रलोभन विषयोपभोग के बंधन में बाँधकर नहीं रख सका। जिस समय मनुष्य के मन में ऊपर कहे हुए विचारों का चक्र चलता है, विषयों का मधुर आस्वाद उसे विष के समान जान पड़ता है। विचारों की वह झंझावात ही सच्ची जिज्ञासा है। इस प्रकार की जिज्ञासा ही दर्शन की जननी है। यह जिज्ञासा दिव्य अग्नि के समान है। इससे दग्ध मनुष्य का हृदय ही सत्य की प्राप्ति का एकमात्र पुण्य-स्थल है।

भारतीय दर्शन का सूत्रपात करनेवाले मनीषियों ने जिज्ञासा को बड़ा महत्त्व दिया है। 'जिज्ञासु' पद हमारे यहाँ एक विशेष अधिकार को सूचित करता है। जो जिज्ञासु नहीं है, जिसमें 'जानने' की भूख नहीं है, वह दार्शनिक ज्ञान का अधिकारी नहीं माना जा सकता। बहुधा जब हम अपने संबंध से अथवा अन्य किसी के संबंध से मृत्यु के नाटक के अति सन्निकट होते हैं, तब हमारी जिज्ञासा-वृत्ति जागरूक हो उठती है और उस समय 'कस्त्वं कोऽहम्' के प्रश्न हमें सच्चे और आवश्यक जान पड़ते हैं। हमारे साहित्य में जिज्ञासा-वृत्ति का सर्वोत्तम उदाहरण नचिकेता* है। उसकी जिज्ञासा का उदय भी यम के सान्निध्य में होता है। नचिकेता [न+चिकेतस्] शब्द का अर्थ ही यह है कि जिसके अंदर जानने की उत्कट इच्छा हो परंतु जो जानता न हो। जिज्ञासा के वर को नचिकेता सर्वश्रेष्ठ समझता है :—

नान्यो वरस्तुल्य एतस्य कश्चित् [कठ उपनिषद् १।२२]

*इसका उपाख्यान कठ उपनिषद् में है। यह वाजश्रवा ऋषि का पुत्र था। एक बार ऋषि ने दक्षिणा में अपना सर्वस्व दे डाला। तब पिता से यह बार-बार पूछने लगा कि 'मुझे किस को दे रहे हैं?' पिता ने रोष में कह दिया कि मैं तुम्हें मृत्यु को अर्पित करता हूँ। इस पर नचिकेता यम (मृत्यु) के पास चला गया। यम से उसने 'ब्रह्म' के सम्बन्ध में कई प्रश्न किये। यम ने तरह-तरह के प्रलोभन देकर इस जिज्ञासा को छोड़ देने के लिए उसे फुसलाया, किन्तु नचिकेता ने अपनी न छोड़ी और तीन दिन तक निराहार रहकर कठोर स... किया। अन्त में यम ने उसे 'ब्रह्मज्ञान' का उपदेश

अर्थात् मृत्यु के बाद मनुष्य का अस्तित्व है या नहीं, प्राणी का स्वरूप क्षणभंगुर है अथवा नित्य तत्त्ववाला है—इस प्रश्न के समान अन्य कोई प्रश्न नहीं है, इसीलिए इस शंका के समाधान का वरदान ही सर्वातीत है। नचिकेता के प्रलोभन के लिए यमराज उसके सामने अनेक कामनाएँ रखता है—चिरंजीवी पुत्र पौत्र, बहुत से पशु-सवारियाँ, अमित धन-राशि, पृथ्वी का राज्य, सुंदर स्त्रियाँ, कल्पात आयु—जितने भी मर्त्यलोक के दुर्लभ काम हैं, हे जिज्ञासु, उनको अपनी इच्छानुसार तुम चुन सकते हो। यही वैभव तो गौतम बुद्ध के सामने भी था। परंतु दार्शनिक प्रश्नों की मीमासा इस लौकिक सामग्री से कभी संभव नहीं। नचिकेता ने जो उत्तर दिया था, वह उत्तर-दार्शनिक संसार के प्रमुख तोरणद्वार पर आज भी अमिट अक्षरों में लिखा हुआ है—यदि मनुष्य का मरण ध्रुव है, तो उसके लिए ये अनित्य पदार्थ किस काम के हैं? इनसे इंद्रियों का तेज क्रमशः क्षीण होता रहता है। जीवन की अवधि स्वल्प है, इसमें नृत्य-गीत के लिए स्थान कहाँ? चाँदी और सोने के रुपहले सुनहले टुकड़ों से कब मनुष्य का पेट भरा है*? सुनहरी दलदल में पड़ने से पहले ही उस महान् प्रश्न का समाधान ढूँढने का प्रयत्न करना उचित है।

यह मनःस्थिति ही सच्ची जिज्ञासा है। हमारे दार्शनिक साहित्य में कठ उपनिषद् का नचिकेता-उपाख्यान इसीलिए महत्त्वपूर्ण है। जितने ज्वलंत रूप में दार्शनिक जिज्ञासा का परिचय हमे यहाँ मिलता है, उतना अन्यत्र कहीं नहीं। इस बात में संदेह है कि संसार के दार्शनिक इतिहास में अन्य किसी भी देश में जिज्ञासा के महत्त्व और स्वरूप को समझने का ऐसा सुन्दर प्रयत्न किया गया हो। जिज्ञासा के साथ दार्शनिक विचारों की उद्भावना व्योमविहारी पक्षिराज गरुड की उड़ान के सदृश है। बिना सच्ची जिज्ञासा के तत्त्वज्ञान की उधेड़-बुन बुद्धि का कुतूहल-मात्र रह जाता है। दिमाग़ की पैंतरेबाजी से जिस दर्शन का जन्म होता है, उसे भारतीय परिभाषा के अनुसार 'दर्शन' कह सकना कठिन है। हम यह नहीं कहते कि इस प्रकार दिमाग़ पर ज़ोर डालकर दर्शन की सृष्टि यहाँ कभी नहीं की गई; हमारा आशय तो इतना ही है कि जिज्ञासा के बाद जो तत्त्व ज्ञान की मीमासा की जाती है, उसके और शुष्क दर्शन के भेद को ठीक तरह समझ लिया जाय।

यदि उपरोक्त दो प्रकार की परिस्थिति मे पनपनेवाली दार्शनिक विचारधाराओं के भेद की गहरी छानबीन की जाय तो हम दो परिणामों पर पहुँचते हैं। पहला भेद तो दर्शन की परिभाषा से सम्बन्ध रखता है और दूसरा उसके फल से। यहाँ पर हमको दर्शन के लिए जो अँगरेज़ी शब्द है, उसके साथ भी परिचय प्राप्त करना चाहिए। अँगरेज़ी में दर्शन को philosophy (फिलासफी) कहते हैं। पश्चिम की अन्य भाषाओं में भी प्रायः यही शब्द व्यवहृत होता है। जिस प्रकार पाश्चात्य दर्शन का आरंभ सर्वसम्मति से यूनान में हुआ, उसी प्रकार 'फिलासफ़ी' शब्द भी यूनानी भाषा से लिया गया है। यूनानी शब्द philo sophia का अर्थ है ज्ञान (*sophia*=wisdom) का प्रेम (*phila*=love)। ज्ञान का तात्पर्य बुद्धिकृत मीमांसा से है। तत्सम्बन्धी रुचि ही philosophy है। इसके विपरीत भारतीय शब्द है 'दर्शन', जिसका अर्थ है 'देखना' अर्थात् तत्त्व का साक्षात्कार करना। ज्ञान के जिस विवेचन में सत्य या तत्त्व को स्वयं न देखा जाय, उसे 'दर्शन' कहना कठिन है। वही तत्त्व सत्य है, जिसके संबंध में हम यह कह सकें कि वह हमारा साक्षात्कृत है; यह हमारे अनुभव का विषय है अर्थात् यह हमारा 'दर्शन' है। बुद्ध भगवान् अपने उपदेशों में इस बात पर बहुत ज़ोर दिया करते थे कि मैं जिस मार्ग का शास्ता हूँ, मैंने उसे स्वयं देख लिया है। जब तक किसी उपदेष्टा या ज्ञानी की ऐसी विश्वस्त स्थिति न हो तब तक वह मानव जीवन के लिए असंदिग्ध या महत्त्वपूर्ण तत्त्व का व्याख्यान नहीं कर सकता। दर्शन का संबंध जीवन के साथ अति घनिष्ट है। जीवन में आत्मकृत अनुभव के बिना तेजस्वी दर्शन का जन्म नहीं होता। इस देश में तो जिस समय भी दर्शन की पहली ज्ञान-रश्मियाँ प्रस्फुटित हुई थीं, उसी समय यह बात जान ली गई थी कि दर्शन का अर्थ साक्षात्कार है! हमारी परिभाषा में प्राचीनतम ज्ञानियों का नाम ऋषि है। संस्कृत-भाषा में जो अद्भुत निरुक्तशास्त्र की सामर्थ्य है, उसके द्वारा 'ऋषि' शब्द 'दार्शनिक' के अभिप्राय को यथार्थ रूप से प्रकट कर देता है। यास्काचार्य ने लिखा है.—

ऋषिर्दर्शनात् (निरुक्त २।११)

अर्थात् ऋषि शब्द का अर्थ है द्रष्टा (देखनेवाला)। शुष्क ऊहापोह करनेवाला तार्किक भारतीय अर्थ मे 'दार्शनिक' की पदवी का अधिकारी नहीं बनता। दार्शनिक बनने के लिए 'दर्शन' होना चाहिए, अथवा और भी पवित्र शब्दों मे कहें, तो 'ऋषित्व' होना आवश्यक है। इस देश की परिपाटी के अनुसार जो व्यक्ति अपने आपको ज्ञान का

* न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः (कठ उपनिषद् १।२७)

नचिकेता और यम

इस बात में संदेह है कि संसार के दार्शनिक इतिहास में अन्य किसी भी देश में जिज्ञासा के महत्त्व और स्वरूप को समझने का ऐसा सुन्दर प्रयत्न किया गया हो, जैसा कि हमारे दार्शनिक साहित्य में कठ उपनिषद् के नचिकेता-उपाख्यान में मिलता है। वास्तव में यह एक रूपक है। 'नचिकेता' शब्द यथार्थ जिज्ञासु का सूचक है और यह जिज्ञासा वृत्ति मनुष्य में प्राय मृत्यु (यम) के सन्निकट होने अर्थात् मृत्यु का भय उपस्थित होने पर जागरूक हो उठती है। [विशेष विवरण के लिए देखो पृष्ठ २१ के नीचे दिया हुआ नोट]

अधिकारी कहे, उसे यह कहने का सामर्थ्य पहले होना चाहिए कि 'मैंने ऐसा देखा है।' यजुर्वेद के शब्दों में सच्चा दार्शनिक वही है, जो यह कह सके—'*वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्*' अर्थात् 'मैं इस महान् पुरुष को जानता हूँ, जो आदित्य के समान भास्वर और तम से अतीत है।' 'एवं मयाश्रुत' कहनेवाले के पास स्वय अपने दर्शन का अभाव है। जीवन तो आत्मानुभव का नाम है। दूसरे के दर्शन से अपनी तृप्ति त्रिकाल में भी संभव नहीं।

हमारे साहित्य में दर्शन के लिए प्राचीन शब्द 'आन्वीक्षिकी' प्रतीत होता है। चाणक्य के अर्थशास्त्र में विद्याओं का वर्गीकरण करते समय आन्वीक्षिकी पद का ही प्रयोग किया है। आन्वीक्षिकी शब्द में भी [अनु + ईक्ष] ईक्षण या देखने का भाव है। डॉ० बैटी हाइमान ने भारतीय विचार-प्रणाली की विशेषता का अध्ययन करते हुए इन परिभाषात्मक शब्दों के विषय में ठीक ही लिखा है—

"यदि हम पाश्चात्य शब्द philosophy और उसके संस्कृत पर्याय पर विचार करें, तो दोनों का मौलिक भेद तुरत प्रकट हो जाता है। यूनानी शब्द *philor-sophia* का शब्दार्थ है 'ज्ञान का प्रेम' अर्थात् मानव तर्क, उसका क्षेत्र, व्यवसायात्मक निश्चय एवं विशेषता की परख। इसके प्रतिकूल सस्कृत शब्द 'आन्वीक्षिकी' का तात्पर्य है पदार्थों का ईक्षण, अर्थात् सृष्टि के जितने पदार्थ हैं, उनके मार्ग से चलकर तत्त्व वस्तु की खोज या तत्त्व निदिध्यासन। संसार के पदार्थ हमारे ईक्षण का विषय इसलिए बनते हैं कि हम उनके द्वारा तत्त्व का ध्यान कर सकें, केवल पदार्थों की छानबीन या वर्गीकरण ही हमारा ध्येय नहीं।"

सच्ची जिज्ञासा के कारण जो 'कस्त्वं कोऽहम्' प्रश्नों की मीमांसा की जाती है, उसके अनुसार 'दर्शन' शब्द की परिभाषा का ऊपर स्पष्टीकरण किया गया है। दर्शन का मानव जीवन पर जो परिणाम या फल होता है, उसका भी जिज्ञासा के साथ गहरा संबध है। जिज्ञासु के लिए दर्शन बुद्धि का कुतूहल नहीं। वह कमरे के भीतर बंद होकर कुर्सी पर बैठा हुआ अपने कर्त्तव्य की इतिश्री नहीं समझता। उपनिषद् में जो यह कहा है कि यह आत्मतत्त्व केवल 'मेधा' या बहुत विद्या पढ़ने (बहुश्रुत होने) से नहीं मिलता, वह जिज्ञासु-मनोवृत्ति की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करने के लिए है। महाकवि जायसी ने इसी बात को सीधे सादे शब्दों में यों कहा है—

का भा जोग-कथनि के कथे।
निकसै घिउ न बिना दधि मथे॥

अर्थात् योग की कथा कहने-सुनने से क्या फल है? बिना दही को मथे घी नहीं निकल सकता। इसलिए भारतीय परम्परा के अनुसार दर्शन या साक्षात्कार की विधि ऐसी ही है, जैसे स्वयं दही मथकर घी निकालना। इस उक्ति से एक जीवन-क्रम का परिचय मिलता है। दूसरे शब्दों में दर्शन का फल 'साधना' है। साधना के ही नामान्तर 'तप' या 'व्रत' या 'दीक्षा' हैं। इसीलिए उपनिषदों ने कहा है—

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा
सम्यक् ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।

अर्थात् सत्य, तप, सात्विक ज्ञान और नित्य निर्विकार रहने से ही आत्मतत्त्व का दर्शन हो सकता है।

ये बातें साधना की ओर संकेत करती हैं। जीवन में दर्शन का फल है साधना का उदय। साधना की भावना से सात्विकी श्रद्धा का जन्म होता है। प्रश्नात्मक जिज्ञासा को अश्रद्धा या श्रद्धा का अभाव नहीं समझना चाहिए। जिज्ञासा का अभाव अश्रद्धा है। जिज्ञास्य विषय को अपने अध्यवसाय की क्षमता से अनुभव का विषय बना सकना यही श्रद्धा का लक्षण है। आत्मविश्वास ही श्रद्धा है। जिज्ञासु को अपनी दृढ़ता में विश्वास होता है। यही उसका पाथेय है।

अपने मे अविश्वास का होना यह अश्रद्धा का रूप है। प्रश्नों का उत्पन्न न होना तो तम या मूर्च्छा है। सदेह या प्रश्नों को परास्त करने की शक्ति ही जिज्ञासु की श्रद्धा कहलाती है। जिज्ञासा उत्पन्न हो जाने पर यदि जीवन के क्रम में परिवर्त्तन नहीं होता, तो मानो जिज्ञासु 'दर्शन' या साक्षात्कार के साथ अपना सीधा संबंध जोड़ने से बचना चाहता है। इस दृष्टि से दार्शनिक का जीवन एकान्ततः नैतिक बन जाता है।

दार्शनिक कैंट ने एक स्थान पर कहा है:—

'नीतिमय जीवन का प्रारंभ होने के लिए विचार-क्रम में परिवर्त्तन तथा आचार का ग्रहण आवश्यक है।'

भारतीय परिभाषा में इस प्रकार के जीवन-क्रम की संज्ञा तप है। इसीलिए तो यहाँ का प्रत्येक दार्शनिक संप्रदाय जीवन की एक-न-एक साधना की शिक्षा देता है। ज्ञान, कर्म, उपासना अथवा वेदांत-सांख्य-योग सबके साथ एक जीवन-मार्ग का घनिष्ट संबंध है। इसी कारण भारतवर्ष में जीवन से विरहित कोई दर्शन नहीं पनप सका। जिस दर्शन का जीवन के साथ सबसे घनिष्ट संबध था, वही विचार यहाँ सबसे अधिक फूला-फला।

पृथ्वी की कहानी

पृथ्वी के सम्बन्ध में कुछ धारणाएं

आरंभ में मनुष्य के पास आज की तरह पृथ्वी के इस छोर से उस छोर तक जाने के साधन नहीं थे कि वह इस सम्बन्ध में प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त कर लेता, अतएव उसने कल्पना का सहारा लिया और पृथ्वी के आकार और आधार के सम्बन्ध में तरह-तरह की धारणाएँ प्रचलित हो गईं। प्राचीन भ रतवासियो का विश्वास था कि पृथ्वी ईश्वर की कला शेषनाग के मस्तक पर टिकी हुई है और उसके बीचोबीच सुमेरु-नामक कई लाख योजन ऊँचा पर्वत है। इस पर्वत के आस-पास थाली की तरह वलयाकार क्रमश. सात द्वीप और उनको घेरनेवाले सात सागर हैं। यूनानियो का विश्वास था कि पृथ्वी एक बड़ी चपटी छत की भाँति है जो बारह खंभों पर टिकी हुई है, ये खंभे 'हरक्यूलीज़ के खंभे' कहलाते थे। मत यह भी था कि शाप के वश एटलस-नामक एक दैत्य पृथ्वी को उठाये हुए है। प्राचीन यहूदियों द्वारा पृथ्वी अण्डाकार विश्व का निचला भाग मानी जाती थी। इसी तरह और भी कई मत प्रचलित हो गए।

पृथ्वी के आधार और आकार का दर्शन

उस ग्रह की कहानी जिस पर पैदा होते, मरते, खेलते-कूदते और तरह-तरह के खिलौने बनाते-बिगाड़ते हुए हम इस ब्रह्माण्ड में अनन्त शून्य की यात्रा कर रहे हैं।

अपनी क्रीड़ाभूमि पृथ्वी के संबंध में मनुष्य सदैव ही से कौतूहलपूर्ण प्रश्न करता आया है। पृथ्वी कितनी लंबी और चौड़ी है? उसका धरातल कितना गहरा है, और उसके भीतर क्या है? पृथ्वी कहाँ और कैसे स्थिर है? वह कब और कैसे उत्पन्न हुई? उसके जन्मकाल से लेकर आज तक उसमें क्या क्या परिवर्तन हुए हैं? आकाश, तारे और नक्षत्र क्या हैं? सूर्य और पृथ्वी तथा अन्य नक्षत्रों में क्या सम्बन्ध है? आदि प्रश्नों के उत्तर पाने के लिए मनुष्य अपनी स्वाभाविक जिज्ञासा वृत्ति के कारण आदि काल ही से प्रयत्नशील रहा है। प्रकृति की लीलाओं के अध्ययन और मनन के फलस्वरूप मनुष्य का उपरोक्त विषयों संबंधी ज्ञान नित्य प्रति बढ़ता गया और धीरे-धीरे वह स्वयं ही अपनी अनेकों शंकाओं का समाधान करने योग्य हो गया। परन्तु उसकी शंकाओं का कभी अन्त न होने आया। जैसे-जैसे उसका ज्ञान बढ़ा जिज्ञासा भी बढ़ती गई।
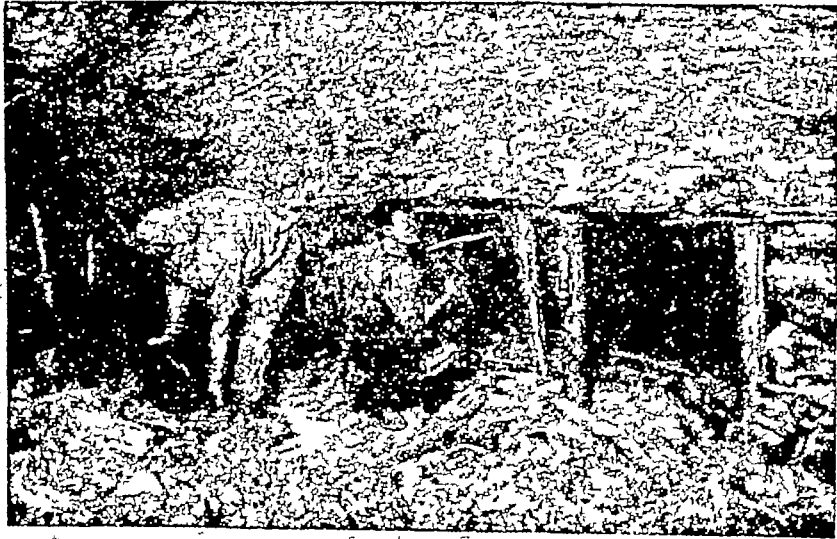
पृथ्वी के गर्भ की ओर

पृथ्वी के गर्भ में छिपी धातुओं की खोज में मनुष्य उसके धरातल के नीचे खानें आदि खोदकर यद्यपि अभी डेढ़-दो मील ही की गहराई तक पहुँच पाया है, फिर भी इसी प्रयत्न में उसे पृथ्वी के भीतर की रचना के सम्बन्ध में काफ़ी ज्ञान प्राप्त हुआ है।

पृथ्वी के सम्बन्ध में मनुष्य ने जो ज्ञान प्राप्त किया उसे हम 'भूगर्भ-विज्ञान' के नाम से पुकारते हैं। इस विज्ञान का जन्म मनुष्य की पृथ्वी-सम्बन्धी जिज्ञासा के फलस्वरूप हुआ। इसमें सन्देह नहीं कि पौराणिक काल के विद्वानों ने इस विज्ञान के प्रारम्भिक सिद्धान्तों का निर्माण किया और पृथ्वी-सम्बन्धी कुछ महत्त्वपूर्ण प्रश्नों के उत्तर प्राप्त किये, परन्तु भूगर्भ विज्ञान के आधुनिक स्वरूप और सिद्धान्तों का विकास प्रारम्भ हुए अभी थोड़ा ही समय व्यतीत हुआ है। पृथ्वी-सम्बन्धी समस्त बातों का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिए इसी विज्ञान की सहायता ली जाती है।

आधुनिक विज्ञान के जन्म और विकास के साथ-ही-साथ इस विज्ञान का भी विकास हुआ है, और इसका महत्त्व भी बढ़ता जा रहा है।

भूगर्भ विज्ञान को अन्य विज्ञान से तो सहायता मिली ही है परन्तु सबसे बड़ी सहायता उसे मिली खानों की खुदाई से। जिस प्रकार खानों की खुदाई से भूगर्भ-विज्ञान

को सहायता पहुँची है, उसी प्रकार मनुष्य को भूगर्भ-विज्ञान ने सहायता पहुँचाई है। मनुष्य ने इस विज्ञान की बदौलत इस 'रत्नगर्भा' पृथ्वी से जो सम्पत्ति प्राप्त की है, वह अतुल और अनन्त है। आधुनिक विज्ञान को भी भूगर्भ-विज्ञान ने यथेष्ट सहायता पहुँचाई है और सभ्यता के विकास में तो उसका प्रधान हाथ रहा है। कल-युगी सभ्यता का आधार लोहा, कोयला आदि खनिज पदार्थों तथा धातुओं पर किस प्रकार निर्भर है, यह हम सब भली भाँति जानते हैं। हमारे पैरों के नीचे, पृथ्वी के भीतर क्या है, इसी का उत्तर खोजने की धुन में मनुष्य ने इस अपार धनराशि को पाया है। यदि यह कहा जाय कि मानवीय सभ्यता का जन्म पृथ्वी सम्बन्धी जिज्ञासा तथा भूगर्भ विज्ञान के जन्म और विकास के साथ-ही साथ हुआ, तो असंगत न होगा।

यद्यपि मनुष्य ने पृथ्वी के सम्बन्ध में खोजबीन अति प्राचीन काल से ही आरम्भ की, तथापि उसका ज्ञान पृथ्वी की थोड़ी-सी गहराई तक ही सीमित है। गहरी से गहरी खान जो मनुष्य खोद पाया है एक या डेढ़ मील से अधिक गहरी नहीं है। इसका अर्थ यह है कि मनुष्य का ज्ञान पृथ्वी की इस नगण्य गहराई तक ही सीमित है। वह आज भी यह नहीं जान पाया है कि पृथ्वी के भीतर इस गहराई के बाद क्या है? उसने इस गहराई तक पहुँचने और वहाँ कार्य करने के जो प्रयत्न किये हैं, उनसे उसको यह ज्ञान अवश्य हो गया है कि पृथ्वी का पिण्ड किस पदार्थ का बना है। गहराई में जाने पर इस पदार्थ में किस प्रकार परिवर्त्तन होता जाता है, यह भी उसने सीखा और इसी आधार पर उसने पृथ्वी के गर्भ में क्या हो सकता है, इसकी कल्पना की है।

आधुनिक वैज्ञानिकों के मतानुसार पृथ्वी का पिण्ड ७६०० मील व्यास के एक विशाल गोले के रूप में है, जिसके नीचे और ऊपर के सिरे चपटे हैं। इस पृथ्वी-पिण्ड के चारों ओर वायुमण्डल का २०० मील के लगभग गहरा पर्त चढ़ा हुआ है। पृथ्वी का क्षेत्रफल लगभग उन्नीस करोड़ सत्तर लाख वर्ग मील है। इसका ७१ प्रतिशत भाग महासागर, समुद्र आदि के रूप में जलमग्न है। शेष भाग भूतल है। भूतल का भाग कई प्रकार के पदार्थों से मिलकर बना है। इन पदार्थों में से कुछ तो सर्वत्र पाये जाते हैं और कुछ किसी विशेष स्थान पर ही। मुख्यतः तीन प्रकार के पदार्थ हैं, जो भूतल को बनाते हैं। एक तो वे जो पर्वत-श्रेणियों में पाये जाते हैं। हिमालय आदि
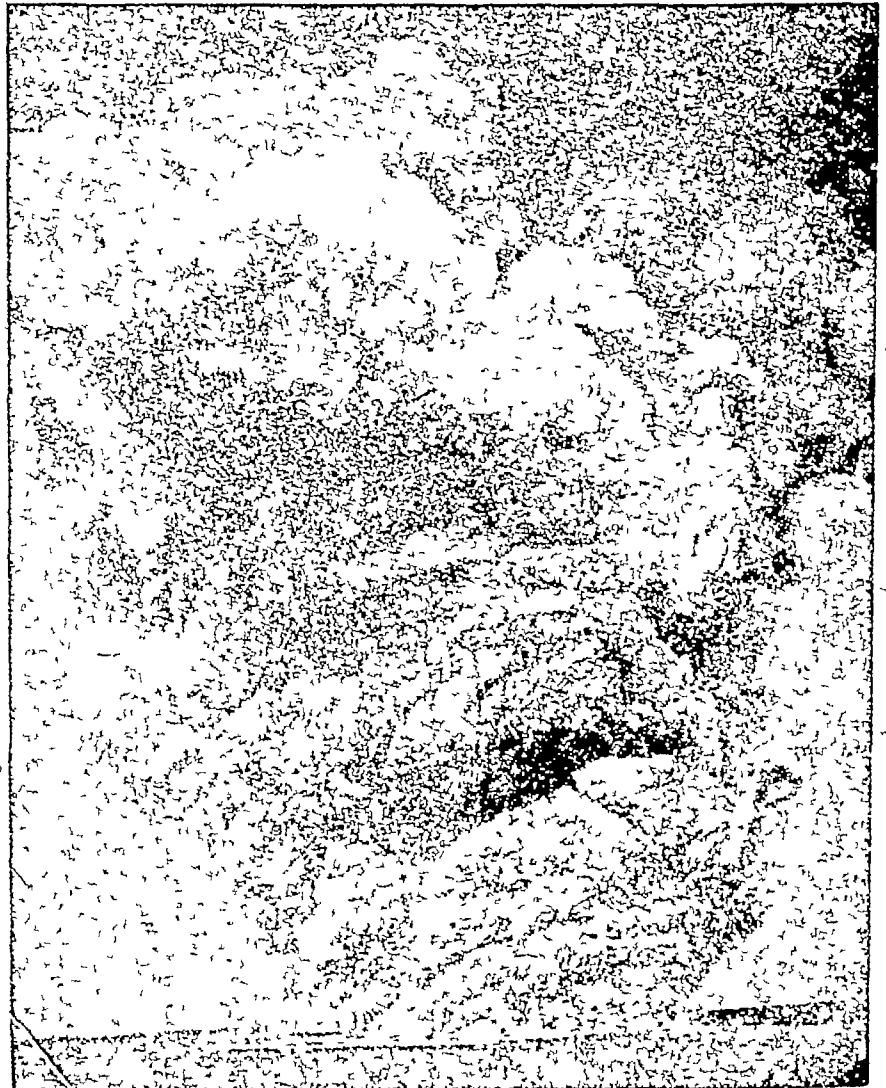
ज्वालामुखी का उद्गार

जो प्रचण्ड आग, धुँआ और पिघली हुई लावा उगल-उगलकर पृथ्वी के गर्भ में छिपी हुई भीषण अग्नि और उसकी लीला की कहानी हमें सुनाता है।

पर्वतों की चट्टानें परतीले शिलाखंडों की बनी हैं। इन शिलाओं के पर्तों पर कहीं कहीं ऐसे चिह्न पाये जाते हैं, जिन्हें देखकर अनुमान होता है कि ये प्रस्तरखण्ड किसी समय जल के भीतर रहे होंगे। ये शिलाखण्ड मिट्टी तथा बजरी-जैसे पदार्थ के बने हैं और जमकर गर्मी के दबाव अथवा अन्य किसी कारण से कठोर हो गये हैं। इसके पदार्थ, जो भूतल के बनाने में लगाये गए हैं, वे हैं जो आग्नेय चट्टानों के रूप में कहीं-कहीं पाये जाते हैं। दक्षिण भारत का पठार इसी प्रकार की चट्टानों से बना है। इन चट्टानों के देखने से यह प्रतीत होता है कि किसी समय ये द्रव पदार्थ के रूप में बहती हुई थीं और जमकर कठोर हो गई हैं। तीसरे प्रकार के पदार्थ मिट्टी, बालू, कंकड़ आदि हैं, जो लगभग सारे भूतल में पाये जाते हैं।

धरती खोदने से भी हमें विचित्र प्रकार के अनुभव होते हैं। कहीं तो चट्टानें इतनी कठोर हैं कि उन्हें साधारण औजारों की मदद से खोदना असम्भव हो जाता है और विस्फोटक पदार्थों द्वारा उनको तोड़कर खोदना पड़ता है। कहीं पर चट्टानें बहुत ही नरम हैं तथा कहीं पर थोड़ा खोदते ही जल निकलने लगता है। कुछ भागों में खोदने पर केवल मिट्टी ही-मिट्टी निकलती है और कहीं पर कोयला तथा लोहा-जैसा काला पत्थर। कहीं पर स्फटिक की शिलायें और कहीं पर खनिज भरी चट्टानें। कही गन्धक-मिश्रित जल और कहीं मिट्टी का तेल आदि द्रव पदार्थ।

पृथ्वी किस प्रकार निरन्तर बदल रही है

यह प्रकृति की अपनी क्रिया-प्रक्रिया के फलस्वरूप पर्वतखण्डों में बनी हुई इन सैकड़ों फ़ीट लम्बी विशाल मेहराबों से अच्छी तरह समझ में आ सकता है।

पृथ्वी के धरातल पर भी विचित्र दृश्य देखने में आते हैं। कहीं तो हिमालय जैसी गगनचुम्बी पर्वत-श्रेणियाँ, कहीं गंगा-यमुना के मैदान के सदृश समतल भाग, कहीं सहारा-सा मरुस्थल, कही दक्षिण भारत-सी कठोर भूमि। कभी भूतल से किसी स्थान पर गरम पानी की धारा बह निकलती हैं, कभी हरा-भरा मैदान मरुभूमि में परिणत हो जाता है। कभी विशालकाय भूमिखण्ड समुद्र के गर्भ में विलीन हो जाते हैं, तो कभी धराखण्ड समुद्र से निकलकर पर्वतों का रूप धारण कर लेते हैं। कभी ज्वालामुखी पर्वत आग्नेय उद्गार से पृथ्वी-मंडल को कँपा डालते हैं, कभी भूचाल मनुष्य नगरों को तहस देते हैं। एवं कहीं ऊपर उठने

नदियों द्वारा कट कटकर मिट्टी में मिलती जाती हैं। नदियाँ कहीं तो नर्मदा की भाँति सैकड़ों फीट गहरी घाटियों में बहती हैं, कहीं मैदानों में।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रकृति की लीलाओं द्वारा पृथ्वी का रूप निरन्तर बदलता रहता है। कितने युगों से पृथ्वी का रूप बदलता आया है और उसका प्रारम्भिक रूप कैसा था, यह किसी ने नहीं देखा। आज जो शक्तियाँ उसके रूप को बनाती-बिगाड़ती हैं, वे आदि युग में भी इसी प्रकार कार्यशील थीं अथवा नहीं, इसका हमें पता नहीं। आदि मानव ने पृथ्वी का जो रूप देखा था, वह कैसा था, इसका भी हमें कुछ ज्ञान नहीं। इन्हीं बातों को जानने का प्रयत्न भूगर्भ-विज्ञान की सहायता से किया जाता है। जिस प्रकार मनुष्य अपना सामाजिक तथा राजनीतिक इतिहास जानने के लिए मानवीय सभ्यता के चिह्नों को एकत्रित करता है और उनका तात्पर्य समझने की चेष्टा करता है, उसी प्रकार भूगर्भ-विज्ञानवेत्ता पृथ्वी के इतिहास को जानने के लिए उन साधनों का आश्रय लेता है, जो प्रकृति ने उसके लिए पृथ्वी पर अंकित कर रक्खे हैं। प्रकृति ने पृथ्वी के प्रत्येक अंग पर उसका इतिहास स्वयं उसी से लिखाया है। नदी-तट के बालू के कणों से लेकर विशाल पर्वत-श्रेणियों तक अपनी कहानी सुनाने को तैयार हैं। समुद्र गरज गरजकर अपनी गहराई और भीतर बननेवाले पर्वतों के जन्म का हाल सुनाने को तैयार है। ज्वालामुखी का उद्गार बताना चाहता है कि भूगर्भ में क्या छिपा है। भूचाल पृथ्वी की किसी आन्तरिक उथल-पुथल का परिचय देता है। इस प्रकार इनमें से प्रत्येक पृथ्वी की आत्मकथा का एक-एक अध्याय छिपाये हुए हैं। जो कोई भी इनके पास पहुँचता है, उसी को अपने पृष्ठ खोलकर दिखाने के लिए ये तत्पर हैं। इस महान् आत्मकथा को पढ़ने के लिए आवश्यकता है कि हम उसके प्रत्येक अंग को ध्यानपूर्वक देखें और फिर उसका मनन करें। आज, जो घटनायें हो रही हैं, उन्हीं की सहायता से उसके इतिहास की खोज करें। वर्त्तमान ही के पास भूतकाल की कोठरी की कुंजी है—इसी सिद्धांत पर भूगर्भ-विज्ञान का अध्ययन निर्भर है।

पृथ्वी के विकास के इतिहास का अध्ययन मनुष्य ने आदि युग से ही आरम्भ किया था। यद्यपि हमारी आज की धारणा हमारे पूर्वजों से सर्वथा भिन्न है तथापि हमें भी यह कहने का साहस नहीं हो सकता कि हमारी ही बात अन्तिम है। मनुष्य का ज्ञान जैसे-जैसे बढ़ता जाता है, उसका मत भी बदलता जाता है। पृथ्वी के सम्बन्ध में मनुष्य के विचार समयानुकूल किस प्रकार बदलते रहे हैं, इसका इतिहास बहुत ही मनोरंजक है।

सभ्यता के आदि युग में जब लोगों का विचरण पृथ्वी के थोड़े-से भाग तक ही सीमित था, उनका विश्वास था कि पृथ्वी चौरस है और इसकी गहराई अनन्त है। पृथ्वी की लम्बाई-चौड़ाई की कल्पना उन लोगों ने नहीं की। परन्तु जब उनके पर्यटन का क्षेत्र बढ़ा और वे समुद्र के किनारे तक पहुँचने लगे, तब पृथ्वी के बारे में उनका विचार भी बदलने लगा। वे पृथ्वी को समुद्र में तैरनेवाली एक विशालकाय वस्तु समझने लगे। अनन्त जलसागर में तैरनेवाली विशालकाय पृथ्वी जब उन्हें तनिक भी हिलती-डुलती न प्रतीत हुई, तब उनका विचार हुआ कि पृथ्वी तैरती नहीं है, वरन् अचल है और विशाल वृक्ष की भाँति है, जिसकी जड़ें अनन्त जलराशि के नीचे तक चली गई हैं और किसी अदृश्य स्थान पर जकड़ी हुई हैं।

यह विचार अधिक काल तक स्थिर न रह सका और लोगों के विचारों में फिर परिवर्त्तन हुआ। उन्होंने पृथ्वी के आधार की खोज करना आरम्भ की और यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि पृथ्वी एक बड़ी चौरस छत की भाँति है, जो बारह खम्भों पर स्थित है। ये खम्भे किस आधार पर टिके हैं, इस सम्बन्ध में वे चुप रहे। परन्तु कुछ लोगों ने यह सिद्धान्त फैलाना आरम्भ किया कि यज्ञ, हवन, बलिदान आदि धार्मिक कृत्यों के बल पर ये खम्भे स्थित हैं। यदि पृथ्वी पर धार्मिक कृत्य बन्द हो जायँ, तो ये खम्भे एक दिन भी स्थिर न रह सकेंगे और पृथ्वी गिरकर अनन्त पाताल के गर्भ में विलीन हो जायगी। इसी कल्पना के आधार पर भूकम्प का सिद्धांत ठहराया गया। अर्थात् जब धार्मिक कृत्यों में कमी हो जाती है, तब इन खम्भों की शक्ति क्षीण हो जाती है और पृथ्वी डगमगा जाती है। इसीलिए आजकल भी धर्मात्मा लोग भूकम्प के समय धार्मिक अनुष्ठानादि करने में लिप्त हो जाते हैं। पुराने विचारों के हिन्दुओं में ऐसे ही कुछ विश्वास अब भी प्रचलित हैं। कैथोलिक मतावलम्बी अब भी पृथ्वी को चपटी मानते हैं। इसी विश्वास के आधार पर योरप में कई ऐसे विद्वानों को जीवित जला तक दिया गया, जो पृथ्वी को गोल कहने का साहस करते थे।

भारतवर्ष में भी पृथ्वी के सम्बन्ध में विभिन्न कालों में विभिन्न मत प्रचलित रहे हैं। हमारे शास्त्रों में पृथ्वी को अचला, अनन्ता, स्थिरा आदि नामों से पुकारा गया है।

इससे पृथ्वी की स्थिति और विस्तार का तो ज्ञान होता है, परन्तु उसके आकार और आधार का पता नहीं लगता। कुछ लोगों का सिद्धान्त था कि पृथ्वी गोल छिलके की भाँति है और चार हाथियों की पीठ पर अवस्थित है और हाथी एक विशाल कच्छप की पीठ पर खड़े हैं। इसी कारण सम्भवतः इसका नाम 'काश्यपी' पड़ा। चीन देश में भी इसी प्रकार का कुछ विश्वास प्रचलित था। तिब्बत के लामा पृथ्वी को मेढकों पर रक्खा हुआ मानते हैं।

भागवत पुराण की वाराह अवतार की कथा के प्रसंग में यह कहा गया है कि भगवान् ने पृथ्वी को रसातल से खोज निकाला और जल के ऊपर रख दिया और तब से वह वहीं पर रक्खी हुई है। पृथ्वी के आधार के विषय में कहा जाता है कि वह शेषनाग के फन पर रक्खी हुई है। शेषनाग ब्रह्माजी के आदेश से परोपकारार्थ इस 'चल' पृथ्वी को अपने सिर पर बिना परिश्रम के इस प्रकार धारण किये रहते हैं कि वह तनिक भी हिलती-डुलती नहीं!

आगे चलकर कुछ विद्वानों ने पृथ्वी की अण्डाकार कल्पना की। इस धारणा के अनुसार भी पृथ्वी आधी समुद्र के भीतर जलमग्न है और शेष पर मनुष्य रहते हैं। भिन्न-भिन्न विद्वानों ने अपनी बुद्धि और तर्क के अनुसार पृथ्वी का भिन्न-भिन्न आकार सिद्ध करने की चेष्टा की। किसी ने पृथ्वी को नल के समान, तो किसी ने छ:पहलवाली माना। किसी ने पृथ्वी को खरबूज़े के समान माना, तो किसी ने ताम्बूलाकार। कोलम्बस ने सिद्ध करने का प्रयत्न किया था कि पृथ्वी शंखाकार है।

प्रसिद्ध विद्वान् भास्कराचार्य ने बारहवीं शताब्दी में यह सिद्ध कर दिया था कि पृथ्वी गोल है और उसमें आकर्षण-शक्ति है। पृथ्वी तथा अन्य ग्रहों की परस्पर आकर्षण-शक्ति के कारण ही सब ग्रह निरन्तर निराधार घूमा करते हैं। इस मत की पुष्टि आधुनिक विद्वानों ने भी की है।
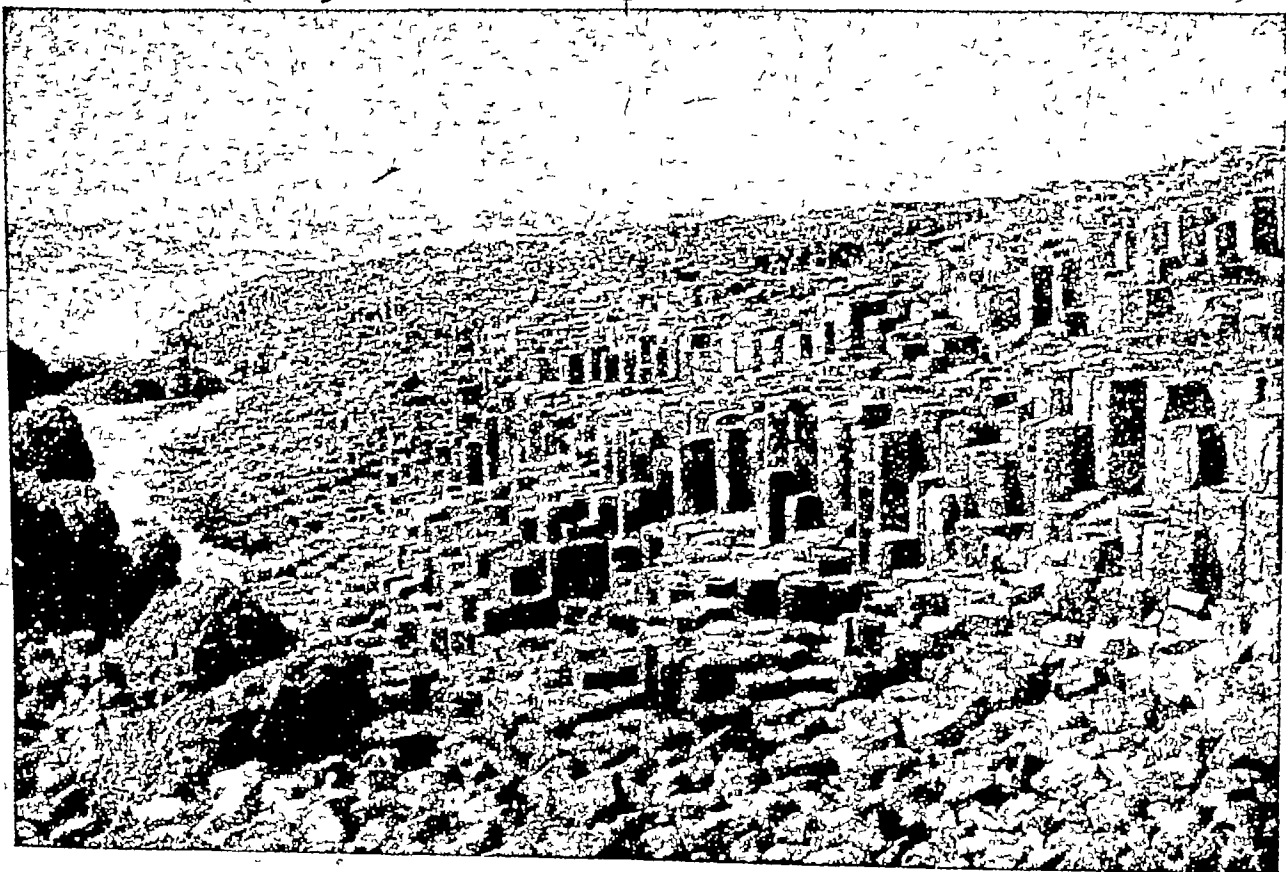
पृथ्वी की अद्भुत आत्मकथा का एक पृष्ठ

प्रकृति ने पृथ्वी के प्रत्येक अंग पर उसकी जीवन-कथा स्वयं उसी से लिखवाई है। ऊपर के चित्र में आयर्लैंड के उत्तरी समुद्रतट पर प्रकृति द्वारा रची हुई खभों के टुकड़ों-जैसी शिलाओं का अद्भुत दृश्य है। ये शिलाएँ हज़ारों-लाखों वर्ष पूर्व किसी समय पिघली हुई लावा के एक विशेष रीति से जम जाने से बनी थीं। आज दिन तो ये ऐसी मानों किसी विशाल घाट के खण्डहर हों!

आधुनिक मतानुसार पृथ्वी नारंगी के समान गोल है और उत्तरी तथा दक्षिणी ध्रुवों के पास वह चपटी हो गई है। कुछ विद्वानों की गवेषणा तथा खोज के परिणामस्वरूप पृथ्वी का एक ही नवीन आकार माना गया है, जो न पूर्णतया गोल है और न अण्डाकार। इस आकार को 'पृथिव्याकार' कहें तो ठीक है, क्योंकि उसका अपना निराला ही आकार है। इस आकार की कल्पना इस कारण की गई है कि पृथ्वी का कोई भी अक्षांश—यहाँ तक कि विषुवत् रेखा भी—पूर्ण वृत्त नहीं है।

पृथ्वी के आकार और आधार के विषय मे तो लोगों ने भाँति-भाँति की कल्पना की, परन्तु उसके भीतर क्या है, इसके बारे में लोग बहुत कम जान पाये। कुछ लोगों ने पृथ्वी को खोखला और कुछ ने पृथ्वी को ठोस माना। मार्शल गार्डनर नामक भूविज्ञान के प्रसिद्ध विद्वान के मतानुसार पृथ्वी खोखला पिण्ड है। इसका छिलका ८०० मील मोटा है। इसके भीतर भी एक सूर्य है, जो इसे गर्म रखता है। पृथ्वी के भीतर क्या है—इस सम्बन्ध में एक प्रसिद्ध रासायनिक अरीनिउस का कहना है कि धरती धातु से बना हुआ एक भारी गोला है। इस गोले के भीतर उग्र आँच से उत्तप्त पदार्थ भरा है और इसका गर्भ वायव्य रूप में है। उसकी यह कल्पना ज्वालामुखी पर्वतों के उद्गार के आधार पर अवलम्बित है। उसका कहना है कि पृथ्वी के अत्यन्त गहरे भागों में भार के खिंचाव से खिंचकर सोना, चाँदी, प्लेटिनम आदि धातुएँ जमा हो गई हैं। फ़ारसी सभ्यतावालों के मतानुसार कारूँ अपना ख़ज़ाना लेकर पृथ्वी में धँस गया है और आज भी धँसता जाता है। वह कारूँ का ख़ज़ाना यही हो सकता है। इस अतुल धनराशि के चारों ओर वायव्य रूप में लोहे का बहुत बड़ा पर्त है। पृथ्वी का लगभग आधा पिण्ड लोहे का है। वायव्य लोहे के इस अनल-मण्डल का व्यास लगभग ६ हज़ार मील है। इसके ऊपर ६ सौ मील मोटा चट्टानों के वायव्य का स्तर है। इसके ऊपर १६० मील धधकती आँच से सफेद गले हुए पत्थरों का तल है। इन सबके ऊपर लगभग १०० मील मोटा वह चिप्पड़ है, जिस पर हम लोग रहते हैं। अरीनिउस के सिद्धान्त को आधुनिक वैज्ञानिक भी अपने मत का आधार मानते हैं।

पृथ्वी-पिण्ड वायुमण्डल से लगभग २०० मील तक घिरा हुआ है। पृथ्वी के सम्पूर्ण ऊपरी तल का क्षेत्रफल लगभग १९ करोड़ ७० लाख वर्ग मील है। इसमें १४ करोड़ वर्ग मील भूमि महासागरों, समुद्रों, और झीलों से घिरी है। शेष भूमि में यूरेशिया, अफ्रीका, अमरीका आदि महाद्वीप फैले हैं। केवल प्रशान्त महासागर ही आधी पृथ्वी पर फैला है। इसकी औसत गहराई लगभग १४००० फीट है। धरातल के किनारों का भाग सागर में शनैः-शनैः डूबता हुआ अचानक अतुल गहराई में विलुप्त हो जाता है। सागर-जल की मात्रा इतनी प्रचुर है कि यदि पृथ्वी के ऊँचे नीचे भाग सब बराबर कर दिये जायँ, तो सम्पूर्ण धरातल जलमग्न हो जाय और लगभग ८६०० फीट गहरे जल का वेष्ठन (पर्त) चढ़ जाय।

सागर की सबसे अधिक गहराई ३५००० फीट से भी अधिक है। और भूतल के सर्वोच्च शिखर गौरीशंकर की ऊँचाई २९००० फीट से कुछ अधिक है। इस प्रकार हमारे चिप्पड़ के ऊपरी तल पर कुल १२ मील के लगभग ऊँचाई-नीचाई है। पृथ्वी के ७९०० मील लम्बे व्यास की तुलना में १२ मील की ऊँचाई-नीचाई नगण्य सी है। इस प्रकार आधुनिक मनुष्य का ज्ञान पृथ्वी के ऊपरी चिप्पड़ के भी एक छोटे अंश तक ही सीमित है। पृथ्वी के चिप्पड की अपेक्षा मनुष्य को समुद्र के भीतर का ज्ञान अधिक है। समुद्र के भीतर मनुष्य आसानी से जा सका है। समुद्रतल भी पृथ्वी के धरातल की भाँति समतल नहीं है। धरातल की भाँति समुद्रतल पर भी नीची-ऊँची भूमि, घाटियाँ और पहाड़ियाँ-सी हैं।

पृथ्वी जिस रूप मे आज हमें दिखाई पड़ रही है, वह इस प्रकार कैसे हो गई, यह जानने के लिए हमें यह जानना आवश्यक है कि पृथ्वी का जन्म कैसे और कब हुआ? जन्म के पश्चात् पृथ्वी में क्या-क्या परिवर्त्तन हुए तथा उसका आकार किस प्रकार बदलता रहा? यह पता लगाना ही भूगर्भशास्त्र का काम है। आगे के अध्यायों में हम बतावेंगे कि किस प्रकार पृथ्वी का जन्म हुआ और फिर पृथ्वी पर धरातल तथा सागरतल का निर्माण किस प्रकार हुआ—पर्वत कैसे और कब बने, भूचाल क्यों आते हैं तथा ज्वालामुखी पहाड़ क्या हैं? नदियाँ कब और कैसे बनीं और फिर मनुष्य पृथ्वी पर कहाँ से और कैसे आया? हम ऊपर बता चुके हैं कि इन बातों का पता भूगर्भ विज्ञान की सहायता से इसी सिद्धान्त पर लगाया गया है कि 'जो आज हो रहा है वैसा ही कल भी हो चुका होगा।' इस सिद्धान्त, कल्पना, और तर्क के बल पर मनुष्य ने अपनी पृथ्वी-सम्बन्धी जिज्ञासा को शान्त करने की चेष्टा की है। यह आगे चलकर मालूम होगा कि वह सत्य के कितने निकट पहुँच गया है।

कह देना पर्याप्त है कि पृथ्वी गोल है, परन्तु इसका आकार पूर्णतया गोले के समान नहीं है। इसका कारण यह नहीं है कि उसके धरातल को ऊँचे-ऊँचे पर्वत, गहरी घाटियाँ, सागर आदि ऊबड़-खाबड़ बनाये हुए हैं। पृथ्वी के विशाल गोले के आकार के सामने यह ऊँचाई-नीचाई नगण्य-सी है। इसलिए धरातल की इस ऊँचाई-नीचाई का पृथ्वी के आकार पर तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ता। जिस प्रकार नारंगी गोल होते हुए भी ऊपर और नीचे के सिरों पर कुछ चपटी होती है तथा पेटे का भाग कुछ अधिक गोलाई लिये होता है, उसी प्रकार हमारी पृथ्वी भी नीचे और ऊपर के सिरों पर कुछ-कुछ नारंगी के समान ही चपटी है और इसके पेटे का भाग भी कुछ अधिक गोलाई लिये है। यदि पृथ्वी की परिधि नापी जाय, तो पेटे की परिधि शेष भाग की परिधि की अपेक्षा कुछ अधिक और ऊपर-नीचे के चपटे भागों पर नापी गई परिधि शेष की अपेक्षा कुछ कम होगी।

पृथ्वी की सम्पूर्ण परिक्रमा

पृथ्वी के भिन्न-भिन्न प्राकृतिक प्रदेश (१)

(ऊपर) ध्रुवों के आस-पास का शीतक टिबन्ध का प्रदेश, जहाँ केवल बर्फ़-ही-बर्फ़ है।

(बीच में) चीड़ के वनोंवाला प्रांत जहाँ जाड़ों में भीषण सर्दी रहती है।

(नीचे) घास के मीलों लंबे मैदान जहाँ वृक्ष नाम मात्र को भी नहीं हैं, किन्तु अच्छी खेती होने लगी है।

७० लाख वर्ग मील है। धरातल का दो-तिहाई से अधिक भाग जल वेष्ठित है। शेष स्थल भाग है।

आधुनिक काल में धरातल के स्थल भाग को कई भू-खण्डों में विभाजित किया गया है। इन भूखण्डों या महाद्वीपों के नाम और क्षेत्रफल निम्न तालिका से प्रकट होंगे:—

महाद्वीप	क्षेत्रफल
एशिया	१,७०,००,००० वर्ग मील
योरप	३७,५०,००० ,,
अफ्रीका	१,१५,००,००० ,,
उत्तरी अमेरिका	८०,००,००० ,,
दक्षिणी अमेरिका	७०,००,००० ,,
आस्ट्रेलिया	३०,००,००० ,,
पालीनीशिया	५,००,००० ,,
अटलाण्टिक तथा हिन्द महासागर के द्वीप	२,५०,००० ,,
ध्रुव प्रदेश	२०,००,००० ,,
सम्पूर्ण स्थल का क्षेत्रफल	५,३०,००,०००वर्गमील

जिस प्रकार स्थल भाग के खण्डों का नाम महाद्वीप रख लिया गया है, उसी प्रकार धरातल के जलमण्डित भाग के भी कई खण्ड किये गये हैं और प्रत्येक 'महासागर' के नाम से पुकारा जाता है। बडे बड़े महासागर पॉच हैं। इनके नाम, क्षेत्रफल आदि निम्न तालिका के अनुसार हैं:—

पृथ्वी के दो गोलार्द्ध—'पुरानी' और 'नई' दुनिया

महासागर	क्षेत्रफल
प्रशान्त (पैसिफिक)	६,५०,००,००० वर्ग मील
अटलाण्टिक महासागर	३,५०,००,००० ,,
हिन्द महासागर	२,५०,००,००० ,,
आर्कटिक या हिम महासागर	२५,००,००० ,,
अण्टार्टिक या दक्षिणी महासागर	३५,००,००० ,,
पूर्ण क्षेत्रफल	१३,१०,००,००० वर्ग मील

इन विशाल जलखण्डों के अलावा पृथ्वीतल पर सागर आदि अनेकों और भी छोटे जलखण्ड हैं। इसी प्रकार महाद्वीपों के अतिरिक्त अनेकों छोटे स्थलखण्ड हैं, जो द्वीप या 'टापू' के नाम से पुकारे जाते हैं।

सम्पूर्ण भूपृष्ठ अथवा भूगोल को आज दो भागों में विभाजित समझा जाता है। एक भाग में उत्तर, मध्य और दक्षिण अमेरिका हैं और दूसरे में योरप, एशिया, अफ्रीका और आस्ट्रेलिया हैं। पहले विभाग के पूर्व में अटलांटिक और पश्चिम में प्रशान्त महासागर हैं। दक्षिण में दक्षिण महासागर और उत्तर में उत्तरीय या हिम महासागर हैं। इसी प्रकार दूसरे विभाग के उत्तर में उत्तरीय या हिम महासागर और दक्षिण में हिन्द तथा दक्षिण महासागर हैं और पूर्व तथा पश्चिम में क्रमशः प्रशान्त तथा अटलांटिक महासागर हैं। आस्ट्रेलिया के ईशान कोण में पैसिफ़िक महासागर के विशाल वक्षःस्थल पर नक़्शे में कई नन्हें-नन्हें टापू देखे जाते हैं। इन सबके समूह को पालीनीशिया कहते हैं। उत्तर और दक्षिण ध्रुवों अथवा मेरुओं पर भी बर्फ से ढका स्थल का बड़ा विस्तार है।

एक समय था, जब एशियावाले गोलार्द्ध के लोगों का भूगोल-विषयक प्राप्त ज्ञान केवल एशिया, योरप, तथा अफ्रीका तक सीमित था। पूर्वीय गोलार्द्ध के लोगों को जब अमेरिका आदि का ज्ञान हुआ, तब उन्होंने उसको 'नई दुनिया' के नाम से पुकारना आरम्भ किया। तब से पूर्वीय गोलार्द्ध 'पुरानी दुनिया' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

धरातल का स्थल और जल के अतिरिक्त एक तीसरा महत्त्वपूर्ण भाग और भी है। इसे हम 'वायुमण्डल' के नाम से पुकारते हैं। वायुमण्डल पृथ्वी को दो सौ मील की ऊँचाई तक मण्डित किये हुए है। वायुमण्डल में क्या है और धरातल से उसका क्या सम्बन्ध है, इसका विस्तीर्ण हाल हम आगे बतायेंगे।

सजीव सृष्टि

जिनके बिना हमारी यह पृथ्वी एक विशाल मरुप्रदेश के समान होती और किसी भी प्राणी का उस पर पैदा होना या जीवित रहना असम्भव होता, उन पेड़-पौधों की कहानी।

सजीव और निर्जीव जगत्

संसार में दो प्रकार के पदार्थ हैं—एक सजीव और दूसरे निर्जीव। मनुष्य, पशु, पक्षी, पतिंगे, वृक्ष, लता, घास, काई, फफूँदी आदि की गणना सजीव सृष्टि मे, और मिट्टी, पत्थर, सोना, लोहा, अनेक धातु और उपधातु आदि की निर्जीव में है। इसी प्रकार विश्व में जितनी वस्तुएँ हैं, चाहे वे जिस काल या दशा की हों या तो वे सजीव होंगी या निर्जीव। सम्भव है, इस विषय पर हम लोगों में कुछ मतभेद हो। प्रायः इस सम्बन्ध में हमारा अनुमान यथार्थ नहीं होता। हमम से कुछ लोग मनुष्य तथा अन्य साधारण पशुओं को ही जीवधारी समझते हैं और ऐसे लोग छोटे छोटे अनेक जीवों को सजीव सृष्टि में सम्मिलित करने में सहमत न होंगे। वृक्षों के विषय में तो बहुतों की यही धारणा है। परन्तु यह हमारा भ्रम है। सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने से पता चलता है कि वृक्षों में केवल प्राण ही नहीं वरन् इनकी जीवनी भी उतनी ही रहस्यपूर्ण है, जितनी हमारी, आपकी अथवा किसी अन्य जीव की। इनमें भी आहार, विहार, तन्द्रा, निद्रा, सतति-समवर्धन आदि विशेषताएँ हैं। इनके भी शत्रु, मित्र, सहचारी, सहायक होते हैं। इनमें भी घोर जीवन-संग्राम और शत्रु तथा आपद-काल के लिए प्रबंध और देशकालानुसार परिवर्तित होने की योग्यता है। यह भी ताप और तुषार का अनुभव अथवा इनसे बचने का प्रयत्न करते हैं। इनमें भी हमारी-आपकी भाँति उत्तेजना-शक्ति और प्रतिक्रियाशीलता है। लज्जावती के पौधे से कौन नहीं परिचित है? 'यथा नाम तथा गुणम्।' इसकी एक पत्ती को स्पर्श करके देखिए। आपका हाथ छू जाने की देर है, एक-एक करके अनेकों पत्तियाँ सकुचित हो जाती हैं; और यदि कहीं आघात कठोर है, तो कई डालें मूर्च्छित हो जायँगी। थोड़ी देर तक इस दशा में रहने के पश्चात् वे पुनः पूर्ववत् दशा को प्राप्त हो जायँगी। आप लोगों ने चकवड़ (*Cassia tora*) का पौधा अवश्य देखा होगा। यह वर्षा ऋतु

लज्जावती या छुईमुई का पौधा

७० लाख वर्ग मील है। धरातल का दो-तिहाई से अधिक भाग जल वेष्ठित है। शेष स्थल भाग है।

आधुनिक काल में धरातल के स्थल भाग को कई भूखण्डों में विभाजित किया गया है। इन भूखण्डों या महाद्वीपों के नाम और क्षेत्रफल निम्न तालिका से प्रकट होंगे:—

महाद्वीप	क्षेत्रफल
एशिया	१,७०,००,००० वर्ग मील
योरप	३७,५०,००० ,,
अफ्रीका	१,१५,००,००० ,,
उत्तरी अमेरिका	८०,००,००० ,,
दक्षिणी अमेरिका	७०,००,००० ,,
आस्ट्रेलिया	३०,००,००० ,,
पालीनीशिया	५,००,००० ,,
अटलाण्टिक तथा हिन्द महासागर के द्वीप	२,५०,००० ,,
ध्रुव प्रदेश	२०,००,००० ,,
सम्पूर्ण स्थल का क्षेत्रफल	५,३०,००,०००वर्गमील

जिस प्रकार स्थल भाग के खण्डों का नाम महाद्वीप रख लिया गया है, उसी प्रकार धरातल के जलमण्डित भाग के भी कई खण्ड किये गये हैं और प्रत्येक 'महासागर' के नाम से पुकारा जाता है। बड़े बड़े महासागर पाँच हैं। इनके नाम, क्षेत्रफल आदि निम्न तालिका के अनुसार हैं:—

महासागर	क्षेत्रफल
प्रशान्त (पैसिफिक)	६,५०,००, ००० वर्ग मील
अटलाण्टिक महासागर	३,५०,००,००० ,,
हिन्द महासागर	२,५०,००,००० ,,
आर्कटिक या हिम महासागर	२५,००,००० ,,
अण्टार्टिक या दक्षिणी महासागर	३५,००,००० ,,
क्षेत्रफल	१३,१०,००,००० वर्ग मील

इन विशाल जलखण्डों के अलावा पृथ्वीतल पर सागर आदि अनेकों और भी छोटे जलखण्ड हैं। इसी प्रकार महाद्वीपों के अतिरिक्त अनेकों छोटे स्थलखण्ड हैं, जो द्वीप या 'टापू' के नाम से पुकारे जाते हैं।

सम्पूर्ण भूपृष्ठ अथवा भूगोल को आज दो भागों में विभाजित समझा जाता है। एक भाग में उत्तर, मध्य और दक्षिण अमेरिका हैं और दूसरे में योरप, एशिया, अफ्रीका और आस्ट्रेलिया हैं। पहले विभाग के पूर्व में अटलांटिक और पश्चिम में प्रशान्त महासागर हैं। दक्षिण में दक्षिण महासागर और उत्तर में उत्तरीय या हिम महासागर हैं। इसी प्रकार दूसरे विभाग के उत्तर में उत्तरीय या हिम महासागर और दक्षिण में हिन्द तथा दक्षिण महासागर हैं और पूर्व तथा पश्चिम में क्रमशः प्रशान्त तथा अटलांटिक महासागर हैं। आस्ट्रेलिया के ईशान कोण में पैसिफिक महासागर के विशाल वक्षःस्थल पर नक्शे में कई नन्हें-नन्हें टापू देखे जाते हैं। इन सबके समूह को पालीनीशिया कहते हैं। उत्तर और दक्षिण ध्रुवों अथवा मेरुओं पर भी बर्फ से ढका स्थल का बड़ा विस्तार है।

पृथ्वी के दो गोलार्द्ध—'पुरानी' और 'नई' दुनिया

एक समय था, जब एशियावाले गोलार्द्ध के लोगों का भूगोल-विषयक प्राप्त ज्ञान केवल एशिया, योरप, तथा अफ्रीका तक सीमित था। पूर्वीय गोलार्द्ध के लोगों को जब अमेरिका आदि का ज्ञान हुआ, तब उन्होंने उसको 'नई दुनिया' के नाम से पुकारना आरम्भ किया। तब से पूर्वीय गोलार्द्ध 'पुरानी दुनिया' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

धरातल का स्थल और जल के अतिरिक्त एक तीसरा महत्त्वपूर्ण भाग और भी है। इसे हम 'वायुमण्डल' के नाम से पुकारते हैं। वायुमण्डल पृथ्वी को दो सौ मील की ऊँचाई तक मण्डित किये हुए है। वायुमण्डल में क्या है और धरातल से उसका क्या सम्बन्ध है, इसका विस्तीर्ण हाल हम आगे बतायेंगे।

सजीव सृष्टि

जिनके बिना हमारी यह पृथ्वी एक विशाल मरुप्रदेश के समान होती और किसी भी प्राणी का उस पर पैदा होना या जीवित रहना असम्भव होता, उन पेड़-पौधों की कहानी।

सजीव और निर्जीव जगत्

संसार में दो प्रकार के पदार्थ हैं—एक सजीव और दूसरे निर्जीव। मनुष्य, पशु, पक्षी, पतिंगे, वृक्ष, लता, घास, काई, फफूँदी आदि की गणना सजीव सृष्टि में, और मिट्टी, पत्थर, सोना, लोहा, अनेक धातु और उपधातु आदि की निर्जीव में है। इसी प्रकार विश्व में जितनी वस्तुएँ हैं, चाहे वे जिस काल या दशा की हों या तो वे सजीव होंगी या निर्जीव। सम्भव है, इस विषय पर हम लोगों में कुछ मतभेद हो। प्रायः इस सम्बन्ध में हमारा अनुमान यथार्थ नहीं होता। हममें से कुछ लोग मनुष्य तथा अन्य साधारण पशुओं को ही जीवधारी समझते हैं और ऐसे लोग छोटे छोटे अनेक जीवों को सजीव सृष्टि में सम्मिलित करने में सहमत न होंगे। वृक्षों के विषय में तो बहुतों की यही धारणा है। परन्तु यह हमारा भ्रम है। सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने से पता चलता है कि वृक्षों में केवल प्राण ही नहीं वरन् इनकी जीवनी भी उतनी ही रहस्यपूर्ण है, जितनी हमारी, आपकी अथवा किसी अन्य जीव की। इनमें भी आहार, विहार, तन्द्रा, निद्रा, सतति-समवर्धन आदि विशेषताएँ हैं। इनके भी शत्रु, मित्र, सहचरी, सहायक होते हैं। इनमें भी घोर जीवन संग्राम और शत्रु तथा आपद्-काल के लिए प्रबंध और देशकालानुसार परिवर्तित होने की योग्यता है। यह भी ताप और तुषार का अनुभव अथवा इनसे बचने का प्रयत्न करते हैं। इनमें भी हमारी आपकी भाँति उत्तेजना-शक्ति और प्रतिक्रियाशीलता है। लज्जावती के पौधे से कौन नहीं परिचित है? 'यथा नाम तथा गुणम्।' इसकी एक पत्ती को स्पर्श करके देखिए। आपका हाथ छू जाने की देर है, एक-एक करके अनेकों पत्तियाँ सकुचित हो जाती हैं; और यदि कहीं आघात कठोर है, तो कई डालें मूर्च्छित हो जायँगी। थोड़ी देर तक इस दशा में रहने के पश्चात् वे पुनः पूर्ववत् दशा को प्राप्त हो जायँगी। आप लोगों ने चकवड़ (*Cassia tora*) का पौधा अवश्य देखा होगा। यह वर्षा ऋतु

लज्जावती या छुईमुई का पौधा

चक्रवड़ का पौधा
(बाईं ओर) दिन के समय, जब उसके पत्रक जाग्रत रहते हैं; (दाहिनी ओर) रात के समय, जब पत्रक निद्रित होते हैं।

में हमारे बागों तथा खेतों में उपजता है। कदाचित् आपने इसकी विचित्रता की ओर ध्यान न दिया हो। यदि अब कभी अवसर मिले; तो जिस स्थान पर इसके पेड़ हों, सूर्य अस्त होने पर अवश्य जाइए। इस समय यह आपको निद्रित दशा में मिलेगा। इसके पत्रकों (leaflets) को, जो आमने सामने होते हैं, आप सुषुप्तावस्था में एक-दूसरे के बाहुपाश में देखेंगे। प्रातःकाल प्रकाश फैलते ही ये निद्रा छोड़ दिनचर्या में लग जाते हैं।

कितने ही तो ऐसे वृक्ष हैं, जो बगुले की भाँति दूसरे जीवों का शिकार भी करते हैं। तुंबिलता (*Nepenthes*) नाम की लता, जो भूमध्यरेखा के निकटवर्ती जंगलों में होती है, इनमें से एक है। इस लता की तुंबिकाकार बहुरंगी पत्तियों में एक प्रकार का रस भरा रहता है। बेचारे पतिंगे इन पत्तियों के रूप से आकर्षित होकर दुर्भाग्यवश यहाँ आ पहुँचते हैं और तुंबी में प्रवेश करते ही अपनी जान से हाथ धो बैठते हैं।

तुंबियों के मुख पर एक प्रकार का ढक्कन होता है और उनके गले पर अन्दर की ओर रोयें, तथा उनकी अंदर की दीवार लसलसी होती है। इस कारण पतिंगे का बाहर निकलना असम्भव हो जाता है। साथ-ही-साथ ज्यों ही शिकार अंदर पहुँचा, पत्ती से एक प्रकार के द्रव पदार्थ का संचार होता है, जैसे हमारे-आपके मुंह में किसी स्वादिष्ट पदार्थ के सामने आने पर प्रायः होता है। वह रस आगंतुक कीड़े को हज्म कर तुंबिलता *Nepenthes* के उदर में पहुँचाता है।

इस प्रकरण में हम वृक्ष-सम्बन्धी कुछ प्रश्नों पर विचार करेंगे, परन्तु इस विषय का उल्लेख करने से प्रथम सजीव और निर्जीव प्रकृति की विवेचना तथा वृक्षों और पशुओं के अंतर तथा समानता की आलोचना करना अत्यंत आवश्यक है।

जीवन अथवा प्राण क्या है, यह ऐसी गूढ़ समस्या है जिसको आज तक कोई सुलझा नहीं सका। यह एक ऐसा प्रश्न है, जिसकी ओर मनुष्य का ध्यान परम्परा से चला आता है, परन्तु फिर भी इसका यथार्थ उत्तर नहीं मिल सका। इस प्रश्न के अन्तर्गत अनेकों वाद-विवाद, कल्पना और सिद्धांतों पर विचार तभी किया जा सकता है, जब हम सजीव पदार्थों की विशेषता अथवा इनकी जीवनी और रहस्य से भली-भाँति परिचित हों। अतः हमको सर्वप्रथम इस ओर ध्यान देना चाहिए।

सजीव सृष्टि की विशेषता

यद्यपि हम प्राण की यथार्थ व्याख्या नहीं कर सकते, तब भी हमको साधारण सजीव वस्तुओं को निर्जीवों से पृथक् करने में विशेष कठिनाई नहीं होती। इसका कारण यह है कि सजीव प्रकृति में कुछ विशेषताएँ हैं। इनमें कुछ बातें तो ऐसी हैं, जिनका सादृश्य निर्जीव जगत् में भी रासायनिक क्रियाओं द्वारा होता रहता है और कुछ ऐसी हैं, जिनका आधार प्रकृति-विज्ञान के नियमों पर है। परन्तु कुछ ऐसी बातें भी हैं, जो इन दोनों से पृथक् हैं।

यदि हम अपने चारों ओर वर्तमान सजीव वस्तुओं पर विचार करें, तो सबसे पहले हमारा ध्यान उनके आकार और आकृति की ओर आकर्षित होगा। भाँति-भाँति के पशु पक्षी, वृक्ष, लता, कीड़े-मकोड़े, घास आदि, जितनी भी सजीव वस्तुएँ हम देखते हैं, उन सबका रूप और आकार निश्चित है। बीज बोने के पहले हम जानते हैं कि गेहूँ का पौधा किस प्रकार का होगा; अथवा मुर्गी या सारस किस प्रकार के अंडे देगी, और उनमें से किस रूप के बच्चे उत्पन्न होंगे। इसी प्रकार हिरन, मोर, बिल्ली, या आम, करौंदा, नींबू, गुलाब, बेला, चमेली आदि के नाम लेते ही आपके सामने इनके चित्र अंकित हो जाते हैं। यही बात सारी सजीव सृष्टि के संबंध में है, चाहे वे पशु हों या वृक्ष। इनके आकार और आकृति निर्णित हैं। परन्तु निर्जीव वस्तुओं के विषय में ऐसा नहीं है। 'मिट्टी' कहने से हमें एक वस्तु विशेष का ज्ञान अवश्य होता है, परन्तु हम इसके आकार या आकृति के विषय में कुछ निश्चय नहीं कर सकते। सड़क की धूल, पास की दीवाल अथवा कुम्हार के बनाये खिलौने आदि-जैसी अनेकों वस्तुएँ मिट्टी की हैं। यही बात पत्थर, चीनी, काँच, ताँवा, चाँदी, सोने आदि के विषय में भी है। सारांश यह कि कुछ निर्जीव पदार्थ, जैसे रवा (crystal), नक्षत्र, सूर्य, चन्द्र को छोड़कर अधिकाँश की आकृति या आकार परिवर्तनीय हैं। परन्तु जीवधारियों के रूप और आकृति अपरिवर्तनीय।

तुंबिनता
जो एक माँसाहारी पौधा है।

वर्धन भी जीवधारियों की एक प्रधानता है? एक छोटा-सा बालक हमारे देखते देखते बढ़कर पूरे डील-डौल का मनुष्य हो जाता है, और आम की गुठली अथवा नीम की निंबौरी अंकुरित होकर विशाल वृक्ष का रूप धारण करती है। इसी प्रकार पृथ्वी पर जितने भी जीव हैं, सब में एक-न एक समय बढ़ने की शक्ति होती है। परन्तु इस क्रिया का औपम्य निर्जीव पदार्थों में रासायनिक क्रियाओं द्वारा भी हो सकता है। यदि हम पोटेशियम डाइक्रोमेट (*Pottasium-dichromate*) के डले को तूतिया के घोल में रक्खें तो चन्द मिनट पश्चात् तूतिया के डले के ऊपर एक छोटा खोल बन जायगा, जो धीरे-धीरे बढ़कर बड़ा हो जायगा। यदि यह आवरण किसी प्रकार फट भी जाय, तो स्वयं इसकी मरम्मत भी हो जायगी। नमक, फिटकरी अथवा अन्य रवा भी बढ़ते हैं। ऐसी दशा में हम बड़ी अड़चन में पड़ जाते हैं। हम भली भाँति जानते हैं कि कृत्रिम खोल अथवा रवा में जीवन का नाममात्र भी लगाव नहीं, परन्तु फिर भी इनमें बढ़ने और घाव भरने का गुण उपस्थित है। आप तर्कना कर सकते हैं कि आवरण बाढ़ में आहार की पाचन आदि क्रियाएँ, जिनके की रचना और कार्य करने के लिए सामर्थ्य (c करना सजीव सृष्टि की प्रधानता है, नहीं यथार्थ है। जीवधारियों के शरीर के क्रियाएँ होती रहती हैं, जिनमें भोजनकी
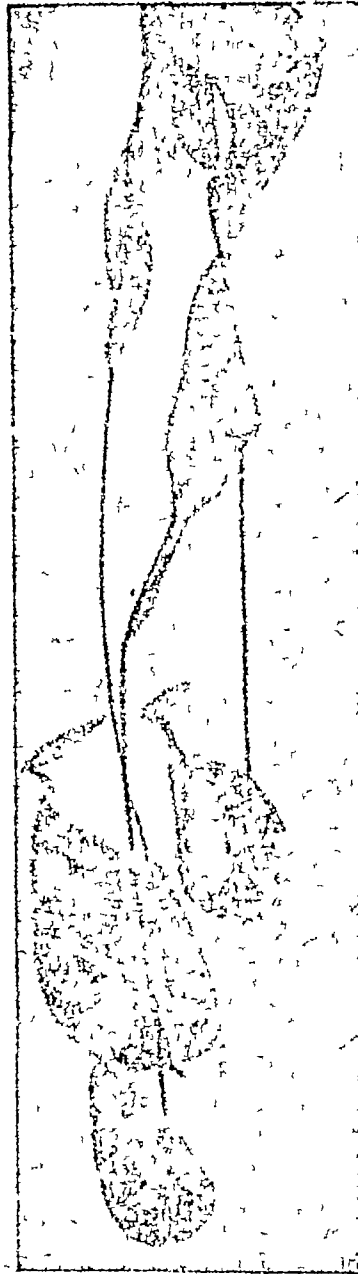
आज से कुछ वर्ष पहले यह समझा जाता था कि ये क्रियाएँ सजीव सृष्टि की विशेषता हैं, परन्तु प्रेरक रस (enzymes) का पता लगाने से अब हम जानते हैं कि इनमें से अधिकांश शरीर के बाहर भी इन द्रव्यों द्वारा की जा सकती हैं। इससे यह स्पष्ट है कि भोजन के पचाने की क्रियाएँ कुछ नियमित अथवा अनुसंधानीय प्राकृतिक तथा रासायनिक नियमों के अनुसार ही होती हैं और सजीव सृष्टि की विशेषता नहीं कही जा सकतीं।

अब आप प्रश्न करेंगे कि इस कृत्रिम लिफाफे में संतानोत्पादन की सामर्थ्य नहीं है। यह भी सत्य है। जीवों का मुख्य ध्येय सतानोत्पादन ही है। इनमें भाँति भाँति की विलक्षणता प्रायः वंशवृद्धि के ही कारण होती है। फूलों का रंग विरंगा होना, उनकी अनोखी आकृति और अनेकों परिवर्त्तन, इनमें धीमी तथा तेज़ गंध का प्रसार अथवा मधु का संचार आदि का अभिप्राय संतान-उत्पत्ति ही है। वृक्षों की भाँति पशुओं में भी संतान वृद्धि के अनकों साधन वर्त्तमान हैं। परन्तु सभी प्राणी तो संतान उत्पन्न नहीं कर सकते। ख़च्चर-जैसे कितने ही जीव हैं, जिनमें यह सामर्थ्य नहीं होती, फिर भी इस योग्यता का अभाव उन्हें जीवधारी होने से वंचित नहीं करता।

प्राणियों में एक और विशेषता है, जिसे हम गति कहते हैं। आप देखते हैं कि पशु, पक्षी, मछली, मेंढक, काड़े-मकोड़े आदि जहाँ चाहते हैं, स्वच्छन्द विचरते हैं। आगे चलकर हम देखेंगे कि वृक्षों में भी यह शक्ति किसी सीमा तक वर्त्तमान है। परंतु निर्जीव पदार्थ, जैसे कुर्सी, मेज़, ', टोपी, पत्थर, आदि में यह शक्ति नहीं होती। आप तर्कना कर सकते हैं कि नदी अथवा समुद्र में जहाज़ और नाव, सड़क पर मोटर अथवा आकाश में विमान और बादल आदि भी तो चलते-फिरते हैं। परन्तु इसमें भेद है। हमारे, आपके तथा पशुओं और वृक्षों के चलने और बादल आदि निर्जीव पदार्थों के चलने में बड़ा अंतर है। आकाश में उड़नेवाली पतंग को उड़ानेवाला जिस समय वायु के सहारे उसे इधर-उधर घुमाता है, उस समय हम इसको आकाश में पक्षी की भाँति मँडलाते अवश्य देखते हैं, परन्तु यदि डोर चरखी से टूट जाय अथवा उड़ानेवाले के हाथ से छूट जाय, तो पतंग के पतन को कोई शक्ति नहीं रोक सकती। उसे हवा और पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति जिधर चाहेगी, ले जायगी। परन्तु पतंग के साथ उसी आकाश में उड़नेवाले कबूतर या बाज़ की यह हालत नहीं। इनको आकाश में भ्रमण करने के लिए डोर अथवा उड़ानेवाले की आवश्यकता नहीं। ये हवा के अनुकूल या प्रतिकूल स्वच्छन्द उड़ते हैं। और जहाँ चाहते हैं, जाते हैं। यही हाल रेल अथवा वायुयान का भी है। रेलगाड़ी पटरी के सहारे इंजिन की शक्ति पर ड्राइवर की प्रेरणा से तेज़ी से चली जाती है। दुर्भाग्यवश नदी का पुल टूटा है। एक धड़ाके की आवाज़ हुई। इंजिन आगे के कई डिब्बों समेत नदी की धारा में जा गिरा! उसके पुर्ज़े पुर्ज़े अलग हो गए। साथ ही अनेकों मनुष्य घायल हो गए और कितने ही के प्राण गए। परन्तु उसी सड़क पर जानेवाले मुसाफ़िरों अथवा गाय-बैलों की यह हालत नहीं होती। यह पुल को टूटा देख ठहर जाते हैं और उस रास्ते को छोड़ दूसरे मार्ग की शरण लेते हैं। इंजिन में चलने

स्वर्गीय सर जगदीशचन्द्र बोस

जिन्होंने वनस्पति-सम्बन्धी अपनी खोज से संसार के वैज्ञानिकों को चकित कर भारत का गौरव बढ़ाया है।

कृत्रिम उद्भिज

यह एक प्रकार के रासायनिक घोल में से आप ही आप पैदा कराया गया है।
ऊपर का चित्र प्रयोग के दो-तीन मिनट बाद का है।
नीचे का चित्र ऊपर ही के चित्र में प्रदर्शित "कृत्रिम उद्भिज" का प्रयोग आरंभ होने से १० मिनट बाद का चित्र है। गौर करने की बात है कि कितने शीघ्र यह 'उद्भिज' अपने आप बढ़ जाता है। फिर भी सजीव पौधे की बढ़ती और इसकी बढ़ती में गहरा अंतर है। सजीव पौधा अपने आप ही अपने कलेवर के भीतर होनेवाली स्वाभाविक प्रक्रियाओं के फलस्वरूप बढ़ता है। इसके विपरीत इन चित्रों में प्रदर्शित जड़ पदार्थ से तैयार किया हुआ उद्भिज बाहरी क्रिया ही का परिणाम है।

उगता हुआ बीज

इस चित्र में क्रमश जिस प्रकार वनस्पति का बीज अंकुरित होता और फिर धीरे-धीरे उसमें से पौधे का प्रारंभिक विकास होता है, यह दिखाया गया है। ये बीज मक्का और सेम के बीज हैं। गौर कीजिए, इनकी जड़ें किस तरह नीचे ही की ओर जा रही हैं।
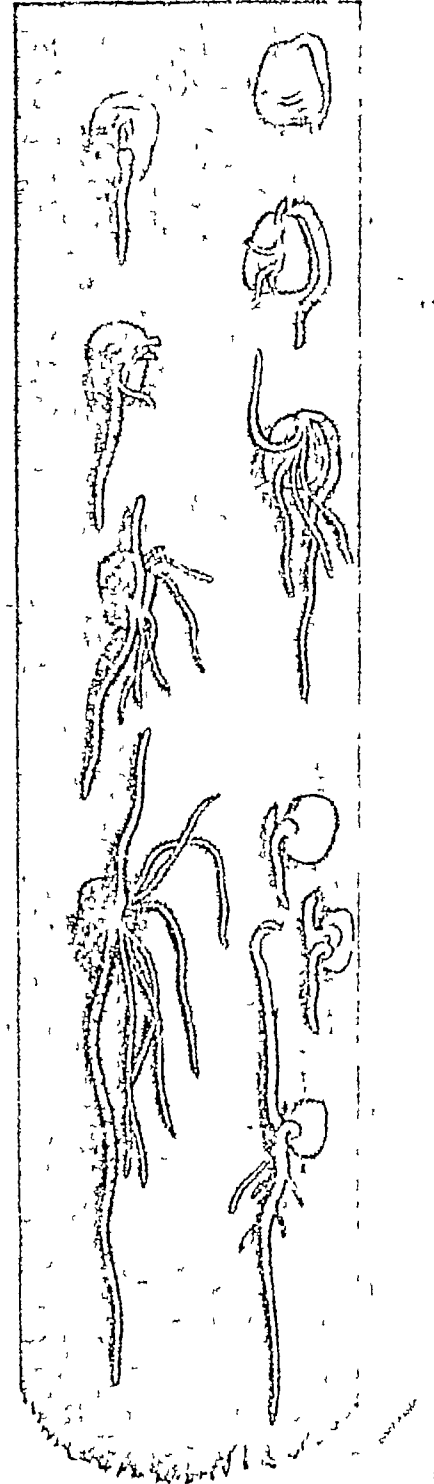
की शक्ति अवश्य है, परंतु दूसरे की प्रेरणा से। वह अपने सामने उपस्थित भय को नहीं देख सकता और न उससे बचने का उपाय ही सोच सकता है। इसी प्रकार और भी अनेकों उदाहरण हैं। साराश यह कि जीवधारी अपनी इच्छा और प्रेरणा से चलते हैं, और निर्जीव दूसरे की।

ऊपर वर्णन किया जा चुका है कि लजावती की पत्तियाँ स्पर्श करते ही मूर्च्छित हो जाती हैं। आप जानते हैं कि आकाश में विद्युत् का प्रहार होते ही खेतों में चरते हुए मृगों का झुंड भयभीत होकर तितर-बितर हो जाता है। वाटिका में विहार करते हुए विहंगों मे कोलाहल मच जाता है, और खाट पर सोता हुआ अबोध बालक चौंक पडता है। परंतु खेत की मेड, वाटिका के फौवारे अथवा बालक की खाट पर स्पष्टतया कोई प्रभाव नहीं पड़ता। ऐसा क्यों होता है? क्या कभी आपने इसकी ओर ध्यान दिया है? इन सारी घटनाओं की जड में एक ही रहस्य है और यह भी सजीव प्रकृति की प्रधानता है। यह जीवों की उत्तेजना शक्ति और प्रतिक्रिया है। यह गुण लजावती, हरिण, विहग, बालक अथवा अन्य जीवों में उपस्थित है, परन्तु किसी में कम, किसी में अधिक। आघात के अतिरिक्त अन्य अनेक कारणों का भी प्राणियों पर प्रभाव पडता है। आप देखते हैं कि बीज बोते समय बीज चाहे कैसे फेंके जायँ, उनकी जड़ सदैव नीचे और शाखाएँ ऊपर को जाती हैं। इसी प्रकार पत्तियाँ वायु मे फैलती हैं। आपने कदाचित् यह भी देखा हो कि खिड़की में रक्खे हुए गमले में लगे हुए पौधे की पत्तियाँ और बाग मे पत्थर अथवा अन्य वस्तु के नीचे दबी हुई घास की डालें बाहर को प्रकाश की ओर बढ़ती हैं। इसी प्रकार अनेकों उदाहरण हैं। इस संबंध में भी तर्कना की जा सकती है। हम-आप सभी जानते हैं कि वर्षा ऋतु में शीशी में रक्खा हुआ नमक नम हो जाता है। कैल्शियम क्लोराइड (Calcium Chloride) पिघलकर पानी हो जाता है। जगत् सुविख्यात स्वर्गीय सर जगदीशचन्द्र बोस, एफ० आर० एस०, के प्रयोगों द्वारा तो यहाँ तक प्रमाणित हो चुका है कि पत्थर तथा ताँबा-लोहा आदि उत्तेजित भी किये जा सकते हैं। थोड़ी देर तक बराबर उत्तेजित किये जाने के पश्चात् थक भी जाते हैं और कुछ काल तक आराम करने के पश्चात् फिर उत्तेजित किये जा सकते हैं। परन्तु जीवन-शक्ति का यहाँ तृणवत् लगाव नहीं।

उपरोक्त वाद-विवाद से आप बडी अड़चन में पड़े होंगे। वास्तव में जीवों में कोई ऐसा लक्षण नहीं, जिसे हम प्राणिमात्र की विशेषता कह सकें। क्योंकि कोई भी ऐसी प्रधानता नहीं, जो सभी जीवों में उपस्थित हो और सभी निर्जीव पदार्थों में न हो, या जिसकी हम प्रकृति-विज्ञान अथवा रसायन-शास्त्र द्वारा व्याख्या न कर सकें, अथवा जिसका अनुकरण प्रकृति-विज्ञान अथवा रासायनिक क्रियाओं द्वारा न किया जा सके। हमें सजीव वस्तुओं को निर्जीवों से पृथक् करने के लिए सभी बातों पर ध्यान देना पड़ता है और सभी गुणों का विचार करना पडता है।

अतः सजीव वस्तु वह है, जिसका निश्चित आकार और रूप हो, जिसमें बढ़ने की सामर्थ्य हो, जो गतिवान्, उत्तेजनीय और प्रतिक्रियाशील हो। जिसमें संतानोत्पादन की योग्यता हो और जो अपने शरीर की रचना उससे भिन्न पदार्थों से कर सकता हो। जो परिवर्त्तनशील हो और अपनी स्थिति को परिस्थिति के अनुकूल परिवर्त्तित कर सके। इसके अतिरिक्त आप आगे चलकर देखेंगे कि समस्त प्राणियों के शरीर एक अथवा अनेकों सजीव कोष्ठ के बने हैं। ये कोष्ठ पूर्ववर्त्ती सजीव कोष्ठों से ही उत्पन्न हो सकते हैं, अन्य भाँति नहीं। इन कोष्ठों में जीवन-रस, जिसे हम प्रोटोप्लाज्म कहते हैं, प्रवाहित रहता है, और प्राणियों की सारी विशेषताएँ इस विलक्षण वस्तु के ही गुण हैं। इस वस्तु का आज तक संश्लेषण नहीं हो सका और न इसका यथार्थ विश्लेषण ही हो सकता है। परन्तु यह अवश्य मानना पड़ेगा कि जीव और प्रोटोप्लाज़्म अभिन्न हैं। जीव से पृथक् प्रोटोप्लाज्म और प्रोटोप्लाज्म से पृथक् जीव नहीं देखे गये।

शरीरतत्त्व-विद्या, वनस्पति विज्ञान और जंतु-विज्ञान

शरीर के ज्ञान को हम शरीरतत्त्व विद्या (Biology) कहते हैं। प्राणियों के जीवन-संबंधी सभी प्रश्नों पर इसमें विचार किया गया है। जीवों के भेद, आकृति, आकार, प्रसारण, इनका बाहरी जगत् से संबंध, उद्भव, नाश, विकास आदि सभी बातों का इसमें उल्लेख है। इस शास्त्र के वनस्पति विज्ञान (Botany) और जन्तु-विज्ञान (Zoology) दो अंग हैं। जन्तु विज्ञान के अन्तर्गत जानवरों की जीवन शैली और वनस्पति विज्ञान के अन्तर्गत वृक्ष-संबंधी बातों का वर्णन है। इन दोनों ही से हमारा अत्यन्त घनिष्ट संबंध है। वृक्ष और पशु सजीव सृष्टि के दो भाग हैं। संसार के सारे प्राणी इन्हीं दो भागों में विभाजित हैं। वैसे तो हम सभी जानते हैं कि आम वृक्ष है और उसकी शाखाओं पर विचरनेवाली गिलहरी पशु। परन्तु विश्व की सारी सृष्टि को इस प्रकार पृथक् करना सरल बात

जड़ और चेतन वस्तुओं में भेद और समानता

तंग और चेतन पक्षी दोनों ही उड़ते हैं, किन्तु फिर भी दोनों में समानता नहीं है। पतंग पक्षियों की तरह इच्छा से नहीं उड़ सकती। की चमक से मृगों का झुंड सहम जाता, पर ज़मीन या पानी पर उसका ऐसा कोई असर नहीं होता है। [विशेष बातें लेख में देखिए]

नहीं कुछ वृक्ष ऐसे हैं, जिनमें पशुओं के गुण हैं और इसी प्रकार कुछ पशु ऐसे हैं, जिनमें वृक्षों के गुण वर्त्तमान हैं। इस प्रकार की विलक्षण रचना को वनस्पति-वैज्ञानिक (Botanists) वृक्षों में और जंतु-वैज्ञानिक (Zoologists) पशुओं में सम्मिलित करते हैं। परंतु इन जीवों के विषय में यह निर्णय करना कि ये पशु हैं अथवा वृक्ष, अत्यन्त कठिन है। कुछ विद्वानों का मत है कि ऐसी रचना को तीसरी श्रेणी में रक्खा जाय और इनके मतानुसार जीवों के तीन भाग हैं। ये तीन भाग पशु, वृक्ष और प्रोटिस्टा (Protista) हैं। प्रोटिस्टा (Protista) में ऐसे छोटे-छोटे जीवों की गणना है, जिनमें पशु और वृक्ष दोनों ही के गुण विद्यमान हैं। परन्तु ऐसे विधान से भी हमारी कठिनाई का अन्त नहीं होता। जितनी कठिनाई हमे वृक्षों की पशुओं से पृथक् करने में होती है, प्रायः उतनी ही कठिनाई हमको प्रोटिस्टा को वृक्षों से और पशुओं से भिन्न करने में भी होती है। इसलिए ऐसा करने से कोई लाभ नहीं। अतः हम सजीव सृष्टि के वृक्ष और पशु दो ही अंग मानकर विचार करेंगे। हाँ, एक बात और है। वह यह कि यद्यपि हम जानते हैं कि सारे पशु एक ही वृक्ष की शाखाएँ हैं और इस नाते मनुष्य भी एक पशु है, परंतु हम या आप कोई भी अपने को अन्य पशुओं में सम्मिलित करने में सहमत न होगा। हम स्वाभिमान और अहंकार के कारण अपने को अन्य पशुओं से पृथक् मानने के लिए विवश हैं। इसीलिए हम प्राणियों के तीन भेद मानेंगे। इस प्रकरण में हम वृक्ष-संबंधी प्रश्नों पर विचार करेंगे।

पशुओं और वृक्षों में अन्तर

ऊपर वर्णन किया जा चुका है कि पशु और वृक्ष दोनों ही में प्राण हैं और इस कारण दोनों ही में समानता है। परन्तु साधारण पशुओं और वृक्षों की ओर ध्यान देने से हम देखते हैं कि समानता होते हुए भी इनमें विभिन्नता है। ऐसे वृक्षों और पशुओं को हम सुगमता से अलग कर सकते हैं। सभी जानते हैं कि आम वृक्ष है और उसकी शाखाओं पर विचरनेवाली गिलहरी पशु। दोनों ही में प्राण है; दोनों ही क्रियाशील हैं, दोनों ही को खाद्य पदार्थों की आवश्यकता है, दोनों ही साँस लेते हैं, दोनों ही संतान उत्पन्न करते हैं। सारांश यह कि जितनी भी सजीव सृष्टि की विशेषताएँ हैं, दोनों ही में विद्यमान हैं। परन्तु फिर भी दोनों में अंतर है।

से प्रथम बात तो यह है कि आम का पेड़ स्थायी है। ...न पर इसका पेड़ उगा है अथवा लगा दिया गया है, वहीं पर उसकी सारी लीलाओं का अंत भी होगा। उसे जहाँ हमने दस वर्ष पूर्व देखा था, वह आज भी वहीं है और जब तक जीवित है, वहीं रहेगा। परन्तु गिलहरी के विषय में यह बात नहीं। अभी यह इस डाल पर है, पलभर में दौड़कर दूसरी डाल पर चली जाएगी। अथवा आम के पेड़ से जामुन के पेड़ पर और फिर मैदान में अथवा आपके मकान की छत पर पहुँच जायगी। यही बात अधिकांश पशुओं और वृक्षों के विषय में भी है। मनुष्य, घोड़ा, गाय, बैल, सारस, मोर, मछली, तितली आदि एक स्थान से दूसरे स्थान पर स्वयं सुगमता से विचरण करते हैं। और आम, जामुन, संतरा, अनार, कचनार, चना, मटर आदि अधिकांश वृक्ष एक स्थान से दूसरे स्थान पर नहीं जा सकते। परन्तु यह बात साधारण पशुओं और वृक्षों के संबंध में ही कही जा सकती है, सर्वदा लागू नहीं होती। कितने ही ऐसे पशु हैं, जो चट्टानों की भाँति स्थायी हैं और इसके विपरीत कुछ ऐसे वृक्ष हैं, जो स्वच्छंद विचरते हैं। कितने ही छोटे छोटे उद्भिज, जिन्हें हम खुर्दबीन की सहायता बिना नहीं देख सकते, जल में बड़ी कुशलता से तैरते रहते हैं। इसी प्रकार कुछ जानवर हैं, जो चट्टानों से चिपटे हुए समुद्रों और नदियों में पड़े रहते हैं।

वृक्षों और पशुओं में दूसरी विभिन्नता इनकी भोजन-क्रिया है। दोनों ही को खाद्य पदार्थों की आवश्यकता होती है। दोनों ही को बाद के लिए अन्य पदार्थों के साथ कार्बन (Cardon) और नाइट्रोजन (Nitrogen) की आवश्यकता होती है। परन्तु इन दोनों तत्त्वों को प्राप्त करने की पशुओं और वृक्षों की रीति पृथक् है।

वृक्ष वायु-मण्डल की कार्बन का उपयोग करते हैं। इनमें यह विशेषता इनके हरे रंग के कारण है, जो पर्णहरित (Chlorophyll) नामक पदार्थ की उपस्थिति से है। यह द्रव्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसकी बदौलत वृक्ष ही की नहीं, वरन् समस्त संसार की स्थिति है। वृक्षों की अगणित पत्तियों में करोड़ों कारखानों से भी अधिक धन्धे का फैलाव है। यह नन्हीं-नन्हीं हरित पत्तियाँ वायु-मण्डल की कार्बन और अपनी जड़ों द्वारा संचित जल से सूर्य के प्रकाश में समस्त सृष्टि के लिए भोजन तैयार करती हैं और साथ ही वायु को भी शुद्ध करती हैं। यदि ये हरित वृक्ष न होते तो असम्भव नहीं कि संसार की जीवन-लीला का लोप हो गया होता।

वृक्षों की नाइट्रोजन प्राप्त करने की रीति भी पशुओं से विभिन्न है। वृक्षों की सूत्रवत् जड़ें पृथ्वी के

अन्दर बहुत दूर तक फैली रहती है। इसके द्वारा ये मिट्टी में विद्यमान नमकों से नाइट्रोजन प्राप्त करते हैं। परन्तु मनुष्य तथा अन्य जीव वायु की कार्बन डाइऑक्साइड से (CO_2) कार्बन और पृथ्वी के नमकों से नाइट्रोजन नहीं प्राप्त कर सकते। ये इन पदार्थों के लिए वृक्षों तथा अन्य पशुओं पर ही निर्भर हैं। इनको ये गेहूँ, चना, मटर, मक्का तथा अन्य अनाजों से अथवा पत्तियों और फलों से या अन्य पशुओं के मांस, अण्डा, दूध ऐसे पदार्थों से ही प्राप्त कर सकते हैं। कुछ वृक्ष ऐसे हैं, जो हवा की कार्बन डाइऑक्साइड अथवा नमकों क नाइट्रोजन का उपभोग नहीं कर सकते। इनको ये वस्तुएँ इसी रूप में मिलनी चाहिएँ, जैसे पशुओं को। इनमें से तुंबिलता (*Nepenthes*) के विषय में ऊपर बताया जा चुका है। अमरबेल (*Cuscuta*) भी इन्हीं में से एक पौदा है। प्राय. आपने इसको अन्य वृक्षों पर जाल फैलाये देखा होगा। न इसमें जड़ होती है, न पत्तियाँ, फिर भी इसे सब प्रयोजनीय वस्तुएँ मिल जाती हैं। यह वस्तुएँ इसे अन्य वृक्षों से, जिन पर यह फैली रहती है, मिलती हैं। इसका उल्लेख आगे चलकर किया जायगा।

भोजन प्राप्त करने की विभिन्नता ही पशुओं और वृक्षों के सारे भेदों की जड़ प्रतीत होती है। वृक्षों को खाद्य पदार्थ वायु और पृथ्वी के नमकों से मिलते हैं। जो उन्हें सर्वत्र सुगमता से मिल सकते हैं। इसलिए इनको भोजन की खोज में इधर-उधर भ्रमण करने की आवश्यकता नहीं होती। इसके विपरीत पशु कार्बनिक पदार्थों का ही उपयोग कर सकते हैं, जिनकी खोज में इन्हें इधर-उधर जाना पड़ता है। इसी कारण वृक्ष स्थायी और पशु भ्रमणशील होते हैं।

इसी प्रकार वृक्षों को फैलाव की आवश्यकता है, पशुओं को नहीं। खाद्य पदार्थों को प्राप्त करने के लिए पृथ्वी के अन्दर वृक्षों की सूत्रवत् जड़ें और वायुमंडल में इन की शाखा, उपशाखा और पत्तियाँ दूर तक फैली रहती हैं।

अमरबेल
जो दूसरे वृक्षों ही पर उपजती और उनसे अपना आहार ग्रहण करती है।

वृक्षों और पशुओं में एक और अंतर है, जो इनकी रचना से संबंध रखता है। समस्त जीवों के शरीर एक अथवा अनेक कोषों (Cells) से बने होते हैं। साधारणतः पशुओं के शरीर-कोष कोष-भित्तिकाओं (Cell wal) से घेरे नहीं होते, परन्तु वृक्षों के शरीर-कोष निश्चित घेरे के अन्दर होते हैं। परन्तु कुछ ऐसे जीव हैं, जिनमें यद्यपि अधिकांश गुण वृक्षों के हैं, तथापि उनके शरीर-कोष घेरे से परिवेष्ठित नहीं होते।

पशुओं और वृक्षों की विशेषताओं पर विचार करने से हम भली भाँति देखते हैं कि यद्यपि अधिकांश जीवों के विषय में यह निर्णय करना कि ये पशु हैं या वृक्ष, कठिन नहीं है; फिर भी इनके बीच में कोई प्राकृतिक सीमा नहीं है। इनमें विभिन्नता से कहीं अधिक समानता है। यही जीवमात्र की एकता का सर्वश्रेष्ठ प्रमाण है।

इस आरम्भिक प्रकरण में हमने सामान्य रूप से इस पृथ्वी पर विद्यमान सजीव सृष्टि पर—जिसके वनस्पति और जन्तु ये दो मुख्य अंग हैं—एक विहगम दृष्टि डालने का प्रयत्न किया है, ताकि इनके सम्बन्ध मे पाठकों का दृष्टिकोण विशद हो जाय और वे कुछ अधिक विस्तार के साथ इनका अध्ययन कर सकें। वनस्पति जगत् का अध्ययन हमारे लिए न केवल अपनी ज्ञान की पिपासा की तृप्ति ही की दृष्टि से, वरन् उपयोगिता की दृष्टि से भी अत्यन्त आवश्यक और महत्त्वपूर्ण है। भला कौन ऐसा होगा जिसे उन पेड़-पौधों की रहस्यमय जीवनी के सम्बन्ध में जानने की उत्कंठा न होगी, जो हमें अन्न, फल, फूल, कंद-मूल, रस, पत्तियाँ लकड़ी, रुई आदि जीवन की अनिवार्य आवश्यक वस्तुएँ प्रदान कर हमारे जीवन को सरल सुखमद और सुरम्य बनाते हैं ?

प्रकृति की जंतुशाला के कुछ अनोखे प्रतिनिधि

(ऊपर से नीचे बाएँ से दाहिने क्रम से) सिंह, मृग, गैंडा, पैंग्वीन, दरियाई शेर, जंगली साँड, कछुआ, चिंपैंज़ी, भालू, कँगारू, जिराफ़ा, जेबरा और दरियाई घोड़ा।
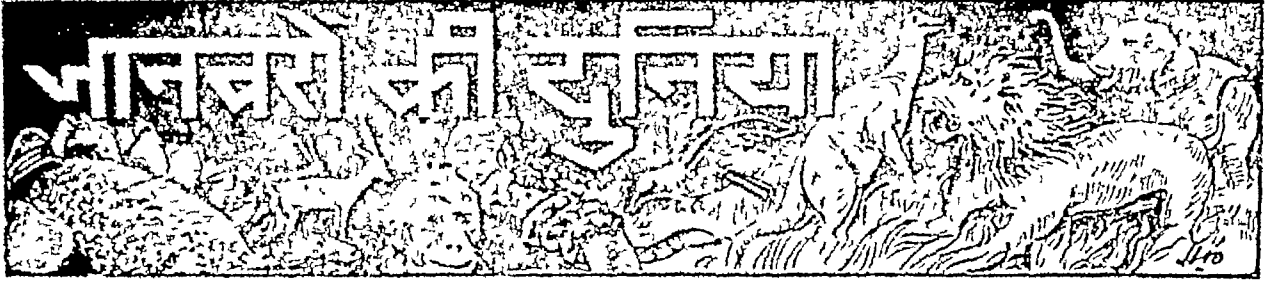
प्राणि-जगत्

हम किसी जंतुशाला में जाकर तरह-तरह के पशु पक्षियों को देख-देखकर अचरज से दाँतों-तले उँगली दबाते हैं, किन्तु क्या हमें उस अनोखी और विस्मयजनक प्रकृति की अद्भुत जंतुशाला का भी पता है, जिसे उसने सदियों से पृथ्वी पर खोल रक्खा है? कैसी विचित्र और व्यापक है यह महान् जंतुशाला? चींटी से लेकर हाथी तक और तितली से गिद्ध तक कितने विभिन्न रंग रूप और आकार प्रकार के प्राणी प्रकृति ने इस जंतुशाला में जुटाए हैं? इस स्तंभ में इन्हीं का चित्र-विचित्र जुलूस आपको देखने को मिलेगा।

यदि आप अपने आस-पास की परिचित वस्तुओं का ध्यान करें, तो अवश्य ही यह मान लेंगे कि वे चीज़ें दो प्रकार की हैं। उनमें से कुछ सजीव हैं, जैसे—गाय, बैल, घोड़ा, बकरी, कौआ, मछली, मक्खी, कीड़े आदि। दूसरी निर्जीव हैं, जैसे—मकान, कुर्सी, पलंग, लोटा, थाली, घड़ा, सुराही, कुर्त्ता, धोती आदि। यही बात संसार की सभी चीज़ों के बारे में कही जा सकती है, चाहे उन्हें आपने देखा हो या नहीं। या तो वह सजीव हैं या निर्जीव। दुनिया में दो ही तरह की चीजें हैं, सजीव अथवा निर्जीव। या यों कहा जा सकता है कि दुनिया दो भागों में बँटी हुई है।

तीन प्रकार की जीवित वस्तुएँ

पर यह समझना भूल होगा कि प्राणि-जगत् में केवल जानवर ही सम्मिलित हैं। आपसे यदि यह पूछा जाय कि 'आप जीवित हैं या नहीं?' तो आप में से ऐसा कौन होगा जो 'हाँ' नहीं कहेगा? परन्तु हमें यह निश्चय नहीं है कि यदि आपसे पूछा जाय कि 'वनस्पति सजीव है या निर्जीव' तो आप सब एक ही उत्तर देंगे। आप में से कुछ का यह ख़याल हो सकता है कि वनस्पति निर्जीव है, और कुछ लोग यह समझ सकते हैं कि वनस्पति में उतना ही जीवन है, जितना पृथ्वी के किसी अन्य प्राणी में। आप विश्वास करें कि पेड़-पौधे भी आदमी या अन्य जानवरों की तरह खाते-पीते, बढ़ते और सुख-दुःख की भावना करते हैं। पृथ्वी पर ऐसे भी पौधे हैं, जो मांसाहारी हैं, एक स्थान से दूसरे स्थान की यात्रा करते हैं और बिलकुल जीवधारियों-जैसा आचरण रखते हैं।

संसार के प्रत्येक भाग में यह बात बहुत दिनों से मान ली गई है कि पौधों में भी उतना ही जीवन है जितना जानवरों में; और अपने देश में यह बात साधारण आदमियों द्वारा भी बहुत हद तक मानी जा चुकी है। आप में से बहुतेरों को बड़े-बूढ़ों ने सूरज डूबने के बाद पौधों को छूने या फूल-फल तोड़ने की मनाही की होगी, क्योंकि उनका विश्वास है, और वह विश्वास ठीक भी है कि सूरज डूबने पर पौधे निद्रित होते हैं। हमारे लिए यह गर्व की बात है कि हमारे ही एक विख्यात देशवासी स्वर्गीय सर जगदीशचन्द्र बोस ने यह अन्तिम तौर पर संसार के सामने सिद्ध कर दिया है कि पौधों के भी अनुभूति होती है। अपने बनाये हुए सूक्ष्म यन्त्रों के द्वारा उन्होंने यह दिखला दिया कि पौधों में भी दिल-जैसा अंग और स्नायु-प्रणाली होती है। इस तरह वह न केवल स्नायविक सनसनी को अनुभव करने में ही समर्थ हैं, बल्कि उन्हें अन्य भागों में भी संचरित कर सकते हैं। इस बात की जाँच आप सब 'छुई मुई' की तरह की किसी 'लाजवती लतिका' को छूकर कर सकते हैं। आप में से जिन्होंने अभी तक ऐसा कोई पौधा नहीं देखा हो उन्हें किसी जानकार या स्थानीय माली की सहायता से उसकी खोज करनी चाहिए। उसकी नन्हीं-नन्हीं पत्तियों को एक-एक करके छुइए और अन्त में उनकी प्रमुख शाखाओं को हिला दीजिए। आप देखेंगे कि जैसे-जैसे उसे छूते जायँगे पत्तियाँ सिमटती-मुरझाती जायँगी और शाखायें झुकती जायँगी, मानो बिल्कुल निर्जीव हो गई हों। फिर छोड़ देने पर आप

उसे धीरे-धीरे रूप और ताज़गी में पहले जैसा ही होता हुआ और स्पर्श के धक्के के बाद पुनर्जीवन प्राप्त करता हुआ देखेंगे। इसी पौधे ने सर जगदीशचन्द्र बोस का ध्यान आकर्षित किया था और 'प्रत्येक जीवधारी की मौलिक समानता' का सिद्धान्त स्थिर करने की उन्हें प्रेरणा की थी।

हम देखते हैं कि केवल मनुष्य ही को जीवन का वरदान नहीं मिला है बल्कि जीवधारियों मे पौधे, पशु और मनुष्य तीनों ही आते हैं। इनमें से प्रत्येक सजीव जगत् का एक भाग है और इसी कारण उनका वर्णन अलग-अलग किया जाता है। आपको पौधों का हाल इसके पूर्व के स्तभ ('पेड़ पौधों की दुनिया') में और मनुष्य का विवरण इसके आगे के स्तंभ 'हम और हमारा शरीर' में मिलेगा। इस भाग में हम मुख्यतया (मनुष्य के अतिरिक्त) पशु-जीवन का ही वर्णन करेंगे। अतएव मनुष्य न केवल एक पशु ही है बल्कि जीवधारी प्रकृति का एक आन्तरिक भाग भी है। वह जीवन धारण करने के मूल प्रकार में पौधों और पशुओं का साझीदार है।

प्राणि-शास्त्र की परिभाषा और उसके विभाग

हर प्रकार के जीवधारियों के विषय में एक नियमबद्ध प्रणाली से अध्ययन करना कि वे क्या हैं, क्या करते हैं, जो कुछ करते हैं, किस तरह करते हैं, प्राणि-शास्त्र या जीवन विज्ञान कहलाता है। इसका उद्देश्य पाठकों के सामने जीवधारियों का एक पूर्ण चित्र उपस्थित करना होता है। यह शास्त्र न केवल प्राणियों के रंग रूप, उत्पत्ति, आकार प्रकार, बनावट, आचरण और उनके गुण ही बतलाता है, बल्कि उनके विकास और संसार से उनका सम्बन्ध भी बतलाता है। किन्तु पौधों और पशुओं का अलग अलग विवरण भी हो सकता है, इसलिए प्राणि-शास्त्र दो भागों में विभक्त कर दिया गया है—(१) वनस्पति-शास्त्र या पेड़-पौधों का विज्ञान और (२) जन्तु-शास्त्र या जीव-जन्तुओं का विज्ञान, जिसमें वास्तव में मनुष्य भी सम्मिलित है। मगर हम साधारणतया और स्वभावतः पशुओं के साथ अपनी चर्चा का होना पसन्द नहीं करते और हममें से अधिकाश कुछ अन्य पशुओं से दूर का सम्बन्ध और

तीन प्रकार की सजीव सृष्टि

में उत्पन्न वनस्पति; जलचर, स्थलचर और नभचर जीव-जन्तु तथा मस्तिष्क की विशेषता रखनेवाला मनुष्य।

निकट समता की बात भी आसानी से नहीं मानेंगे। इसी लिए मनुष्य के अध्ययन के लिए प्राणि-शास्त्र के तीसरे विभाग की आवश्यकता होती है।

यह सबके लिए वांछनीय है कि वे अन्य जीवधारियों के विषय में कुछ मनोरंजक बातें जानें। हमारा विचार है कि वह प्रत्येक व्यक्ति जो इन पृष्ठों को पढ़ेगा इन बातों को जानने का इच्छुक होगा कि संसार में कितनी विचित्र और विभिन्न जातियों के पशु और पौधे होते हैं, कहाँ-कहाँ रहते हैं, किस तरह इस सतत परिवर्तन-शील जगत् में रह पाते हैं और किस तरह अपना कर्त्तव्य पालन करते हैं? अधिकतर मामलों में इस तरह का अध्ययन हमें न केवल जीवधारियों का स्वभाव समझने में मदद देता है बल्कि यह भी देखने में सहायता करता है कि दुनिया में उनकी क्या उपयोगिता है? पशुओं और पौधों के विज्ञान का अध्ययन, जैसा कि हम अन्यत्र देखेंगे, मनुष्य-जाति के लिए बीमारियों से लड़ने और फ़सल की रक्षा करने में महान् लाभदायक सिद्ध हुआ है। इसके अतिरिक्त इस अध्याय में दिये गये पशु-जीवन के साधारण पहलुओं से परिचय प्राप्त करना निश्चय ही मानव स्वभाव और मानव-इतिहास को अच्छी तरह समझने में सहायक होगा, जिसे आप 'मनुष्य' संबंधी अगले अध्याय में पढ़ेंगे। पिछले दिनों प्राणि-शास्त्र के अध्ययन को काफी महत्त्व प्राप्त हुआ है और आज दिन पाश्चात्य देशों में हर स्कूल के लड़के से इस विषय में कुछ न-कुछ पढ़ने की आशा की जाती है। इसके सिद्धान्तों से परिचित होने से न केवल सारे जीवधारियों की समानता अनुभव करने में सहायता मिलती है, बल्कि सुखी और सफल जीवन बिताने में भी मदद मिलती है।
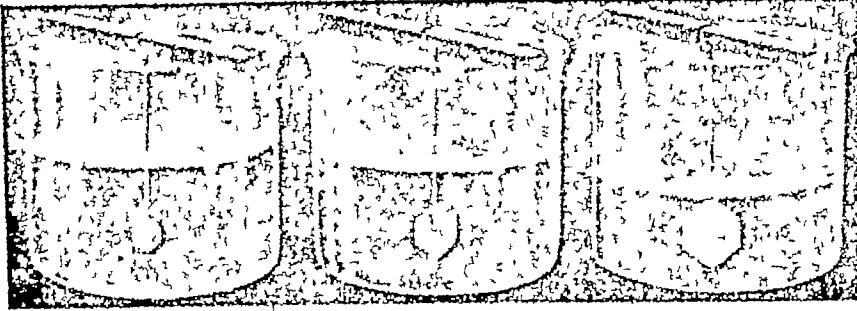
सजीव और निर्जीव पदार्थों के वर्धन की तुलना

(ऊपर के चित्र में) लवणमिश्रित घोल में बढ़ती हुई नमक की निर्जीव डली। (नीचे) क्रमशः छोटे से बड़ी होने जानेवाली बिल्ली।

सजीव और निर्जीव का भेद

इसके पहले कि हम पशुओं के विषय में लिखें, यह उचित होगा कि साधारणतया जीवधारियों के लक्षणों के सम्बन्ध में कुछ कहें और यह बतलायें कि सजीव और निर्जीव में क्या भेद है।

अगर आपसे पूछा जाय कि आप सजीव और निर्जीव में भेद कर सकते हैं, तो आप तुरंत ही उत्तर देंगे 'हाँ', पर यदि आपसे यह पूछा जाय कि सजीव होता क्या चीज़ है, तब आप संतोष-जनक उत्तर नहीं दे सकेंगे। क्यों?

आप कह सकते हैं कि सजीव पदार्थ के निश्चित और विशेष रूप होते हैं, यानी वह लम्बाई-चौड़ाई में एक निश्चित सीमा के भीतर होते हैं और उनकी बनावट में एक प्रकार की निश्चितता होती है। परन्तु निर्जीव वस्तुओं की प्रकृति अवस्था ऐसी

नहीं होती, वे पदार्थ की ढेरी-सी होती हैं, जिनका रूप अनिश्चित होता है, जैसे मिट्टी, लकड़ी, सोना, चाँदी। इनकी लम्बाई-चौड़ाई में बहुत भिन्नता होती है। 'पानी' शब्द से एक बूँद पानी का भी ज्ञान हो सकता है और एक झील या समुद्र का भी। फिर भी कुछ प्राकृतिक चीज़ें ऐसी हैं, जो निर्जीव होते हुए भी एक निश्चित रूप और आकार की होती हैं और जिनका आकार भी भिन्नतापूर्ण नहीं है। उदाहरण के लिए चीनी या नमक के रवे, सूर्य और चन्द्र बताये जा सकते है। इसलिए सच यह है कि पौधों और पशुओं की विभिन्न जातियों का एक बड़ा भाग अपने आकार के द्वारा पहचाना जाता है; मगर बहुत थोड़े ही से निर्जीव प्राकृतिक पदार्थ इस प्रकार पहचाने जा सकते हैं, जैसे किसी चीज़ के रवे।

फिर आप कह सकते हैं कि सजीव पदार्थ बढ़ते हैं और निर्जीव नहीं बढ़ते; लेकिन क्या चीनी का रवा चीनी के संपृक्त घोल में रखे जाने पर नहीं बढ़ता? यही बात पत्थरों और कुछ चट्टानों के बारे में भी कही जा सकती है, जो पृथ्वी के नीचे से बढ़कर छोटे या बड़े आकार ग्रहण कर लेते हैं। एक ओर हम आम की गुठली से एक पतली शाखा निकलते हुए देखते हैं, और इसे एक छोटे पौधे और अन्त में एक पूरे वृक्ष के रूप में [illegible]ते हुए पाते हैं, और दूसरी ओर एक पिल्ले को धीरे-धीरे [illegible] हुए देखते हैं और एक दिन वह पूरे कुत्ते के बराबर हो जाता है। लेकिन इन दोनों प्रकार के बढ़ाव में अन्तर है। चीनी के रवे या पत्थर का बढ़ाव उनकी सतह पर अधिकाधिक नये पर्त के जमाव होने की वजह से होता है, परन्तु इसके विपरीत छोटे पेड़ या पिल्ले अपने शरीर के भीतर खाद्य पदार्थों के ग्रहण करने से बढ़कर पूरे डील-डौल के हो जाते हैं। अतएव पशुओं और पौधों का बढ़ाव भीतर से होता है और निर्जीव पदार्थों का बढ़ाव यदि होता है तो बाहर से। फिर यह भी याद रखने की बात है कि प्रत्येक जीवित प्राणी आकार में जीवन भर नहीं बढ़ता रहता, उसकी बढ़ने की शक्ति एक विशेष डील डौल या विशेष अवस्था पाने पर समाप्त हो जाती है।

जड़ और चेतन वस्तुओं की गतिशीलता की तुलना
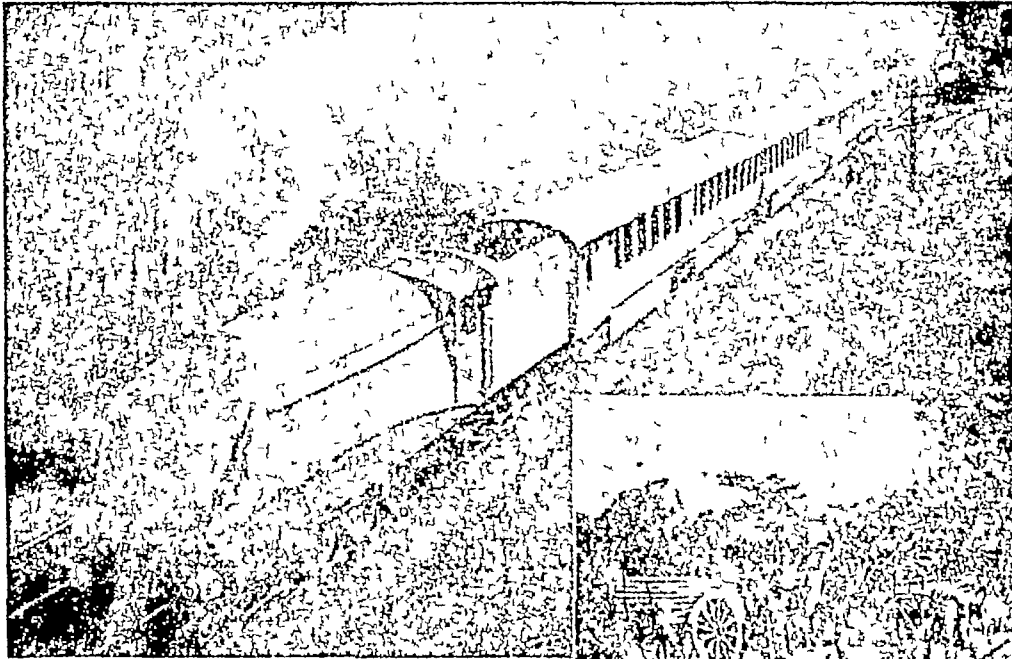
आप इस चित्र के एक भाग में रेलगाड़ी को खींचनेवाले इंजिन और दूसरे में बैलगाड़ी में जुते हुए बैलों को गतिवान देखते हैं—किन्तु इससे जड़ और चेतन वस्तुओं में समानता नहीं सिद्ध होती। रेल का इंजिन यद्यपि दौड़ता है परंतु वह बैलों की तरह अपनी निज की प्रेरणा या इच्छा से नहीं दौड़ या रुक सकता। (देखिए पृष्ठ ५१ का मैटर)

अब आप कह सकते हैं कि जीवधारी चलते-फिरते हैं, पर निर्जीव ऐसा नहीं कर सकते। जब हम घोड़े को सड़क पर दौड़ते, चील को बादलों में मँडराते व एक मछली को पानी में तैरते देखते हैं तब हम कहते हैं कि वे जीवधारी हैं, लेकिन जब एक रेलगाड़ी को अपने पास से तेज़ी से निकलते हुए, पतंग को ऊपर हवा में उड़ते हुए, व नदी को निरंतर गति से बहते हुए, या बादलों को ऊपर आकाश में उड़ते देखते हैं तो हम एक क्षण के लिए भी नहीं सोचते कि इनमें जीवन है। क्यों? इसलिए कि जीवित प्राणी और निर्जीव पदार्थों के चलने-फिरने में एक विशेष अन्तर होता है। जब जानवर एक स्थान से दूसरे स्थान को जाता है तो वह ऐसा अपनी स्वतन्त्र इच्छा ही से करता है, लेकिन बादल हवा की दिशा में हवा द्वारा ही संचालित होते हैं और इंजिन अपने रास्ते पर मनुष्य द्वारा संचालित भाप की शक्ति से परिचालित होता है। इस तरह जहाँ जीवधारी अपने आप चलते-फिरते हैं, वहाँ निर्जीव पदार्थ अन्य शक्तियों द्वारा संचालित होते हैं।

अन्त में आप कह सकते हैं कि जीवधारी को बाहरी प्रभाव की अनुभूति होती है, अर्थात् उनमें अनुभव करने की शक्ति होती है। जब कहीं दूरस्थ स्थान पर भी आकाश में बिजली चमकती है तो हमारी पलकें बन्द हो जाती हैं किन्तु बन्दूक की तेज़ आवाज़ भी पास की निर्जीव वस्तुओं को प्रभावित नहीं कर पाती। क्या तुम किसी ऐसे निर्जीव पदार्थ के बारे में सोच सकते हो जो बाहरी शक्तियों से प्रभावित होता हो? क्या तुमने अपनी माँ या बहिन को बरसात के दिनों में इस बात की शिकायत करते नहीं सुना है कि नमक गलकर पानी हो गया? चाहे कितना ही सूखा हुआ नमक हो, बरसात में खुला हुआ रहने पर अपने आप नम हो जाता है, और धीरे-धीरे गलकर लुप्त हो जाता है। ऐसा ही हाल बारूद का है, जो कोयले के एक जलते टुकड़े से छू जाने पर तुरन्त ही भभक उठती है। यहाँ पर भी सजीव और निर्जीव पदार्थ की अनुभूतियों में साफ अन्तर है। हम बिजली की चमक से अपनी आँख बन्द कर लेते हैं तो इसका कारण यह है कि आँखें चोट न खा जायँ। और यदि हम अकस्मात् अपनी ओर किसी के फेंके पत्थर को आते देख उसकी राह से हट जाते हैं तो इसीलिए कि अपने को चोट से बचावें। किन्तु नमक बरसात में खुला होने पर गलकर पानी होने से अपनी रक्षा नहीं कर सकता और न बारूद ही विस्फोटक वस्तु के संसर्ग से अपने को जलकर राख होने से बचा सकने में समर्थ है। वास्तव में वह ज्यों ही जला कि उसका अस्तित्व समाप्त हो जाता है।

इसलिए हम देखते हैं कि जहाँ साधारणतया एक व्यक्ति सजीव और निर्जीव पदार्थ में भेद कर सकता है वहाँ कभी-कभी कोई-कोई निर्जीव पदार्थ भी ऐसा आचरण करते हैं मानो वे जीवधारी हों। पर क्या आपने कभी इस बात पर ध्यान दिया है कि इन दो प्रकार के पदार्थों में अन्तर की कौन-सी बात है? ऐसा क्यों होता है कि एक बिल्ली चल-फिर सकने, खाने-पीने, बढ़ने और अपनी जैसी अन्य बिल्लियाँ पैदा कर सकने में समर्थ है और क्यों एक कोयले का टुकड़ा या ईंट इनमें से कुछ भी कर सकने में असमर्थ हैं? इनका जवाब आसान नहीं है। यह सच है कि कोयले और ईंट के मूल पदार्थ साधारण हैं अतः उनमें क्रियाशीलता नहीं है, इसके विपरीत बिल्ली विचित्र मिश्रित पदार्थों से बनी हुई है जिनसे उससे कई कार्यों का बन पाना संभव है। साथ ही यह भी उतना ही सत्य है कि जीवधारियों का निर्वाह करनेवाले पदार्थ निर्जीव जगत् से लिये गये रसायन ही हैं और तमाम पशु-पक्षी रोज़ अपने शरीर को उस भोजन और पानी से भरते हैं, जो जीव-विहीन वस्तुओं से बना है। अन्त में **जीव-सम्बन्धी** कार्य करने के कारण सजीव शरीर का मिश्रित ढाँचा टूट जाता है। वह अपना मौलिक गुण खो देता है और अन्ततः अक्रिय स्थिति में पहुँच जाता है। इस अवस्था में पहुँचने पर वह निर्जीव या मृत हो जाता है और यही हर प्राणी का अनिवार्य अन्त है।

जीवित और निर्जीव में समता

इस तरह साफ ही सजीव और निर्जीव पदार्थों में एक दूसरे से विभिन्नता है, पर साथ ही इनमें कुछ समानता भी है और उनके बीच में जो बाँध-सा है वह ऐसा नहीं कि कभी टूट न सके, चाहे देखने में यह दोनों कितने ही अलग प्रतीत होते हों। तथापि एक गुण ऐसा है जो संसार के सभी सजीव पदार्थों में मिलता है, परन्तु किसी निर्जीव पदार्थ में नहीं पाया जाता। वह गुण यह है कि उनका निर्माण विभिन्न ढंगों से होते हुए भी उनमें अपनी बनावट को जीवन की हर परिस्थिति के अनुसार बना लेने की शक्ति है। उदाहरण के लिए विभिन्न परिस्थितियों में पैदा होनेवाले पौधों की पत्तियों को लीजिए। रेगिस्तानी पौधों की पत्तियाँ बहुत छोटी होती हैं, जिससे कि उनकी सतह पर से बहुत कम पानी भाप बनकर उड़ पाये और जो कुछ थोड़ा-बहुत पानी वे सूखी ज़मीन से पावें, व उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बचा

पौधे जो झीलों के शान्त जल में होते हैं, जैसे कमल, उनके पत्ते बहुत चौड़े होते हैं और पानी पर तैरा करते हैं। परन्तु ऐसे पौधे जो सागर ऐसे अशान्त जल में रहते हैं, उनके पत्ते केवल तेज़ हवा के झोंके सहनेवाले पेड़ों के पत्तों की तरह कटे ही नहीं होते बल्कि चमड़े की तरह चीमड़ होते हैं, ताकि वे लहरों के धक्कों से आसानी से फट न सकें। पशुओं में भी अपने को परिस्थिति के अनुसार बना लेने के बहुत उदाहरण पाये जाते हैं। मेढक के बच्चों के, जो पानी में पैदा होते हैं, मछलियों की तरह पानी में साँस लेने के लिए गलफड़े होते हैं। और तैरने के लिए चौड़ी दुम होती है। किन्तु जब वे बड़े हो जाते हैं और स्थल पर रहने लगते हैं, उनकी दुम नष्ट हो जाती है और कूदने के योग्य अंग निकल आते हैं, तथा गलफड़े की जगह साँस लेने के लिए फेफड़े भी बन जाते हैं। एक और अच्छा प्रमाण दाँत का है। गाय, घोड़े, बकरी आदि वनस्पति खानेवाले जानवरों के दाँत चौड़े होते हैं और कुचलनेवाली सतह नीची-ऊँची होती है, ताकि मुलायम वनस्पति को कुचलकर चबा सकें; लेकिन शेर, कुत्ते, बिल्ली आदि मांसाहारी जानवरों के दाँत बहुत मज़बूत, पतले और नुकीले होते हैं जिससे वे मांस को सहज में फाड़ और हड्डियों को चबा सकें। इसी तरह के अनेकों उदाहरण पौधों और पशुओं के दिये जा सकते हैं, जिससे प्रकट होता है कि जिन विभिन्न परिस्थितियों में उन्हें रहना होता है, उसी के अनुसार उनकी बनावट भी बदल जाती है। या यों कहिये कि उनमें यह शक्ति पाई जाती है कि वे अपने आपको उसी परिस्थिति के योग्य बना लेते हैं, जहाँ वे रहना चाहें या जहाँ उन्हें रहना पड़े। इस तरह की बात किसी निर्जीव पदार्थ के बारे में नहीं कही जा सकती।

सजीव और निर्जीव की समानताओं और असमानताओं के बारे में हमने थोड़ा-सा ज्ञान प्राप्त कर लिया। अब केवल सजीव पदार्थों की ओर ध्यान देना चाहिए और देखना चाहिए कि हम तीन प्रकार के जीवधारियों में कैसे भेद कर सकते हैं।

वनस्पतियों और जीव-जन्तुओं में भेद

हम पहले ही कह चुके हैं कि पौधे और पशु दोनों जीवधारी हैं; और एक मुर्दा तथा ज़िंदा पेड़ या फूल में भेद करना उतना ही आसान है, जितना एक मृत और जीवित पशु में। किन्तु देखा जाय कि एक जीवित पौधे और एक जीवित पशु में भेद कर सकना सदा सम्भव है कि नहीं? आप एक आम के पेड़ को देखते हैं और उसे पौधा कहते उसी पेड़ के नीचे चरती हुई भैंस को देखते हैं और उसे पशु कहते हैं। लेकिन शक्ल के अतिरिक्त वे दोनों और किस तरह भिन्न हैं? आम का पेड़ जिस प्रकार लंबाई-चौड़ाई में बढ़ता है, अपने भीतर खाना और पानी खींचता है और बीज पैदा करता है, जिनसे उसी की तरह के और पौधे उगते हैं; उसी प्रकार भैंस भी अपने आस-पास के पेड़-पत्तों को खाकर बड़ी होती है और सन्तानोत्पत्ति करती है। अन्य वृक्षों के ढंग भी आम के वृक्ष की ही भाँति होते हैं और बहुतेरे पेड़ों में चलने की भी शक्ति होती है। वे प्रकाश और धूप की ओर झुकते हैं या सहारे के चारों ओर घूमते हैं, जैसे कि गुलाब, चमेली या सेम की बेलें, और कुछ छुईमुई (लाजवंती) की तरह एक अर्थ में चेतना और इच्छा भी रखते हैं। फिर भी पौधे पशुओं से भिन्न हैं।

पौधों की गति अधिकांश पशुओं के चलने फिरने के समान नहीं होती। मेढक, मछलियाँ, साँप, तोते, ऊँट, बन्दर, और आदमी जैसे जीवधारी इच्छानुसार इस जगह से उस जगह अपना स्थान-परिवर्त्तन किया करते हैं। केला, नीम और बरगद की तरह के वृक्ष जहाँ उपजते हैं वहीं स्थिर रहते हैं। वे अपनी इच्छानुसार अपना स्थान नहीं बदल सकते। किन्तु संसार के सभी जीवनधारी ऊपर बताये गये पशुओं की तरह एक जगह से दूसरी जगह आ-जा सकने में समर्थ नहीं हैं, जैसे समुद्री चिचक्के (ऐसीडियन्स), मूँगे (कोरल्स), स्पंज (स्पंजेज़) तथा अन्य दूसरे जंतु जो पठारों पर या पानी के नीचे और पदार्थों में जमे रहकर ही पौधों की ही तरह अपना जीवन व्यतीत करते हैं। इसी तरह बहुत सी छोटी छोटी वनस्पतियाँ हैं जो जमी नहीं होतीं वरन् पानी पर तैरा करती हैं। इसलिए वास्तव में ठीक ठीक हम यही कह सकते हैं कि जीव जन्तुओं का बहुत बड़ा भाग इच्छानुसार चल फिर सकता है परन्तु वनस्पतियाँ बहुत कम ऐसी हैं जो ऐसा कर सकें। ये स्थायी शाखायुक्त जंतु जो देखने में पेड़ों की भाँति प्रतीत होते हैं, हमारे देश की प्राणिशास्त्र की प्रयोगशालाओं में देखे जा सकते हैं। उनमें से एक, एनीमोन जो समुद्र के तल में होता है और वनस्पति की तरह एक स्थान पर स्थिर रहता है, अगले पृष्ठ पर दिये गये चित्र में आप देख सकते हैं। ऊपर जिन वनस्पति-जैसे जन्तुओं का उल्लेख किया गया है वे न केवल पेड़ों की तरह बढ़ते और शाखायें ही फैलाते हैं वरन् उनमें से कई जीवन नष्ट किये बिना ही टुकड़ों में काटे जा सकते हैं। ठीक वैसे ही जैसे एक बड़े आलू के टुकड़े, करके बोने से हर एक टुकड़े से नया पौधा उग आता है,

जीवित स्पंज के कटे टुकड़े भी यदि समुद्र में बिखेर दिये जायँ तो बढ़कर पूरे स्पंज हो जाते हैं। जैसे कि तुम गुलाब या नीम की डालियाँ काटते हो तब भी उसमे से नई टहनियाँ निकलती रहती हैं और पौधा बढ़ा करता है, उसी तरह छिपकली की दुम भी काटे जाने के बाद फिर बढ़ जाती है। इस तरह हमें मालूम होता है कि केवल ऊँची या बड़ी जाति के पशु और पेड़ ही सरलता-पूर्वक एक दूसरे से भिन्न करके पहचाने जा सकते हैं। नीची जातियों में, जो बिलकुल छोटी हैं या इतनी छोटी कि आँखों से देखी भी नहीं जा सकती—भेद अधिक नहीं है और बहुत नीची जा-तियों में यह भेद केवल नाममात्र के लिए या नहीं के बराबर है। उनके बारे में यह कहना भी कठिन है कि वे वन-स्पति हैं या जंतु।

वनस्पति और जानवरों के भोजन ग्रहण करने के ढंगों में भी एक स्पष्ट अन्तर है। दोनों ही को जीने और बढ़ने के लिए कार्बन और नाइट्रो-जन की आवश्यकता होती है, परन्तु वे उसे भिन्न रीतियों से प्राप्त करते हैं। वनस्पति अपना कार्बन पत्तों से श्वास द्वारा गैस के रूप में हवा में मिले हुए कार्बन डाइआक्साइड से लेते हैं। इसके बाद अपने हरे रंगवाले पदार्थ, पर्णहरित (क्लोरोफिल), की सहायता से सूर्य के प्रकाश की उपस्थिति में वे उसे अपने तन्तुओं में विषम सयोजित (Complex Compound) के रूप में परिवर्त्तित कर लेते हैं। वनस्पति को जितने नाइट्रो-जन की आवश्यकता होती है, वह उसे पृथ्वी के नाइट्रेट से मिलती है। यह नाइट्रेट पृथ्वी के अन्दर पानी में घुला हुआ रहता है और पेड़-पौधे अपनी जड़ों द्वारा उसे अपने में खींच लेते हैं। जानवर अपना कार्बन और नाइट्रोजन सीधे पृथ्वी से नहीं प्राप्त कर सकते। वे उसे शाक या मांस के आहार के रूप में पाते हैं, जो कार्बन और नाइट्रोजन के बने बनाये मिश्रण (कम्पाउण्ड) हैं। हम लोग या तो अनाज (जैसे गेहूँ, चना, बाजरा) या फल जैसे (अंगूर, संतरे, केले, आम) या पत्ते (जैसे भाँति-भाँति के शाक) खाते हैं। इनके लिए हम पौधों पर निर्भर हैं। इनके अतिरिक्त दूध या शहद की तरह के पदार्थों के लिए हमें जानवरों पर निर्भर होना पड़ता है। इसी भाँति पशु अपने खाने के लिए पौधों पर या अन्य जानवरों पर निर्भर हैं। ये अन्य जानवर उसी तरह दूसरे पेड़ों पर निर्भर हैं। इससे विदित होता है कि पृथ्वी पर जन्तुओं से पहले पेड़-पौधों का जन्म अवश्य हुआ होगा।

शक्ल-सूरत में वनस्पति-जैसा जंतु एनीमोन
जो समुद्र के तले की चट्टानों पर स्थायी रूप से चिपका रहता और मछलियों का आहार करता है।

आदमी और अन्य जीवों में अन्तर

अब कुछ आदमी तथा अन्य पशुओं के बारे में विचार किया जाय। मनुष्य और अन्य जान-वरों में भोजन और भोजन करने के ढंग में कोई खास अन्तर नहीं है, जैसा कि जानवरों और पेड़-पौधों में पाया जाता है। बन्दर, गाय, कुत्ते और तोते उनमें से अधिकांश चीज़ों को खा सकते हैं, जिन्हें हम खाते हैं और वे बहुत-सी अन्य बातों में हमारा-जैसा आचरण करते हैं। वे एक चीज़ पसंद करते हैं और दूसरी नापसन्द। वे एक चीज़ की खोज में रहते हैं और दूसरी से बचते रहते हैं। दूसरे शब्दों में मनुष्यों की तरह ही उनकी अनुभूति होती है, चेतना होती है और इच्छा होती है। प्रत्येक व्यक्ति जिसने जानवर पाले हैं, जानता है कि वह भी सुख-दुःख का अनुभव करते हैं। कौन ऐसा होगा जिसने घर की बिल्ली का दुःखद रुदन न सुना होगा। वे चिड़ियाँ और जानवर, जो स्वतन्त्र होते हैं, क़ैद किये जाने पर कभी-कभी दुःख से मर जाते हैं। तब क्या कोई चीज़ है, जो हम में और हमारे पशु साथियों में

सके? यह सच है कि बहुत-से काम जो हम कर सकते हैं, पशु नहीं कर सकते, पर यह भी सच है कि कई काम ऐसे भी हैं जिन्हें वे कर सकते हैं और हम नहीं। चिड़ियाँ बिना किसी यन्त्र की सहायता के उड़ सकती हैं। उनमें से कई तो लगातार घण्टों तक उड़ सकती हैं मानों वे थकती ही नहीं। इसके विपरीत हम लोगों का दम इसी ठोस पृथ्वी पर थोड़ी सी दौड लगाने पर ही फूलने लगता है। बन्दर एक छत से दूसरी छत पर, एक डाल से दूसरी डाल पर आसानी से कूद जाता है, यद्यपि मनुष्य यह नहीं कर सकता। यहाँ तक कि नन्हीं मकड़ी ऐसा जाला बुन सकती है, जो मनुष्य के आज तक के कौशल द्वारा बनाये हुए किसी भी सूत से बढ़कर होता है। किन्तु ऐसे बड़े बन्दरों के अतिरिक्त जो आदमी के सम्पर्क में रहते हैं, अन्य बड़े जानवर भी उचित और अनुचित का भेद नहीं जानते। उनमें चेतना है, पर निर्णयात्मक बुद्धि नहीं। कदाचित् अधिकाश जानवरों और मनुष्य में यही प्रमुख भेद हो।

जंतु-जगत् में मनुष्य का सबसे निकट सम्बन्धी—चिम्पैंज़ी

जिसका स्वाभाविक वर्त्ताव मनुष्य से इतना अधिक मिलता है कि यह कहना कठिन है कि जंतु-जगत में मनुष्य ही केवल एक ऐसा प्राणी है जो बुद्धि से युक्त हो। अनेक बातों में इसका आचरण मनुष्य से मिलता-जुलता है। यह एक अजीब तरह की गुनगुनाने की ध्वनि निकालता हुआ मनुष्य के बोलने की नक़ल-सी करने लगता है, अपने बच्चों को मनुष्य की तरह छाती या गोद से चिपका लेता है—यहाँ तक कि थोड़ा सा सिखाने पर कपड़े पहनकर और मेज़ कुर्सी पर बैठकर छुरी और काँटे या चम्मच के द्वारा बिलकुल आदमी की तरह खाना खाना भी सीख जाता है।

दूसरा और अंतिम भेद मनुष्य की भाषण-शक्ति का महान् विकास प्रतीत होता है। सारे जंतु-जगत् मे यह मनुष्य को ही प्रकृति से प्राप्त विशेष देन है। यह सच है कि प्रकृति ने पशुओं, पक्षियों, यहाँ तक कि छोटी-छोटी चींटियों को भी अपनी-अपनी बोली दी है। किन्तु मनुष्य की बोली और अन्य पशुओं की बोली में एक विशेष अंतर है। पशुओं को कुछ गिने-चुने स्वर ही प्रकृति से प्राप्त हुए हैं और वे उन्हें ही बार-बार दोहराया करते हैं। यह कहना कठिन है कि बोली में कोई अर्थ भी रहता है या नहीं। पर मनुष्य की भाषा का निरंतर विकास होता रहा है और देश-देश में उसका नया-नया रूप प्रस्फुटित हुआ है। इस भाषा के ही द्वारा मनुष्य को प्रकृति ने अपने विचार व्यक्त करने की क्षमता प्रदान की है।
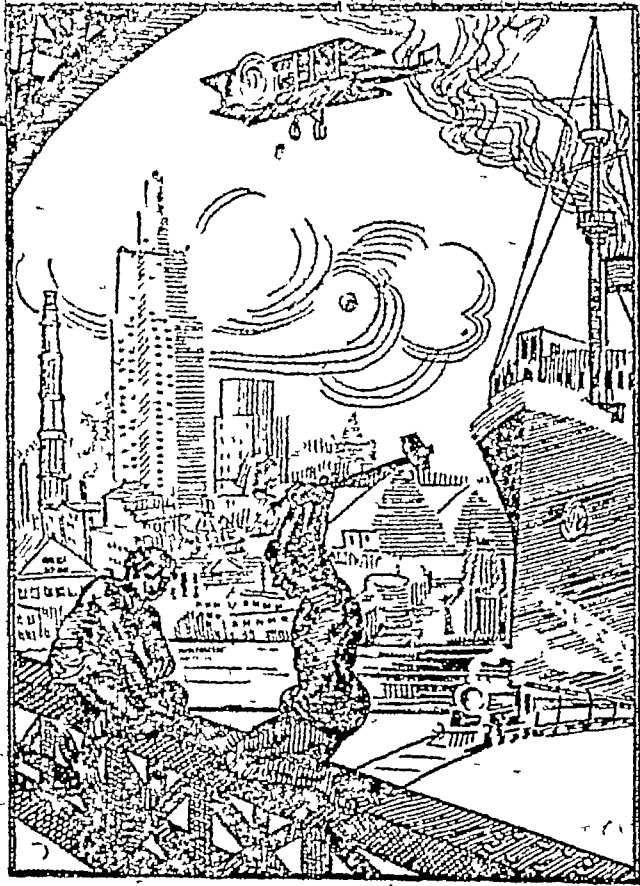
मनुष्य
की कहानी

मनुष्य और उसके निकटतम संबंधी मानवसम वानर

से नीचे बाएँ से दाहिनी ओर के क्रम से) पहली पंक्ति में—मैंड्रिल नामक वानर, चिम्पेंज़ी, और लंगूर। दूसरी पंक्ति [illegible], मनुष्य, और गोरिल्ला। तीसरी पंक्ति में—सफ़ेद हाथोंवाला गिबन, लीमर और लंबी नाकवाला बबून।

हम कौन और क्या हैं ?

हममें और अन्य जीवों में समता

विश्व और पृथ्वी, तथा पृथ्वी पर दिखाई दे रही निर्जीव और सजीव सृष्टि का सामान्य रूप से अध्ययन करने के बाद स्वभावतया हमारी आँखें स्वयं अपने आप ही की ओर मुड़ती हैं, क्योंकि सृष्टि की सारी महिमा, उसका सारा महत्त्व ही, इस बात में है कि हम उसके प्रधान खिलाड़ी हैं। यह विभाग हमारी अपनी उस कहानी का प्रथम अध्याय है। अपना यह अध्ययन आरंभ करने पर सर्वप्रथम हमारा ध्यान जिस पहलू पर जाता है, वह है हमारा अपना स्थूल भौतिक स्वरूप, जंतु-जगत् में हमारा स्थान, हमारी शरीर-रचना और उसके विकास का इतिहास, हमारे शरीर के अवयव या भाग, उनमें होनेवाला रोग और उनका निदान, आदि, आदि। इस विभाग में इन्हीं महत्त्वपूर्ण विषयों का विवेचन आप पायेंगे।

मनुष्य भी जंतु-जगत् का सदस्य है

यदि तुमसे कोई पूछे, "तुम आदमी हो या जानवर" तो अवश्य तुम यही उत्तर दोगे, "हम आदमी हैं, जानवर नहीं।" लेकिन चाहे तुम मानो या न मानो, और चाहे तुम्हें यह बात अच्छी न लगे, हम तुम्हें यह बताना चाहते हैं कि हम, तुम और सब आदमी अन्य जीव-धारियों की तरह जानवर ही हैं। इसमें कोई घबड़ाने या परेशान होने का कारण नहीं। यह सच है कि हम लोग और जन्तुओं से भिन्न हैं। मनुष्य की-सी बुद्धि और बोलचाल दूसरे जीवों में नहीं पाई जाती, उसके शरीर का आकार और रहन-सहन के नियम भी उनसे भिन्न हैं। पर हाथी व घोड़े, मक्खी और मच्छरों से उसी प्रकार भिन्न हैं, जैसे हम-तुम और जानवरों से। लेकिन इस भिन्नता के होते हुए भी तुम उन सबको जानवर ही कहते हो। फिर यह मान लेना क्यों अखरता है कि अन्य जीवधारियों की तरह प्रकृति की गोद में तुम भी पैदा हुए हो, और जैसा कि पिछले स्तंभ में बतलाया गया है जन्तु-जगत् के एक मुख्य भाग हो।

इसी पृथ्वी पर हम और सब ही प्राणी रहते-बसते हैं। हमारी ही तरह वे भी पैदा होते, खाते पीते, बढ़ते और अन्त में मर जाते हैं। जैसे सर्दी, गर्मी, पानी, धूप इत्यादि हमको सताती हैं वैसे ही अन्य प्राणियों को भी और जैसे उनसे बचने के उपाय करते हैं वैसे ही वे भी। अपने बाल बच्चों के पालन-पोषण का प्रबन्ध जैसे आदमी करते हैं वैसे ही दूसरे जानवर भी। अपनी और अपने परिवार की रक्षा के लिए मनुष्य एक-दूसरे से लड़ते-झगड़ते और मार पीट करते हैं, उसी प्रकार अन्य जीवधारियों में भी आपस में द्वन्द्व होता है, लड़ाई-झगड़े चलते रहते हैं, और मार-काट होती रहती है। हमारी तरह और जीवों को भी पेट भरने के लिए भोजन और रहने के लिए सुरक्षित स्थान चाहिए। इन सब बातों से स्पष्ट है कि हमारी और अन्य जानवरों की मुख्य मुख्य आवश्यकताएँ एक ही सी हैं, और हमारा व उनका रहन-सहन भी अधिकांश में मिलता-जुलता है। कदाचित् यही कारण है, जो हम बहुत-से प्राणियों को देखकर ख़ुश होते हैं, और उनमें से बहुतों को अपने घरों में पालते भी हैं। कुत्ता, बिल्ली, तोता, मैना, लाल और कबूतर इत्यादि और उनके बच्चे हमें ऐसे प्यारे लगते हैं कि हम उन्हें अपने साथ रखना और खिलाना-पिलाना पसंद करते हैं। उनके शरीर, रूप-रंग, चलना फिरना, खेलना कूदना देखकर हमारे बच्चे कैसे प्रसन्न होते हैं और उनकी बोली को ध्यान से सुनने और बड़ी उत्कंठा से नक़ल करने की कोशिश करते हैं।

मनुष्य के प्राचीन इतिहास से पता चलता है कि किसी समय वह अन्य जीवधारियों को भी अपना ही सा प्राणी मानता था और उनकी उत्तम बल-बुद्धि को पूजनीय

उनके शरीर के अनेक अंग, सींग, पर, दाँत, नाखून इत्यादि अपने शरीर पर धारण कर रोग और आपत्तियों से बचने का प्रयत्न करता था। बहुत-सी प्राचीन जातियों का विचार था कि उनके वंश की उत्पत्ति किसी पशु या पक्षी विशेष से हुई थी; इसलिए वे उसकी मूर्त्ति चिह्नस्वरूप अपने घर में रखतीं और उसकी पूजा करती थीं। आज तक भारतवर्ष में हिन्दुओं में वाराह अवतार, नृसिंह अवतार, आदि कई पूरे और आधे जानवर व आधे मनुष्य के शरीरवाले देवताओं के अवतार माने जाते हैं, और उनकी मूर्त्तियाँ पूजन के लिए बनाई जाती हैं। जैसे-जैसे समय बीतता गया, आदमी की बुद्धि मे परिवर्त्तन होता गया। वह अपने को पशुओं से बिलकुल भिन्न समझने लगा और उनसे सारा नाता तोड़ दिया। परन्तु एक बार फिर आदमी की मति ने पलटा खाया। आधुनिक विज्ञान के अध्ययन से यह स्पष्ट होने लगा कि रूप, कार्य्य, उत्पत्ति, वृद्धि और बुद्धि में आदमी और जानवरों में बड़ी समता है। हमारे शरीर की रचना उच्च श्रेणियों के प्राणियों की-सी ही है। जब हमने उनके और अपने शरीर के अंगों की तुलना की तो पता चला कि उनके आँख, कान, नाक, जिगर, फेफड़े, उँगलियाँ और नाखून आदि हमारे अंग से बहुत-कुछ मिलते-जुलते हैं। बहुत-से बाहरी और भीतरी अंग नि सन्देह बिलकुल एक ही से बने हैं। इसलिए मानना ही पड़ता है कि मनुष्य भी जन्तु-जगत् का एक सदस्य है। अपने अहंकार और अज्ञानता के कारण मनुष्य अपने आप को जानवरों से भिन्न और अलग मानने लगा है। अब भी बहुत-से लोग हैं, जो अपनी असली उत्पत्ति को सुनकर चिढ़ते हैं। हम अपने वश के बारे मे बहुत कम ध्यान दिया करते हैं। मामूली तौर से हमको अपने दादा, परदादा या यों कहिए कि केवल दो-तीन पीढ़ियों ही का हाल मालूम रहता है। यदि हम पचीस-तीस पीढ़ियों का हाल मालूम कर सकें, तो हमें अच्छी तरह ज्ञात हो जाय कि हम सबके पूर्वजों में सभी प्रकार के मनुष्य थे। कुछ होशियार, कुछ बेवकूफ, कुछ अमीर, कुछ ग़रीब, कुछ चंगे, कुछ रोगी, कुछ विद्वान्, कुछ पागल, कुछ नेक, कुछ मनुष्य-जैसे और कुछ जंगली जानवर-से। तो भी हम इस बात से सन्तुष्ट नहीं कि हमें जानवरों के बादशाह की पदवी मिले। हम तो अपने को जानवरों से कोसों दूर समझना उचित जानते हैं। किन्तु यह हमारी भूल है।

कुछ लोग कहेंगे कि यह उचित नहीं कि हम अपनी ... का ध्यान न रखते हुए यही प्रकट करें कि मनुष्य जानवरों के अधिक समान है, और उन्हीं का एक अति उत्तम और श्रेष्ठ रूप है। लेकिन कुछ विद्वानों का विचार है कि अगर किसी को हर घड़ी उसकी अच्छी बातों और बड़प्पन का ही ध्यान दिलाया जाय, और उसकी कमी, बुराइयों व त्रुटियों को उससे छिपाया जाय, तो उसे अपने ऊपर झूठा गर्व हो जाने की सम्भावना है। परन्तु दोनों प्रकार की बातों से अपरिचित रहना और भी बड़ी भूल है। अत' यह उचित जान पड़ता है कि हम अपने पाठकों पर अपनी असलियत अवश्य प्रकट कर दें, उन्हें यह बता दें कि हम और जीवधारियों की तरह हैं तो एक प्राणी ही, लेकिन बहुत-सी बातों में उनसे भिन्न भी हैं, और अपने ऊँचे स्वभाव व लक्षणों के कारण, सब जीवों से अलग, मनुष्य की श्रेणी में गिने जाते हैं। इस अध्याय में यही बताया जायगा कि आदमी और अन्य जानवरों में क्या समता है, और कौन-से जन्तु उसके निकट सम्बन्धी हैं। इसके पीछे दूसरे भाग में यह दिखाया जायगा कि मनुष्य अपने से मिलते-जुलते प्राणियों से किन-किन बातों में भिन्न हैं, और उसमें क्या श्रेष्ठता है।

मनुष्य व अन्य प्राणियों की आत्मा एक है

यूनान देश के प्रसिद्ध दार्शनिक और प्रकृतिवादी पिथेगोरस ने, जो ईसामसीह से कई शताब्दी पहले इस संसार में था, पहले पहल यह समझाने की कोशिश की थी कि जानवरों में भी आदमी के भाई-बन्धु होते हैं। कहावत यह है कि एक समय उसने किसी आदमी को अपने कुत्ते को निर्दयता से पीटते देखा तो उससे कहा, "कुत्ते पर दया करो और उसे न मारो, क्योंकि इस कुत्ते के चिल्लाने में मुझे अपने एक स्वर्गीय प्यारे मित्र की आवाज़ सुनाई देती है।" तब उस आदमी ने कुत्ते को मारना बन्द कर दिया। पिथेगोरस का मत था कि आत्मा अमर है, वह केवल शरीर बदलती रहती है। आत्मा एक जीव के शरीर को त्याग कर दूसरे के बदन में प्रवेश कर लेती है। जब समय आने पर वह जीव भी मर जाता है तब उसे छोड़कर किसी दूसरे जीव में जा पहुँचती है। वही आत्मा मनुष्य से जानवर के शरीर में और फिर जानवर से मनुष्य के शरीर में आ जाती है। हिन्दुओं का भी ऐसा ही विश्वास है कि आत्मा जन्म जन्मान्तर तक शरीर धारण कर इस संसार में आती रहती है, कभी किसी प्राणी का और कभी किसी का रूप धारण कर लेती है। जब तक मुक्ति प्राप्त नहीं होती, इसी प्रकार आवागमन होता रहता है। तुमने भी अख़बारों मे पढ़ा या सुना होगा कि कभी-

कभी ऐसे बालक पैदा हो जाते हैं जो अपने पहले जन्म की बातें याद रखते हैं, और उन्हें जल्दी नहीं भूलते।

हमारे शरीर में भी वही अवयव हैं, जो ऊँची श्रेणी के जन्तुओं में हैं। जैसे उनमें सोचने के लिए मस्तिष्क, रक्त-संचालन के लिए हृदय, साँस लेने के लिए फेफड़े, भोजन कुचलने को मुँह में दाँत, और पाचन करने के लिए पेट में थैली और आँतें तथा शरीर का रूप क़ायम रखने के लिए हड्डियाँ होती हैं, वैसे ही सब अंग आदमी में भी पाये जाते हैं। जैसे उनमें सब अंग मिल-जुलकर शरीर के पालन और रक्षा के लिए अपना-अपना कर्त्तव्य करते रहते हैं, उसी तरह हमारे अंग भी एक-दूसरे से हिल-मिल अपना कार्य्य करते हुए शरीर का पालन करते हैं। जैसे अन्य प्राणियों के अंग कोषों के बने हैं, वैसे आदमी के अंग भी बहुत से छोटे-छोटे कोषों के बने हुए हैं और इन सब कोषों में वही जीवन-मूल पाया जाता है जो समस्त जीवन का मूल है। इससे साफ़ पता लगता है कि हमारे शरीर की ऊपरी व भीतरी रचना ही वैसी नहीं, जैसी और ऊँची श्रेणी के प्राणियों की, किन्तु हमारे अंगों का कार्यक्रम भी एक ही सा है। यही नहीं, अगर हिन्दुओं का मत ठीक है, तो आत्मा भी वही है। इन बातों को जानकर कोई यह कैसे न मानेगा कि मनुष्य भी एक जन्तु ही है?

जन्तु-जगत् में मनुष्य का स्थान क्या है?

यदि आदमी जानवरों में सम्मिलित है ही, तो हमें यह देखना है कि जीवधारियों में उसका क्या स्थान है। दुनिया के सारे जीव दो मुख्य भागों में विभाजित हैं—१. एक कोषवाले, जो बहुत छोटे-छोटे होते हैं और जिनका पूर्ण शरीर एक ही कोष का बना होता है; २. बहु-कोषवाले, जिनमें छोटे-छोटे से लेकर बड़े से बड़े जीव पाये जाते हैं। क्योंकि मनुष्य का शरीर अगणित कोषों का बना हुआ है; अतएव वह बहुकोषक प्राणियों के समूह में गिना जाता है। परन्तु वह कीड़ों, मकोड़ों, मक्खी, मच्छरों, बिच्छुओं से भिन्न है, क्योंकि उसकी पीठ में हाथी, घोड़े, कुत्ते, बिल्ली, तोते, साँप, मेढक, मछली के समान रीढ़ की हड्डी होती है। इसलिए हम सब पृष्ठवंशी श्रेणी के जीव हुए। लेकिन इस वंश में भी बहुत प्रकार के जीव हैं। उनमें कुछ ऐसे हैं, जिनकी खाल पर बाल होते हैं और जिनकी माताएँ बच्चों को अपने स्तन द्वारा दूध पिलाती हैं, जैसे गाय, बकरी, बन्दर, लंगूर, ऊँट, घोड़ा, चूहा, चमगीदड़ इत्यादि। किन्तु बहुत-से ऐसे हैं, जिनमें न तो शरीर के ऊपर बाल ही होते हैं और न माताओं के स्तन पाये जाते हैं, जैसे चील कौआ, सर्प, छिपकली, मछली, मेढक, इत्यादि। अब तुम स्वयं समझ सकते हो कि क्यों मनुष्य गाय-बैल की तरह पृष्ठवंशियों के स्तनपोषित समुदाय में सम्मिलित है। परन्तु इस समुदाय में भी नाना प्रकार के प्राणी हैं। उनमें से बनमानुष, बन्दर और लीमर ऐसे हैं जो आदमी से सबसे अधिक मिलते हैं और उनमें आदमियों के कुल लक्षण पाये जाते हैं—जैसे हाथ व पैरों में वस्तुओं के पकड़ने की शक्ति, उँगलियों और अँगूठों में पंजों की अपेक्षा चपटे, चौड़े नाखून, पेट पर सामने की ओर दो स्तन, गले में हँसली की हड्डी, खोपड़ी के भीतर अन्य स्तनपोषी जीवों की अपेक्षा बड़ा और पेचदार मस्तिष्क। इसलिए मनुष्य और वानर वर्ग, अन्य स्तनपोषी जन्तुओं से भिन्न, एक ही श्रेणी में शामिल किये जाते हैं। इस श्रेणी को अँगरेज़ी भाषा में 'प्राइमेट' और अपनी भाषा में "प्रधानभागीय" कहते हैं।

हमारे शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों से विदित होता है कि हम वानरवंश के वंशज हैं। सब देशों के मनुष्य और सारी जातियों के वानर एक ही ढाँचे पर बने हुए हैं। किन्तु वानरवंश में भी अन्य समूहों की भाँति कई श्रेणियाँ हैं। नई दुनिया, अर्थात् उत्तरी व दक्षिणी अमरीका, के बन्दर पुरानी दुनिया, अर्थात् एशिया, योरप और अफ्रीका, के बन्दरों से भिन्न हैं। वे अपनी दुम से वृक्षों की डालियाँ पकड़ लटक जाते हैं और उसी के सहारे डाली-डाली कूदते फिरते हैं। परन्तु इन नई दुनिया के दुम से लटकनेवाले बन्दरों में पुरानी दुनिया के बन्दरों की तरह गले में खाना एकत्रित करने के लिए थैलियाँ नहीं होतीं। इन दो प्रकार के वानरों के अतिरिक्त एक और भी जाति है जिसमें दुम नहीं पाई जाती और जो आदमी की तरह थोड़ा-बहुत खड़े होकर चल फिर सकती है। इनको हम 'मानवसम' वानर या बनमानुष कहते हैं। इन ऊँची जातिवाले बन्दरों और मनुष्यों की जटिल बनावट में अपूर्व समानता है। बदन की हर एक हड्डी, पेशी, नाड़ी, रक्त-प्रणाली इत्यादि दोनों में बिल्कुल एक ही सी बनी हुई हैं। हमारी-तुम्हारी तरह न तो इन बनमनुष्यों के दुम होती है, न खाना भरने को गले में थैली और न नितम्बों पर बैठने में सहायता देने वाली गद्दियाँ। लेकिन जिस प्रकार मानवसम वानरों और नई व पुरानी दुनिया के बन्दरों में एक दूसरे से भेद और जैसे अफ्रीका देश और उसके निकट मेडा[illegible] टापू में रहनेवाले अर्द्ध-वानर या 'लीमर' [illegible] बन्दरों से अपनी विभिन्नता द्वारा सहज में

हैं, उसी प्रकार मनुष्य अपनी शारीरिक बनावट ही के अनुसार मानवसम वानरों और दूसरे बन्दरों के वंश से अलग किये जाते हैं। इन भेदों का वर्णन इस अध्याय के दूसरे भाग में किया जायगा। इस भाग में हम केवल यही बताना चाहते हैं कि मनुष्य और उससे मिलते-जुलते जीवों अर्थात् अन्य 'प्रधान भागीयों' में क्या समता है।

मनुष्य के शरीर के मुख्य स्मारक-चिह्न

इँगलिस्तान के नामी प्राकृतिक सर जे० ए० टौमसन साहब का कहना है कि मनुष्य का शरीर स्मारक चिह्नों का चलता-फिरता अजायबघर है, अर्थात् उसके बदन में ऐसे बहुत-से चिह्न हैं, जिनसे उसकी वंशावली का पता चलता है। इनमें से कुछ चुने हुए मुख्य प्रमाण निम्नलिखित हैं।

१. नीची श्रेणी के स्तनपोषित जीवों की आँख में दो पलकों के अतिरिक्त एक और अच्छी खासी झिल्ली भीतरी कोने में होती है, जो पुतली के आगे के भाग को साफ़ रखती है, मानो यह एक प्रकार की तीसरी पलक है। यह झिल्ली वनमानुषों और बन्दरों की आँख में भी होती है, किन्तु उतनी बड़ी नहीं जितनी अन्य स्तनपोषित प्राणियों में। अपनी आँख के भीतरी कोने को ध्यान से दर्पण में देखो तो तुम्हें भी इस तीसरी पलक का बचा हुआ चिह्न दिखाई देगा। किसी-किसी मनुष्य-जाति में यह औरों से अधिक बड़ा रहता है। प्राचीन समय में यह चिह्न समस्त मनुष्य-समाज में कदाचित् अब से बड़ा रहा होगा। ज्यों-ज्यों मनुष्य का रहन-सहन जंगली और नगे जानवरों के रहन-सहन की रीति से बदलता गया, इस झिल्ली की आवश्यकता हमारे नेत्रों को न रही और वह छोटी होने लगी। अब तो हम लोग नित्य सवेरे आँख-मुँह पानी से धोकर साफ कर लेते हैं और जो चिह्न बचा रह गया है सम्भव है कि आगे चलकर वह बिल्कुल लुप्त हो जाय।

२. तुमने हाथी को चलते समय कानों को पखे की तरह झलते हुए अवश्य देखा होगा, किन्तु यह भी जानते हो कि नहीं कि अधिकतर स्तनपायी हाथी की तरह अपने कान आगे-पीछे हिला सकते हैं। कानों को हिलाने के लिए इन सब जन्तुओं में विशेष पुट्ठे होते हैं। मनुष्य-जाति में कान हिलाने की शक्ति क़रीब-क़रीब बिलकुल नहीं रही, परन्तु कान हिलाने वाले पुट्ठे अभी तक बहुत छोटे रूप में कान
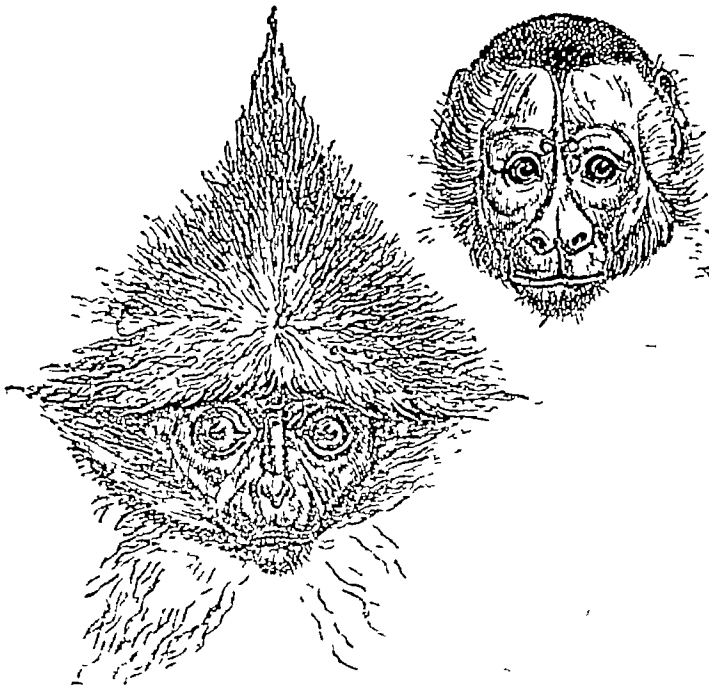
'नई' और पुरानी 'दुनिया' के वानर

(दाहिनी ओर) नई दुनिया अर्थात् अमेरिका में पाया जानेवाला बन्दर जो दुम से डालियाँ पकड़कर लटक जाता है जिसके गले में खाना ... करने की थैलियाँ नहीं होतीं। (नीचे) पुरानी दुनिया का वानर।

लीमर

जो बहुत अंशों में वानर-वंश से नाता रखता है। इसका अब पृथ्वीतल पर से लोप-सा होता जा रहा है। यह अफ्रीका के पास मैडेगास्कर द्वीप में मिलता है।

के पीछे मौजूद हैं और कभी-कभी ऐसे मनुष्य देखे गये हैं जो अपने पूरे कान या केवल ऊपरी ही भाग को आसानी से हिला लेते हैं। प्रयाग-विश्वविद्यालय में सन् १९३३ में एक विद्यार्थी था जो अपने कान को पूरा और ऊपर-नीचे का हिस्सा अलग-अलग हिला सकता था। तुम भी देखो कि अपने कान हिला लेते हो कि नहीं!

अब एक और स्मारक चिह्न तुम्हें बताते हैं। सितम्बर १९३७ की 'विज्ञान पत्रिका' में ठाकुर शिरोमणि सिंह का इस विषय में एक लेख प्रकाशित हुआ था। उस लेख का कुछ संशोधित भाग इस प्रकार है—

मनुष्य की दुम क्या हुई?

बालक—क्या मनुष्य के भी कभी दुम थी?

गुरू—हाँ, आजकल तो नहीं होती है, परन्तु अपने पूर्वजों के तो अवश्य थी।

बालक—मैंने तो आज तक ऐसा नहीं सुना और न यह मेरी समझ ही मे आता है कि हम "वेदुम के बन्दर हैं।" भला कहाँ हम और कहाँ जगली बन्दर? हमारा और उसका कैसा सम्बन्ध। गुरूजी, मैं कभी उनको अपना पुरखा नहीं मान सकता।

गुरूजी—क्या जो बात तुम्हारी समझ मे न आवे या जिसको कोई पूर्ण रूप से न समझा सके, वह ठीक ही नहीं हो सकती? अभी कल ही हम पढ़ रहे थे, एक समय विद्वान लोग भी कहते थे कि सूर्य पृथ्वी के चारों ओर घूमता है और पृथ्वी अपनी जगह अचल है। वह यह मानते थे कि नित्य सवेरे सूर्य पूरब में निकलकर संध्या-समय पश्चिम मे जा डूबता है और रात भर में पृथ्वी के दूसरी ओर का चक्कर पूरा कर फिर सवेरे पूर्व से ऊपर की ओर आते दीख पड़ता है। किन्तु अब साधारण लोग भी यह जानते हैं कि सूर्य अपने स्थान पर स्थिर है और पृथ्वी अपनी कीली पर एक रात-दिन में पूरा चक्कर लगा लेती है और उसके इस घूमने के कारण सूर्य पूर्व से पश्चिम की ओर जाता हुआ दिखाई देता है। जो बात किसी समय ठीक जान पडती थी, वास्तव में बिलकुल ग़लत थी। इसी प्रकार बहुत सी बातें हैं, जो पहले सही मानी जाती थीं पर पीछे चलकर ग़लत सिद्ध हुई और कितनी ऐसी भी हैं, जो अभी असम्भव जान पड़ती हैं, किन्तु आगे चलकर, भविष्य में, सम्भव हो जायँगी।

बालक—जी हाँ, यह तो मैं मानता हूँ कि बहुधा बहुत-सी बातों के समझने मे धोखा हो जाता है और अज्ञानता के कारण जो बात समझ में नही आती ज्ञान पा जाने पर वही बात ठीक जान पड़ने लगती है।

गुरू—तो फिर भी यह भी मान लो कि पृथ्वी के आरम्भ में प्राणियों का आकार, रंग-रूप ऐसा न था जैसा हम आजकल देखते हैं। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, उनमें परिवर्तन होता गया और आजकल जो-जो अपार जीव-जन्तु सृष्टि में दीख पडते हैं सब उन्ही प्रारम्भिक सीधे-सादे प्राणियों से ही विकसित हुए हैं।

बालक—तो वह प्रारम्भिक जीव हमारे और बन्दरों के भी दूर के पुरखे हुए?

गुरू—अवश्य, जन्तु-जगत्‌वाले भाग में इस विषय पर बहुत कुछ लिखा जायगा। यहाँ तो केवल दुम ही की बात है। पृष्ठ ६२ का चित्र देखो, जिसमें मनुष्य व चारों प्रकार के मानवसम बन्दरों की ठठरियाँ हैं। इन वन-मानुषों में भी आदमी की तरह बाहर पूँछ नहीं दिखाई देती, परन्तु इस चित्र में सबकी रीढ़ की हड्डी में मणि-माला सी चार छोटी छोटी गुरिया एक दूसरे से मिली हुई दुम की तरह लटक रही हैं। इन हड्डियों को पुच्छ-स्थियाँ कहते हैं। परन्तु मनुष्य में यह दुमवाली हड्डियाँ सब उतनी बड़ी नहीं होतीं जितनी मानवसम बन्दरों में। वनमानुषों में ऊपरी दो या तीन बड़ी होती हैं, मनुष्य में केवल एक ही।

बालक—जब हमारे और इन वानरों के दुम है ही नहीं तो ये हड्डियाँ कहाँ से आईं।

गुरू—यही समझने की बात है। ऊपर बताये हुए स्मारक-चिह्न की तरह ये भी एक अवशिष्ट अंग हैं, जो शायद घटते-घटते किसी समय मानव जाति से बिल्कुल लुप्त हो जाय। अभी तो गर्भावस्था में जब बच्चा माँ के पेट में होता है तो ख़रगोश या बिल्ली के भ्रूण की तरह दोनों टाँगों के बीच में पैरों से बड़ी, मुड़ी हुई, पीछे को निकली दुम मौजूद होती है। (देखो पृष्ठ ६४ के चित्र में मानव भ्रूण) सब वनमानुषों के भ्रूणों में भी ऐसी ही दुम पाई जाती है किन्तु जैसे इन प्राणियों का भ्रूण बढ़ता जाता है उनकी बाहरी पूँछ घटती जाती है और माता के पेट से बाहर होने के समय तक लुप्त हो जाती है। केवल उसकी जड़ की हड्डियाँ माँस के भीतर बनी रहती हैं। कभी-कभी मनुष्य में ऐसा भी होता है कि बालक के पैदा होने के बाद भी यह भ्रूणवाली दुम बनी रह जाती है और टाँगों के बीच में लटकती हुई दिखाई देती है। भारतवर्ष ही में ऐसे ऐसे बालक उत्पन्न हुए हैं (देखो पृष्ठ ६४ का चित्र)। कहा जाता है कि महाराज शिवाजी के
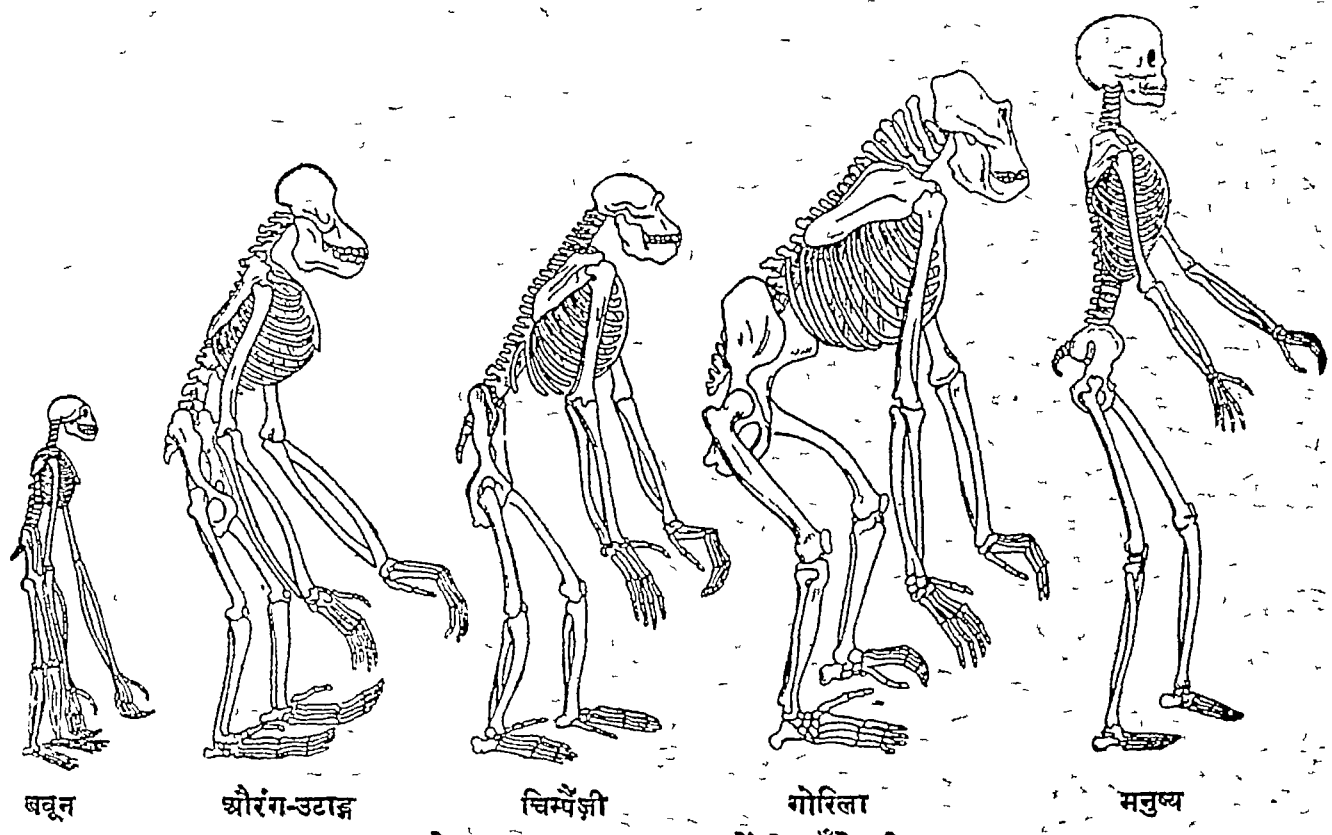
मनुष्य और अन्य मानवसम वानरों के ढाँचे की तुलना

इन सबके अस्थिपंजरों में रीढ़ के निचले सिरे की ओर निकली हुई दुम की हड्डी का बचा हुआ हिस्सा आप स्पष्ट रूप से देख सकते हैं।

के भी छोटी-सी दुम थी। इतना ही नहीं, जैसे कान हिलाने की शक्ति जाती रहने पर भी हिलानेवाले पुट्ठे बाक़ी रह गये, वैसे ही न पूँछ रह गई और न दुम हिलाने की शक्ति, परन्तु जड़ की हड्डियाँ और हिलाने में सहायता देनेवाले स्नायु अब भी हममें बाक़ी हैं।

बालक—यह सुनकर मानना ही पड़ता है कि हममें भी 'बेदुम के बन्दर' ही नहीं, बल्कि कभी-कभी दुमदार मनुष्य भी पाये जाते हैं, और यह कि हम और हमारे पुरखों के भी प्राचीन समय में दुम रही होगी।

गुरू—बस इसी प्रकार किसी दिन यह भी मान लोगे कि बन्दरों और आदमियों के पुरखे एक ही थे।

ऊपर के तीनों प्रमाण शरीर के बाहरी अंगों के हैं। आपका ध्यान शरीर के भीतरी अंगों की ओर हते हैं।

'नई' मे छोटी और बड़ी आँतों के मिलने (दाहिनी ओर) नई दुली के समान नलिका पाई जाती जो दुम से डालियाँ पकड़ना या आँत कहते हैं। घास इकट्ठा करने की थैलियाँ नहीं होत लम्बा और पाचन-क्रिया पी मे वह व्यर्थ ही नहीं वरन् कभी-कभी हानिकारक होता है। जब किसी कारण से वह सूज जाता है या जब कोई कड़ा भोजन पदार्थ उसमें जा अटकता है तो पीड़ा होने लगती है और यदि वह पक जावे तो जान जोख़ों में आ जाती है और पेट चीरकर डाक्टर उसे काटकर बाहर फेंक देते हैं। बनमानुषों में भी यह उपाहित आँत पाई जाती है, परन्तु मनुष्य की आँत से बड़ी और अन्य स्तनपोषित जीवों की से छोटी होती है।

इनके अतिरिक्त मनुष्य के शरीर में और भी स्मारक-चिह्न हैं, जिनका वर्णन करना यहाँ उचित नहीं जान पड़ता। प्रोफ़ेसर वीडर शैम ने अपनी एक पुस्तक में ऐसे पचास अंग गिनाये हैं। परन्तु इनमें से कई इतने छोटे हैं कि केवल हर एक के ज्ञान में नहीं आ सकते।

मनुष्य व अन्य स्तनधारियों की गर्भावस्था

अब हम मनुष्य, बन्दर, व अन्य जीवों में और दूसरी प्रकार की समताएँ बताते हैं, जिनके पढ़ने से तुम यह जान लोगे कि कैसे जन्तु एक दूसरे से आपस में रिश्ता रखते हैं और कैसे यह जान पड़ता है कि यह रिश्ता निकट का है या दूर का। अगले पृष्ठ के चित्र को ध्यान से देखिये। इसमें कुछ जानवरों के भ्रूण बनाये गये हैं। जिनको देखने से पता

लगता है कि मानव-गर्भ की वृद्धि अन्य जंतुओं के गर्भ की वृद्धि से कितनी मिलती-जुलती होती है। सब प्राइमेटों के भ्रूण अपनी प्रारम्भिक अवस्था में एक से ही नहीं जान पड़ते बल्कि अपने से बहुत नीचे जीव, जैसे मछली या मेढक के भ्रूण से भी समता रखते हैं। आरम्भिक अवस्था में सब प्राइमेटों के गर्भ का हृदय दो कोठरियों ही का होता है जैसा कि मछलियों का। लेकिन थोड़ा और बढ़ने पर उसमें मेढक के हृदय की तरह तीसरी कोठरी भी बन जाती है। कुछ और वृद्धि होने पर चौथी कोठरी भी बन जाती है और भ्रूण का हृदय ऊँची श्रेणीवाले जंतुओं के हृदय का-सा हो जाता है। इसके अतिरिक्त गर्भ-शास्त्रियों ने (यानी उन लोगों ने जिन्होंने बहुत-से जीवों के भ्रूणों का और उनके गर्भ में बढ़ने का अध्ययन किया है) सिद्ध कर दिया है कि सब (मनुष्य सहित) प्राणियों के गर्भ का आरम्भ एक ही कोष्ठ से होता है, इसी कारण उन सबमें कुछ अवस्था तक अधिक समानता रहती है। ज्यों-ज्यों गर्भ बढ़ता जाता है, एक समूह का भ्रूण दूसरे समूह के भ्रूण से भिन्न होने लगता है और गर्भ की अन्तिम अवस्था में साफ मालूम होने लगता है कि वह किस श्रेणी के जीव का भ्रूण है। इससे यह भी समझ लोगे कि निकट के समूहों के भ्रूण में अधिक समय तक बहुत समता रहती है, और जितना एक जीव दूसरे जीव से दूर के समूह का होता है, उतने ही शीघ्र उनके भ्रूण एक दूसरे से भिन्न जान पड़ने लगते हैं। इसी प्रकार मनुष्य
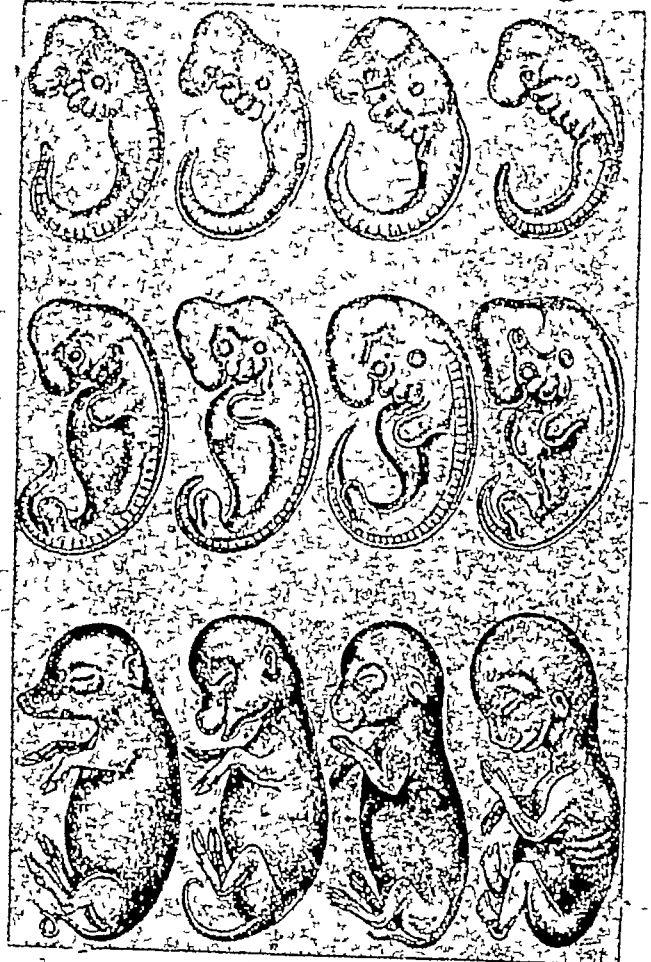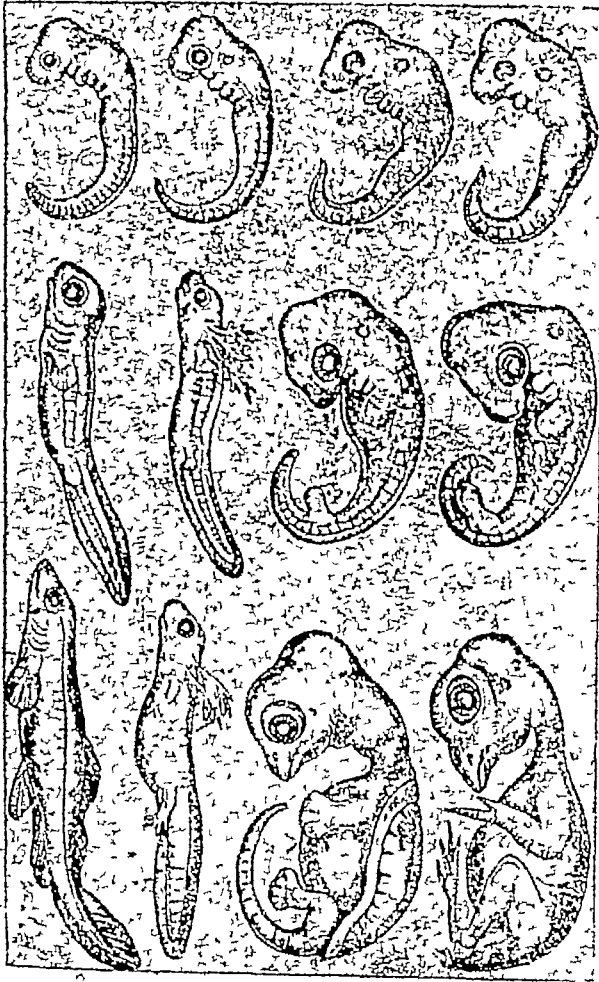
मछली मेढक कछुआ मुर्गा सुअर गाय खरगोश मनुष्य

मनुष्य और अन्य जानवरों के भ्रूणों का तुलनात्मक चित्र

देखिए, आरंभिक अवस्था में इन सभी भिन्न-भिन्न जानवरों के भ्रूण एक-दूसरे से कितने ।

का भ्रूण बिल्कुल शुरू में अन्य जीवों, और फिर अन्य स्तनधारियों के भ्रूण के समान होता है। उसके बाद वह प्राइमेट का भ्रूण मालूम होने लगता है, और थोड़ा और बढ़ने पर यह मालूम होने लगता है कि वह आदमी ही का भ्रूण है। छः मास की आयु तक मनुष्य के भ्रूण पर बन्दर की तरह घने बाल होते हैं और जैसा ऊपर लिखा है, छोटी-सी दुम भी होती है।

रक्त की बनावट व लक्षण में समता व भिन्नता

इसमें भी अधिक मनोरंजक पहचान परमात्मा ने जीवों के रक्त की बनावट और उसके लक्षण या गुणों में रक्खी है। इनका हाल संक्षेप में लिखा जाता है, क्योंकि विषय काफ़ी लम्बा हो चुका है।

रक्त में जो लाल कण हैं उनका व्यास नापने से पता चला है कि सबसे नीचे श्रेणी के प्रधानभागीय लीमर में रक्तकण सबसे छोटे हैं, बन्दर में उससे बड़े, बंदर से बड़े वनमानुष में और मनुष्य में क्रमानुसार सबसे बड़े हैं। इससे अमेरिका देश के हारवर्ड विश्वविद्यालय के प्रोफेसर हूटन साहब ने नतीजा निकाला है कि लीमर इस बात का संकेत करता है कि मनुष्य से उसका दूर का सम्बन्ध है। बन्दर हमसे नातेदारी का दावा करता है और वनमानुष पेड़ों की चोटी पर बैठा ढिंढोरा पीटता है कि वह हमारा निकट सम्बन्धी है।

दुमदार बालक

जो भारतवर्ष में ही उत्पन्न हुआ था। [फ़ोटो इस लेख के लेखक की कृपा से प्राप्त।]

थोड़े ही वर्ष हुए इन्द्रियों के कार्य-क्रम पर खोज करनेवालों ने पता लगाया कि अगर किसी जन्तु का ख़ून अपने से क़रीब के रिश्तेवाले प्राणी के रक्त में मिलाया जावे तो दोनों का ख़ून मिलकर एक समान हो जाता है। यदि वह ऐसे जीव के रक्त में डाला जाय कि जिसमें उसकी घनिष्ठता नहीं है तो वह उसके ख़ून से अच्छी तरह न मिलेगा। मनुष्य और चिम्पैंज़ी में अधिक घनिष्ठता होने के कारण दोनों का ख़ून आपस में बिल्कुल घुल-मिल जाता है। परन्तु आदमी का रक्त बन्दर या घोड़े के रक्त में भरा जाय तो वह उनके ख़ून से मिलता ही नहीं वरन् उनके लाल रक्त-कणों को नष्ट ... देता है।

एक इससे भी अद्‌भुत उदाहरण सुनिये। एक जीव का रक्त किसी अन्य समूह के जन्तु के रक्त में सुई द्वारा भरा जाय और जो रक्तरस (सीरम) उसके रक्त से निकले, उसे पहले समूह के और किसी जानवर के ख़ून या ख़ून के घोल में मिलाया जाय तो तुरन्त ही उसमें तलछट बैठ जाता है। अगर वही रक्तरस और दूसरे समूह के प्राणियों के रक्त या रक्त-घोल में मिलाया जाय तो क्रमानुसार जितने ही दूर के समूह के जीव का रक्त होगा, उतना ही कम और देर में तलछट बनेगा। किन्तु अधिक दूर के संबंधी जन्तुओं के ख़ून में डालने से नाम-मात्र या बिल्कुल तलछट न बनेगा। इससे यह स्पष्ट है कि इस तलछट द्वारा जीवों के पारस्परिक सबंध की घनिष्टता और विलगता का ज्ञान हो सकता है। आदमी का रक्त ख़रगोश के रक्त में भरकर जो रक्तरस बने, उसमें से कुछ किसी दूसरे आदमी के ख़ून या ख़ून के हलके घोल में ही मिलाया जाय तो शीघ्र तलछट फेंक देगा। किन्तु वही रक्तरस वनमानुष, बंदर, लीमर और घोड़े के ख़ून में छोड़ा जाय तो देखा जावेगा कि वनमानुष के ख़ून में तलछट बनेगा। किन्तु आदमी के ख़ून के मुक़ाबले में कम और देर से। बंदर के रक्त में नाम-मात्र या अधिक समय रक्खा रहने पर उसमें हलका धुँधलापन आ जायगा, लीमर के में उतना भी नहीं। और घोड़े या अन्य स्तनपोषित जीवों में तो बिल्कुल ही प्रभाव न दीखेगा। हममें और वनमानुषों में घनिष्ट सम्बन्ध होने का तुम्हें इससे भी पक्का प्रमाण और क्या चाहिए—दोनों का रक्त तक एक ही सा है!

ऊपर के दृष्टांतों से यह पूर्ण रूप से स्पष्ट है कि मनुष्य निस्सन्देह अपने शरीर के अंगों में अन्य प्राइमेटों से सम्बन्धी होने के काफी चिह्न अभी तक रखता है। यदि हमें न्याय करना है तो अवश्य मानना पड़ेगा कि मनुष्य भी जानवरों ही में से एक है। यह ज़रूर है कि जानवर होते हुए भी उसमें ऐसी विशेषतायें हैं कि जिनके कारण वह ऊँचे से ऊँचे वनमानुष और अन्य जन्तुओं से भी उच्च और भिन्न है। अंत में यही कहेंगे कि मनुष्य मनुष्य ही है।

संसार का सबसे बड़ा आश्चर्य—मानव मस्तिष्क

मनुष्य के शरीर का अध्ययन करने के बाद जिस वस्तु पर हमारी निगाह जाती है, वह है उसका अद्भुत मस्तिष्क, जिसकी बदौलत वह आज दिन अन्य जीवधारियों को पीछे ढकेलकर पृथ्वी का एकमात्र स्वामी बन बैठा है। वास्तव में मस्तिष्क की विशेषता ही के कारण मनुष्य अन्य जानवरों से भिन्न है। रेल, हवाई जहाज़, बिजली, पुलें, इमारतें, नगर, गाँव, खेती, कल-कारख़ाने, व्यापार, उद्योग, साहित्य, कला, सब मनुष्य के मस्तिष्क की उपज हैं, उसी की करामात हैं। सच पूछिए तो मनुष्य के मस्तिष्क से अधिक आश्चर्यजनक वस्तु दुनिया में और कोई नहीं है। यह मस्तिष्क क्या वस्तु है?

हर जीवधारी अपनी परिस्थितियों के अनुसार आचरण करता है, यहाँ तक कि सूक्ष्म कीटाणु भी विपरीत परिस्थितियों से भागते हैं और अनुकूल परिस्थितियों की ओर बढ़ते चलते हैं। जीवन की हर दिशा में हम देखते हैं कि आसपास की इन्हीं स्थितियों के अनुसार आचरण करना जीवन का चिह्न है, जिसकी ही अभिव्यक्ति हमारी अनुभूति, विचारशक्ति और कर्तृत्व-शक्ति के रूप मे होती रहती है। किन्तु यह सारी अनुभूति, विचारशक्ति और कर्तृत्व-शक्ति आती कहाँ से है, इनका केन्द्र कहाँ है?

आपने मरे हुए प्राणियों को देखा होगा। उनके हाथ-पैर, अंग-प्रत्यग सब कुछ जीवित प्राणियों की तरह ही होते हैं। पर उनमें अनुभूति नहीं होती। विचार-शक्ति नहीं होती। गति अथवा कर्तृत्व-शक्ति नहीं होती। जीवित प्राणियों पर यदि कोई सामने से डंडा ताने, तो वे अवश्य उसका प्रतिकार करेंगे। या तो वे भागेंगे या प्रत्याक्रमण करेंगे, पर मृत प्राणी ऐसा नहीं कर सकते। जीवित प्राणी के शरीर में अगर कोई कहीं सुई चुभावे तो या तो वह वहाँ से टल जायगा या प्रतिकार करेगा, पर मृत प्राणी ऐसा नहीं कर पाता, इसलिये कि उसकी प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष इच्छित और अनिच्छित, दोनों तरह की अनुभूति, विचार-शक्ति और कर्तृत्वशक्ति मर चुकी हुई होती है। इससे आगे बढ़कर यदि आप किसी सोये हुए प्राणी को देखें तो डंडा तानने पर तो वह प्रतिकार नहीं करेगा, पर सुई चुभाने पर अवश्य प्रतिकार करेगा, क्योंकि उसकी प्रत्यक्ष और इच्छित अनुभूति, विचार-शक्ति तथा कर्तृत्व-शक्ति मात्र ही इस समय उसमें मौजूद नहीं है। इसके विपरीत एक चलते-फिरते और जागते प्राणी पर यदि डंडा ताना जाय तब भी वह प्रतिवाद और प्रतिकार करेगा और चुपके से सुई चुभाई जाय तब भी प्रतिकार करेगा, क्योंकि उसकी इच्छित-अनिच्छित, प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष हर तरह की अनुभूति, विचार-शक्ति और कर्तृत्वशक्ति जागरूक रहती है, जीवित रहती है। पर ऐसा क्यों? इस अनुभूति, विचारशक्ति तथा कर्तृत्वशक्ति का केन्द्र कहाँ है, उसका स्रोत कहाँ है?

हम आँख से देखते हैं कि कोई हमारे ऊपर डंडा तान रहा है, और आँखें इस ज्ञान की अनुभूति एक ऐसी इन्द्रिय को कराती हैं, जो स्थिति को सोचती है और तत्काल ही गतिशील होने या कार्य करने (Action) के लिए प्रेरणा या आज्ञा देती है, जिसके फल-स्वरूप या तो हम भागते हैं या हम भी प्रतिकार के लिये डंडा-पत्थर या अन्य कोई चीज़ उठा लेते हैं। इसी तरह अगर कोई हमारे शरीर में सुई चुभावे तो हमारी त्वचा को एक तरह की अनुभूति होगी और वह उस अनुभूति को उस इन्द्रिय तक पहुँचावेगी, जो उस पर अविलम्ब सोचेगी और हमें या तो [illegible] से टल जाने को या बदले में सुई चुभानेवाले [illegible] जमा देने अथवा काट खाने को प्रेरित करे[illegible] हम देखते हैं कि हमारी हर अनुभूति, हर [illegible]

क्रियाशीलता अथवा गतिशीलता का केन्द्र कोई ऐसी वस्तु है, जिससे हम अनुभव करते हैं, सोचते हैं। जो हमारी सारी क्रियाओं की प्रेरक है, और हमसे सारे कार्य कराती है। पर आख़िर वह क्या वस्तु है? साफ़ ही है कि वह वस्तु प्राणी के मन या मस्तिष्क के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

कहा जा सकता है कि अनुभव कर सकने, या गतिशील अथवा क्रियाशील हो सकने की इतनी शक्ति तो जानवरों में भी होती है। गदहे पर भी डंडा ताना जाय तो वह भागेगा, दुलत्तियाँ झाड़ेगा और कुत्ते के शरीर में भी यदि सुई चुभा दी जाय तो वह भागेगा या काटने दौड़ेगा; फिर जानवर के मस्तिष्क और आदमी के मस्तिष्क में अंतर ही क्या है? आदमी और जानवर के मस्तिष्क में अन्तर यह है कि आदमी का मस्तिष्क प्रगतिशील है और जानवरों का अगतिशील। इसका प्रमाण यह है कि आदमी अपनी प्रारंभिक अवस्था से उठते-उठते आज सभ्यता का शिखर लाँघने जा रहा है। वृक्षों में घोंसले बनाकर रहनेवाला यह वनचर आज महलों और बड़े बड़े नगरों का अधिवासी तथा स्वामी बन गया है, पर जानवर जिस अवस्था में आदिम युग में थे उसी अवस्था में सदियों और लाखों वर्षों से रहते आते हैं, और आज भी रह रहे हैं। मानव-मस्तिष्क की प्रगतिशीलता का एक यह भी प्रमाण है कि वह शारीरिक दृष्टि से अन्य अनेकों जीवधारियों से दुर्बल और निकृष्ट होते हुए भी आज सृष्टि के सभी प्राणियों में अधिक शक्तिशाली बना हुआ है। यदि ऐसा न होता तो आदमी जाने कब ख़त्म हो चुका होता, और एक-एक को चुनकर शेर, भेड़िये आदि हिंस्र पशु खा गये होते। पर इसके विपरीत आदमी पेड़ों से कन्दराओं और कन्दराओं से मैदानों तथा मैदानों से विशाल वैभवशाली नगरों का निवासी और अध्यक्ष बना, उसने सभ्यतायें रचीं, और वह एक नई सृष्टि का नियन्ता बन गया।

आदमी और जानवर के मस्तिष्क में यह अंतर होता है कि आदमी के मस्तिष्क में प्रत्यक्ष और परोक्ष हर तरह की अनुभूतियाँ हो सकती हैं, हर तरह का चिन्तन वह कर सकता है, पर जानवरों को केवल प्रत्यक्ष अनुभूति ही हो सकती है, प्रत्यक्ष ज्ञान ही हो सकता है। उदाहरण के लिए अगर कोई आँख के सामने ही डंडा ताने तो उसकी ... अनुभूति आदमी को भी हो सकती है और ... पर आदमी का मस्तिष्क इसके अतिरिक्त भी इतना सोच या अनुभव कर सकता है कि अमुक व्यक्ति से उसके पिता की लड़ाई थी और वह बैर उसके दिल में इतना गहरा होकर बैठा है कि वह उसे किसी समय भी मार सकता है या उसका अहित कर सकता है। आदमी यह भी बैठे-बैठे ही सोच ले सकता है कि आज चीन के नगरों पर जिस तरह जापान द्वारा बम बरसाये जा रहे हैं उसी तरह अगर हमारे नगरों पर भी कोई करे तो जीवन कितना अरक्षित हो जायगा, अथवा जब नादिरशाह ने दिल्ली में क़त्लेआम कराया था, तो आदमी किस तरह असहाय होकर मरे-कटे होंगे, आदि।

इस तरह हम देखते हैं कि आदमी का मन या मस्तिष्क वह चीज है, जिसने आज उसे अन्य जीवधारियों से ऊँचा उठा रक्खा है। मस्तिष्क ही की बदौलत आदमी अपनी प्रारम्भिक अवस्था से ऊँचे उठकर आज सभ्य बन पाया है। वह हवा में उड़ता है, समुद्र की छाती पर रौंदता हुआ चलता है, सात समुद्र पार बैठे हुए अपने मित्रों से बातचीत करता है, यहाँ तक कि उन्हें उतनी ही दूरी पर बैठे-बैठे देखने भी लगा है। उसने प्रकृति पर विजय पा ली है, वह बीमारी और मृत्यु तक पर विजय पाने को तुला बैठा है। और यह सब कुछ मस्तिष्क ही के द्वारा है। संक्षेप में मस्तिष्क वह मशीन है जिसके द्वारा आदमी सोचता है, अनुभव करता है, नतीजा निकालता है, तौलता है, आदि।

यों तो यह आश्चर्यजनक मन या मस्तिष्क हमेशा से आदमी के पास रहा है, पर उसके भी अध्ययन की ज़रूरत हो सकती है, या उसके अध्ययन का कोई महत्व भी है, यह हम विज्ञान युग के उदय के पहले नहीं जानते थे; यद्यपि दर्शन-शास्त्र के अध्ययन के सिलसिले में भारतीय ऋषियों ने मन का भी अध्ययन एक विशेष रूप और एक ख़ास हद तक किया है। पर मस्तिष्क या मन के अध्ययन को एक अलग विज्ञान के रूप में खड़ा करने का श्रेय विज्ञान-युग और आज के सामाजिक विकास को ही है। आधुनिक सामाजिक विकास ने हमें इसके प्रति विश्वस्त कर दिया है कि इस विज्ञान के—मन या मस्तिष्क के—वैज्ञानिक अध्ययन से मानव-सभ्यता में क्रान्तिकारी और हितकारी परिवर्त्तन किये जा सकते हैं। असल में इस विज्ञान के समुचित अध्ययन के बाद ही शिक्षण का कोई कार्य ठीक दिशा में चल सकता है, क्योंकि शिक्षण का अर्थ है मस्तिष्क बनाना और गढ़ना, जो सभ्यता अथवा संस्कृति का मूल है।

अब देखना है कि मनुष्य के मन या मस्तिष्क का अध्ययन किस तरह किया जा सकता है ? यद्यपि मस्तिष्क में स्थित ज्ञान-तंतुओं तथा उन्हें चेतना प्रदान करनेवाली नसों की विद्युत्-शक्ति का अध्ययन शरीर-शास्त्र का विषय है तथापि कोई भी मनोविज्ञान-शास्त्री उस विशेष अध्ययन को मनोविज्ञान के अध्ययन के दायरे से बाहर करने का साहस नहीं कर सकता। लेकिन इसके बावजूद भी मस्तिष्क कोई इस तरह की ठोस चीज़ नहीं है जिसे शरीर-शास्त्र की तरह हम चीर-फाड़कर अध्ययन करें। दिमाग़ कहीं सिर में एक जगह बन्द है, ऐसा समझने की भूल भी साधारणतया लोग करते हैं, पर सिर को चीर-फाड़कर देखने पर भी वह कहीं ठोस पदार्थ की तरह नहीं मिलेगा। मस्तिष्क-विज्ञान का अध्ययन करने के लिए उसकी गतियों तथा उसकी क्रियाओं का अध्ययन करना होता है। मनुष्य किन परिस्थितियों में क्या और कैसे सोचता है, समझता है, किस तरह तर्क करता है, कब उसे क्रोध आता है, कब उसे क्षोभ उत्पन्न होता है, किन उपादानों के उपस्थित होने पर उसके मन में स्मृति जागती है, कल्पनाएँ उठती हैं, पुलक होता है, यही बातें और यही मानसिक क्रियाएँ मनोविज्ञान अथवा मन या मस्तिष्क के विज्ञान के अध्ययन का आधार और विषय हैं।

इस विषय का अध्ययन शुरू करने के पहले यह जान लेना ज़रूरी है कि इस विज्ञान के पुराने और नवीन आचार्यों के विचारों में कितना मौलिक भेद है। प्राचीन विद्वानों (जिनमें भारतीय पंडित भी शामिल हैं) का मत है कि प्राणीमात्र में जीव होता है, जिसे आत्मा कहकर पुकारा जाता है। प्राणी में जो एक चेतना (consciousness) है, वह मात्र इस आत्मा के कारण ही है और इसी के कारण प्राणी में क्रोध, क्षोभ आदि भाव पैदा होते रहते हैं। इसके विपरीत नवीन शास्त्रकारों का मत है कि इस विज्ञान के अध्ययन में आत्मा और जीव के झमेले को खड़ा करने की कोई ज़रूरत नहीं है। आत्मवाद और अनात्मवाद मनोविज्ञान शास्त्र के नहीं, बल्कि दर्शनशास्त्र के विषय हैं। मनोविज्ञान शास्त्र का अध्ययन इन झगड़ों में पड़े बिना भी हो सकता है। कदाचित् यही कारण है कि हमारे यहाँ मनोविज्ञान का दर्शनशास्त्र में ही समावेश करते हैं, उसे अलग विज्ञान करके यहाँ नहीं माना गया है। आधुनिक मनोविज्ञान-शास्त्रियों का मत है कि प्राणियों के शरीर में स्नायु-ततुओं का एक जाल है, जिसके सहारे और जिसकी गतिशीलता के कारण चेतना उत्पन्न होती है। आँख, कान, नाक, जिह्वा, त्वचा आदि के द्वारा जो ज्ञान हमें प्राप्त होता है, वह इन्हीं स्नायु-तंतुओं के सहारे ही होता है। इसके अतिरिक्त भय, साहस, तर्क, क्रोध, क्षोभ आदि आंतरिक भावों का उदय भी इन्हीं स्नायु-ततुओं और मस्तिष्क की सम्मिलित क्रियाओं और प्रवृत्तियों के द्वारा होता है। यह विचार अधिक वैज्ञानिक और अधिक व्यावहारिक जँचता है, अतएव हम इसी विचार के अनुसार इस शास्त्र का अध्ययन करेंगे।
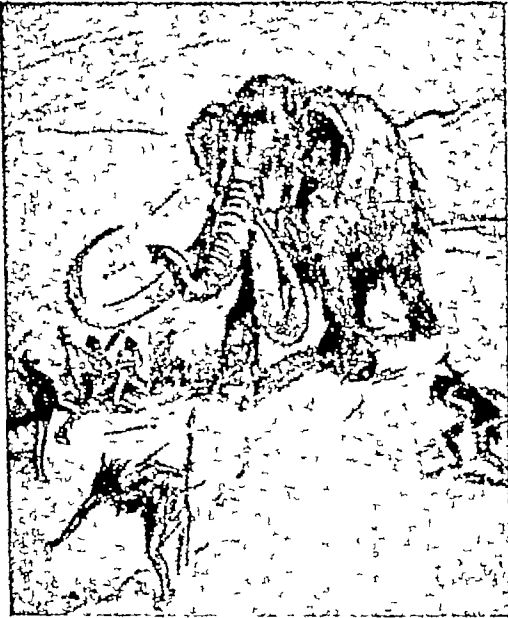
तब और अब

इतिहास के आरंभ-काल में चारों ओर से जंगली हाथियों और ख़ूँख़्वार जानवरों द्वारा त्रस्त मानव आज उन्हीं हाथियों से अपनी बेगार कराता है। किसके बल पर ? केवल अपने मस्तिष्क की देन की बदौलत।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, इस विज्ञान के अध्ययन का आधार है मन की विभिन्न क्रियायें। परन्तु प्रश्न यह है कि हमें उन क्रियाओं का बोध किस तरह होता है?

उनका बोध हमें दो प्रकार से होता है। एक तो इस तरह कि हम स्वयं अनुभव करते हैं और सोचते हैं, दूसरे इस तरह कि हम दूसरों की कई प्रकार की क्रियाओं से यह परिणाम निकालते हैं कि वह अमुक प्रकार की बात अनुभाव कर रहा है, अमुक प्रकार की मनोवृत्ति में है। किसी व्यक्ति के मस्तिष्क का सीधा ज्ञान हमें नहीं होता, पर हम उस व्यक्ति के रहन-सहन से, उसकी मुख-मुद्रा से, उसकी मुसकराहट से, उसकी त्योरियों पर बल आने से, यह परिणाम निकालते हैं कि वह क्या अनुभव कर रहा है अथवा सोच रहा है।

मान लीजिये कि आप जाड़ों की रात में कम्बल से मुँह ढके अँधेरे कमरे में सोये हुए हैं और तभी कमरे में कुछ आहट-सी मालूम होती है, और उसके द्वारा आपके कानों में एक प्रकार की अनुभूति होती है। आपको एक ऐसा ज्ञान होता है जो अनिच्छित होते हुए भी प्रत्यक्ष है, वास्तविक है। फिर आपके मन में एक जिज्ञासा पैदा होती है कि आख़िर यह किस चीज़ की आहट है? फिर आप सोचते हैं कि शायद घर का पालतू कुत्ता आ रहा है। तभी आपके मन में प्रतिवाद उठता है कि कुत्ते के पैर की आहट इतनी भारी नहीं हो सकती है और आप तर्क करने लगते हैं।

फिर सोचते हैं, शायद नौकर किसी काम से आया हो, अथवा चोर तो नहीं है? चोर का ख़याल आते ही आपके मन में एक भय का सञ्चार होता है, और साथ ही ख़याल दौड़ जाता है उस घटना की ओर कि जब गत मास आपके अमुक पड़ोसी को चोरों ने इसी तरह सोये में मारा था। फिर आपके मन में एक भाव उठता है कि उठकर देखा जाय कि क्या बात है, किस चीज़ की आहट है? इस तरह आपके शरीर के समूचे स्नायु-जाल और स्नायु-तंतुओं में एक चेतना-प्रवाह, एक जागरूकता की लहर सी फैल जाती है और आप उस आहट के संभव कारण का निश्चय करने के विचार से अपनी चित्तवृत्तियों को एकाग्र करने की कोशिश करते हैं, पर आपकी कल्पना इधर से उधर फिरती रह जाती है और आप किसी निर्णय पर नहीं पहुँच पाते हैं। तब आपकी इच्छा-शक्ति आपको प्रेरणा देती है कि उठकर देखा ही जाय। अंत में आप साहस के साथ झट से उठते हैं और आपके ज्ञान-तंतु आपसे बिना किसी पूर्व-[illegible] के ही एक स्वाभाविक निर्णय कराते हैं और आपका हाथ फ़ौरन ही स्विच की तरफ़ बढ़ जाता है। आप स्विच दबा देते हैं, जिससे तत्काल ही कमरे में प्रकाश फैल जाता है।

रोशनी होने पर आप पाते हैं कि यह तो वही बुड्ढा है, जिसके लड़के को आपने गत वर्ष जज की हैसियत से फाँसी की सज़ा दी थी! इस तरह आपको एक ऐसा ज्ञान आँखों के द्वारा होता है, जो प्रत्यक्ष होने के साथ-ही-साथ इच्छित भी है। तब आपकी स्मृति में उस मुक़दमे के दौरान की बहुतेरी बातें आने लगती हैं। इतने में आप उसके हाथ में एक चमकता हुआ छुरा भी देखते हैं, देखते ही आप में एक भयाकुल वृत्ति पैदा होती है और आप काँप उठते हैं। पर तत्काल ही आप एक साहसिक निर्णय करके उस पर टूट पड़ते हैं, और वह वार करे-न-करे कि आप छुरा उसके हाथ से छीन लेते हैं।

इसके बाद उस विफल-मनोरथ बूढ़े आदमी में एक स्वाभाविक प्रतिक्रिया पैदा होती है और उसके मन की बदले की भावना पराजय और निराशा की भावना में बदल जाती है। वह अपने फाँसी पाये हुए पुत्र से सम्बन्ध रखनेवाले स्मृति-प्रेरक शब्द चिल्ला-चिल्लाकर रोने लगता है। आपके मन में भी प्रतिक्रिया होती है और एक-एक बात को याद करके आप अपने फाँसी की सज़ा देनेवाले काम पर मन ही मन पश्चात्ताप करने लगते हैं।

अब इन सारी बातों पर ग़ौर कीजिए कि ये सब क्या हैं? इन सारी बातों से हमें मन की विभिन्न दशाओं और विभिन्न क्रियाओं का बोध होता है। यही क्रियाएँ हमारे अध्ययन की भूमि हैं, विषय हैं और उपकरण हैं। इन्हीं को हम आगे चलकर लम्बे-लम्बे पारिभाषिक शब्दों की सीमा में बाँधकर देखेंगे। जिस तरह व्याकरण-शास्त्र का विषय है शब्द, अंक-शास्त्र का अंक, तर्क-शास्त्र का वाक्य, उसी तरह हमारे इस विज्ञान का विषय है मन। इस विज्ञान के अध्ययन से हम जान पाते हैं कि अमुक विचार, अमुक भावना हमारे मन में क्यों पैदा हुई, उसके पहले कौन विचार या कौन भावनायें हमारे मन में चक्कर काट रही थीं, फिर किस क्रम से अन्य विचार और भावनायें आयीं। उन सबमें क्या सम्बन्ध है? अथवा कोई सम्बन्ध है ही नहीं? इत्यादि-इत्यादि।

इन्हीं बातों का वैज्ञानिक अध्ययन मनोविज्ञान कहलाता है। अगले प्रकरणों में इसी स्तंभ में हम क्रमशः विस्तारपूर्वक इस विषय की आरंभिक बातों को लेकर इसका अध्ययन आरंभ करेंगे।

सामाजिक या आर्थिक जीवन का श्रीगणेश

मनुष्य को प्रकृति ने एकाकी नहीं बनाया—वह स्वभाव ही से एक सामाजिक जीव है। इस स्तंभ में उसके जीवन के इसी पहलू—उसके सामाजिक रूप—की विवेचना क्रमशः की जायगी।

व्यक्ति के रूप में मनुष्य के दो पहलू—शरीर और मस्तिष्क—का अध्ययन हम पिछले दो स्तंभों में कर चुके। अब इस विभाग में हमें उसके सामूहिक स्वरूप का दिग्दर्शन करना है, क्योंकि मूल रूप में मनुष्य एक सामाजिक जीव है। आज दिन हमारी जो सभ्यता है, वह किसी एक व्यक्ति के परिश्रम का फल नहीं है, वरन् सारी मानव जाति के सामुहिक प्रयत्न का परिणाम है। हमारा आज का जीवन हमारी इस सामूहिक एकता का सबसे बढ़िया उदाहरण है। यदि मनुष्य का सामाजिक रूप बिल्कुल मिट जाय तो हमारी यह सभ्यता की इमारत एकबारगी ही ताश के महल की तरह ढह पड़ेगी। आज दिन हम सब सामुहिक रूप से एक-दूसरे की आवश्यकता-पूर्ति में लगे हैं—हमारे कल-कारख़ाने, बाज़ार, रेल और जहाज़, सड़कें, नगर, म्युनिसिपैलिटियाँ, शासन-सत्ताएँ आदि हमारे इस जटिल आर्थिक जीवन के ही भिन्न-भिन्न रूप हैं। वह कौन-सी अद्भुत व्यवस्था है जिसके अधीन रोज़ सुबह दूधवाला हमारे यहाँ दूध, अख़बारवाला अख़बार, डाकिया चिट्ठी-पत्री, और फेरी वाला खाने-पीने का सामान दे जाता है? किस व्यवस्था के अनुसार माता-पिता अपने बालकों को पालते पोसते, परिवार का स्वामी अपने परिवार के व्यक्तियों के लिए कमाकर लाता, मज़दूर हज़ारों की संख्या में जुटकर तरह-तरह की चीज़ें कल कारख़ानों और खेतों में उत्पादन करते, और वे चीज़ें संसार के एक कोने से दूसरे कोने तक मानों जादू की लकड़ी घुमाते ही पहुँच जाती है? समाज क्या है, किस तरह मनुष्य के सामाजिक जीवन का विकास हुआ? परिवार क्या वस्तु है? स्त्री और पुरुष का क्या संबंध है? रीति-रिवाज़ और सामाजिक रूढ़ियों का कैसे जन्म हुआ? किस प्रकार राज्यों और शासन-तंत्रों का विकास हुआ? आज दिन जिनकी चर्चा हमारे दैनिक जीवन का एक अंग-सी बन गई है, वे साम्राज्यवाद और पूँजीवाद क्या हैं? मनुष्य-जाति सामूहिक रूप से किस लक्ष्य की ओर बढ़ रही है, आदि-आदि, महत्त्वपूर्ण बातों की जिज्ञासा होना हमारे लिए स्वाभाविक है। इस स्तंभ में हम इन्हीं बातों पर विचार करेंगे।

मनुष्य ने सामुहिक रूप में शिकार खेलना या पशु पालना आरम्भ करके अपनी भावी सामाजिक या आर्थिक जीवन की नींव डाली, इसके बहुत पहले ही से उसके आर्थिक विकास की प्रारंम्भिक दशा से मिलती-जुलती अवस्थाएँ कई छोटे-छोटे अन्य जीवधारियों के जीवन में मौजूद थीं। चींटी उनमें से एक है। यह पाया गया है कि चींटियों में बहुत पहले से मिलकर आखेट करने तथा सामाजिक व्यवस्था बाँधकर रहने की दशा का विकास हो गया था। चींटियों की जातियाँ अपने पूर्वजों के बनाये हुए निवासस्थान को पैतृक सम्पत्ति की तरह ग्रहण करती थीं और निर्माण किये हुए निवासस्थान, चारागाह, तथा आखेट-स्थान के लिए परस्पर युद्ध भी करती थीं। बहुधा यह भी देखा गया है कि चींटियों के समूह युद्ध की आकांक्षा करनेवाली सेना लेकर बन्दियों को पकड़ने के लिए भी जाते थे। इसी प्रकार [illegible] के झुंड भी आपस में मिलकर अच्छा शिकार कर लेते थे और अपने से अधिक बली तथा बड़े जानवरों को भी परास्त कर देते थे। स्थान से दूसरे स्थान पर भ्रमण करनेवाले [illegible]

में भी उनकी नियमित ऋतु-सम्बन्धी सुदूर यात्राओं में पारस्परिक सहयोग, नेतृत्व तथा संगठन का अच्छा परिचय मिलता है। इसी प्रकार मकड़ियों की कुछ जातियाँ मिलकर कताई व बुनाई का कार्य अच्छा करती हैं। इन जन्तुओं की प्राचीन काल से विकसित कलाएँ अब भी कभी-कभी किसी-किसी बात में मनुष्यों के नियमित आर्थिक प्रयत्नों से उच्च तथा श्रेष्ठ सिद्ध होती हैं। चींटियों और अन्य छोटे जन्तुओं के आर्थिक जीवन में सामुहिक प्रकार से कार्य करने की सुन्दर प्रणाली, तथा समाज-संगठन इतने उच्च श्रेणी के हैं कि उन्हें मनुष्य-समाज में प्रचलित करने के लिए बहुत-से समाज-सुधारकों को हताश होना पड़ा है।

यह बताना कठिन है कि मनुष्य के सामाजिक जीवन का प्रारंभ आज से कितने वर्ष पूर्व हुआ होगा। किन्तु इसमें संदेह नहीं कि चूँकि मनुष्य स्वभाव ही से एक सामाजिक जीव है, अतएव उसके भावी आर्थिक विकास के सूक्ष्म बीज उसके प्रत्येक कार्य और प्रवृत्ति में आरंभ ही से रहे होंगे। मनुष्य को केवल चीज़ों का बनाना और उनका उपयोग करना ही नहीं, वरन् उनको बचाकर भविष्य के लिए जमा करना भी आता था। उसके खेती करने, कपड़ा बुनने और छोटे-छोटे उद्योगों के सादे औज़ार, उनके पालतू पशु और जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक अन्य पदार्थ अब परिवार के अन्य सामान के साथ इकट्ठा किये जाने लगे।

मनुष्य के आर्थिक जीवन का आरंभ

नुकीले दाँतोंवाले मैमथ हाथी, गैंडे, सिंह आदि से रक्षा तथा जीवन-निर्वाह के लिए मृग, सूअर आदि जंतुओं के शिकार की आवश्यकता ने इतिहास के आरंभकाल ही में मनुष्य को पारस्परिक सहयोग का पाठ पढ़ाकर; एक-समूह बाँधकर रहने ... कर दिया। इस प्रकार आज की हमारी जटिल सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था की नींव पड़ी।

क्रमशः यही मनुष्य की स्थायी सामाजिक सम्पत्ति हो गई, जिसने भोजन प्राप्त करने और इसे बचाकर रखने में उसे सुगमता प्रदान की और जिसके कारण अपने निवासस्थान की रक्षा करना उसके लिए अनिवार्य हो गया। मनुष्य के परिवार की संख्या अब बढ़ सकती थी। इस प्रकार धीरे-धीरे परिवार सम्बन्धी जनसमूह अथवा जाति में परिवर्तित हो गया।

गृहस्थी के सामान की ओर जाति और सम्बन्धी जनों की सामूहिक अथवा व्यक्तिगत सम्पत्ति का भाव उत्पन्न हुआ और यह भाव यहाँ तक ही सीमित न रहा। पृथ्वी के भागों पर भी अधिकार समझा जाने लगा और इस अधिकार को सुरक्षित रखने की चेष्टा भी होने लगी। समाज के भाव से प्रेरित जन्तुओं और झुण्ड में रहनेवाले पशुओं की अनेक जातियों, जैसे चरागाह के मैदानों में रहनेवाले कुत्तों और उदबिलाव इत्यादि, की स्थायी सामाजिक वस्तुओं और उनकी जुटाई हुई पैतृक सम्पत्ति ने उन्हें सांसारिक संघर्ष में सफल होने में बहुत सहायता दी है। किन्तु ऐसे पशुओं की उक्त प्रकार की सम्पत्ति एक ही विशेष प्रकार की और अस्थायी होती थी; परन्तु मनुष्य की सामाजिक सम्पत्ति बहुत प्रकार की और अधिक स्थायी है और इस सम्पत्ति को घोर संघर्ष होते हुए भी स्थायी बनाये रक्खा गया है।

मनुष्य केवल औज़ार बनानेवाला ही नहीं वरन् परिस्थितियों के अनुसार औज़ार बदलनेवाला पशु भी है। उसके औज़ारों का भिन्न-भिन्न प्रकार के कार्यों में प्रयोग किया जा सकता है। हिरन के टूटे हुए सींग, हल, ट्रैक्टर, पहिये की गाड़ी, बैलगाडी, मोटर, और हवाई जहाज़—सबका ही मनुष्य ने युग-युग में विविध परिस्थितियों में प्रयोग किया है। पृथ्वी के अनेक भागों की विभिन्नता और उनकी विशेषताओं के अनुरूप मनुष्य के आर्थिक जीवन के परिवर्त्तन के साथ-साथ इन नाना प्रकार के औज़ारों का रूप और कार्य भी आवश्यकतानुसार बदला है। क्रमशः वनों से चरागाहों, चरागाहों से उपजाऊ मैदानों और नदियों के मुहानों के आसपास की भूमि तक के कष्टप्रद भ्रमण ने मनुष्य के लिए भिन्न-भिन्न आर्थिक परिस्थितियाँ उपस्थित कीं, जिनके अनुसार उसे अपना आर्थिक कार्यक्रम समय समय पर बदलना पड़ा और उसको पूरा करने के लिए नवीन तथा उपयोगी औज़ार बनाने पड़े।

इन प्रयोगों से मनुष्य को अनेक लाभदायक अनुभव प्राप्त हुए और उनके फलस्वरूप अनेक प्रथाएँ, विश्वास और संस्थाएँ पैदा हो गईं। मनुष्य की चेष्टाओं

संपत्ति को बचाकर जमा करने की मनुष्य की आदिम और वर्त्तमान प्रवृत्ति

जिसके फलस्वरूप उसके सामाजिक जीवन में आर्थिक असमानता ने दृढ़ नींव जमा ली है। ऊपर के चित्र में एक ओर आदिम अवस्था में रहनेवाली जंगली जातियों की और दूसरी ओर सभ्य संसार की आज की बड़ी-बड़ी बखारें हैं, जो मनुष्य की सामाजिक व्यवस्था की तह में जड़ जमाये हुए उपरोक्त मनोवृत्ति के मूर्तिमान प्रतीक के समान हैं।

में भी उनकी नियमित ऋतु-सम्बन्धी सुदूर यात्राओं में पारस्परिक सहयोग, नेतृत्व तथा संगठन का अच्छा परिचय मिलता है। इसी प्रकार मकड़ियों की कुछ-जातियाँ मिलकर कताई व बुनाई का कार्य अच्छा करती हैं। इन जन्तुओं की प्राचीन काल से विकसित कलाएँ अब भी कभी-कभी किसी-किसी बात में मनुष्यों के नियमित आर्थिक प्रयत्नों से उच्च तथा श्रेष्ठ सिद्ध होती हैं। चींटियों और अन्य छोटे जन्तुओं के आर्थिक जीवन में सामुहिक प्रकार से कार्य करने की सुन्दर प्रणाली, तथा समाज-संगठन इतने उच्च श्रेणी के हैं कि उन्हें मनुष्य-समाज में प्रचलित करने के लिए बहुत-से समाज-सुधारकों को हताश होना पड़ा है।

यह बताना कठिन है कि मनुष्य के सामाजिक जीवन का प्रारंभ आज से कितने वर्ष पूर्व हुआ होगा। किन्तु इसमें संदेह नहीं कि चूँकि मनुष्य स्वभाव ही से एक सामाजिक जीव है, अतएव उसके भावी आर्थिक विकास के सूक्ष्म बीज उसके प्रत्येक कार्य और प्रवृत्ति में आरंभ ही से रहे होंगे। मनुष्य को केवल चीज़ों का बनाना और उनका उपयोग करना ही नहीं, वरन् उनको बचाकर भविष्य के लिए जमा करना भी आता था। उसके खेती करने, कपड़ा बुनने और छोटे छोटे उद्योगों के सादे औज़ार, उनके पालतू पशु और जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक अन्य पदार्थ अब परिवार के अन्य सामान के साथ इकट्ठा किये जाने लगे।

मनुष्य के आर्थिक जीवन का आरंभ

नुकीले दाँतोंवाले मैमथ हाथी, गैंडे, सिंह आदि से रक्षा तथा जीवन-निर्वाह के लिए मृग, सूअर आदि जंतुओं के शिकार की आवश्यकता ने इतिहास के आरंभकाल ही में मनुष्य को पारस्परिक सहयोग का पाठ पढ़ाकर, एक-समूह बाँधकर रहने . कर दिया। इस प्रकार आज की हमारी जटिल सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था की नींव पड़ी।

क्रमशः यही मनुष्य की स्थायी सामाजिक सम्पत्ति हो गई, जिसने भोजन प्राप्त करने और इसे बचाकर रखने में उसे सुगमता प्रदान की और जिसके कारण अपने निवासस्थान की रक्षा करना उसके लिए अनिवार्य हो गया। मनुष्य के परिवार की संख्या अब बढ़ सकती थी। इस प्रकार धीरे-धीरे परिवार सम्बन्धी जनसमूह अथवा जाति में परिवर्तित हो गया।

गृहस्थी के सामान की ओर जाति और सम्बन्धी जनों की सामूहिक अथवा व्यक्तिगत सम्पत्ति का भाव उत्पन्न हुआ और यह भाव यहाँ तक ही सीमित न रहा। पृथ्वी के भागों पर भी अधिकार समझा जाने लगा और इस अधिकार को सुरक्षित रखने की चेष्टा भी होने लगी। समाज के भाव से प्रेरित जन्तुओं और झुण्ड में रहनेवाले पशुओं की अनेक जातियों, जैसे चरागाह के मैदानों में रहनेवाले कुत्तों और ऊदबिलाव इत्यादि, की स्थायी सामाजिक वस्तुओं और उनकी जुटाई हुई पैतृक सम्पत्ति ने उन्हें सांसारिक संघर्ष में सफल होने में बहुत सहायता दी है। किन्तु ऐसे पशुओं की उक्त प्रकार की सम्पत्ति एक ही विशेष प्रकार की और अस्थायी होती थी; परन्तु मनुष्य की सामाजिक सम्पत्ति बहुत प्रकार की और अधिक स्थायी है और इस सम्पत्ति को घोर संघर्ष होते हुए भी स्थायी बनाये रक्खा गया है।

मनुष्य केवल औजार बनानेवाला ही नहीं वरन् परिस्थितियों के अनुसार औज़ार बदलनेवाला पशु भी है। उसके औज़ारों का भिन्न-भिन्न प्रकार के कार्यों में प्रयोग किया जा सकता है। हिरन के टूटे हुए सींग, हल, ट्रैक्टर, पहिये की गाड़ी, बैलगाडी, मोटर, और हवाई जहाज़—सबका ही मनुष्य ने युग-युग में विविध परिस्थितियों में प्रयोग किया है। पृथ्वी के अनेक भागों की विभिन्नता और उनकी विशेषताओं के अनुरूप मनुष्य के आर्थिक जीवन के परिवर्त्तन के साथ-साथ इन नाना प्रकार के औज़ारों का रूप और कार्य भी आवश्यकतानुसार बदला है। क्रमश. वनों से चरागाहों, चरागाहों से उपजाऊ मैदानों और नदियों के मुहानों के आसपास की भूमि तक के कष्टप्रद भ्रमण ने मनुष्य के लिए भिन्न-भिन्न आर्थिक परिस्थितियाँ उपस्थित कीं, जिनके अनुसार उसे अपना आर्थिक कार्यक्रम समय समय पर बदलना पड़ा और उसको पूरा करने के लिए नवीन तथा उपयोगी औज़ार बनाने पड़े।

इन प्रयोगों से मनुष्य को अनेक लाभदायक अनुभव प्राप्त हुए और उनके फलस्वरूप अनेक प्रथाएँ, विश्वास और संस्थाएँ पैदा हो गईं। मनुष्य की चेष्टाओं

संपत्ति को बचाकर जमा करने की मनुष्य की आदिम और वर्त्तमान प्रवृत्ति

जिसके फलस्वरूप उसके सामाजिक जीवन में आर्थिक असमानता ने दृढ़ नींव जमा ली है। ऊपर के चित्र में एक ओर आदिम अवस्था में रहनेवाली जंगली जातियों की और दूसरी ओर सभ्य संसार की आज की बड़ी-बड़ी बखारें हैं, जो मनुष्य की सामाजिक व्यवस्था की तह में जड़ जमाये हुए उपरोक्त मनोवृत्ति के मूर्तिमान प्रतीक के समान हैं।

को इन अनुभवों से बहुत लाभ और सहायता मिली। पशुदेव का पूजन, पवित्र अग्नि का उपयोग, सूर्य-चन्द्रमा की आराधना आदि कार्य अधिकांश सभ्यताओं के अंग बन गये

इसी प्रकार घोड़े, बैल और पृथ्वी की आराधना का भी सभ्यताओं में समावेश हो गया। मनुष्य के बनाये हुए औज़ार और मकान आदि अब इतने अधिक शक्तिशाली और सुखप्रद हो गये कि वह धीरे-धीरे भूभाग के प्राकृतिक प्रतिबन्धनों से मुक्त हो गया। अब उसकी सभ्यता अधिकाधिक मिश्रित हो चली। जलवायु और भोजन, स्पष्ट अथवा अस्पष्ट रूप से, मनुष्य के मस्तिष्क के आकार-प्रकार, देह के रंग और जाति की विशेषताओं पर गहरा प्रभाव डालते हैं। जातियों के परस्पर मिश्रण से मनुष्य की जातीय विशेषताएँ इतनी घट-बढ़ जाती हैं कि उसके आदिम स्वरूप को निश्चित रूप में पहचानना भी कठिन हो जाता है। दूसरी ओर, जातियों में पारस्परिक विवाह-सम्बन्ध कभी-कभी शारीरिक तथा मानसिक विकास में भी सहायक हो जाते हैं। और यही विकास साहसपूर्ण चेष्टा, आविष्कार और अन्वेषण की जड़ है। इन्हीं से उत्तेजना और बल पाकर मनुष्य पृथ्वी के ऊपर आर्थिक प्रभुत्व स्थापित करने के लिए अग्रसर होता है। मनुष्य के दो विशेष आविष्कार जिनका कि परिणाम उसके जीवन पर बहुत प्रभावशाली हुआ है केवल उदाहरण के लिए यहाँ लिखे जा सकते हैं। पहला दक्षिणी-पश्चिमी एशिया के रहनेवाले चरवाहों द्वारा ईसा से पूर्व तीसरी सहस्राब्दी के मध्यकाल में घोड़े पर विजय पाना और दूसरा ईसा के बाद उन्नीसवीं शताब्दी में उत्तरी-पश्चिमी योरप के निवासियों द्वारा उन्हें युद्ध में विजय देनेवाले भाप से चलने के जहाज़ों का आविष्कार। संसार में मनुष्य-जाति के बड़े-बड़े समूहों का भ्रमण, आर्थिक तथा राजनीतिक उथल-पुथल, और अन्य अनेक महत्त्व-पूर्ण सामाजिक परिवर्तन इनके ही द्वारा हुए हैं।

मनुष्य की आधुनिक सभ्यता में शिकारी का बल और पराक्रम, चरवाहों की संगठित कार्य-शैली और वाटिका के माली का परिश्रम और दूरदर्शिता मिश्रित है। आज के व्यापार और उद्योग के क्षेत्र में पुराने समय जैसा विशेष वर्ग के व्यक्तियों का भिन्न-भिन्न नौकरियों और व्यवसायों पर आधिपत्य है।

मनुष्य का आर्थिक जीवन अन्य पशुओं के जीवन की [illegible] अधिक पेचीदा और सुसंगठित है। इन पेचीदी सामाजिक व्यवस्था में मनुष्य की व्यक्तिगत उन्नति और समाज-संगठन, दोनों ही, एक साथ संभव है।

परन्तु भारतवर्ष की तरह जहाँ जाति और वर्ग की भिन्नता के कारण परस्पर विवाह-सम्बन्ध वर्जित है और जहाँ बहुत बड़ी जनसंख्या आर्थिक और सामाजिक उन्नति के सुअवसरों से वञ्चित है, वहाँ सम्पूर्ण समाज की आर्थिक सम्पत्ति प्रत्येक मनुष्य को लभ्य नहीं है और न वहाँ मनुष्य अन्य जन्तुओं की तरह सबके सम्मिलित परिश्रम से उपार्जित धन-राशि अथवा कमाई का लाभ समाज के प्रत्येक व्यक्ति में वितरण करने ही को राज़ी होता है। भारतवर्ष का परम्परागत जतिभेद आज मनुष्य की सामाजिक एकता को निर्बल कर रहा है। इसी प्रकार आजकल की दूषित आर्थिक व्यवस्था में अविवाहित बालिकाएँ और विधवा स्त्रियाँ एक बड़ी संख्या में औद्योगिक कारख़ानों और अन्य व्यवसायों में काम करती हैं, जहाँ प्रति दिन का कठोर परिश्रम और कार्य-विशेषज्ञता उन्हें अपने मातृत्व या पत्नित्व को समाज की वेदी पर बलिदान करने के लिए बाध्य कर देती है। यह इस बात का उदाहरण है कि किस तरह कार्यनिपुणता और विशेषज्ञता शारीरिक और सामाजिक उन्नति की हानि पर होती है।

आज इस नवीन आर्थिक समाज में महाजन और पूँजीपति पुरातन काल के शिकारी मनुष्य की मनो-वृत्ति से अपने को वंचित नहीं कर सके हैं। वास्तव में वे इन्हीं लोगों का प्रतिनिधित्व आज के समाज में कर रहे हैं। पुराने समय के शिकारी मनुष्य का सम्पत्ति बचाकर रखने का भाव, उसकी चतुरता और अधिकार जताने अथवा अनुचित लाभ उठाने की मनोवृत्ति ने आज सामाजिक विरोध उत्पन्न कर दिया है और यह भाव आज मनुष्य की नई आर्थिक उन्नति में बाधक हो रहा है। मनुष्य अब एक समान असंख्य पदार्थों को पैदा करनेवाले बड़े और बहुमूल्य यंत्रों पर प्रभुत्व कर रहा है। और उन्हे अपने वर्ग-लाभ के लिए कार्य में लाता है, जिससे वर्ग-विशेष और समस्त समाज के हित में घोर असमानता पैदा हो गई है।

यदि मनुष्य को आर्थिक उन्नति की ओर अग्रसर होना है तो उसे अपना समाज-संगठन सामूहिक हित और न्याय की नींव पर करना चाहिए, जिसमें व्यक्ति द्वारा व्यक्ति के शोषण का अंत हो जाय और प्रत्येक व्यक्ति सब के हित ही अपना कल्याण समझे।
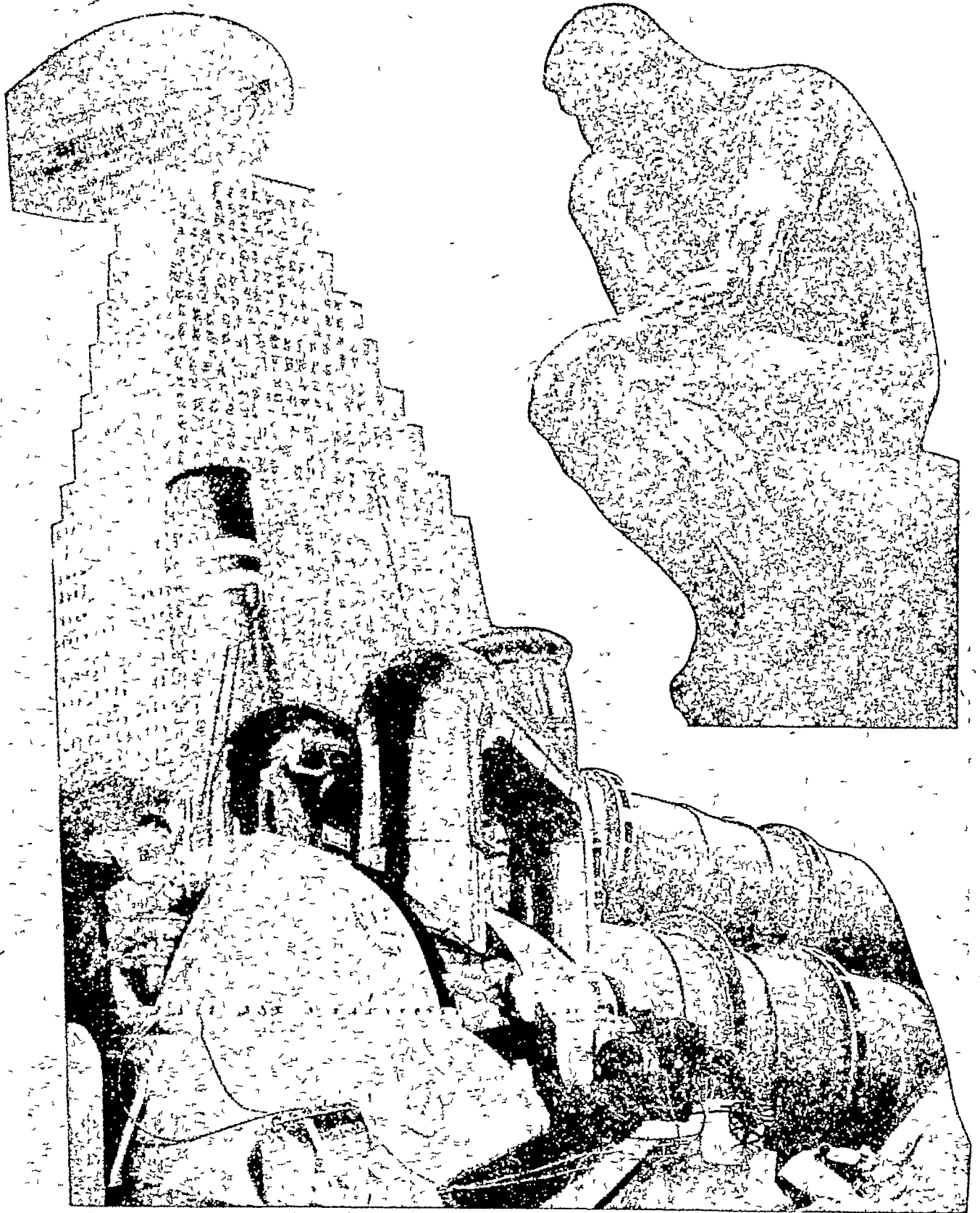
मनुष्य और उसकी विज्ञानमय यंत्र-सृष्टि
जो क्रमशः आर्थिक असाम्य और वर्ग-शोषण के शस्त्र का रूप ग्रहण करती हुई मानव के लिए वरदान के बदले क्रूर अभिशाप-स्वरूप होती जा रही है।

दस लाख वर्ष पूर्व का हमारा पूर्वज

प्राचीन मनुष्य की खोपड़ियाँ मिली हैं, उनमें सबसे पुरानी विद्वानों द्वारा दस लाख वर्ष की मानी जाती है।

मनुष्य की लंबी यात्रा का आरंभ

मनुष्य का इतिहास उसकी यात्रा का इतिहास है। आज जब हम युगों और महाकल्पों को लाँघकर चली आ रही अपने इतिहास की टेढ़ी-मेढ़ी पगडंडी को घूमकर देखते हैं, तो कुछ ही हज़ार या लाख साल पीछे तक नज़र दौड़ा पाते हैं, उसके बाद वह पगडंडी निरंतर क्षीण होते-होते प्रागैतिहासिक युग के धुँधलेपन में लीन हो जाती है। किंतु इससे क्या? हमारी यात्रा का आरंभ तो निस्संदेह आज से लाखों वर्ष पहले हुआ होगा। अनादि काल से जिस पगडंडी पर हम चलते चले आ रहे हैं, उसके किनारे-किनारे के हमारे युग-युग के पड़ावों के जो थोड़े-बहुत ध्वंसावशेष आज दिन हमें मुड़कर देखने पर मिलते हैं, वे हमें विगत युगों की कैसी अद्भुत कहानी सुना रहे हैं?

यद्यपि वैज्ञानिकों ने तरह-तरह की खोजें कीं और अटकल लगाये, किन्तु अभी तक कोई दावे के साथ यह नहीं सिद्ध कर सका कि अब तक पृथ्वी की कितनी आयु बीत चुकी है। अधिकांश वैज्ञानिकों का मत है कि पृथ्वी को प्रकट हुए चालीस करोड़ से पन्द्रह करोड़ वर्ष बीत चुके। पृथ्वी पर जीव का प्रस्फुरण लगभग तीन करोड़ वर्ष हुए, सबसे पहले उथले जल अथवा दलदलों में हुआ था। उस समय जीवधारी का स्वरूप चिपचिपे जलकीट की तरह हुआ। इन्हीं से आगे चलकर मेंढक आदि निकले। बहुत समय बीतने पर जीव को रेंगनेवाले और सरककर चलनेवाले जन्तुओं का शरीर मिला। इस समय वनस्पतियों की भी उत्पत्ति हो चुकी थी, जिनसे आगे चलकर घने जंगल हो गये। इन्हीं जंगलों में पतंगों और उड़नेवाले कीटों का जन्म हुआ। इनके बाद पशुओं की उत्पत्ति हुई। पशुओं के लाखों भेद थे। उन्हीं में से बंदर भी थे। बन्दरों की अनेक जातियाँ हैं। बाज़-बाज़ बन्दरों—जैसे चिम्पैंज़ी, गोरिला, एप आदि—की शरीर-रचना मनुष्य की शरीर-रचना से इतनी मिलती-जुलती है कि कुछ लोगों की राय में उन्हीं से मनुष्य का विकास हुआ। आदि वानरों को मनुष्य की तरह पत्थर, लकड़ी, लताओं और पत्तियों से काम लेने का ढंग मालूम हो चला था। मनुष्य के शरीर के समान शरीरवालों के चिह्नों का अब तक जो पता लगता है, उससे अनुमान किया जाता है कि शायद मनुष्य की उत्पत्ति अब से लगभग दस लाख वर्ष पहले हुई। चीन में एक मनुष्य की-सी खोपड़ी मिली है, जिसे लोग दस लाख वर्ष की पुरानी मानते हैं। जावा में प्राप्त खोपड़ी की आयु चार लाख पचहत्तर हज़ार वर्ष की आँकी गई है। जर्मनी की सबसे पुरानी खोपड़ी तीन लाख वर्ष की है। फ्रांस और इंगलैंड में जो खोपड़ियाँ मिली हैं वे एक लाख पचीस हज़ार वर्ष से लेकर दस हजार वर्ष की हैं।

भूगर्भवेत्ताओं के अनुसार पृथ्वी का पिछला जीवन कई युगों में विभक्त किया जाता है। इनमे एक युग ऐसा है, जिसका पृथ्वी पर बर्फ के पड़ने से आरम्भ होता है। बर्फ के युग के उन्होंने कई भाग किये हैं, जिनमें सबसे पहला अब से पाँच लाख वर्ष के पहले माना जाता है; और सबसे आखिरी (चौथे) का आरम्भ अब से पचास या पचीस हज़ार वर्ष पहले हुआ था। आजकल वही युग चल रहा है। इस गणना के अनुमार मनुष्य बर्फ के युग के आरम्भ से ही चला आ रहा है। अधिकतर विद्वानों का मत है कि मनुष्य सबसे पहले एशिया में ही पैदा हुआ, किन्तु मतभेद इस बात मे है कि वह एशिया के किस भाग में उत्पन्न हुआ।

यह ध्यान रखना चाहिए कि पृथ्वी का आजकल है, वह हमेशा से ऐसा ही न-

चीन में मिली आदि मानव की खोपड़ी
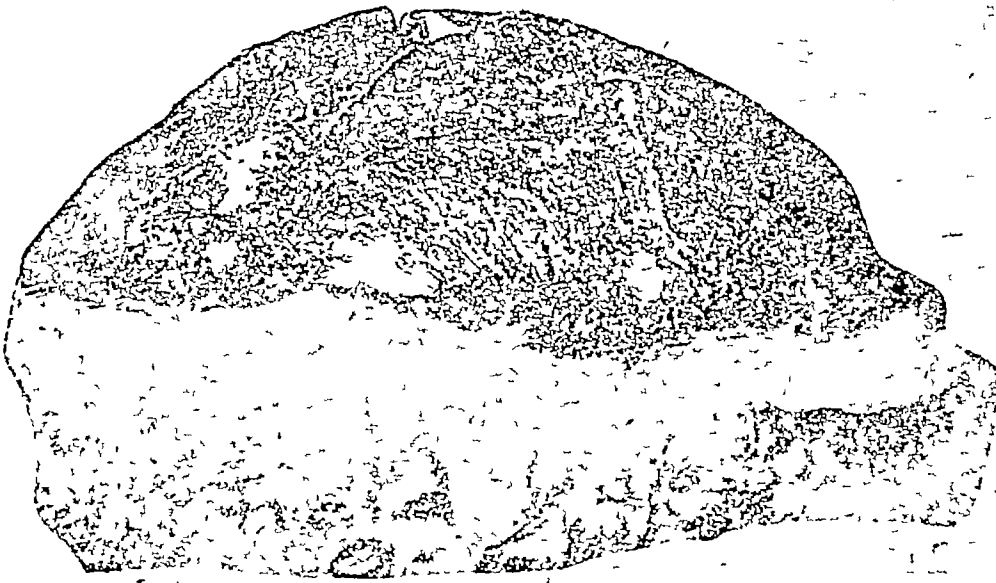
जो दस लाख वर्ष पुरानी मानी जाती है। यह पेकिंग के समीप मिली थी। (नीचे के चित्र में) उक्त खोपड़ी के आधार पर १० लाख वर्ष पूर्व के मनुष्य के पुरखे के रूप की कल्पना।

अनेक फेरफार हो चुके हैं। उदाहरण के लिए एक ऐसा समय था जब कि जावा, सुमात्रा, मलय अन्तरीप एक साथ मिले हुए थे। एशिया, अफ्रीका, योरप आपस में मिले हुए थे। अब से तीस हज़ार वर्ष पहले ब्रिटेन योरप से मिला हुआ था। स्पेन और इटली अफ्रीका से जुड़े हुए थे, बल्कान अन्तरीप एशिया से मिला हुआ था। उस समय सीलोन हिन्दुस्तान से जुड़ा हुआ था, सिंध प्रदेश और बंगाल का कहीं पता न था, काला समुद्र, कैस्पियन सागर और तुर्किस्तान के ऊपर का हिस्सा जल में डूबा हुआ था। कहने का सारांश यह है कि उस समय आने-जाने के रास्ते आजकल के रास्तों से भिन्न थे। इन्हीं कारणों से मनुष्य और पशु आदि बिना जलयान की सहायता के एक द्वीप से दूसरे और एक महाद्वीप से दूसरे महाद्वीप में पहुँच जाते थे।

मनुष्यों के अनेक समूह हो गये हैं। उनमें से कुछ उपजातियों का लोप हो गया है और कुछ अभी तक बहुत पिछड़ी पड़ी हैं और कुछ ने अच्छी उन्नति और सभ्यता प्राप्त कर ली है। वस्तुतः मनुष्य अन्य पशुओं से इस बात में अधिक भाग्यवान् है कि वह उन्नतिशील है और उसकी उन्नति किसी-न-किसी अंश में बराबर होती चली आ रही और हो रही है। मनुष्य अन्य पशुओं से कई बातों मे भिन्नता रखता है। पहली बात यह है कि वह सीधा खड़ा होकर दो पैरों से चलता है, दूसरी यह कि उसके हाथ और अँगूठे की रचना दूसरे ही ढंग की है। तीसरी यह कि वह और दूसरों के अनुभवों से लाभ उठा सकता है। कि वह स्मरण, मनन और चिन्तन से अपनी कृतियों को सुधार सकता तथा अपनी इच्छा की पूर्ति के लिए अनेक उपाय और साधन निकालकर अपना सुधार और उन्नति कर सकता है। पाँचवीं यह कि वह अपने विचारों और भावों को वाणी और संकेतों के द्वारा प्रकट करने की शक्ति रखता है। इन्हीं सब गुणों के कारण वह निरन्तर उन्नति करता जा रहा है। इन शक्तियों का विकास एक साथ ही अथवा पूर्ण रूप से नहीं हुआ। इनके विकास होने में बहुत-सा समय लगा और शायद अभी तक उसकी गुप्त अथवा प्रकट शक्तियों का पूरा-पूरा विकास नहीं हो पाया है।
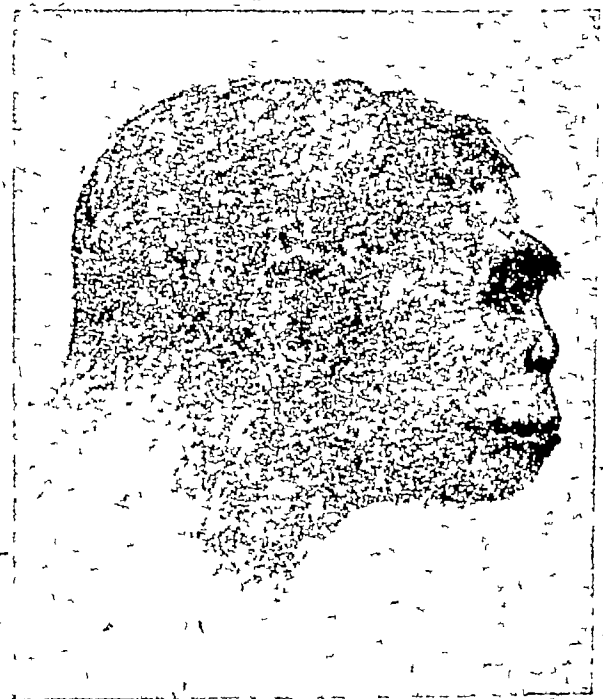
मनुष्य को जो शक्तियाँ प्रकृति ने दी हैं वे उनकी उन्नति में सहायक हैं, किन्तु अपनी निजी शक्तियों के अलावा उसको अन्य जीव-जन्तुओं की तरह बाहरी प्रकृति से सहायता अथवा विरोध मिलता रहता है। पशु-पक्षी तो प्रकृति के अनन्य अनुचर रहते हैं, किन्तु मनुष्य प्रकृति पर दिनोंदिन अपना अधिकार जमाता चला आ रहा है। वह प्रकृति का दास नहीं बल्कि वह प्रकृति को ही अपनी अनुचरी बनाने की कोशिश करता चला आ रहा है। आरम्भिक पूर्व काल में वह प्रकृति के वश में अधिक था, इसलिए उसकी उन्नति बहुत धीरे-धीरे हुई। किन्तु जैसे-जैसे उसके साधन बढ़ते गये, वैसे ही उसकी उन्नति शीघ्रता के साथ होने लगी और प्रकृति के ऊपर उसका प्रभुत्व बढ़ने लगा। मनुष्य का इतिहास इन्हीं बातों की रंग-बिरंगी कहानी है।

अब से क़रीब एक लाख वर्ष पहले मनुष्य का जीवन पशु का-सा था। अपने हाथों के सिवा उसके पास रक्षा करने का कोई साधन न था। उसको शरीर ढाँकना तक नहीं आता था, झोपड़ी बनाना भी वह नहीं जानता था, उसके पास गाय, भैंस, बकरी, भेड़ी, कुत्ता कुछ भी न था। उसने अनाज का स्वप्न तक नहीं देखा था, और बर्त्तन आदि उसके ख़याल के बाहर थे। कन्द-मूल, जंगली फल, पत्तियाँ अथवा मरे जानवरों या जल-जन्तुओं का मांस उसका आहार था। भाग्यवश उसे आग पैदा करना मालूम हो गया। लकड़ियों को ज़ोर के साथ रगड़कर वह

पचास हज़ार वर्ष की पुरानी खोपड़ी
यह फ्रांस में पाई गई थी।

आग पैदा कर लेता था। आग जलाकर उसके चारों ओर बैठकर लोग तापा करते थे। धीरे-धीरे उसने लकड़ी के नुकीले और चिपटे हथियार बनाना, मांस को भूनना और खाल अथवा पत्तियों से तन को ढकना सीख लिया। किन्तु इस थोड़े-से ज्ञान प्राप्त करने में उसे हज़ारों वर्ष लग गये। मनुष्य की उस समय की दशा बड़ी दयनीय है, किन्तु उस समय में भी आग पैदा करके और हथियार की रचना करके उसने सभ्यता की जड़ जमा दी। उसको अपनी आवश्यकताओं का अनुभव होने लगा, जिसके कारण उन्नति का रास्ता खुलने लगा। कहा जाता है कि मनुष्य इसी दशा में लाखों वर्ष तक टक्कर खाता रहा! इस समय भी टस्मेनियाँ में कुछ जंगली जन-समूह हैं, जो आज दिन भी आदिम दशा में रहते हैं।

पौने पाँच लाख वर्ष पूर्व का मनुष्य
यह चित्र जावा में प्राप्त खोपड़ी के आधार पर बनाया गया है।

क़रीब सवा लाख वर्ष हुए जब मनुष्य ने ऊपर वर्णित दशा से कुछ उन्नति करना आरम्भ कर दिया। उसी समय से पत्थर के युग का आरम्भ होता है। उसे पत्थर का युग इसलिए कहते हैं कि उसमें लोग पत्थर के औज़ार और हथियारों से काम लेते थे। वह युग आज से क़रीब सवा लाख वर्ष पहले आरम्भ हुआ और क़रीब छः हज़ार वर्ष पूर्व तक (१२५०००—६०००) चलता रहा। पत्थर के युग के दो भाग माने जाते हैं, एक पूर्व भाग और दूसरा उत्तर भाग। इस युग के पूर्व भाग में आदमी पत्थर के औज़ार बनाने लगे, जिन्हें मुट्ठी में पकड़कर, वे ला सकें। वे नुकीले और चिपटे औज़ार बनाने उस समय के बने हुए हथौड़े, घन, खरोंचने की ची
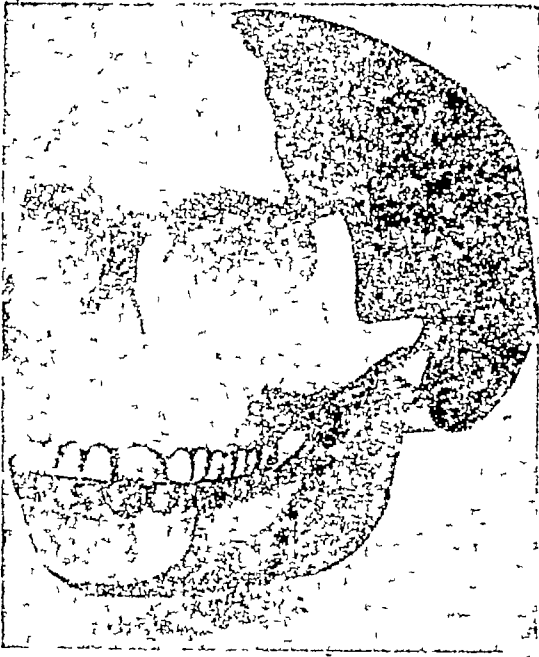
एक लाख वर्ष का आदिम मानव

यह खोपड़ी इँगलैंड में पिल्टडाउन नामक स्थान में मिली थी। इसी के आधार पर साथ का चित्र कल्पना से बनाया गया है। यह ५० हज़ार से १ लाख वर्ष के लगभग पुरानी मानी जाती है।

बरछी के फल और चाकू वग़ैरह अमेरिका, योरप, अफ्रीका और एशिया के देशों में अब तक पाये जाते हैं। इसी तरह एक लाख वर्ष बीत गये। फिर उन्होंने हड्डी की चीज़ें, जैसे पिन, घन, पालिश करने के औज़ार वग़ैरह, बनाना शुरू कर दिया। धीरे-धीरे उन्हें बरमा, आरी, बरछी, भाले आदि बनाना और उनमें हत्थे लगाना भी आ गया। इनके अलावा वे सींग और हड्डी के सूजे-सुजियाँ भी बनाने लगे। अब से सिर्फ़ सोलह हज़ार वर्ष की बनी हुई हाथी दाँत और सींग की ख़ासी अच्छी चीज़ें मिलती हैं। इस प्रकार पत्थर-युग के पूर्व काल में लकड़ी, पत्थर, हड्डी या सींग से वे लोग हथौड़े, घन, रन्दे, बरमे, रुखानी, कन्नी, खुरपी, बसूले, कुल्हाड़ी, फरसे, छोटे-बड़े चाकू, बरछे, ख़ंजर, कटिया, पिन, दिये, वग़ैरह बनाने लगे। किंतु सब से अचरज की बात तो यह है कि वे लोग पहाड़ की गुफाओं में, जहाँ वे रहने लगे थे, कभी-कभी दीवार पर चित्र भी बनाते थे। स्पेन के अल्टामिरा नामक स्थान में अब से सोलह हजार वर्ष पहले के गुफाओं में बने हुए काफी सुदर सजीव रंगीन चित्र मिलते हैं, जिनको देखकर यह मानना पड़ता है कि पत्थर के युग में भी मनुष्य में कला-कौशल का स्वाभाविक अनुराग प्रकट हो गया था। ये चित्र प्रायः बारह सिंघों, हाथियों, घोड़ों, भैंसों, रीछों और सुअरों आदि के हैं। कहीं-कहीं मोटी स्त्रियों के भी अनेक चित्र मिलते हैं। इसके अलावा चेकोस्लोवेकिया में हाथी, जंगली घोड़े और बारहसिंघों की पत्थर की बनी मूर्तियाँ भी मिलती हैं।

पत्थर-युग के उत्तरकाल में, जिसका आरम्भ अब से यदि दस हज़ार वर्ष नहीं तो सात हज़ार वर्ष पहले माना जाता है, कुछ मार्के के परिवर्तन हो गये। इस समय पत्थरों को रगड़कर औज़ार बनाये जाने लगे, क्योंकि उन पर पालिश मिलती है। लोगों को पशुओं के पालने और उनसे लाभों का ज्ञान होने लगा। गाय, बैल, बकरी, भेड़, घोड़े, कुत्ते और सुअर पाले जाने लगे। पहले लोग केवल शिकार करके मांस लाते और खाते थे किन्तु अब पालतू जानवरों को वे काम में लाने लगे। उनका दूध पीते और मास खाते और उनसे खेती वग़ैरह के काम लेते थे। जौ, गेहूँ और बाजरा की वे खेती करते थे। वे मिट्टी के बरतन बनाने लगे। मिट्टी की ईंटें भी बनने लगीं। इसी काल में लोगों को बुनने का कौशल भी मालूम हो गया। वे पत्तियों, घासों और बाँसों से बुनकर डलिया, झौआ आदि बनाने लगे। सन को पैदा करके उसको बटकर रस्सियाँ बनाने लगे। उन्हें पहियों और गड़ारियों के बनाने और उनसे काम लेने का ज्ञान होने लगा। किन्तु शायद बरतन बनाना उन्हें नहीं आता था। पहियों की सहायता से बोझ उठाकर ले जाने में उनको सुविधा होने लगी। यही नहीं उनको मिट्टी की दीवालें, घास-फूस, झाऊ, बाँस आदि से

आदिम मनुष्य की सभ्यता की ओर प्रगति

(बाईं ओर ऊपर से नीचे) पहला चित्र, पत्थर के औज़ार बनाते हुए; दूसरा, आग जलाते हुए; तीसरा, मिट्टी के बर्त्तन बनाते हुए; चौथा, दूध, मांस और कृषि के लिए पशुओं का पालन करते हुए। (दाहिनी ओर ऊपर से नीचे) पहला चित्र, बस्तियों में मिलकर रहने का प्रारम्भ; दूसरा, कपड़ों के व्यवहार का आरम्भ; तीसरा, गुफ़ाओं में चित्र बनाते हुए; चौथा, भूत-प्रेत या देवी-देवताओं की मूर्तियों की पूजा करते हुए।

टट्टर और छप्पर आदि बनाना आ गया। इसलिए अब वे गुफाओं को छोड़कर झोपड़ों में रहने लगे। उनको पेड़ों के तनों को कोलकर नावें बनाना भी आ गया। नावों और पहिये के ठेलों आदि की बदौलत वे थोड़ा व्यापार भी करने लगे।

रहने के लिए झोंपड़े, खेती, पशु पालन आदि का प्रभाव यह हुआ कि मनुष्य के कुछ समूह ख़ानाबदोशी छोड़कर स्थान विशेष के निवासी बन गये और किसानी करने लगे। इस नये प्रकार के रहन-सहन से सभ्यता की नींव ही बदल गई और आगे बढ़ने का रास्ता और भी साफ़ हो गया। लोगों को सम्पत्ति का ज्ञान और उससे लाभ उठाने की तरकीब भी मालूम हो गई, जिसका आगे चल कर व्यापार और समाज की रचना पर बहुत गहरा असर पड़ा। मनुष्यों में अमीर-ग़रीब, सभ्य और असभ्य का भेद पैदा होने लगा, और समाज में पेशों की श्रेणियाँ बनने लगीं। गाँवों और बस्तियों का आरम्भ हो गया। बस्तियों के चारों ओर रक्षा के लिए या तो वे लोग मिट्टी की दीवारें बना लेते, खाई खोद लेते अथवा वे लकड़ी के कुन्दों की बाढ़ बना लेते थे। पत्थर-युग के उत्तरकाल में मनुष्य के आचार-विचार, रहन-सहन, भाषा और कलाओं को ठीक-ठीक जानने के काफ़ी साधन नहीं मिलते, इस कमी को पूरा करने के लिए वैज्ञानिकों ने जंगली जातियों के जीवन की छानबीन करके कुछ बातें निकाली हैं। वे कहते हैं कि कुछ आधुनिक जंगली जातियाँ अभी तक पत्थर के युग में हैं, अतएव सम्भव है कि उनके आचार-विचार भी उसी सभ्यता के हों। हो सकता है; किन्तु इस

पत्थर-युग के मनुष्यों के पाषाण के औज़ार

(ऊपर से नीचे) पहली पंक्ति में—मुट्ठी में पकड़कर काम में ला सकने योग्य पत्थर के औज़ार जो रगड़कर बनाये गये थे। ये ब्यूनिस में पाये गये हैं।

दूसरी पंक्ति में—ऊपर ही की तरह के और औज़ार। ये उत्तरी अमेरिका में पाये गये हैं।

तीसरी पंक्ति में—पत्थरों के बने भालों या तीरों के फल। ये भिन्न-भिन्न स्थानों में पाये गये हैं।

प्रस्तर-युग में मनुष्य का जीवन

मानव इतिहास के आरंभिक युगों में प्रस्तर-युग या पत्थर का युग सबसे महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इस युग में मनुष्य की आविष्कारक प्रवृत्तियों का बड़ा अद्भुत विकास हुआ। पत्थर, सींग, हड्डी आदि से औजार बनाना, आग का उपयोग करना, सामुहिक रूप से शिकार खेलना तथा एक प्रकार की बस्तियों में रहना प्रारभ करके मनुष्य ने इसी युग में हज़ारों वर्ष के अपने भावी जीवन और सभ्यता की नींव डाली थी।

नीतिक संगठन आता था। आगे चलकर इन तीनों चीज़ों का ज्ञान जब मनुष्यों को हुआ, तब सभ्यता और उन्नति में बड़ी शीघ्रता आ गयी। विद्वानों का अनुमान है कि पत्थर का युग क़रीब पचास हज़ार वर्ष तक चलता रहा।

सबसे पहली धातु जो मनुष्य को मिली वह शायद सोना थी, किन्तु उसने सबसे पहले ताँबे का ही उपयोग करना सीखा। क़रीब आठ हज़ार वर्ष से ताँबे का उपयोग होना शुरू हो गया था। स्विटज़रलैंड, मसोपटेमिया, मिस्र, हिन्दुस्तान और अमेरिका में ताँबे के औज़ारों के अवशेष मिलते हैं। किन्तु इससे यह नतीजा न निकालना चाहिए कि पत्थर के युग के बाद ताम्रयुग का आगमन हुआ। वस्तुतः ताम्रयुग केवल काल्पनिक है, उसके होने का कोई प्रमाण नहीं है। पोलीनेशिया, फिनलैंड, उत्तरी रूस, मध्य अफ्रीका, दक्षिण भारत, आस्ट्रेलिया, जापान और उत्तरी अमेरिका में पत्थर के युग के बाद ही लोहे का प्रयोग आरम्भ हो गया। उन देशों में भी जहाँ ताँबे का प्रचार माना जाता है, थोड़े ही मनुष्य शौक़िया उसे काम में लाते थे। सर्वसाधारण पत्थर का ही प्रयोग करते थे। हथियारों के बनाने के लिये ताँबे के मुक़ाबले में पत्थर ज्यादा मज़बूत है। मनुष्य को काँसे का पता भी लग गया, किन्तु काँसा काफी मात्रा में न मिलने के कारण और धातुओं को मिलाकर काँसा बनाने की विधि न जानने के कारण वह काँसे का उपयोग अधिक न कर सका। किन्तु जिनको काँसा काफी मात्रा में मिल सका वे लड़ाई में दूसरों से अच्छे रहे और शक्तिशाली बन बैठे। कोई छः हज़ार वर्ष से लोहे का भी उपयोग हो रहा है। उत्तरी रोडेशिया में अब से क़रीब छः हज़ार वर्ष की लोहे की चीज़ें मिली हैं। ढाई-तीन हज़ार वर्ष की पुरानी लोहे की चीज़ें मिस्र और बेबीलन में मिलती हैं। किन्तु ढले हुए लोहे की सबसे पुरानी चीज़ फ़िलिस्तीन में प्राप्त चाकू का फल है, जिसे लोग साढ़े तीन हज़ार वर्ष का मानते हैं। आस्ट्रिया (योरप) में क़रीब तीन हज़ार वर्ष हुए लोहे का उपयोग आरम्भ हो गया था। कहते हैं कि हिन्दुस्तान में लोहे का आरम्भ सिकंदर के समय से हुआ है।

आदि मानव की कला

यह स्पेन के अल्टामिरा नामक स्थान की गुफ़ा में दीवार पर अंकित कम से कम सोलह हज़ार वर्ष पुराने चित्रों में से एक है।

लेखनकला का आरम्भ भी कोई सात या छः हज़ार वर्ष से हुआ है। पहले सुमेरिया, मिस्र और मेडिटरेनियन समुद्र के आस-पास लोग चित्रों अथवा रेखाओं द्वारा अपने विचार अंकित करते थे। किन्तु वे अक्षर न थे। अक्षरों का आरम्भ क़रीब पाँच हज़ार वर्ष हुए मिस्र में हुआ। वे चौबीस अक्षरों से काम लेते थे। वहाँ से अथवा क्रीट से उत्तरी अफ्रीका के निवासी फोनीशियन लोग उसे अपने व्यापार के साथ देश-देशान्तरों में ले गये। अक्षरों में सबसे पहले लिखे लेख सिनाई की शिला पर मिलते हैं। इनको क़रीब साढ़े चार हज़ार वर्ष का पुराना विद्वान् लोग मानते हैं।
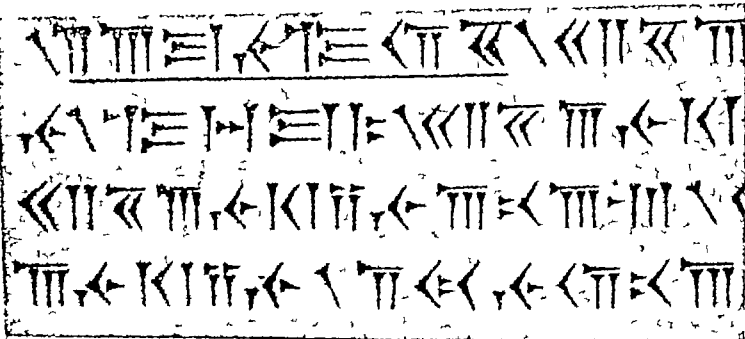
हज़ारों वर्ष पूर्व के अक्षर

ये अक्षर कील के आकार के हैं और बेबीलोनिया और फारस के प्राचीन लेखों में पाये गये हैं।
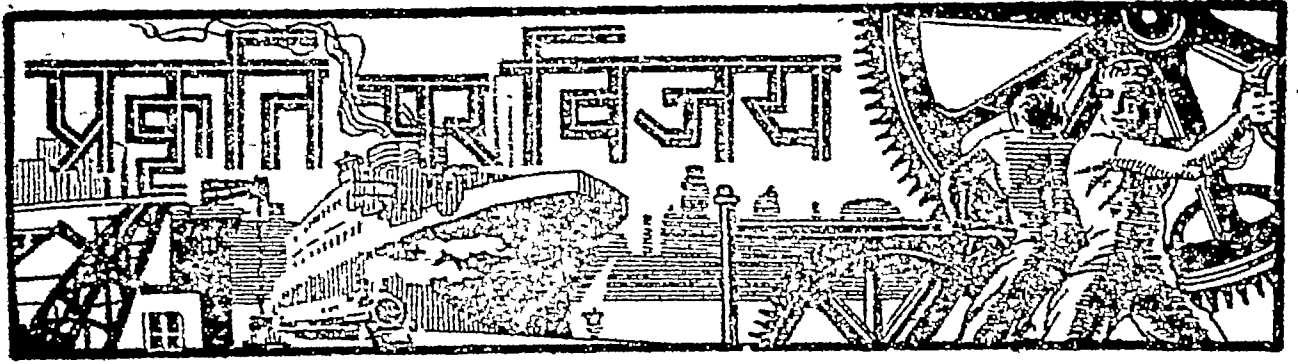
एक नई दुनिया का निर्माण

हमने ईश्वर और प्रकृति की बनाई हुई अद्भुत सृष्टि की अचरज-भरी कहानी पिछले स्तंभों में पढ़ी ; किन्तु क्या उससे कम आश्चर्यजनक है स्वयं मनुष्य द्वारा रची गई उस दूसरी अनोखी सृष्टि की कहानी, जिसका निर्माण करके मनुष्य दूसरा विधाता बनने जा रहा है ? पृथ्वी को अपने एक खेल का मैदान-सा बनाकर रेल, मोटर, जहाज़ आदि दौड़ाते हुए आज एक से दूसरे कोने तक यह उसे रौंद रहा है। मनुष्य ने पहले-पहल जिस दिन पत्थरों को तोड़कर उनसे औज़ार बनाना सीखा, उस दिन से हवाई जहाज़ रेडियो, और टेलीविज़न के इस युग तक की प्रकृति पर विजय पाने तथा एक नई सृष्टि रच डालने की पूरी कहानी इस स्तंभ में क्रमशः आपके लिए फिर से शुरू से दोहराई जा रही है।

हम अपने को भाँति-भाँति की वस्तुओं से घिरा हुआ पाते हैं। पत्र लिखना हुआ तो मेज़ पर से फाउन्टेनपेन उठाया, पन्ने के पन्ने भर दिये। बग़ल से टेलीफ़ोन लिया, सात समुन्दर पार बैठे हुए मित्रों से बात कर ली। कमरे से बाहर निकले, दो मिनट भी इन्तज़ार नहीं करना पड़ा कि ट्राम आयी, और बात की-बात में आप आफ़िस पहुँच गये। बाहर जेठ की लू चल रही है, किन्तु आप आफ़िस में बैठे बिजली के पखे के नीचे ठण्डी हवा का आनन्द ले रहे हैं। जिधर आँख उठाएँ, आपको हैरत में डाल देनेवाली चीज़ें नज़र आएँगी। ज़रा सा स्विच दबाया और लन्दन पैरिस के गाने आपको सुनाई देने लगे। घर बैठे सैकड़ों कोस दूर की घटनाएँ भी टेलीवीज़न की सहायता से अब आप देख सकते हैं।

क्या आपने कभी सोचा है कि जादू ऐसी काम कर दिखानेवाली ये वस्तुएँ कैसे बनी हैं ? निस्सदेह पेड़ पौधों की तरह प्रकृति में ये स्वयं तो उत्पन्न नहीं होतीं। तो आख़िर उनका निर्माण मनुष्य ने कैसे कर डाला ? बड़े-बड़े वायुयान, विशालकाय रेल व इंजिन, इन सबको क्या मनुष्य ने किसी दैवी प्रेरणा से बना डाला या ये निरतर अनेक पीढ़ियों तक इन समस्याओं के हल करने की उसकी कठोर लगन और साध का प्रसाद है।

आदिकाल में मनुष्य तत्कालीन जीवधारियों में सबसे अधिक अरक्षित और असहाय था। ख़ूँख्वार जानवरों से अपनी रक्षा करने के लिए उसके पास न तो मज़बूत पंजे, न सींग और न सुदृढ टाँगें ही थीं कि उनकी सहायता से वह शत्रुओं का मुक़ाबला कर सकता। किन्तु शायद वह ही अकेला प्राणी था, जो सोचने की शक्ति रखता था। अपनी रक्षा के निमित्त प्रति क्षण उसे तरह तरह के उपाय सोचने पड़ते थे। इस तरह पृथ्वी पर अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिए मनुष्य को बरबस आविष्कारकर्त्ता बनना पड़ा। उसके शरीर पर बाल नहीं थे कि वह ठण्ड से बच सके, निदान यहाँ भी उसे मस्तिष्क से ही काम लेना पड़ा—उसने पत्तों को जोड़कर शरीर ढकने के लिए परिधान बनाया। आधुनिक पुतलीघरों तक पहुँचने के लिए नवीन मार्ग उसी दिन खुला। इस बल्कल-वस्त्र से आधुनिक पुतलीघरों तक पहुँचने में फिर मनुष्य को कुछ विशेष कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ा—इस शृंखला में आविष्कारों की कड़ियाँ एक के बाद दूसरी जुड़ती ही गईं।

व्यर्थ के परिश्रम से बचने के लिए उसने सदा से ही नई-नई तरकीबें ढूँढ़ी हैं। जंगल से ईंधन सिर पर लादकर लाने में उसे तकलीफ़ होती थी। उसने इस परेशानी से बचने के लिए सोचा-विचारा और तब चक्की के पाट-जैसे लकड़ी के टुकड़े काटकर उसने पहिये तैयार कि[ए] और इस बेढंगी गाड़ी पर बोझा ढोने का काम वह

लगा। पहियेदार गाड़ी के विकास का यहीं से प्रारंभ होता है। मनुष्य की आविष्कारक प्रवृत्तियाँ बराबर काम करती रहीं। भद्दे पहियेवाली गाड़ियों के युग से हज़ार-दो-हज़ार वर्षों के भीतर ही मनुष्य लम्बी-लम्बी रेलगाड़ियों के इस आधुनिक युग तक आ पहुँचा। इस दिशा में अभी मनुष्य की प्रगति रुकी नहीं है। भविष्य में क्या निहित है, इस प्रश्न के उत्तर देने का किसमें सामर्थ्य है?

कन्दराओं और अँधेरी गुफाओं से बाहर निकलकर मनुष्य ने ढूँह से घेरकर अपने लिए घास-फूस की झोपड़ी तैयार की। इस तरह जाड़े और धूप से उसने अपनी रक्षा की। फिर लाखों वर्ष तक इस झोपड़ी के सँवारने-सुधारने का काम जारी रहा और आज उसके लिए ताजमहल-जैसी सुंदर या न्यूयार्क की गगनचुंबी अट्टालिकाओं-जैसी इमारतों का निर्माण करना बायें हाथ का खेल हो रहा है। इसी प्रकार साधारण डोंगी से आधुनिक जहाज़ों तक पहुँचने में मानव समाज को एक लम्बी मंजिल ते करनी पड़ी है। एक ओर आप बैलगाड़ी खड़ी कर देवें और दूसरी ओर हवा से बातें करनेवाली मोटरगाड़ी। लाख प्रयत्न करने पर भी आप यह न जान सकेंगे कि मोटर बैलगाड़ी का ही परिष्कृत रूप है! और साधारण गुब्बारों से ज़ैप्लिन तक पहुँचने की कहानी भी क्या कुछ कम आश्चर्यजनक है?

इस प्रकार आविष्कारों के बल पर मनुष्य एक-एक इंच करके सभ्यता की ज्योति की ओर बढ़ता गया—और उसके हमजोली जंगल के अन्य जानवर और ख़ासकर उसके निकटतम संबंधी बंदर बहुत दूर पीछे जहाँ-के-तहाँ रह गये।

निस्संदेह प्रकृति के रहस्य का पता लगाने का हमारे पुरखों ने सराहनीय प्रयत्न किया था, किन्तु वे अधिक गहराई तक पहुँच न सके। क्योंकि उनके पास उपयुक्त साधन मौजूद न थे। अपनी इन्द्रियों द्वारा ही वे बाह्य संसार का ज्ञान प्राप्त कर सकते थे—किन्तु केवल इन्द्रियाँ ही मस्तिष्क को इस रास्ते पर दूर तक नहीं ले जा सकतीं। मनुष्य का दृष्टिक्षेत्र, उसकी सुनने की शक्ति और सूँघने की क्षमता अनेक जानवरों की अपेक्षा कहीं कम है। अतएव इन घटिया क़िस्म के साधनों को लेकर प्रकृति की भूलभुलैया में मनुष्य एक भूले हुए पथिक की तरह लाखों वर्ष तक भटका किया। आँख उठाकर उसने आसमान की ओर देखा, तो मुश्किल से हज़ार-दो हज़ार तारे नज़र आये। उसने भी समझा, बस आकाशपिंडों की संख्या इतनी ही है। किंतु उस समय भी अरबों और खरबों की संख्या में आज ही की तरह आकाश में तारे टिमटिमाते थे। फिर जब वह अपने पैरों की ओर धरती पर नज़र डालता, तो शायद एकाध चींटियाँ उसे दिखाई दे जातीं—उसे स्वप्न में भी ख़याल नहीं था कि उस मिट्टी में करोड़ों पिस्सू और क्षुद्र कीटाणु बिलबिलाते रहते हैं। रास्ता चलते समय उसके पैरों से जब ठोकर लगती तो आज की भाँति उन दिनों भी कंकड़ों में विद्युत् का संचार हो आता—किन्तु इन सब बातों से अनजान, वह अपनी पुरानी चाल से मुद्दतों तक चलता रहा, वह तो इस ख़याल में था कि आँख मूँदे हुए समाधि लगाकर ही वह प्रकृति के रहस्य का पता लगा सकेगा!

लेकिन इतिहास बताता है, इन जटिल गुत्थियों की दो एक गाँठ भी खोलने के पहले, मनुष्य को हज़ारों-सैकड़ों आविष्कार अपनी इन्द्रियों की परिमित शक्ति

मानव जाति के भविष्य का निर्माता—वैज्ञानिक

प्रयोगशालाओं में रात-दिन यंत्रों द्वारा छानबीन करनेवाले वैज्ञानिक की लगन और ५८५। ही के फलस्वरूप आज हमें रेल, मोटरें और हवाई जहाज़ आदि मिले हैं।
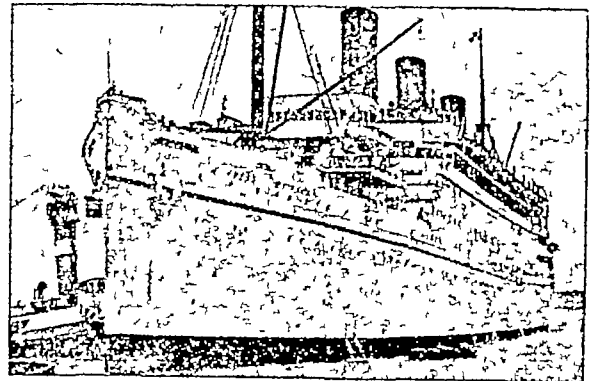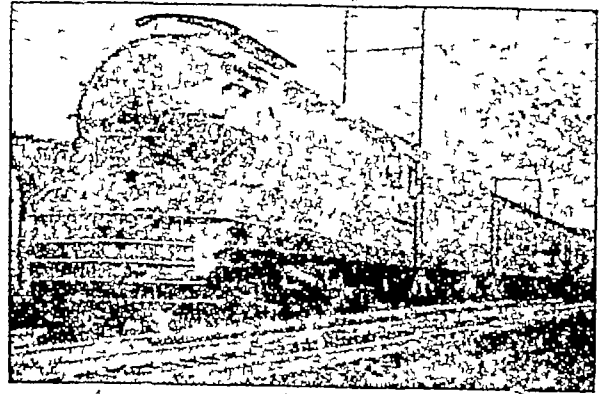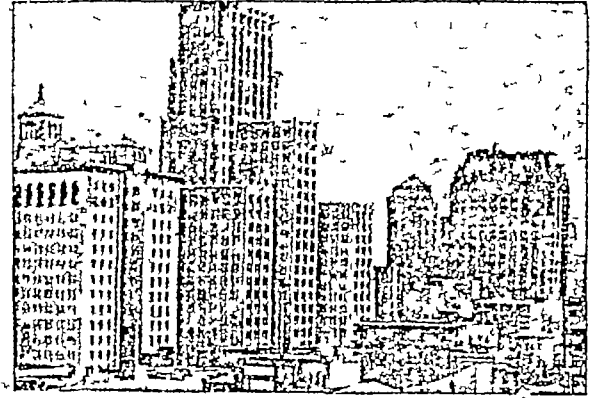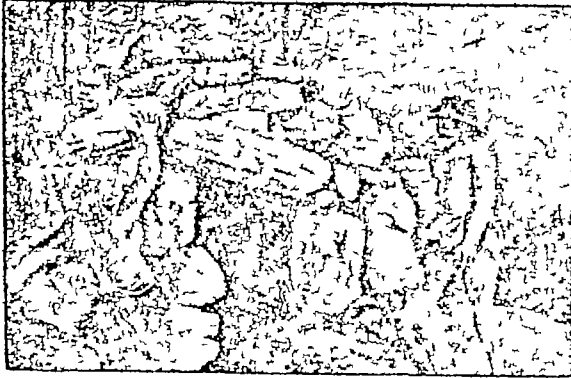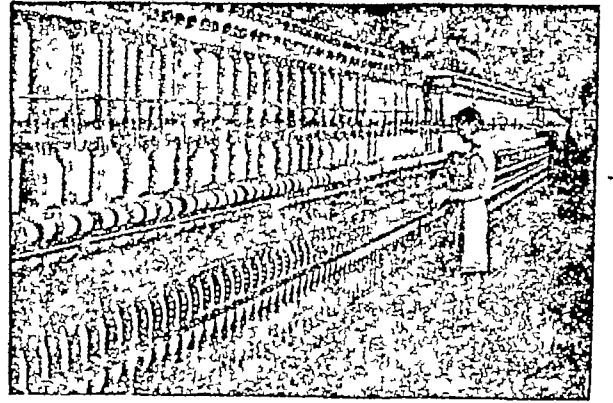
मनुष्य की आविष्कारक प्रवृत्ति का विकास

(ऊपर से नीचे) पहली पंक्ति में—आदि मानव का पहले-पहल पत्तों से शरीर ढकने का प्रयत्न, और आज का पुतलीघर; दूसरी पंक्ति में—आदिम कुटिया की रचना, और आज की गगनचुंबी अट्टालिकाएँ; तीसरी पंक्ति में—आदिम पहियोंवाली गाड़ी, और आज का रेल का इंजिन, चौथी पंक्ति में—आदिम डोंगी की रचना और आज का जहाज़।

बढ़ाने के लिए करने पड़े—आजकल यंत्रयुग की नींव भी तभी पड़ी।

आँखों की शक्ति बढ़ाने के लिए उसने दूरदर्शक और सूक्ष्मदर्शक यंत्रों का निर्माण किया और तब अनन्त अन्तरिक्ष में प्रवेश करने में वह सफल हो सका। दूरदर्शक की सहायता से उन आलोक रश्मियों का उसे पहली बार परिचय मिला, जो हज़ारों वर्ष पहले पृथ्वी तक पहुँचने के लिए रवाना हो चुकी थीं! जगत् की विशालता का मनुष्य को पहली बार सही पैमानों पर अन्दाज़ मिला। सूक्ष्म-दर्शक की सहायता से सूक्ष्म दृष्टि भी उसने प्राप्त की—अदृश्य वस्तुओं को भी देखने में वह समर्थ हुआ। उसने इन सूक्ष्म पदार्थों का अध्ययन किया और इस तरह पदार्थ के मूल तत्त्वों तक पहुँचने के लिए वैज्ञानिक को रास्ता दिखाई पड़ा। अणु परमाणुओं की समस्या वह हल कर सकेगा, इस आशा का उसके मन में संचार हुआ।

किंतु मनुष्य की जिज्ञासा बड़ी ही बलवती है, वह तृप्त होनेवाली वस्तु नहीं है। मनुष्य अपने दृष्टिक्षेत्र को बढाने का प्रयत्न करता ही गया और अब उसके लिए घर बैठे दूरदर्शन (टेलीविज़न) भी लभ्य है। टेलीविज़न के आविष्कार ने मनुष्य की इस चिरसंचित अभिलाषा को भी पूरा कर दिखाया।

कानों की शक्ति बढ़ाने के लिए भी उपयुक्त यंत्रों की रचना की गई। टेलीफोन ने तार के ज़रिये हज़ारों कोस की दूरी पर बैठे हुए व्यक्तियों से बात करने की शक्ति मनुष्य को प्रदान की। किंतु इस क्षेत्र में भी मनुष्य यहाँ रुका नहीं, वह निरन्तर आगे ही बढ़ता गया, और आज वह लाखों मील की दूरी पर बैठे मित्रों से 'रेडियो' द्वारा एकदम शून्य में बातचीत करने लग गया है।

ताप का अनुभव करने की शक्ति भी मानव शरीर में कुछ अधिक नहीं है—कभी-कभी तो ताप के ज्ञान में उसे धोखा भी हो जाता है। अतएव इस काम के लिए भी उसने आश्चर्यजनक यंत्र बनाये। वैज्ञानिक अपने थर्मा-मीटर से मील भर की दूरी पर रक्खी हुई मोमबत्ती की गर्मी को भी नाप सकता है। यही नहीं, प्रयोगशालाओं में अनेक यंत्र ऐसे भी मिलेंगे, जिनकी सहायता से वैज्ञानिक दिव्य दृष्टि प्राप्त कर आकाशीय नक्षत्रों के बारे में जानकारी हासिल करता है। अमुक नक्षत्रों में कौन से पदार्थ मौजूद हैं—वे वाष्प के रूप में वहाँ हैं या द्रव रूप में? उस नक्षत्र का वज़न क्या है? उसका तापक्रम कितना है? इन सब प्रश्नों का उत्तर प्रयोगशाला में बैठा हुआ वैज्ञानिक खोजता रहता है। यदि आपको उसकी बात में किसी प्रकार का संदेह है, तो आप ख़ुशी से प्रयोगशाला में चले आइए और स्वयं अपनी आँखों से इन प्रयोगों का निरीक्षण कीजिए—एकदम सचाई का सौदा, एकदम खरा व्यवहार। अंधश्रद्धा, विश्वास—इन सब चीज़ों की दुहाई वैज्ञानिक नहीं देता।

प्रकृति का विश्लेषण कर उसके रहस्य को वैज्ञानिक ने भली-भाँति पहचाना, और इस तरह प्रकृति के ऊपर उसने अपना प्रभुत्व भी जमाया। समुद्र की उत्ताल तरगों से वह अब भय नहीं खाता, वरन् विशालकाय जहाज़ों पर वह स्वच्छन्दतापूर्वक समुद्र के वक्षःस्थल के ऊपर तैरा करता है। दूरी भी अब उसे नहीं खलती। पहले जो मंज़िलें महीनों में तै होती थीं, उन्हें अब वह पाँच मिनट में तै कर लेता है। शीघ्रगामी मोटरों पर वह बिजली की भाँति तीव्र गति से एक स्थान से दूसरे स्थान को डोलता फिरता है। आकाश में भी पक्षी की भाँति वह निर्द्वन्द्व विचरने लगा है। घंटे में ४०० मील की गति तो उसने प्राप्त कर ही ली है, और वह आशा करता है कि शीघ्र ही ५०० मील प्रति घंटे की गति से आकाश में उड़ेगा। आश्चर्य नहीं, कुछ दिनों में जलपान हम बम्बई में करें और दोपहार का भोजन लन्दन में! समूची पृथ्वी सिकुड़कर मानों वैज्ञानिक के लिए छोटा-सा प्रदेश बन गया है। पन-डुब्बियों में बैठकर वैज्ञानिक समुद्र के गर्भ में भी प्रवेश करता है। इस तरह रत्नाकर की तह में भी वह पैठ रहा है।

प्रकृति की किसी रुकावट के सामने वह हार मानने को तैयार नहीं है। अनेक मोर्चे उसने फ़तह कर लिये हैं और जो बाक़ी हैं उन पर भी वह विजय प्राप्त कर लेगा, इसका उसे दृढ़ विश्वास है। हर प्रकार से वैज्ञानिक प्रकृति पर हावी हो रहा है—जो बाढ़ सहस्रों गाँवों को नष्ट-भ्रष्ट कर देती थी आज उसी का जल बाँध से घेरकर रेगिस्तानों के सींचने के काम आता है। जहाँ चारों ओर बालू-ही-बालू थी, वहाँ अब हरे-हरे धान के खेत लहलहाते नज़र आते हैं। ऊँचे-ऊँचे पहाड़ी झरनों से पजाब, बम्बई, युक्तप्रान्त सब कहीं विद्युत् शक्ति प्राप्त की जा रही है। सस्ती लागत पर इन झरनों से प्राप्त की गई विद्युत्धारा मोटे मोटे तारों के ज़रिये पावरहाउस में पहुँचती है, और फिर वहाँ से शहर या गाँव के प्रत्येक घर में उसका वितरण होता है। रात को सड़कें, गली और मकान का अंधकार यह दूर करती है, आधुनिक चूल्हों पर वह खाना भी पकाती है। नगर के निवासियों को टेलीफ़ोन और तार के ज़रिये एक घनिष्ट सूत्र

में वह आँधती भी है। कारखानों में आपकी मशीनों का परिचालन करती, आपके लिए आटा पीसती, खेत सींचती तथा अन्य सभी छोटे-मोटे काम करती है। इस नई शक्ति ने पहाड़ी प्रान्तों को, जो अब तक कारोबार की दृष्टि से पिछड़े हुए थे, एक अद्भुत महत्त्व प्रदान कर दिया है। लोहे के कारखानों में भट्टियों को प्रज्वलित रखने के लिए कोयले के बजाय विद्युत् का प्रयोग हो रहा है—विद्युत् शक्ति की सहायता से चूना, सोडा तथा अमोनिया-जैसी काम की चीज़ें हवा से पैदा की जा रही हैं।

अपने बाहुबल बढ़ाने के उद्देश्य से मनुष्य ने सैकड़ों प्रकार की मशीन ईजाद की हैं, जिनकी मदद से वह तरह-तरह की वस्तुएँ तैयार करता है। प्राचीन युग में लाखों की संख्या में लोग चींटियों की तरह जुटकर किसी भारी काम को पूरा कर पाते थे। कहा जाता है, मिस्र के स्तूपों के निर्माण में एक लाख से अधिक मजदूरों की आवश्यकता पड़ी थी; किन्तु वैज्ञानिक युग की इस बीसवीं शताब्दी में अस्सी-अस्सी तल्ले की गगनचुम्बी इमारतें मशीनों की सहायता से थोड़े से व्यक्ति बात-की-बात में तैयार कर लेते हैं। मशीनों की बदौलत अकेला व्यक्ति हजारों आदमियों से ज्यादा काम कर लेता है।

आज दिन हमारे पास पाँच ही नहीं, वरन् सैकड़ों इन्द्रियाँ हैं—और उनकी सहायता से मनुष्य प्रति दिन चमत्कारपूर्ण कृतियाँ उत्पन्न कर रहा है। मशीनों के बल पर वह पर्वतों और नदियों की परवा नहीं करता। पर्वत-श्रेणी के उस पार जाना है तो वैज्ञानिक २॥ दिन का रास्ता ६ दिन में नहीं चलेगा, वह सीधे पहाड़ को छेदकर अपने लिए इस पार से उस पार तक सुरंग बनाएगा। नदी के उस पार जाना है, तो ऊँचे ऊँचे मीलों लम्बे पुल बना डालेगा, जिन्हें देखकर स्वयं विश्वकर्मा भी लज्जित हो जायँ; या नदी के नीचे सुरंग खोदकर वह अपने लिए रास्ता बनाएगा। लंदन की सड़कों पर उसने बेहद भीड़ देखी, फौरन् ज़मीन के नीचे सुरंगें बनाई गईं, और उनमें विशालकाय लोहे की ट्यूबों के जाल बिछा दिये गये। रात-

प्रकृति का विजेता—मनुष्य
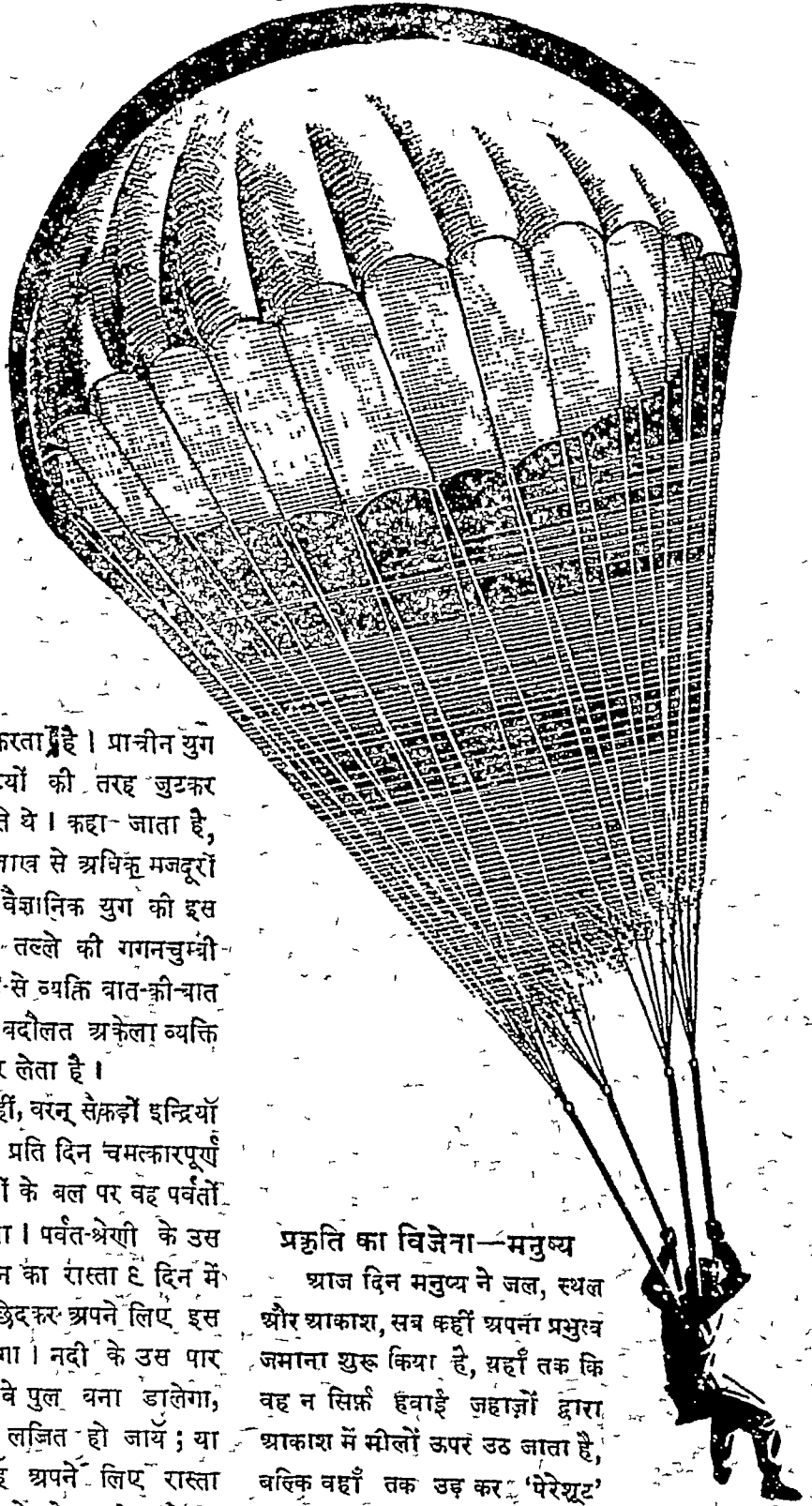
आज दिन मनुष्य ने जल, स्थल और आकाश, सब कहीं अपना प्रभुत्व जमाना शुरू किया है, यहाँ तक कि वह न सिर्फ़ हवाई जहाज़ों द्वारा आकाश में मीलों ऊपर उठ जाता है, बल्कि वहाँ तक उड़ कर 'पेरेशूट' नामक छाता अपने बदन में बाँधकर वह शून्य आकाश में कूद पड़ता है और धीरे आ जाता है। ऊपर इसी का चित्र दिया गया
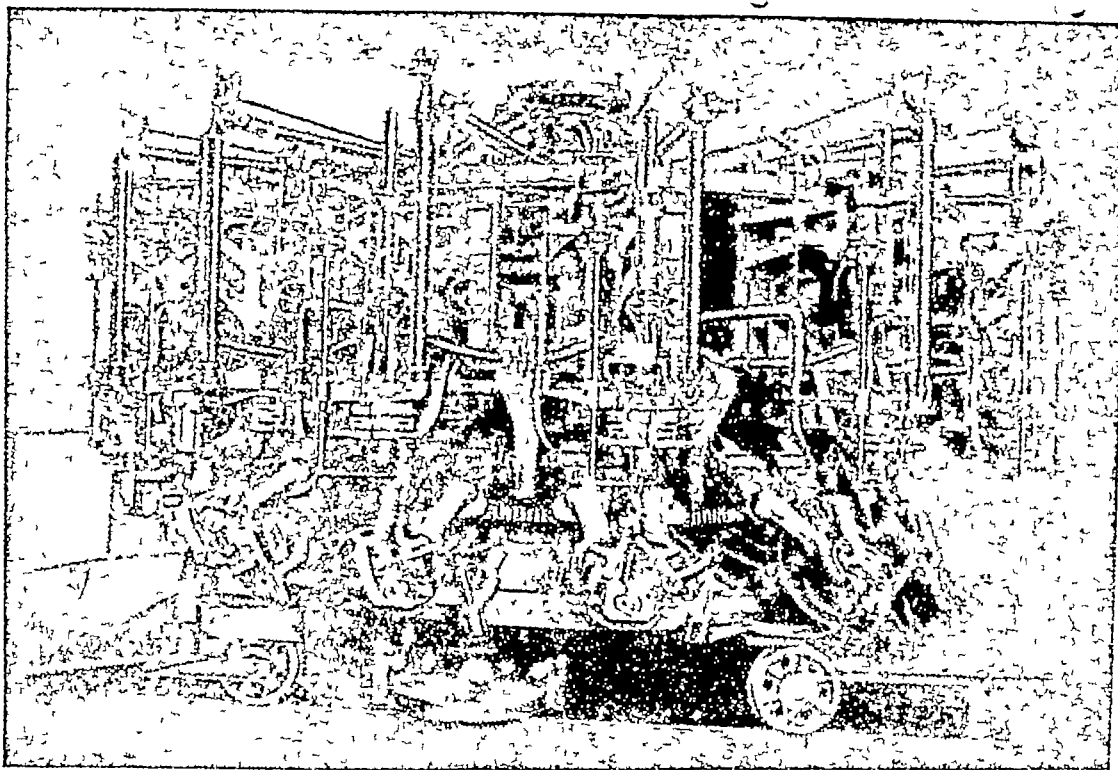
आज के मनुष्य की जादू की लकड़ी—मशीन

जिसे घुमाते ही अब उसके काम आप ही आप होने लगते हैं। ऊपर एक ऐसी हो शैतान की आँत-जैसी पेचीदा मशीन का चित्र है। इसमें १० हज़ार से अधिक पुर्ज़े हैं। यह शीशे की बोतलें बनाने का काम करती है और इतनी बुद्धिमानी, सावधानी और कोमलता के साथ इस काम को करती है कि काग़ज़ की तरह पतले शीशे में भी इससे खरोंच तक नहीं लग पाता। फिर भी इसमें इतनी शक्ति है कि ५० हाथियों को यह उनकी पूँछ पकड़कर एक साथ ही घुमा सकती है। इससे ११५ बोतलें प्रति मिनट में तैयार होती हैं।

मनुष्य की नई शक्ति—विद्युत्

जिसको पाकर अब छोटे से बड़े तक सभी काम वह केवल ज़रा-सा स्विच या बटन दबाकर ही करा लेता है। बिजली आज दिन मनुष्य की सभ्यता की नींव हो रही है। प्रकाश, तार, टेलीफोन, कल-कारख़ाने, रेडियो आदि सभी कुछ मनुष्य को बिजली की देन हैं। [फ़ोटो 'फोर्ड मोटर कंपनी आफ़ इण्डिया' की कृपा से प्राप्त।]
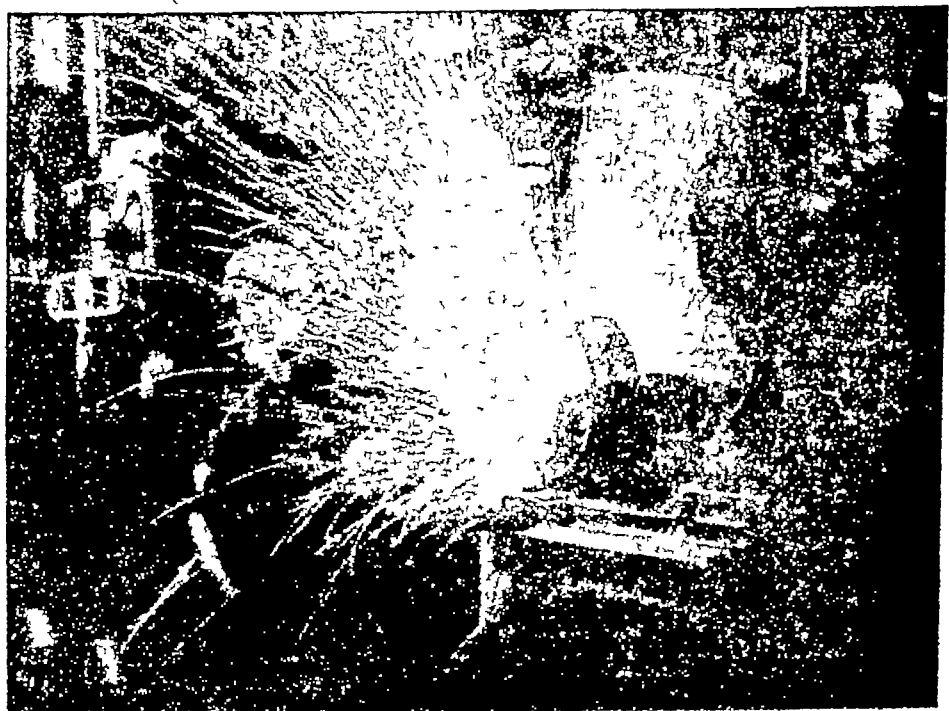
दिन अब वहाँ शहर के कोलाहल से परे रेलें दौड़ा करती हैं।

विज्ञान के महारथियों ने तो अब कृत्रिम रेशम, कृत्रिम रबड़, इत्र, सेन्ट आदि भी बनाना आरंभ कर दिया है। ये वस्तुएँ नक़ली होने पर भी असली चीज़ों से किसी भी तरह घटिया नहीं उतरतीं। नक़ली रेशम इतने बढ़िया क़िस्म का आपको मिल सकता है कि डेढ़ सेर धागे से समूची पृथ्वी को आप एक बार घेर सकते हैं।

पिछले सौ वर्षों में अनेक काम मशीनों द्वारा संपादित होने लग गये हैं। और ये मशीनें न तो कभी ग़लती करती हैं, न थकती ही हैं। कोई कह नहीं सकता कि इनकी बदौलत वैज्ञानिक निकट भविष्य में क्या न कर दिखाएगा। ५० वर्ष पूर्व जब एक्स-रे का पहली बार पता चला था, किसी के मस्तिष्क में यह ख़याल भी न आया था कि एक दिन इन किरणों का प्रयोग हमारे अस्पतालों में भी होगा। लेकिन आज छोटे-बड़े सभी अस्पतालों में एक्स-रे फ़ोटोग्राफी का सामान आपको मिलेगा—फेफड़े में कोई ख़राबी तो नहीं है, या शरीर के भीतर कहीं हड्डी तो नहीं टूट गई है? इनका पता आप एक्स-रे से लिये गये फ़ोटोग्राफ से फ़ौरन् लगा सकते हैं। चर्मरोगों की चिकित्सा में भी एक्स-रे का प्रयोग प्रचुरता से होता है। जब डायनमो के सिद्धांत पर विद्युत्धारा उत्पन्न करने की प्रणाली का सर्वप्रथम आविष्कार प्रो० फ़ैरेडे ने किया, तो एक सम्भ्रान्त कुल की महिला ने फैरेडे से प्रश्न किया—'आख़िर तुम्हारे इस नवीन आविष्कार से समाज को क्या लाभ है?' फैरेडे ने मुस्कराते हुए उत्तर दिया—'श्रीमती जी, क्या आप बता सकती हैं कि आपकी गोद का यह बच्चा बड़ा होने पर क्या कर दिखाएगा?' आज फ़ैरेडे के उक्त आविष्कार के सौ वर्ष के भीतर ही डायनिमो द्वारा उत्पन्न की हुई बिजली सड़कों या

विश्वकर्मा को भी लज्जित करनेवाली मनुष्य की भीमकाय कृतियों का एक नमूना—सिडनी बन्दरगाह का पुल जो दुनिया का सबसे लम्बा तो नहीं, किन्तु एक मेहराबवाले पुलों में सबसे विशाल और भारी है। इसकी बीच की मेहराब १६५० फ़ीट लंबी और पानी से १७० फ़ीट ऊँची है। बड़े-बड़े जहाज़ आसानी से इसके नीचे से निकल जाते पुल में कुल १४ लाख मन लोहा लगा है। लंबाई में सबसे लंबा पुल सेन फ्रांसिस्को का 'गोल्डन ब्रिज' है, जो १२

कारख़ानों में और आपके घरों में इस्तेमाल की जा रही है। बिजली की रेलगाड़ियाँ सवारी और माल ढो रही हैं। बिजली द्वारा परिचालित क्रेन अपने जबड़ों में बड़े-बड़े इंजनों को तिनके की भाँति एक स्थान से दूसरे स्थान पर उठाकर रख देते हैं। न तो कहीं धुआँ है न कोयले की राख। सूर्य को भी मात करनेवाली सर्चलाइट बिजली ही की बदौलत हमें प्राप्त हुई है। टेलीफ़ोन और वायरलेस भी विद्युत्शक्ति ही द्वारा संचालित होते हैं।

पेड़-पौधों की दुनिया में भी विज्ञान ने कमाल कर दिखाया है। कृषि-विज्ञान के आचार्य सर्वथा नवीन प्रकार की वनस्पतियाँ उत्पन्न कर रहे हैं। इन नये फूलों के रंग और आकार प्रकार पहले के फूलों से कहीं बढ़-चढ़कर हैं। नये फूल-पत्तों के उत्पादन के साथ-ही-साथ वैज्ञानिक इस बात का भी प्रयत्न कर रहा है कि ठण्डे देश के पौधे गर्म देशों में और गर्म देश के पौधे ठण्डे देशों में उगाये जा सकें। सोवियट रूस इस क्षेत्र में सबसे आगे बढ़ा हुआ है। उत्तरी रूस के बर्फ़ीले प्रान्तों में नये उपनिवेश बसाए जा रहे हैं, वैज्ञानिक रीति से वहाँ फल और तरकारियों की कृषि एक भारी पैमाने पर की जा रही है। कल जहाँ वीरान था, आज वहाँ नगर बस गये हैं, चारों ओर चहल-पहल है। जर्मनी में तो शाकभाजी, बिना मिट्टी और धूप के, प्रयोगशाला के भीतर ही रासायनिक द्रव्यों की सहायता से उत्पन्न की जाने लगी हैं। आश्चर्य नहीं, इस रीति से लोग फ़ैक्टरियों के भीतर ही निकट भविष्य में टोपी और छतरी की तरह शाकभाजी भी पैदा करने लगें। और तब किसी भी फल या शाकभाजी को पैदा करने के लिए विशेष ऋतु की हमें प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ेगी। आधुनिक बाग़बानी और कृषि-प्रणाली में एक ज़बर्दस्त क्रांति उत्पन्न हो जायगी।

आधुनिक चिकित्सा-शास्त्र पर भी विज्ञान की गहरी छाप लग चुकी है। 'सर्जरी' को ही लीजिए। क्लोरोफ़ार्म जैसी औषधियों की सहायता से डाक्टर आश्चर्यजनक करतब कर दिखाते हैं। साधारण फोड़े की चीरफाड़ की बात जाने दीजिए, वह तो डाक्टरों के बाएँ हाथ का खेल है। अब तो सर्जरी का उपयोग आपके शरीर की काट-छाँट के लिए भी होने लगा है। सर्जरी की बदौलत योरप की कितनी ही कुरूप स्त्रियाँ आज सौंदर्य-प्रतियोगिताओं में भाग ले रही हैं। जिनकी नाक चिपटी थी उन्होंने शरीर के अन्य अंगों से चमड़ा कटवाकर उसे सुडौल करा लिया। [illegible] ने अपने अधर ठीक कराये। घंटों आपरेशन होता रहे, किंतु रोगी को कोई कष्ट नहीं। इस प्रकार शल्य-चिकित्सा-विज्ञान एक नवीन युग में पदार्पण कर रहा है—मनुष्य दूसरा सृष्टिकर्ता बनने जा रहा है। प्रयोगशाला में बैठा हुआ डाक्टर मानव-शरीर के किसी भी ख़राब पुर्ज़े को बदलकर उसकी जगह नया और स्वस्थ पुर्ज़ा लगा सकने का स्वप्न देख रहा है। अभी हाल में अमेरिका के एक डाक्टर ने एक मरते हुए व्यक्ति की आँख मृत्यु के कुछ मिनट पहले निकालकर एक अंधे पादरी की आँखों में लगा दी है। अंधा पादरी अब बख़ूबी देखने लग गया है। पैरिस के एक डाक्टर ने कृत्रिम हृदय बनाने का भी प्रयत्न किया है। इसकी मदद से उसने एक मुर्ग़ी के शरीर से निकले हुए गुर्दे और जिगर को लगभग तीन सप्ताह तक जीवित बनाये रक्खा था। इस प्रकार मृत्यु पर भी विजय प्राप्त करने का निरंतर उद्योग हो रहा है।

किन्तु जितने भी आविष्कार आज आप देखते हैं उनका निर्माण वैज्ञानिक ने अचानक एक दिन में नहीं कर डाला है वरन् प्रत्येक आविष्कार के पीछे एक लंबी और परिश्रम से भरी कहानी है। हरएक नई खोज में उच्च त्याग और लगन निहित है। एक महान् तपस्या—एक अटूट साधना की इसमें आवश्यकता होती है। इस वैज्ञानिक सृष्टि के निर्माणका श्रेय सहस्रों छोटे-बड़े वैज्ञानिकों को है, जिनमें से प्रत्येक ने अपने हिस्से की दो-दो चार-चार ईंटें रक्खी हैं, प्रत्येक ने अपने हिस्से का त्याग किया है। किसी ने रेडियम के प्रयोग में अपना हाथ गला डाला, तो कोई सूक्ष्मदर्शक के संग उलझकर अंधा बन बैठा।

इस तरह हम देखते हैं कि मनुष्य ने आविष्कारों के पथ में एक लंबी मंज़िल पार कर ली है, और अब वह ब्रह्मा से होड़ लगाकर अपने लिए एक नवीन संसार का निर्माण करने में दत्तचित्त है। कदाचित् लाखों वर्ष तक वह अज्ञान के गहरे खड्ड में पड़ा-पड़ा प्रकृति पर क़ाबू पाने की कोशिश करता रहा, और अब इतने दिनों उपरांत वह प्रकृति के रहस्योद्घाटन में सफल हो सका है। विज्ञानरूपी अलाउद्दीन का चिराग़ उसे मिल गया है—और इससे भरपूर फ़ायदा उठाने का वह प्रयत्न कर रहा है।

पलक मारते-मारते मनुष्य चींटी से हाथी बन गया। विज्ञान की बदौलत उसने संसार की कायापलट कर दी है। तरह-तरह के आविष्कारों द्वारा चारों ओर उसने चकाचौंध पैदा कर दी है। उसके हाथों में शक्ति के अक्षुण्ण भण्डार की कुंजी आ गई है।

मनुष्य की कलात्मक सृष्टि
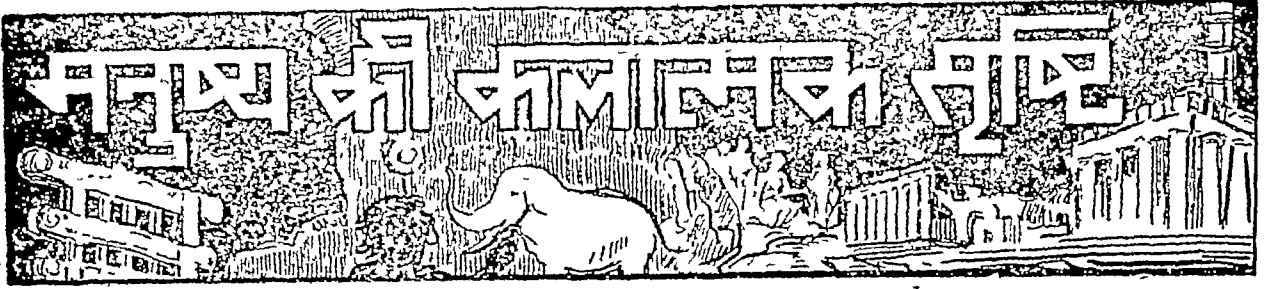
कला का आरंभ

मनुष्य की जिस नवीन सृष्टि का हमने पिछले स्तंभों में उल्लेख किया है, उसका उद्देश्य केवल उसकी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति ही रहा है। किन्तु इसके अतिरिक्त हम मनुष्य को एक और अद्भुत सृष्टि के निर्माता के रूप में भी देखते हैं, जो उसकी आध्यात्मिक भूख का परिणाम है, जिसकी तृप्ति के लिए वह अपने इतिहास के प्रभातकाल ही से बेचैन रहा है। उसकी यह पिपासा उसके बनाये हुए चित्रों, मूर्त्तियों, कारीगरी की वस्तुओं, इमारतों, गीतों तथा नृत्य के हावभावों के रूप में प्रति युग में प्रकाशित होती रही है। इस स्तंभ में मनुष्य की जीवनी के इसी विशेष अध्याय की कहानी है।

जब हम अपने चारों ओर देखते हैं, तो हमें निःसंशय रूप से दो प्रकार की वस्तुएँ दिखाई पड़ती हैं—एक तो ईश्वर की बनाई हुई, अर्थात् प्राकृतिक; दूसरी मनुष्य की बनाई हुई या कृत्रिम। सूर्य, चन्द्र आदि आकाश के कौतुक; ऊँचा सिर उठाये विशाल पर्वतमालाएँ; तरंगाकुल महासागर; ओर-छोर-हीन मरुप्रदेश; जाति-जाति के पशु पक्षी और मनुष्यों के विभिन्न रंग रूप और बोलियाँ; फूलों का सौंदर्य, इठलाती और बल खाती हुई नदियों का बाँकापन—संक्षेप में, जो भी वस्तु प्रकृति में हमें दिखाई पड़ती है, वे सब उस ईश्वर की महिमा का गुण-गान और उसकी कारीगरी का प्रदर्शन करती हैं। इसके विपरीत, घर्राटे के शब्द के साथ मानो आकाश की छाती को चीरते हुए वायुयान, पहाड़ों को छेदकर लाँघती हुई रेलगाड़ियाँ, महासागर की अनन्त जल-राशि पर तैरते हुए जहाज़, रेगिस्तानों को भी हरा-भरा बना देनेवाली नहरें और बाँध, गगनचुम्बी अट्टालिकाओं से युक्त संसार के बड़े-बड़े नगर, तथा इसी प्रकार की अन्य हज़ारों वस्तुएँ, जिनकी बदौलत मानव-जीवन को आज का रूप मिला है, मनुष्य की युग-युग-व्यापी सृजन-शक्ति के कौशल का परिचय दे रही हैं। वास्तव में, आज के हमारे नित्य उपयोग की सामान्य-सी प्रतीत होनेवाली वस्तुओं की भी खोज या आविष्कार करने तथा उन्हें आज के इस पूर्ण रूप तक पहुँचाने में मनुष्य को सदियों तक कठोर तपस्या करनी पड़ी है। उदाहरण के लिए, बर्त्तन बनाने या कातने-बुनने की कला का उद्भव इतिहास के प्रभातकाल से भी बहुत पहले के युग में हो चुका था, और सच पूछिए तो हम में से कोई भी नहीं जानता कि कब और कहाँ हमारे पूर्वजों ने कुम्हार के चाक, या हाथ के करघे के प्राथमिक मोटे रूप का आविष्कार किया। इसी प्रकार, खनिज कच्ची धातुओं से शुद्ध धातु निकालने, लकड़ी से भिन्न-भिन्न वस्तुएँ बनाने, और ऐसे अन्य सभी छोटे-बड़े कारीगरी के कामों की आरंभिक प्रक्रियाओं के श्रीगणेश की कहानी, जिसके कि बारे में आज-कल के इस सभ्यता के युग में क्षण-भर के लिए भी कोई सोचने-विचारने का कष्ट न करेगा, प्रागैतिहासिक युग की भूली हुई शताब्दियों के धुँधले कुहरे में विलुप्त हो गई है।

ऊपर जो-जो वस्तुएँ हमने गिनाई हैं, उनसे तुम्हें ज्ञात होगा कि मानव द्वारा बनाई हुई अधिकांश वस्तुएँ उसके उपयोग की ही वस्तुएँ हैं, जो प्रकृतिजन्य आपदाओं से रक्षा कर पृथ्वी पर उसके जीवन को अधिक सुगम बनाती हैं। किन्तु इन उपयोग की वस्तुओं के अतिरिक्त मनुष्य की बनाई हुई कुछ और भी वस्तुएँ हैं—जैसे सजावट की चीज़ें, चित्र और मूर्तियाँ आदि, जिनका उसकी शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति से कोई संबंध नहीं, फिर भी जो एक प्रकार से उसके आध्यात्मिक कल्याण के लिए उतनी ही अनिवार्य रूप से आवश्यक हैं, जितना कि उसके खाने के लिए भोजन, पहनने के लिए वस्त्र और रहने के लिए मकान। इन्हीं वस्तुओं, अर्थात् चित्रकला, शिल्प, स्थापत्य, आदि

क्षेत्रों मे मनुष्य की रचनात्मक कृतियों—का विवेचन इस और आगे के प्रकरणों मे हम करेंगे।

जिस प्रकार कि यह ठीक ठीक कहना असंभव है कि कब पहले-पहल मनुष्य ने कुम्हार के चाक, या हाथ के करघे का आविष्कार किया, उसी तरह किसी दूर के युग में इसकी भी ठीक-ठीक शताब्दी या तिथि निश्चित करना असम्भवप्राय है कि कब मनुष्य की ललित कलाओं का यथार्थ में आरम्भ हुआ। कोई भी निश्चित रूप से इस बात को नहीं बता सकता कि वह कौन-सी भावना थी जिसने हमारे आदिम पुरखों को उन दूर के युगों में अपने थोड़े-बहुत घरेलू औज़ारों पर नक़्क़ाशी करके उन्हें सजाने का प्रयत्न करने के लिए प्रेरित किया; न यही कोई बता सकता है कि पृथ्वी के किस विशेष भाग में मनुष्य-जाति की कलाओं की सर्वप्रथम किरणें फूटीं। शनैः-शनैः एक के बाद एक आनेवाली शताब्दियों और महाकल्पों के प्रवाह में मनुष्य की कलात्मक और रचनात्मक कृतियों के सबसे पूर्व के स्मारक सदा के लिए लुप्त हो गए और जो कुछ थोड़ा-बहुत बच पाया है, उसका भी बहुत-कुछ पता लगाना अभी बाक़ी है। यही कारण है कि हमारे लिए निश्चयात्मक रूप से यह निर्णय करना असम्भव-सा ही है कि मनुष्य की आदिम कलात्मक प्रक्रियाओं का ठीक रूप क्या था या किस युग में इनका सर्वप्रथम आरंभ हुआ था; यद्यपि प्रागैतिहासिक युग की कला के जो टूटे फूटे स्मारक हमें प्राप्त हुए हैं, उनसे स्पष्टतया हम थोड़ा-बहुत निष्कर्ष अवश्य निकाल सकते हैं और उनके आधार पर बहुत-कुछ कल्पना भी कर सकते हैं।
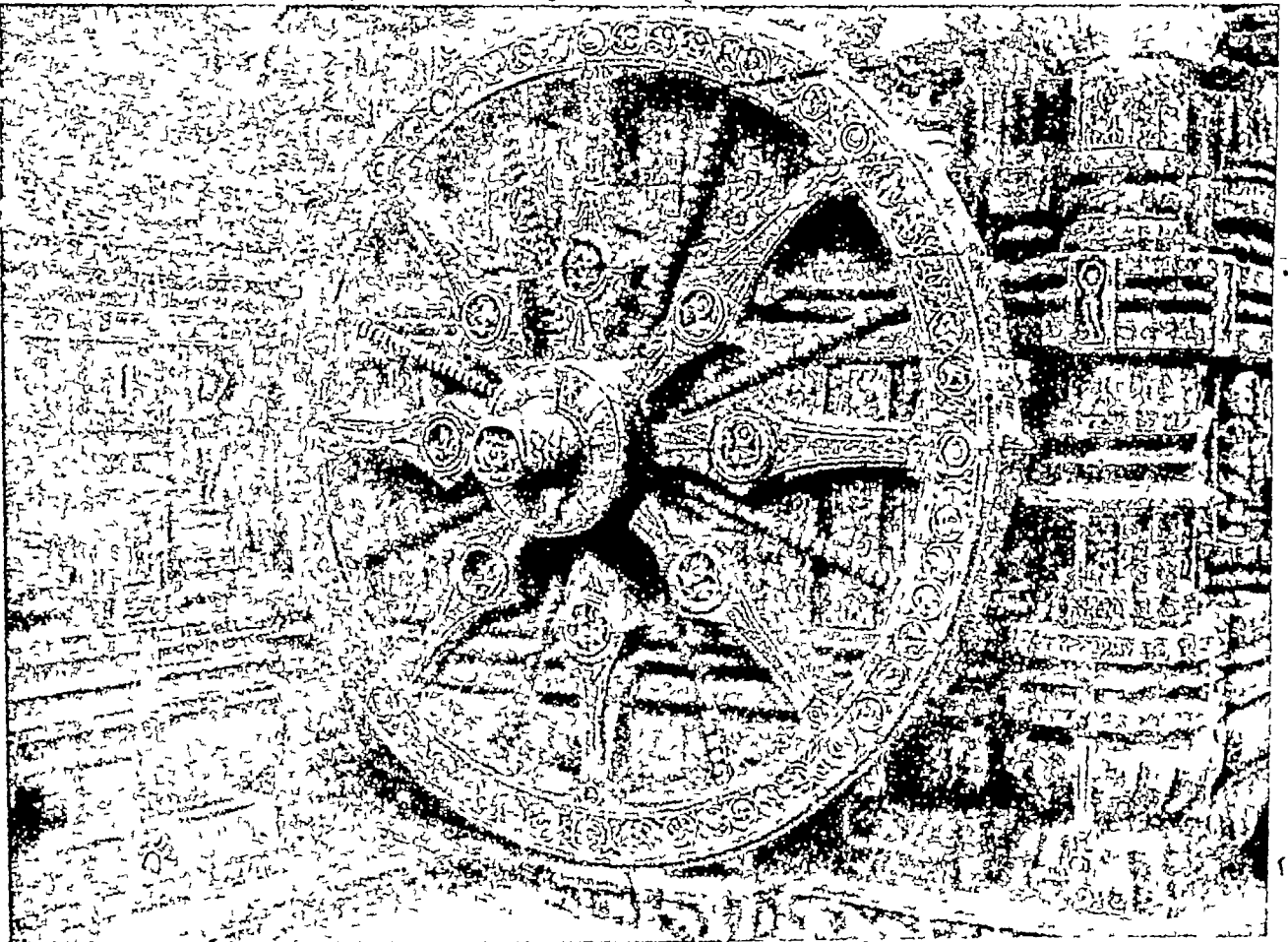
मनुष्य की सौन्दर्योपासना और कला की भूख का एक उत्कृष्ट उदाहरण

उड़ीसा के कोनार्क नामक स्थान में कई शताब्दियों पूर्व पाषाण में बने हुए सूर्य के रथ का एक चक्र, जो इस बात को पुकार-पुकार कर कह रह रहा है कि चिरकाल ही से भौतिक आवश्यकताओं की पूर्त्ति के साथ-साथ अपनी आध्यात्मिक भूख मिटाने के लिए भी मनुष्य सदैव प्रयत्नशील रहा है—और इसका एक मुख्य क्षेत्र कला का क्षेत्र है।

अल्टामीरा की गुफाओं के कुछ चित्र

कला के लिए मनुष्य की स्वाभाविक चिर पिपासा के बारे में धुरंधर विचारकों और दार्शनिकों द्वारा सदियों से बहुत-कुछ कहा जा चुका है। इस विषय की बहुत-सी बातों पर, चाहे वे कितनी ही उपयोगी या मनोरंजक क्यों न हों, यहाँ इस समय कुछ कहना व्यर्थ है। यहाँ तो इतना ही कहना पर्याप्त है कि जब से मनुष्य का इस पृथ्वी पर आविर्भाव हुआ, तब से ही उसकी आत्मा में मज़बूती से जड़ जमाये हुए सौन्दर्य दर्शन की एक तीव्र भावना सदैव विद्यमान रही है, जिसे वह स्वनिर्मित ध्वनि, आकार और रंग के माध्यम द्वारा अभिव्यक्त करने का सतत प्रयत्न करता रहा है। यह सौन्दर्य-तत्त्व क्या है, इसकी कोई भी ठीक-ठीक शब्दों में परिभाषा नहीं दे सकता, यद्यपि हममें से अधिकांश किसी भी सुन्दर वस्तु को देखने पर अपनी आन्तरिक स्वाभाविक प्रेरणा ही से हृदय में उसका बोध या अनुभूति कर लेते हैं। जिस प्रकार कि हम अपनी बाह्य इंद्रियों द्वारा देखते, सुनते, सूँघते, स्पर्श का अनुभव करते, और स्वाद ले सकते हैं, उसी तरह अपनी आत्मा की स्वाभाविक बोधवृत्ति द्वारा हम किसी सुरीले स्वर, सलोनी रूप-रेखा या रंगों के सुरम्य मेल की भी अनुभूति कर सकते हैं।

जो सोलह से बीस हज़ार वर्ष तक पुराने माने जाते हैं। इनको मनुष्य ने तब बनाया था, जब कि वह प्रागैतिहासिक युग के धुँधले क्षितिज से प्रकट हो रहा था। किन्तु इस समय तक तो उसकी कला का काफ़ी विकास हो चुका था। वास्तव में, मनुष्य में कला का आविर्भाव इससे भी कई हज़ार या संभवत: लाखों वर्ष पूर्व हुआ होगा। (दाहिनी ओर के चित्र में) अल्टामीरा की गुफ़ाओं में दीवारों पर तत्कालीन जानवरों के चित्र बनाते हुए आज से बीस हज़ार वर्ष पूर्व के मनुष्य का एक काल्पनिक चित्र जिससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि जहाँ तक इतिहास की पहुँच है उस युग में भी मनुष्य के मन में कला द्वारा सौंदर्य की अभिव्यक्ति की भावना कितनी तीव्र थी। उन दिनों पृथ्वी के अधिकांश भागों में बर्फ़-ही-बर्फ़ का साम्राज्य था, अतएव मनुष्य प्राय. गुफ़ाओं ही में रहकर जीवन बिताते थे।

आदिम मनुष्य के मन में भी सौंदर्य्य की भावना के ये झिलमिलाते अस्थिर स्वप्न अवश्य ही उठते रहे होंगे, और अपनी अपरिपक्व अवस्था के अंध, अपूर्ण तथा त्रुटिपूर्ण निराले ढंग से सौंदर्य्य की इन अस्पष्ट अस्थिर मानसिक मूर्त्तियों को स्पष्ट और स्थिर रूप देने की आकुल प्रेरणा भी उसने अवश्य ही जाग्रत हुई होगी—ठीक उसी तरह जिस तरह कि आज हम एक अस्थिर किन्तु मनोरंजक दृश्य विशेष का चित्र फ़ोटो के कैमरे द्वारा उतार लेने का प्रयत्न करते हैं।

सौंदर्य्य की एक अस्पष्ट सी चाह की तृप्ति तथा अपने आपको अभिव्यक्त करने की आकांक्षा की पूर्ति के लिए मनुष्य के आदिम संघर्ष और आज के उसके कला के उच्च जीवनादर्श के बीच विगत युगों और महाकल्पों की एक लम्बी-चौड़ी खाई है, जिसको उसके युग-युगव्यापी सहस्रों [illegible]कार के प्रयोग और कठोर [illegible]रिश्रम व तपस्या सेतु की [illegible]रह जोड़ रहे हैं।

आरम्भ में जो एक [illegible]स्पष्ट आन्तरिक पिपासा-[illegible]त्र थी, वही क्रमशः [illegible]नि, आकार और वर्ण [illegible] लय, संतुलन और [illegible]मंजस्य के माध्यम द्वारा [illegible]पने को अभिव्यक्त करने [illegible] एक अतृप्त आकांक्षा [illegible] कभी न बुझनेवाली पिपासा के रूप में परिणत हो गई।

मनुष्य की आत्माभिव्यक्ति का सबसे आदिम रूप वस्तु बाह्य रूप के आकार का प्रदर्शन है। प्रकृतिजन्य [illegible]पदाओं से बचने के लिए उसने अपने रहने का मकान [illegible]ाना सीखा, या अपने उपयोग के लिए कपड़ा बुनने [illegible]थवा अक्षरों का आविष्कार किया, या इसी तरह की नित्य [illegible]योग की हज़ारों दूसरी चीज़ों को बनाने की योग्यता प्राप्त [illegible]से बहुत पहले ही वह रेखाओं से चित्र बनाने लग गया था। इस बात की कल्पना करना कठिन है कि सबसे पहले उसने किस वस्तु का चित्र बनाने का प्रयत्न किया होगा, लेकिन इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि वह कोई ऐसी ही वस्तु होगी, जिससे उसको बहुत प्रेम रहा होगा। निःसंदेह इस बात को समझने में उसे सैकड़ों वर्ष लग गये होंगे कि तालाबों या पोखरों के शांत स्थिर जल पर तथा प्राकृतिक चट्टानों आदि की चिकनी सतहों पर दिखाई पड़नेवाले स्वयं उसके और दूसरों के प्रतिबिंब न तो वानरों जैसे उसके हाव-भावों की हँसी उड़ाते हुए भूत-प्रेत हैं, न स्वयं उसी की मानसिक भ्रांति के फलस्वरूप उत्पन्न छलनाएँ ही, साथ ही यह कि ये अस्थिर प्रतिबिंबित चित्र जल के अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तु पर उनकी छाया की आकृति के आस-पास रेखा खींचकर चिरस्थायी बनाये जा सकते हैं। उसके अपरिपक्व मस्तिष्क में धीरे-धीरे यह बात जमी होगी कि स्वयं अपने तथा अपने अन्य प्रिय व्यक्तियों के चित्र बनाने का सबसे सरल ढंग यही है कि पहले सूर्य्य की रोशनी से पड़नेवाली अपनी या किसी की छाया की बाहरी रूप-रेखा अंकित कर दी जाय, और फिर उन रेखाओं से घिरे हुए भाग को किसी ठोस रूप देनेवाले पदार्थ से भर दिया जाय, जिससे कि एक छायाचित्र सा बन जाय और असली वस्तु का रूप रंग स्थाई रूप से अंकित हो जाय।

भारत की प्राचीन चित्रकला का एक उत्कृष्ट नमूना

अजंता की गुफा का एक चित्र जो ढाई हज़ार वर्ष पुराना माना जाता है।

यही मेरे विचार से चित्रकला के आरम्भ का सर्वप्रथम रूप रहा होगा और इसी तुलना में "बारहसिंगा युग" के अथवा अल्टामीरा की गुफाओं या और स्थानों में पाये गये प्राचीन मनुष्यों के चित्रकला के नमूने निस्सन्देह बहुत अधिक बाद के युग के हैं।
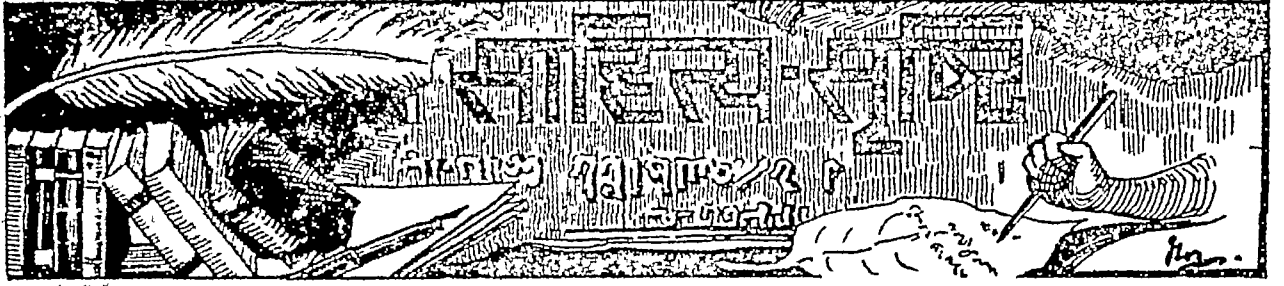
साहित्य क्या और कैसे ?

मनुष्य की सभ्यता और उन्नति का चरम विकास और उसका सबसे अद्भुत आविष्कार न तो रेल और हवाई जहाज़ ही हैं, न पेचीदा यन्त्रों से भरे हुए उसके वे कल-कारख़ाने ही जिनका हाल आप ऊपर वर्णित स्तंभों में पढ़ चुके हैं। उसकी सबसे अद्भुत सृष्टि वास्तव में उसकी साहित्य-सृष्टि है। वह कौन-सा साधन है जिसकी बदौलत आपको आज से हज़ारों वर्ष पूर्व या हज़ारों मील दूर की बातों या घटनाओं का हाल आज घर बैठे मालूम हो जाता है? इसी समय आप इस पुस्तक द्वारा मानव-जाति के अब तक के संचित ज्ञान की जो झलक पा रहे हैं, वह मनुष्य के भाषा और अक्षरों के अद्भुत आविष्कार ही का फल है। ज्यों-ज्यों हम अपनी पुस्तकों के पन्ने उलटते हैं, वर्तमान और भूतकाल के एक-से एक बढ़कर गंभीर विचारकों को मूर्तिमान होकर अपने साथ कल्पना के मधुर लोक की सैर कराने के लिए हम तत्पर पाते हैं। यह विभाग इन्हीं सब साहित्यकारों और उनकी रचनाओं का चित्रपट है।

मैं अपने कमरे की खिड़की से एक दृश्य देख रहा हूँ, अमीरों के प्रासाद और अट्टालिकाएँ, ग़रीबों की झोपड़ियाँ, मोटर, ताँगे, इक्के, विविध रंग की रेशमी साड़ियाँ पहने हुए महिलाएँ, चीथड़े लपेटे, भीख माँगते हुए भिक्षुक, इत्यादि।

इस दृश्य को देखकर मेरे मन में भाव जाग्रत हो रहे हैं, एक प्रतिक्रिया हो रही है। मैं विचार कर रहा हूँ अमीरों-ग़रीबों के आर्थिक असाम्य पर। ग़रीबों की दयनीय दशा देख मेरी आँखों में आँसू छलछला आये हैं। अमीरों का ऐश्वर्य देख मैं क्रोध से दाँत पीस रहा हूँ। मैं इस जीवन के वैषम्य का दोषी भाग्य को न ठहराकर मानव की स्वार्थान्धता को ठहरा रहा हूँ।

मैं इस जगत को दो प्रकार से देख रहा हूँ। एक प्रकार है, इन्द्रियों की अनुभूति द्वारा, दूसरा, विचार द्वारा। यह दोनों ही प्रकार मुझे वस्तुस्थिति समझाने में सहायक हैं। अंतर केवल इतना ही है कि प्रथम प्रकार से मैं बाह्य पदार्थ-संसार को देख भर लेता हूँ, और दूसरे प्रकार से मैं बाह्य पदार्थ-संसार पर मस्तिष्क का प्रयोग करके समाज के हिताहित को देखता—समझता हूँ।

मनन करने पर हमको यह समझने में देर न लगेगी कि दूसरा प्रकार ही अधिक विस्तृत तथा उपादेय है। इन्द्रियों द्वारा तो मुझे केवल अपने कमरे या कमरे से बाहर के सीमित जगत् का ही ज्ञान उपलब्ध होता है, पर विचार द्वारा तो मैं विश्व-भर का भ्रमण एवं दर्शन कर आ सकता हूँ।

दूसरे प्रकार द्वारा ही साहित्य का बीजारोपण हुआ है। मानव को जब अपने विचारों, रीति-रस्मों और अनुभवों को एक स्वरूप देने एवं सुरक्षित रखने की आवश्यकता प्रतीत हुई, तो वह ईश्वर की सृष्टि से भी अधिक सुन्दर सृष्टि-रचना की खोज में अग्रसर हुआ। यही खोज कला एवं साहित्य की जननी है।

जीवन के प्रभात में मानव कितना संबलहीन होगा, इसका अनुभव हम अपनी सभ्यता के मध्याह्नकालीन प्रकाश में बहुत कुछ कर सकते हैं। जब अकाल पड़ता है और मानव भूख से तड़पता फिरता है, तब हमारी आँखों के सामने एक दारुण दृश्य उपस्थित हो जाता है। उस आदि काल में, जब पहले-पहल मानव हृदय में अपने साथी को कष्ट से चीख़ते हुए सुन और देखकर करुणा का संचार हुआ होगा, तब हृदय सहानुभूति के दो शब्द फ[illegible] कैसा तड़पा होगा! जी ने कितने अभाव का अ[illegible] होगा!

मेरे पड़ोस में एक गूँगा रहता है। वह प[illegible]

जब उसे भूख लगती है, थाली लाकर रख देता है। प्यास लगती है तो गिलास हाथ में ले लेता है। जब थाली नहीं होती, मुँह में झूठमूठ को कौर बनाकर रखता है। गिलास नहीं मिलता तो शोक करके बैठ जाता है। जीवन के उषा-काल में भाषा के अभाव में मानव का व्यवहार इस गूँगे के व्यवहार से मिलता जुलता ही रहा होगा, यह निश्चय पूर्वक कहा जा सकता है। इंगितों का प्राधान्य रहा होगा। आवश्यकताओं के आधिक्य मे पारस्परिक विचार-विनिमय के समय प्रकृति के विविध दृश्य एव पदार्थों से काम निकाला गया होगा। उनके अभाव में उनके चित्र बनाये गये होंगे। यही प्रथम चित्र बदलते-बदलते सहस्रों वर्ष बाद आधुनिक अक्षरों के रूप में हमारे सम्मुख उपस्थित हैं।

प्रत्येक अक्षर जो हम पढ़ते लिखते हैं, कल्पना की नींव पर अवस्थित है। कहारिन जैसे बर्त्तनों को जूने-मिट्टी से माँजकर स्वच्छ कर देती है, वैसे ही मानव ने भी कल्पना के जूने-मिट्टी से भोंड़े बदसूरत चित्रों एव चिह्नों को माँज-माँजकर आधुनिक रूप दिया है। प्रत्येक अक्षर एक अमिट स्मृति है—मानव के कृत्यों को अमर बनाने का साधन है—मानव को मानवता के सूत्र में बाँधने का, जीवन की विभिन्नता में एकता संपादन करने का एक अमूल्य उपाय है। यह वह अमर ज्योति है, जिसके अभाव में मानव मानवता की परिधि से बाहर रह जाता और सदैव अज्ञान के लोक में कालयापन करता रहता।

ज्ञान और विज्ञान की विविध स्रोतस्विनियों के वर्तमान स्वरूप का श्रेय अक्षर ही को है। अक्षर 'अक्षर' है। यदि ऐसा न होता तो वेद और उपनिषद्; कुरान और इंजील,

आदि काव्य का जन्म

संसार के साहित्य के इतिहास में साहित्य के उद्‌गम पर प्रकाश डालनेवाला इससे अधिक ज्वलंत उदाहरण हमें शायद ही और कहीं मिलेगा, जैसा कि हमारे साहित्य में आदि कवि वाल्मीकि की प्रथम काव्यधारा के प्रस्फुटन संबंधी उपाख्यान में मिलता है। कहते हैं, व्याध के बाण से हत क्रौंच (कुररी) पक्षी की तड़पन से आदि कवि का हृदय करुणा से आर्द्र हो उठा था और उसी समय उनके मुख से आप ही आप अनुष्टुप छंद में कविता की धारा फूट पड़ी थी। ऋषि ने इसी छंद मे बाद में अपने महाकाव्य 'रामायण' की पूरी रचना कर डाली।

रामायण और महाभारत, होमर की वीर-गाथाएँ, सुकरात और प्लैटो के अमर वचन, कबीर और सूर के अमर पद आज कभी के मिट गये होते और इन सबके अभाव में आधुनिक साहित्य का, हमारी सभ्यता का, निश्चय ही दूसरा स्वरूप हुआ होता।

अक्षर को 'अक्षर' या अक्षुण्ण बनाये रखने का श्रेय मुद्रणालय को है। मुद्रणालय के आविष्कार के पहले पुस्तकों का उत्पादन-क्षेत्र बहुत ही संकुचित तथा सीमित था। कहीं वर्षों में एक पुस्तक लिखी जाती थी। पाठकों की संख्या भी सीमित ही थी। ज्यों-ज्यों ज्ञानेषणा बढ़ती गई, उत्पादन-क्षेत्र भी विस्तृत होता गया। पर उत्पादन-कार्य में वास्तविक प्रेरणा उन बालकों द्वारा मिली, जो खेल के लिए उद्यान में छाल पर अक्षर काटकर छाप रहे थे। हमारा आधुनिक मुद्रणालय उसी खेल का मार्जित स्वरूप है।

साक्षरता एवं सभ्यता के प्रसार मे मुद्रणालय का प्रमुख भाग है। यदि कहा जाय कि हमारी सभ्यता की प्रगति अधिक-से-अधिक पुस्तकों एवं समाचारपत्रों के उत्पादन पर अवलंबित रही है, तो अत्युक्ति न होगी। सफल सामाजिक जीवन के लिए साक्षरता अनिवार्य है। जिस प्रकार भोजन और आच्छादन हमारे जीवन के लिए परमावश्यक हैं, उसी प्रकार साक्षर होना है। साक्षरता के अभाव में मानव कंदरा-निवासी पूर्वजों के ही युग मे श्वासें भरता दृष्टिगोचर होता है। प्रातःकाल बिस्तरे पर से उठते ही सर्वप्रथम समाचारपत्र चाहिए। उसका अभाव आज उतना ही खलता है, जितना भोजन का। मानव का हित बहुत अंशों में साक्षरता पर निर्भर है। साक्षरता की उन्नति पर ही साहित्य की उन्नति अवलंबित है। ज्यों-ज्यों मानव को अपने हित का ज्ञान बढ़ता जायगा, उसी अनुपात से सुन्दर साहित्य की रचना होगी। साहित्य शब्द तभी सार्थक होगा। यह समझ लेना आवश्यक है कि साहित्य शब्द उन्हीं ग्रन्थों पर लागू होता है, जिनमें सार्वजनीन हित संबंधी विचार सुरक्षित है। साहित्य में प्राकृतिक दृश्यों, नगरों, वनस्पतियों, महलों, झोपड़ियों, खेतों, वृक्षों, नदियों, पुलों इत्यादि का वर्णन केवल वर्णन के लिए नहीं होता; वरन् इस दृष्टि से कि इन सबकी मानव के लिए क्या उपादेयता है, इनसे मानव का क्या बनता-बिगड़ता है। जहाँ तक इनका संबध मानव से है, वहीं तक इनका साहित्य में स्थान है। साहित्य के लिए मानव मुख्य है, इसीलिए साहित्य का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। साहित्य के अंतर्गत मानव-जीवन से संबंध रखनेवाली समस्त प्रकट एव गुप्त बातें और प्रकृति की समस्त ज्ञान-क्रियाएँ हैं। जो कुछ मानव ने किया, कहा और विचारा है, उस सबका समावेश साहित्य मे है। इसी कारण मानव-जीवन पर साहित्य का पूर्ण प्रभाव रहा है। साहित्य को ही हमारी सभ्यता का सर्वाधिक श्रेय प्राप्त है।

जो संबध विश्वास और प्रेम का है, वही साहित्य और सभ्यता का है। यह संबंध थोड़ा विचारणीय है। आप और हम वर्तमान में रहते हैं, पर निरे वर्तमान के लिए नहीं, भविष्य के लिए भी। बर्बर और सभ्य में यही तो अंतर है। बर्बर वर्तमान के लिए जीवित है, सभ्य वर्तमान के लिए और भविष्य के लिए भी। हमारी सभ्यता का आधुनिक स्वरूप मेरे इस कथन को प्रमाणित करता है। जीवन एक विकास है। मानव का वर्तमान स्वरूप विकास का प्रतिफल है। हम एकदम वृद्ध नहीं हो जाते—शिशु, बालक, युवा, प्रौढ़—इनके पश्चात् कहीं वृद्ध होने की नौबत आती
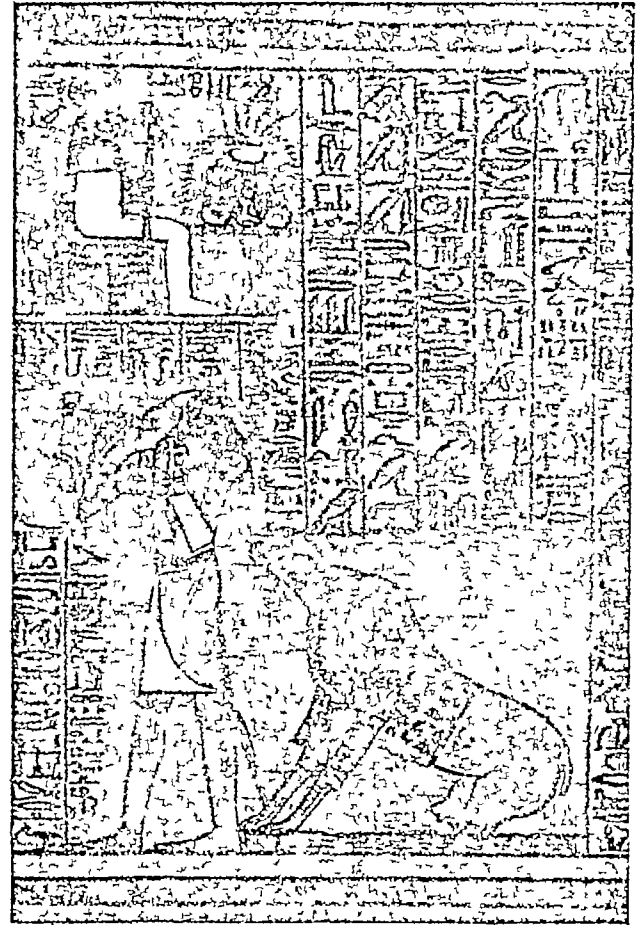
हज़ारों वर्ष पूर्व के अक्षर

यह कई हज़ार वर्ष पूर्व के मिस्र के समाधि स्तूप से प्राप्त लेखों के एक अंश का चित्र है। इनमें से अधिकांश अक्षर वस्तुओं के चित्र के रूप में होते थे। इन्हीं से आगे चलकर आधुनिक ग्रीक आदि की वर्णमालाओं का विकास हुआ।

है। यही दशा सभ्यता की है। ज्यों-ज्यों विचारशीलता बढ़ती गई, स्वार्थांधता की अपेक्षा निःस्वार्थ भावना मान्य समझी जाने लगी। साथ-ही-साथ साहित्य का दृष्टिकोण भी बदलता गया और सभ्यता विकसित होती गई।

साहित्य की तुलना सरिता से की गई है। सरिता सदैव प्रवाहित रहती है। साहित्य की भी यही दशा है। कारण मानवता इसके सतत प्रवाहित रहने में ही है। जीवन परिवर्तनशील है। जिस जगत् में हम रह रहे हैं, उसका अर्थ ही है चलते रहना। साहित्य यदि सरिता न होकर एक तलैया अथवा पुष्करणी जैसा होता, तो मनुष्य बर्बर ही रहता और जिसको हम संस्कृति अथवा सभ्यता कहते हैं, उसका अस्तित्व ही न होता।

साहित्य द्वारा ही हम ऋषियों की अमृत वाणी, जो वेदों उपनिषदों, ब्राह्मणों, दर्शनों और पुराणों में सुरक्षित है, सुन सकते हैं—वेदव्यास, वाल्मीकि, तुलसी, सूर, जायसी, महात्मा बुद्ध, मीरा बाई, प्लेटो, सुक़रात, कबीर, शेक्सपीअर, गेटे, दाँते, ह्यूगो, वाल्ट विट्मैन, कीट्स, शैली इत्यादि महान् कवियों, दार्शनिकों, इतिहासकारों, औपन्यासिकों, आदि से वार्तालाप कर सुख पा सकते हैं। साहित्य का महत्व ही यह है कि वह महान्-से-महान् और छोटे-से-छोटे व्यक्तित्व को हमारे निकटतम कर देता है। साहित्य द्वारा हम वाह्य जगत् को भली प्रकार समझने में समर्थ होते हैं। जितना भी हमारा निजी अथवा व्यक्तिगत दृष्टिकोण मार्जित होगा, उतना ही हम मानवीय एवं प्राकृतिक जीवन को समझने में सफल हो सकेंगे।

संक्षेप में साहित्य मानव-जाति का एक वृहत् मस्तिष्क है। जिस भाँति व्यक्तिगत रूप से हम निज के अनुभव का लेखा अपने मस्तिष्क में सुरक्षित रखते हैं और इस पूर्वानुभव के द्वारा नवीन ज्ञान और अनुभव प्राप्त करना चाहते हैं, उसी भाँति समष्टि रूप में मानव-जाति का अब तक का अर्जित ज्ञान एवं अनुभव साहित्य में सुरक्षित है। मानव अपनी वर्तमान परिस्थिति को समझने के लिए इसी पूर्वार्जित ज्ञान पर पूर्णतया निर्भर है। निरी इन्द्रियों द्वारा अर्जित अनुभव मस्तिष्क के सहयोग के अभाव में निरर्थक हो जाते हैं।
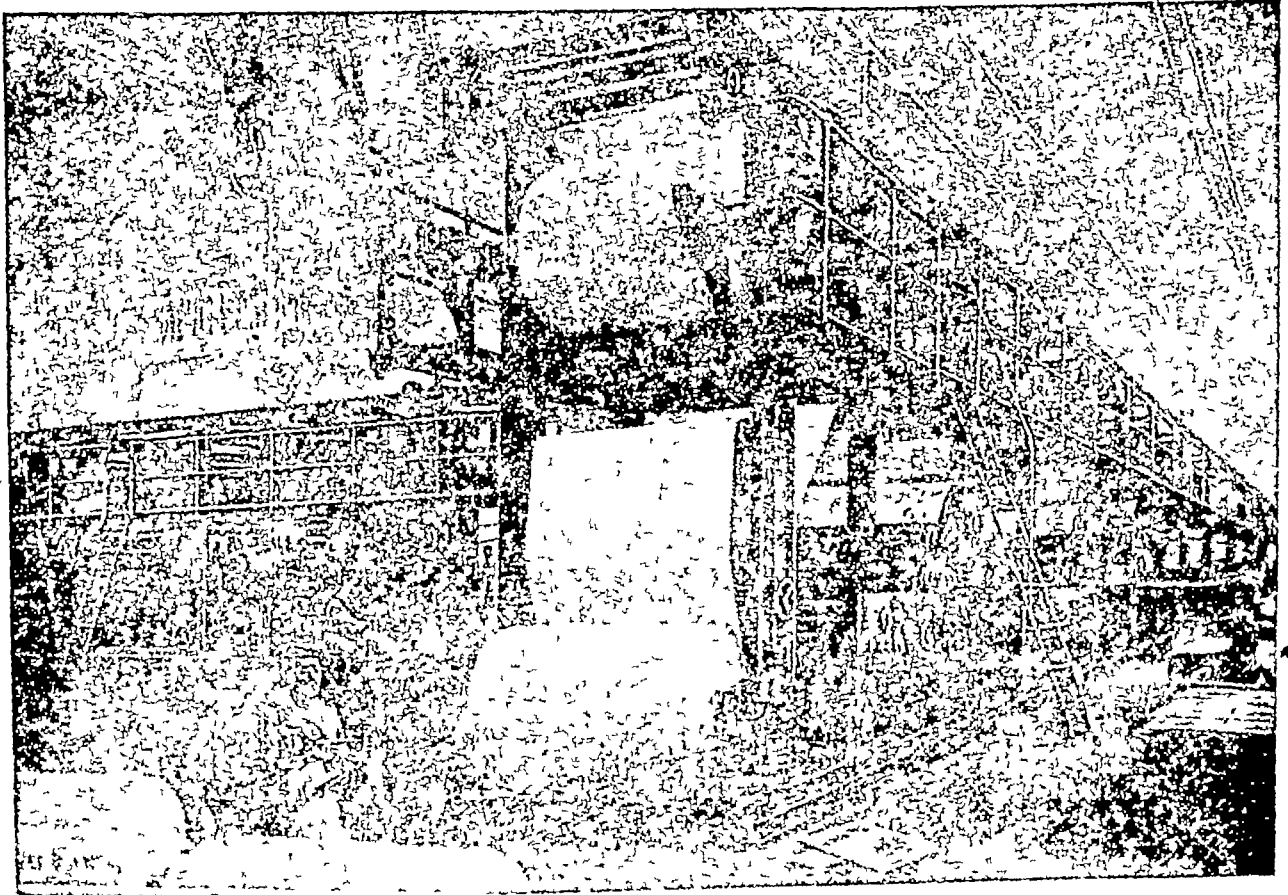
मुद्रण-यन्त्र या छापे की कल

जिसने 'साहित्य' का संदेश पृथ्वी के इस छोर से उस छोर तक पहुँचा दिया है। [फ़ोटो 'टाइम्स आफ़ इण्डिया प्रेस' की कृपा से प्राप्त]

पृथ्वी के देश और उनके निवासी

पृथ्वी के भिन्न-भिन्न भागों में बिखरी हुई भिन्न-भिन्न विशेषताओं से युक्त मनुष्य की जातियों और उनकी निवासभूमि का दिग्दर्शन।

पृथ्वी पर अपना एकछत्र शासन जमाये हुए मनुष्य और उसकी आश्चर्यजनक, उपयोगी तथा कलात्मक कृतियों का परिचय आपको पिछले स्तंभों में मिल ही चुका है। अब यह देखना है कि साहित्य, कला आदि के क्षेत्रों में पुरातन काल से अब तक इतनी आश्चर्यजनक उन्नति करनेवाली तथा अपने सतत् परिश्रम और उद्योग से ज्ञान का भण्डार भरनेवाली मानव-जाति किन-किन देशों में किस-किस रूप में निवास करती है। पृथ्वी का तीन-चौथाई भाग जल और एक चौथाई भाग स्थल है। संसार की आबादी लगभग एक अरब और बीस करोड़ है। इस आबादी का आधे से ज़्यादा हिस्सा एशिया के भिन्न-भिन्न देशों में बिखरा पड़ा है और शेष भाग योरप और अमेरिका में। जैसे कि पृथ्वी की सतह पर अनगिनत जातियों के पेड़-पौधे, जीव-जन्तु पाये जाते हैं—वैसे ही पृथ्वी के भिन्न-भिन्न देशों में मनुष्य की भी भिन्न-भिन्न जातियाँ पाई जाती हैं। भारत के बम्बई या कलकत्ता-जैसे बड़े नगरों में एक ही साथ चीनी, हब्शी, काबुली, तुर्क, ईरानी, अमेरिकन, जापानी आदि भिन्न-भिन्न देशों के लोग देखने में आते हैं। चीनी कागज़, मिट्टी आदि के रंग-बिरंगे खिलौने बेचते हुए, अफ़ग़ान-"हींग लो हींग" चिल्लाते हुए या किसी ग़रीब हिन्दुस्तानी से रुपयों का तक़ाज़ा करते हुए दिखाई देते हैं। एक ही देश के भिन्न-भिन्न प्रान्त में भिन्न-भिन्न रहन-सहन, वेश-भूषा और भाषावाले लोग पाये जाते हैं। भारतवर्ष को ही लीजिये। बंगाली महाशय धोती और कुर्ता पहनते हैं, सिर पर टोपी नदारद! चपकन और चूड़ीदार पायजामा पहने, दुपल्ली टोपी लगाये युक्त-प्रान्त के लखनौआ भाइयों को भी देखिये। इसी तरह गुजरात, महाराष्ट्र, सिन्ध, पंजाब, कश्मीर आदि में भी विभिन्न भाषा-भाषी भिन्न

उत्तरी ध्रुव के बरफीले प्रदेशों में रहनेवाले 'एस्किमो'
जो वर्फ़ की बड़ी-बड़ी शिलाओं के घर बनाकर उनमें रहते हैं!
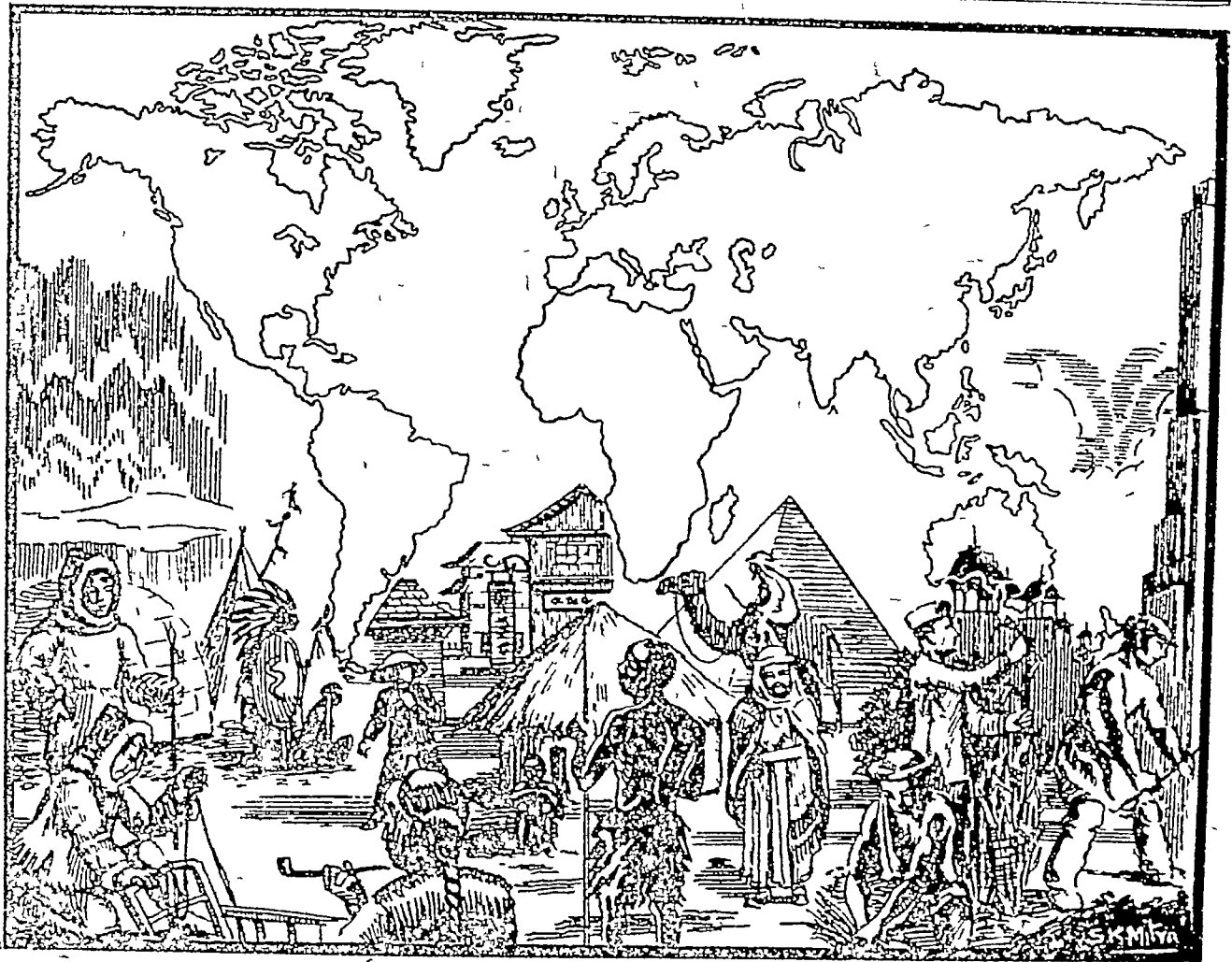
संसार में बसनेवाली विभिन्न रंग-रूप की जातियाँ

(बाईं से दाहिनी ओर) बरफ़ीले ध्रुव प्रदेशों के निवासी एस्किमो, अमेरिका के लाल चमड़ीवाले मनुष्य, पीली चमड़ीवाले चीनी और जापानी, मोटे होठ और काली चमड़ीवाले हब्शी, रेगिस्तानों के निवासी ख़ानाबदोश अरब, अधिकतर गाँव में बसनेवाले और खेती पर बसर करनेवाले भारतीय, तथा योरप-अमेरिका में बसनेवाले गोरी जाति के लोग ।

वेश-भूषा वाले लोग रहते हैं। एक ही देश में कितनी जातियाँ, कितनी भाषाएँ, कितनी विभिन्न रहन-सहन की रीतियाँ, कितने भिन्न धार्मिक विश्वास मिलते हैं। इससे यह मालूम हो सकता है कि संसार के अन्य देशों में भी कितनी भिन्न प्रकार की संस्कृति, वेश-भूषा, भाषा और चाल-ढाल वाले जन-समुदाय होंगे। इन सब विभिन्नताओं का एक प्रमुख कारण प्रत्येक देश की भौगोलिक स्थिति भी है। प्रत्येक देश का वातावरण मनुष्य के रंग-रूप, रहन-सहन, तथा सांस्कृतिक, धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक, ऐतिहासिक विकासों पर बहुत प्रभाव डालता है। अफ्रीका के हब्शी काले-काले और मोटे-मोटे होठवाले क्यों? योरप-निवासी गोरे रंग और नीली-नीली आँखवाले [illegible]? चीनी और जापानी पीले रंग और छोटी-छोटी [illegible] क्यों? यह सब अलग-अलग देशों के वातावरण का ही प्रभाव है। संसार के विशाल चित्रपट पर मानव-जाति की हज़ारों तरह की जुदा-जुदा चलती-फिरती तस्वीरें नज़र आती हैं। यदि संसार को एक बड़ा भारी पिंजड़ा मान लें तो विभिन्न जन-समुदाय रंग-बिरंगे पक्षियों-से मालूम होते हैं। विद्वानों का यह मत है कि सबसे पहले मनुष्य पश्चिमी एशिया के दक्षिण में रहते थे, जहाँ कि हरे-भरे मैदान थे। धीरे-धीरे वे लोग भिन्न-भिन्न दिशाओं की ओर बढ़ते गये। एक समुदाय सुदूर दक्षिण अफ्रीका की ओर गया और तेज़ गर्मी के कारण उक्त समुदाय के लोग काले पड़ते गए। इसी तरह दूसरा समुदाय चीन, जापान और पैसिफ़िक के द्वीपों में जा बसा। इस समुदाय के लोग पीले रंगवाले होते हैं। योरप की ओर जो लोग गये वे शीत-प्रधान वातावरण के कारण गौर वर्ण के हो गये। इन मनुष्य-समुदायों का भ्रमण जारी रहा और

भिन्न-भिन्न देशों के वातावरण के अनुसार उनकी आकृतियों और रहन-सहन आदि मे परिवर्तन होते गये। जैसे-जैसे मनुष्य की बुद्धि का प्रकृति के सम्पर्क से विकास होता गया और जैसे-जैसे उसने प्रकृति की छिपी हुई शक्तियों तथा धरातल पर बिखरी हुई वस्तुओं के उपयोगों का ज्ञान प्राप्त किया, वैसे-वैसे वह उत्तरोत्तर सभ्यता की सीढ़ियों पर चढ़ता गया। पशु-पालन, खेती-बारी, परिवार, छोटे छोटे वर्ग-समुदाय, समाज, राष्ट्र आदि सब क्रमशः उसके विकास के ही रूप हैं। आज भी यदि एक ओर अफ्रीका की जंगली जातियाँ छोटे-छोटे झोपड़ों में निवास करती हैं तो दूसरी ओर अमेरिका की साठ-साठ, अस्सी-अस्सी मंज़िलोंवाली अट्टालिकाओं मे गौर वर्ण की जाति रह रही है। कहीं जनता सामाजिक और राजनीतिक नियमों से बद्ध है तो कहीं बिल्कुल मुक्त।

कितना आश्चर्यजनक है यह संसार! दुनिया के नक़्शे पर कितनी रेखाएँ खिंचीं और मिटीं—कितनी संस्कृतियाँ निर्मित हुईं और नष्ट हो गईं—कितनी सभ्यताएँ और साम्राज्य क़ायम हुए और आख़िर इस सृष्टि के विराट रेतीले मैदान में अपने पद-चिह्नों को छोड़कर सब विलीन हो गये! और आज की दुनिया के नक़्शे पर टेढ़ी-मेढ़ी रेखाओं ने दुनिया को भारत, चीन, तिब्बत, बर्मा, लङ्का, इंगलैण्ड, फ्रांस, जर्मनी, इटली, अरब, स्विट्ज़रलैण्ड, हालैंड, हंगरी, ऑस्ट्रिलिया, ऑस्ट्रेलिया, नॉरवे, स्वीडन, अमेरिका आदि-आदि देशों में विभाजित कर रक्खा है। आइये, हम लोग दुनिया के इन्हीं में से कुछ देशों पर एक विहंगम दृष्टि डाल लें।

इस पृथ्वी का कुछ भाग शीत प्रधान है तो कुछ गरम। कहीं सूर्य देवता नियमित रूप से जागते और सोते हैं तो कहीं छः-छः माह तक सोते रहते हैं। कहीं-कहीं बारहों महीने बर्फ़ जमी रहती है—कहीं ज्वालामुखी पहाड़ धुआँधार लावा उगलते रहते हैं। ग्रीनलैण्ड के पास, जो कि ध्रुव उत्तर में है और जहाँ सदैव बर्फ़ जमी रहती है, "एस्किमो" जाति के लोग रहते हैं। इन लोगों को न तो लकड़ी-कोयला मिलता है, जिससे कि ये लोग आग जलाकर अपने को गरम रख सकें और न इनको अन्न पैदा करने की ही सुविधा है।

ये लोग सील नामक जन्तु के चमड़े तथा लकड़ी, या ह्वेल की हड्डियों से छोटी-छोटी नौकाएँ बनाते हैं और मछली आदि का शिकार करते हैं। गर्मी के मौसम में यहाँ कई हफ़्तों तक सूरज नहीं डूबता। जाड़ो में ये लोग जमे हुए बर्फ़ के बड़े-बड़े टुकड़ों से छोटे-छोटे स्तूप-जैसे घर बनाते हैं तथा ह्वेल की चर्बी को विचित्र क़िस्म के दीयों में जलाते हैं, जिससे कि रोशनी रहती है। ये लोग बड़े पेटू होते हैं। जब इनको बहुत-सा मास मिल जाता है, तो इतना खा लेते हैं जितना कि एक अंग्रेज़ सात दिन में खाता है।

उत्तरी अमेरिका में बसनेवाली लाल चमड़ीवाली जाति भी विचित्र है। अब यह जाति बहुत-कुछ सभ्य हो चली है। जब तक यूरोपियन यहाँ नहीं आये थे, तब तक ये लोग आदिम अवस्था में ही थे। तीर-कमान आदि ही इनके हथियार थे। भैंसे के चमड़े के बने हुए तम्बुओं में ये लोग रहते थे और इधर-उधर घूमा करते थे। ये लोग बड़े लड़ाके होते थे और जब अपने से विरुद्ध गिरोह पर चढाई करना चाहते थे तो गाँव-गाँव में लड़ाई के लिए तय्यारी करने का संदेश दूतों द्वारा भिजवाया करते थे। सदेश पाते ही सब लोग एक स्थान पर इकट्ठा हो जाया करते थे, फिर युद्ध-नृत्य करते थे और रण-

रेगिस्तानों के निवासी अरब
जिनका जीवन ऊँटों पर और ख़ेमों ही में बीतता है।

चीन के पेकिंग शहर की एक गली का दृश्य

दूकानों पर लगे आकर्षक साइनबोर्डों और स्त्री-पुरुषों की विचित्र वेश-भूषा की छटा देखिए।

अब ये लोग सभ्य बन रहे हैं।

आधुनिक जापान निवासियों ने यद्यपि पिछले सौ-सवा सौ वर्षों में आश्चर्यजनक उन्नति कर ली है, किन्तु इससे पहले तक ये लोग संसार के शेष भागों से बिल्कुल कटे हुए से थे। अब तो जापान संसार का एक शक्तिशाली राष्ट्र है। यह "फूलों का देश" कहा जाता है—क्योंकि यहाँ के लोग बहुत पुष्पप्रेमी होते हैं।

भारत के पड़ौसी चीन, तिब्बत और बर्मा के लोग बौद्ध धर्म के माननेवाले हैं। चीन-जापान के लोगों की आकृतियों में बहुत-कुछ समानता है। ये लोग पीले वर्ण के होते हैं। चीन की सभ्यता बहुत प्राचीन है। यहाँ की मीलों लम्बी प्राचीन "चीनी दीवार" संसार के आश्चर्यों में से है। चीन के किसी शहर में चले जाइये। छोटी छोटी तङ्ग सड़कें, आकर्षक दूकानें, बाढ़ की तरह उमड़ता हुआ जन समुदाय आप देखेंगे। इन दूकानों के साइनबोर्ड कैसी आकर्षक भाषा में दूकानों की ख़ूबियाँ बतलाते हैं! चाहे कोयले की दूकान हो, पर नाम होगा "सोने की खान"!

यात्रा के लिए चुपचाप चल पड़ते थे। यदि कहीं बीमारी फैलती थी या अकाल पड़ता था तो कई लोग नृत्य करने के बाद भारी-भारी गुँथे हुए एक प्रकार के डण्डे लेकर 'हाकी' के खेल-सा मिलता-जुलता एक खेल खेलते थे। अन्तर इतना ही था कि इनके 'गोल' एक-एक मील की दूरी पर होते थे। गेंद हवा में उछाल दी जाती थी और खेल प्रारम्भ हो जाता था। फिर क्या था—डण्डों से वे एक-दूसरे के हाँथ-पाँव तक तोड़ डाला करते थे और कभी-कभी तो भीषण प्रहारों से लोग मर भी जाते थे।

दूकानों में स्त्रियों के लिए छोटे-छोटे एड़ीदार बूट टँगे हैं। जिस स्त्री के जितने ही छोटे पैर हों वह सौन्दर्य की दृष्टि में उतनी ही बढ़ी-चढ़ी मानी जाती है। लोहे के जूतों में इनके पैर छुटपन से फँसा दिए जाते हैं, जिससे कि वे बढ़ने नहीं पाते। अब यह दुःखदायी रिवाज़ दूर हो रहा है। लुङ्गी लगाये और कभी-कभी टोपी के अन्दर से लम्बी गुँथी हुई चोटी लटकाये हुए चीनी इधर-उधर आते-जाते दिखलाई पड़ते हैं। कोई-कोई घुटी खोपड़ी भी रखते हैं। भारत में भी चीनी लोग सायकिल पर क़ीमती

रेशमी कपड़ों के गट्ठर रखे हुए सम्पन्न व्यक्तियों के बंगलों पर चक्कर लगाते हुए दिखाई पड़ते हैं। चीन में अब बहुत-कुछ जागृति हो गई है। प्रगति की दृष्टि से एशिया में जापान के बाद चीन का ही नम्बर आता है।

भारतवर्ष के उत्तर-पश्चिम में बसे हुए अफ़ग़ान अपने लम्बे चौड़े डील डौल के लिए प्रसिद्ध हैं। अफ़ग़ानिस्तान एक पहाड़ी देश है। यहाँ ख़ून पसीना एक करने पर, कहीं-कहीं पहाड़ी स्थलों में अन्न पैदा होता है। प्रकृति की कठोरता ने अफ़ग़ानों को ताक़तवर, बहादुर और ख़ूँख्वार बना दिया है। ये लोग बन्दूक़ को प्राणों से भी प्यारी वस्तु समझते हैं। इनका निशाना अचूक रहता है। इन्हीं के पड़ौसी अफरीदी लोग सीमा-प्रान्त की अँग्रेज़ी सेना को तङ्ग किये रहते हैं। पहाड़ों में छिपे हुए ये दनादन गोलियाँ दागते हैं। ये बड़े स्वतन्त्रता-प्रेमी हैं। इनको वश में लाना बहुत मुश्किल है।

अब अपने भारत को ही लीजिये। भिन्न-भिन्न वेषभूषा और भाषाओंवाले ३५ करोड़ नर-नारियों की यह शस्य-श्यामला जादूभरी भूमि! उत्तर में संसार का सबसे ऊँचा हिमाच्छादित गिरिराज हिमालय, मध्य में विंध्य-सतपुड़ा की श्रेणियाँ, उनके बीच सिंध, ब्रह्मपुत्र, गंगा, यमुना, नर्मदा आदि बड़ी-बड़ी नदियाँ! विश्व में सर्वप्रथम सभ्यता के सर्वोच्च शिखर पर पहुँचनेवाला यह देश आज भी अजन्ता के विश्व-विख्यात चित्र, एलोरा के पाषाण-मंदिर, बौद्धकालीन स्तूप और संसार के भवनों के मुकुट अद्वितीय ताजमहल को लेकर अपना सिर ऊँचा उठाये हुए है। यही महाकवि वाल्मीकि, कालिदास, व्यास, तुलसीदास आदि की जन्म-भूमि है। यही है राम, कृष्ण, बुद्ध, गांधी आदि महापुरुषों की कर्म-भूमि! तीन हज़ार जातियों का यह देश! हल चलानेवाले, झोपड़ियों में रहनेवाले तीस करोड़ किसानों का यह देश! यही एक ज़माने में साहित्य, कला, विज्ञान, दर्शन आदि का केन्द्र-स्थल रहा है। इस देश के वक्ष स्थल पर कितनी विदेशी जातियों, सभ्यताओं ने क्रीडाएँ कीं! कितने साम्राज्य बने और मिटे! पिछले कुछ सौ वर्षों से यह महादेश अपने आपको मानो भूलकर पीछे की ओर ढुलकता हुआ गुलामी और अज्ञान की ज़ंजीरों से जकड़ गया था। किंतु अब फिर से कैसी जागृति की लहर उठ चली है! आज इसकी झोपड़ियों में कैसी स्वतन्त्रता की भावना जाग उठी है! भारत में हिन्दी, बंगला, मराठी, तामिल, तेलगू, मलयालम, कनाड़ी, गुजराती आदि प्रमुख भाषाएँ बोली जाती हैं। बोल-चाल की भाषाएँ हज़ारों हैं। प्रति डेढ़ सौ मील पर भाषाओं में कुछ-कुछ परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है। संसार का यह सबसे अधिक धर्मप्राण देश है। भिन्न-भिन्न रूप-रंग के मन्दिर, मस्जिद, गिरजे यहाँ के भिन्न-भिन्न धर्मों का अस्तित्व बतलाते हैं।

भारत के दक्षिण-पश्चिम में स्थित अफ्रीका महाद्वीप घने-घने जंगलों, जंगली जातियों, और विचित्र रीति-रिवाजों का प्रदेश है। यह योरप से तिगुना बड़ा है, फिर भी सभ्यता की किरणें इसके घने जंगलों में दूर तक नहीं पहुँच सकीं। अब भी यहाँ कहीं-कहीं शेर आदि भयानक जन्तु दहाड़ते हैं, तो कहीं ढोल बजा-बजाकर बर्बर मनुष्य भय-उत्पादक युद्ध-नृत्य करते रहते हैं। अफ्रीका के "बुशमैन" या बौने लोग जो कि पाँच फ़ीट से अधिक लम्बे नहीं होते, बड़े स्वतन्त्रता-प्रेमी हैं। ये लोग मुख्यतः शिकार करते हैं। ज़हरीले तीरों से

अमेरिका के आदिम निवासियों का एक प्रतिनिधि

ये लाल वर्ण के होते हैं और पंख आदि की बनी आकर्षक रंग-बिरंगी वेष-भूषा धारण करते हैं

बड़े-बड़े जानवर मार डालते हैं। ये भागने में बड़े तेज़ होते हैं। कभी-कभी तो दौड़कर ही दौड़ते हुए जंगली जानवरों के पास पहुँचकर उन्हें मार डालते हैं। कपड़े तो नाममात्र को ही पहनते हैं। गरम राख पर युवकों को सुलाकर उनकी परीक्षा ली जाती है। यदि नौजवान गरम राख पर कुछ समय तक पड़ा रह सके और पीठ की चमड़ी जल जाने पर भी चूँ तक न करे, तो वह परीक्षा में उत्तीर्ण माना जाता है।

अफ्रीका की अन्य जातियाँ झोपड़ियों में रहती हैं। मनुष्य तीर-कमान और भाले लेकर शिकार को जाते हैं। स्त्रियाँ अन्न और तरकारियाँ पैदा करती हैं। दक्षिणी अफ्रीका की "ज़ूलू" जाति के लोगों के झोंपड़े बड़े-बड़े और साफ सुथरे होते हैं। इनके गाँव "क्रआल" कहलाते हैं। ये लोग अन्न पैदा करते, ढोर आदि पालते और घरेलू काम के लिए कुछ हथियार बनाते हैं। अब यहाँ अंग्रेज़ी सभ्यता के संसर्ग से कुछ जागृति हो रही है। अफ्रीका के कई भागों पर विदेशियों का अधिकार है। व्यापार आदि की बागडोर उन्हीं के हाथों में है। अफ्रीका के कुछ निवासी "हब्शी" कहलाते हैं। ये लोग काले-काले और मोटे-मोटे होठोंवाले होते हैं। जंगली जाति के लोग शरीर पर विचित्र रंगों से चित्रकारी किये रहते हैं, और कौड़ियों और जानवरों के दाँतों की बनाई हुई मालाएँ पहनते हैं। आस्ट्रेलिया और उनके आसपास के द्वीपों में भी जंगली जातियाँ पाई जाती हैं।
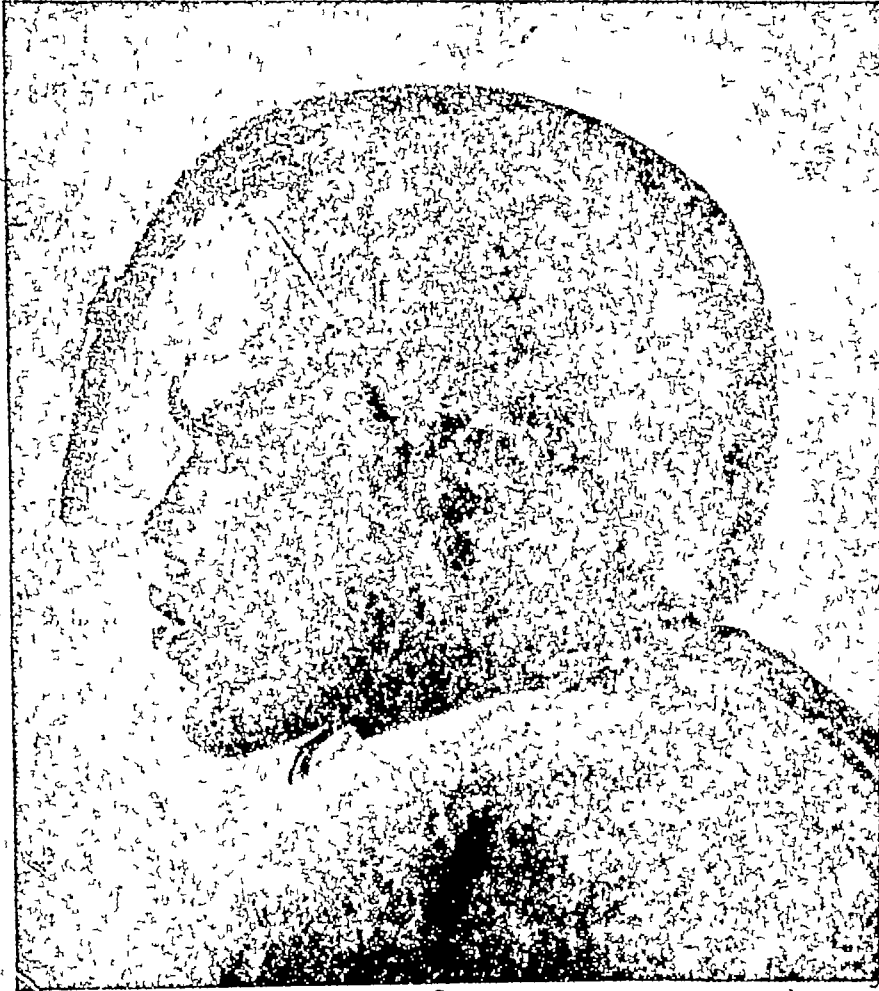
अफ्रीका की जंगली जातियों का एक प्रतिनिधि

इसकी वेश-भूषा और शरीर-रचना अब भी मनुष्य की अपनी यात्रा के आरंभिक युगों की याद दिलाती है, जब वह सभ्यता के बन्धन में नहीं बँधा था और निर्द्वन्द्व विचरता था।

अफ्रीका के उत्तर में स्थित योरप महाद्वीप के देशों के निवासियों ने आज विज्ञान में आश्चर्यजनक उन्नति की है। रेडियो, हवाई जहाज़, मशीनगन, बड़े-बड़े कारखाने, मोटर, रेलगाड़ी आदि-आदि वस्तुएँ इसी महाद्वीप में उत्पन्न सभ्यता के चकाचौंध करनेवाले आविष्कार हैं।

योरप के पश्चिम में अटलांटिक महासागर के उस पार अमेरिका महाद्वीप में भी गोरी जातियों के उपनिवेश हैं, जिनमें से एक "संयुक्त राष्ट्र" आज धन-संपत्ति और शक्ति में सबसे बढ़कर है। अमेरिकन इस बीसवीं शताब्दी की सभ्यता का प्रतीक है। योरप से पैदा हुई सभ्यता का केंद्र अब धीरे-धीरे पेरिस, लंदन या बर्लिन से हटकर और भी पश्चिम में न्यूयार्क या लास एंजिलस की ओर जा रहा है।

हमने ऊपर पृथ्वी पर बसनेवाली मनुष्य जाति के चित्र-विचित्र जमघट पर एक विहंगम दृष्टि डाली, अब आगे के अध्यायों में हम क्रमश: एक-एक देश—जैसे चीन, तिब्बत, ब्रह्मा, जापान, रूस, ईरान आदि को—अलग-अलग लेकर विस्तारपूर्वक उनमें बसनेवाली मनुष्य-जाति का हाल बतावेंगे।
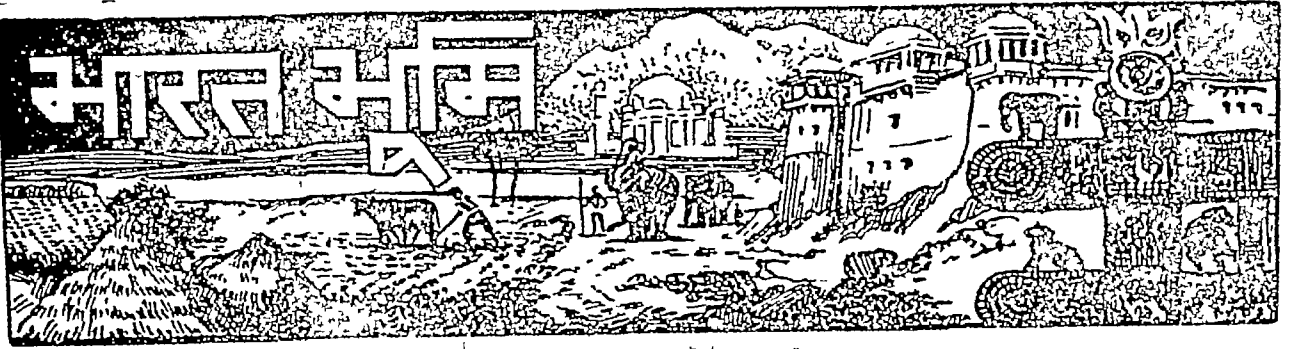
'सुजलां सुफलां....शस्य श्यामलां'

जीते-जागते ३५ करोड़ भारतीयों के सजीव जाग्रत राष्ट्र का मूर्तिमान् चित्र।

भारतवर्ष का नाम सुनते ही हमारे हृदय में कितने विचित्र भाव उठने लगते हैं? संसार के सबसे पहले मानव-सभ्यता को जन्म देनेवाले देशों में इसका विशिष्ट स्थान है। हज़ारों वर्ष पहले ही साहित्य, दर्शन, विज्ञान, शिल्प-कला, संगीत, चित्र-कला, ज्योतिष आदि विद्याएँ यहाँ उन्नत अवस्था को पहुँच चुकी थीं। आज भी बची-खुची देव-भाषा संस्कृत की हज़ारों पुस्तकें, प्राचीन मन्दिर, क़िले, खँडहर आदि अनेक भग्नावशेष इस बात की साक्षी दे रहे हैं। महापुरुषों, कलाकारों, ज्ञानियों, महात्माओं की यह जन्म-भूमि, अनेक सभ्यताओं, संस्कृतियों, साम्राज्यों, भाषाओं का यह "सुजलां, सुफलां, शस्य श्यामलाम्" जादू-भरा देश, अपने हजारों वर्ष के विचित्र इतिहास को लिये हुए एशिया महाद्वीप के दक्षिण में स्थित है।

दुनिया के सात बड़े-बड़े ज़मीन के टुकड़े मान लिये गये हैं—जिन्हें कि महाद्वीप कहते हैं। भारतवर्ष दुनिया के सबसे बड़े महाद्वीप एशिया का एक भाग है। भारतवर्ष एक बड़ा भारी देश है—जादू की पिटारी है—रंग-बिरंगे पक्षियों का एक पिंजड़ा है, प्रकृति और पुरुष का अजायब-घर है। भारतमाता के सिर पर पश्चिम से पूर्व तक फैला हुआ, दो हजार मील लम्बा हिमालय पर्वत का, बर्फ़ की चाँदी से बना हुआ, मुकुट रखा है। इसकी हरी-भरी छाती पर गंगा-यमुना, मोती और नीलम की मालाओं-सी, झूल रही हैं। इसकी बिखरी हुई केश-राशि के समान सिंध, चिनाब, झेलम, व्यास, ब्रह्मपुत्र आदि सरिताएँ लहरा रही हैं। इसकी कमर पर करधनी के समान विंध्या और सतपुड़ा पर्वतों की श्रेणियाँ शोभित हैं। नर्मदा नदी भी इसके मध्य-भाग में कल-कल करती हुई बह रही है। कृष्णा, कावेरी आदि नदियाँ आँचल-सी फहरा रही हैं। पद प्रान्त के पास कमल-कली-सी लंका सुशोभित है। हिंद-महासागर इसके चरण को पखार रहा है। यह बहुत बड़ा देश है। इसकी आबादी ३५ करोड़ से भी अधिक है यानी इँगलैंड से क़रीब ७ गुनी आबादी है। काश्मीर के उत्तर से लगाकर दक्षिण तक यह दो हज़ार मील से भी अधिक लम्बा है। भारत का दक्षिणी भाग तीनों ओर से समुद्र-जल से घिरा हुआ है। पश्चिम की ओर अरब सागर, पूर्व की ओर बंगाल की खाड़ी और दक्षिण की ओर हिंद-महासागर है। दक्षिणी भाग एक बड़ा भारी पठार है। इस पठार के पश्चिम और पूर्व के उठे हुए भाग पश्चिमी घाट और पूर्वी घाट कहलाते हैं। पश्चिमी घाट और पूर्वी घाट पहाड़ों की श्रेणियाँ नहीं हैं वे केवल पठार के ऊँचे उठे हुए किनारे हैं। यह पठार पश्चिम से पूर्व की ओर ढलुआँ है। भारत के समुद्र-तट अधिकतर कटे हुए नहीं हैं, एवं समुद्र का पानी दूर तक ज़मीन के अन्दर नहीं घुस पाता, इसलिए यहाँ प्राकृतिक बन्दरगाह नहीं हैं और यही कारण है कि भारतवासी हमेशा से समुद्र से दूर ही रहे हैं। वे अच्छे मल्लाह नहीं हो पाये। अधिकांश मनुष्यों ने तो समुद्र के दर्शन भी नहीं किये। दूसरे देशों में, जैसे इँगलैंड में, अच्छे-अच्छे प्राकृतिक बन्दरगाह हैं। वहाँ समुद्र का पानी दूर तक अन्दर घुस आया है। उन देशों के बहुत-से नगर समुद्र के पास ही हैं। इसलिए वहाँ के लोग समुद्र के पास के रहने के कारण समुद्र-प्रेमी और अच्छे मल्लाह हैं।

भारत की ज़मीन ख़ासकर गङ्गा और यमुना के बीच की ज़मीन बड़ी उपजाऊ है। इस देश में घने जङ्गल

दक्षिण भारत के पाँच हज़ार फ़ीट से अधिक ऊँचे पहाड़ों पर और हिमालय की तीन हज़ार फीट ऊँचाई पर सदैव हरे रहनेवाले जंगल पाये जाते हैं। हिमालय के ऊँचे भागों में कोई वनस्पति पैदा नहीं होती, क्योंकि वहाँ हर दम बर्फ जमी रहती है। गङ्गा के मुहाने पर "सुन्दर वन" नामक एक वन है। ब्रह्मा के जंगलों तथा भारत-वर्ष के जगलों में अच्छे-अच्छे वृक्ष पाये जाते हैं जिनकी कि लकड़ी बहुत उपयोगी होती है। इन दरख्तों को काट-काटकर बड़े-बड़े लट्ठे भैंसों या हाथियों द्वारा खिंचवाकर, गर्मी के दिनों में सूखी हुई नदियों की धाराओं में डाल दिये जाते हैं। जब बरसात मे नदियों मे पानी आ जाता है तब वे लट्ठों के गट्ठे बह-बहकर अपने निश्चित स्थान तक पहुँच जाते हैं। ब्रह्मा प्रान्त में लट्ठों को सिलसिले से एक के ऊपर एक जमाने का काम हाथी करते हैं। ये चतुर हाथी अपनी सूँड़ से लट्ठों को उठा-उठाकर जमा कर देते हैं।

भारत में ज्वार-बाजरा, गेहूँ, दाल, सन, क़पास, नारियल, चाय, क़ाफी, तमाखू, रबर, चावल आदि चीजों की पैदावार होती है तथा रुई, सन, रेशम, ऊन, आदि से उपयोगी वस्तुएँ भी बबई, कलकत्ता, अहमदाबाद, कानपुर आदि की मिलों में तैयार की जाती हैं। मुर्शिदाबाद, बनारस, अमृतसर, अहमदाबाद और सूरत रेशमी काम के लिए प्रसिद्ध हैं। अभी कुछ वर्ष पहले ही भारत के गाँवों में रेशम की साड़ी आदि बनानेवाले बड़े होशियार कारीगर पाये जाते थे। काश्मीर के ग़लीचे प्रसिद्ध हैं। जमशेदपुर में लोहे की वस्तुओं को तैयार करने का बड़ा भारी कारख़ाना है। बनारस, बम्बई, पूना आदि की चाँदी की वस्तुएँ तथा जयपुर और दिल्ली की सोने की वस्तुएँ प्रसिद्ध हैं। पीतल के बर्त्तन तो हर जगह बनाये जाते हैं, और गाँवों मे मिट्टी के बर्त्तन तो कुम्हार आदि बनाते ही है।

गगनचुम्बी हिमालय

यह दार्जिलिंग से दिखाई पड़नेवाले हिमालय के एक उत्तुंग शिखर कचनजंघा का चित्र है। यह चोटी २८,१४६ फ़ीट ऊँची है।

भारत की उर्वरा भूमि पर हरी-भरी प्रकृति सदैव लहलहाया करती है। प्राकृतिक सौंदर्य्य की दृष्टि से गगनचुम्बी हिमालय की बर्फ़ से ढकी हुई चोटियाँ बेजोड़ हैं। काश्मीर तो प्राकृतिक सौंदर्य्य का स्वर्ग है। यहाँ तो मानों प्रकृति स्वयं ही साज-सिंगार किया करती है। तरह-तरह के सुन्दर जीव-जन्तुओं की भी इस देश में कमी नहीं है। भारतवर्ष वास्तव में गाँवों ही में बसा हुआ है। यहाँ योरपीय देशों के समान न तो अधिक संख्या में बड़े-बड़े नगर हैं और न उतने बिजली और लोहे के कारखानों की हलचल। आधुनिक भारत जब से ब्रिटिश साम्राज्य के अंतर्गत आया तब से यहाँ भी पश्चिमी हवा चल पड़ी है। भारत के बड़े-बडे नगरों में आलीशान इमारतें, मोटरें, सायकिलें, रेडियो, सिनेमा, ट्राम-गाड़ियाँ आदि की अब धूम है। तो भी सच पूछिए तो भारत के छः-सात लाख गाँवों के बीच में बीस पचीस बड़े बडे नगरों का अस्तित्व नगण्य-सा ही प्रतीत होता है। असली भारत तो गाँवों ही में है। यहाँ के पचहत्तर या अस्सी प्रतिशत लोग किसान हैं। किन्तु ये किसान—अपने पसीने से देश को अन्न-वस्त्र देनेवाले ये भारत के असली प्राण—आज असहाय ग़रीबी में डूबे हुए हैं। वह भारतवर्ष जिसने कि सभ्यता, संस्कृति और ज्ञान के क्षेत्र में किन्हीं दिनों आश्चर्य्यजनक प्रगति की थी, आज निरक्षरता का शिकार बना हुआ है। सदियों की ग़ुलामी ने भारत को बहुत नीचे गिरा दिया है। फिर भी आज के भारत में महात्मा गांधी ऐसे महापुरुषों ने फिर नवजागृति उत्पन्न कर दी है। असहयोग आन्दोलन में सैकड़ों स्त्री-पुरुषों ने जेल जाकर और देश प्रेम के लिए प्राणों की बाज़ी लगाकर सिद्ध कर दिया है कि यह राष्ट्र अब भी जीवित है।

आइये, अब ज़रा गाँवों में चलकर सच्चे भारत का दर्शन करें। आपको यहाँ कहीं मिट्टी और फूस की बनी हुई साफ सुथरी तो कहीं टूटी-फूटी छोटी-छोटी झोपड़ियाँ मिलेंगी। इन्हीं में किसान अपने परिवार के साथ रहता है। गाँव के
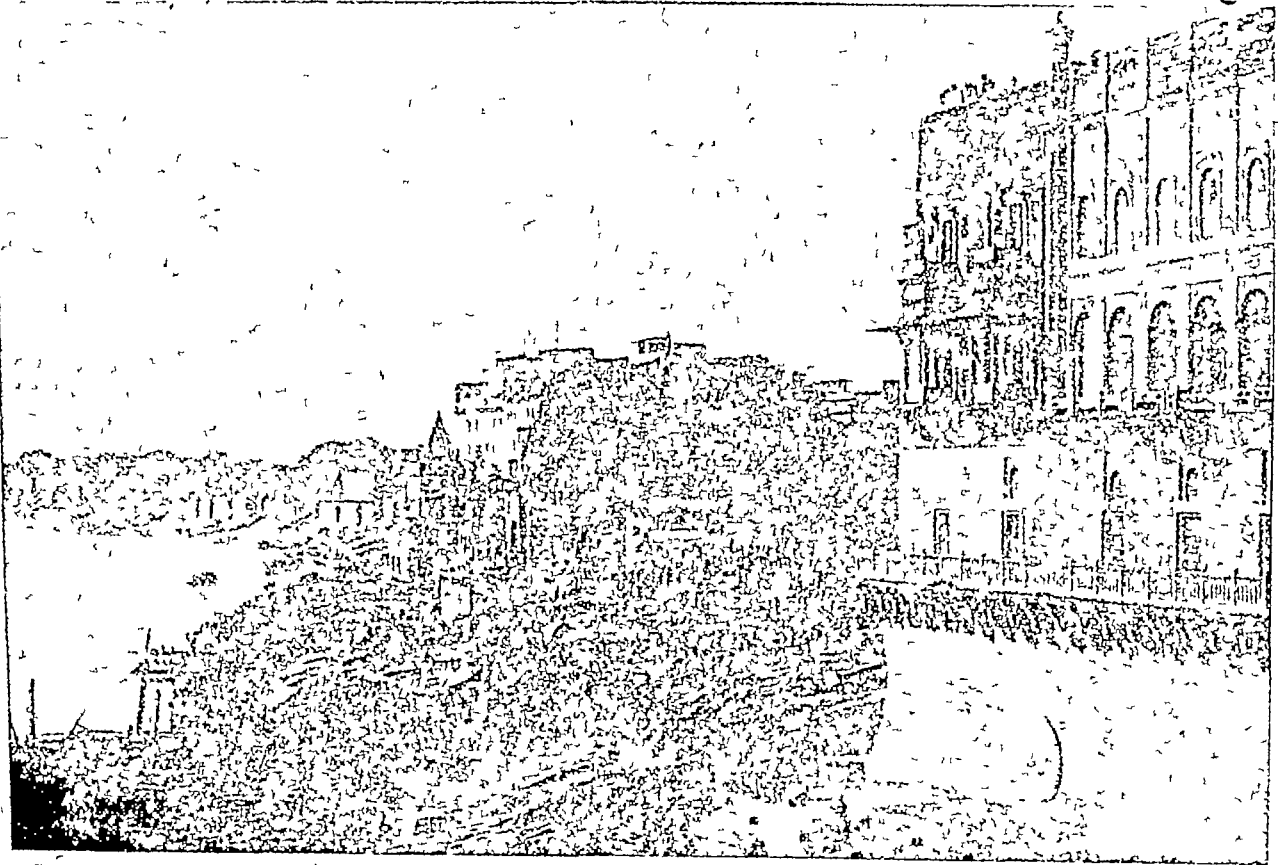
भारत के गौरवशाली अतीत की साक्षी—गंगा

जिसके तटों पर भारतीय सभ्यता का जन्म और विकास हुआ और जिसका नाम तक प्रत्येक भारतवासी के लिए एक पुनीत श्रद्धा की वस्तु है। गंगा इस देशवासियों के लिए एक जड़ वस्तु नहीं, वरन् एक अलौकिक मूर्तिमान देवी के रूप

आस-पास छोटे-छोटे ज़मीन के टुकड़े हैं। उन्हीं टुकड़ों पर किसान अपना देशी हल चलाकर खेती करता है। चाहे गर्मी हो, चाहे जाड़ा, चाहे बरसात हो, पर बेचारा ग़रीब किसान चिथड़े लपेटे हुए अपने दुबले-पतले बैलों को हल में जोतकर, सुबह से शाम तक खेतों की छाती पर हल चलाता है। मिट्टी से जो कुछ अन्न पैदा होता है, उसी से उसको साल भर तक अपना और अपने परिवार का पेट भरना पड़ता है। कभी वर्षा में बाढ़ आने के कारण सैकड़ों गाँव जल-मग्न हो जाते हैं। गाय-बैल आदि मवेशी पानी में बह जाते हैं। कभी अकाल पड़ता है, तो कभी अति वृष्टि, और कभी अनावृष्टि। प्रकृति की सब क्रूरताओं को किसान सहता है और किसी तरह जीवन यापन करता है। किसी-किसी गाँव में सौ-दो सौ या इससे भी ज्यादा घर होते हैं तो किसी-किसी में दो-चार झोपड़ियाँ ही। बंगाल में किसान अधिकतर दो-दो चार-चार झोपड़ियाँ डालकर ही अपने खेतों के पास रहते हैं।

प्रत्येक गाँव में एक-न एक कुआँ अवश्य होता है। इन कुओं पर पानी भरने के लिए किसानों की स्त्रियाँ, अपने-अपने प्रांत के रस्म-रिवाज़ के अनुसार पोशाक पहने, सुबह शाम इकट्ठा होती हैं। ये स्त्रियाँ कुएँ के पनघट पर इकट्ठी होकर सुख-दुःख की बातें करती हैं। कभी घर-गृहस्थी से संबंध रखनेवाली बातों की चर्चा होती है, तो कभी किसी की माँ या बहू आदि की शिकायत या तारीफ होती है। सुबह कुएँ से पानी खींचकर घड़े सिर पर रखे और बग़ल में दबाये ये घर की ओर जाती हैं, चूल्हा जलाती हैं और अपने पति तथा बाल-बच्चों के लिए रूखा-सूखा भोजन तय्यार

एक ग्रामीण भारतीय

जिसकी भावभङ्गी और वेषभूषा इस बात की साक्षी हैं कि इसकी नसों में अब भी प्राचीन आर्यों का रक्त सुरक्षित है।

(बाईं ओर) ग्रामीण भारत
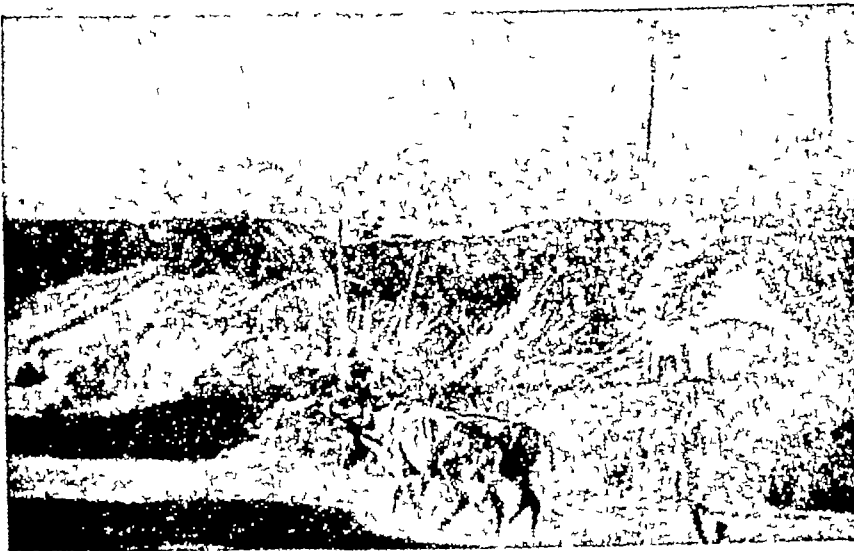
जिसे प्रकृति ने तो हर तरह के साज-सिंगार से सजा रक्खा है, किन्तु मनुष्य की असमान्य व्यवस्थाओं के फलस्वरूप जहाँ आज प्रायः टूटी झोपड़ियाँ, दुबले पतले चौपाये और दीन-हीन किसान ही दिखाई देते हैं।
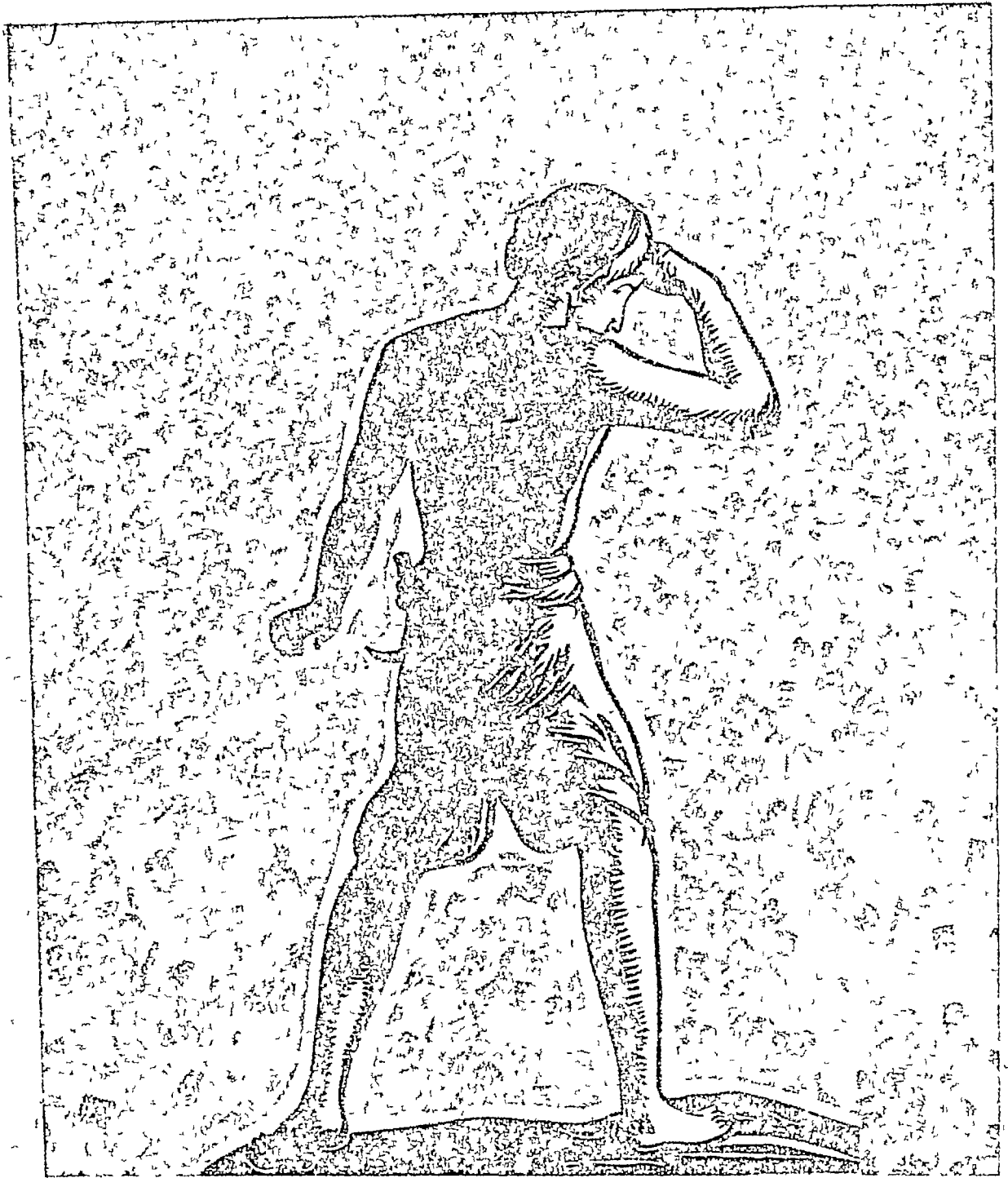
नवीन भारत

पिछले कई सौ वर्षों से अकर्मण्यता और अज्ञान की निद्रा में अचेत-सा भारत इस कालावधि में जकड़ी गई पराधीनता की बेड़ियों को झकझोरता हुआ आज नया शरीर धारण कर उठ खड़ा हुआ है। केवल राजनीतिक और साम्पत्तिक दासता ही नहीं बल्कि उससे भी अधिक भयंकर निरक्षरता और अज्ञानांधता की बेडियों से भी मुक्ति पाने की साध उसमें अब जग उठी है। पिछले कई वर्षों से उठा हुआ स्वतन्त्रता का आंदोलन तथा अभी हाल में उत्पन्न साक्षरता के प्रसार का आंदोलन इस बात के साक्षी हैं। एक नवीन भारत का जन्म हो रहा है। नूतन जागृति की यह लहर अब केवल शहरों या शहर-वालों ही तक सीमित नहीं है, प्रत्युत् गांवों में भी जहाँ कि असली भारत बसता है, फैल रही है। पिछले चुनाव के समय स्वतंत्रता का संदेश सुनने के लिए लाखों की संख्या में किसानों का इकट्ठा होना इस बात का

करती हैं। किसान ज्वार या बाजरा की मोटी-मोटी रोटियाँ प्याज या तरकारी के साथ खाकर सुख-संतोष की सांस लेता है और सुबह होते ही फिर हल चलाना शुरू कर देता है।

भारत ससार का सबसे अधिक धर्मप्राण देश है। धर्म की भावना ही ने इस देश को अब तक जीवित रक्खा है। परंतु लोगों की सरल श्रद्धा से बहुत-कुछ अनुचित लाभ भी उठाया जा रहा है और जगह-जगह धर्म के व्यापारी उठ खड़े हुए हैं। गाँवों में जाइए, किसी चबूतरे पर बैठे कोई साधु महाराज आप अवश्य पायँगे। ये महात्मा गाँजे की दम लगाते हुए लोक-परलोक की लम्बी-चौड़ी डींग हाँकते हैं। कभी पीपल या बरगद के दरख्तों के नीचे सेंदुर से पुते हुए गोल-गोल पत्थर रखे रहते हैं जो भाँति-भाँति के देवताओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। ग्रामीण स्त्री-पुरुष बड़ी श्रद्धा और विश्वास के साथ उन देवताओं पर जल-धारा डालकर पत्र-पुष्प चढ़ाते हैं। यदि कोई बीमार पड़ता है तो लोगों को झट भूत-प्रेत का अन्देशा हो जाता है। झाड़-फूँक करनेवाले, भूत-प्रेत को शरीर से निकालनेवाले, "ओझा" नामक महापुरुष बुलाये जाते हैं या किसी भगतजी या औघड़पंथी के शरीर पर किसी देवता या सीतला माई आदि की आत्मा बुलाई जाती है। घृत का दीपक रात-भर जलता है। धमाधम ढोल बजते हैं और देवता धोती-मात्र पहने हुए भगत के शरीर पर धावा बोलते हैं। भगतजी का शरीर हिलने-काँपने लगता है। शराब की बोतल खुलती है। देवता बोतल गटागट साफ कर जाते हैं, फिर भभूत बाँटते हैं तथा बीमार आदमी के भूत-प्रेत को डरा-धमकाकर निकाल बाहर करते हैं। तब काँपते स्वर में भविष्यद्वाणी कर, सरलहृदय ग्रामीणों को चकित और आतङ्कित कर देते हैं।

भारत में भिन्न-भिन्न धार्मिक विश्वास रखनेवाले लोग पाये जाते हैं। जातियाँ भी यहाँ कई हैं। हिन्दुओं में मुख्य ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार जातियाँ हैं जो कि बहुत पुराने ज़माने से अपना अस्तित्व बनाये हुए हैं। इन जातियों की भी कई शाखाएँ और उपशाखाएँ हो गई हैं जैसे वृक्ष की डालियाँ और पत्ते। रेलगाड़ी के प्रसार से या शहरों में पाश्चात्य सभ्यता के संसर्ग से जाति-बन्धन ढीले पड़ चले हैं, फिर भी अधिकांश लोग संस्कार, विवाह आदि के मामलों में जात-पाँत के भेद-भाव का पालन करते हैं। अपनी ही जातिवालों में आपस में विवाह-संबंध होते हैं। एक ब्राह्मण क्षत्रिय या वैश्य या शूद्र की जाति में ... नहीं कर सकता और न अन्य जातियाँ ही अपनी सीमा के बाहर जाती हैं। हाँ, आज-कल के कुछ नवयुवक अन्तर्जातीय विवाह भी करने लगे हैं। देश के नेतागण भी इन जातियों को एकाकार बनाने मे प्रयत्नशील हैं। पर गाँवों मे यह जाति-प्रथा दृढ़ है। कहा जा चुका है कि भारत की आबादी ३५ करोड़ से ऊपर है। इसमें हिन्दू-धर्म के माननेवाले क़रीब २३,६५,६५,००० अर्थात् ६८-६९ प्रतिशत मनुष्य हैं। शेष सिख, जैन, बौद्ध, पारसी, मुसलमान, ईसाई आदि भिन्न-भिन्न मुख्य धर्मों के माननेवाले हैं। कुछ जंगली जातियाँ भी पहाड़ों में रहती हैं, जो भूत-प्रेत आदि की पूजा करती हैं। मुग़ल शासन-काल में कई हिन्दू मुसलमान बना लिये गये। अब भारत का एक-चौथाई हिस्सा, यानी लगभग आठ-नौ करोड़ मनुष्य मुसलमान हैं। ईसाई पादरियों ने भी तिरसठ या चौंसठ लाख या इससे भी ज्यादा लोगों को ईसाई बना लिया है। इतनी सब विभिन्नताएँ होते हुए भी भारत का प्रत्येक भाग एक विशेष सस्कृति में बँधा हुआ है। अन्य बातों मे विभिन्नता होते हुए भी सास्कृतिक दृष्टि से यहाँ ऐक्यता है। मुसलमान भी यहीं पैदा होकर और बरसों यहाँ रहकर यहीं के हो गये हैं। हिन्दी, बंगला, पंजाबी, कश्मीरी, तेलगू, मलयालम, कनाड़ी, तामिल, गुजराती, मराठी, उर्दू ये यहाँ की मुख्य भाषाएँ हैं। इन भाषाओं के भी अनेक भेद हैं। बोल-चाल की भाषा या "बोली" तो प्रत्येक बारह मील में कुछ-कुछ परिवर्त्तित-सी दिखाई पड़ती है। इनमें हिन्दी या हिन्दुस्तानी भाषा मुख्य है और यही यहाँ की राष्ट्र-भाषा बनती जा रही है।

यह भारत नगरों, गाँवों, धर्मों, संस्कृतियों, भाषाओं, जातियों, पहाड़ों, नदियों, प्राकृतिक दृश्यों, जीव-जंतुओं, आदि का विचित्र अजायबघर है। इन विचित्रताओं के बीच भारतीय संस्कृति के श्रेष्ठ कलात्मक प्रतीक-स्वरूप प्राचीन इमारतें इस देश के अतीत को वर्त्तमान से सबंधित कर देती हैं। साँची के बौद्धकालीन भव्य स्तूप; चित्तौड़, ग्वालियर, आदि के क़िले, मथुरा, वृन्दावन, बनारस आदि के मन्दिर और सदियों से अटल खड़े हुए अन्य सैकड़ों स्मारकों के अवशेष आर्य्य-सभ्यता की पुरातन महिमा का गौरव-गान कर रहे हैं। आगरे का ताजमहल, फ़तहपुर सीकरी, दिल्ली, लाहौर, लखनऊ आदि की मुग़लकालीन इमारतें, मीनारें और समाधियाँ मध्यकालीन संस्कृति की रंगीन तस्वीरें खींच देती हैं। सम्राट् शाहजहाँ के अमर आँसू विश्व-विख्यात "ताजमहल" के रूप में जमकर काल के कपोल पर मानो लटक गये हैं। "ताजमहल" और एलोरा का प्रसिद्ध "कैलाश-मन्दिर"

संसार की भवन-निर्माण-कला के सर्वोत्कृष्ट उदाहरणों में से हैं, इसमें संशय नहीं। उधर राजपूताने के बूढ़े खण्डहर राजपूतों की नङ्गी तलवारों की आज भी झनकार रहे हैं।

अब पाश्चात्य सभ्यता ने भारत के नगरों को बहुत-कुछ आधुनिक बना दिया है। सैकड़ों कल-कारखाने देखने में आते हैं। सुबह और शाम काम पर जाते हुए तथा छुट्टी के बाद वापस आते मिल-मज़दूरों का झुण्ड दृष्टिगोचर होता है। मोटर, सायकिल, इक्के आदि इधर से उधर भागते हुए दिखलाई पड़ते हैं। नये-नये पाश्चात्य रंग-ढंग के बँगले, स्कूल, कालेज, प्रेस, मोटर, रेडियो, टेलीफ़ोन आदि हज़ारों क़िस्म की चीज़ें देखने को मिलती हैं। फिर भी जैसा कि कहा जा चुका है, ऐसे बड़े-बड़े शहर जहाँ कि पाश्चात्य वैज्ञानिक सभ्यता की चकाचौंध नजर आती हो, भारत में बहुत कम हैं। कलकत्ता और बम्बई भारत के सबसे बड़े शहर हैं। इनकी आबादी लगभग तेरह या चौदह लाख है। परन्तु योरप-अमेरिका में इनसे कहीं बड़े-बड़े शहर हैं।

यद्यपि भारत में आज रेलगाड़ियाँ रेंगती हैं, बिजली और भाप के जादू का वैभव देखने में आता है—फिर भी गाँव में बसा हुआ असली भारत अभी ग़रीबी की ही दुनिया में कालयापन कर रहा है। हाँ, उसकी इन झोपड़ियों के दाएँ-बाएँ कुछ पुरातन भग्नावशेष बिखरे पड़े हैं, जिनको देखकर उसकी पुरातन गौरव की याद से जी भर जाता है और मस्तिष्क श्रद्धा से झुक जाता है।

आइए, इस स्तंभ के आगे के प्रकरणों में इस अद्भुत महादेश के प्रत्येक अंग को अलग-अलग लेकर विस्तार-पूर्वक उनका अध्ययन करें—देखें, अतीत के भव्य पटल पर दिव्य अक्षरों में अपना इतिहास लिखानेवाले इस अप्रतिम राष्ट्र का आज दिन कैसा स्वरूप है—किस प्रकार एक नवीन युग का यहाँ धीरे-धीरे आविर्भाव हो रहा है?
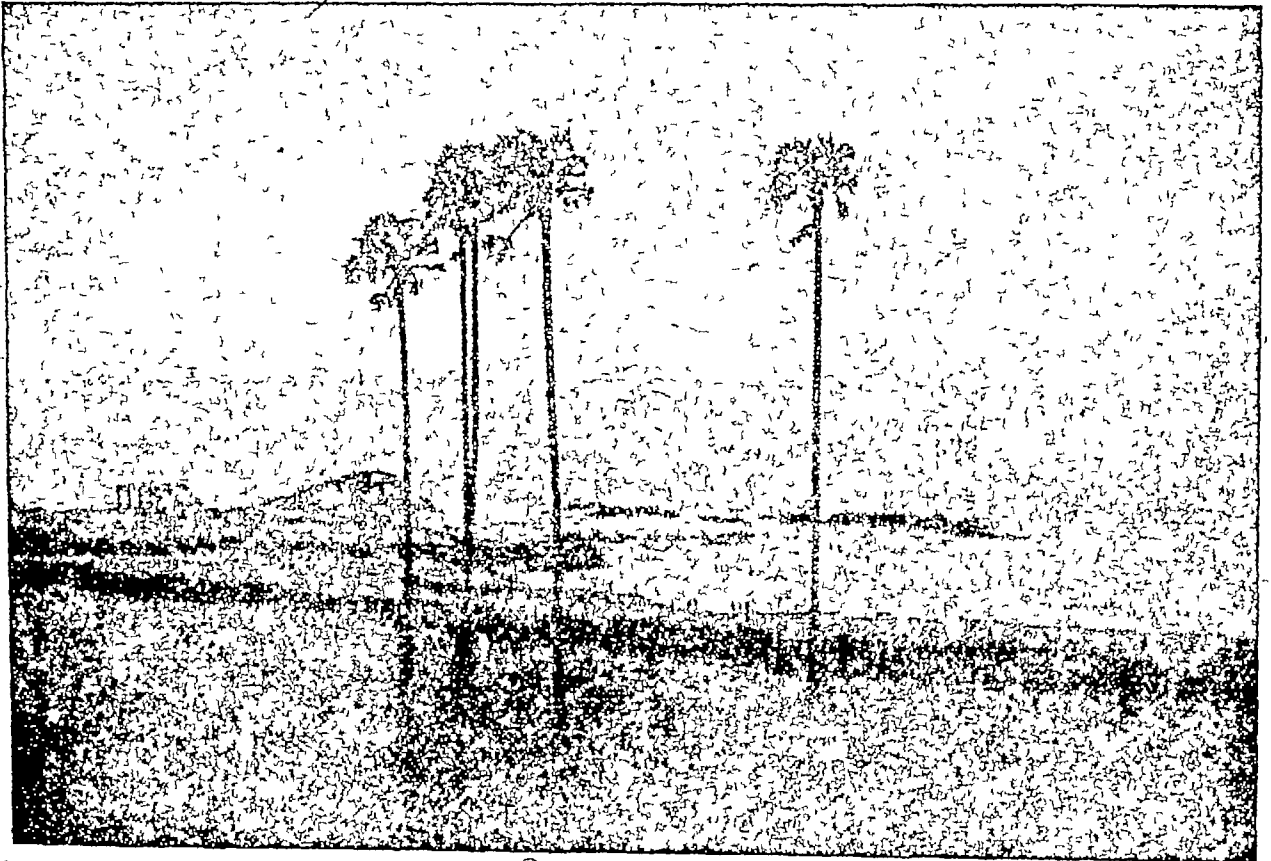
भारत का अंतिम दक्षिणी सिरा—कुमारी अंतरीप

जहाँ हिन्द महासागर की लहरें उछल-उछलकर मानो भारतभूमि के चरण पखारने के लिए होड़ करती हैं
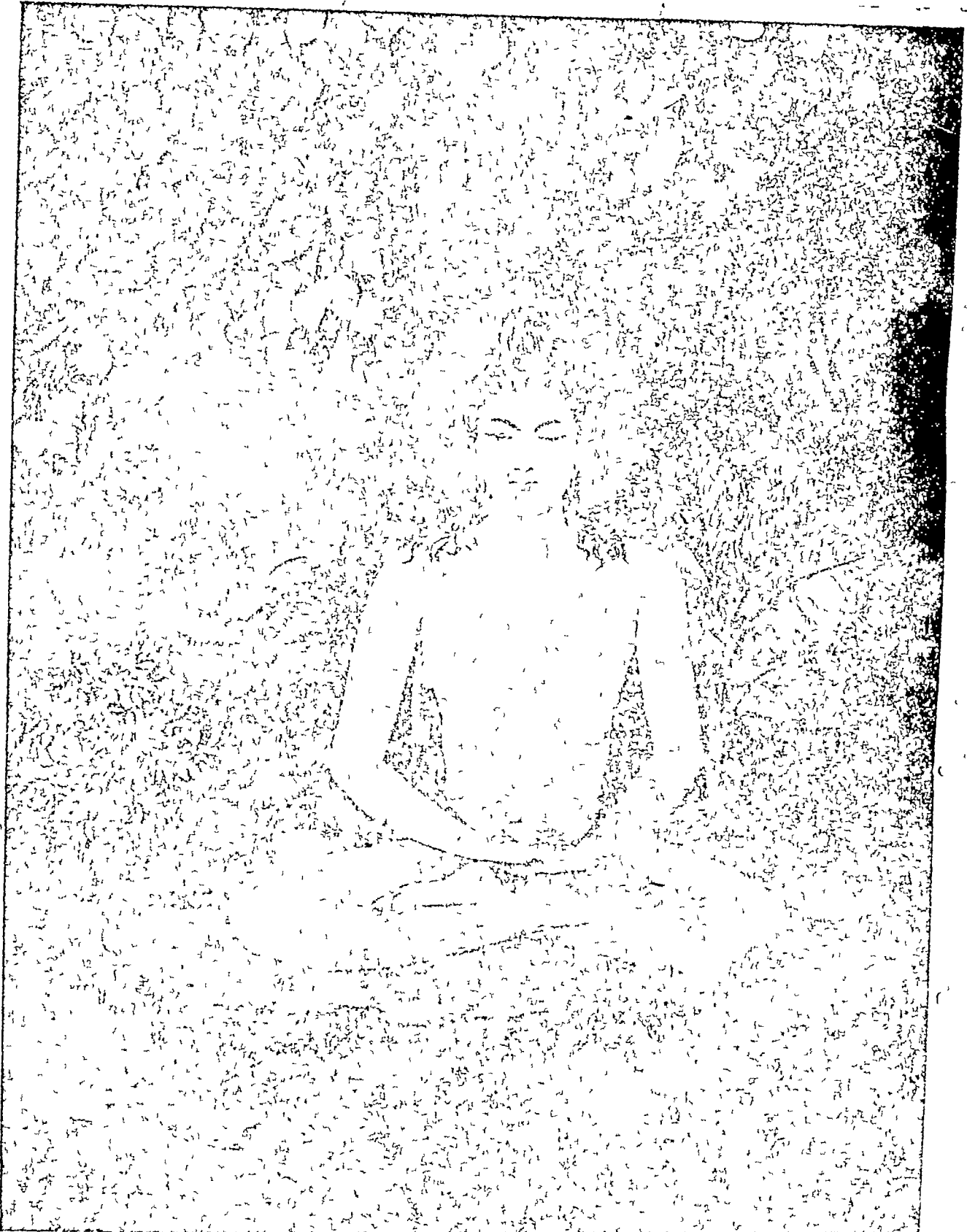
महात्मा बुद्ध

संसार के दुःखों से मानव की मुक्ति की खोज में जिन्होंने सब-कुछ त्याग दिया और अंत में गया के समीप एक पीपल के वृक्ष के नीचे वह आत्मज्ञान या बोध प्राप्त किया, जिसका प्रकाश आज भी करोड़ों नर-नारियों को इस अंधकार में मार्ग दिखा रहा है।
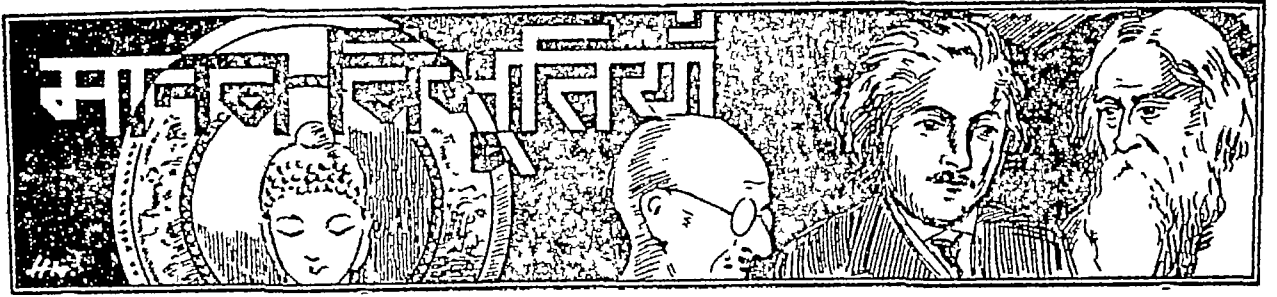
गौतम बुद्ध

इस स्तम्भ में हमें क्रमशः मनुष्य-जाति के उन सुदृढ़ आधार-स्तम्भों का परिचय मिलेगा, जिन्होंने हमारी इस सभ्यता की इमारत में समय-समय पर सहारा देकर इसे असमय ही ढह पड़ने से बचाया और इसको ऊँचा चढ़ाकर भविष्य का निर्माण किया है।

एकछत्र राज्य के अपरिमित वैभव के बीच जो पैदा हुआ—जिसके चारों ओर सुख ही सुख का वातावरण हो—वह एक अपाहिज को देखकर, एक बीमार की कराह सुनकर, इतना प्रभावित हो उठे कि इन सारे दुःखों के निवारण का मार्ग खोजने के लिए अपने विलास-वैभव को छोड़कर दुःख का कँटीला रास्ता पकड़ ले, स्त्री-पुत्र को बिलखते छोड़कर स्वेच्छापूर्वक जङ्गलों की ख़ाक छाने—ये हमारी कल्पना में आ सकनेवाली बातें नहीं हैं; क्योंकि हम नित्य ही अपाहिजों को देखते, दुखियों की पुकार सुनते, बीमारों को कराहते पाते और उनकी करुण पुकार को इस कान से सुनकर उस कान से निकाल देते हैं। पर हममें और महापुरुषों में—युग-निर्माण करनेवालों में—यही तो अन्तर है कि जो हम नहीं देख सकते उसे भी वे देख सकते हैं, और जो हम नहीं कर सकते वह भी वे कर सकते हैं।

आज से लगभग ढाई हज़ार वर्ष पहले की बात है। कपिलवस्तु के राजमार्ग पर एक रथ चला जा रहा है और रथी कुछ हकाबका-सा इधर-उधर ताक रहा है। चारों ओर सन्नाटा है, सिवा इसके कि रथ के चलने की आवाज़ आ रही हो, जिसके कि अभ्यस्त रथी और सारथी दोनों ही हैं। अकस्मात् किसी ओर से एक कराहने की आवाज आई और रथी बोल उठा—"सारथी, रथ रोक दो! देखो, यह कौन कराह रहा है!"

रथ रुके-रुके कि सामने ही पड़ा एक व्यक्ति, जिसके अंग-प्रत्यंग में पीड़ा हो रही थी, बुरी तरह तड़पते दिखाई दिया। रथी तुरन्त ही रथ पर से कूद पड़ा और उस बीमार आदमी के पास जा खड़ा हुआ। वह उसे बड़े ग़ौर से देखने लगा और उसके मन में एक विचार उठा—'अरे, यह आदमी किस कष्ट में है? क्यों यह कराह रहा है? मैं तो नहीं कराहता, मेरे भी तो हाथ-पैर इसी आदमी की तरह हैं!' और उसके मन में इन प्रश्नों और शंकाओं का समाधान ढूँढ़ने की एक आकुल उत्कंठा जग उठी। वह उदास मन से आकर रथ में बैठ गया। पीछे-पीछे सारथी भी आकर अपनी जगह पर बैठ गया, और रह-रहकर वह रथी की ओर देखने लगा, मानो आज्ञा की राह देख रहा हो कि रथ हाँके या न हाँके और हाँके तो किधर हाँके। रथी के मन में एक बेचैनी होने लगी। वह बार-बार सोचता था कि आख़िर आदमी कराहे क्यों? क्यों वह इतना परवश है कि इस कराहने पर उसका काबू नहीं है?

रथी सारथी की ओर मुड़ा—"सारथी, यह आदमी हमारी-तुम्हारी तरह क्यों नहीं बोलता है? इसकी आँखों में क्या हो गया है कि वह हम लोगों की तरह देखता नहीं? यह अन्तर क्यों?"

"वह बीमार है, राजकुमार।"

"बीमार क्या वस्तु होती है, सारथी?"

"उसके शरीर की रचना जिन अवयवों से हुई है, उनमें कुछ अव्यवस्था पैदा हो गई है कुमार! इसी को बीमारी कहते हैं।"

रथी के शरीर में एक कँपकँपी-सी दौड़ गई। वह एकाएक बोल उठा—"तो क्या मैं भी इसी तरह बीमार पड़ सकता हूँ?"

"इस पर किसी का क़ाबू नहीं है, प्रभु।"

रथी ने रथ को वापस करने की आज्ञा दी। वह बेचैनी के साथ सोच रहा था कि आख़िर

का उपयोग ही क्या, जिसमें इतनी परवशता, इतनी लाचारी भरी पड़ी है? एक राजा है, एक भिखारी है, एक स्वस्थ है, एक बीमार है! और इन सब दु खों के निराकरण का कोई साधन मनुष्य के हाथ में नहीं है!

युवावस्था के आगमन तक भी, राजमहल या रनवास के वैभव और आराम को छोड़कर, बाहर की दुनिया में कैसा सुख-दु ख है इसकी हवा भी जिसे न लगी हो वह बार-बार एक-पर-एक इसी तरह की घटनायें देखने लगा और उसके विचारों में क्रान्ति की एक आँधी उठ खड़ी हुई। उनके मन में अपने चारों ओर के प्रति विद्रोह का एक प्रबल भाव जाग उठा। वह यह भी देखने लगा कि उसकी चिन्ता को बदल देने को और उसकी विचारधारा की गति दूसरी दिशा में मोड़ देने को उसके स्वजनों ने लक्ष्मी की सारी शक्ति लगा रक्खी है। और यह देखकर उनके मन का विद्रोह और भी प्रबल हो उठा। वह अब कोई भी बन्धन मानने को तैयार नहीं था। उसके मन में एक दृढ़ता आ गई। इन सब अनिवार्य कहलाने वाले दुःखों का निवारण अवश्य होना चाहिए। पर तब मन में यह भी विचार उठना था कि—'कैसे?' पर इस शंका को उसकी दृढ़ता मानने को तैयार नहीं थी। उसकी तो पुकार थी कि चाहे जैसे भी हो, मानव के उद्धार और सुख की दवा खोजना आवश्यक है। यह अब उसके लिए असह्य था कि मनुष्य इसी तरह परवशता में पैदा होता रहे और मरता-जीता रहे। ऐसे जन्म और जीवन से लाभ ही क्या?

और इसी तरह के अंतर्द्वन्द्व के फलस्वरूप एक दिन रात को उसका विद्रोह इतना प्रबल हो उठा कि उसने सब कुछ छोड़ देने का कठोर निश्चय कर लिया। सोते से वह उठ बैठा। जी में एक अजीब कड़ुवाहट-सी पैदा होने लगी। पास ही सरल भोले विश्वास को लिए सो
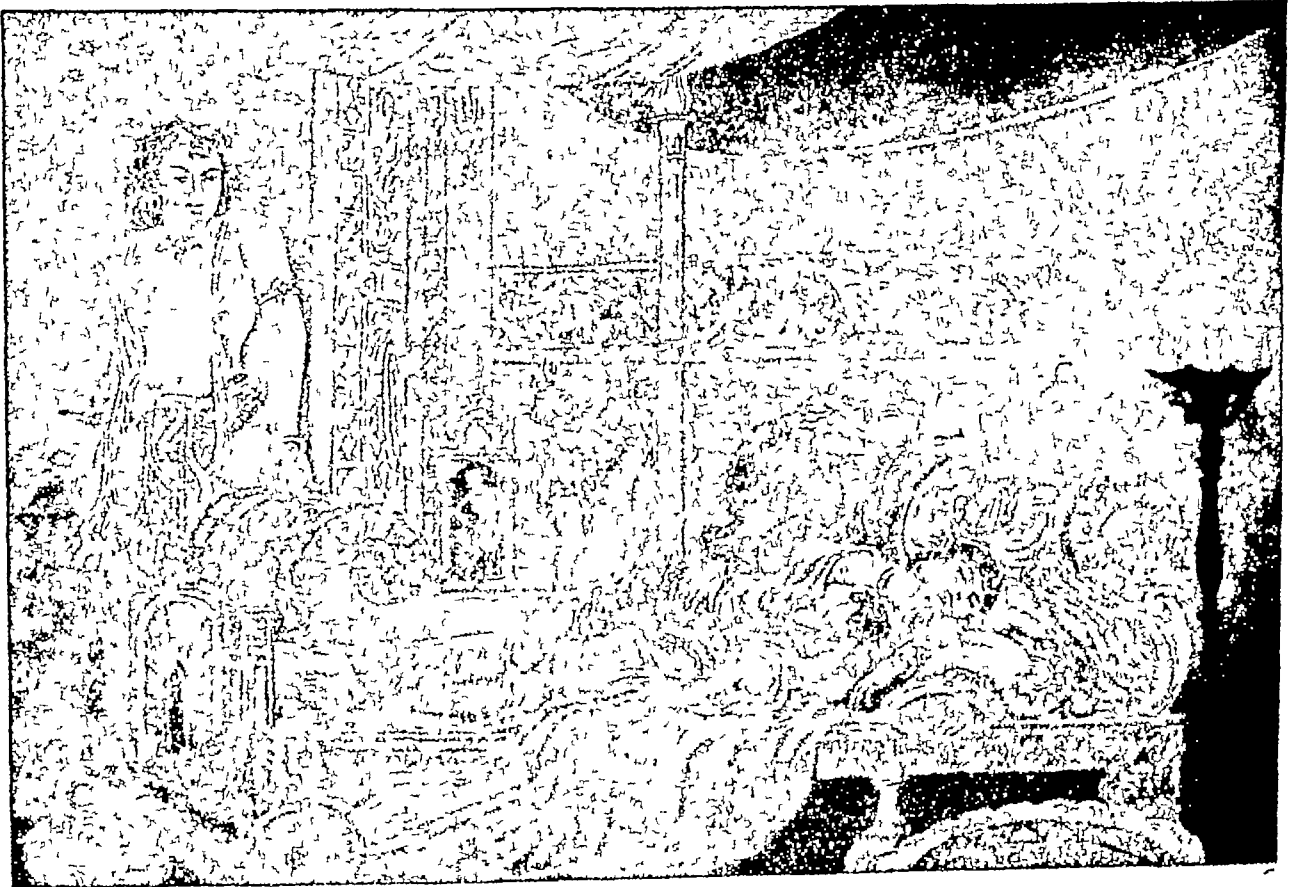
गौतम का महाभिनिष्क्रमण

मानव के कल्याण तथा सत्य की खोज के लिए सर्वस्व बलिदान कर देने का इससे अधिक ज्वलंत उदाहरण संसार के इतिहास में शायद ही कोई दूसरा मिलेगा।

रही पत्नी और उसकी छाती से चिपटे हुए अबोध नन्हें शिशु का मायामय सुन्दर मुखड़ा उसके चित्त को रह-रहकर अपनी ओर खींच रहे थे। पर वह अंतिम निर्णय कर चुका था। अब वापस फिरने की गुंजाइश न थी। माया के पाश को उसने अपने आभूषणों या केश-पाशों ही की तरह काट फेंका। द्वार तक पहुँचते पहुँचते ममता उसके जी में फिर दबकी-दबकी-सी उठने लगी। उसे मालूम हुआ मानो उसकी यशोधरा उसे पुकार रही है, उसका राहुल हाथ फैलाये उसकी ओर दौड़ा आ रहा है, और चलते-चलते वह ठिठक गया। मन की इस उथल-पुथल को वह सँभाल नहीं पाया और फिर शयन-कक्ष में वापस आ गया। किन्तु मन से फिर आँधी उठी—ना, ना, इस बंधन को तोड़ना ही होगा, वरना मनुष्य के दु:खों का निराकरण कैसे हो पायगा? और मन की सारी शक्ति लगाकर एक झटके के साथ वह चल दिया।

उसे निर्वाण चाहिए, दरिद्रता, रोग और मृत्यु से छुटकारा चाहिए—और इसी को खोजने वह निकला। पर राजमहल छोड़ते ही उसके सामने यह प्रश्न विकराल रूप में उठ खड़ा हुआ कि आखिर वह कहाँ खोजे यह निर्वाण? कहाँ जाय उसकी तलाश में? उसे याद आई तीर्थस्थानों की, बड़े-बड़े धर्मस्थानों की और अपने प्रश्नों के समाधान के लिए काशी, प्रयाग आदि सब-कुछ उसने छान डाला। पर उसके जी में विद्रोह की आग और भी अधिक प्रचण्ड हो उठी जब उसने देखा कि निर्वाण का मार्ग बताने का दावा लेकर खड़े इन देवस्थानों और धर्मस्थानों में बलि की होड़ चल रही है, और दुराचार का बाज़ार गर्म है। उसने देखा कि पुरातन वैदिक धर्म अपने उच्च आदर्शों से बहुत नीचे गिर चुका है। पुरोहितशाही ने तरह-तरह के पूजा-पाठ और पाखण्ड फैला रक्खे हैं। जातियों का बन्धन मानवता के विकास में बाधा बनकर अड़ रहा है। मंत्र-तंत्र और जादू-टोना आदि अन्ध-विश्वास घर करते जा रहे हैं। इस प्रकार पुरोहित लोग मिथ्या धारणाओं और आडम्बर के सहारे जनता के दिमाग़ों पर शासन कर रहे हैं और मानव-कल्याण का मार्ग बताने की अपेक्षा वे राज्य-शक्ति प्राप्त करने की ओर अधिक प्रवृत्त हैं।

और यह सब देखकर उसे बड़ी निराशा हुई। इन धर्मध्वजियों की दूकानों से दूर हटकर निर्जन वन के एकान्त की शरण लेने ही में उसे एकमात्र सही राह दिखाई दी। वर्षों तक उसने इसी तरह जंगलों की ख़ाक छानने के बाद तब एक दिन गया के समीप एक पीपल के वृक्ष के नीचे समाधि लगा ली। कहते हैं कि वर्षों की तपस्या, कष्ट, सहन, उपवास और तरह-तरह की अन्य साधनाओं के द्वारा जो वस्तु नहीं प्राप्त हुई थी वही थोड़े दिनों की उस समाधि से सिद्ध हो गई। उसे प्रकाश मिल गया, बोध हुआ, बुद्धत्व की प्राप्ति हुई और उसी दिन से कपिलवस्तु का वह राजकुमार संसार में 'बुद्ध' के नाम से प्रख्यात हो गया। जिस वृक्ष के नीचे उसे 'बोध' हुआ था, वह भी संसार में 'बोध वृक्ष' के नाम से अमर हो गया।

एशिया के सूर्य—महात्मा बुद्ध

अब इस खोजी को, जो एक दिन दु:खों का निराकरण और सत्य ढूँढ़ने निकला था, अन्य ऐसे [illegible] आवश्यकता हुई, जो उसकी खोज और [illegible] लाभ उठा सकें। वह सोचने लगा कि किस

अपना प्राप्त ज्ञान संसार में फैलाए। इसी समय अचानक उसे याद आई उन पाँच साथियों की जो कि उसका साथ छोड़कर इसलिए चलते बने थे कि उसका विश्वास शरीर को उपवास आदि द्वारा व्यर्थ कष्ट देकर कठोर तप करने की प्रणाली से उठ गया था। उसे उन साथियों की याद करके उनकी बुद्धि और समझ पर तरस आई और उनकी खोज मे वह निकल पड़ा।

बुद्धत्व-प्राप्त वह संन्यासी राजकुमार जगह-जगह घूमते-फिरते बनारस पहुँचा, जहाँ इसिपत्तन (ऋषिपत्तन) या वर्तमान सारनाथ के मृगवन में उक्त पाँचों साथी निवास कर रहे थे। उन पाँचों संन्यासियों ने उसे दूर से आते देखते ही आपस में सलाह करनी शुरू की। कोई कहता—'देखो मित्र, वही पथभ्रष्ट संन्यासी गौतम आ रहा है, जो अपनी आदतों से विवश होने के कारण तप से च्युत हो गया था! जिसने सुजाता-नामक एक स्त्री के हाथ का दिया भोजन ग्रहण कर लिया था, और तप तथा कठोरता का जीवन छोड़कर सुख के जीवन की ओर जो प्रवृत्त हो गया था।' दूसरा कहता—'हाँ, हाँ, वही है! इधर ही आ रहा है। आओ, हम लोग मुँह फेर लें।' पर ज्योंही वह बुद्धत्व-प्राप्त संन्यासी पास आया, सबके पूर्व निश्चय बदल गए। किसी ने उसका कमण्डलु लेकर एक ओर सँभालकर रक्खा, तो किसी ने आसन बिछाया! कोई पैर धोने को पानी लाने दौड़ा तो कोई खड़ाऊँ लाने गया। इस तरह स्वागत के बाद जब वह संन्यासी अपने लिए बिछाये गए आसन पर बैठा तब उक्त पाँचों संन्यासियों ने उससे बात करने के लिए मुँह खोला। वे उसे 'मित्र' कहकर संबोधित करने लगे।

बुद्ध ने कहा—'संन्यासियो, तथागत को उसके नाम से अथवा 'मित्र' कहकर मत पुकारो। वह तुम्हें शिक्षा देगा, धर्म का उपदेश करेगा। अगर तुम उसकी बातों पर ध्यान दोगे तो दीर्घजीवी होवोगे, अपने आपको पहचान सकोगे, जीवन का रहस्य जान सकोगे।'

वे बार-बार शंका करने लगे। पर अन्त में उनकी सब शंकाओं का समाधान हो गया, और उन लोगों ने शिक्षा ग्रहण करना शुरू कर दिया। प्रबुद्ध संन्यासी बोले—जिन्होंने संसार को त्याग दिया है, उन्हें दो प्रकार की अति से बचना चाहिए। यह दोनों अति क्या हैं? एक तो है सुख और विलास में प्रवृत्त जीवन, जो मनुष्य को नीचे ले जानेवाला है। दूसरा, व्यर्थ के बलिदान का जीवन, जो कष्टप्रद और उपेक्षणीय है। संन्यासियो, इन दोनों अति के मार्ग को छोड़कर तथागत ने एक मध्यम मार्ग पाया है, जो बुद्धि, शान्ति, ज्ञान, सम्बोधि और निर्वाण का मार्ग है। यह मध्यम मार्ग क्या है? यह है अष्टाङ्गिक सन्मार्ग, अर्थात् सम्यक् दृष्टि, सत्सङ्कल्प, सद्वचन, सदाचरण, साधु-जीविकावलम्बन, आत्मसंयम, सत्विचार और सच्चिन्तन।

और यही शिक्षा अपने जीवन के शेष पैंतालिस वर्षों में कौशल से विदर्भ और राजगृह तक घूम-घूमकर वह देते रहे। शिक्षार्थियों और ज्ञान-पिपासुओं की भीड़ उनके पास लगने लगी। ख़बर फैलते देर न लगी कि एक नवीन संन्यासी समता का उपदेश करता है और कहता फिरता है कि ज्ञान प्राप्त करने का प्रत्येक प्राणी को अधिकार है। अभी तक मठ और राज्य ने ज्ञान प्राप्त करने के अधिकार को एक वर्ग-विशेष तक सीमित कर रक्खा था, अतएव इस विद्रोही वाणी पर निम्न श्रेणी के लोग प्रसन्नता से नाच उठे।

इस नई आवाज़ को सुनकर पुरोहितों और मठाधीशों के कोप की आग भड़क उठी। राजों की भी भृकुटियाँ तन गईं और इस नवीन संन्यासी की राह में रोड़े अटकाने के लिए तरह-तरह के षड्यंत्र रचे गए। पर कोई सफल नहीं हुए। उन दिनों शिक्षा संस्कृत में होती थी, जिससे साधारण जनता लाभ नहीं उठा सकती थी। बुद्ध ने अपनी शिक्षा जनता की भाषा में देना प्रारंभ किया। अतएव इस धार्मिक प्रजातंत्र के सम्मुख एकतंत्र का पुराना क़िला जड़-मूल से काँप गया और सभी विरोधी एक-एक करके आकर इस नवीन धर्म में दीक्षित होते गए।

अन्त में एक दिन राजा शुद्धोदन की राजधानी कपिलवस्तु का शृङ्गार होना शुरू हुआ। उनका प्रवासी पुत्र गौतम (राजकुमार सिद्धार्थ) बुद्धत्व प्राप्त कर लोक-शिक्षक के रूप में आज वापस आ रहा है। उसकी पत्नी यशोधरा—पिछले कितने वर्षों से पति की प्रतीक्षा के पथ पर आँखें बिछाये रहनेवाली यशोधरा—खुशी और मान की भावना से आज भरी जा रही है। वह आए। पर सभी को नवीन धर्म में दीक्षित कर फिर चले गए।

इस तरह पैंतालिस वर्ष लगातार धर्म-प्रचार करते-करते एक दिन कुशीनगर (वर्तमान गोरखपुर ज़िले का 'कसया' नाम का क़स्बा) की राह में 'पावा' नाम के एक गाँव में अन्त में निर्वाण पद को प्राप्त हुए।

अब तक उनके लाखों अनुयायी हो चुके थे। उनके भस्मावशेष आठ भागों में विभक्त किये गए। उन्हें गाड़कर उसके ऊपर आठ स्तूप बनाये गए। और इस तरह एक महान् जीवन, एक युगान्तरकारी व्यक्तित्व का अन्त हुआ।

उत्तरी ध्रुव की विजय

मनुष्य को सदैव ही कहानी सुनने का बड़ा चाव रहा है, और इन कहानियों में सबसे अधिक रोचक, शिक्षाप्रद और दिल दहलानेवाली कहानियाँ स्वयं उसी की इस कठोर यात्रा के मार्ग में पड़नेवाले समय-समय के ख़तरों तथा उस समय उसके द्वारा प्रदर्शित साहस, वीरता, उदारता, त्याग और बलिदान की कहानियाँ हैं। इस स्तंभ में वही अमर कथाएँ—मानव जाति की आत्मकथा के पन्नों पर अमिट अक्षरों में लिखी हुई सच्ची घटनाएँ—चुन-चुनकर आपको सुनाई जा रही हैं।

पूरे छः फीट लंबे डीलडौल और उन्नत विशाल मस्तकवाला एक युवक संयुक्त राष्ट्र (अमेरिका) की राजधानी वाशिङ्गटन की कबाड़ियों की गली में स्थित एक किताब की दूकान पर नई-पुरानी किताबों के पन्ने उलट रहा है। साहित्य, विज्ञान, दर्शन, इतिहास, जीवनियाँ—सभी कुछ पर उसकी आँख गड-सी जाती हैं। मानो उसकी निगाह में इन सबमें कोई विशेष अंतर नहीं है, उसके लिए इस बात से कोई फर्क़ नहीं पड़ जाता कि वह किस किताब को उठा रहा और किसको हटा रहा है! दूकानवाला पास आता है। पूछता है—'किस विषय की पुस्तक आपको चाहिए?' पर कोई उत्तर उसे नहीं मिलता। वह कुछ अचरज भरी निगाह से युवक की ओर देखता है—सोचता है, सनकी तो नहीं है! पर युवक का एक किताब को हटाकर दूसरी के पन्ने उलटना ज्यों-का-त्यों जारी है!

यह बात भी नहीं है कि अभी वह इतनी कच्ची उम्र का हो कि छोकरों की तरह बिना किसी लक्ष्य के इधर-उधर भटकता और व्यर्थ की उलट-पुलट में समय गँवाता रहता हो। उन्तीस साल का हट्टा-कट्टा पूरा नौजवान—फिर बाक़ायदा संयुक्त राष्ट्र के नौ-सेना-विभाग की वरदी पहने हुए, और उस पर स्पष्ट रूप से इस बात को सूचित करनेवाला चमचमाता पदक या चिह्न लगाए हुए कि वह उक्त विभाग का एक इंजीनियर है! तब कौन इस बात की शंका करने की धृष्टता कर सकता है कि उसे कम-से-कम इस बात का भी ज्ञान नहीं है कि वह किस ओर जा रहा है?

किन्तु बात दर असल कुछ ऐसी ही थी कि युवावस्था के साहसपूर्ण भाव से प्रकाशित राबर्ट पेरी की इस ओजपूर्ण मुखमुद्रा की तह में रह-रहकर इस बात का भाव उठता रहता था कि आख़िर वह किधर की ओर जा रहा है? उसे अपना लक्ष्य ज़रा भी स्पष्ट नहीं था। केवल जीवन में धड़ाके का—संसार की आँखें चकाचौंध कर देनेवाला—कोई काम कर दिखाने की एक धुँधली-सी महत्त्वाकांक्षा भीतर-ही-भीतर रहकर उसे आगे की ओर ठेलती रहती थी, और मानो कहती रहती थी कि यदि तुम्हें अपने कार्य पर जुट पड़ना है, तो यही वक़्त है।

यह बात नहीं थी कि एक अस्पष्ट-सी आशा की डोर के सहारे रास्ता टटोलकर बढ़नेवाले इस नवयुवक को अपनी शक्तियों पर किसी प्रकार का अविश्वास रहा हो। अपने जन्म-स्थान की पहाड़ियों के कंकड़-पत्थरों की नित्य की छानबीन और छोटी सी डोंगी में समीप की समुद्री खाड़ी की सैर ने बचपन ही में उसके मन में दृढ़ आत्मविश्वास की जड़ जमा दी थी। किन्तु वह भी उसी प्रांत और स्थान में पैदा हुआ था, जहाँ पचास वर्ष पूर्व उसके देश के राष्ट्रीय कवि लाङ्गफैलो ने वनों की छाया में स्वप्नों की माला गूँथते हुए अपना ... बिताया था। अतएव उन पहाड़ियों और वृक्षों के प्रभा...

वह भी नहीं बच पाया। वह भी स्वप्नों की जाल बुनने लगा। किसी ने कहा ही है कि किशोर अवस्था की आकांक्षाएँ और स्वप्न आँधी की तरह बलवती होते हैं। ये स्वप्न हमारे इस चरितनायक को भी अपने उस पहाड़ियों से घिरे छोटे-से प्रदेश से दूर कहाँ से-कहाँ उड़ा ले गये। और उसके बाद तो क्या स्कूल और कालेज में, और क्या नौ-सेना-विभाग के साहसपूर्ण अनुभवों से पूर्ण नौकरी के दिनों में—सब कहीं उन स्वप्नों का ताँता बँधता ही गया और धीरे-धीरे ये स्वप्न महत्वाकाक्षा का रूप लेने लगे। नौ-सेना-विभाग की कुछ ही दिनों की नौकरी में उसने अपनी योग्यता की काफी धाक जमा दी। जंगी जहाज़ों के लिए एक घाट बन रहा था। उस काम का एक लाख रुपये में ठेका लेने पर भी एक ठेकेदार उसे अधूरा ही छोड़कर भाग गया था। रावर्ट पेरी ने उसे अठारह हज़ार रुपये ही में बनवा दिया। किन्तु यह सब-कुछ होने पर भी उसको अपने मन में चैन नहीं था। वास्तव में हमारे चरितनायक की दशा उस व्यक्ति की तरह थी, जिसके मन में भारी आकांक्षाएँ हों, किन्तु जिसे यह न सूझ पड़े कि किस ओर उन्हें वह प्रेरित करे। यही कारण है कि ऊपर हम उसे कबाड़ियों की दूकानों पर अनमने भाव से किताबों के पन्ने उलटते देख चुके हैं।

आख़िर एक मैली-सी पुस्तिका के शीर्षक पर पेरी की आँखें गड़ गईं। यह एक साहसी अन्वेषक के सुदूर उत्तर की साहसपूर्ण यात्राओं की कहानी थी। शीर्षक था "ग्रीनलैंड (हरित द्वीप) का भीतरी हिम-प्रदेश।" यह कोई विशेष उत्तेजनापूर्ण शीर्षक तो नहीं था, किन्तु फिर भी इस पर नज़र पड़ते ही पेरी का दिल बाँसों उछलने लगा। उसने वह पुस्तिका ख़रीद ली। इसमें वर्णित सुदूर हिम-प्रदेश ने केवल इसी एक बात पर उसका ध्यान ज़ोरों से अपनी ओर खींच लिया कि अब भी पृथ्वी की सतह पर संयुक्त राष्ट्र अमेरिका से भी अधिक लंबा-चौड़ा एक विशाल भू-भाग विद्यमान है, जहाँ अभी तक किसी गौर वर्ण के मनुष्य का क़दम भी नहीं पड़ा है।

उसकी आकांक्षा भड़क उठी। वाशिङ्गटन नगर के बड़े-से-बड़े पुस्तकालयों की अलमारियाँ उसने छान डालीं और रात-दिन उत्तरी ध्रुवप्रदेश की खोज तथा उत्तर-पश्चिम की राह से एशिया को जाने का रास्ता निकालने की सदियों पुरानी समस्या पर वह मसाला ढूँढने लगा। इन सब किताबों से उसे जो मसाला मिला वह कोई बहुत आशाप्रद नहीं था। एक के बाद एक साहसी अन्वेषक पिछले तीन सौ वर्षों से इस प्रयत्न में उत्तर की बर्फीली दीवारों से हार खाकर अपना बलिदान चढ़ा चुके थे। १८४५ में सर जान फ्रैंकलिन दो ब्रिटिश जंगी जहाज़ों को लेकर पहले-पहल ध्रुवप्रदेश की ओर गये थे। पर हिम-पर्वतों ने इन दोनों जहाज़ों सहित फ्रैंकलिन और उनके दल को निगल लिया और इस बात का पता कहीं चौदह साल बाद लगा, जब एक दूसरा दल ध्रुव की खोज में वहाँ पहुँचा। इसी तरह क्रमशः कई साहसी अन्वेषक गये और हार मानकर लौट आए या वहीं ख़तम हो गये। ये बातें किसी की भी हिम्मत पस्त कर सकती थीं। लेकिन पेरी को तो निराशा के बदले इनसे उत्तेजना ही मिली।

उसकी कल्पना उत्तेजित हो उठी। यदि ग्रीनलैंड का भीतरी भाग अभी सचमुच ही खोजने को बाक़ी है तो क्यों न वहाँ जाकर अपने साहस और भाग्य की परीक्षा की जाय? संभव है, वह ठीक उत्तरी ध्रुव ही तक फैला हो।

बस, उसने फौरन ही नौ-विभाग को छः महीने की छुट्टी की दरख्वास्त लिख भेजी। अधिकारी गण राज़ी न थे, पर उसकी दृढ़ता के आगे उनकी एक भी न चली। आख़िरकार ह्वेल मछली का शिकार करनेवाले एक जहाज़ ने १८८६ के जून मास में उसे ग्रीनलैंड के पूर्वी किनारे पर डिस्को नामक द्वीप में जा उतारा। वहाँ डैनिश लोगों की वस्ती है। पेरी ने किसी तरह डैनिश जाति के एक नौजवान को अपने साथ चलने के लिए राज़ी कर लिया।

दस घंटे की कठोर यात्रा के बाद ये लोग जहाँ बर्फ़ शुरू होती थी, वहाँ पहुँचे। अब बदन को कँपा देनेवाली ठंडी हवाओं, आँखों को चौंधिया देनेवाली सूर्य की रोशनी, घने कुहरे, और बर्फ़ की बौछार का सामना होने लगा। इस तरह दिन-पर-दिन उस बर्फ़ की मरुभूमि को पार करते और चढ़ाई करते हुए ७५०० फीट की ऊँचाई पर ये लोग पहुँचे। पर यहाँ हिसाब लगाने पर पेरी को मालूम हुआ कि वह अपने रवाना होने की जगह से १२० मील आ पहुँचा है और अब उसके पास केवल छः दिन का खाना बचा है! हिसाब के ये आँकड़े साधारण आँकड़े न थे। अब और आगे बढ़ने का अर्थ था भूखों मरना! तो क्या उसे वापस लौटना पड़ेगा? क्या इतने दूर तक आने का यह परिश्रम, यह कष्ट, व्यर्थ ही होगा? श्वेत नील झाँईवाले ध्रुवप्रदेश की ओर सतृष्ण आँखें गड़ाये पेरी चुपचाप खड़ा था और साथ का डैनिश नौजवान एक अचरज-भरी दृष्टि से उसकी ओर निहार रहा था।

पेरी की ध्रुवप्रदेश की भिन्न-भिन्न यात्राओं के मार्गों का मानचित्र

इस नक़शे मे रावर्ट पेरी की १८८६ की ध्रुव-प्रदेश की प्रथम चढ़ाई से लेकर १९०९ में अंतिम विजय तक के विभिन्न जाने और आने के मार्ग कटावदार रेखा द्वारा प्रदर्शित किये गये हैं। जिस स्थान पर वह जिस सन् में पहुँचा था, अथवा जिस सन् में जिस मार्ग से गया था, इसका भी उल्लेख आपको इस नक़शे में स्थान-स्थान पर लिखे गये सन् के अंकों से मिलेगा।

(बाईं ओर के चित्र में) उत्तरी ध्रुव का विजेता, रावर्ट पेरी।

उत्तरी ध्रुव -अप्रैल - ६, १९०९
मील
० १०० २०० ३०० ४००
ग्रीन लैंड सागर
अप्रैल १९०६
१९००
१९०२
कोलंबिया अन्तरीप
ग्रांटलैंड
ग्रीन लैंड
स्मिथ साउण्ड
बेफिन की खाड़ी
१९०५-६ और १९०८
बेफिन लैंड
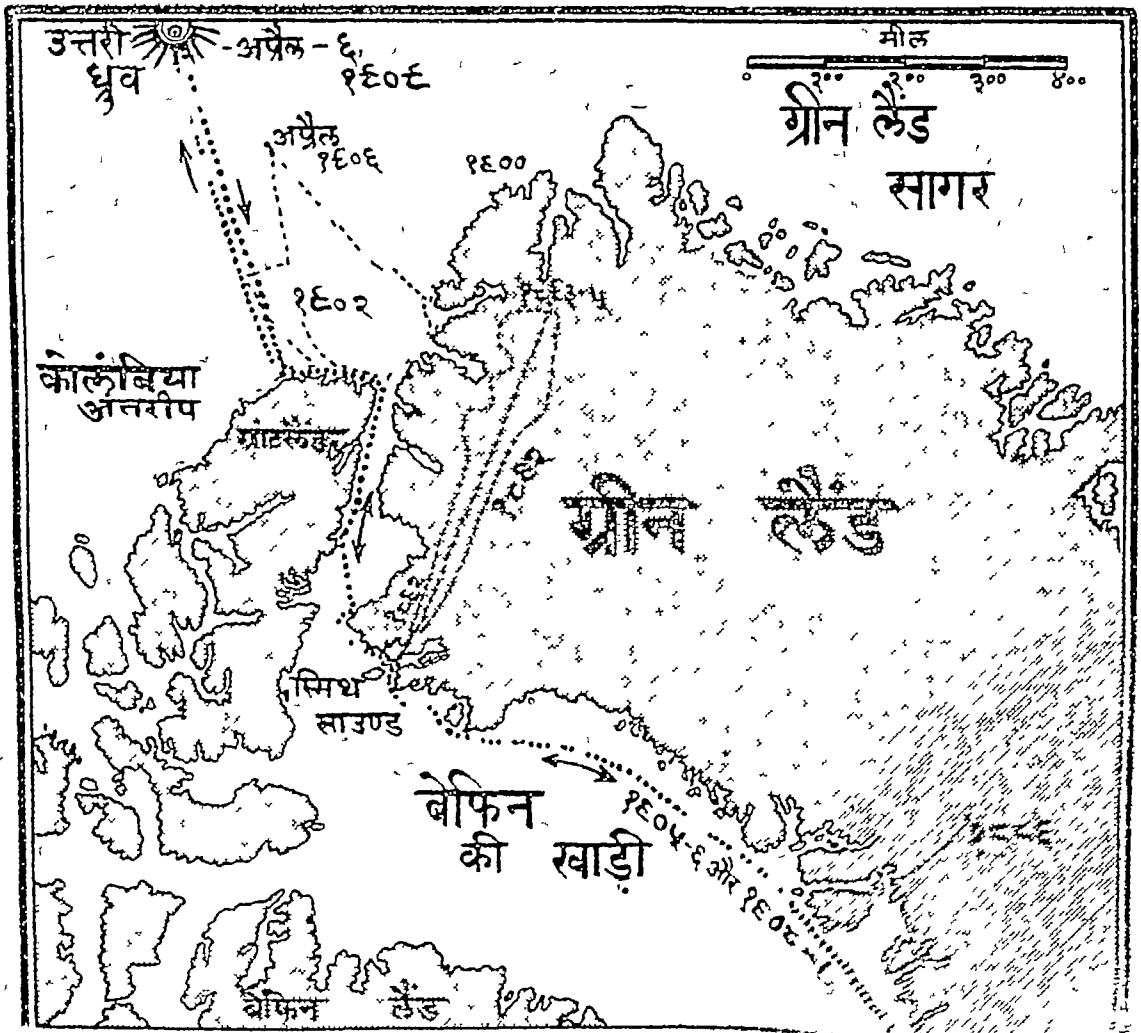
इस तरह अपने पूर्वगामी अन्वेषकों की तरह इसका भी यह पहला प्रयास विफल ही रहा।

१८६१ में न्यूयार्क से फिर एक दल उत्तरी बर्फीले प्रदेश की खोज के लिए रवाना हुआ। पर लोगों ने इस पर कोई ख़ास ध्यान न दिया। हाँ, एक बात कुछ लोगों के लिए ज़रूर खटकनेवाली थी। वह यह कि इस दल के साथ पेरी की नवविवाहिता स्त्री जोज़फाइन भी थी।

मेल्वील नामक खाड़ी में जाकर जहाज़ सामने बर्फ़ आने के कारण रुक गया। पर पेरी ने डायनामाइट से बर्फ तोड़कर रास्ता बना लिया। अब जहाज़ आगे चला। एकाएक बर्फ की एक चट्टान का एक टुकड़ा उछलकर पेरी के पैर में लगा और टँखने की ऊपर की उसकी दोनों हड्डियाँ टूट गई। वह लँगड़ा हो गया, पर उसका साहस नहीं टूट पाया। जहाज़ किनारे लगाया गया। तट पर बसने वाले 'सील' के शिकारी 'एस्किमो' लोगों से जान-पहचान बढ़ाई गई। जाड़ा काटने के लिए झोंपड़े तैयार किए गए। और ध्रुवप्रदेश की लंबी 'छ: महीने की रात' काटकर फिर धावा बोल दिया गया।

पेरी ने केवल दो आदमी और सोलह कुत्तों को अपने साथ लिया। फिर वही बदन को काटनेवाली हवा, बर्फ की वर्षा, कुहरे का अन्धकार, सूर्य की किरणों की चकाचौंध! पर अब वह हार माननेवाला न था। हफ़्तों बीत गए। अंत में एक ऊँचे पठार के कगार पर जाकर वे रुक गए। और एक अपूर्व दृश्य मानो नीचे से उठकर उनके सामने फैल गया। मीलों लंबा बर्फ का धवल मैदान! और उसके बीच, आज तक मनुष्य की आँखें जिन पर न पड़ी थीं, वे हरित झाड़ीवाले जल के असंख्य नाले; नदियाँ, सरोवर और झरने!! साथ के कुत्ते तक ख़ुशी से मानो पागल हो उठे।

१८६२ की चौथी जुलाई को वह ग्रीनलैंड को लाँघकर उत्तरी महासागर की बर्फीली चादर के किनारे जा खड़ा हुआ। किंतु अब भी ध्रुव कितना अधिक दूर था, कितना अगम्य!

विवश हो उसे इस बार भी बर्फ की शिलाओं से हार माननी पड़ी। न्यूयार्क में वापस आने पर नौ-विभाग के मंत्री ने कहा—"बस करो, पेरी! अब फिर से इस बेवकूफ़ी को न दोहराना। अपनी नौकरी का काम सँभालो। बोलो, कहाँ तुम्हारी ड्यूटी बाँधी जाय?"

[illegible] मिला—"उत्तरी ध्रुवप्रदेश में श्रीमन्"!

१८६३ में वह फिर चल दिया। इस बार भी जोज़फिन साथ थी। वहीं उसका पहला पुत्र भी पैदा हुआ! किंतु फिर वही आपदाएँ, फिर वही विफलता!

१८६३, १८६५, १६००, १६०२, १६०५—साल पर साल बीतते गए—और एक-एक इंच करके वह अपनी इस कठोर यात्रा पर आगे बढ़ता गया। बार-बार वह रवाना होता, फिर वापस न्यूयार्क आता। फिर से आलोचकों के तानें सुनकर उसका दिल फटने-सा लगता और अपने साथी एस्किमो और कुत्तों को लेकर वह फिर से बार-बार उस बर्फ की चादर को पार करने के लिए दौड़ने लगता था। पर अब उसकी भी आशा की डोर टूटने लगी, साहस का बाँध खिसकता नज़र आया। पर विधाता ने तो उसकी मस्तिष्क की रेखाओं पर 'ध्रुव का विजेता' ये शब्द अंकित कर रक्खे थे। १६०८ के जून में वह अपने देश के राष्ट्रपति के आशीर्वाद के साथ फिर रवाना हुआ। इस बार ध्रुव निश्चय किया कि बिना लक्ष्य तक पहुँचे वापस न आऊँगा। छ हफ़्तों बाद स्टीमर "रूज़वेल्ट" बर्फ की शिलाओं के बीच रास्ता काटते हुए ध्रुव महासागर के तट पर जाकर रुक गया। 'छ: महीने की रात' बीती, और फरवरी २२, १६०६, को जब थर्मामीटर का पारा शून्य से ३१ अंश नीचे था, पेरी और उसके साथी ने अपनी अंतिम चढ़ाई शुरू की। वही बर्फ़ीली चादर फिर सामने थी। किन्तु २० वर्ष का अनुभव भी तो साथ था। अब वह आँधी, वह बौछार, वह अनशन मामूली बातें थीं।

थर्मामीटर का पारा शून्य से ६० अंश नीचे आ पहुँचा है। फिर भी ध्रुव अभी १३३ मील दूर है। १३३ मील! ज़रा सोचिये, एक शहर से दूसरे शहर तक रेल या मोटर की सड़क के १३३ मील नहीं—ध्रुवप्रदेश के कुहरे, आँधी, बर्फ़ के १३३ मील! पर उधर थर्मामीटर का पारा ज्यों-ज्यों क्रमशः नीचे-से-नीचे उतरता जा रहा है, पेरी के दिल की आग भड़ककर तेज़ होती जा रही है। अब वह लक्ष्य से सिर्फ ३५ मील की दूरी पर है। पर ज्यों-ज्यों ध्रुव समीप आता जाता है, हाथ-पैर ढीले पड़ते जा रहे हैं।

अंत में अप्रैल ७ का वह प्रात काल, और पृथ्वी की छत—उत्तरी ध्रुव—का वह अद्भुत दृश्य! चारों ओर बर्फ ही बर्फ—कुहरा और अंधकार! पेरी को अपने पर विश्वास नहीं हो रहा था। क्या इसी के लिए सदियों से देश-देश के लोग अपनी बलि चढ़ाते रहे?

बर्फ़ की शिलाओं की एक टेकड़ी-सी बनाकर उस पर संयुक्त राष्ट्र का झंडा उसने खड़ा किया और एक अतृप्त दृष्टि से उसे निहारते हुए वापस दक्षिण का रास्ता पकड़ा।

अपने इतिहास के आरंभिक काल ही से मनुष्य अपने आस-पास की इस अद्भुत दुनिया के बारे में तरह-तरह के प्रश्न करता आया है। उसकी यह जिज्ञासा-वृत्ति ही उसे आगे बढ़ने की ओर प्रेरित करती है। हज़ारों प्रश्न नित्य ही हमारे मन में उठते हैं और उनका समाधान सहज ही में हम नहीं कर पाते। इस विभाग मे क्रमशः उन्हीं प्रश्नों का उत्तर देने का प्रयत्न किया जायगा।

हमारे शरीर में हड्डियाँ क्यों हैं?

यदि हम एक ऐसे आदमी की कल्पना कर सकें, जिसके एक भी हड्डी न हो और जो केवल मास का ही बना हो, तो उस आदमी की क्या दशा होगी? वह पृथ्वी पर एक मास के लोथड़े की तरह निर्जीव पड़ा रहेगा, क्योंकि पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण से बचाकर उसके मास के शरीर को खड़ी रखनेवाली चीज़ केवल हड्डी ही है। इस पृथ्वी के खिंचाव से रक्षा करने के अलावा हमारी हड्डियों का ढाँचा हमारे शरीर की एक ख़ास आकृति भी बनाता है।

क्या सूर्य की तरह पृथ्वी का भी अपना प्रकाश है?

इसमें सन्देह नहीं कि पृथ्वी का भी अपना प्रकाश कभी था, पर अब नहीं है। सृष्टि के क्रमिक विकास के साथ पृथ्वी भी पहले सूर्य की तरह गर्म और दाहक थी, पर धीरे-धीरे ठंडी हो गई है। अत उसका अपना प्रकाश समाप्त हो गया है। अब वह केवल सूर्य के प्रकाश को ही प्रत्यालोकित करती रहती है।

हमारे शरीर में कितना रक्त है?

आदमी के शरीर में उसके शरीर के वज़न का बारहवाँ अंश या तेरहवाँ अंश रक्त का है। इस रक्त का एक चौथाई भाग कलेजे में और तीन चौथाई शेष शरीर मे होता है। कलेजे की बायीं ओर की नस से होकर बहनेवाले ख़ून की रफ्तार एक मिनिट में तैंतिस गज़ होती है, पर सबसे छोटी नसों में ख़ून की गति इसका एक हज़ारवाँ भाग मात्र ही रह जाती है।

तार के खंभों से 'सन-सन' शब्द क्यों निकलता है?

चूँकि खभों के बीच तार पर हवा का दबाव निरन्तर पड़ा करता है और तारों से स्वभावतः एक कम्पन-ध्वनि भी निकला करती है, अतः हवा के दबाव और स्वाभाविक कम्पन से पैदा हुई वह ध्वनि आकाश में उन पोपले खंभों में प्रतिध्वनित होती रहती है, जिससे मालूम होता है कि खंभों से शब्द निकल रहा है। बहुत से लोग इन खंभों से निकलनेवाली ध्वनि के आधार पर मौसम का भविष्य बतला सकने का दावा करते हैं। कहते हैं कि ऊँची चीत्कारपूर्ण ध्वनि से खूब गहरी वर्षा होने की संभावना का बोध होता है।

आकाश नीला क्यों है?

सुनने में यह कुछ अजीब-सा ज़रूर लगेगा, पर आकाश को यह नीला रंग सूर्य से मिला है। तुम्हें आश्चर्य होगा कि इतने प्रकाशमान सूर्य मे नीला रंग कहाँ से आ गया! बात असल यह है कि सूर्य का प्रकाश विभिन्न रंगों की किरणों का समूह है जो सब मिलकर उज्ज्वल प्रकाश उत्पन्न करते हैं, और हवा मे धूल के अगणित कण सदा ही उड़ते रहते हैं जो सूर्य की किरणों से टकराकर नीले रंग को छोड़कर और सभी रगों को अपने में घुला लेते हैं। जो नीला रंग धूल द्वारा नहीं घुल पाता, वही शून्य आकाश का रंग हो जाता है। इसी से आकाश नीला दीखता है।

रात को अँधेरा क्यों होता है?

अगर तुम अपने एक हाथ में एक गेंद लो और दूसरे हाथ में एक दीपक, तो देखोगे कि गेंद के जिस भाग की ओर प्रकाश है उस भाग में उजाला है और शेष की ओर अँधेरा है। इसी तरह तुम्हारी यह पृथ्वी-रूपी गेंद सूर्य-रूपी दीपक के चारों ओर घूमती रहती है और जिस तरफ सूर्य रहता है उस तरफ उजाला और बाक़ी ओर अँधेरा रहता है। हम जिस स्थान पर रहते हैं वह इस बड़े गेंद पर किसी एक निशान की तरह है और जब सूर्य इस पृथ्वी रूपी गेंद के दूसरी ओर प्रकाश देता है तो हमारे हिस्से में अँधेरा हो जाता है और उसे ही हम रात कहते हैं।

चन्द्रमा में धब्बे क्यों दिखाई देते हैं ?

अगर तुमने कभी चन्द्रमा की ओर ग़ौर से देखा होगा, तो तुम्हें उसके उपर काले-काले धब्बे भी ज़रूर दिखलाई दिए होंगे। भला इतने प्रकाशमान नक्षत्र पर यह दाग़ क्यों? विज्ञान के पंडितों का कहना है कि चन्द्रमा भी इस पृथ्वी की तरह मैदान, घाटियों और पहाड़ों से भरा एक लोक है। दूरबीन से देखने पर इन सबके चिह्न साफ़-साफ़ दिखलाई पड़ते हैं। और यह जो काले काले धब्बे दीखते हैं उनमें से अधिकांश बड़े-बड़े ज्वालामुखियों के मुहानों के चिह्न हैं, जो बहुत ही विस्तृत और बड़े हैं। इनमें से कई एक तो बीसियों मील के घेरे में हैं। इसके अलावा वहाँ जो पहाड़ हैं, उनकी छाया भी इन धब्बों मे शामिल है। दूरबीन से देखने पर इन पहाड़ों की छाया और रोशनी के मिलने की जगहें साफ़ साफ दिखलाई पड़ती हैं।

जाड़े में मुँह से भाप क्यों निकलती है ?

हमारे शरीर के अन्दर पानी का अंश काफ़ी मात्रा में है, जो साँस द्वारा भाप बनकर बाहर निकला करता है। इसे गर्मियों में हम नहीं देख पाते, पर जाड़ों में देख पाते हैं। इसका कारण यह है कि गर्मियों में बाहर की हवा गर्म रहती है, इसलिए हमारे मुँह से निकलनेवाली भाप भी उसमें आसानी से मिल जाती है और उसमें कोई विकार नहीं पैदा होता। जाड़ों में चूँकि बाहर की हवा ठंढी रहती है इसलिए हमारे मुँह से जो भाप निकलती है वह उससे टकराकर घनी हो जाती है। इसी कारण जिस भाप को हम गर्मी मे नहीं देख पाते, उसे जाड़े मे देख सकते हैं।

क्या आकाश का कहीं अन्त भी है ?

ज्योतिष-विज्ञान के जानकार लोगों ने कई तारों की जो दूरी बतलाई है उसी से अन्दाज़ लगाया जा सकता है कि आकाश अनन्त है। बहुतेरे तारे जो दिखलाई देते हैं, उन्हीं की दूरी इतनी बतलाई गई है कि उन्हें मीलों की संख्या में व्यक्त करने में हम असमर्थ हैं। उनकी दूरी बतलाने के लिए 'प्रकाश-वर्ष' का प्रयोग किया जाता है, जिसका मतलब होता है उतनी दूरी जितनी कि प्रकाश वर्ष भर में तै करता है। इस पर भी आकाश का अन्त नहीं पाया जा सका है। यदि मनुष्य जितनी बड़ी दूरबीनें अब तक बना सका है, उनकी लाख गुना बड़ी दूरबीनें भी बना सके और उन अगणित तारागणों को उनके द्वारा देख सके, जिनकी दूरी हमारी कल्पना से भी परे है, तब भी शायद आकाश के छोर से वह उतना ही दूर रहेगा, जितना कि आज है, क्योंकि शून्य मनुष्य के माप की हर व्यवस्था से परे है।

तेल पानी की सतह पर क्यों तैरता है ?

सुनने में यह बात एक अजीब-सी मालूम होती है कि एक द्रव पदार्थ दूसरे द्रव पदार्थ पर तैर सके। पर कोई चीज़ पानी की सतह पर तैरती है या नहीं, यह एक या दो बातों पर निर्भर है। पहली बात तो यह है कि वह चीज़ पानी में घुल जायगी या नहीं? दूसरे, पानी से उसका वज़न कम है या ज़्यादा। अगर नमक का एक टुकड़ा पानी में छोड़ दिया जाय तो वह फौरन् गायब हो जायगा, क्योंकि नमक पानी में घुल जाता है। अगर हम लकड़ी का एक हल्का टुकड़ा पानी में डालें तो वह तैरता है क्योंकि वह पानी में घुल नहीं सकता और लकड़ी का तौल भी पानी के तौल से हल्का है। यही बात तेल के साथ भी है। तेल और चर्बी पानी में घुलते नहीं और चूँकि तेल उतने पानी से हल्का है जितने पानी में वह तैरता है, इसीलिए उसका तैरना संभव होता है।

रेल में ख़तरे की ज़ंजीर कैसे काम करती है ?

रेल के हर डिब्बे में ऊपर एक ज़ंजीर लगी होती है जो ख़तरे की ज़ंजीर कही जाती है और जिसका उपयोग कोई संकट उपस्थित होने पर किया जाता है। उसे खींच देने पर ट्रेन खड़ी हो जाती है, इतना तो लगभग सभी जानते हैं, जिन्हें रेल में सफर करने का कभी भी मौक़ा मिला है। पर ऐसा किस तरह होता है और क्योंकर होता है, इसे बहुत कम लोग जानते होंगे। जानने की कोशिश भी शायद ही कोई करता हो। यह होता यों है कि जब ज़ंजीर खींची जाती है तो उससे संबंधित एक यंत्र ट्रेन को धीमी कर देता है, जिससे ड्राइवर समझ जाता है कि कहीं-न-कहीं कुछ ख़राबी है। इंजिन में लगा हुआ एक पुर्ज़ा उसे इसकी चेतावनी देता है। अर्थात् ज़ंजीर खींचने से एक प्रकार का ब्रेक-सा लगता और साथ ही गाड़ी के दोनों सिरों के डिब्बों मे एक प्रकार का चेतावनी का इशारा भी मिलता है। अगर ज़ंजीर ऐसे समय में खींची जाय जब कि ड्राइवर ब्रेक का उपयोग कर रहा हो तो उसका कोई असर न होगा।

विश्व की कहानी
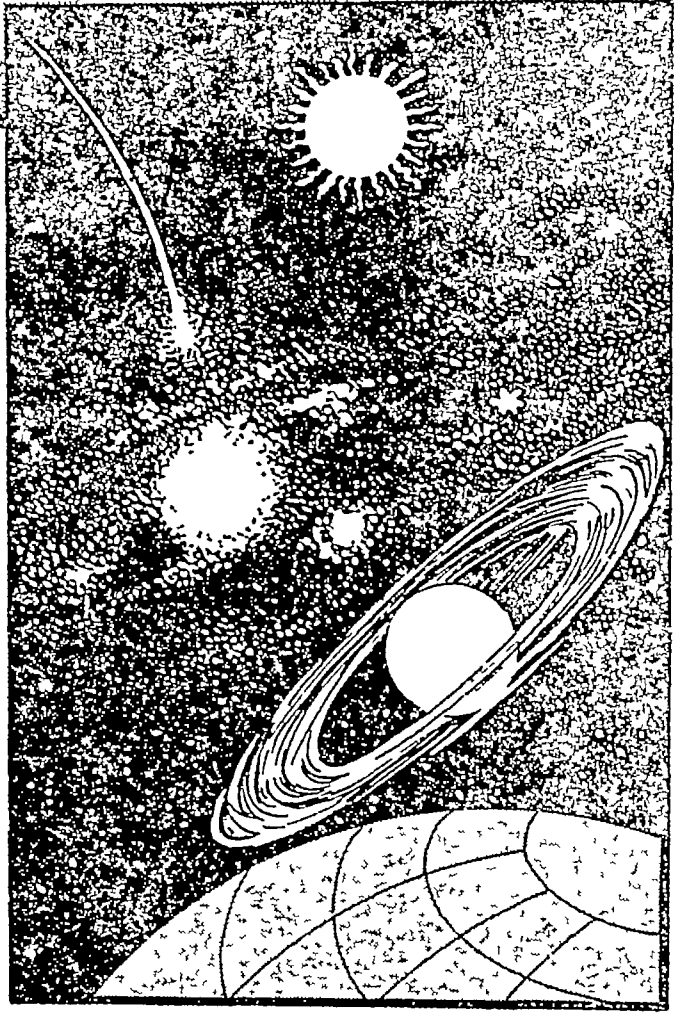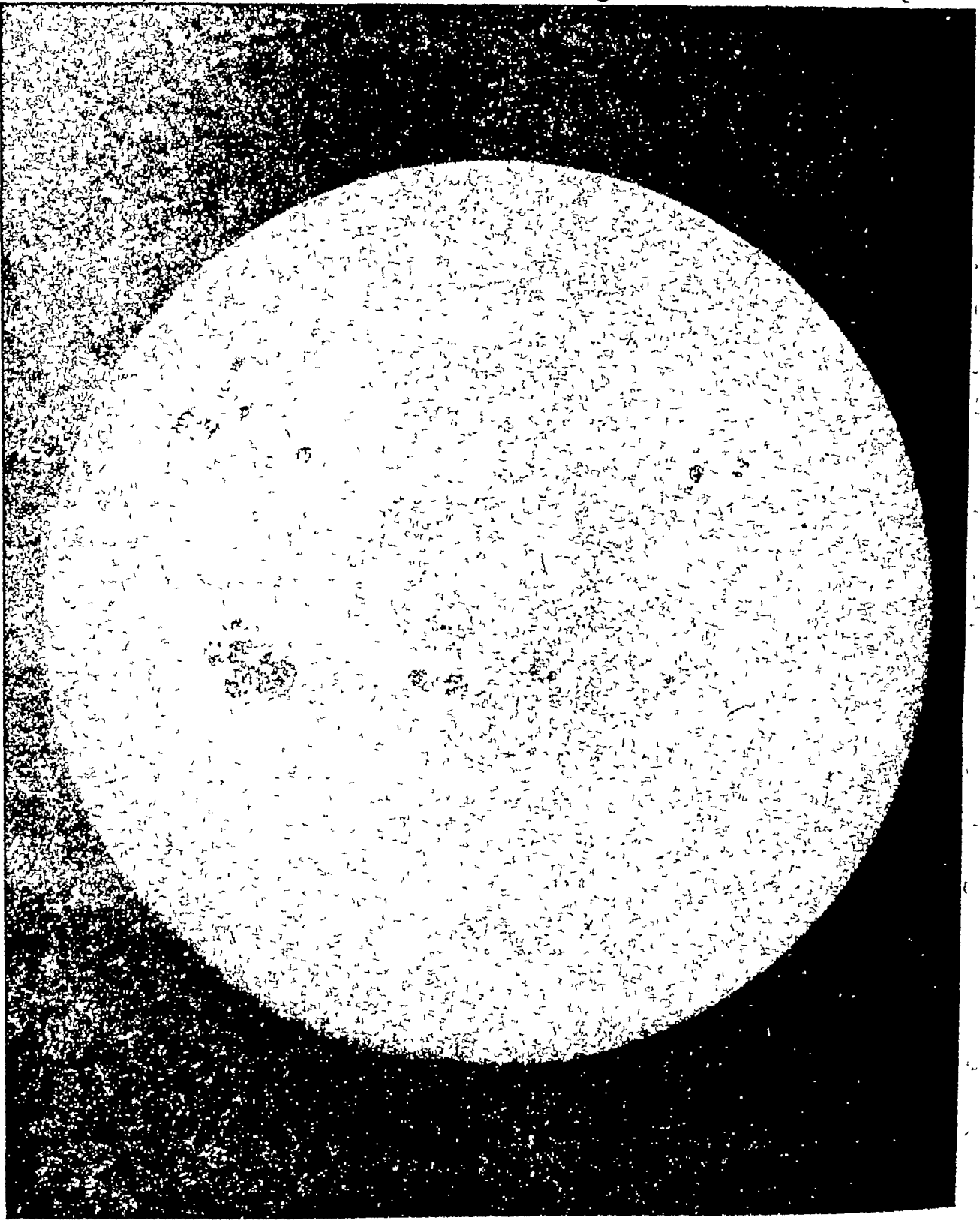
हमारे जीवन का अवलम्ब—सूर्य

विश्व की अनंत व्यापकता में एक से एक बढ़कर तेजस्वी और विशाल नक्षत्र बिखरे पड़े हैं, किन्तु हमारे लिए तो सूर्य ही सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। यदि सूर्य मिट जाय तो तीन ही दिन में पृथ्वी से जीवन विलुप्त हो जायगा। ऊपर का चित्र माउण्ट विल्सन वेधशाला में लिया गया सूर्य का एक फ़ोटो है। इसमें बीच-बीच में छोटे-छोटे काले धब्बे 'सूर्य-कलंक' हैं, जिनके बारे में विस्तृत हाल आप आगे पढ़ेंगे। इनमें से कई आकार में पृथ्वी से भी बड़े हैं। इसीसे आप सोच सकते हैं कि सूर्य कितना अधिक बड़ा होगा! [फ़ोटो 'माउण्ट विल्सन वेधशाला' से प्राप्त।]
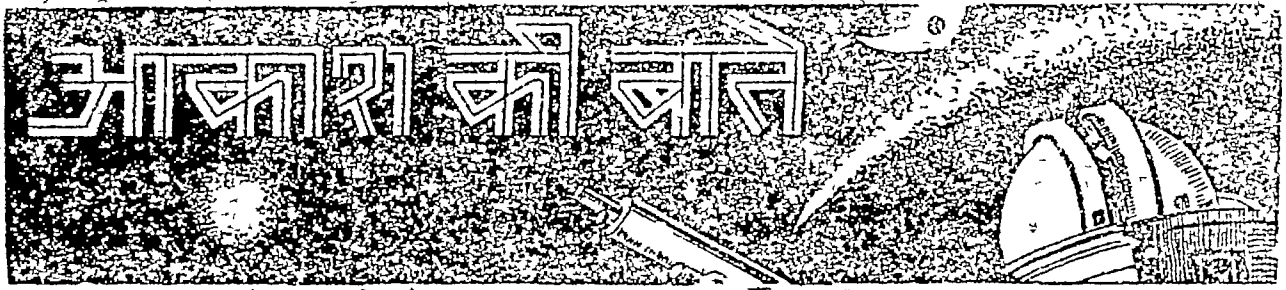
परम तेजस्वी सूर्य

आकाश के कौतुक-भरे पिण्डों और प्रकाशपुञ्ज नक्षत्रों की ओर आँखें उठाने पर सर्वप्रथम सूर्य ही पर—जिसके साथ हमारा सबसे अधिक घनिष्ट सम्बन्ध है—हमारा ध्यान खिंचता है। इस और आगे के अध्यायों में आप इसी परम तेजस्वी नक्षत्र की कहानी पढ़ेंगे।

आकाश के विभिन्न पिण्डों में सूर्य ही परम तेजस्वी है। चंद्रमा, तारे, ग्रह—ये सभी मिट भी जायँ तो हमारी कुछ हानि न होगी, परंतु सूर्य पर हमारा जीवन ही निर्भर है। सूर्य ही की शक्ति से पौधे उगते हैं, अन्न उत्पन्न होता है, हम जीवित रहते हैं। सूर्य जब दक्षिण चला जाता है और उसकी रश्मियाँ तिरछी होकर आती हैं, तो सरदी पड़ने लगती है। उस ऋतु में चार दिन धूप न मिले तो सरदी खूब बढ़ जाती है। ध्रुव-प्रदेशों में, जहाँ सूर्य की किरणें बहुत तिरछी ही होकर पहुँच सकती हैं, गरमी के दिनों में भी बर्फ के पहाड़ समुद्र पर तैरा करते हैं और अनेक स्थान बर्फ़ से ढके रहते हैं। जाड़े में तो वहाँ बर्फ़ ही बर्फ दिखलाई पड़ती है। इसी से हम अनुमान कर सकते हैं कि सूर्य हमारे लिए कितना आवश्यक है। वैज्ञानिकों ने गणना द्वारा पता लगाया है कि यदि आज सूर्य मिट जाय तो तीन दिन के भीतर ही पृथ्वी के जीव, चर और अचर सभी मर जायँगे; सूर्य के मिटने के दो दिन के भीतर ही वायुमंडल का कुल जलवाष्प ठंढा होकर पानी या बर्फ के रूप में गिर पड़ेगा और फिर ऐसी सर्दी पड़ेगी कि कोई भी जीवित न रह सकेगा। तब क्या कोई आश्चर्य है कि प्राचीन लोग सूर्य की पूजा किया करते थे!

[illegible]

जीवन के लिए सूर्य का [illegible] [illegible] ही ने सबसे अधिक [illegible] [illegible] यहाँ [illegible] का [illegible] [illegible] में [illegible] [illegible] है।

आरंभ से ही मनुष्य के हृदय में यह जिज्ञासा उठी होगी कि सूर्य है क्या, कैसे इतने इतनी गरमी और रोशनी बराबर आया करती है। प्रति दिन प्रातःकाल नियमित समय पर वह कैसे उदय होता है, ऋतुएँ नियमानुसार कैसे हुआ करती हैं? हजारों वर्ष तक इन रहस्यों के भेद का पता न चल सका। धीरे-धीरे [illegible] [illegible] कहीं-कहीं [illegible] कि [illegible] [illegible] है [illegible]

समय वह समुद्र में डूब जाता है, या यह सिद्धान्त कि दो सूर्य हैं, दो चंद्रमा हैं, दो नक्षत्र समूह हैं, इत्यादि; परंतु मनुष्य अंत में अपने बुद्धि-बल से इन सबका भेद पा ही गया। आधुनिक विज्ञान ने तो यहाँ तक सफलता प्राप्त की है कि सूर्य आदि की सच्ची नापतौल, दूरी और रासायनिक बनावट का भी पता लगा लिया है। कुछ बातें बड़ी ही आश्चर्यजनक निकलीं। इस लेख में सूर्य की महान् शक्ति और उसके संबंध की अन्य भौतिक बातों का परिचय दिया जायगा। आगामी लेखों में सूर्य की रासायनिक बनावट की जाँच की जायगी।

दूरी आदि

पहले सूर्य की दूरी ही पर विचार करो। नापने से पता चला है कि सूर्य पृथ्वी से लगभग सवा नौ करोड़ मील पर है। एकाई, दहाई, सैकड़ा गिनने पर करोड़, दस करोड़, क्षण भर में आ जाता है, पर सवा नौ करोड़ की दूरी वस्तुतः कल्पनाशक्ति के परे है। पृथ्वी कितनी बड़ी जान पड़ती है! परंतु इसके एक सिरे से दूसरे सिरे तक की सीधी दूरी केवल आठ हज़ार मील है। पृथ्वी की एक बार परिक्रमा करने में केवल २५ हज़ार मील की यात्रा करनी पड़ेगी। सवा नौ करोड़ मील चलने में पृथ्वी की प्रदक्षिणा क़रीब पौने चार सौ बार हो जायगी। और समय? इतना चलने में समय कितना लगेगा? यदि हम ६० मील प्रति घंटे के हिसाब से दिन-रात चलते रहें तो सवा नौ करोड़ मील चलने में १७५ वर्ष से कम नहीं लगेगा! डेढ़ पाई प्रति मील के हिसाब से तीसरे दरजे का रेल से सूर्य तक आने-जाने का ख़र्च सवा सात लाख रुपया हो जायगा। इस यात्रा के लिए यदि स्टेशन मास्टर नोट लेना न स्वीकार करे तो हमको लगभग साढ़े ग्यारह मन सोना किराया में देना पड़ेगा! सवा नौ करोड़ तक केवल गिनती गिनने में तुम्हें ग्यारह महीना लगेगा, और शर्त यह कि तुम दिन-रात बराबर गिनते रहो, कभी न सोओ, और न खाने-पीने के लिए रुको, और प्रति मिनट २०० तक गिन डालो!

एक दूसरे लेखक ने सवा नौ करोड़ मील की कल्पना करने की युक्ति यह दी है कि मान लो तुम क्षण भर में अपना हाथ इतना बढ़ा सकते हो कि सूर्य को छू सकते हो।
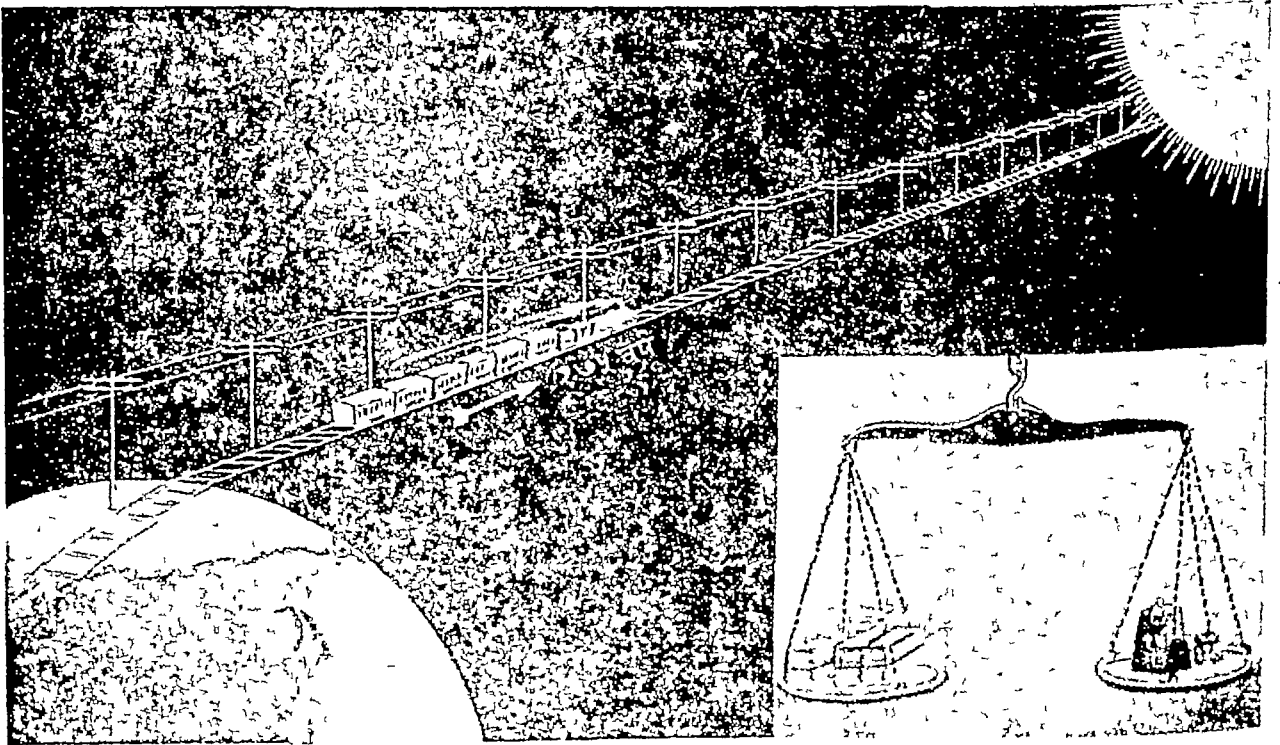
सवा नौ करोड़ मील की दूरी!

पृथ्वी से सूर्य इतना अधिक दूर है कि यदि हम ६० मील प्रति घंटा की गति से चलनेवाली रेलगाड़ी में बैठकर ... तक बिना कहीं रुके लगातार यात्रा करें तो १७५ वर्ष से कम समय न लगेगा। इतनी लंबी यात्रा के ... अपने देश के रेल के किराये की दर से हमें सवा सात लाख रुपया या साढ़े ग्यारह मन सोना किराये में देना होगा!

सूर्य-संबंधी भारतीय पौराणिक धारणा

प्राचीन मिस्री, असीरियन, पारसी, यूनानी, अमेरिका के प्राचीन निवासियों आदि के सूर्य मुख्य देवता थे। भारतवर्ष में भी सूर्य आरंभ ही से एक प्रधान देवता माने गये हैं। पुराणानुसार ये विभिन्न रंगों के सात तेजस्वी घोड़ों के रथ पर आरूढ़ माने गये हैं। इनका सारथि अरुण है। सात रंग के घोड़ों की यह कल्पना और प्रकाश-किरण के सात रंगो के आधुनिक सिद्धान्त का सामंजस्य महत्त्वपूर्ण है।

सूर्य की दूरी की एक और कल्पना

यदि हम अपना हाथ इतना फैला सकते कि अँगुली सूर्य को छू लेती, तो जिस गति से संवेदना की सूचना हमारे शरीर में मस्तिष्क तक पहुँचती है, उस गति से अँगुली जलने की सूचना सूर्य से हमारे मस्तिष्क तक पहुँचने में लगभग १६० वर्ष का समय चाहिए! सूर्य इतना अधिक दूर है!!
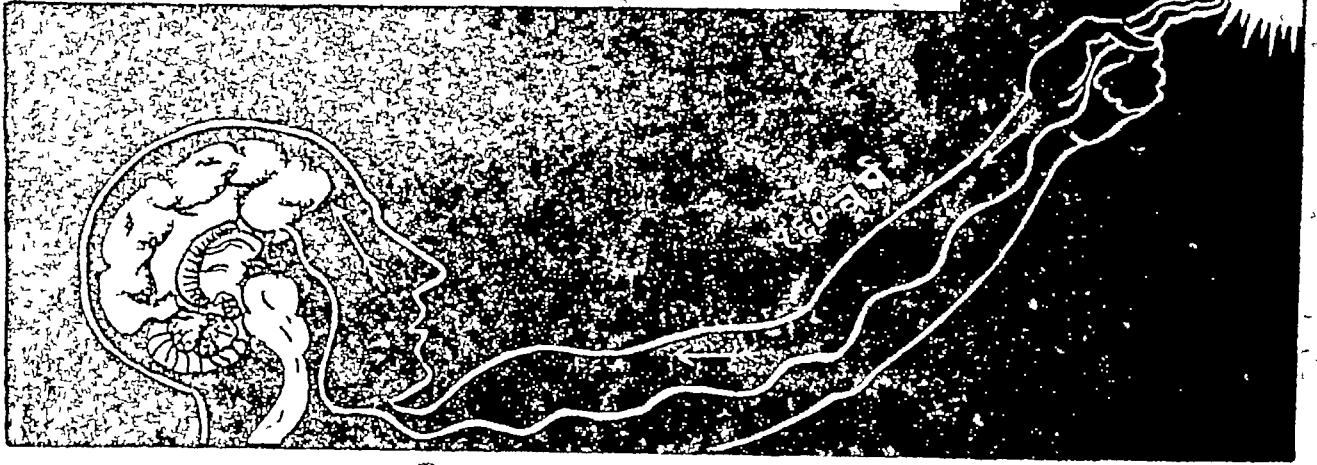
सूर्य के छूने पर तुम्हारी अँगुली जलेगी। इसकी सूचना तुम्हारे मस्तिष्क तक यदि उसी वेग से दौड़े जिस वेग से साधारण मनुष्यों में दौड़ती है तो अँगुली के जलने का पता तुम्हें १६० वर्ष बाद चलेगा! सूर्य पर यदि कोई घोर शब्द हो और शब्द शून्य को भेद करता हुआ पृथ्वी तक उसी वेग से पहुँचे जिस वेग से यह पृथ्वी पर चलता है तो सूर्य पर शब्द होने के चौदह वर्ष बाद पृथ्वी पर सुनाई देगा—सूर्य इतना दूर है!

सूर्य की नाप (डील-डौल) भी कुछ कम आश्चर्य-जनक नहीं है। सूर्य का व्यास पृथ्वी के व्यास का प्रायः १०६ गुना है, और इसलिए उसका घनफल पृथ्वी की अपेक्षा १०६×१०६×१०६ गुना है। १३,००,००० (तेरह लाख) पृथ्वियों को एक में मिला दिया जाय तब कहीं सूर्य के बराबर गोला बन सकेगा।

परंतु सूर्य की घनता पृथ्वी की अपेक्षा लगभग चौथाई ही है। पृथ्वी, कुल मिलाकर, अपनी ही नाप के पानी के गोले से लगभग साढ़े पाँच गुना भारी है, परंतु सूर्य अपनी नाप के पानी के गोले से केवल सवा गुना ही भारी है। यदि सूर्य थोड़ा-सा और हलका होता तो पानी में तैर सकता। तो भी, बहुत बड़ा होने के कारण सूर्य पृथ्वी से ३,३०,००० गुना भारी है।

आकर्षण-शक्ति

भौतिक भूगोल के अध्ययन से तुम जानते हो कि पृथ्वी सूर्य के चारों ओर घूमती है। तागे में लंगर बाँधकर (घुमा)ने से तुम जानते हो कि लंगर के घुमाने में तागा तन जाता है। यदि तागा कमज़ोर हो तो वह टूट जायगा और लंगर छूटकर दूर चला जायगा। पृथ्वी के घूमने में भी यही सिद्धान्त लागू है, अंतर केवल इतना ही है कि यहाँ तागे के बदले सूर्य का आकर्षण रहता है। यदि सूर्य का आकर्षण बंद हो जाय तो पृथ्वी तुरंत छूटकर सीधी दिशा में चल पड़ेगी, यह सूर्य की प्रदक्षिणा न करेगी।

पृथ्वी की तौल और दूरी को ध्यान में रखते हुए, तुम शायद इतना अंदाज़ कर सकते होगे कि सूर्य का आकर्षण अत्यंत बलवान् होता होगा, तभी तो वह इतनी भारी पृथ्वी को नचा सकता है। परंतु वास्तविक आकर्षण से तुम्हारा अनुमान कहीं कम होगा। पृथ्वी पर सबसे मजबूत चीज़ फौलाद है। गणना से पता चलता है कि पृथ्वी को आकर्षण के बदले केवल बाँधकर घुमाने के लिए फौलाद के लगभग छः हजार मील व्यास के मोटे डंडे से बाँधना पड़ेगा! इससे कम मज़बूत चीज़ तुरंत टूट जायगी।

सूर्य के पृष्ठ पर आकर्षण-शक्ति पृथ्वी के पृष्ठ पर वर्तमान आकर्षण-शक्ति की अपेक्षा २८ गुनी अधिक है। जो पत्थर पृथ्वी पर एक सेर का जान पड़ता है वह सूर्य पर २८ सेर का जान पड़ेगा। आकर्षण-शक्ति की कल्पना करने के लिए मान लो कि सूर्य इतना ठंढा कर दिया गया कि उस पर मनुष्य बिना जले रह सकता है। यह भी मान लो कि कोई व्यक्ति वहाँ पहुँचा दिया गया, तो क्या वह व्यक्ति वहाँ खड़ा हो सकेगा? कभी नहीं। वहाँ डेढ़ मन का आदमी ४२ मन का हो जायगा और उसकी टाँगों में इतनी शक्ति ही नहीं रहेगी कि वह खड़ा हो सके। वह

वहाँ अधिक आकर्षण के कारण उसी प्रकार चिपटा हो जायगा जिस प्रकार यहाँ किसी के ऊपर ४२ मन का बोझ लाद देने से !

तापक्रम

सूर्य कितना गरम है, उसका तापक्रम क्या है, यह भी प्रायः कल्पनाशक्ति के परे है। विचार करो कि सूर्य हमको कितना छोटा-सा दिखलाई पड़ता है—आकाश में सैकड़ों सूर्य के लिए स्थान मिल सकता है—तो भी सूर्य से इतनी गरमी आती है ! अनुमान किया गया है कि गरमी के दिनों में सूर्य की किरणों द्वारा जितनी गरमी दो वर्ग गज़ पर आती है उतने में एक अश्व-बल (Horse-Power) के समान शक्ति रहती है। यदि सूर्य की गरमी से इंजन चलाने का कोई सुगम उपाय होता तो हम बिना मिट्टी का तेल या कोयला ख़र्च किये बड़े-बड़े इंजन सहज में केवल धूप से चला सकते।

अब इस बात पर विचार करो कि साधारण अग्नि से हमको कितनी कम गरमी मिलती है। होलिका जलते समय, पास खड़े होने पर, आँच का अनुभव तुमने किया होगा। कुछ अधिक दूर खड़े होने पर आँच की मात्रा बहुत कम पड़ जाती है। क्या ऐसी भी होलिका की कल्पना तुम कर सकते हो जिससे एक मील की दूरी पर आँच लगे ? सूर्य तो सवा नौ करोड़ मील पर है। वहाँ कितनी गरमी होगी कि उसके कारण हमें पृथ्वी पर भी ख़ूब गरमी लगती है !

वैज्ञानिकों ने ठीक इन्हीं सब बातों को ध्यान में रखकर सूर्य के तापक्रम की गणना की है। इससे उनको पता चला है कि शतांश ताप-मापक (सेंटीग्रेट थर्मामीटर) से सूर्य का तापक्रम ६००० डिगरी होगा। अपने शरीर के तापक्रम के चार-पाँच डिगरी अधिक तापक्रम का अनुभव प्रायः सभी को होगा। यह तेज़ बुख़ार का तापक्रम है। १०० डिगरी के तापक्रम पर पानी खौलता है। १००० डिगरी पर सोना भी पिघल चलता है। बिजली की भट्ठी में मनुष्य ३००० डिगरी की गरमी पैदा कर सकता है। इससे अधिक तापक्रम मनुष्य किसी रीति से उत्पन्न नहीं कर सकता है; परन्तु सूर्य का तापक्रम ६००० डिगरी है !

गणना से पता चलता है कि सूर्य की सतह के प्रत्येक वर्ग इंच से ५४ अश्व-बल की शक्ति निकलती है। अँगूठी के नग के बराबर सूर्य की सतह से लगभग तीन अश्व-बल की शक्ति रात-दिन बराबर निकला करती है।

सूर्य का प्रचण्ड आकर्षण

पृथ्वी अदृश्य रूप से सूर्य की प्रचण्ड आकर्षण-शक्ति से बँधे होने के कारण ही सूर्य के आस-पास लट्टू की तरह नाच रही है। यदि इस आकर्षण-शक्ति के बदले हमें पृथ्वी को सूर्य के आसपास इसी तरह बाँध रखने का कोई और साधन काम में लाना पड़े तो छः हज़ार मील व्यासवाले और सवा नौ करोड़ मील लंबे फ़ौलाद के मोटे डंडे को काम में लाना होगा। इससे कम मज़बूत चीज़ होने पर पृथ्वी सूर्य का बन्धन तोड़ छटककर सीधी दिशा में चल पड़ेगी !
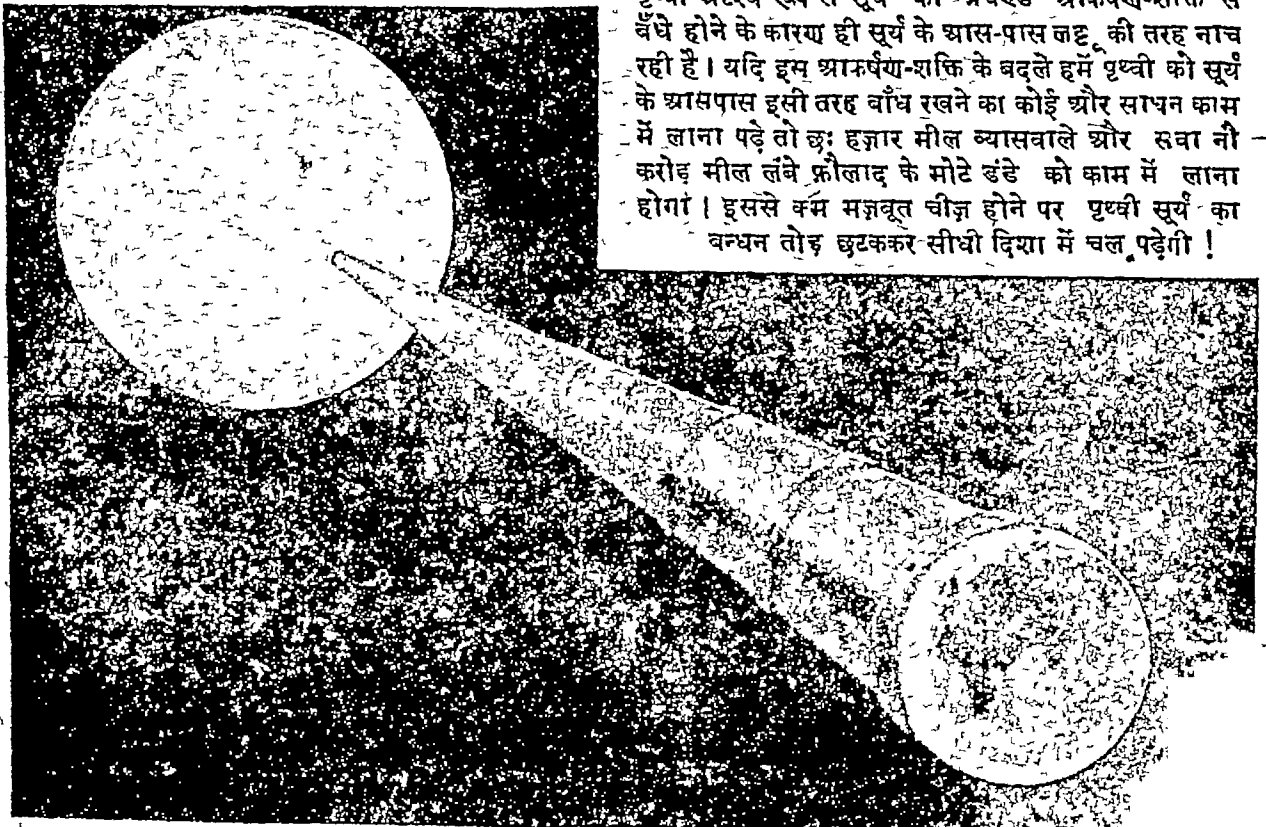
सूर्य पर निरंतर उल्कापात की धारणा

सूर्य कैसे गरम बना हुआ है, इस प्रश्न के उत्तर की खोज में वैज्ञानिकों ने तरह-तरह की कल्पनाएँ की हैं। इनमें से एक यह है कि सूर्य पर निरंतर उल्काएँ बरसती रहती हैं, इसी से वह गरम रहता है। पर अब यह निर्मूल प्रामाणित हो चुकी है।

सूर्य के प्रत्येक वर्ग इंच से लगभग ३,००,००० मोमबत्ती की रोशनी निकलती है!

सूर्य में गरमी कहाँ से आती है?

विज्ञान का एक प्रसिद्ध सिद्धान्त यह है कि विश्व में जितनी भी शक्ति है, उतनी ही रहती है। यह कहीं उत्पन्न नहीं होती, इसका कहीं लोप नहीं होता। शक्ति की नाप कार्य से होती है। किसी वस्तु में जितना ही अधिक कार्य करने का सामर्थ्य रहता है, उसमे उतनी ही अधिक शक्ति मानी जाती है। दबी हुई कमानी में शक्ति होती है, क्योंकि खुलने में कमानी कुछ काम कर सकती है, जैसे बोझ उठा सकती है या खिलौने के पहिये चला सकती है। कोयले में शक्ति होती है, क्योंकि जलने पर गरमी उत्पन्न होती है, जिससे इंजन चल सकता है, जो काम कर सकता है। बहते हुए वायु मे शक्ति है, क्योंकि बहते हुए वायु से हवाचक्की चल सकती है, इत्यादि। गरमी स्वयं ही शक्ति क्योंकि इससे इंजन चल सकता है। चाहे गरमी इतनी कम भी क्यों न हो कि इससे कोई वास्तविक इंजन न चल सके, परन्तु सिद्धान्ततः इजन का चलना संभव तो है। इसलिए गरमी अवश्य शक्ति है।

अब इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि सूर्य से बराबर गरमी बिखरा करती है; इसलिए सूर्य से बराबर शक्ति निकला करती है। यह शक्ति आती कहाँ से है? यदि सूर्य केवल तप्त पिण्ड है, तो गरमी के निकलते-निकलते अवश्य ही यह कुछ दिनों में ठढा हो जायगा, ठीक उसी प्रकार जैसे आग में रखकर तपाया हुआ लोहा बाहर निकालने पर कुछ समय में ठंढा हो जाता है। यदि सूर्य केवल तप्त पिण्ड होता, तो यह कभी ही ठंढा हो गया होता। इसमे अवश्य ही इसमें कोई ऐसी बात है, जिससे गरमी बराबर पैदा होती रहती है।

वैज्ञानिकों का ध्यान सर्वप्रथम अग्नि की ओर आकर्षित हुआ। सोचा गया कि जिस प्रकार कोयले के जलने से गरमी पैदा होती है, उसी प्रकार सूर्य पर भी किसी वस्तु के

जलने से गरमी पैदा होती होगी, परन्तु जब इस बात की गणना की जाती है कि सूर्य से कितनी रोशनी और गरमी बिखरती है और उनने के लिए कितने पदार्थ के जलने की आवश्यकता पड़ेगी, तो पता चलता है यदि कुल सूर्य बढ़िया पत्थर के कोयले का बना होता, तो उसे इतनी गरमी पैदा करने के लिए, जितनी वस्तुतः पैदा होती है, कुल डेढ़ हज़ार वर्ष में ही जलकर भस्म हो जाना पड़ता। परन्तु इतिहास से हमें ज्ञात है कि सूर्य हजारों वर्षों से सम भाव से चमकता चला आ रहा है।

हाल में कुछ वृक्ष ऐसे मिले हैं जिनको काटकर रेशों की जाँच करने से पता चला है कि उनकी आयु ३२०० वर्ष है। बसंत में वृक्ष शीघ्र बढ़ते और मोटे होते हैं, जाड़े में उनकी वृद्धि प्रायः रुक जाती है। वसंत की लकड़ी नरम और जाड़े की कड़ी होती है। और इस प्रकार प्रति वर्ष नरम और कड़ी लकड़ी की तहें तने पर (छिलके के नीचे) जमती चली जाती हैं। इससे वृक्ष की लकड़ी देखने से तुरंत पता चल जाता है कि वृक्ष की आयु क्या है। प्राचीन वृक्षों की जाँच करने से पता चलता है कि आज से ३२०० वर्ष पहले भी एक वर्ष में ये वृक्ष उतने ही बढ़ते थे, जितना इन दिनों। इससे प्रत्यक्ष है कि उस समय भी प्रायः उतनी ही गरमी पड़ा करती थी, जितनी अब। सूर्य इन सवा तीन हज़ार वर्षों में इतना ठंढा नहीं हो गया है कि कोई विशेष अंतर ज्ञात हो। तीन हज़ार क्या, भूगर्भ-विद्या के बल पर—पृथ्वी के पत्थरों की जाँच से—पता चलता है कि सूर्य की आयु करोड़ों करोड़ों वर्ष होगी।

क्या बात है कि सूर्य इतने वर्षों में भी ठंढा नहीं हुआ? सन् १८४८ में एक वैज्ञानिक ने यह सिद्धान्त उपस्थित किया कि सूर्य पर लगातार उल्काओं की वर्षा होती होगी, इसी से सूर्य गरम रहता है। यह बात तो अवश्य सच है कि यदि किसी पदार्थ को बराबर पीटते रहा जाय, तो उसमें गरमी उत्पन्न हो जायगी। यदि तुम लोहे को हथौड़े से दनादन दस मिनट तक पीटते रहो, तो तुम देखोगे कि लोहा गरम हो गया। इसलिए यदि उल्काओं की वर्षा सूर्य पर होती हो, तो अवश्य ही गरमी पैदा होती होगी। उल्का वे आकाशीय पिण्ड हैं, जो हमको रात्रि के समय गिरते हुए तारे के रूप में दिखलाई पड़ते हैं। विश्व में प्रायः असंख्य उल्कायें होंगी। हमें वे तभी दिखलाई पड़ती हैं, जब पृथ्वी इनके समीप पहुँच जाती है या ये पृथ्वी के समीप पहुँच जाती हैं। उस समय पृथ्वी के आकर्षण के कारण वे इतनी ज़ोर से पृथ्वी की ओर खिंच आती हैं कि वे चमक उठती हैं। परन्तु जब उपरोक्त सिद्धान्त की जाँच गणित से की गई, तो पता चला कि यह सिद्धान्त भी टिक नहीं सकता। गणना से यह परिणाम निकलता है कि यदि पृथ्वी की तौल के बराबर उल्कायें सूर्य में जाकर गिरें, तो केवल १०० वर्ष भर के लिए ही गरमी उत्पन्न हो सकेगी। अवश्य ही विश्व मे उल्कायें इतनी घनी न बिखरी होंगी कि सूर्य पर इतनी उल्कायें गिर सकें, अन्यथा पृथ्वी पर भी प्रत्येक रात्रि बराबर उल्काओं की वर्षा होती दिखलाई पड़ती! फिर, यदि वस्तुतः इतनी उल्कायें सूर्य पर गिरा करतीं, तो उनके कारण सूर्य तीन ही करोड़ वर्ष में दुगुना बड़ा हो जाता!

सन् १८५३ में प्रसिद्ध जर्मन वैज्ञानिक हेलमहोल्ट्ज़ ने यह सिद्धान्त उपस्थित किया कि सूर्य में सिकुड़ने के कारण गरमी उत्पन्न होती है। यदि साइकिल पंप का मुँह बंद करके हवा को खूब दबाया जाय, तो हवा गरम हो जायगी; यह प्रयोग तुम स्वयं करके देख सकते हो। इसी प्रकार जब कभी वायु को संकुचित किया जाता है, तो गरमी पैदा होती है। हेलमहोल्ट्ज़ का सिद्धान्त यह था कि सूर्य गैस के रूप में है और आकर्षण के कारण बराबर अधिकाधिक संकुचित होता जा रहा है। इसलिए उसमें बराबर गरमी पैदा होती रहती है। यही कारण है कि सूर्य ठंढा नहीं हो रहा है। परन्तु ३० वर्ष बाद जब लार्ड केल्विन इस बात की गणना करने में सफल हुए कि अनन्त विस्तार से वर्त्तमान संकुचित अवस्था तक पहुँचने में सूर्य में कितना ताप उत्पन्न होगा, तब हेलमहोल्ट्ज़ का सिद्धान्त भी झूठा सिद्ध हुआ; क्योंकि गणना से पता लगा कि इस क्रिया में केवल इतना ही ताप उत्पन्न होगा, जितना सूर्य से दो ढाई करोड़ वर्ष में बिखरता है। परन्तु जैसा हम ऊपर देख चुके हैं, सूर्य अवश्य ही इससे कहीं अधिक वर्षों से चमकता आ रहा है।

इस प्रकार वैज्ञानिक बहुत दिनों से चक्कर में पड़े हैं। अब भी इसका ठीक ठीक पता नहीं चला कि सूर्य में गरमी कहाँ से आती है, परन्तु गरमी पैदा होने की एक नवीन रीति का पता अभी हाल में लगा है। आइन्स्टाइन का प्रसिद्ध 'सापेक्षवाद' कहता है कि पदार्थ और शक्ति वस्तुतः एक हैं। एक का रूपान्तर दूसरा है। सापेक्षवाद—थिअरी ऑफ रिलेटिविटी—वही सिद्धान्त है जिससे वैज्ञानिक संसार में कुछ वर्ष हुए बड़ा उथल-पुथल मच गया था। सूर्य के ताप से सापेक्षवाद का कोई विशेष संबंध नहीं था,

उसका संबंध केवल गति से था। परन्तु इस सिद्धान्त का एक परिणाम यह भी निकला कि पदार्थ और शक्ति दोनों एक ही जाति के हैं, और वे एक-दूसरे में परिवर्तित हो सकते हैं।

परंतु आश्चर्यजनक बात तो यह है कि नाममात्र पदार्थ से भयानक शक्ति उत्पन्न हो सकती है। राई के बराबर कोयले से, यदि यह सापेक्षवाद के अनुसार शक्ति में परिवर्तित हो सके, सैकड़ों मन कोयले के जलने के बराबर शक्ति उत्पन्न होगी। कोयला जलने पर तो राख बच जाती है और गैस उत्पन्न होती है, परन्तु सापेक्षवाद के अनुसार परिवर्तित होने में न राख बनेगी न गैस। उस राई भर कोयले का रूपान्तर किसी अन्य पदार्थ में नहीं होगा, उसका रूपान्तर विशुद्ध शक्ति में होगा। अभी वैज्ञानिकों को पता नहीं है कि पृथ्वी पर यह रूपान्तर कैसे सफल किया जाय, परन्तु वे आशा करते हैं कि एक दिन ऐसा संभव हो जायगा। तब न रेल चलाने के लिए कोयले की आवश्यकता पड़ेगी और न मोटर चलाने के लिए पेट्रोल की। तब तो केवल राई भर किसी भी पदार्थ का शक्ति में रूपान्तर करके हम इलाहाबाद से कलकत्ता या कराँची से लंदन पहुँच सकेंगे!

वैज्ञानिकों का विचार है कि यद्यपि पृथ्वी पर अभी पदार्थ का शक्ति में रूपांतर करना सम्भव नहीं है, तो भी हो सकता है, भयानक गरमी के कारण सूर्य पर यह रूपान्तर कदाचित् बराबर हो रहा हो। संभव है, यही कारण है कि सूर्य ठंढा नहीं हो रहा है। हाँ, इस सिद्धांत के अनुसार भी पर्याप्त समय के पश्चात् सूर्य ठंढा हो जायगा या लुप्त हो जायगा, परंतु गणना से पता चलता है कि इसमें अरब-खरब वर्षों से भी अधिक समय लगेगा—यह इतना अधिक लंबा काल है कि वास्तव में हमारी कल्पना के परे है।
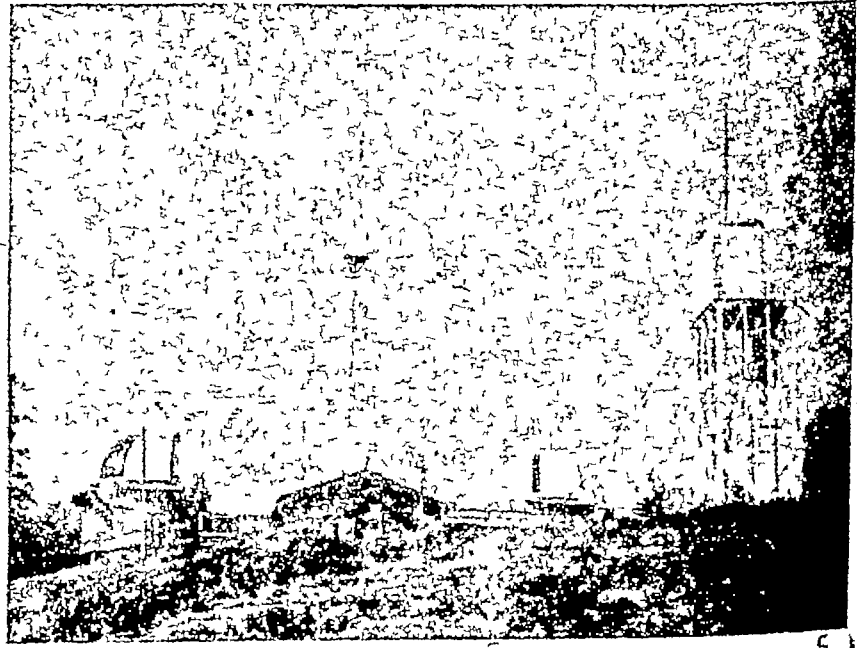
सूर्य के अध्ययन के लिए निर्मित दो प्रसिद्ध वेधशालाएँ

(बाईं ओर) अमेरिका की सुप्रसिद्ध माउण्ट विलसन वेधशाला में सूर्य का अध्ययन करने के लिए बनाई गई डेढ़-सौ फीट ऊँची एक मीनार। इसके सिरे पर एक वेधशाला है, जिसमें प्रति दिन सूर्य के फ़ोटो लिये जाते हैं। इस मीनार पर दूरदर्शक केमेरा लगा है, उसके द्वारा सूर्य का साढ़े सोलह इंच व्यास का फ़ोटो लिया जा सकता है। इस वेधशाला में लिया गया सूर्य का एक फ़ोटो इस लेख के मुखचित्र के रूप में दिया गया है। [फोटो माउण्ट विलसन वेधशाला अमेरिका, की कृपा से प्राप्त।]

(दाहिनी ओर) दक्षिण भारत में नीलगिरि पर्वतश्रेणी के अंचल में कोदाइकनाल नामक स्थान में स्थापित सरकारी वेधशाला, जहाँ सूर्य का विशेष रूप से अध्ययन किया जाता है। आगे के अंकों में हम इन वेधशालाओं में लिये गये सूर्य के भिन्न-भिन्न फ़ोटो प्रकाशित करेंगे। [फ़ोटो कोदाइकनाल वेधशाला (दक्षिण भारत) की कृपा से प्राप्त।]

उसी तरह चंद्रमा भी तीव्र गति से घूमने के कारण दूर भागना चाहता है, किंतु पृथ्वी उसे अपनी ज़बर्दस्त आकर्षण-शक्ति की सहायता से बाँधे हुए है। गणितज्ञों ने हिसाब लगाया है कि आज यदि पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति दैवयोग से लुप्त हो जाय, तो पूर्ववत् पृथ्वी के चारों ओर परिक्रमा कराने के लिए चंद्रमा को पृथ्वी से ३७० मील चौड़े लोहे के डंडे द्वारा बाँधना होगा! केवल पृथ्वी ही चंद्रमा को अपनी ओर खींचती हो, सो बात नहीं है। चंद्रमा भी पृथ्वी को अपनी ओर खींचता है। ज्वार-भाटा इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। यह आकर्षण-शक्ति पृथ्वी और चंद्रमा तक ही सीमित नहीं है, वरन् विश्व के सभी पदार्थों में यह शक्ति मौजूद है। इस सर्वव्यापी आकर्षण-शक्ति को 'गुरुत्वाकर्षण' कहते हैं। सूर्य और पृथ्वी के बीच भी यही आकर्षण-शक्ति काम करती है।

वास्तव में यह आकर्षण-शक्ति है क्या, इस प्रश्न का उत्तर देना बड़ा कठिन है। वैज्ञानिकों ने अनुसंधान करके इसका पता तो लगा लिया है कि यह रहस्यमय शक्ति किन नियमों से आबद्ध है; किंतु इस शक्ति के मूल में कारण क्या है, इसका उत्तर वे अभी तक नहीं ढूँढ पाये हैं।

दो वस्तुओं के बीच की दूरी चाहे एक-आध इंच हो या दो-चार लाख मील, उनके बीच आकर्षण-शक्ति हर हालत में काम करेगी। हाँ, दूरी के बढ़ जाने से यह आकर्षण शक्ति कम अवश्य हो जाती है। परस्पर का यह आकर्षण वस्तुओं के भार और उनके बीच की दूरी पर निर्भर रहता है। ग्रीक दार्शनिकों ने पदार्थों के परस्पर के आकर्षण की कुछ थोड़ी-बहुत कल्पना थी, किंतु कल्पना के जगत् से उनके विचार आगे न बढ़ सके। फिर केप्लर नामक वैज्ञानिक सौर परिवार के ग्रहों की गति का विश्लेषण करने के उपरात इस नतीजे पर पहुँचा कि सूर्य अपने सभी ग्रहों को अपनी ओर खींचता है। विज्ञान के क्षेत्र में सर आइज़क न्यूटन ने पहली बार इस आकर्षण-शक्ति की व्यापकता को पहचाना था। बगीचे में पेड़ पर से फल को नीचे गिरते देखकर सहसा न्यूटन के मन में जिज्ञासा उठ खड़ी हुई कि ऐसा क्यों होता है? क्यों फल पेड़ ही पर टिका नहीं रह जाता? वह कौन-सी शक्ति है, जो उसे खींचकर ज़मीन पर गिरा देती है? यही नहीं, सभी चीज़ें इसी तरह खिचकर ज़मीन की ओर क्यों गिरती हैं? क्या पृथ्वी ही इन सब वस्तुओं को अपनी ओर खींचती रहती है? इन प्रश्नों की उधेड़बुन में न्यूटन ने आकर्षण के उस महान् सिद्धान्त की खोज की; जिसके फलस्वरूप विज्ञान के क्षेत्र में एक नवीन युगान्तर हो गया। वैज्ञानिकों द्वारा निर्धारित इस गुरुत्वाकर्षण शक्ति की व्याख्या निम्नलिखित शब्दों में की जा सकती है—"विश्व की प्रत्येक पदार्थ एक-दूसरे को अपनी ओर खींचता है। यह आकर्षण-शक्ति पदार्थों के द्रव्य की मात्रा के अनुपात में बढ़ती है और उनके बीच की दूरी के वर्ग के अनुपात में कम होती है।"

उपरोक्त नियम की सत्यता की जाँच अच्छी तरह की गयी है। मनुष्य की प्रयोगशाला से लेकर प्रकृति की प्रयोगशाला में, सब कहीं यह नियम लागू होता है। सूर्य के चारों ओर भिन्न-भिन्न ग्रह अपनी कक्षा में इसी शक्ति के भरोसे टिके हुए हैं। सौर परिवार ही नहीं, वरन् आकाश के अन्य नक्षत्र भी एक दूसरे से आकर्षण शक्ति द्वारा आबद्ध हैं। थोड़े में हम कह सकते हैं कि हमारे ब्रह्माण्ड को यही शक्ति सँभाले हुए है।

और इसी नियम के अनुसार आम पेड़ पर से टूटते ही ज़मीन पर आ गिरता है। यदि ध्यानपूर्वक हम देखें तो पायेंगे कि पदार्थों के भार का मूल कारण भी पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति ही है। जिस वस्तु में द्रव्य की मात्रा अधिक होती है, उसका भार भी अधिक होता है; क्योंकि पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति द्रव्य की मात्रा के अनुसार बढ़ जाती है। इसी कारण भार की परिभाषा में हम कहते हैं कि किसी वस्तु का भार वह आकर्षण-शक्ति है, जिसके द्वारा पृथ्वी उस वस्तु को अपनी ओर खींचती है। यदि इस वस्तु में द्रव्य की मात्रा दूनी कर दी जाय, तो पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति भी तुरन्त दुगुनी हो जायगी। अतः उसका भार भी दूना हो जायगा।

पृथ्वी से दूर हटने पर उसकी आकर्षण-शक्ति कम होती जाती है। गुरुत्वाकर्षण इसी के वर्ग के अनुपात में घटता है। धरातल पर पृथ्वी के केन्द्र से हम ४००० मील की ऊँचाई पर हैं। यदि किसी तरह हम आसमान में ४००० मील की ऊँचाई तक पहुँच जायँ, तो पहले की अपेक्षा पृथ्वी के केन्द्र से हमारी दूरी दुगुनी हो जायगी। अतः हमारा वजन भी पहले से चार गुना कम हो जायगा। यदि ज़मीन पर हमारा वज़न १ मन २० सेर है, तो ४००० मील ऊपर आकाश में हमारा वज़न केवल १५ सेर ही उतरेगा!

इस रहस्यमय शक्ति में आप किसी प्रकार का फेर बदल नहीं कर सकते। लोहा, लकड़ी, शीशा, पीतल, आदि दुनिया की कोई भी चीज इस अद्भुत शक्ति के काम में दख़ल नहीं
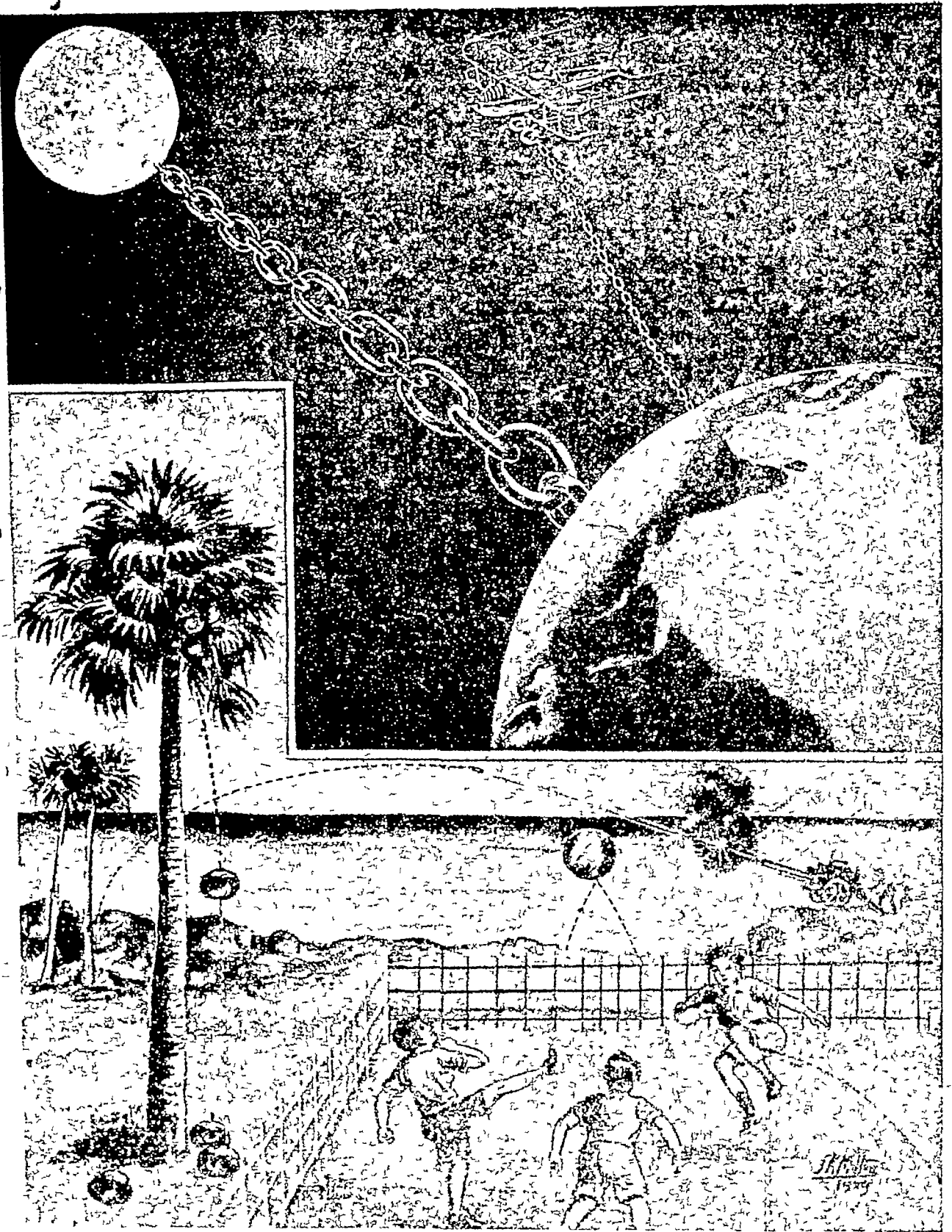
पृथ्वी का प्रबल पाश

हम धरती से कुछ फ़ीट उछलते, हवाई जहाज़ में कुछ मील ऊपर जाते, तोप से काफ़ी ऊंचाई तक गोला फेंक सकते हैं, पर अंत में सभी को वापस धरती पर आना पड़ता है। हम ही नहीं, पृथ्वी से लाखों मील दूर चन्द्रमा भी हम ही तरह पृथ्वी से बँधा हुआ है। यह कैसा विचित्र पाश है? पेड़ से फल धरती पर क्यों गिर पड़ता है? ... ऊपर उछलकर भी क्यों वापस ज़मीन पर आ गिरता है?

दे सकती। सब ठौर आपका वज़न एक समान ही होगा। गर्मी-सर्दी का प्रभाव भी इस आकर्षण-शक्ति पर नहीं पड़ता, और न रासायनिक क्रियाओं का ही कोई असर होता है।

किसी भी साधन से आप इस गुरुत्वाकर्षण को अपने वश में नहीं कर सकते। यदि किसी तरह हम इस शक्ति को मिटा या रोक सकते, तो वायुयानें को आकाश में उड़ने के लिए पेट्रोल और एंजिन की ज़रूरत न पड़ती। आसमान में हम ढेला फेंकते, तो वह रास्ते में कभी रुकता ही नहीं, बराबर ऊपर को बढ़ता चला जाता। किंतु पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति यदि आज लुप्त हो जाय, तो सचमुच आफत हो जायगी। साइकिल के पहिए की कीचड़ तेज़ गति से घुमाने पर पहिए से दूर जाकर गिरती है। पृथ्वी भी अपनी कीली पर तेज़ी के साथ घूम रही है। अतः इसके धरातल पर की वस्तुएँ—हमारे मकान, स्वयं हम और हमारी कुरसी मेज़ आदि सब कुछ—ज़मीन पर से अलग छटक जाना चाहती हैं। किन्तु पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति उन्हें ऐसा करने से रोके हुए है। जिस घड़ी पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति न रहेगी, पृथ्वी पर की सभी वस्तुएँ ज़मीन से अलग शून्य में जा गिरेंगी।
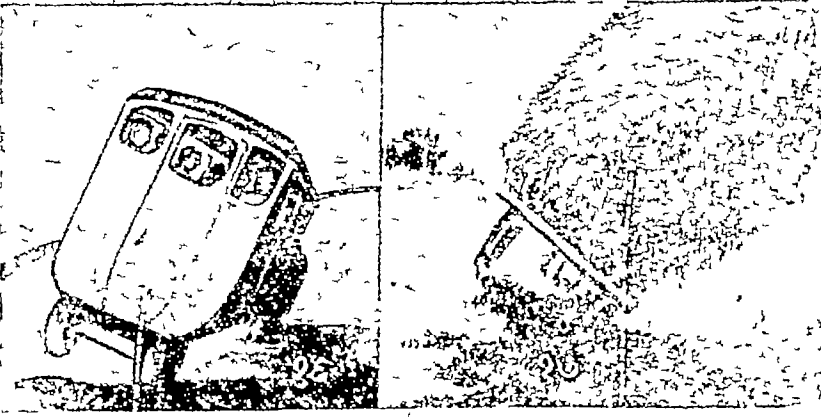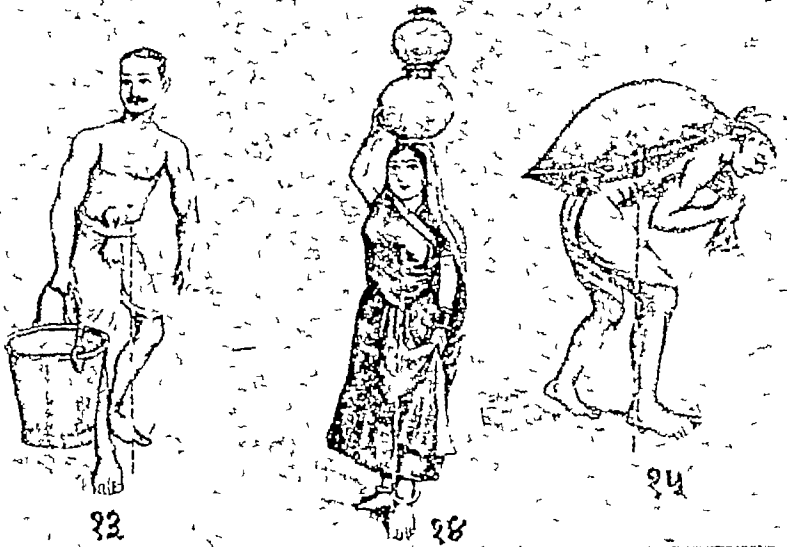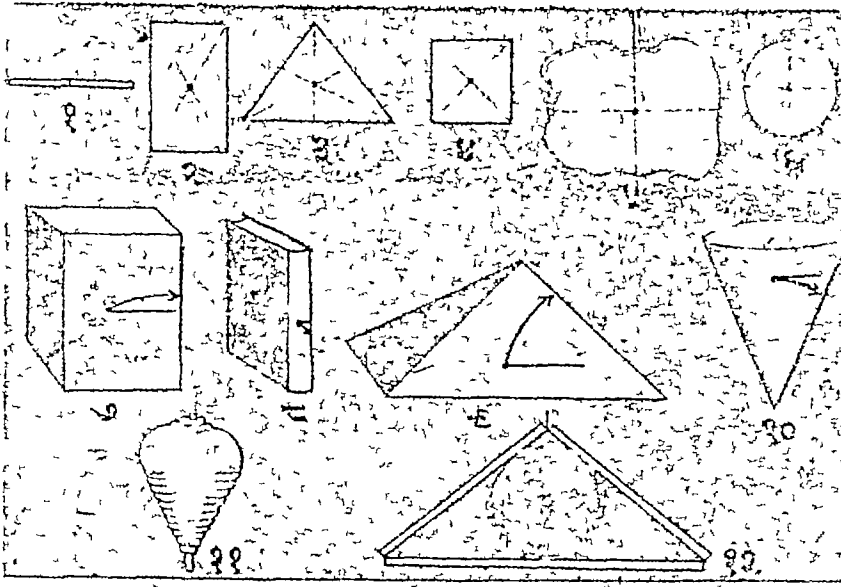
पृथ्वी नारंगी की तरह ध्रुवों पर चिपटी है। अतः पृथ्वी के केंद्र से विषुवत् रेखा पर स्थित स्थान ध्रुवों की अपेक्षा अधिक दूर हैं। इस कारण पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति ध्रुवों पर ज्यादा और विषुवत् रेखा पर कम होती है। किंतु ऐसा होने का एक

विभिन्न वस्तुओं के गुरुत्वाकर्षण केन्द्र (देखो पृष्ठ १३७)

ऊपर नं० १, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९ १०, ११ और १२ में क्रमशः गोल डंडा चतुर्भुज, त्रिभुज, आदि विभिन्न आकृतियों के गुरुत्वाकर्षण केन्द्र विन्दु द्वारा दिखाये गये हैं। नं० १३, १४ और १५ में दैनिक जीवन में ...र्षण केन्द्र के प्रयोग के उदाहरण दिये गये हैं। नं० १६ और १७ मे दिखाया है कि किस तरह गाड़ी का गुरुत्वाकर्षण केन्द्र झुकाव में पहियों से बाहर निकलते ही वह लुढ़क पड़ती है।

और भी कारण है। पृथ्वी की काल्पनिक धुरी, जिस पर वह घूमती है, ध्रुवों से होकर गुजरती है। अत. विषुवत् रेखा पर के स्थान ध्रुवों की अपेक्षा ज्यादा तेज़ी से घूमते हैं। विषुवत् रेखा की परिधि २५००० मील है। अतः २४ घंटे में विषुवत् रेखा पर स्थित स्थानों को २५००० मील का रास्ता तै करना पड़ता है, जब कि ध्रुव के निकट के स्थानों को चलकर पूरा करने में कम ही दूरी तै करनी होती है। विषुवत् रेखा पर के स्थानों की गति १००० मील प्रति घंटा है। अतः विषुवत् रेखा के समीप के पदार्थों में ध्रुवों की अपेक्षा बाहर की ओर के लिए खिंचाव (सेंट्रीफ़ुगल फ़ोर्स) अधिक पैदा होता है। अतः इस कारण भी इन पदार्थों पर काम करनेवाली पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति कम पड़ जाती है।

किसी भी चीज़ को आप लें, उसके हर एक अणु को पृथ्वी अपने केंद्र की ओर खींचती है। यदि आप एक पुस्तक को मेज़ के किनारे रखें—इस तरह कि पुस्तक का कुछ हिस्सा बाहर निकला हुआ हो, तो वह पुस्तक मेज़ पर से गिरती नहीं है। अब आप उस पुस्तक को और बाहर की ओर खिसकाइये; ज्यों ही पुस्तक का आधे से ज्यादा हिस्सा मेज़ से बाहर आया, पुस्तक एकदम ज़मीन पर आ गिरेगी। ऐसा क्यों होता है? पुस्तक का कुछ भाग तो अब भी मेज़ पर ही है, तो फिर यह क्यों नीचे को लुढ़क गई? ऐसा जान पड़ता है कि पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति, जो पुस्तक के अणु-अणु पर काम कर रही है, मिलकर पुस्तक के बीचोबीच के बिंदु पर काम कर रही है। जब तक वह बिंदु मेज़ पर था, मेज ने पुस्तक को नीचे गिरने से रोका, किंतु ज्योंही वह बिंदु मेज़ के बाहर पहुँचा, पृथ्वी ने समूची पुस्तक को फ़ौरन् नीचे खींच लिया। इस बिंदु को, जिस पर पृथ्वी की संपूर्ण आकर्षण-शक्ति काम करती है, 'गुरुत्वाकर्षण केंद्र' कहते हैं। दूसरे शब्दों में हम यह भी कह सकते हैं कि ऐसा जान पड़ता है, मानो उस वस्तु का समस्त द्रव्य उसी बिंदु पर आकर केंद्रित हो गया हो। आयताकार वस्तुओं का केंद्र आसानी से मालूम किया जा सकता है। उदाहरण के लिए गोल सुडौल डंडे का केंद्र उसके मध्य भाग में होता है। आयताकार वस्तुओं का गुरुत्वाकर्षण केंद्र उस बिंदु पर होगा, जहाँ उनके कर्ण एक दूसरे को काटते हैं (देखिए पृष्ठ १३६ के चित्र में नं० १ से १२)।

ऐसे पदार्थों का केंद्र, जिनका आकार ज्यामिति की आकृतियों जैसा नहीं होता, गणित द्वारा आसानी से नहीं निकाला जा सकता, वरन् प्रयोग करके देखना पड़ता है। उस चीज़ के एक किनारे में धागा बाँधकर उसे लटकाइए। चूंकि कुल आकर्षण-शक्ति एक केंद्र से होकर गुज़रती है, और आपके धागे की सीध में लम्बवत् नीचे की ओर पृथ्वी उस चीज़ को खींच रही है, इसलिए गुरुत्वाकर्षण केंद्र भी अवश्य उस धागे की सीध में ही स्थित होगा। अतः धागे की सीध में उस वस्तु पर आप एक सीधी रेखा खींच दीजिए। उस वस्तु का केंद्र उसी रेखा पर कहीं स्थित है। फिर धागे को दूसरे किनारे पर बाँधिए और उसे पूर्ववत् लटकाइए। इस बार भी धागे की सीध में ही उस वस्तु पर रेखा खींचिए। गुरुत्वाकर्षण केंद्र इस रेखा पर भी है। अतः यह रेखा पहली रेखा को जिस बिंदु पर काटेगी, वही उस वस्तु का गुरुत्वाकर्षण केंद्र होगा।

चीज़ों के समतुलन के लिए उनके गुरुत्वाकर्षण केंद्र की जानकारी रखना नितांत आवश्यक है। मान लीजिए यात्रियों से भरी हुई एक मोटर लारी एक ढलुवे रास्ते पर जा रही है। ढाल पर लारी एक ओर को झुकी हुई है। पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति मोटर के गुरुत्वाकर्षण केंद्र को लम्बवत् नीचे की ओर खींच रही है। किंतु जब तक मोटर लारी एक तरफ को इतनी नहीं झुक जाती कि उसके गुरुत्वाकर्षण केंद्र से खींची गई लंबवत् रेखा लारी के दोनों पहियों के नीचे से बाहर नहीं निकल जाती, तब तक लारी के उलटने का तनिक भी डर नहीं है (देखिए पृष्ठ १३६ के चित्र में नं० १६)। गुरुत्वाकर्षण केंद्र से खींची गई लंबवत् रेखा जब तक उस वस्तु के आधार (जिस पर वह टिकी हुई है) के अंदर रहती है, उस वस्तु का समतुलन स्थिर रहता है। किंतु ज्योंही लंब रेखा आधार से बाहर गई, वह चीज़ फ़ौरन् लुढ़क पड़ती है।

ट्राम गाड़ी तथा मोटर लारी का निचला भाग एंजिन के कारण बहुत भारी होता है। अतः उसका गुरुत्वाकर्षण केंद्र भी ज़मीन की सतह से अधिक ऊपर नहीं होता। फल यह होता है कि अगर गाड़ी एक ओर काफ़ी झुक भी जाय, तो गुरुत्वाकर्षण केंद्र से खींची गई सीधी लंबवत् रेखा पहियों के बीच से बाहर नहीं जाने पाती। अतः ऐसी हालत में भी गाड़ी का समतुलन स्थिर रहता है। किंतु उसके प्रतिकूल हमारे देहात की बैलगाड़ी के निचले हिस्से में कोई ख़ास भारी चीज नहीं रहती। नतीजा यह होता है कि पुरसों ऊँचे तक पुआल लाद लेने पर गाड़ी का गुरुत्वाकर्षण केंद्र काफ़ी ऊँचाई पर पहुँच जाता है। तनिक-सी भी ऊँची नीची सड़क मिली कि गाड़ी समूची गाड़ी उलट गई (देखिए उक्त

रासायनिक परिवर्त्तन के कुछ उदाहरण (देखिए पृष्ठ १४०)
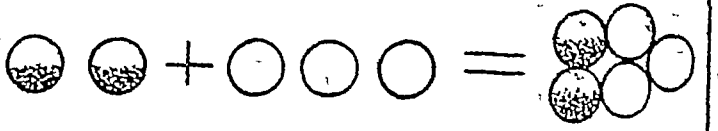
पदार्थों के भौतिक और रासायनिक गुण

सृष्टि के भिन्न-भिन्न पदार्थों की ठीक-ठीक परख, उपयोग तथा वर्गीकरण की पहली सीढ़ी उनके गुणों की जानकारी है, जिनके कारण वे एक-दूसरे से भिन्न दिखाई देते हैं। इस अध्याय में हम पदार्थों के सामान्य रासायनिक और भौतिक गुणों तथा क्रियाओं का दिग्दर्शन करेंगे।

किसी भी पदार्थ के रसायन का अध्ययन करने के लिए हमें क्रमशः निम्न बातों का ज्ञान प्राप्त करना पड़ता है—(१) उस पदार्थ के आविष्कार, नामकरण आदि का इतिहास, (२) वे स्थान अथवा वस्तुएँ जिनमें वह पदार्थ पाया जाता है, (३) उस पदार्थ के उत्पादन और निर्माण की विभिन्न रीतियाँ, (४) उसके गुण, (५) उसके परखने की रीतियाँ, (६) उसके उपयोग, तथा (७) उसकी अणु-रचना का निर्धारण। यहाँ पर हमें अन्य बातों के सम्बन्ध में कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है, केवल यह जानना है कि पदार्थों के गुण कितने प्रकार के और कौन-कौन होते हैं, और उनका अध्ययन किस प्रकार किया जाता है।

किसी भी पदार्थ के गुण दो प्रकारों में विभक्त किये जा सकते हैं—भौतिक गुण और रासायनिक गुण। जब हम कहते हैं कि सिंदूर लाल है, शीशा पारदर्शी है, पानी तरल है, शक्कर मीठी है, लोहा भारी है, नमक घुलनशील है, ताँबा गर्मी और बिजली का अच्छा संचालक है, गंधक गर्म करने पर पिघल जाता है, तो हम इन विभिन्न वस्तुओं के एक न-एक ऐसे गुण का उल्लेख करते हैं, जिसका संबंध उन वस्तुओं के बाहरी रूपरंग अथवा आचरण से है और जिससे हमें उन वस्तुओं के अणुओं की बनावट अथवा उनमें हो सकनेवाले किसी परिवर्त्तन का कुछ भी बोध नहीं होता। ऐसे गुणों को हम 'भौतिक गुण' कहते हैं, क्योंकि ये गुण पदार्थों की भौतिक अवस्थाओं के ही परिचायक होते हैं। किन्तु यदि हम कहें कि लोहे में मोर्चा लगने का गुण है, कोयले में जल जाने का गुण है, अथवा कार्बन डाइऑक्साइड गैस में चूने के पानी को सफ़ेद कर देने का गुण है, तो हम कुछ ऐसे गुणों का वर्णन करते हैं, जिनमें उन वस्तुओं के अणुओं में होनेवाले परिवर्त्तनों का बोध होता है। अतएव इन गुणों को हम 'रासायनिक गुण' कहते हैं।

इसी प्रकार, हम किसी पदार्थ में हो सकनेवाले सारे परिवर्त्तनों को भी दो प्रकारों में विभाजित करते हैं—भौतिक परिवर्त्तन और रासायनिक परिवर्त्तन। अगर हम ताँबे की एक छड़ को लचाएँ तो लच जायगी, पानी को खूब ठंढा करें तो जमकर ठोस बर्फ हो जायगा, प्लैटिनम के तार को गर्म करें तो लाल होकर चमकने लगेगा और शक्कर को पानी में डालें तो घुल जायगी। इन सब बातों में कुछ-न-कुछ परिवर्त्तन अवश्य होता है, लेकिन किसी में भी ऐसा नहीं होता कि वह पदार्थ ही किसी बिलकुल नये प्रकार के पदार्थ में परिणत हो जाय, अर्थात् उस पदार्थ के अणु ही किसी दूसरे पदार्थ के अणुओं में परिवर्तित हो जायँ। जिस शक्ति अथवा कारण द्वारा यह परिवर्त्तन हुए हैं, यदि हम उसे हटा लें अथवा विपरीत दिशा में उस शक्ति का उपयोग करें, तो हमें अपने प्रथम रूप में ही वह वस्तु फिर मिल जायगी। ताँबा दूसरी ओर झुकाकर फिर सीधा किया जा सकता है, बर्फ गर्म करके पानी में फिर बदली जा सकती है, प्लैटिनम का तार ठंढा करके फिर अपनी पहली हालत में लाया जा सकता है और पानी को सुखाकर फिर वही शक्कर निकाली जा सकती है। स्पष्टतः, ये सारे परिवर्त्तन अधिक अस्थायी होते हैं ... वर्त्तनों को जिनमें द्रव्य वही बना रहता

किसी अन्य प्रकार के द्रव्य में परिणत नहीं होता, 'भौतिक परिवर्त्तन' कहते हैं। इनको भौतिक इसलिए कहते हैं कि ये परिवर्त्तन पदार्थों की भौतिक अवस्थाओं में ही होते हैं।

लेकिन कोयले अथवा गंधक के जलने, सोडियम धातु और पानी में प्रतिक्रिया होने अथवा कार्बन डाइआक्साइड गैस द्वारा चूने के पानी के सफेद हो जाने में कुछ ऐसे परिवर्त्तनों के उदाहरण मिलते हैं जिनमें एक प्रकार का द्रव्य बदलकर किसी दूसरे प्रकार के द्रव्य में परिणत हो जाता है—एक पदार्थ के अणु किसी दूसरे ही पदार्थ के अणुओं में बदल जाते हैं। ऐसे परिवर्त्तनों को हम 'रासायनिक परिवर्त्तन' कहते हैं। ये परिवर्त्तन अधिक स्थायी होते हैं और बिना किसी विशेष रासायनिक रीति के हम नयी बनी हुई वस्तुओं से मूल वस्तुओं को नहीं निकाल सकते। कोयला जलकर एक बिलकुल भिन्न पदार्थ कार्बन डाइआक्साइड गैस में परिणत हो जाता है, लेकिन कार्बन डाइआक्साइड गैस को ठंढा करने से हमें कोयला (कार्बन) कदापि न मिलेगा, उससे कार्बन निकालने के लिए हमें रासायनिक रीतियों का ही सहारा लेना पड़ेगा।

किसी वस्तु के रसायन का अध्ययन करने में हमें उसके भौतिक और रासायनिक दोनों ही गुणों की परीक्षा करनी पड़ती है। भौतिक गुणों के अध्ययन के बिना न पदार्थ सरलता से पहचाने ही जा सकते हैं, न उनका वर्गीकरण ही हो सकता है और न ठीक-ठीक उपयोग ही। अतएव उनका अध्ययन करना आवश्यक है। भौतिक गुणों की परीक्षा एक स्वाभाविक क्रमबद्ध रीति से ही की जाती है। जब कोई अपरिचित पदार्थ हमारे ध्यान को आकर्षित करता है तो हम अपनी ज्ञानेन्द्रियों द्वारा उसके साधारण भौतिक गुण जानने का प्रयत्न करते हैं—हम स्वभावत. पहले उसे देखते हैं, फिर प्रायः सूंघते हैं अथवा यदि चखने योग्य हुआ तो चखते हैं, फिर झुकाते, मरोड़ते या तोड़ते हैं, और फिर अपने दैनिक जीवन की साधारणतम वस्तुओं, अर्थात् पानी, आग (गर्मी), हवा, बिजली आदि के संसर्ग में लाते हैं और इनका उस पदार्थ पर प्रभाव देखते हैं। पदार्थों के साधारण गुणों का अध्ययन अथवा उनका वर्णन हम इसी क्रम के अनुसार करते हैं। कुछ विशेष भौतिक गुणों को निर्धारित करने के लिए हमें विशेष प्रकार के उपकरणों की भी सहायता लेनी होती है और कुछ विशेष प्रकार के प्रयोग भी करने पड़ते हैं। किसी भी वस्तु को केवल देखकर ही हमें उसके रंग, चमक, अवस्था, पारदर्शित्व और आकार इन सब गुणों से परिचित हो जाते हैं। द्रव्य का अस्तित्व तीन अवस्थाओं में होता है—ठोस, द्रव और गैस। जो वस्तु किसी जगह रखने पर अपने आयतन और रूप को नहीं बदलती अर्थात् जिसका अपना ही आयतन और रूप होता है, उसे 'ठोस' कहते हैं। हमारे चारों ओर अधिकतर ठोस वस्तुएँ ही दिखाई देती हैं। पत्थर, लोहा, कोयला आदि वस्तुएँ साधारण दशाओं में ठोस ही होती हैं। लेकिन पानी, दूध, तेल, पारा आदि वस्तुएँ जिस बर्तन में डाली
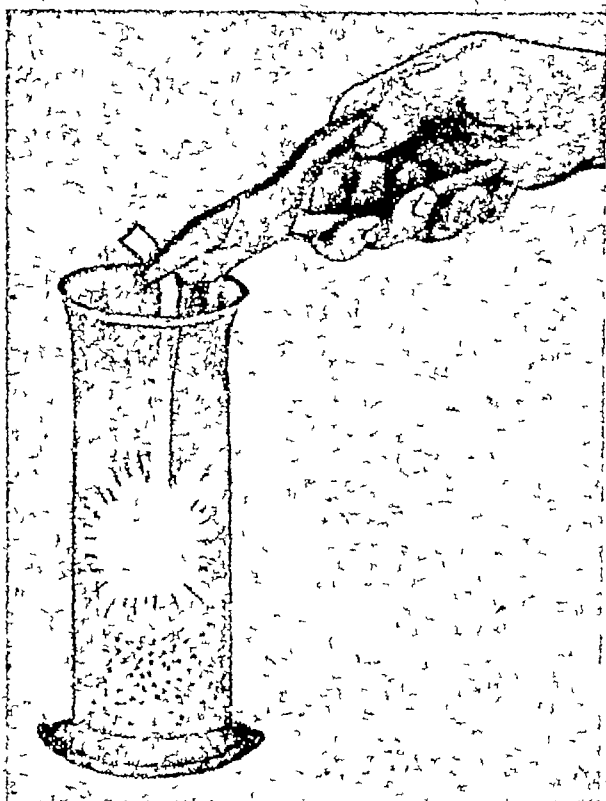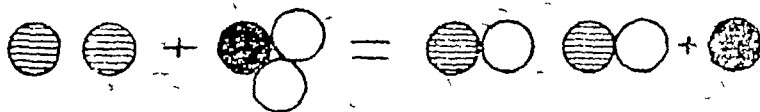
मैग्नेशियम + कार्बन डाइआक्साइड = मैग्नेशियम आक्साइड + कार्बन

अगर हम कार्बन डाइआक्साइड में मैग्नेशियम को जलाएँ तो इस रासायनिक क्रिया द्वारा कार्बन के छोटे-छोटे टुकड़े निकल आते हैं और मैग्नेशियम कार्बन डाइआक्साइड की आक्सिजन से मिलकर मैग्नेशियम आक्साइड बन जाता है। इस प्रकार रासायनिक क्रिया द्वारा ही कार्बन डाइआक्साइड से कार्बन निकल सकता है, किसी भौतिक परिवर्त्तन द्वारा नहीं।
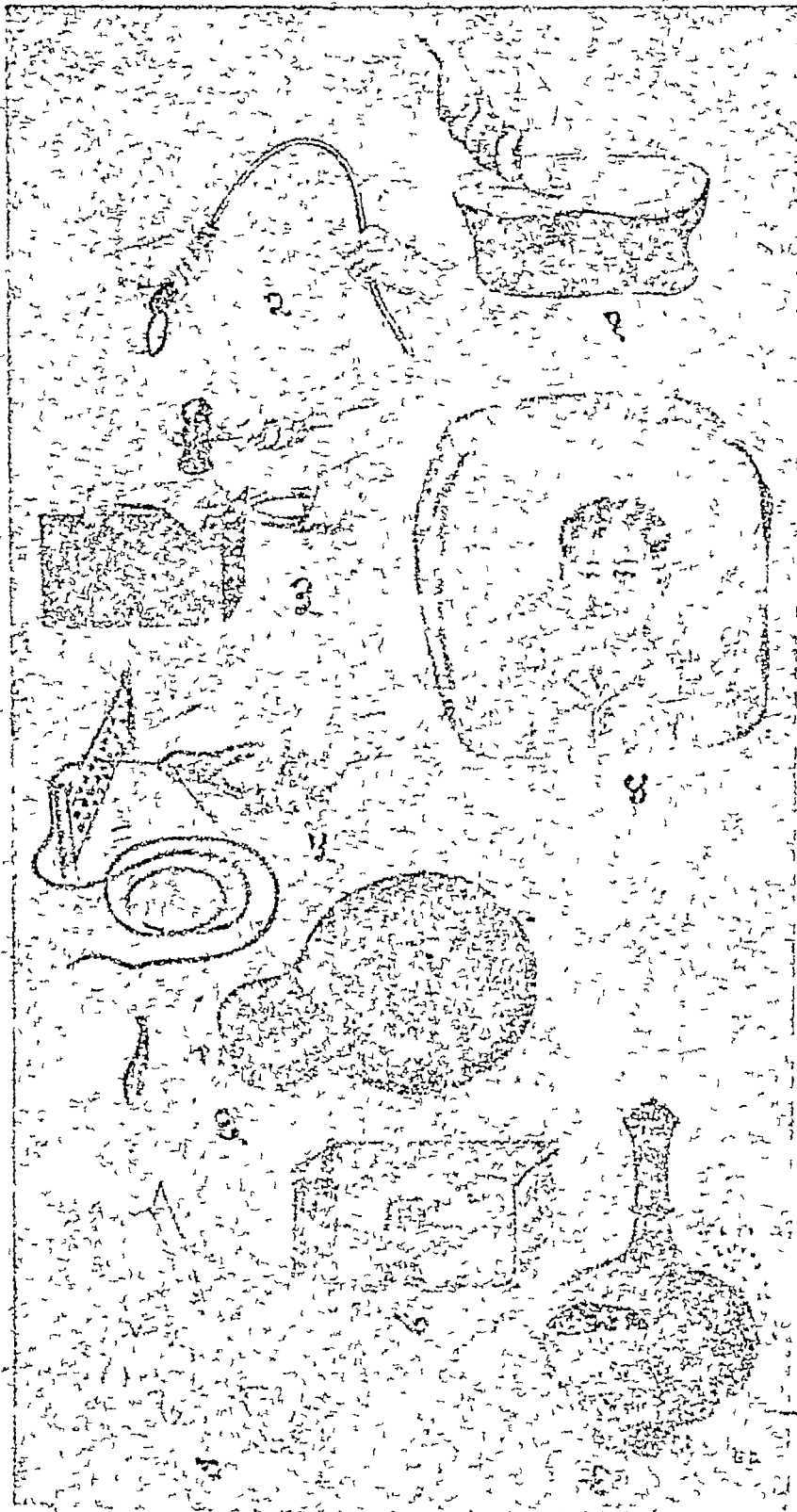
जाती हैं, उसी के रूप की हो जाती हैं, किंतु तब भी आयतन में कोई अंतर नहीं आता। ऐसे पदार्थों को 'द्रव' कहते हैं। तीसरी अवस्थावाले पदार्थ अर्थात् गैसों का न तो आयतन ही निश्चित होता है और न रूप ही, वे जिस पात्र में रहते हैं उसी आयतन और रूप के हो जाते हैं। रबर के गुब्बारे में भरी हुई हाइड्रोजन गैस अथवा साइकिल या मोटर के टायर मे भरी हुई हवा उन्हीं के आयतन और रूप की हो जाती है। अगर हम थोड़ी सी कोई गधानेवाली गैस, जैसे क्लोरीन गैस या हाइड्रोजन सल्फाइड गैस, किसी कमरे में छोड़ दें तो उसकी गंध सारे कमरे मे फैल जायगी; यह इसलिए कि वह फैलकर सारे कमरे के आयतन और आकार की हो जाती है। यहाँ पर यह कहना असगत न होगा कि कोई भी वस्तु अपने तापक्रम और दबाव की दशाओं के अनुसार तीनों अवस्थाओं में रह सकती है। प्रकृति में इस सिद्धांत का प्रदर्शन नित्य प्रति पानी द्वारा होता है। मनुष्य इसकी तीनों अवस्थाओं—बर्फ़, जल और वाष्प से सुपरिचित है।

पदार्थों के कुछ भौतिक गुण (नं० १) कठोरता; (नं० २) लचकीलापन; (नं० ३) आघातवर्द्धनीयता; (नं० ४) पारदर्शित्व (यह शीशे का टुकड़ा लगभग फ़ीट भर मोटा है, फिर भी उस पार बैठे हुए लड़के का चेहरा साफ़ दिखाई देता है); (नं० ५) तांतवता; (नं० ६) स्थितिस्थापकता (गुब्बारा फुलाने से रबड़ बढ़कर दूसरे आकार का हो जाता है, लेकिन हवा निकालने पर फिर उसी रूप में आ जाता है); (नं० ७) घनत्व (पानी में लकड़ी तैर रही है, पर लोहा तले बैठ गया है); (नं० ८) कुछ स्फटिकरूप (ये नमक, सोडा, फिटकरी के रवों के रूप हैं); (नं० ९) छिद्रमयता (पानी सुराही के ऊपर आकर वाष्प के रूप में उड़ रहा है)

इसी प्रकार, पारदर्शित्व के अनुसार हम पदार्थों को तीन वर्गों में विभक्त कर सकते हैं। शीशा, हवा, पानी आदि को हम 'पारदर्शी' कहते हैं, क्योंकि इनके भीतर से प्रकाश आ-जा सकता है और इनमें से हम दूसरी वस्तुओं को स्पष्ट देख सकते हैं। कुछ वस्तुएँ, जैसे घिसा शीशा, तेलिया काग़ज़ आदि, ऐसी होती हैं, जिनमें से थोड़ा-सा ही प्रकाश आ-जा सकता है और जिनके पार की वस्तुओं को हम धुँधला ही देख सकते हैं। ऐसी वस्तुओं को 'अल्प पारदर्शी' कहते हैं। तीसरे प्रकार की वस्तुओं, जैसे लोहा, लकड़ी, पत्थर आदि के पार हम बिल्कुल नहीं देख सकते; कारण, उनमें प्रकाश की किरणें बिलकुल प्रविष्ट नहीं हो सकतीं। ऐसी वस्तुओं को 'निष्पारदर्शी' कहते हैं।

आकार की दृष्टि से पदार्थ दो प्रकार में विभाजित होते हैं। कुछ पदार्थ, जैसे नमक, शकर, फिटकरी आदि, ऐसे होते हैं जिनके कण अथवा टुकड़े एक नियत आकार के और जिनके तल सीधी रेखाओं से घिरे होते हैं। ऐसे कणों अथवा टुकड़ों को 'रवा' अथवा 'स्फटिक' कहते हैं, और जो वस्तु इस रूप में रहती है उसे रवादार अथवा स्फटिकरूप कहते हैं। इसके विपरीत कुछ वस्तुएँ ऐसी भी होती हैं, जिनके कणों में कोई नियत रूप नहीं रहता। कोयला, शीशा, चूना, मैदा आदि वस्तुएँ इसी प्रकार की होती हैं। इन वस्तुओं को बेरवादार कहते हैं।

सूँघने अथवा चखने से हम वस्तुओं की गंध और स्वाद को जान लेते हैं और फिर स्पर्श द्वारा यह ज्ञात करते हैं कि वह वस्तु खुरदरी है या समतल, अथवा कठोर है या कोमल। इसके बाद हम उस वस्तु को तोड़ने, मरोड़ने झुकाने अथवा खींचने का प्रयत्न करते हैं। जो वस्तुएँ हथौड़े आदि द्वारा पीटने से टुकड़े-टुकड़े हो जाती हैं, उन्हें 'भंजनशील' कहते हैं, किंतु जो वस्तुएँ टूटती नहीं, वरन् बढ़कर फैल जाती हैं, उन्हें 'आघातवर्द्धनीय' (malleable) कहते हैं। नमक, खड़िया और शीशा भंजनशील हैं, किंतु सोना, चाँदी और ताँबा आघातवर्द्धनीय हैं। कुछ वस्तुएँ, विशेषतः सोना, चाँदी, ताँबा आदि धातुएँ, ऐसी होती हैं जिनके हम तार खींच सकते हैं; ऐसी वस्तुओं को हम 'तांतव' (ductile) कहते हैं। कुछ वस्तुएँ झुकाने से झुक जाती हैं, किंतु छोड़ देने पर वे फिर अपनी पहली दशा और रूप में आ जाती हैं। ऐसी वस्तुओं को 'लचकीली' अथवा 'लचकदार' कहते हैं। बेंत, घड़ी की कमानी, तलवार का फल आदि वस्तुएँ लचकदार होती हैं। परंतु कुछ वस्तुएँ ऐसी होती हैं, जो झुकाने से तो
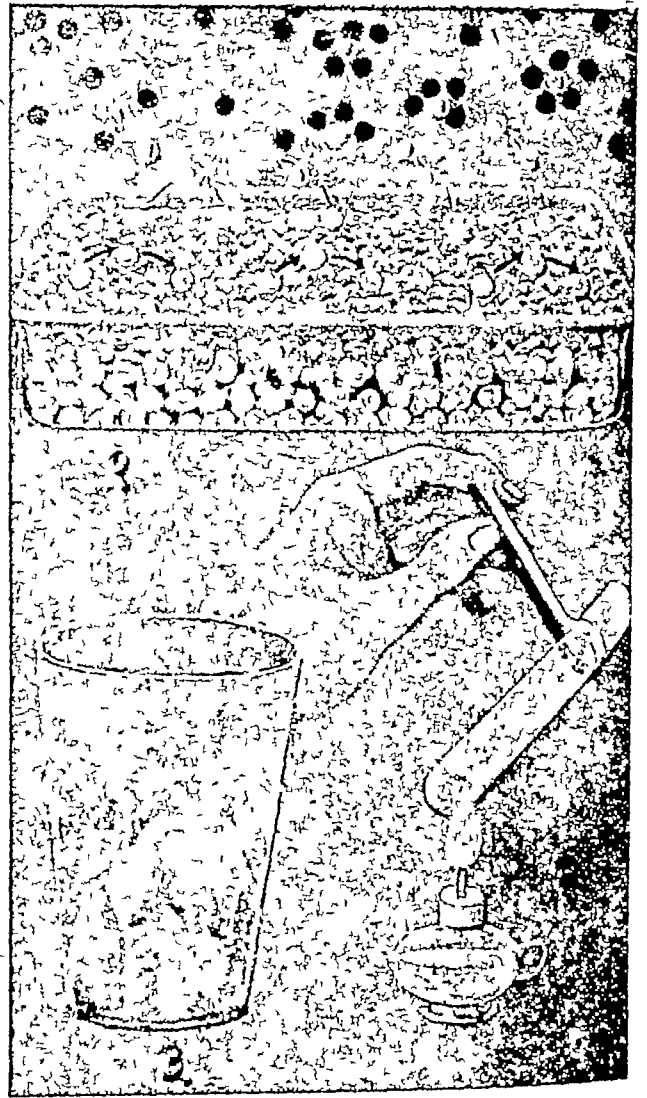
कुछ भौतिक परिवर्त्तन

(नं० १) वाष्पीकरण (Evaporation)—द्रव के अणु बराबर गति में रहते हैं और इस प्रकार तल के कुछ अणु हवा के अणुओं में जा मिलते हैं। हवा के बहाव में यह भीगी हुई हवा हट जाती है और दूसरी शुष्क हवा वही कार्य करने के लिए उसके स्थान में आ जाती है। हम देखते हैं कि पानी के अणुओं में कोई रासायनिक परिवर्त्तन नहीं होता। (नं० २) ऊर्ध्वपातन् (Sublimation) अगर हम एक परीक्षानली में थोड़ा सा नौसादर (अमोनियम क्लोराइड) लेकर गर्म करें तो वह बिना पिघले ही वाष्परूप में परिणत हो जायगा और ऊपर ठंडी सतह पर फिर जम जायगा। (नं० ३) घनीकरण—अगर हम किसी धातु या शीशे के बरतन में बर्फ़ भरकर रख दें तो थोड़ी ही देर में बाहरी सतह भीग जाती है और उस पर पानी की बूँदें दिखाई पड़ने लगती हैं। ये बूँदें हवा में मिली हुई जलवाष्प के घनीकरण द्वारा उत्पन्न होती हैं।

झुक जाती हैं, लेकिन छोड़ देने पर झुकी ही बनी रहती हैं, पहले आकार में नहीं आतीं। ऐसी वस्तुओं को 'नम्य' कहते हैं। सोना, चाँदी, सीसा आदि धातुओं के तारों व पत्रों में यही गुण होता है। वे वस्तुएँ जो खींची, झुकाई अथवा बढ़ाई जा सकती हैं, लेकिन छोड़ देने पर तुरंत सिकुड़कर अपना प्रथम रूप और आकार ले लेती हैं, 'स्थितिस्थापक' अथवा 'इलास्टिक' (elastic) कहलाती हैं। कुछ रबडों में यह गुण मिलता है और कुछ फीतों को इलास्टिक इसीलिए कहते हैं कि उनमें यह बढ़ने-घटने का गुण रहता है। जो पदार्थ सरलता से किसी भी रूप में ढाला अथवा परिणत किया जा सके और वही रूप वह बनाये भी रक्खे उसे 'ढलनशील' (plastic) कहते हैं। प्लास्टर और पानी मिली चिकनी मिट्टी इसके उदाहरण हैं।

किसी वस्तु को पानी में डालने से हमें यह पता चलता है कि वह वस्तु पानी सोखती है अथवा नहीं, अर्थात् वह 'छिद्रमय' (porous) है अथवा 'छिद्रहीन' (impervious)। वह वस्तु पानी में तैरती है अथवा नीचे बैठ जाती है, इस बात से हमें पानी की अपेक्षा उसके हलकेपन अथवा भारीपन का पता चलता है। यदि हम चाहें तो भौतिक रीतियों से यह भी निकाल सकते हैं कि कोई वस्तु पानी से कितनी गुनी भारी है। जिस संख्या से यह प्रकट होता है, उसे 'आपेक्षित घनत्व' कहते हैं। गैसों के घनत्व की तुलना हम पानी के घनत्व से नहीं, वरन् हाइड्रोजन अथवा हवा के घनत्व से करते हैं। इसके अलावा, पानी में छोड़ने से हमें यह भी पता चलता है कि वह वस्तु पानी में घुलती है अथवा नहीं अर्थात 'घुलनशील' है अथवा 'अघुलनशील'। भौतिक रीतियों द्वारा हम यह भी निकाल सकते हैं कि कौन वस्तु किस द्रव में कितनी घुल सकती है।

किसी वस्तु को गर्म करने से हमें यह मालूम होता है कि वह वस्तु गर्मी की अच्छी संचालक है अथवा बुरी। इसके अतिरिक्त, उसे गर्म अथवा ठंडा करने से हमें उसके पिघलने, उबलने, जमने आदि के विषय में भी ज्ञान प्राप्त होता है। जिस तापक्रम पर कोई ठोस पिघलता है, उसे उसका 'द्रवणांक' कहते हैं; और ठंडा करने से जिस तापक्रम पर कोई द्रव जम जाता है उसे उस द्रव का 'हिमांक' कहते हैं। एक ही पदार्थ का द्रवणांक और हिमांक एक ही होता है। बर्फ (०°c) पर पिघलती है और पानी उसी तापक्रम पर जमता है। जिस तापक्रम पर कोई द्रव उबलता है उसे उस द्रव का 'क्वथनांक' कहते हैं। उबलने की क्रिया में द्रव शीघ्रता से वाष्परूप में परिणत होता रहता है। जब कोई गैस काफ़ी ठंडी की जाती है अथवा उस पर काफी दबाव डाला जाता है तो वह द्रवरूप में परिणत हो जाती है। इस परिवर्तन को 'द्रवीकरण' (liquefaction) कहते हैं। द्रवीकरण का तापक्रम भी निकाला जा सकता है। हाइड्रोजन गैस साधारण दबाव में—२५३°c के नीचे द्रवरूप में रहती है। इसी प्रकार किसी वाष्प के द्रवरूप में परिवर्तित
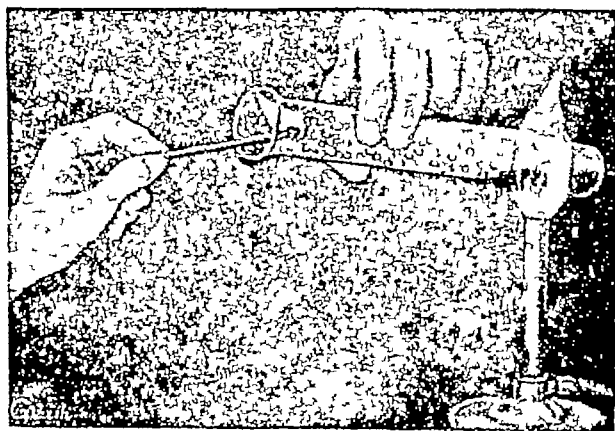
रासायनिक विच्छेदन

यदि हम परीक्षानली में पारद आक्साइड को गर्म करें तो आक्सिजन गैस बाहर निकलने लगती है और पारद के छोटे-छोटे गोल कण परीक्षानली की ठंडी सतह पर घनीभूत हो जाते हैं। यदि हम सुलगती दियासलाई परीक्षानली के मुँह के पास ले जायँ तो वह भक से जल उठती है, जिससे प्रकट होता है कि निकलती हुई गैस आक्सिजन ही है।

(बाईं ओर) प्रपुष्पण

रवादार धोनेवाला सोडा जब हवा में खुला छोड़ दिया जाता है तो उसका पानी धीरे-धीरे उड़ जाता है और सोडा सफ़ेद पाउडर का रूप ग्रहण कर लेता है।
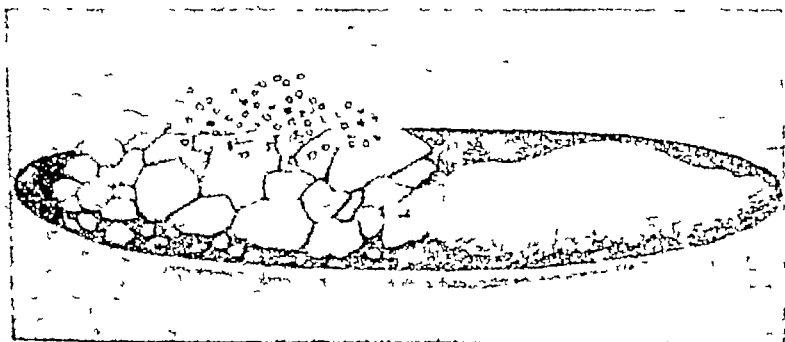
होने को 'घनीकरण' (condensation) कहते हैं। प्रायः सभी द्रव साधारण दशाओं मे भी अपने तल से धीरे-धीरे वाष्परूप मे परिणत होते रहते हैं। इस परिवर्तन को 'वाष्पीकरण' (evaporation) कहते हैं। कुछ द्रव, जैसे स्पिरिट और ईथर, शीघ्रता से वाष्परूप में उड़ जाते हैं ऐसे द्रवों को 'उड़नेवाले द्रव' कहते हैं। नौसादर और आयडीन जैसे कुछ ठोस द्रव्य गर्म करने पर द्रवित नहीं होते किंतु सीधे वाष्परूप में बदल जाते हैं और ठढक पाने पर वह वाष्प फिर सीधे ठोस रूप में परिणत हो जाती है। इस प्रकार के परिवर्तन को ऊर्ध्वपातन (sublimation) कहते हैं। कुछ वस्तुएँ, जैसे नमक, गर्म करने पर चटचटाने की आवाज़ करके छोटे-छोटे टुकड़ों में टूट जाती हैं। इसको 'चटखना' (decrepitation) कहते हैं।

इसके बाद हम उस वस्तु पर हवा का प्रभाव देखते है। हवा में रखने से कुछ वस्तुएँ पानी सोखती हैं। ऐसी वस्तुओं को 'जलग्राही' (hygroscopic deliquescent) कहते हैं। कास्टिक सोडा या कैल्शियम क्लोराइड के एक टुकड़े को खुली हवा में यदि हम छोड़ रक्खें तो वह इतना पानी सोखेगा कि स्वयं उसमें घुल जायगा।

इस प्रकार, भौतिक गुणों का अध्ययन करने के बाद हम पदार्थों के रासायनिक गुणों का अध्ययन करते हैं। रासायनिक गुणों का अध्ययन करने में भी हम पहले उन रासायनिक परिवर्तनों को देखते हैं जो उस वस्तु में हमारी दैनिक जीवन की साधारणतम वस्तुओं—आग (गर्मी), हवा, पानी आदि के संसर्ग से होते हैं। जो वस्तु लौ में गर्म करने से जल उठती है, उसे 'जलनशील' कहते हैं जल जाने पर हम यह देखते हैं कि कौन-सी नई वस्तु बन गई। जो वस्तुएँ नहीं जलतीं, उन्हें 'अज्वलनशील' कहते हैं। कुछ पदार्थों को गर्म करने से वे दो या अधिक प्रकार की नई वस्तुओं में पृथक् हो जाते हैं। इसको 'विच्छेदन' (decomposition) कहते हैं। जैसे, पारद आक्साइड (mercury oxide) को गर्म करने से आक्सिजन गैस निकलती है और एक नया पदार्थ, पारद धातु बन जाता है। कुछ वस्तुओं में केवल हवा में रखने से ही रासायनिक परिवर्तन हुआ करते हैं, जैसे लोहा, ताँबा आदि धातुओं में मोर्चा लगता है, चूना बहुत दिन रखने पर खड़िया में परिवर्तित हो जाता है, और तूतिया, सोडा सरीखे कुछ स्फटिक पदार्थों के रवों का पानी (water of crystallisation) उड़ जाता है; जिसके कारण ये वस्तुएँ बेरवादार रूप में रह जाती हैं। इस प्रकार रवों के बेरवादार हो जाने को खिल जाना अथवा 'प्रपुष्पण' (efflorescence) कहते हैं। पानी के संसर्ग से भी बहुत-सी वस्तुओं में रासायनिक परिवर्तन होते हैं। चूना पानी में डालने से उससे संयुक्त होता है और 'बुझ' जाता है और इस रासायनिक क्रिया में इतनी गर्मी की उत्पत्ति होती है कि पानी बहुधा उबलने तक लगता है। शुष्क तूतिया (anhydrous copper sulphate) जैसे कुछ बेरवादार पदार्थ पानी से संयुक्त होकर अपने रवे बनाते हैं, और सोडियम धातु की पानी के साथ ऐसी प्रतिक्रिया होती है, जिसमें हाइड्रोजन गैस निकलती है और कास्टिक सोडा बन जाता है।

इन साधारणतम बातों के प्रभाव का अध्ययन करने के बाद हम पदार्थों पर अन्य वस्तुओं की रासायनिक क्रियाओं अथवा प्रतिक्रियाओं का अध्ययन करते हैं।
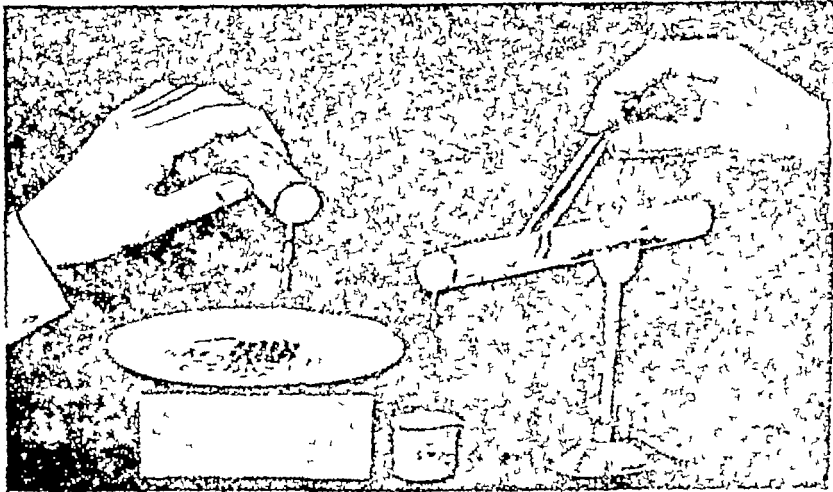
रवों का पानी

जब नीला तूतिया परीक्षानली में गर्म किया जाता है तो उसके रवों का पानी निकल जाता है और एक सफ़ेद पाउडर बच रहता है। पानी की बूँदें परीक्षानली की ठंढी सतह पर घनीभूत हो जाती हैं और नीचे गिराकर इकट्ठा की जा सकती हैं। यदि इस बचे हुए सफ़ेद पाउडर या बुकनी में हम फिर पानी डालें तो वह फिर से नीला हो जाता है।
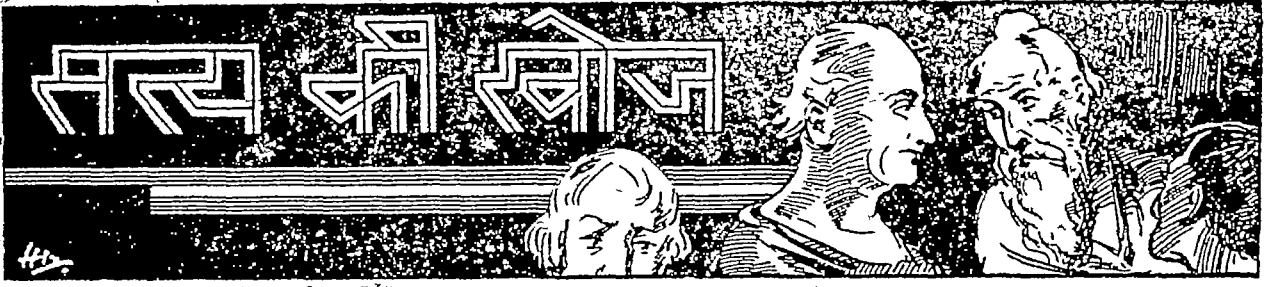
ऋषिभिर्बहुधा गीतम् *

जानने की भूख जागरूक होने पर जब हम अंधकार के पर्दे के उस पार हाथ बढ़ाकर तत्त्ववस्तु को टटोलने का प्रयत्न करते हैं तो हमारे दृष्टिकोण की विविधता के अनुसार हमें उस वस्तु के स्वरूप की विविध अनुभूतियाँ होती हैं। किन्तु इसमें कोई विरोधाभास नहीं है। वास्तव में उस मूल वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है। तभी तो तत्त्वदर्शी विद्वानों ने उस एक ही तत्त्व का अनेक तरह से बखान किया है।

प्रथम लेख में कहा जा चुका है कि दर्शन का उद्देश्य तत्त्व का साक्षात्कार करना है। साक्षात्कार या अनुभव का स्वरूप साक्षात्कर्त्ता की जिज्ञासा और साधना पर निर्भर है। इसको एक उदाहरण से देखना चाहिए। मेघ को देखकर एक ऐतिहासिक या पुराणकार के मन में जो भाव उठता है वह यह है—

जातं वंशे भुवनविदिते पुष्करावर्तकानाम्

(मेघदूत)

अर्थात् पुष्कर और आवर्तक नामक मेघों के विशाल वंश में इस सामने देख पड़नेवाले मेघखण्ड का जन्म हुआ है। इस प्रतिक्रिया में प्रत्यक्ष वस्तु के पूर्व अतीत को ढूँढने की प्रवृत्ति है। एक कृषक, जिसने अपने जीवन के अस्तित्व के लिए प्रकृति के वरदानों के प्रति कृतज्ञ होना सीखा है, सोचता है—

त्वय्यायत्तं कृषिफलमिति। (मेघदूत)

अर्थात् यह जो लहलहाती हुई सस्य सम्पत्ति है, हे मेघ, इसका श्रेय तुम्हारे वरद जलकणों को है।

प्रकृति के रहस्य को तत्त्वों की शल्य-प्रक्रिया के द्वारा जो जानना चाहते हैं, उन वैज्ञानिकों से यदि आप पूछिए कि मेघ क्या है, तो उनका उत्तर कुछ इस प्रकार होगा—

धूमज्योतिः सलिल मरुतां सन्निपातः—क्व मेघः

(मेघदूत)

अर्थात् धुआँ, आग, पानी और हवा—इन्हीं के जमघट का नाम मेघ है। यह भी ज्ञान का एक मार्ग है, जिसमें मस्तिष्क की ऊहापोह प्रधान है। इस मार्ग के द्वारा सृष्टि की चीर-फाड़ करके कुछ विशिष्ट पदार्थों में इसका बँटवारा करके मानव-मस्तिष्क अपने आपको सन्तोष देना चाहता है। यह भी एक साधना है। परन्तु वैज्ञानिक का अनुभव कवि की दृष्टि में बहुत निकृष्ट कोटि का है। इसीलिए 'धूमज्योतिः सलिल मरुतां सन्निपातः'—इस परिभाषा के सामने उसने 'क्व मेघः' ये दो पद रक्खे हैं, अर्थात् इस प्रकार धुएँ, आग, पानी और हवा का जमघट जो मेघ है, वह हमारे किस काम का ! कहाँ एक ओर मेघ का यह निकृष्ट स्वरूप, और कहाँ दूसरी ओर कवियों की कल्पना से प्रसूत मेघ का उदात्त रूप ! कवि की भी एक साधना और स्वतन्त्र जिज्ञासा है। उसके अनुसार कल्पना के पंख पर बैठकर जब वह मेघ के स्वरूप का अनुभव करता है, तब वह सोचता है—

जानामि त्वां प्रकृतिपुरुषं कामरूपं मघोनः

(मेघदूत)

अर्थात् 'हे मेघ, मैं यथार्थतः तुम्हारे स्वरूप को जानता हूँ, तुम इस प्रकृति के कामरूप पुरुष हो।' इस प्रकार का कामरूप पुरुष प्रकृति में जब यक्ष को मिलता है, तभी वह उसके हृदय की सूक्ष्म व्यञ्जनाओं को समझने के योग्य होता है।

साक्षात्कार या अनुभव की पृथक्ता या वैचित्र्य-
हरण के द्वारा स्पष्ट करने के लिए हमने जान-बू
तीय महाकवि कालिदास की काव्यगत मीमांसा

---

* ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्

—गीता

अर्थात् विविध छंदों में पृथक्-पृथक् ऋषियों ने एक ही तत्त्व का अनेक तरह से बखान किया है।

दिया है। कालिदास के मेघदूत के ये सारगर्भित वाक्य इस देश के दर्शनशास्त्र के एक महान् तत्त्व को प्रकट करते हैं। दृश्य वस्तु का स्वरूप देखनेवाले के दृष्टिकोण पर निर्भर है, अतएव उस अनुभव में विविधता का होना अनिवार्य है। उन अनुभवों में कौन सच है और कौन मिथ्या, यह प्रश्न मस्तिष्क की उधेड़बुन के लिए भले ही महत्त्वपूर्ण हो, अनुभवकर्त्ता की दृष्टि से इसका कोई महत्त्व नहीं है।

यदि जिज्ञासु की साधना सच्ची है, तो उसके साक्षात्कार का ध्रुवबिन्दु भी अटल है। समस्त ब्राह्मण्ड भी यदि उसका प्रतिपक्षी हो, तब भी उसके अनुभव की सत्यात्मक प्रतीत टस से मस नहीं की जा सकती। वैरागी राजकुमार सिद्धार्थ से कौन इस बात में सहमत था कि राजकीय प्रासाद का देवभोग्य वैभव त्यागने योग्य है? पर गौतम अपने अनुभव से तिल भर भी नहीं डिग सके। अथवा जोगी रतनसेन की माता का एक ओर यह कहना—

'बिनवै रतनसेन कै माया।
माथे छात, पाट निति पाया॥
बिलसहु नौ लख लच्छि पियारी।
राज छाँड़ जिन होहु भिखारी॥

(पद्मावत)

और दूसरी ओर रतनसेन का यह वाक्य—

'मोहि यह लोभ सुनाव न माया।
काकर सुख, काकर यह काया?
जो निआन तन होइहि छारा।
माटिहि पोख मरै को भारा?'

(पद्मावत)

दोनों बराबर महत्त्व रखते हैं। रतनसेन की साधना ने तत्त्व का दर्शन इसी रूप में किया था। एक को सत्य और दूसरे को मिथ्या मानना बुद्धि का लड़कपन है।

दार्शनिक विमर्श के पनपने के लिए अनुकूल क्षेत्र की तैयारी इसी बात पर निर्भर है कि हम अपनी विचारशैली में ऊपर दिखाए हुए दृष्टिकोण को कहाँ तक आदर के योग्य समझते हैं। यदि तत्त्व को जानने के लिए यह आवश्यक है कि हममें से प्रत्येक व्यक्ति स्वयं जिज्ञासु बनकर साधना करे, तो साथ ही यह भी आवश्यक हो जाता है कि उस जिज्ञासा के अन्त में हम जिस परिणाम पर पहुँचें उसको 'प्रतिष्ठित' माना जाय। 'प्रतिष्ठित' का तात्पर्य यह है कि ज्ञान-प्राप्ति का जो सर्वसम्मत मार्ग है वही उस का भी आधार या प्रतिष्ठा है।

इस प्रकार अनेक ऋषियों के अनुभव सब प्रतिष्ठित हैं। ऋषि वह है जिसने स्वयं तत्त्व का अनुभव किया है। जिसने स्वयं तत्त्व को मथा है, वही दर्शन का अधिकारी है। भगवान् बुद्ध कहा करते थे कि गन्तव्य स्थान तक जो स्वयं नहीं गया, जिसने मार्ग को केवल दूसरों से सुनकर घोख रक्खा है, उसका वचन प्रमाण के योग्य नहीं है।

भारतीय विचारकों ने अपने वाङ्मय के उष:काल से ही इस महत्त्वपूर्ण तत्त्व को समझकर उसका प्रचार किया है। ज्ञान-सिद्धि ऋषि महर्षियों का जो साक्षात्कार था, उसको उन्होंने 'श्रुति' कहा है। श्रुति का जन्म प्रज्ञा से होता है। प्रज्ञा (Intuition) ज्ञान-प्राप्ति का सबसे सूक्ष्म और मूल्यवान् साधन है। योग-समाधि के द्वारा चित्त को संस्कृत करने का फल हमारे ज्ञान-यंत्र के लिए पतञ्जलि ने निम्नलिखित सूत्र में बताया है—

ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा

अर्थात् अध्यात्म दर्शन की उच्चतम अवस्था में ऋतम्भरा प्रज्ञा का उदय होता है। ऋत जिसमें भरता हो, ऐसी बुद्धि ऋतम्भरा प्रज्ञा है। मस्तिष्क की तर्क वितर्क के द्वारा प्राप्त होनेवाला ज्ञान सत्य है। हृदय की अनुभूति या तत्त्व-साक्षात्कार से मिलनेवाला अनुभव 'ऋत' है। योगी की प्रज्ञा (Intuition) ऋतात्मक ज्ञान का भरण करती है। दर्शनशास्त्र के विद्यार्थी की बुद्धि प्रमाणों के ऊहापोह से तत्त्व विनिश्चय का प्रयास करती है। पिछले प्रकार के आयोजन से उत्तरकालीन भारतीय दर्शनों का जन्म हुआ है, जिनकी गणना शास्त्रकोटि में की जाती है। भारत में मस्तिष्क के तर्क की पराकाष्ठा नव्य न्याय के रूप में हुई, जिसके परिष्कारों की अवच्छेदकावच्छिन्न रूपी तीक्ष्ण धार के आगे टिक सकना दिग्गज विपक्षियों के लिए भी कठिन हो गया। इस शास्त्र के सामने मस्तिष्क की हार अवश्य होती है, हृदय की नहीं। इससे ठीक उलटी प्रज्ञा की कोटि है। ऋतम्भरा प्रज्ञा से जिस दर्शन का जन्म हुआ, वह उपनिषद् और वैदिक मंत्रों में उपनिबद्ध है। यहाँ दर्शन ने काव्य का रूप धारण किया है। ऋषि को वेदों में 'विप्र' (ज्ञानी) की पदवी के साथ-साथ 'कवि' भी कहा है। ऋषियों के अनुभव जिन श्रुतियों में हैं, वे दैवी काव्य हैं, जो कभी जीर्ण और मृत नहीं होते—

देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति।

श्रुतियों में कहीं भी नियमबद्ध विवेचन करने (systematisation) का आयोजन नहीं है। प्रज्ञा की वायु मलयानिल की तरह स्वच्छन्द होकर जिधर चाहती है, बहती है। इसी

कारण उपनिषदों के उद्गार नव्य नवनीत की भाँति आज भी हरे-भरे मालूम होते हैं। उनके सगीत में बासीपन या मृत्यु की जड़ता का सस्पर्श कभी नहीं होता, जो प्रमाण-प्रमेयों के चौखटे में कसे हुए तथाकथित दार्शनिक विमर्शों का अभिशाप है। भारतीय दर्शनकारों ने श्रुति और शास्त्र की प्रामाणिकता में सदा अन्तर किया है। शास्त्र को प्रमाण-कोटि में लाने के लिए बुद्धि पर कसना पड़ता है। श्रुति तो ज्ञान और अनुभव का मथा हुआ घृत है। शंकर आदि दार्शनिक श्रुति के सामने नतमस्तक होकर श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हैं। जब उन्हें ऋषि-अनुभूत ज्ञान का नवनीत मिल जाता है, तब वे तर्क के पचड़े में नहीं पड़ते। इस प्रकार का दृष्टिकोण केवल तर्कसम्मत पैंतरों के बल चलनेवालों को भले ही अखरनेवाला मालूम पड़े, पर जिनके लिए दर्शन जीवनरमण की पहेली को सुलझाने के लिए है, उन्हें ऋतम्भरा प्रज्ञा (Intuition) से पनपनेवाला अध्यात्म अनुभव बड़ा मूल्यवान् प्रतीत होता है। कोरा बुद्धिवाद मनुष्य को राजा नृग की तरह अन्धकार के गर्त में ले जाकर छोड़ देता है। वही प्रज्ञा के साथ मिलकर न केवल 'ऊर्ध्वमूलमधःशाख' अश्वत्थ की तरह युग-युगान्तर तक टिक सकता है, बल्कि पक्षिराज गरुड़ की भाँति व्योम में सूर्य से आलोकित प्रदेशों का साक्षात् दर्शन भी कर सकता है।

इस विवेचन से इस बात का कुछ आभास मिलता है कि सत्य और श्रद्धा के साथ जीवन की बाज़ी लगाकर तत्त्ववस्तु को टटोलने की पद्धति को इस देश में कितना मूल्यवान् माना गया है। अध्यात्म ज्ञान के पनपने की यही उर्वरा भूमि रही है, जिसके लिए भारतीय दर्शन आज भी जगत् में विख्यात है। इस क्षेत्र की एक विशेषता रही है—विचार की बहुविधता। विचार की सहस्रमुखी प्रवृत्ति के द्वारा ही भारतीय दर्शन ने वैदिक काल से लेकर आज तक अपने पनपने के लिए विशेष अनुकूल परिस्थिति का निर्माण किया है। प्रज्ञा कभी नियमजटित शिकञ्जों के भीतर फूल-फल नहीं सकती, उसको स्ववश-विहार के लिए अनन्त क्षेत्र चाहिए। भारतीय मस्तिष्क की विशेषता का अध्ययन करते हुए डा० बैटी हाइमान ने ठीक ही लिखा है कि:—

'In short, the West has elaborated the best systematic framework of thought, while India's natural task is to keep this framework sufficiently elastic to embrace all possibilities of thought, equally those already realized and those not yet foreseen.'

[Indian and Western Philosophy, p 26]

अर्थात् 'संक्षेप में हम कह सकते हैं कि विचार करने का जो सर्वोत्तम क्रमबद्ध विधान है उसका पूर्ण विकास करने में पश्चिमी विद्वान सफल हुए हैं। किन्तु भारतवर्ष के मनीषियों ने जो ध्येय अपने सामने रक्खा, वह यह था कि मनन करने की स्वाभाविक सरणि या प्रणाली सदा ऐसी लचीली बनी रहे कि उसमें सब प्रकार के भूत और भावी विचारों के पनपने की गुंजाइश हो'

मनन के आदियुग में ही मेधावी ऋषि ने घोषणा की—

एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति।

ऋग्वेद १।१६४।४६

अर्थात् प्रज्ञावान् मनीषी लोग एक सद्वस्तु का अनेक प्रकार से बखान करते हैं।

ये अमर अक्षर आज भी भारतीय ज्ञान मन्दिर के तोरण-द्वार पर लिखे हुए हैं। उनका कल्याणप्रद आश्वासन इस ज्ञानमन्दिर के भक्तों का अमोघ स्वातन्त्र्य पद है। वेदों का व्यास करनेवाले भगवान् द्वैपायन कृष्ण ने इसी सत्य को अनेक स्थानों पर दुहराया है—

एकधा च द्विधा चैव बहुधा स एव हि।
शतधा सहस्रधा चैव तथा शतसहस्रशः।

—महाभारत अनुशासन० १६०।४३

भगवान् देवकीपुत्र कृष्ण ने काव्यमय ढग से इसी बात का समर्थन किया है—

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।

—गीता

अर्थात् विविध छन्दों में पृथक्-पृथक् ऋषियों ने एक ही तत्त्व का बहुधा बखान किया है। सर्वत्र 'बहुधा' पद महत्त्वपूर्ण है। अनेक ऋषियों को अनेक प्रकार से तत्त्व का अनुभव हुआ है। सबने अपनी-अपनी प्रतिभा के अनुसार उसका वर्णन किया है—

भाँति अनेक मुनीसन्ह गाए।

(तुलसीदास)

उस अज्ञेय रहस्य को 'ठीक ऐसा है' कहना कठिन है—

इदमित्थं कहि जाय न सोई।

अथवा कवि ने कितनी सुन्दर कल्पना की है कि ज्ञान-रूपी महान् अश्वत्थ की दिगदिगन्तव्यापिनी शाखा-प्रशाखाओं पर आश्रित सहस्रों पक्षी अपने अपने ... रात दिन अमृततत्त्व का गान करते रहते हैं। विश्वभुवन का पालक है। उसी का एक पक्व

हमारे अन्दर प्रविष्ट हुआ है।* काव्यमय ढंग से उन पक्षियों को 'मध्वद' अर्थात् शहद का चखनेवाला कहा गया है। क्या सत्य ज्ञान के अन्वेषक विश्व के समस्त ज्ञानियों की गिनती इसी प्रकार के मध्वद सुपर्णों में नहीं है? अनन्त काल से ये पक्षी विशाल ज्ञान अश्वत्थ की शाखाओं पर बैठते आते हैं; आज भी अपने-अपने स्वर में उनका गान जारी है और आगे भी चलता रहेगा। उनके स्वरों की बहुविधता ही इस संगीत का वास्तविक भूषण है। उसकी सुन्दरता को पहचानने के लिए दृष्टिकोण ठीक होना चाहिए। कितने व्यक्ति हैं, जो संगीत की नीचे लिखी विशेषता को श्रद्धा के साथ मानते हैं—

सुवर्णं विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति।

कवि और विप्रों के वचनों में, चाहे वे इस देश के हों चाहे विदेश के, एक तत्त्व की बहुधा कल्पना सर्वत्र उपलब्ध होती है। इसमें विरोध देखना दृष्टिदोष है। श्रुतियों का 'बहुधा' पद उनके मौलिक समन्वय की ओर हमारा ध्यान खींचता है। इस विश्व के एक छोर से दूसरे छोर तक एक महती प्राणधारा (मधुकण) ओत-प्रोत है। उसी का विकास यह सब कुछ है, उसी के स्वरूप का अध्ययन वैज्ञानिक लोग करते हैं, एवं उसी के रहस्य की मीमांसा ज्ञानी करते हैं। जब उसका ही चरित अनेक प्रकार का है, तब ज्ञानियों का अनुभव भी अनेक प्रकार का हो, इसमें कौन-सा आश्चर्य है। वे जैसा समझ पाते हैं, वैसा प्रकट करते हैं—

पश्यन्त्यस्याश्चरितं पृथिव्याँ
पृथङ् नरो बहुधा मीमांसमानाः।

अर्थात् अनेक प्रकार से मीमांसा करते हुए ज्ञानी विश्व में उसके व्यापार की विचित्रता का दर्शन करते हैं। यम ने नचिकेता से कहा है कि अनेक प्रकार से चिन्त्यमान वह तत्त्व अल्पबुद्धि मनुष्यों के लिए बड़ा दुर्ज्ञेय है। सत्यधृति लोग ही उसका अनुभव कर पाते हैं।

यहाँ पर यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या श्रुतियों की और शास्त्रों की बहुविध मीमांसा बुद्धि का कौशलमात्र नहीं है? इस प्रकार के विभ्रम से क्या कभी कोई परिणाम निकल सकता है? इसके उत्तर में वृत्त और केन्द्र के प्रसिद्ध उदाहरण की कल्पना कीजिए। केन्द्र ही वृत्त और विश्व की समस्त आकृतियों का मूल है। अथवा यों कहें कि यद्यपि नामरूप की दृष्टि से केन्द्र की सत्ता सिद्ध नहीं की जा सकती, फिर भी यथारुचि उससे त्रिभुज, चतुर्भुज, पञ्चभुज आदि आकृतियाँ बनती रहती हैं। यही तो 'एकं सतं बहुधा कल्पयन्ति' वाली प्रक्रिया है। सृष्टि की रचना में ही इसका मूल अन्तर्निहित है। 'एकं बीज बहुधा यः करोति'—अर्थात् सृष्टिकर्त्ता ने एक मूल बीज से बहुविध प्रपंच का विस्तार किया है। जब मूल वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है, तो मानव बेचारा उसमें क्या हस्तक्षेप करे? श्रुतियों में स्पष्ट कहा है कि प्रजापति सृष्टि के गर्भ में रम रहा है। उसके उस स्वरूप को जो केन्द्र की ही तरह है ज्ञानी लोग देखते हैं। वही बहुत प्रकार से अभिव्यक्त हो रहा है। उसी में समस्त लोक प्रतिष्ठित हैं—

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते।
तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा।

[यजुर्वेद ३१।१६]

आर्ष श्रुति ज्ञान अथवा ऋतम्भरा प्रज्ञा के अनुभव वाक्यों के अतिरिक्त अर्वाचीन विज्ञान की साक्षी भी इसी ओर है। प्रकृति के बानवे तत्त्वों का पार्थक्य आज परमाणु के न्यूट्रन, प्रोट्रन, इलेक्ट्रन आदि अणोरणीयान् विद्युत्-अंशों की खोज के कारण विलीन होता जा रहा है। सहस्रांशु सूर्य की असंख्य किरणों और उनके रंग बिरंगे चमत्कारों का आपसी भेद भी केवल गणित की कृपा पर अवलम्बित माना जा रहा है। निदान यह कि दृश्यमान जगत् के पीछे एक ही मूल बीज या प्रेरणा काम कर रही है। वही अनेक रूपों में प्रकट हो रही है। 'एकं बीजं बहुधा यः करोति' नियम के अधीन ही वैज्ञानिक की भी सृष्टि है। जिन ऋत्विजों ने कहा था—'एकं वा इदं विबभूव सर्वम्' वे वैज्ञानिकों के दृष्टिकोण से बहुत दूर हटे हुए नहीं थे।

ऊपर निर्दिष्ट बहुधा-सम्बन्धी दृष्टिकोण को मानने का परिणाम भारतीयों के व्यावहारिक जीवन पर बहुत सुन्दर हुआ है। इसी के कारण यहाँ अद्भुत विचार-सहिष्णुता पनप सकी है। प्रतीत होता है कि गंगा का तट चार्वाक से लेकर शंकर तक, सबके लिए शीतलवाही है। आकाश से बरसा हुआ जल जैसे समुद्र में मिल जाता है, वैसे ही चाहे जिस देवता को नमस्कार करो, सब प्रणाम ईश्वर में जाकर एक हो जाते हैं, यह नितान्त रमणीय भाव है जो विश्व में अन्यत्र कहीं प्रकट नहीं हुआ। इसी भाव ने समस्त भारतीय संस्कृति और राष्ट्र को एक अटल समन्वय के सूत्र में सदा के लिए बाँध रक्खा है।

---

*यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भागमनिमेषं विदथाभिस्वरन्ति।
इनः विश्वस्य भुवनस्य गोपाः स मा धीरः पाकमत्रा विवेश॥
ऋ० १।१६४।२१

पृथ्वी
की कहानी
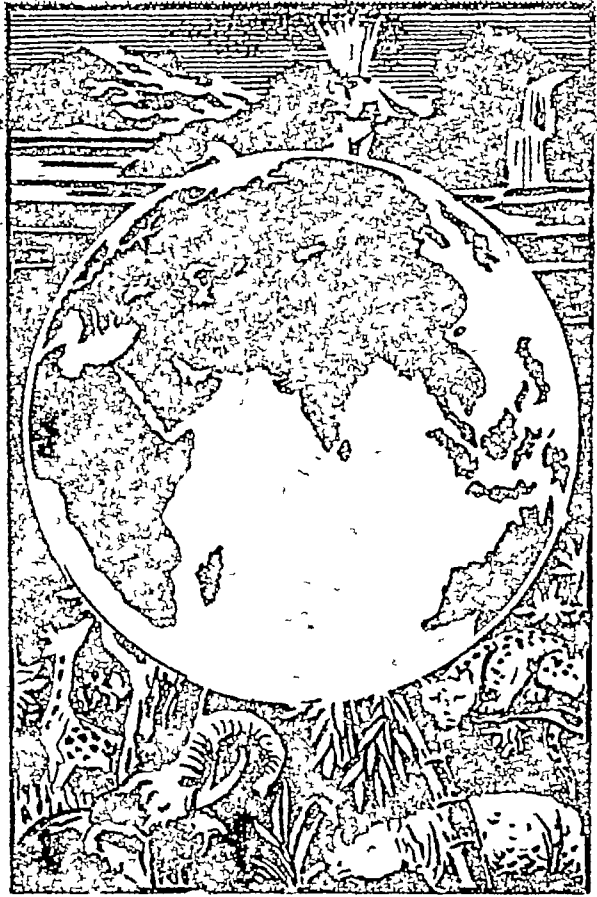
पृथ्वी के शैशवकाल का प्रलयंकर दृश्य

जन्म के लाखों वर्ष बाद जब पृथ्वी के ऊपर की पपड़ी जमने लगी, तब उस पर प्रकृति का भीषण ताण्डव आरम्भ हुआ। गली हुई धातुओं के उस धधकते महासागर में ज्वालामुखियों के भयानक उबाल आते थे। ऊपर से पिघली हुई धातुओं और पत्थरों की मूसलाधार अग्निवर्षा होती थी और घनघोर आकाश में दिल दहलानेवाली बिजली कड़कती रहती थी। [देखिए पृष्ठ १२८]
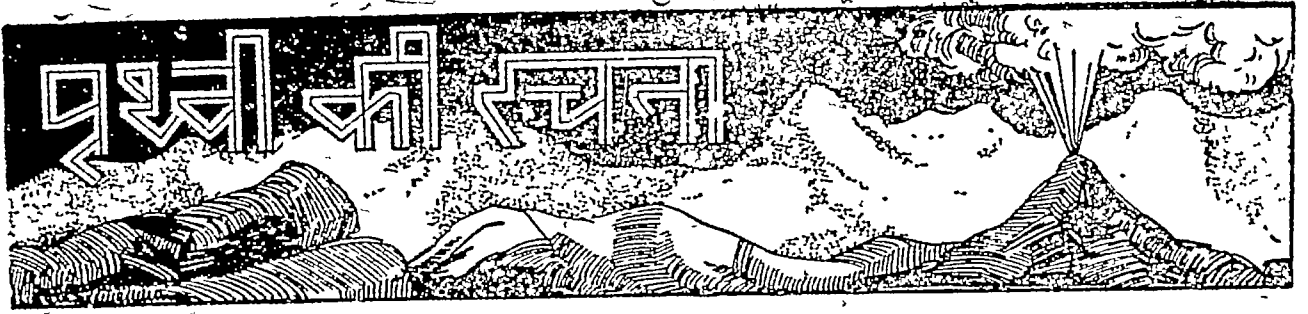
पृथ्वी कहाँ से और कैसे ?

उसकी आरंभिक रूपरेखा

पृथ्वी के संबंध में हमारी अब तक क्या-क्या धारणाएँ रही हैं और आज का उसका रूप कैसा है, इसका सामान्य रूप से पिछले प्रकरण में हम विवेचन कर चुके। इस प्रकरण में हमें देखना है, पृथ्वी कहाँ से और कैसे आई, और उसके शैशवकाल का रूप कैसा रहा।

हमारी पृथ्वी सौर मण्डल का एक अंश है और सौर मण्डल इस अखिल ब्रह्माण्ड में विचरनेवाले करोड़ों नक्षत्र-मण्डलों में से एक है। अनन्त ब्रह्माण्ड में हमारे सौर मण्डल के सूर्य सरीखे उससे कई गुना बड़े असंख्य नक्षत्र तो हैं ही, विशालकाय पुच्छल तारे, सर्पिल नीहारिकाओं की दूर तक पसरी हुई कुण्डलियाँ तथा बड़े-बड़े उल्का और उल्काकण भी निरन्तर घूमा करते हैं। पृथ्वी सौर मण्डल का ही एक भाग होने के कारण, वैज्ञानिकों का विश्वास है कि पृथ्वी का जन्म भी सौर मण्डल के जन्म के साथ हुआ। ज्योतिष या खगोल विद्या के अध्ययन करनेवालों का विचार है कि सौर मण्डल का जन्म एक ऐसे वायव्य पिण्ड से हुआ जो किसी कारण से सूर्य तथा सूर्य से भी बड़े एक विशाल नक्षत्र के परस्पर बहुत अधिक निकट आ जाने से उत्पन्न हो गया था। किस प्रकार इस महापिण्ड से सौर मण्डल की सृष्टि हुई, इसके विषय में वैज्ञानिकों में मतभेद हैं। लोगों ने कल्पना और तर्क के बल पर अनेकों सिद्धान्त बनाये, परन्तु अभी तक कोई निश्चित सिद्धान्त ठहराया नहीं जा सका है। भूगर्भ-विज्ञान द्वारा, पृथ्वी के विभिन्न स्तरों की बनावट, खानों के भीतर के अनुभव, ज्वालामुखी पर्वतों का विस्फोट आदि के अध्ययन द्वारा बहुत-से वैज्ञानिकों ने इस पहेली को सुलझाने की चेष्टा की है; परन्तु आधुनिक विद्वान् सहज ही किसी भी सिद्धान्त को ग्रहण करने के लिए तैयार नहीं हैं। उल्कापात के रूप में जो संदेश हमें अन्तरिक्ष से मिलते हैं, वैज्ञानिक उनके द्वारा भी पृथ्वी और सौर मण्डल के जन्म की कल्पना करना चाहते हैं। कुछ वैज्ञानिकों ने यह सिद्ध करने की भी चेष्टा की है कि उल्कापात के द्वारा ही सौर मण्डल की सृष्टि हुई है।

लाप्लेस
सौर मण्डल की उत्पत्ति सम्बन्धी जिसका मत बहुत दिनों तक मान्य रहा।

लाप्लेस का सिद्धान्त

अठारहवीं शताब्दी में लाप्लेस नामक एक फ्रेञ्च वैज्ञानिक ने यह सिद्धान्त उपस्थित किया कि सौर मण्डल के जन्म से पहले उसके स्थान पर धधकते वायव्य का एक महापिण्ड आकाशमण्डल में वेग से घूमता हुआ चक्कर लगाता था। यह पिण्ड उस समय इतना लंबा-चौड़ा था कि वर्त्तमान सौर मण्डल के सबसे दूरवाले ग्रह नेपच्यून के परिक्रमाक्षेत्र से भी बाहर तक पसरा हुआ था। वेग से घूमने के कारण इसके ऊपरी भाग की उष्णता आकाश मण्डल में फैल गई और वह ठण्ढा होने लगा। ठण्ढा होने के कारण उसका बाहरी वायव्य पदार्थ घनीभूत होने लगा, परन्तु भीतर का पदार्थ अभी उत्तप्त वायव्य

ही में था। ऊपर का घनीभूत भाग घूमने की गति में केन्द्रीय भाग का साथ न दे सकने के कारण उससे अलग हो गया और उसके ऊपर तेज़ी से उसकी परिक्रमा करने लगा। कालान्तर में बाहर घूमनेवाली यह वलयाकार कुण्डली एक पिण्ड के रूप में सिमट गई और केन्द्रीय पिण्ड के चारों ओर पूर्वावस्था में परिक्रमा लगाने लगी। इस प्रकार उस महापिण्ड से एक-एक करके नौ पिण्ड अलग हो गये, जो सौर मण्डल के ग्रहों के रूप में—जिसमें हमारी पृथ्वी भी एक है—आज भी केन्द्रीय पिण्ड सूर्य के चारों ओर उसी भाँति परिक्रमा लगा रहे हैं। सूर्य तो अभी तक उसी प्रकार उत्तप्तावस्था में है, यद्यपि उसकी प्रचण्डता जन्मकाल की अपेक्षा अब कम है; किंतु उसके आसपास चक्कर लगानेवाले ये छोटे पिण्ड या ग्रह अब बहुत ठंडे हो गये हैं।

इस मत के अनुसार पृथ्वी एक वायव्य पिण्ड से घनीभूत होकर, तरलावस्था को पार करके, धीरे-धीरे कठोर हुई है। अब भी यह पूर्णतया ठंढी नहीं हो पाई है, केवल इसके ऊपर का पिण्ड, जिस पर हम लोग रहते हैं, जमकर कठोर हो गया है। इसके भीतर अभी तक लावा की भाँति पिघला हुआ पदार्थ भरा है, जो धीरे-धीरे सिकुड़ता हुआ ठंढा हो रहा है। इस मत के अनुसार पृथ्वी का पिण्ड आरम्भ में इतना बड़ा न था जितना आज है, वरन् इससे कई गुना बड़ा—लगभग सूर्य जैसा ही—था।

दो आकाशीय महापिण्डों की टक्कर की कल्पना

एक मत के अनुसार हमारे सौर मण्डल की उत्पत्ति किसी अतीत काल में ऐसे ही दो महापिण्डों के आपस में टकरा जाने से उत्पन्न नीहारिका से हुई है।

उल्काओं की उत्पत्ति

लोगों ने बहुत दिनों तक ऊपर के सिद्धान्त पर विश्वास किया और कुछ लोग अब भी इसको ही ठीक मानते हैं। परन्तु थोड़े दिनों के बाद वैज्ञानिकों ने एक नया सिद्धान्त निकाला। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन सर नार्मन लाकयर नामक वैज्ञानिक ने किया। इस सिद्धान्त का मूल तत्त्व यह है कि अखिल ब्रह्माण्ड में जितने भी पिण्ड हैं, वे सब उल्काओं के बने हुए हैं। अर्थात् आकाशमण्डल में दिखलाई पड़नेवाले ग्रह, नक्षत्र, सूर्य, धूम्रकेतु और नीहारिकायें आदि सब पिण्ड उसी प्रकार के उल्कापिण्डों तथा उल्काकणों की धूल से मिलकर बने हैं, जो नित्यप्रति हमारी पृथ्वी पर टूटनेवाले तारों के रूप में गिरते रहते हैं। इस मत के अनुसार सौर मण्डल का जन्म उल्का और नन्हें उल्काकणों के समूह से मिलकर बने हुए एक विशाल पिण्ड से हुआ है, वायव्य पिण्ड से नहीं।

इन उल्काओं की उत्पत्ति के विषय में वैज्ञानिक यह विश्वास करते हैं कि आकाशमण्डल के कुछ पिण्डों के परस्पर टकरा जाने से वे छिन्न-भिन्न होकर ब्रह्माण्ड में इधर-उधर छिटक जाते हैं। छिटके हुए ये पिण्ड किसी बड़े पिण्ड के आकर्षण से उसके अधिक समीप पहुँचकर उसी में मिल जाते हैं। हमारी पृथ्वी के समीप भी जो पिण्ड आ जाते हैं, वे पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण से इतने वेग से इसमें आ मिलते हैं कि मालूम होता है कहीं से टूटकर गिर रहे हैं।

इस सिद्धान्त के अनुसार हमारे सौर मण्डल की उत्पत्ति उल्कापिण्डों से बनी एक नीहारिका से हुई है। दो महापिण्डों के परस्पर टकरा जाने से इतनी भीषण ज्वाला उत्पन्न हुई होगी कि इन महापिण्डों के छिन्न-भिन्न अंशों में से अधिकांश उसमें गलकर तरल हो गये होंगे। कुछ वायव्य रूप में भी परिणत हो गये होंगे और बादल की भाँति छा गये होंगे। परन्तु आकर्षण-शक्ति के वश तरल और वायव्य पदार्थ बड़े बड़े पिण्डों से अलग नहीं हो सके होंगे। वरन् वायव्य पदार्थ ठोस और पिघले हुए पिण्डों को पूर्णतया मण्डित किये होगा और इस प्रकार पूरा पिण्ड वायव्य के महापिण्ड के रूप में दिखाई पड़ता होगा। सहस्रों उल्कापिण्डों के वेग से इधर-उधर परस्पर टकराने से तथा रगड़ने से वेगवती ज्वाला और उसमें प्रकाश उत्पन्न होता था, जो सारे वायव्य पिण्ड को प्रकाशित किये था। इस अवस्था में सहस्रों उल्कापिण्ड रगड़ कर चूर हो गये होंगे

हुई दशा में थे और प्रचण्ड अग्नि से तप्त थे। सर जेम्स जीन्स नामक एक विद्वान् ने कुछ वर्ष हुए गणित द्वारा यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि सौर मण्डल जिस नीहारिका पिण्ड से आरम्भ हुआ है, वह घूमते-घूमते नासपाती की-सी शक्ल का हो गया होगा। नासपाती के अन्य भाग की अपेक्षा नुकीला भाग जल्दी ठण्ढा हो गया होगा और सिकुड़कर घना हो जाने के कारण नासपाती का साथ न दे सका होगा और टूटकर अलग हो गया होगा। टूट जाने पर भी यह उस बड़े पिण्ड के साथ ही साथ घूमता रहा होगा। बड़ा पिण्ड सिकुड़कर छोटा होता गया और इस प्रकार यह टूटा हुआ पिण्ड उससे दूर हो गया। साथ-ही-साथ बड़े पिण्ड से इस प्रकार कई पिण्ड टूटकर अलग हुए। यही पिण्ड सौर मण्डल के ग्रह हैं और केन्द्रीय पिण्ड सूर्य। जो पिण्ड नासपाती के नुकीले भाग के रूप में टूट गये थे, वे भी आरम्भ में पिघली हुई तप्त अवस्था में थे और बराबर वेग से नाचते हुए केन्द्रीय पिण्ड की परिक्रमा करते थे। कालान्तर में इन पिण्डों की शक्ल भी नासपाती जैसी ही हो गई और फिर इनके नुकीले भाग भी टूटकर इनसे अलग हो गये। ये भाग इन ग्रहों के चन्द्रमा के रूप में हो गये। हमारी पृथ्वी का भी नुकीला भाग टूटकर इससे अलग हो गया और चन्द्रमा बन गया। इस भाग के टूटने से जो स्थल खाली हुआ, उसमें पृथ्वी के ठण्ढो हो जाने पर पानी भर गया और गहरा समुद्र बन गया।

सर जेम्स जीन्स

जिसके द्वारा प्रतिपादित सौर मण्डल की उत्पत्ति-सम्बन्धी सिद्धान्त आज दिन प्रायः सर्वमान्य है।

पौराणिक धारणा

इस सम्बन्ध में हमारी पौराणिक कथा भी बड़ी महत्त्वपूर्ण है। सृष्टि के आरम्भ में अनन्त भगवान् शेषनाग की कुण्डली पर शयन करते हुए क्षीर सागर में विचरण करते थे। भगवान् की नाभि से कमल उत्पन्न होता है, जिसके दल चारों ओर फैले हुए हैं। भगवान् के नाभिकमल पर बैठे ब्रह्मा इस विचार में मग्न होते हैं कि मैं कौन हूँ, कहाँ हूँ और किसलिए आया हूँ? इतने में भगवान् के कानों के मैल से दो विशाल शरीरवाले दानव उत्पन्न होते हैं। ये दोनों दानव आपस में लड़ने लगते हैं और लड़कर दोनों मर जाते हैं। उनके शरीर का मैल उसी क्षीर सागर में बहता है और उसी से मेदिनी बनती है। मंगल नामक ग्रह कुछ काल पर्यन्त मेदिनी के पुत्र के रूप में जन्म लेता है। कालान्तर में मेदिनी के समुद्र-मन्थन से चन्द्रमा की उत्पत्ति होती है। ब्रह्मा ने मरीचि और भृगु नामक दो मानसिक पुत्र उत्पन्न किये। इनके द्वारा सूर्य आदिक ग्रह उत्पन्न हुए।

पौराणिक और आधुनिक धारणाओं की तुलना

ऊपर जिन वैज्ञानिक सिद्धान्तों का वर्णन किया गया है, उनमें तथा पौराणिक रूपक में बहुत कुछ सामञ्जस्य है। अनन्त भगवान् को इस अनन्त ब्रह्माण्ड के रूप में माना जा सकता है। क्षीर सागर दूध-सरीखे उस चमकदार पदार्थ को कह सकते हैं, जो आकाशमण्डल में नीहारिकाओं और आकाशगंगाओं में देख पड़ता है। शेषनाग की कुण्डली अनन्त ब्रह्माण्ड में पसरी हुई नीहारिकाओं की कुण्डली है। कान के मैल से दो दैत्यों का उत्पन्न होना अनन्त देश की किसी गुहा से दो भरे हुए बृहताकार पिण्डों का निकलना हो सकता है। दोनों का टकराना दोनों का लड़ना है। लड़ते-लड़ते दोनों नष्ट हो जाते हैं और उनके शरीर का मैल एक वायव्य पिण्ड के रूप में परिणत हो जाता है, जिसे मेदिनी के नाम से पुकारा गया है। इस मेदिनी के मंगल ग्रह नामक पुत्र हुआ। कौन कह सकता है कि प्रोफ़ेसर जीन्स की गणना के अनुसार मंगल ग्रह भी पृथ्वी की नासपाती-सी शक्ल का नुकीला भाग नहीं है? चन्द्रमा के सम्बन्ध में तो सभी वैज्ञानिक यह स्वीकार करते हैं कि वह पृथ्वी से टूटकर अलग हो गया है।

वास्तव में सौर मण्डल की उत्पत्ति कैसे हुई, यह अभी तक कोई प्रमाणित रूप से सिद्ध करने में सफल नहीं हो सका है। सबने अपनी धारणाओं के अनुसार अपने सिद्धान्त बनाये हैं। हम यह नहीं कह सकते कि ये सिद्धान्त ठीक नहीं हैं, परन्तु तर्क और वास्तविकता की कसौटी पर अभी तक कोई सिद्धान्त पूर्ण रूप से अंतिम नहीं हो पाया है। हमें इस सम्बन्ध में यह देखना है कि पृथ्वी की कथा, जो उसकी चट्टानों तथा उसके विभिन्न स्तरों आदि में प्रकृति की कलम द्वारा लिखी हुई है, इस सम्बन्ध में क्या कहती है। भूगर्भ-विज्ञान उसी बात को ग्रहण करने को तैयार

पृथ्वी का जन्म

सुदूर अतीत में किसी नक्षत्र के आकर्षण से सूर्य में से बहुत-सा उत्तम वायव्य अंश टूट कर अलग हो गया था। नीहारिका जैसे जलते वायव्य पदार्थ ने चक्कर लगाते-लगाते विभिन्न पिण्डों का रूप ग्रहण कर लिया। हमारी
में से एक थी। इस चित्र में उन दिनों की लपटों से घिरी पृथ्वी के रोमांचकारी रूप की एक झलक है

विचलित हो जाता था। यही दशा चन्द्रमा की भी रही होगी। परन्तु चन्द्रमा की यह दशा शीघ्र ही समाप्त हो गई। क्योंकि उसका पिण्ड छोटा था, इसलिए वह शीघ्र ही ठण्ढा हो गया।

चन्द्रमा के अलग हो जाने से पृथ्वी के नाचने के वेग में सुस्ती आ गई। पृथ्वीपिण्ड के पदार्थ में उस समय भीषण ज्वार आते थे, इसका भी पृथ्वी के नाचने की गति पर प्रभाव पड़ा और उसका वेग धीरे-धीरे कम होने लगा। पृथ्वी का पिण्ड ठण्ढा होने से पिघले हुए पदार्थ गाढ़े होकर जमने लगे। जिस प्रकार कढ़ाई में धीमी आँच में औटनेवाले दूध पर धीरे-धीरे मलाई पड़ने लगती है और वह धीरे-धीरे गाढ़ी और मोटी होती जाती है, उसी प्रकार पृथ्वी-पिण्ड के खौलते पदार्थ के ठण्ढे होने और गाढ़ा होने से उस पर मलाई-सी जमना आरम्भ हुई। यह मलाई की पपड़ी, जैसे-जैसे पृथ्वी ठण्ढी होती जाती थी, अधिक मोटी होती जाती थी। परन्तु आँच की भयानकता के कारण यह पपड़ी जमकर कड़ी नहीं हो पाई।

पृथ्वी की आरम्भिक दशा ठीक उसी प्रकार थी जिस प्रकार इस्पात गलाने की भट्टी में इस्पात की होती है। इस्पात जब पिघल कर पानी-सा हो जाता है तो उसमें भीषण उबाल आते हैं और धातु बड़ी उछाल लेने लगती है। धीरे-धीरे यह उबाल आने बन्द होते हैं और मैला ऊपर आने लगता है। मैला हलका होने के कारण ऊपर आकर तैरता रहता है। भट्टी की आँच इतनी भीषण होती है कि यह मैला भी पिघली हुई दशा में रहता है, परन्तु इस्पात की अपेक्षा इसमें बहने की शक्ति कम होती है। यदि भट्टी को धीरे-धीरे ठण्ढा किया जाय तो मैला जमकर मलाई के रूप में पिघले हुए इस्पात को ढक लेता है। मैले की पपड़ी, जैसे-जैसे भट्टी ठण्ढी होती जाती है, अधिक छोटी और घनी होती जाती है। परन्तु भीतर की धातु की गर्मी और दबाव के कारण इस पपड़ी में दरारें सी पड़ जाती हैं और उन दरारों में नीचे से इस्पात आकर भर जाता है। यदि भट्टी और अधिक ठण्ढी कर दी जाय तो पिघला हुआ इस्पात धीरे-धीरे ठण्ढा होकर जमने लगेगा। इस्पात के पूर्व ही मैला जमकर कड़ा हो जायगा और ठण्ढा भी हो जायगा। परन्तु मैले की कड़ी पपड़ी के भीतर
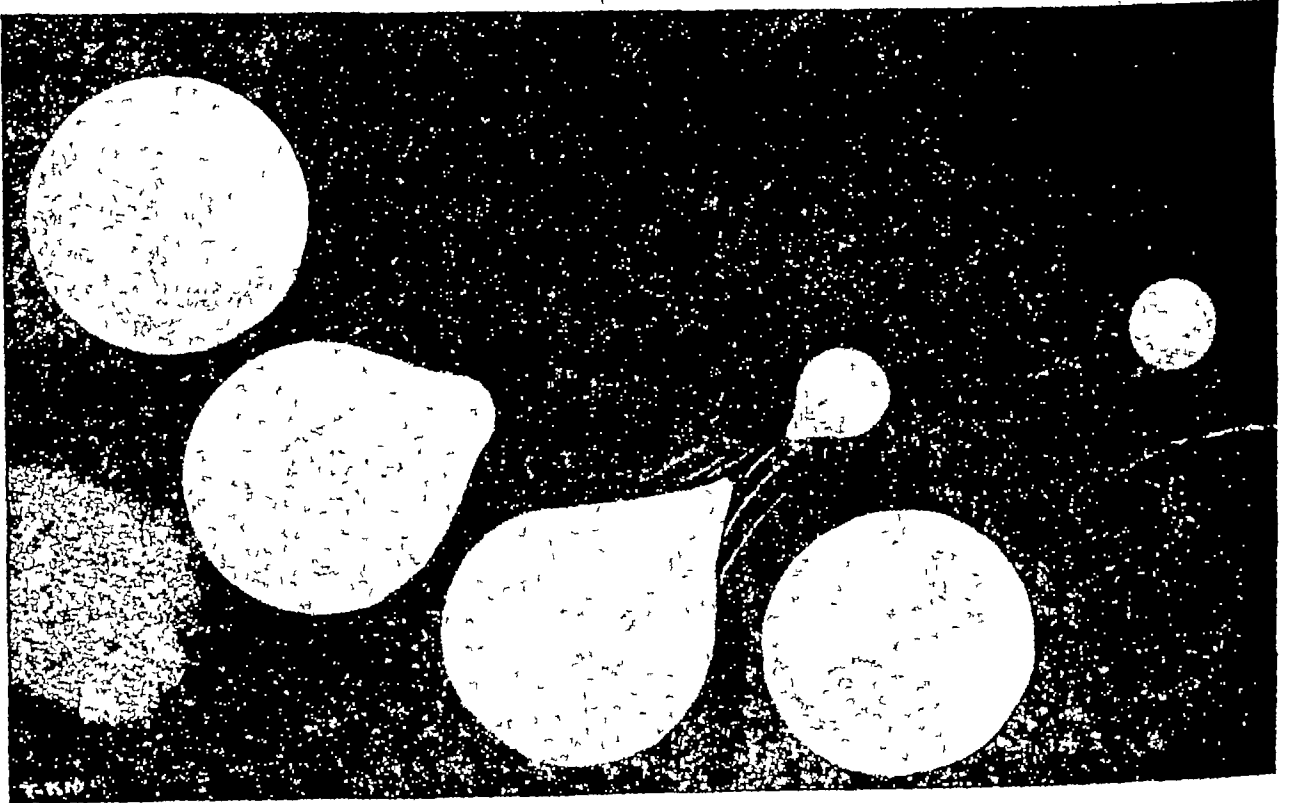
चन्द्रमा का जन्म

आधुनिक वैज्ञानिकों के अनुसार पृथ्वी से चन्द्रमा का जन्म हुआ है। लगभग एक अरब वर्ष पूर्व पृथ्वी का उच्चत गोला घूमते-घूमते नाशपाती की शक्ल का होने लगा। उसका उभरा हुआ अंश टूटकर अलग हो गया और उसके आस-पास चक्कर लगाने लगा। यही हमारा चन्द्रमा है।

इस्पात पिघला हुआ होने के कारण यदि कहीं पपड़ी टूट जाय तो पिघला हुआ इस्पात ऊपर आ जाता है। इस भट्टी के इस्पात को ठण्डा होने और जमने में कई दिन लगेंगे। धीरे-धीरे मैला तो इतना ठण्डा हो जायगा कि आप उस पर आसानी से हाथ रख सकते हैं और चढ़कर घूम सकते हैं परन्तु इसको खोदने पर भीतर गर्मी रहेगी और अधिक खोदने पर बहुत सम्भव है कि किसी स्थान पर यदि इस्पात अभी ठण्डा न हो पाया हो तो वह अब भी धधकता-सा दीख पड़ेगा।

वैज्ञानिकों का विश्वास है कि पृथ्वी भी इसी प्रकार धीरे-धीरे ठण्ढी होकर वर्तमान रूप को प्राप्त हो गई है। आरंभ में यह भी पिघली हुई धातुओं और पत्थरों का एक भीषण कड़ाहा सा था। इस धातुपिण्ड का मैला ऊपर आकर धीरे-धीरे जमकर कठोर हो गया। यही पृथ्वी के चिप्पड़ के रूप में हमें दिखाई देता है। धातुएँ आदि अधिक समय तक पिघली दशा में रहीं और इसलिए उनके ठण्डे होने में देर लगी। पृथ्वी के गर्भ में सम्भवतः अब भी ऐसी दशा हो कि यह पिघला हुआ पदार्थ अभी पूर्णतया ठण्डा न हो पाया हो और धीरे धीरे ठण्डा होकर जमकर कठोर बन रहा हो। वैज्ञानिकों ने खोज से यह सिद्ध किया है कि पृथ्वी के चिप्पड़ का घनत्व पृथ्वी के गर्भ के पदार्थ की अपेक्षा कम है। अर्थात् पृथ्वी का चिप्पड़ गर्भ के पदार्थ से हल्का है। इस विषय का पूर्ण विवेचन हम आगे के किसी अध्याय में करेंगे। यहाँ यह कह देना पर्याप्त है कि पृथ्वी के गर्भ का घनत्व बहुत कुछ लोहा, इस्पात, निकिल, प्लैटिनम आदि धातुओं के समान है और पृथ्वी के चिप्पड़ का घनत्व लगभग उतना ही है, जितना धातुओं के मैले का अधिकांश होता है। एक उल्लेखनीय बात यह भी है कि पृथ्वी के चिप्पड़ के पदार्थ में जो तत्त्व पाये जाते हैं वे अधिकांश में वही हैं जो धातुओं के गलाने से जो मैला बनता है उसमें पाये जाते हैं। ये बातें इस सिद्धान्त की पुष्टि करती हैं कि आरम्भ में पृथ्वी की दशा किसी बड़ी भट्टी में पिघलती हुई धातु के समान ही थी।

पृथ्वी का चिप्पड़ किस तरह बना होगा

इसका सजीव उदाहरण हमें आज भी प्रकृति की रसायनशाला में ज्वालामुखियों द्वारा उगले हुए द्रव पदार्थ की सिकुड़न और दरारों में मिलता है। इस चित्र में एक बड़े ज्वालामुखी की उगली हुई लावा की जमती हुई पपड़ी का अंश दिखाया गया है।

हम ऊपर बता चुके हैं कि जब धातु के मैले की पपड़ी जम जाती है तो वह चिकनी सपाट नहीं होती। भीतर धातु के बराबर खौलने से पपड़ी में जगह-जगह फफोले और दरारें पड़ जाती हैं। ये फफोले और दरारें पपड़ी के ठंढी होने और कड़ी होने पर वैसे ही बनी रहती हैं। दरारों के भीतर धातु आकर जम जाती है। वैज्ञानिकों का विश्वास है कि पृथ्वी पर जो निचाई-ऊँचाई, पर्वत घाटियाँ, तथा सागर और मैदान दिखाई देते हैं ये सब मैले की पपड़ी के फफोले और दरारों के समान ही बने। पृथ्वी का चिप्पड़ बिल्कुल मैले के समान ही धीरे धीरे जमकर कड़ा हुआ है, इसलिए इसमें भी उसी के समान आरम्भिक फफोले और दरारें बन गईं। कालान्तर में ये फफोले बड़े-बड़े पर्वतों के रूप में परिवर्तित हो गए और दरारों में जल भर गया, जिससे नदियों, झीलों और सागरों तथा महासागरों की उत्पत्ति हुई। परन्तु इस अवस्था तक पहुँचते-पहुँचते

पृथ्वी पर जो अजीब विपत्तियाँ आईं, वे उल्लेखनीय हैं।

जब पृथ्वी का पिण्ड इतना ठण्ढा हो गया कि उसके ऊपरी तल पर १२०० दर्जे की आँच रह गई, तो ऊपर की पपड़ी जमकर कठोर होना आरम्भ हुई। जब आँच घटते-घटते २७० दर्जे तक पहुँची, तो भयानक दबाव के कारण उस समय के वायुमण्डल के जल की वाष्प कुछ-कुछ घनी होने लगी और पानी बनने लगा। ये दिन बड़े ही भीषण थे। सारी धरती गली हुई धातुओं आदि का एक महान् भीषण कड़ाहा था, जिसकी धधकती हुई आँच आकाश में बहुत ऊँचे तक पहुँचती थी। बिजली कौंध रही थी। बादल कड़क रहे थे। धरती काँप रही थी। ज्वालामुखी उबले पड़ते थे। ज्यों-ज्यों आँच घटती जाती थी, त्यों-त्यों धातुओं के बादल द्रव बनकर बरसने लगते थे। धरती का पदार्थ आधे गले हुए पत्थरों और चट्टानों का बना था और उन्हीं धधकती लपटों के ऊपर पिघली हुई धातुओं और पत्थरों की भयानक अग्निवर्षा होती थी। आँच कुछ नरम होने पर जलवर्षा शुरू हुई।

जल बरसते ही भाप बन जाता था और उड़ जाता था। धीरे-धीरे चन्द्रमा के स्थान पर जो गड्ढा हो गया था, उसमें जल भरने लगा। वह जल भयानक रीति से खौलता था। उसका तापक्रम १५० दर्जे से कम न रहा होगा। परन्तु उस समय का वायुमण्डल अत्यन्त घना था और उसके भीषण दबाव के कारण पानी आजकल के १०० दर्जे के बदले लगभग २०० दर्जे पर उबलकर भाप बनता था। जल से वह गड्ढा भरने लगा। बढ़ते-बढ़ते इस पानी का भीषण सागर लहराने लगा। बढ़ते-बढ़ते इस सागर ने सारी धरती को ढक लिया। यह जल अत्यन्त उत्तप्तावस्था में था। इधर भीषण उछाल और लहरें खाता हुआ यह जल पृथ्वी को पीड़ित किये था, उधर मेघ धरती पर निरन्तर छाये रहते थे। लगातार धुआधार वर्षा होती थी। लाखों वर्ष तक इसी तरह जल उबलने और बरसते रहने से आँच धीरे-धीरे घटती गई।

धरती के ऊपर चारों ओर जल-ही-जल था। यह जल धरती के बहुत-से पदार्थों को अपने में घुलाता जाता था। बहुत से नये पदार्थ भी जमा होते जाते थे। इस प्रकार धरती के पिण्ड के बहुत-से भाग का पदार्थ जल में घुल जाने से वह स्थान खाली हो गया और वहाँ जल भर गया। बहुत-सी जगह जल में घुल न सकी, इसलिए वह ऊँची रह गई। उस समय अनन्त देश में धरती की आँच बड़ी तेज़ी से बिखरती जाती थी। परन्तु साथ ही सिकुड़ने के कारण धरती के तल की आँच प्रचण्ड होती जाती थी। यह क्रिया आज तक जारी है। परन्तु दोनों क्रियायें उन दिनों की उग्र अवस्था से आज परिमाणतः बहुत घटी हुई हैं।

इस प्रकार धीरे-धीरे जल के ऊपर थल दिखाई देने लगा। उस समय बादल तो धरती पर निरन्तर छाये ही रहते थे और मूसलाधार वर्षा भी होती थी, साथ ही आँधी और तूफ़ान भी बड़े वेग से चलते थे। भूकम्प और ज्वालामुखी अलग पृथ्वी को पीड़ित किये थे। धीरे-धीरे भूकम्प, ज्वालामुखी और जलवर्षा घटी और सूखी भूमि निकलने और कड़ी पड़ने लगी। धरती के निरन्तर सिकुड़ने और जल में अनेकों पदार्थों के घुल जाने से पृथ्वी नीची-ऊँची और ऊबड़-खाबड़ हो गई। दूध पर की मलाई की तरह का चिप्पड़ कुछ मोटा हो गया। उसके भीतर दहकती हुई आग, पिघली हुई चट्टानें और बिलकुल गर्भ के भीतर की अत्यन्त घनी और उत्तप्त लोहे की वायु भरी हुई रह गई। इसमें अब भी निरन्तर भयानक तूफ़ान उठते रहते हैं, जिनसे धरती का ऊपरी चिप्पड़ कहीं-कहीं और कभी-कभी आजकल भी काँप जाता है।

सूखी धरती धीरे-धीरे बढ़ने लगी। जो भाग जल में घुल नहीं सका, वह जमकर कड़ी चट्टानों के रूप में रह गया। इन चट्टानों पर निरन्तर वर्षा होने से जल की धारायें बड़े वेग से नीचे की ओर बहती थीं और उसी के साथ-साथ चट्टानें कट-कटकर बालू और मिट्टी के रूप में समुद्र में पहुँच जाती थीं। कालान्तर में ये मिट्टी और बालू फिर कड़ी चट्टानों के रूप में जल के बाहर पर्वत बनकर निकल आते थे। ये क्रियायें आज भी जारी हैं। आगे के अध्यायों में हम बतायेंगे कि किस प्रकार जलवायु, नदियाँ, झीलें, सागर, वायु, जल आदि पृथ्वी के चिप्पड़ को निरन्तर बनाने और बिगाड़ने की क्रिया में संलग्न हैं, जिससे जल-स्थल का उलट-पुलट निरन्तर होता रहता है।

धरातल का विकास बहुत धीरे-धीरे और अत्यन्त सुदीर्घ काल में हुआ। वैज्ञानिकों का अनुमान है कि पृथ्वी पर एशिया और जम्बूद्वीप ही सबसे प्राचीन महाद्वीप हैं, जिस पर जीवन की सृष्टि आरम्भ हुई। पृथ्वी की जीवनी की लम्बी कहानी को प्रकृति स्वयं चट्टानों पर अंकित करती जाती है। इसीसे हमें उसका कुछ पता लगता है। इन चट्टानों पर अंकित कथा को पढ़ने के लिए इन चट्टानों की बनावट आदि का ज्ञान होना आवश्यक है। यही भूगर्भ-शास्त्र की सबसे पहली सीढ़ी है। आगे के अध्यायों में हम इसी ओर क़दम बढ़ायेंगे।

पृथ्वी गोल है

पिछले अध्याय में धरातल की वर्त्तमान रूपरेखा का सामान्य रूप से दिग्दर्शन करते हुए हमने कहा था कि पृथ्वी का आकार गोल है, वह चिपटी नहीं है जैसा कि हज़ारों वर्षों से लोग मानते चले आ रहे हैं। धरातल के स्वरूप का अध्ययन करने के लिए निश्चित रूप से यह जान लेना आवश्यक है कि पृथ्वी का आकार कैसा है और इसके क्या प्रमाण हैं। इस छोटे-से प्रकरण में इसी विषय पर प्रकाश डाला गया है।

पृथ्वी का धरातल चिपटा नहीं है, यह कई प्रकार से सिद्ध किया जा सकता है। उदाहरण के लिए अगर हम समुद्र के किनारे पर खड़े होकर सामने की ओर जाते हुए जहाज़ को देखें तो पता चलेगा कि पहले-पहल जहाज़ का पेंदा धीरे-धीरे हमारी आँखों से ओझल होने लगता है, पेंदे के बाद जहाज़ के बिचले हिस्से की बारी आती है और अन्त में ऊपरी सिरा या मस्तूल भी क्षितिज मे मिलकर अदृश्य हो जाता है। अगर पृथ्वी का धरातल गोल न होकर चिपटा होता तो पहले पहल जहाज़ का पेंदा हमारी नज़र से ग़ायब न होना चाहिए था। वैसी हालत में, सबसे पतला हिस्सा होने के कारण पहले जहाज़ का मस्तूल ही आँखों से ओझल होता और पेंदे की बारी अन्त में आती। जहाज़ का पेंदा अदृश्य हो जाने के बाद किसी चट्टान या टीले के सिरे पर चढ़कर देखने से वह फिर दिखायी पड़ता है। ये बातें तभी हमारी समझ में ठीक-ठीक आती हैं, जब कि हम यह मान लेते हैं कि जहाज़ को जिस धरातल से होकर गुज़रना पड़ता है, उसका स्वरूप सपाट नहीं वर्तुलाकार है। (देखिए पृष्ठ १६० के चित्र में नं० १)

पृथ्वी के धरातल के वर्त्तुलाकार होने का दूसरा प्रमाण यह है कि धरातल से हम जितना ही अधिक ऊँचा उठते हैं, हमारा क्षितिज भी उतना ही अधिक विस्तृत होता जाता है। अगर हम समुद्र के किनारे खड़े होकर अपनी आँखों को पृथ्वी की सतह से ६ फ़ीट की ऊँचाई पर रखते हुए देखें तो हम सामने तीन मील तक देख सकते हैं, परन्तु अगर हम किसी ऐसे टीले पर चढ़ जाएँ जो पृथ्वी के धरातल से ६६ फ़ीट की ऊँचाई पर हो तो हमें १० मील तक दिखायी दे सकता है। अगर हम और भी ऊँचे चढ़कर समुद्र के किनारे के धरातल से १८६ फीट ऊँचे किसी प्रकाशस्तम्भ पर खड़े होकर सामने नज़र दौड़ायें तो क्षितिज की दूरी १५ मील की मालूम होगी। अधिक ऊँचाई पर चढ़कर देखने से क्षितिज का बढ़ते जाना वर्त्तुलाकार धरातल में ही सम्भव है, समतल में नहीं।

पृथ्वी के धरातल के वर्त्तुलाकार होने का तीसरा प्रमाण हमें जल के सतह पर किये गये निम्नलिखित प्रयोग में मिलता है। तीन खम्भों को आपस में एक-एक मील का अंतर देकर जल में एक पंक्ति में इस प्रकार रखिए कि जल के ऊपर निकले हुए उनके सिरे लम्बाई में बराबर हों। अब अगर एक दूरबीन के सहारे इन्हे इस तरह देखा जाय कि पहले और तीसरे खम्मे के सिरे ठीक एक सीध में हों तो हमें मालूम होगा कि बीच का खम्भा इन दोनों से बढ़ा है। इसका कारण यही है कि पानी की जिस पट्टी पर ये खम्भे खड़े किये गये हैं, उसका धरातल एकदम समतल नहीं बल्कि वर्त्तुलाकार है। दूसरी कोई बात शंका का समाधान नहीं कर सकती। (देखो उक्त चित्र में नं० ५)

पृथ्वी के धरातल के गोलेपन का एक सबूत यह भी है कि जब कभी भी चन्द्रग्रहण होता है तो चन्द्रमा के ऊपर पृथ्वी का जो प्रतिबिम्ब पड़ता है वह हमेशा गोलकार होता है। अगर पृथ्वी का आकार गोल न होकर किसी दूसरे ढंग का होता तो चन्द्रमा पर पड़नेवाली उसकी छाया भी गोलाकार न दिखलायी पड़ती। (देखो उक्त चित्र में नं० २)

पृथ्वी के गोलाकार होने के सम्बन्ध में यह दलील अक्सर दी जाती है कि कोई आदमी पृथ्वी के किसी भी बिन्दु से रवाना हो और सीधा चलता जाय तो वह पृथ्वी की भी परिक्रमा करता हुआ फिर उसी स्थान-बिन्दु पर पहुँच जायगा। परन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि पृथ्वी का धरातल नारंगी की तरह गोल अर्थात् वृत्ताकार है; इससे सिर्फ़ इतना ही साबित होता है कि यह चिपटी न होकर वर्तुलाकार है। अगर पृथ्वी को लौकी की शक्ल का मान लें तो भी यह सम्भव है कि एक निश्चित बिन्दु से यात्रा आरम्भ करके सीधे चलता हुआ व्यक्ति फिर निश्चित बिन्दु पर ही लौट आए।

पृथ्वी के धरातल के गोल होने का सबसे सरल और सबसे बढ़िया सबूत तो यह है कि क्षितिज के धरातल में हमेशा उतने ही अंश के कोण का परिवर्त्तन होता है जितना कि हमें पृथ्वी के धरातल पर एक स्थान से दूसरे स्थान की यात्रा में लगता है। चाहे हम किसी भी दिशा को या किसी भी स्थान से चलना आरम्भ करें, जितनी दूर हम पृथ्वी की सतह पर चलेंगे क्षितिज में कोण का परिवर्त्तन ठीक उसी के हिसाब से होगा।

चूंकि तारे हमारी पृथ्वी से बहुत ही अधिक दूरी पर हैं, इसलिए यदि पृथ्वी गोल न होकर चौरस होती तो हमारे यात्रा करते समय तारे हमेशा एक ही दिशा में बने रहते। पर चाहे जिस किसी दिशा में भी हम यात्रा क्यों न करें, हम देखेंगे कि नये नये तारे लगातार हमारी आँखों के सामने आयेंगे। यह पृथ्वी की गोलाई का प्रमाण है। (चित्र में नं० ४)। अंत में रिक्रो नामक विद्वान् ने समुद्र पर गोल सूर्य के अण्डाकार प्रतिबिम्ब को देखकर गणित द्वारा अंतिम रूप से सिद्ध कर दिया है कि पृथ्वी का धरातल गोल है; क्योंकि ऐसा होना वर्तुलाकार धरातल पर ही संभव है। (देखिए चित्र में नं० २)।
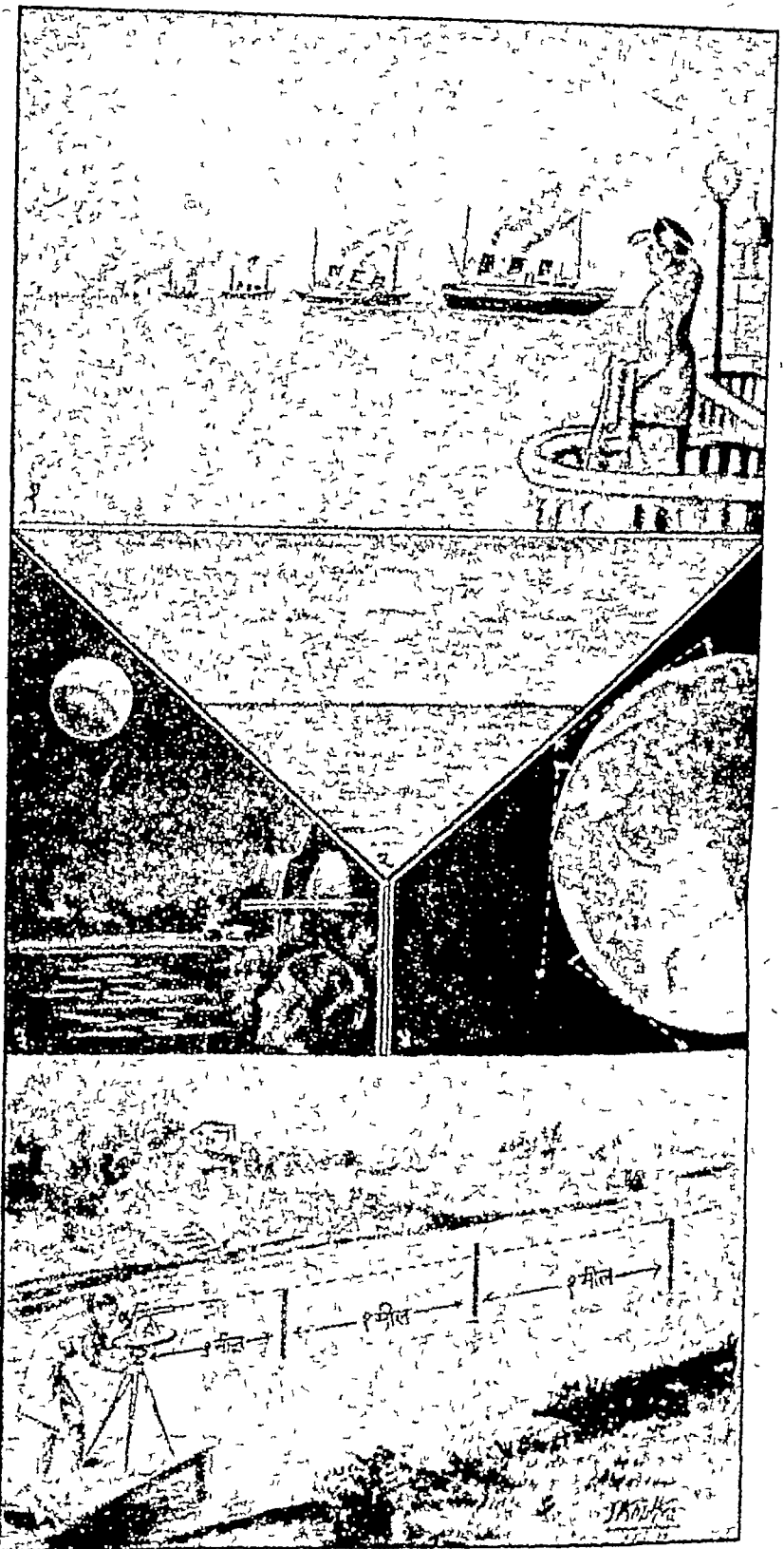
पृथ्वी के गोल होने के कुछ प्रमाण (देखिए पृष्ठ १५६-१६०)
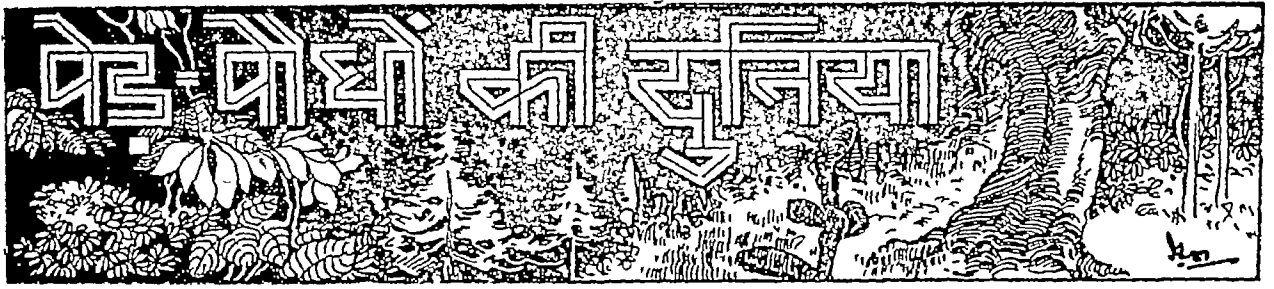
वनस्पति-संसार और उसके मुख्य भाग

पेड़-पौधों से हमारा संबंध

पिछले प्रकरण में वर्णन किया जा चुका है कि दूसरे जीवों की भाँति पेड़ भी सजीव हैं। इनमें भी खाने-पीने, बढ़ने और सन्तानोत्पादन का सामर्थ्य है। इस प्रकरण में आप देखेंगे कि पशुओं की भाँति इनमें भी अनेक जाति-उपजातियाँ हैं—इनमें भी कुटुम्ब और परिवार हैं।

वनस्पति-जगत् का विस्तार

पेड़ पौधों की दुनिया का प्रसार अत्यन्त विस्तीर्ण है। पृथ्वी पर करोड़ों पेड़ हैं। अब तक हमें लगभग तीन लाख जाति के पेड़ों का पता लग चुका है और दिन पर दिन नये-नये पौधों का पता लगता है। आकृति की समानता और विभिन्नता तथा जीवन-प्रणाली के अनुसार इन्हें अलग अलग भागों में पृथक् किया जाता है।

सबसे पहले लोगों का ध्यान साधारण पौधों की ओर ही आकर्षित हुआ। उन्होंने देखा कि कितने ही पेड़ हैं जो अत्यन्त दृढ़, बहुत ऊँचे और सैकड़ों क्या हज़ारों वर्ष जीवित रहनेवाले हैं। इसके विपरीत कितने ही पौधे अत्यन्त कोमल, नन्हें और अल्पायु होते हैं। इसी अन्तर के आधार पर उन्होंने पौधों के बूटे (Herbs), झाड़ (Shrubs) और वृक्ष (Trees) ये तीन भेद माने।

बूटियों की शाखायें कठीली नहीं होतीं और इनका आकार भी बहुधा कुछ इंचों से अधिक नहीं होता। इनमें से अधिक तो एक या दो मौसम के ही मेहमान होते हैं। कोई-कोई तो, जिन्हें अल्पायु बूटे (ephemeral Herbs) कहते हैं, चंद सप्ताहों में ही अपनी जीवन लीला का नाटक समाप्त कर देते हैं। ऐसे पौधे मौसम में दो-तीन बार उगने और फूल-फल देने के बाद समूल नष्ट हो जाते हैं। कुछ वर्षीय (annual) बूटे हैं। ये मौसम में एक बार उगते हैं और कई महीने तक जीवित रहने के बाद फिर बीज और फल को छोड़ विलीन हो जाते हैं। हमारी खेतीबारी के अनेक पौधे—गेहूँ, चना, तरोई, करेला, तथा बहारी पौधे, जैसे फ्लाक्स (*Phlox*), पेटूनिया (*Petunia*), गुलमेंहदी (देखो चित्र १) इत्यादि इसी भाँति के हैं। इसी तरह कुछ द्विवर्षीय (biennial) पौधे होते हैं और कुछ ऐसे जो किसी न किसी प्रकार कई वर्ष तक जीवित रहते हैं। ये बहुवर्षीय बूटे हैं। बहुवर्षीय बूटों की वायुवर्ती शाखें कोमल होती हैं, परन्तु ज़मीन के अन्दर के भाग चाहे जड़ हों या तने, कठीले होते हैं। अदरक, हल्दी, कैना, ज़िमी

चित्र १—गुलमेंहदी
वर्षा ऋतु का एक फुलवाड़ियों का पौधा।
[फ़ोटो—श्री राजेन्द्र वर्मा शिठोले]

चित्र २—जिमीकन्द या सूरन

इससे प्रायः सभी परिचित होंगे। यह कंद के लिए लगाया जाता है। [फोटो—श्री रा० व० शिठोले]

चित्र ३—सावनी

गुलाबी और सफ़ेद फूलोंवाले इस झाड़ को प्रायः बगीचों में किनारे-किनारे लगाते हैं। [फोटो श्री रा० ब० शिठोले]

या सूरन (देखो चित्र २) आदि की इन्हीं में गणना है।

झाड़ और वृक्ष दोनों ही के तने और शाखें कठीली होती हैं और इसलिए ये सर्दी-गर्मी सहन कर सकते हैं। ऐसे पौधे वर्षों जीवित रहते हैं। झाड़ वृक्षों से छोटे परन्तु बूटे से बड़े होते हैं। चाँदनी, सावनी (देखो चित्र ३) गुलाब, अनार, अंगूर, मेंहदी जैसों की गिनती झाड़ में है।

वृक्षों के सम्बन्ध में कदाचित् अधिक बताने की आवश्यकता न होगी। आम, जामुन, नीम, सागौन, देवदार, बरगद, सेमर, गुलमोहर (Gold Mohar) (देखो चित्र ४) जैसे अनेक पेड़ों से आप परिचित हैं। इनमें से कई तो सैकड़ों फीट ऊँचे और हज़ारों साल जीनेवाले हैं। कैलीफोर्निया के सिकोया (*Sequoia gigantia*) के सम्बन्ध में, जो चीड़ और देवदार के भाई-बन्धुओं में है, कहा जाता है कि इस जाति के कुछ पेड़ चार हज़ार वर्ष से भी अधिक आयुवाले हैं। अमेरिका में इसी समूह का टैक्ज़ोडियम (*Taxodium mucronatum*) नामक एक पेड़ है, जिसकी आयु का अनुमान पाँच हज़ार वर्ष से भी अधिक किया जाता है। इस पेड़ के तने का घेरा ५० फीट से भी अधिक है। हमारे देश के पेड़ों में देवदार, बरगद, सेमर और सागौन बहुत आयुवाले होते हैं।

उद्भिज जगत् के चार मुख्य भाग

उपर्युक्त राशिकरण सबसे पुराना अवश्य है, परन्तु यह पौधों की रचना तथा समानता आदि से कुछ सम्बन्ध नहीं रखता। इसकी नींव पेड़ों की आयु तथा डीलडौल पर ही है, उनके यथार्थ लक्षणों पर नहीं। इसलिए जैसे-जैसे वनस्पति-विज्ञान की उन्नति हुई, इसमें लोगों को दोष दिखाई देने लगे। अब वे अधिक दिनों तक दुनिया के तमाम पेड़ों को इन तीन मनमाने खण्डों में विभक्त कर सन्तुष्ट न रह सके। उन्होंने भाँति भाँति के पेड़ों की रचना और जीवन का अध्ययन किया और उन्हें नीचे दिये चार मुख्य भागों में अलग किया।

सपुष्पक पौधे—नग्नबीज और गुप्तबीज

सबसे पहली श्रेणी में आम, गुलाब, सेब, मटर, घास, बाँस, चीड़, देवदार जैसे हज़ारों पेड़ हैं। इनमें जड़, तना, पत्ती, फूल, फल और बीज, सभी अंग स्पष्ट हैं। इन्हें सपुष्पक अथवा फूलवाले (Flowering) पौधे कहते हैं। फूलों और बीजों का होना इनकी विशेषता है (देखो चित्र ५)। नग्नबीज (Gymnosperms) और गुप्तबीज या छिपे बीज (Angiosperms) इनके दो भाग हैं।

नग्न बीज के फल प्रायः शुण्डाकार (Cone) होते हैं (देखो चित्र ६)। इनमें बीज खुले रहते हैं (देखो चित्र ७)। इस समूह के प्रायः सभी पेड़ बहुवर्षीय, सदापत्री (Evergreen) तथा कठीले होते हैं। इनकी लगभग ५०० जातियाँ हैं। चीड़ (देखो चित्र ८), देवदार,

चित्र ४—गुलमोहर वृक्ष

इस वृक्ष में लाल रंग के सुहावने फूल आते हैं। [फ़ोटो—श्री रा० व० शिठोले]

चिलग़ोज़ा, सरो, सिकोय्रा, टैक्सोडियन आदि इन्हीं में हैं। इस जाति के पौधे से लोबान, तारपीन, लकड़ी आदि कई ज़रूरी चीज़ें मिलती हैं।

गुप्तबीज (Angrosperms) में रजोबिन्दु, जो पकने पर बीज हो जाते हैं, गर्भाशय में बन्द होते हैं (देखो चित्र ६)। इनमें अनेक प्रकार के पेड़ हैं। अब तक लगभग दो लाख जाति के गुप्तबीज पौधों का पता लग चुका है। बनावट और रहन सहन के अनुसार इनमें कई भेद हैं। निःसन्देह इस जाति के पौधों से ही हमारा अधिक प्रयोजन रहता है। वन, उपवन, खेत, ऊसर, तड़ाग, मैदान, पर्वत घाटी आदि सभी स्थानों में यही पेड़ दिखाई देते हैं। सच बात तो यह है कि वर्त्तमान काल में उपयोगिता तथा प्रधानता के विचार से वनस्पति संसार में सबसे गौरवपूर्ण यही पेड़ हैं। इस समूह के पौधों के डील-डौल में बड़ा अन्तर है। कुछ वुल्फिया (*Wolffia*) (पानी में रहनेवाली एक प्रकार की बूटी, जिसे हम "काई" कहते हैं, और जो वर्षा ऋतु में पोखरों में होती है।) जैसे आलपीन के मत्थे से भी छोटे होते हैं। (देखो चित्र-१०); और कुछ बरगद, सेमर, सागौन, यूकैलिप्टस (*Eucalyptus*) जैसे सैकड़ों फीट ऊँचे होते हैं। आगे चलकर हम फूल-वाले पौधों के विषय की अनेक बातों पर विचार करेंगे।

टेरीडोफ़ायटा, पर्णांग और उनके भाई-बन्धु

वनस्पति जगत् की दूसरी श्रेणी में टेरीडोफायटा (Pteridophyta) हैं, जिनको आपने कदाचित् फुल-वाड़ियों और पहाड़ पर देखा होगा। इनमें पर्णांग

चित्र ५—गुलमोहर का फूल
[फ़ोटो—श्री विद्यासागर शर्मा]
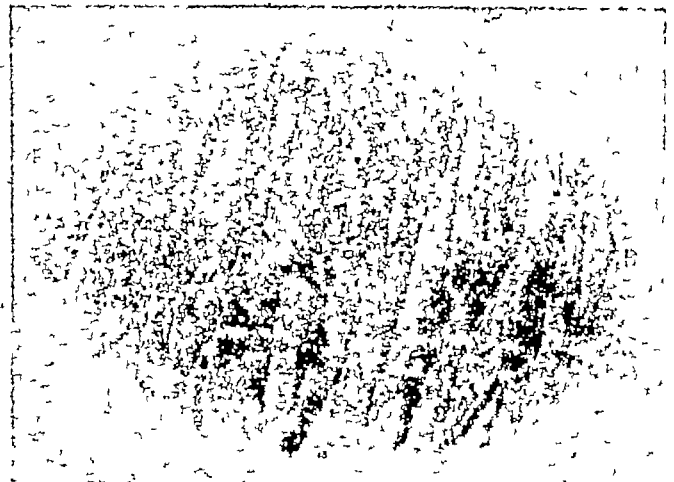
चित्र ६— देवदार का शुण्डाकार फल (Cone)
[फ़ोटो—श्री दी० मा० शर्मा।]

चित्र ७—कुछ नग्नबीजी पौधों के बीज

इनमें बीज गर्भाशय के अंदर बन्द नहीं है। ऊपर की पंक्ति में बाईं ओर से पहला साइकस (Cycas), दूसरा यनसिफेलार्टस (*Encephalartus*) और तीसरा ज़ेमिया (*Zamia*) है। नीचे के तीन चित्रों में पहले देवदार के कोन-स्केल के साथ बीज दिखाये गये हैं, दूसरे में आधा कोन-स्केल तोड़ दिया गया है और तीसरे में बीज अलग दिखाये गये हैं। [फोटो—श्री वि० सा० शर्मा।]

चित्र ८ चीड़ का पेड़

इस चित्र में वृक्ष का सिरा ही दिखाया है।

(Fern) (देखो चित्र ११) और उनके भाई-बन्धु इक्वीज़ीटम (*Equisetum*), सिलेजीनेला (*Selaginella*) (दे० चित्र १२), लायकोपाड्स (*Lycopods*) आदि है। पर्णाङ्ग नि.सन्देह आपके बगीचों में होंगे। इनकी पत्तियाँ बड़ी सुन्दर और मनोहर होती हैं। इसी कारण लोग इन्हें वाटिकाओं में लगाते हैं। ये छाया और तरी के पौधे हैं। हिमालय व दक्षिण के पश्चिमी घाट और नीलगिरि पर्वत के जगलों में ये अधिकता से होते हैं। दार्जिलिंग, शीलांग, नैनीताल और उटकमंड जैसे-स्थानों पर तो आपने सैकड़ों जाति के पर्णाङ्ग देखे होंगे। मैदान की लू और गर्मी ये नहीं सह सकते, इसीलिए इन्हें यहाँ जीवित रखने के लिए इनकी ओर विशेष ध्यान देना पड़ता है। फलवाले पेड़ों की तरह इनमें भी जड, तना और पत्ते स्पष्ट होते हैं, परन्तु फूल, फल या बीज नहीं होते। सम्भव है, आपको इस पर कुछ आश्चर्य हो कि जब इनमें बीज नहीं होते तो बीजों का काम कैसे होता है। इन पौधों की उत्पत्ति कैसे होती है। इस विषय में इन पौधों की जीवन-लीला अनोखी है। इनमे बीजों का काम रेणु (Spore) से होता है। अगर आप किसी भी साधारण पर्णाङ्ग की पत्तियाँ ध्यान से देखें तो एक न एक समय इनकी पीठ पर आपको नन्हें-नन्हें भूरे या हल्के हरे रग के बहुत दाने मिलेंगे (दे० चित्र १३)। खुर्दबीन से देखने पर आपको यहाँ पर एक ढक्कन के नीचे छोटी-छोटी अनेक डिबियाँ (Sporangia) मिलेंगी, जिनके अन्दर आपको एक प्रकार की धूल-सी वस्तु मिलेगी। यही धूल स्पोर्स हैं (दे० चित्र १४)। इन पेड़ों में यही बीज का काम देते हैं। अन्य फर्न और उनके भाई-बन्धुओं में भी स्पोरैंजिया और स्पोर होते हैं। इस श्रेणी के पौधे वर्तमान काल में डीलडौल में बहुत छोटे होते हैं और कुछ वृक्ष-पर्णाङ्गों (Tree Ferns) को छोड़ तीन या चार फीट से अधिक ऊँचे नहीं होते; परन्तु आज से करोड़ों वर्ष पूर्व डिवोनियन काल (Devonian Age) में, जब इस जाति के पेडों की संख्या अधिक थी, इनमें से कोई-कोई सैकड़ों फीट ऊँचे होते थे। उस समय इन्हीं का राज्य था। कार्बनकाल (Carboniferous Age) में भी बहुत-से पर्णाङ्ग थे और साथ साथ पर्णाङ्ग जैसे और भी अनेक पेड़ थे जिनमें बीज होते थे। हमारी खानों का कोयला इन्हीं की बदौलत है। परन्तु अब ये पेड़ कहाँ हैं? विश्व परिवर्त्तनशील है। प्रकृति में दिन प्रतिदिन परिवर्त्तन होते रहते हैं। करोड़ों वर्ष की बात है, पृथ्वी पर महान् परिवर्त्तन हुए। ये पेड़ अपनी रचना को परिस्थिति के अनुकूल न बना सके और इसीलिए जीवन सग्राम में पराजित हो असफल रहे। अब इनके केवल जीवावशेष (Fossils) रानीगंज तथा अन्य स्थानों में रह गये हैं। लायकोपोडियम (*Lycopodium*)
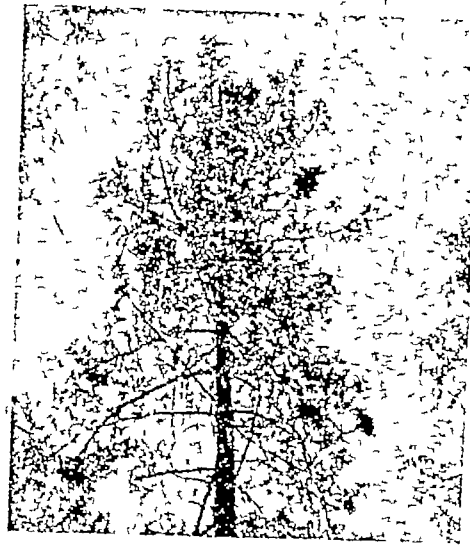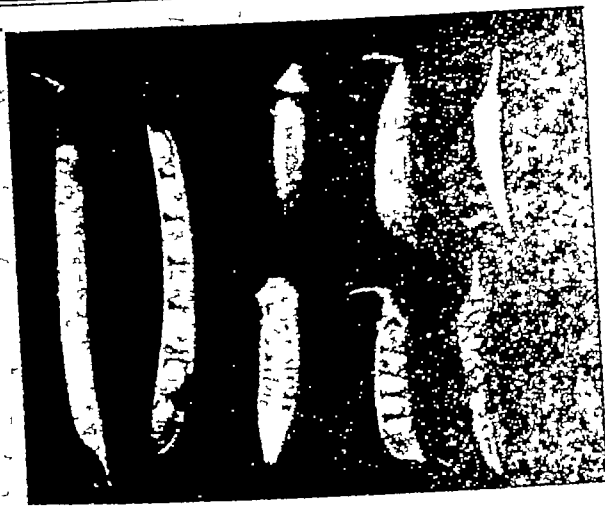
चित्र ९—गुप्तबीज पौधों के कुछ फल

साथ-साथ फल को बीच से फाड़कर बीज दिखला दिए गये हैं। चित्र ७ से तुलना कीजिए। इस चित्र में क्रमशः बाईं ओर से दाहिनी ओर को सेम, भिण्डी, मटर और लाल मिर्च तथा उनके बीज दिखाये गये हैं।
[फोटो—श्री वि० सा० शर्मा।]

चित्र ११—नेफ्रोलीपिस, एक पर्णांग
[फोटो—श्री वि० सा० शर्मा।]

चित्र १०
वुल्फिया
यह पानी का एक उद्भिज है। यह चित्र खुर्दबीन की सहायता से लिया गया है। पौधे का आकार चित्र के अन्दर के सफेद चिह्नों से प्राय: कुछ ही बड़ा होगा।
[फोटो—श्री वी० सा० शर्मा]
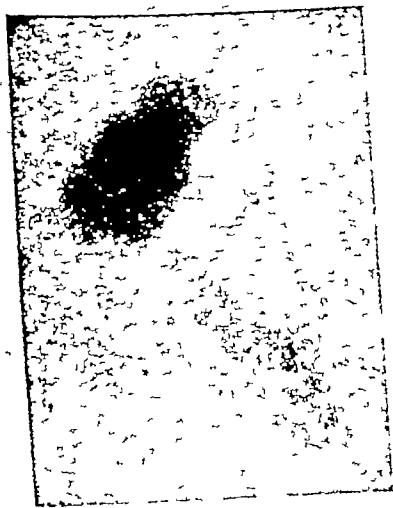
और इक्वीज़ीटम (*Equisetum*) भी एक प्रकार से पतन की ओर ही जा रहे हैं। असम्भव नहीं कि समय के चक्र में ये भी विलीन हो जायँ। इन पौधों की कहानी बड़ी रोचक है और आगे चलकर इनके सबंध में कुछ साधारण बातों का वर्णन किया जायगा।

नलिकायुक्त और नलिकाहीन पौधे

आप देखते है कि पूर्वकथित दोनों ही श्रेणी के पौधों में जड़, तना और पत्ती स्पष्ट होती हैं। इनके हर एक हिस्से मे नसें (Veins) अथवा नलिकायें हैं, जिनमे होकर खाद्य रस का संचार होता है। इन नसों को हम पत्तियों में सरलता से देख सकते हैं (दे० चित्र १५)। यही नली इनको ढट्ठर बनाती है और इनमें पशुओं की नसों और अस्थिपञ्जर (Skeleton) का काम देती है। इन दोनों श्रेणी के पौधों को नलिकायुक्त (Vascular) पौधे कहते हैं। इनके अलावा आपने कुछ ऐसे पौधे भी देखे होंगे, जिनमें नसें नहीं होतीं। इन्हें हम नलिकाहीन (Non vascular) या बिना नसों के पौधे कह सकते हैं। वनस्पति जगत् में इनका वही स्थान है जो जन्तु जगत् में पृष्ठवंश-विहीन (Invertebrate) पशुओं का है। शेष के दो समूह, ब्रायोफ़ायटा (Bryophyta) और थैलोफ़ायटा (Thallophyta) इसी तरह के हैं। इनकी बनावट बड़ी सरल होती है।
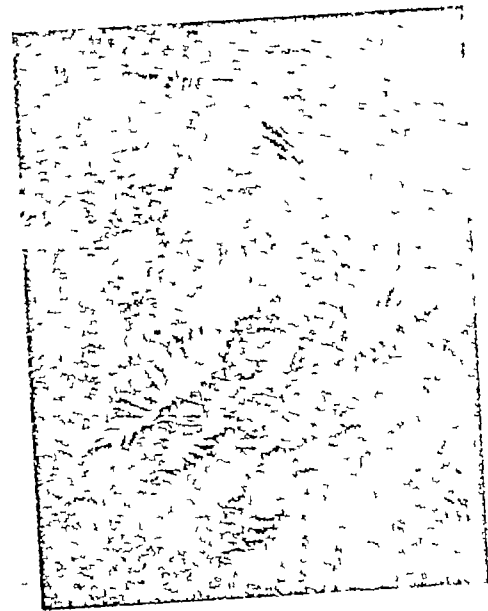
ब्रायोफ़ायटा—मॉस और लिवरवर्ट

ब्रायोफ़ायटा (Bryophyta) में मॉस (Moss) (दे० चित्र १६-१७) और लिवरवर्ट (Liverwrot) (दे० चित्र १८) दो विभेद हैं। मॉस समूह के समस्त जाति के पौधों में और कुछ लिवरवर्ट में पत्तियाँ होती हैं और जड़ों के स्थान पर महीन रोएँ होते हैं, परन्तु इनमें और साधारण पेड़ों की पत्तियों में बड़ा अन्तर होता है। कुछ लिवरवर्ट की बनावट में पत्तियों आदि का अन्तर नहीं होता। इनके पौधे फीते या पत्ती जैसे इंच दो इंच के या इससे भी छोटे होते हैं। ऐंजियोस्पर्म्स और टेरीडोफ़ायट्स की भाँति इस समूह के पौधे भी स्थलवासी होते हैं, परन्तु तरी और
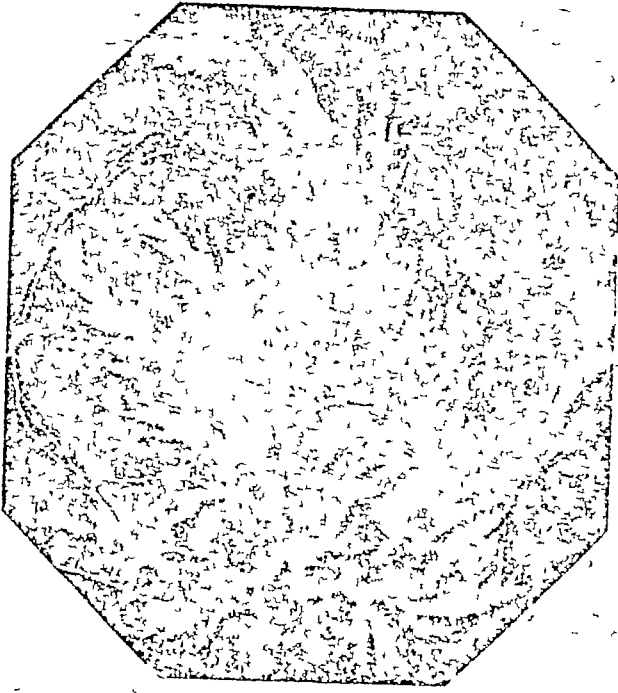
चित्र १२—सिलैजीनेला
[फ़ोटो—श्री वि० सा० शर्मा ।]

चित्र १३—नेफ्रोलीपिस की पत्रक
यह फुलवड़ी के एक साधारण पर्णाङ्ग नेफ्रोलीपिस की पत्रक का पृष्ठ की ओर से लिया गया फ़ोटो है। इसमें नन्हें - नन्हें काले दाने सोराई (स्पोरेंजिया का समूह) हैं, जिनके अंदर ढकन से सुरक्षित स्पोरेंजिया होती हैं। बाईं ओर के सबसे नीचे के दाने से ढकन हटा दिया गया है। स्पोरेंजिया दिखाई दे रहे हैं।
[फ़ोटो—श्री वि० सा० शर्मा ।]

प्रेमी। पर्णाङ्ग की भाँति इनके भी बीज नहीं होते और बीज का काम स्पोर से ही होता है। हमारे देश में यह बूटे अधिकतर पहाड़ों पर ही उगते हैं। वर्षा के दिनों में यहाँ पर यह सोतों और चश्मों के किनारे, पानी की धाराओं के निकट, पेड़ों की डालों व चट्टानों पर अधिकता से मिलते हैं। इनमें से कोई-कोई, विशेषकर कुछ मॉस, तो इतने घने उगते हैं कि जिस स्थान पर ये उगते हैं उसको अच्छी तरह ढक लेते हैं। पूर्वी हिमालय तथा पश्चिमी घाट के कई स्थानों पर, जहाँ साल में १०० इंच से अधिक वर्षा होती है, इस जाति के कुछ पौधे अन्य पेड़ों की पत्तियों पर भी उगते हैं। आर्थिक विचार से इस समूह के पौधे हमारे किसी भी काम के नहीं, लेकिन विवर्त्तन (Evolution) की दृष्टि से या पौधों की गुप्त लीलाओं को जानने के हेतु इनका स्थान अत्यन्त गौरवपूर्ण है। समय आने पर इनके गोपनीय रहस्यों पर प्रकाश डाला जायगा।

थैलोफ़ायटा—शैवालादि, छत्राक और बैक्टिरिया

पेड़-पौधों की अन्तिम श्रेणी में थैलोफायटा (Thallophyta) हैं। इस समूह के पेड़ों की बनावट बड़ी ही सरल होती है। न जड़, न तना, न पत्ती अथवा फूल-फल। कोई भी अंग स्पष्ट नहीं, फिर भी खाते-पीते और जीवों की भी लीलाएँ करते हैं। समुद्र शैवाल (Seaweeds) (देखो चित्र १६) तथा अन्य शैवाल (Algæ) तथा छत्राक (Fungi) और बैक्टिरिया (Bacteria) इसी समूह के हैं।

शैवालादि (Algæ)

आप में से जिन्हें समुद्र के किनारे घूमने का अवसर मिला है, उन्होंने कभी-कभी लाल, भूरे, हरे रंग के कुछ बूटे पानी के अन्दर चट्टानों से चिपटे अवश्य देखे होंगे। इनमें से अधिकतर शैवालों में से होते हैं। हमारे पास-पड़ोस के तालाबों व नदियों तथा नालियों में जो आप हरी-नीली कितनी ही जाले-सी काइयाँ देखते हैं वे भी इन्हीं में हैं। (देखो चित्र २०-२१)। वर्षा में तो आसपास की दीवालों, पेड़ों और गुसलखानों व गमलों अथवा सड़कों पर हरे-नीले रंग की अनेक काइयाँ जम जाती हैं। तालाबों व पोखरों में जो आप कभी-कभी हरा पानी देखते हैं, वह भी बहुधा इस जाति के आँख से ओझल बहुत छोटे जीवों की उपस्थिति के ही कारण होता है। क्लैमाइडोमोनस (*Chlamydomonas*) नाम का उद्भिज इनमें से एक है। (देखो चित्र २२)। यह कितना छोटा होता है, आप आसानी से अनुमान नहीं कर सकते। एक बूँद पानी में इसके असंख्य तैरते रहते हैं। कैसी निराली रचना है!
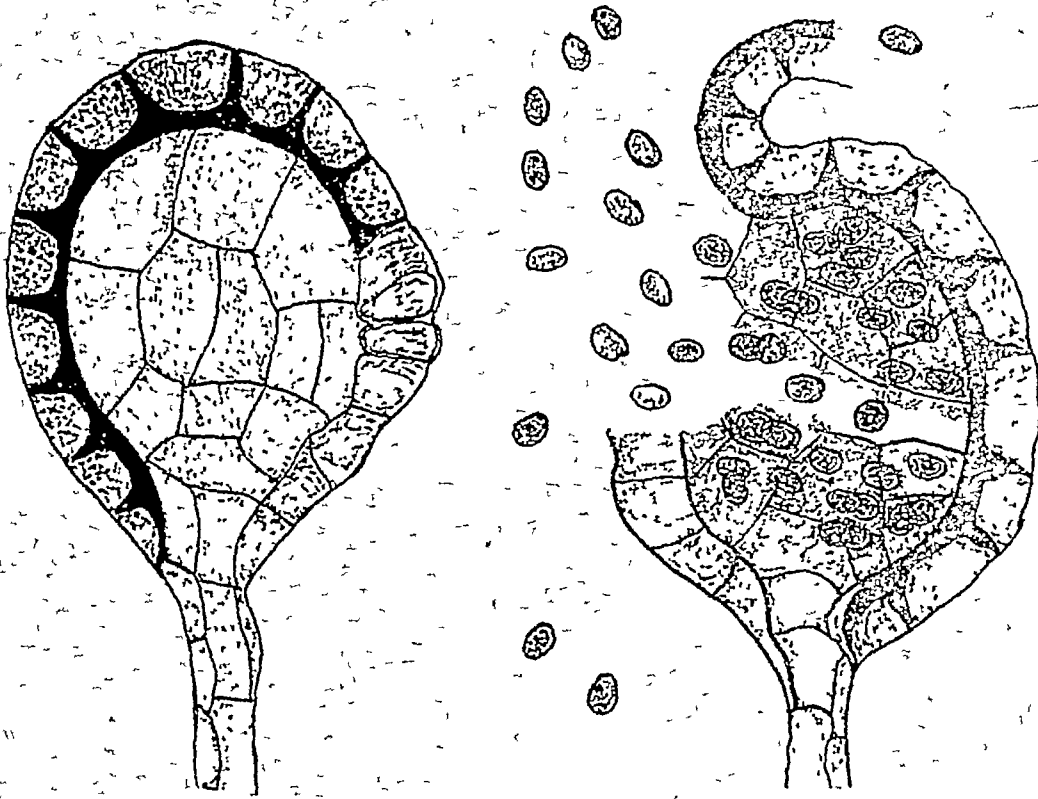
चित्र १४—स्पोरेंजिया और स्पोर्स

बाईं ओर परिपक्व स्पोरेंजियम है जो अभी चिटकी नहीं है। दाहिनी ओर चिटकी हुई स्पोरेंजियम का चित्र है। स्पोर्स या रेणु दूर-दूर बिखर रहे हैं। [चित्र—लेखक द्वारा]

फिर भी इसकी जीवनकला उतनी ही निपुण है, जितनी किसी अन्य पौधे की। समय आने पर हम इस अनोखी सृष्टि की कहानी भी बयान करेंगे।

छत्राक (Fungi)

ऊपर वर्णित काइयों के अलावा धरती के फूल (देखो चित्र २२), कुकुरमुत्ते, गुच्छी (*Morchella*) गगन धूलि (Geaster), फफूँदी, यीस्ट (Yeast), जिनकी गिनती छत्राक में है, तथा बेक्टिरिया भी थैलोफ़ायटा में हैं। बरसात में सड़ती हुई लकड़ी, फल व अन्य वस्तुओं पर अथवा मल या गोबर, खाद आदि के ढेर पर आपने अनेक छत्राक देखे होंगे। इस जाति के बूटे बिना किसी के सहारे अपना जीवन-निर्वाह नहीं कर सकते और अन्य वृक्ष, जानवर अथवा सड़ी-गली चीज़ों पर ही इनका जीवनाधार है। कितने ही परोपजीवी (Parasitic) छत्राक हमारी खेती-बारी के पौधों पर धावा करते हैं। हमारे गेहूँ की पकसिनिया (*Puccinia*) और बाजरे का स्मट (Smut) इन अनेक में से हैं। पकसिनिया की बदौलत आज हमको भारतवर्ष में लाखों रुपये की हानि पहुँचती है। अमरीका की यूनाइटेड स्टेटस् में अख़रोट की व्याधि से, जो एक प्रकार के छत्राक से होती है, लाखों रुपये का घाटा होता है। यह व्याधि न्यूयार्क के पास-पड़ोस में सबसे प्रथम १६०४ में शुरू हुई। थोड़े ही दिनों में इसका प्रकोप चारों ओर फैल गया और १६०६ तक में वहाँ की सरकार के अनुमान के अनुसार इस रोग से लगभग सात करोड़ पचास लाख रुपये का नुक़सान पहुँचा। अनेक छत्राक हमारी प्रयोजनीय लकड़ी को नष्ट कर देते हैं। आप लोगों ने जंगलों में घोड़े की टाप अथवा डबलरोटी जैसे छत्राक कभी-कभी देखे होंगे (दे० चित्र २४)। ये इन पेड़ों को बड़ी हानि पहुँचाते हैं। इनका अदृश्य जाल तने और शाखों के अन्दर सारे पेड़ में फैला रहता है, और भीतर-भीतर से उन्हें खोखला और निकम्मा तथा पेड़ को सुखा और गलाकर मौत के घाट उतार देता है। परन्तु यही बात नहीं; सारे छत्राक हानि पहुँचाने वाले ही नहीं होते, कुछ उपयोगी भी हैं। कई जाति के धरती के फूल और गुच्छी जो अधिकतर पंजाब और कश्मीर में होते हैं, स्वादिष्ट होते हैं। इसके अलावा यीस्ट (Yeast) (दे० चित्र २५) शराब और अल्कोहाल (Alcohol) बनाने के काम में आती है। रोटी तथा अन्य चीज़ें बनाने में जो ख़मीर काम में आता है, वह भी यीस्ट ही है।

बैक्टिरिया

बैक्टिरिया के सम्बन्ध में तो आज हर एक न-कुछ अवश्य जानता है। ये जीव २५।
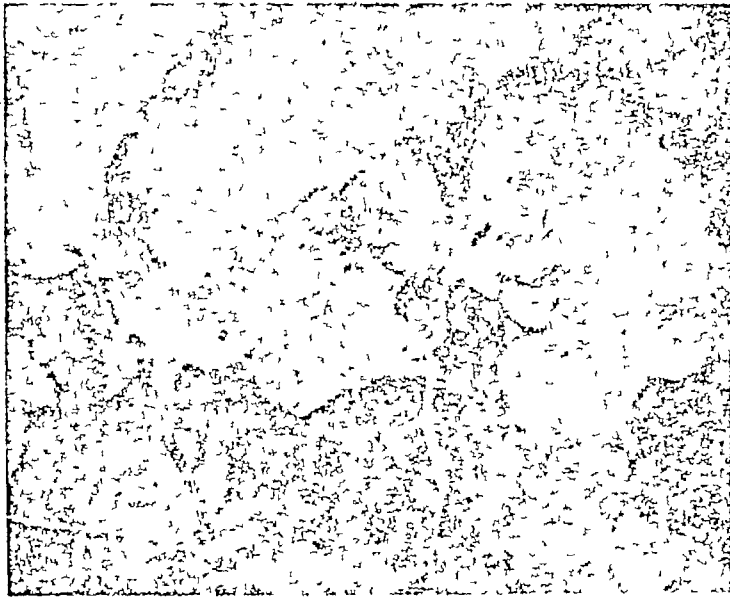
चित्र १५—भिण्डी की पत्ती में नस
इन पत्तियों में नसें साफ़ दिखाई देती हैं। [फ़ोटो—श्री रा० व० शिठोले]
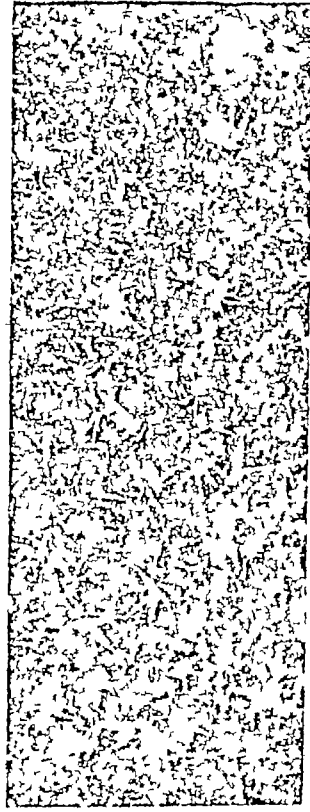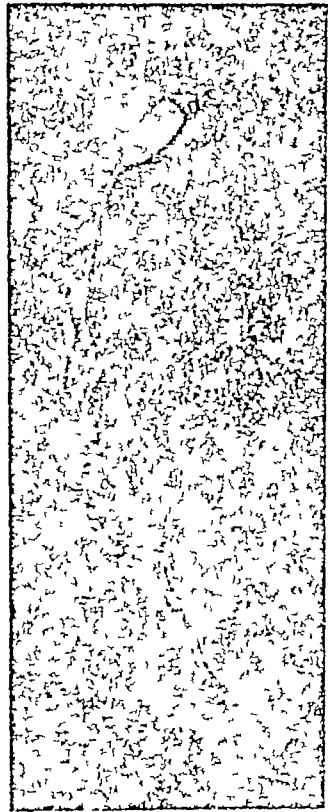
चित्र १६-१७—मॉस (Moss)
दाहिनी ओर साधारण मॉस है, जो वर्षाऋतु में प्रायः पुरानी दीवारों पर उग आती है। बाईं ओर एक विशेष प्रकार की मॉस का चित्र है जिसके सिरे पर स्पोरेंजियम है। [फ़ोटो—श्री वि० सा० शर्मा]

विद्यमान हैं। कोई स्थान ऐसा नहीं जहाँ इनकी पहुँच न हो। सभी जगह ये असंख्य संख्या और नाना रूप में विराजमान हैं। हमारे पीने के पानी में, हवा में, दूध में, दही में, सभी चीजों में भरे रहते हैं। साधारण बाज़ारू दूध के एक क्यूबिक सेंटीमीटर में एक लाख से दस लाख तक बैक्टिरिया हो सकते हैं। सौभाग्यवश ये अक्सर हानिकारक नहीं होते। हमारे दाँतों के मैल में तो हमें झुंड-के-झुंड बैक्टिरिया मिलेंगे। इन जीवों में सबसे निराली बात तो यह है कि पल भर में एक से अनेक हो जाते हैं और साधारण सर्दी-गर्मी का इन पर कुछ असर भी नहीं पड़ता। ये एककोशीय जीव कितने छोटे होते हैं, इसका आप सुगमता से अनुमान भी नहीं कर सकते। इन्हें हम केवल ख़ुर्दबीन से ही देख सकते हैं, सो भी यदि इतनी शक्तिशाली हो कि हमारे सिर के बाल जैसी महीन चीज़ को लट्ठे के समान मोटा कर दिखाये। इनके डील-डौल के विषय में कल्पना करना भी सरल बात नहीं। इनकी आठ-दस हजार की पल्टन एक इंच लम्बे स्थान में एक ही क़तार में आसानी से लम्बी-लम्बी लेट सकती है; फिर भी इनके बीच में आने-जाने के लिए जगह पड़ी रहेगी और यदि कोई इनके सगे सम्बन्धी आ जायँ, तो उनके ठहरने का भी ठिकाना लग जायगा। परन्तु ये जितने छोटे हैं उतने ही खोटे भी। इनकी उपस्थिति का पता हमको प्रायः इनकी करतूत से ही चलता है। (देखो चित्र २६)।

बैक्टिरिया संसार में सृष्टि के आदि से ही विद्यमान हैं; परन्तु ढाई सौ वर्ष से कुछ दिन पूर्व हमको इनका पता भी न था। इस विचित्र सृष्टि का सबसे प्रथम अवलोकन हालैंड निवासी ऐण्टोनी लीवेनहुक (१६३२-१७२३) ने किया था। संसार में एक-से-एक आश्चर्यजनक अनुसंधान हुए। किसी ने नई दुनिया का पता लगाया; तो किसी ने आकाश में दूरबीन की सहायता से ग्रह और तारे ढूँढ निकाले, परन्तु इस हालैंड के बजाज़ लीवेनहुक के अनुसंधान के सामने इन सबकी क्या तुलना! इसने उस अपूर्व सृष्टि का पता लगाया, जिसकी निशस्त्र सेना मानव जाति के संहार में उनकी उत्पत्तिकाल से ही तत्पर है; जिनकी करतूत से कितने ही घरों में पानी का देवा नाम का लेवा न रह गया; जिनके प्रकोप से कितने ही गाँव उजड़ गये, कितनी ही बस्तियाँ वीरान हो गईं; जिनके

चित्र १८—मारकैन्शिया का साधारण पौधा
यह लिवरवर्ट जाति का पौधा है।
[फ़ोटो—श्री वि० सा० शर्मा।]
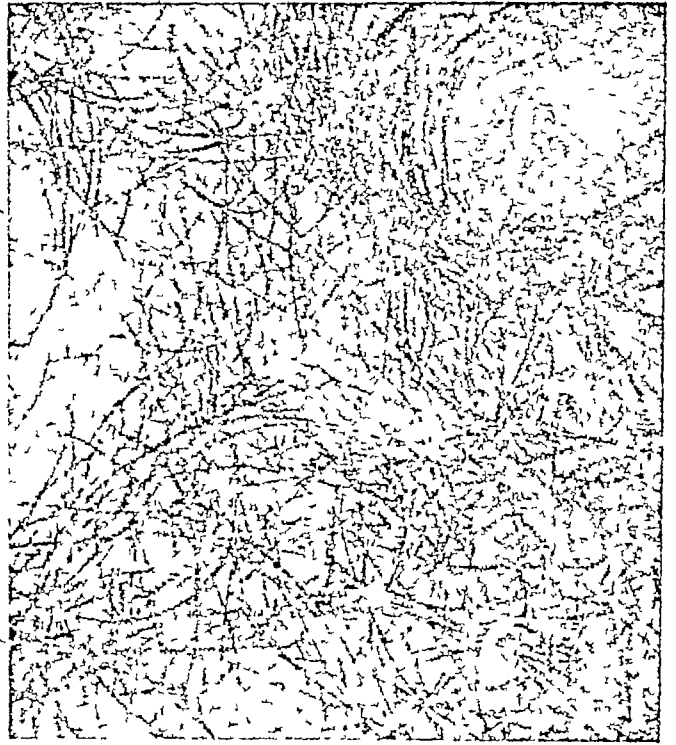
चित्र २०—स्पायरोगायरा
वर्षाऋतु में तालाबों में पैदा होनेवाला बाल से भी महीन एक शैवाल।
[फ़ोटो—श्री वि० सा० शर्मा।]
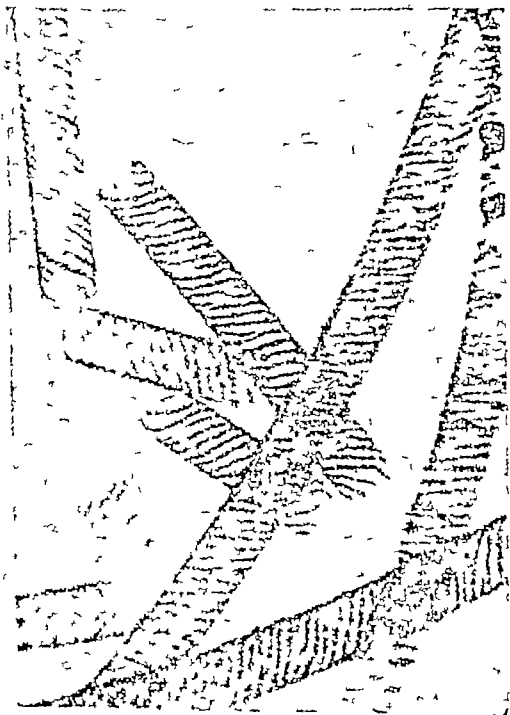
चित्र २१—स्पायरोगायरा के अंदर की झाँकी
यह चित्र खुर्दबीन की सहायता से लिया गया है। चित्र २० में दिखाये गये बाल से भी महीन रेशे यहाँ लट्ठे जैसे दिखाई दे रहे हैं। [फ़ोटो—वि० सा० शर्मा।]

चित्र १९—फ्यूकस
एक प्रकार का भूरी जाति का समुद्र-शैवाल
[फ़ोटो—श्री वि० सा० शर्मा।]
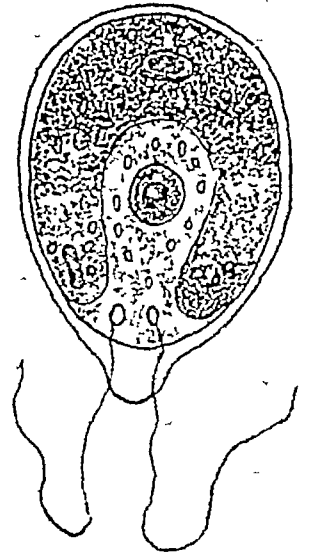
चित्र २२—क्लैमाइडोमोनस
एक एककोशीय शैवाल जो हमारे यहाँ के तालाबों और पोखरों में होता है।
[चित्र—लेखक द्वारा]
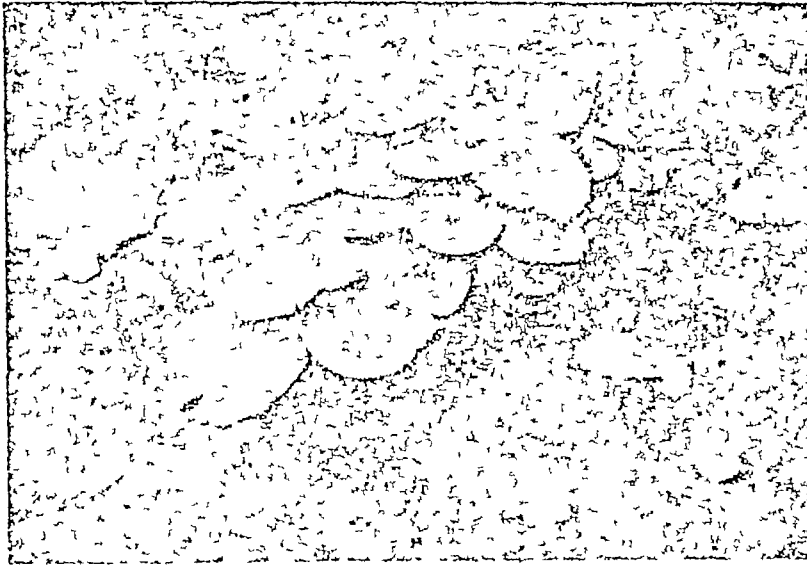
चित्र २३—बगीचे में उगे हुए धरती के फूल
[फ़ोटो—श्री रा० व० शिठोले ।]

चित्र २४—पालीपोरस लकड़ी और पेड़ों पर उगनेवाला एक छत्राक। इससे वृक्षों को बड़ी हानि पहुँचती है।
[फ़ोटो—श्री रा० व० शिठोले ।]

कपट से कितने ही बादशाहों का तख़्त पर बैठे-बैठे चुपचाप ख़ून हो गया; कितने ही पालने में झूलते-झूलते बालकों की गरदनें मरोड़ दी गईं; कितने ही राह चलते बटोही मौत की भेंट चढ़ गये। ऐंटोनी ने उन निर्दयी जीवों को खोज निकाला, जो हमारे बीच में आदि काल से ही विद्यमान हैं, जिनमें हमारे कितने ही शत्रु और मित्र हैं, जिनसे कितनी ही बीमारियाँ और संक्रामक रोग, जैसे हैज़ा, न्यूमोनिया (Pneumonia), तपेदिक़, सूज़ाक, जमोघा (Tetanus) का जन्म होता है; जिनका हमारे कितने ही व्यवसायों और धन्धों में हाथ है; जिनका करामात से ही दही, मट्ठा और कलाट (Cheese) तैयार होते हैं, जो मक्खन को सुस्वादिष्ट बनाते हैं, अल्कोहाल से सिरका तैयार करते हैं और सन को सड़ाते हैं। यथार्थ में जब से हमें बैक्टिरिया का ज्ञान हुआ, हमारे रहन सहन, ज़र्राही (Surgery) और व्यवसायों में बड़ा अन्तर पड़ गया है। हैज़े-जैसे कितने ही संक्रामक रोगों को रोकने के लिए टीका और नश्तर का प्रचार, इनके फैलाव को रोकने के लिए रोगी को औरों से अलग रखना, आदि बातें आज साधारण समझी जाती हैं।

वनस्पतियों से हमारा सम्बन्ध तथा वनस्पति-विज्ञान के सर्वप्रिय होने के कारण

इस वृहत् वनस्पति जगत् से हमारा क्या सम्बन्ध है, इसकी शिक्षा स्कूलों और कालिजों में क्यों दी जाती है, स्त्री-पुरुष इसकी धुन में क्यों लगे रहते हैं, आदि स्वाभाविक प्रश्न हैं, जो आपके हृदय में उठ रहे होंगे। आदि काल से ही मानव विचार शील है। अमुक बात कैसे और क्यों हुई? ऐसे सवालों को सुलझाने को आज छोटे-छोटे बालक भी उत्सुक रहते हैं। यथार्थ में वैज्ञानिक उन्नति की नींव भी इन्हीं प्रश्नों के समुचित उत्तर की खोज पर है। पेड़-पौधों से हमारा बड़ा घना नाता है। पिछले प्रकरण में आप पढ़ चुके हैं कि पेड़ों की भोजन प्राप्त करने की अनोखी रीति ही है, जिसकी बदौलत वायुमंडल में आक्सिजन की मात्रा समान बनी रहती है। अगर ऐसा न होता तो थोड़े ही दिनों में जीवों के साँस लेने के कारण हवा दूषित हो किसी भी जीव के रहने योग्य न रह जाती। तनिक विचार करने से पता चल जायगा कि जन्तु जगत् की उत्पत्ति के पहले पेड़-पौधे ज़रूर रहे होंगे। पौधों के बिना हमारा जीवन कठिन ही नहीं वरन् असम्भव है। यही पशु-जीवन का आधार है। यह बात शाकाहारी पशुओं के लिए जितनी लागू है उतनी ही मांसाहारियों के लिए भी। कहते हैं कि सृष्टि के आदि में जब कि आदमी जंगलों में विचरते थे, कंद, मूल, फल ही इनके भोजन की सामग्री थी। शीघ्र

ही इन्हें जाड़े और धूप से बचने की ज़रूरत हुई और पेड़-पौधों की पत्तियों तथा छालों से यह काम लेने लगे। इसी समय से लंकाशायर के मिलों की बुनियाद पड़ी। आज भी कितनी जंगली जातियाँ हैं, जो छाल व पत्तों से ही वस्त्रों का काम निकालती हैं। धीरे धीरे लोगों ने कपड़े का बुनना सीखा, परन्तु फिर भी वस्त्रों के लिए हम पेड़ों के ही आश्रित रहे। आप जानते हैं कि हमारे अधिकतर कपड़े रुई और पाट से बनते हैं और यह दोनों हमें पेड़ों से ही मिलते हैं। लोगों ने धीरे-धीरे उपयोगी पेड़ों का लगाना और उनकी रक्षा करना सीखा। यहीं से हमारी खेती और बाग़बानी की नींव पड़ी। जैसे-जैसे इनमें उन्नति हुई बढ़िया से बढ़िया तरकारियाँ, अनाज, फल, फूल उगने लगे। तुख्मी आमों

चित्र २५—यीस्ट

जिन्हें करोड़ों की संख्या में ताड़ी पीनेवाले हर घूँट के साथ अपने उदर में पहुँचाते हैं। ये अति सूक्ष्म होते हैं।

चित्र २६—बैक्टीरिया

विविध रूपधारी ये एककोशीय अदृश्य जीव सभी स्थानों और वस्तुओं में करोड़ों की संख्या में रहते हैं। [चित्र—लेखक द्वारा।]

की जगह दसहरी, सफ़ेदे, बम्बई और लँगड़े; झरबेरी बेर की जगह पैवंदी बेर और खट्टे नींबू की जगह नागपुर और सिलहट की नारंगियाँ और संतरे मिलने लगे। आज साधारण गाँव के रहनेवाले भी जानते हैं कि अगर उन्हें गेहूँ, उर्द या दूसरे किसी अनाज की अच्छी फ़सल तैयार करनी है तो उन्हें अमुक नम्बर का ही बीज पूसा, लायलपुर या कानपुर से मँगाकर बोना होगा। यह सब कैसे हुआ? वनस्पतियों के अध्ययन और वनस्पति विज्ञान की यथार्थ उन्नति से। आज कितने ही लोग कटिबद्ध हैं कि साधारण गेहूँ से बड़े दानेवाला, थोड़े समय में पककर तैयार होनेवाला और दूसरी बातों में बढ़कर गेहूँ उपजावें। इसी तरह कोई गन्ने में संलग्न है तो किसी को धान की धुन है। कोई आम की फसल को चिरस्थायी बनाकर उन्हें सुविधा से सुरक्षित और सुस्वादिष्ट सात समुद्र पार लंदन और पेरिस जैसे शहरों में बेचकर लाभ उठाना चाहता है। मतलब यह कि हमें अपनी आर्थिक उन्नति के लिए ही पेड़-पौधों का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है।

भोजन और कपड़ों के अलावा पेड़ों से हमें दूसरी अनेक ज़रूरी चीज़ें भी मिलती हैं। सब तरह के खाद्यपान (विटामिन A, B, C, D, E, F आदि) जिनका हमें पता लग चुका है, या आगे चलकर लगेगा; हमारी जड़ी-बूटियाँ; भिन्न भिन्न बीमारियों की सैकड़ों औषधियाँ, कितने ही बलिष्ठ व पौष्टिक पदार्थ, मेवे और मसाले; मधु और मिश्री; कितने ही मादक और प्राणघातक रस इन्हीं से मिलते हैं। अगर हम कमरे में बैठे-बैठे चारों ओर निगाह दौड़ायें तो हम देखेंगे कि लगभग सभी चीज़ें पेड़ों से मिलती हैं। हमारी क़लम, मेज़, कुर्सी, दरवाज़े, किवाड़े इन्हीं से बने हैं। हमारे लिखने का काग़ज़ भी पेड़ों ही से बनता है। जिस समय लोगों ने लिखना सीखा, वे भोजपत्र और ताड़पत्र पर लिखने लगे। यही नहीं, आज कितने वर्ष बीत जाने पर भी हम लिखने के काग़ज़ के लिए पेड़ों के ही अधीन हैं। हमारे बढ़िया-से-बढ़िया काग़ज़ भी फटे-पुराने चीथड़े और टाट तथा घास बाँस से ही बनते हैं। तरह-तरह के रंग, रबर, लाख, तेल, इत्र, सुगंध आदि भी इन्हीं से मिलते हैं। इसके अलावा रस्सी, नक़ली रेशम, नाइट्रोसेलुलोज़ आदि भी पेड़ों से ही मिलते हैं। ऊपर कहा जा चुका है कि कितने ही पौधे हैं, जिनसे आदमी और दूसरे जानवरों की व्याधियाँ पैदा होती हैं और कितने ही ऐसे हैं, जिनका हाथ हमारे व्यवसायों में है। इसलिए ऐसी वनस्पतियों की जीवनी और रहस्य का जानना हमारे लिए कितना ज़रूरी है, आप स्वयं अनुमान कर सकते हैं।
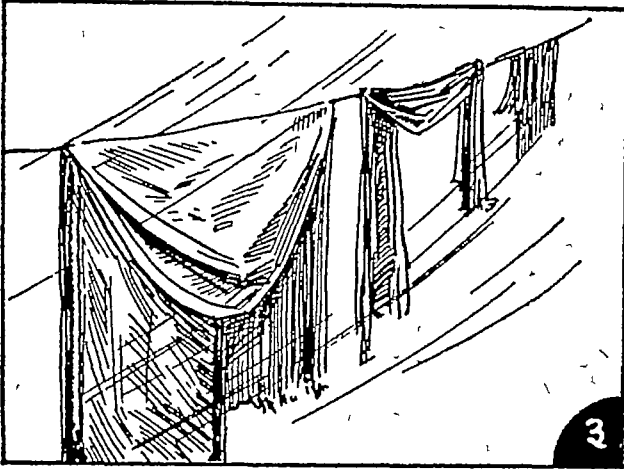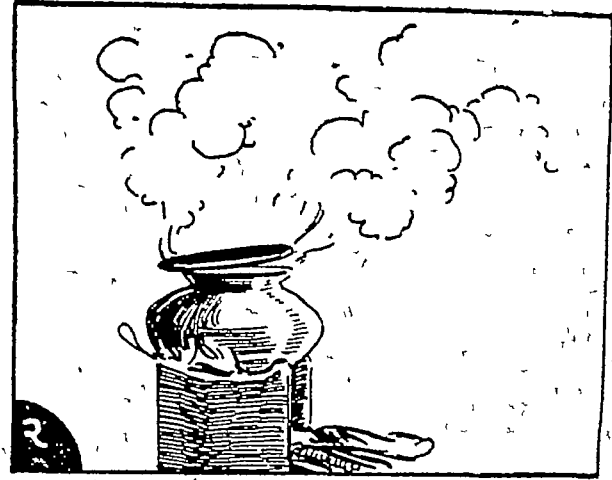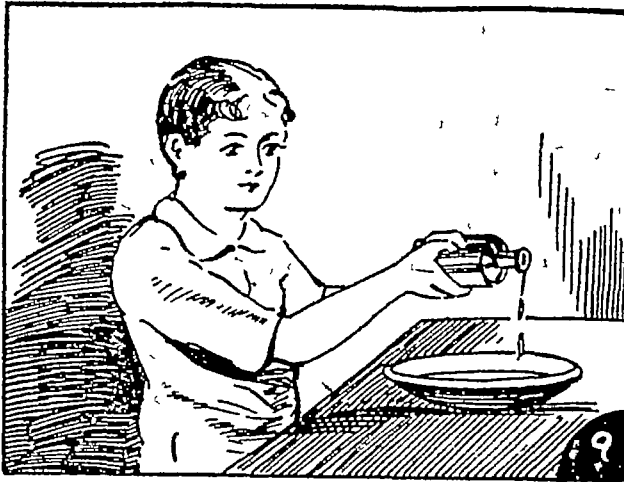
पानी की बूँद के विविध अनुभव

अपने जीवनकाल में पानी की एक ही बूँद न जाने कितने चोले बदलती और तरह-तरह के विचित्र अनुभव करती है। कभी वह अपार महासागर का एक अंश होकर रहती तो कभी भाफ बनकर बादल का रूप ग्रहण कर आकाश में इधर-उधर उड़ने लगती है। तब द्रवीभूत होकर वह फिर से पृथ्वी पर जलबिन्दु के रूप में बरस पड़ती है और किसी नदी-नाले में मिलकर फिर से समुद्र में जा मिलती है, अथवा किसी जीव या वनस्पति के शरीर में पहुँच जाती और धीरे-धीरे फिर भाफ बनकर उड़ जाती है। कभी वह ओस या कोहरा होकर फिर पृथ्वी पर आ पहुँचती है, तो कभी पहाड़ों पर या ठंडे देशों में गिरकर बर्फ़ हो जाती है। ऊपर के चित्र में जल के इन्हीं विचित्र अनुभवों का दिग्दर्शन कराया गया है—(नं० १) द्रव बूँद के रूप में; (२) आग की गर्मी से उबलते हुए तथा भाफ बनकर उड़ते हुए; (३) सूर्य की धूप से भाफ बनकर हवा में मिलते हुए; (४) बादलों के रूप में आकाश में उड़ते हुए; (५) बर्फ़ के रूप में; (६) महासागर का भाग होकर लहराते हुए। (देखिए पृष्ठ १७८-१७९)
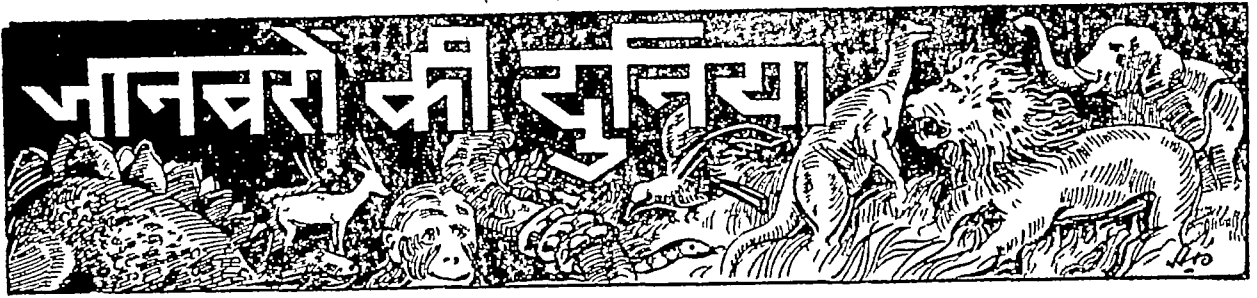
जीवधारियों की मौलिक रचना या जीवन का सार

प्रकृति की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि बाहरी रूप रंग में विविधता होते हुए भी उसके समस्त पदार्थों के मूल में एक ही तत्त्व विद्यमान है। इस प्रकरण में हमें देखना है कि वह कौन-सा तत्त्व है जिसकी मूल भित्ति पर सारे सजीव पदार्थों की सृष्टि हुई है।

पहले परिच्छेद में यह बतलाया जा चुका है कि सजीव वस्तुएँ क्या हैं और सजीव तथा निर्जीव में क्या भेद है। अब हम आपका ध्यान उन मुख्य पदार्थों की ओर ले जाना चाहते हैं, जिन पर सभी जीवधारियों की रचनाएँ निर्भर हैं। पेड़-पौधे और जीव जन्तु दोनों ही सजीव हैं, तब भी हममें से बहुतों को जंतु वृक्षों से वैसे ही भिन्न जान पड़ते हैं जैसे कि सजीव वस्तु किसी निर्जीव वस्तु से। यह कैसे आश्चर्य की बात है कि वनस्पतियों और जानवरों में, जो प्रतिदिन हमारी दृष्टि में आते हैं, अपने आकार, प्रकार और शारीरिक रूप में इतनी विभिन्नता होते हुए भी, वे सब विशेषतायें विद्यमान हैं, जो उनको निर्जीव सृष्टि से अलग करती हैं।

जीवन-मूल क्या है ?

इसका यही कारण प्रतीत होता है कि सारी जीवित वस्तुओं में नन्हें से काई के पौधे से लेकर बड़े-से-बड़े बरगद के वृक्ष तक, तथा छोटे से-छोटे पतिंगे से बलवान् हाथी तक और स्वयं मनुष्य में भी एक अनोखा पदार्थ पाया जाता है, जिससे उनके शरीर का अधिकांश भाग बनता है। इसी विचित्र पदार्थ में, जिसको **जीवन मूल या जीवन-रस** (Protoplasm) कहा जाता है, जीवित शरीर के सब लक्षण पाये जाते हैं। यही वह तत्त्व है जो बढ़ता है; यही वह पदार्थ है जो हिलता डुलता है, और यही वह द्रव्य है जो उत्तेजना पैदा करता है। जीवन कभी जीवन-मूल से पृथक् नहीं रह सकता और न जीवनमूल कभी जीवन से।

यह मूल पदार्थ मामूली सूक्ष्मदर्शक यन्त्र से देखे जाने पर लसदार, चिपचिपा, अण्डे की सफ़ेदी या शहद की तरह गाढ़ा नजर आता है; किन्तु अधिक शक्तिशाली (अर्थात् और भी बड़ा दिखानेवाले) यन्त्र में यह पदार्थ दानेदार मालूम होता है और कभी कभी उसमें छोटे छोटे बहुत-से बुलबुले दिखलाई पड़ते या उसमें बहुत महीन जाल सा बना हुआ ज्ञात होता है। ध्यान देने की बात है कि सब आवश्यक बातों में यह सारे वृक्षों और सारे पशुओं में एक ही सा जान पड़ता है और सबमें ही बहुत छोटे-छोटे टुकड़ों या कणों में प्रत्येक अपने पड़ोसी से झिल्ली या भित्तिका से बँटा हुआ रहता है। जीवन-मूल के इन झिल्ली से घिरे हुए नन्हें नन्हें टुकड़ों को **कोष या कोष्ठ** (Cell) कहते हैं, क्योंकि देखने में ये शहद की मक्खी या बर्र के छत्ते की कोठरियों से लगते हैं। प्रत्येक कोष स्वयं एक छोटी-सी सजीव वस्तु है। यदि आप इस बात का प्रत्यक्ष दृश्य देखना चाहते हैं कि जीवित शरीर में बहुत से नर्म कोष या कोठरियाँ बिना किसी सहारे के किस प्रकार एकत्रित-सब एक दूसरे से मिले हुए परन्तु फिर भी अलग अलग रहते हैं, तो एक बर्त्तन में साबुन का गाढ़ा घोल बनाकर पतली-सी नलिका से फूँकिये। आपको प्याले में झाग उठते हुए दिखलाई देंगे और सारा प्याला साबुन की छोटी छोटी गोलाकार कोठरियों से भरा दृष्टिगोचर होगा।

नाना प्रकार के कोष और उनकी रचना

कोष में जीवन-मूल उस सरल रूप से नहीं भरा होता है जैसे प्याले या ग्लास में चाशनी, शहद या और कोई गाढ़ा द्रव पदार्थ भरा रहता है। वह तो बड़े विचित्र ढंग से प्रत्येक खाने में सजा रहता है और जब तक कोष में प्राण रहते हैं, वह उसमें गति करता रहता है; जैसा कि हम सहज में सूक्ष्मदर्शक यन्त्र द्वारा किसी-किसी (विशेषकर कुछ जल

में रहनेवाले) वनस्पति के कोषों और पानी में रहनेवाले एककोषक अदृश्य प्राणी अमीबा या पेरामीसियम में देखते हैं। पृष्ठ १७५-१७६ पर जो चित्र जानवरों और पेड़ों के भिन्न-भिन्न भागों से निकाले हुए कोषों के दिए गए हैं, उन्हें देखकर आपको ज्ञात हो जायगा कि पशुओं और वृक्षों के सब कोष न तो एक नाप के ही होते हैं और न एक रूप के। कोई सुडौल गोलाकार हैं तो कोई षटकोण; कोई डिबिया या बक्स के समान लंबे चौकोर हैं, तो किसी का आकार टेढ़ा-मेढ़ा, चारों ओर नुकीला है; किसी में रोयें हैं तो किसी में नहीं; किसी की भित्ति या खलड़ी मोटी है तो किसी की पतली; किसी में भाँति-भाँति के ठोस पदार्थ भीतर तैरते हुए साफ दिखलाई पड़ते हैं, तो किसी में बहुत कम या बिल्कुल नहीं होते; किन्तु किसी के द्रव पदार्थ में बड़े और किसी में छोटे बुलबुले झलकते नज़र आते हैं।

अधिकांश कोषों के बीचोबीच में अथवा एक ओर को जीवन-मूल का एक छोटा-सा भाग अधिक गाढ़ा और दृढ़ होता है और इसके चारों ओर अपनी अलग कोमल झिल्ली मढ़ी रहती है; मानो एक बड़ी गेंद के अन्दर बहुत सी छोटी-सी गेंद रक्खी हुई हो। पारदर्शक होने के कारण कोष के इस अंक को शेष जीवन-मूल से पहचानना सुगम नहीं। परन्तु जब कोष को उचित रंगों से रँगा जाय तो यह गाढ़ा अंश आस-पास के कोषमूल (Cytoplasm) से चटक हो जाता है और तब सूक्ष्मदर्शक यन्त्र में देखने से उसका साफ़ पता लग जाता है। इस दृढ़ अंश को केन्द्र (Nucleus) या मींगी कहते हैं। यह कोष का राजा है और इसमें पथप्रदर्शक शक्ति पाई जाती है। मानो यह कोषरूपी कारख़ाने का कर्त्ता-धर्त्ता है और जो कुछ उसमें क्रिया-कर्म होते हैं, उनकी देखभाल इसी पर निर्भर है।

बहुधा पेड़ों की कोष-भित्तियाँ जानवरों की से कुछ-न-कुछ भिन्न होती हैं। पेड़ों के कोषों में भित्तियाँ बहुत निश्चित होती हैं और काष्ठोज (Cellulose) नामक वस्तु की बनी होती हैं, जो जीवन-मूल से अधिक दृढ़ होता है। परन्तु उसकी बनावट में नोषजन (नाइट्रोजन) के अलावा सब पदार्थ वे ही हैं, जो जीवन मूल में। लकड़ी, नारियल के खोपड़े, अख़रोट के छिलके और बेर की गुठली बहुत मोटी भित्ति के कोषों से बनी होती है। इन कोषों के भीतर भी एक समय जीवन-मूल भरा था, जो भित्ति को कड़ा और मोटा बनाने में चुक गया। यही कारण है कि देखने में ऐसी सब वस्तुएँ और

जीवधारियों के कोषों की रचना का एक उदाहरण

यदि आप इस बात का प्रत्यक्ष दृश्य देखना चाहते हैं कि जीवित शरीर में बहुत-से नर्म कोष बिना किसी सहारे के किस प्रकार एकत्रित—सब मिले हुए परंतु फिर भी अलग-अलग रहते हैं तो एक बर्त्तन में साबुन का गाढ़ा घोल बनाकर पतली नली से फूँकिए। सारा प्याला झाग के कारण उठे हुए साबुन के गुब्बारों जैसे गोलाकार बुलबुलों से भर जायगा, जिनकी भित्तियाँ एक-दूसरे से कोठरियों की तरह जुड़ी हुई होंगी। शरीर के कोष भी इसी प्रकार के होते हैं।
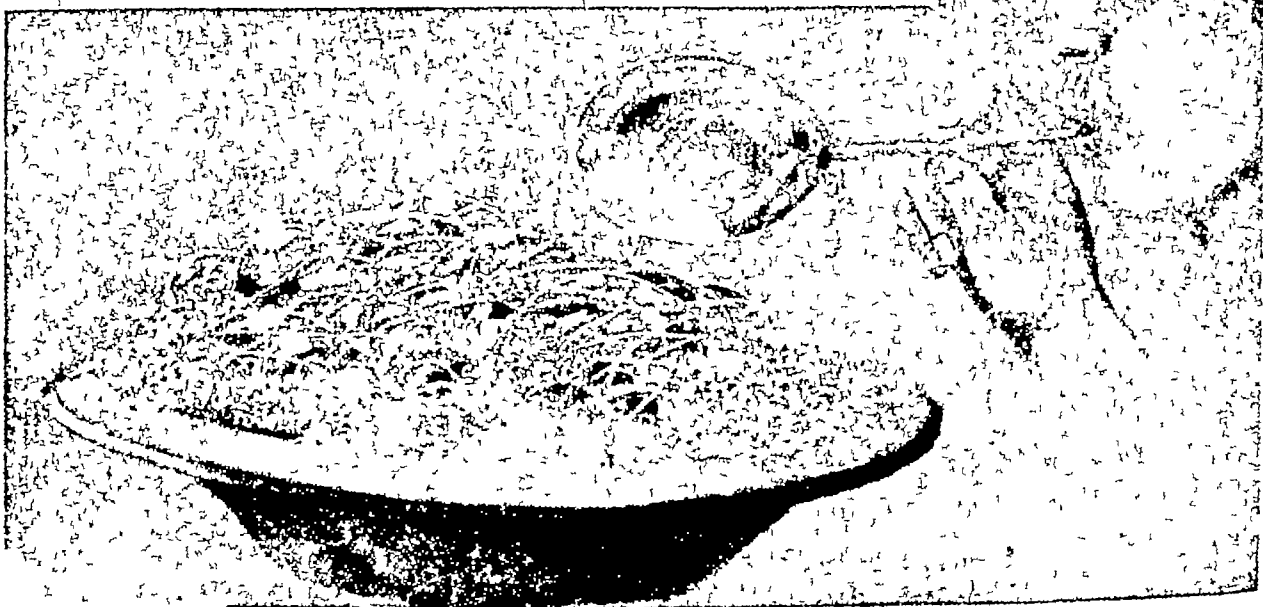
उनके कोष ठोस मालूम पड़ते हैं। अधिकांश पशुओं के कोषों में काष्ठोज की भित्तियाँ नहीं पाई जातीं, किन्तु उनमें उसकी जगह कोषमूल की ऊपरी तह कड़ी हो जाती है और भित्ति का काम देती है। किन्तु कुछ जानवरों में भी कभी ऐसे कोष पाये जाते हैं; जिनमें काष्ठोज की भित्तियाँ होती हैं।

यदि जीवन-मूल एक प्रकार का अर्द्धद्रव पदार्थ है, जो साधारण रीति से महीन झिल्लीवाले कोषों में भरा होता है, तब क्या यह आश्चर्य की बात नहीं है कि कैसे बड़े डीलवाले वृक्ष या जीव सीधे चट्टान की तरह दृढ़ खड़े रहते हैं! यह बात आपको असम्भव जान पड़ती होगी परन्तु आगे चलकर आपकी समझ में आ जायगा कि ऐसा कैसे होता है। रबड़ के गुब्बारे, जो हर एक मेले-तमाशे में बिका करते हैं, कोषों की ही तरह बहुत महीन झिल्ली के बने होने पर भी फूकने से फूल जाते हैं और मुँह बाँध देने पर अपना रूप क़ायम रखते हैं। इनमें से कोई गोल, कोई लौकी-से लम्बे, कोई नासपाती के आकार के होते हैं और जब तक उनमें हवा भरी रहती है, तब तक वे अपना निश्चित आकार क़ायम रखते हैं। भीतर भरी हुई हवा के दबाव के कारण ही इन गुब्बारों की नर्म झिल्ली फूली रहती है और जितनी ही हवा अधिक भरी जाती है, उतना ही गुब्बारा अधिक कड़ा हो जाता है। इसी प्रकार कोषों में भरे हुए जीवन-मूल के प्रभाव से उनकी भित्तियाँ उचित रूप से फूली रहती हैं और वे अपना निश्चित रूप और कड़ापन स्थिर रखती हैं। जहाँ इसके अतिरिक्त अधिक सहायता की आवश्यकता होती है, वहाँ शारीरिक कोष स्वयं निर्जीव पदार्थों से अपने लिए यथार्थ सहायक ढाँचा या चौखटा बना लेते हैं।

जब हमारी दृष्टि किसी जीवधारी पर पड़ती है, तो हमें केवल कोषभित्तियाँ ही दिखाई देती हैं, जिनसे कि वह बना है; हमें जीवनमूल नहीं दिखाई देता। बड़े वृक्षों और जानवरों में शरीर के ऊपरी पर्त (जैसे मनुष्य की खाल, पेड़ों की छाल और घोड़े का चमड़ा) के कोष इस विचार से भरे हुए कहे जा सकते हैं कि उनमें जीवन-मूल नहीं रह जाता, केवल भित्ति ही बची रह जाती है।

वनस्पतियों में मिलनेवाले कोषों में से पाँच प्रकार के कोष

(१) पत्ती की त्वचा या ऊपरी खाल के कोष। इनकी बाहरी भित्तिकायें मोटी होती हैं। (२) स्तम्भाकार कोष, जैसे पत्ती के बीच के भाग में होते हैं। (३) टाईफ़ाईड या मन्थर ज्वर के शलाकाणु कोष जो गति कर सकते हैं। (४) पानी की काई के स्पोर-कोष। (५) ख़मीर बनानेवाले वनस्पति कोष जिनमें से कोपलें फूटती हुई दिखाई दे रही हैं।

कोष कैसे बढ़ते हैं।

हाथी साँप, मक्खी, आम, गुलाब के पेड़ अथवा किसी भी पेड़ या जानवर के शरीर के किसी भी भाग से पतली फाँक उतार लें और सूक्ष्म-दर्शक यन्त्र से देखें, तो हम उसको ऐसे ही कोषों से भरा पायेंगे। अतः वे हमारे शरीररूपी मकान की ईंटें और खपड़े हैं अथवा जीवित वस्तुओं का आधार हैं। हम उन्हें जीवन की एकाई (units of life) कहें तो अनुचित न होगा। परन्तु शारीरिक कोषों और मकान की ईंटों में एक भेद है। वह यह कि ईंटों और खपड़ों को एक के ऊपर दूसरी जोड़ने से मकान बनाया जाता है, लेकिन जीवों के शरीर कोषों को जमा करने से नहीं बन सकते; उनमें तो शरीर ही नित्य नये कोष बनाता रहता है। नाना प्रकार का भोजन, जो जीवधारी ग्रहण करते हैं, उनके शरीर में पहुँच-कर धीरे-धीरे बदलकर नया जीवन-मूल बन जाता है और जीवन-मूल की मात्रा में वृद्धि होती है और कोष का परिमाण बड़ा होता जाता है। यदि यही चाल अनिश्चित रूप से प्रचलित रहे, तो कोष थोड़े समय में बहुत बड़े हो जायँ। परन्तु प्रकृति ने ऐसा होना उचित न समझा। इसलिए जब कोष अपना स्वाभाविक नियुक्त डील प्राप्त कर लेता है, तो उसका केन्द्र दो भागों में विभाजित होकर अपने आस-पास के जीवन-मूल को भी बाँटने लगता है। दोनों के बीच में नई भित्ति बन जाती है और एक बड़े कोष से दो छोटे-छोटे कोष उत्पन्न हो जाते हैं। यह नई

भी पहले की भाँति बढ़ती हैं और अपने समय पर बँटकर दो-दो हो जाती हैं। इसी प्रकार कोषों की संख्या और उनका घनफल बढ़ने से जीवों के अंग और शरीर बढ़ते जाते हैं।

अधिकतर जानवर और पौधे जो हम देखते हैं, उनमें कोषों की संख्या अनिश्चित होती है। उनकी संख्या प्रत्येक व्यक्ति के डील के अनुसार कम या ज्यादा होती है। परन्तु संसार में ऐसे भी पेड़-पौधे और जीव-जन्तु हैं, जिनमें कोष बहुत थोड़े और निश्चित होते हैं। सबसे सादे प्राणियों के शरीर केवल एक कोष के ही बने होते हैं। ये इतने छोटे होते हैं कि सूक्ष्मदर्शक यन्त्र की सहायता के बिना मनुष्य के लिए अदृश्य हैं, परन्तु कुछ ऐसी भी हैं, जिनका आँख से केवल पता भर लग जाता है। ऊँची श्रेणी के सारे प्राणियों का जीवन दो आधारों पर रचा है। प्रत्येक कोष अपना अलग-अलग कर्त्तव्य पालन करते हुए भी ऐसा प्रबन्ध करते हैं कि और सब कोषों से हिल मिलकर प्राणी के स्वस्थ जीवन को स्थिर रखते हैं। मनुष्य-जैसे जटिल-से-जटिल प्राणी भी अपने जीवन की यात्रा एक कोष से आरम्भ करते हैं। अतः हम बेखटके कह सकते हैं कि ऐसा कोई भी जीवधारी नहीं जो किसी-न किसी समय एक कोष की अवस्था अथवा जीवन की एकाई में न पहुँच जाता हो।

जानवरों के कोषों में से पाँच प्रकार के कोष

(६) चपटे पहलदार कोष जो पेट के भीतरी अंगों को मढ़नेवाली झिल्ली में पाये जाते हैं, (७) अस्थि बनानेवाले कोष, (८) चर्बी में पाये जानेवाले कोष जिनमें बीच में चर्बी का बिन्दु दिखाई पड़ता है, (९) वायु-प्रणाली की भीतरी दीवार में पाये जानेवाले महीन रोएँदार कोष, (१०) नाड़ी और मस्तिष्क में पाये जानेवाले नुकीले कोष जिनकी नोकों से लम्बे तार निकले रहते हैं।

शरीर में कोषों का प्रबन्ध

जिस प्रकार हम अपने नगर या बस्ती को एक निश्चित ढंग से मोहल्लों या बाजारों में बाँटते हैं, उसी प्रकार प्रकृति ने भी बहु-कोषीय प्राणियों के शरीरों के कोष भी भिन्न-भिन्न समूहों में बाँट दिये हैं और उनके कर्त्तव्य अलग-अलग निश्चित कर दिये हैं। उचित ढंग से सजाई हुई प्रदर्शनी और मेले में हम देखते हैं कि एक तरह की चीज़ें बेचनेवाली दूकानें एक ही पंक्ति या एक ही जगह होती हैं। कपड़े बेचनेवालों की एक स्थान में, बिसातियों की दूसरे स्थान में और हलवाई तथा अन्य खाने पीने की दूकानों का प्रबन्ध तीसरी जगह रक्खा जाता है। यही बात बड़े-बड़े नगरों में भी होती है। एक प्रकार की बहुत-सी दूकानें एक जगह या बाज़ार में रहती हैं; जैसे, सब्ज़ीमण्डी में तरकारी, नाज की मण्डी में नाज, ठठेरी बाज़ार में बर्तन ही बिका करते हैं। इसी प्रकार हमारे शरीर में भी भिन्न-भिन्न काम करनेवाले कोष भिन्न-भिन्न समूहों में एकत्र हैं। हर समूह में अधिकतर एक ही से कोष होते हैं और उनका एक विशेष काम होता है। ये समूह तन्तु (Tissues) कहलाते हैं। जिस प्रकार सब कपड़ों की बनावट एक-सी नहीं होती—कोई मोटे सूत के बने और खुरदरे होते हैं, कोई महीन सूत के और नर्म होते हैं, कोई बहुत चिकने और रोएँ

दार होते हैं, किसी को हम खादी, किसी को मलमल, किसी को रेशम अथवा किसी को मखमल कहते हैं; इसी प्रकार हमारे शरीर के सब तन्तु भी एक से नहीं होते। अन्य जन्तुओं की भाँति हममें भी शरीर को ढँकनेवाले तन्तु हैं; जैसे चर्म और आँतों के भीतर अस्तर, हड्डियों और कण्डराओं (Tendons) में सहायक तन्तु, यकृत या कलेजे और वृक्क या गुर्दे के ग्रन्थिवाले तन्तु, मस्तिष्क और सुषुम्ना के तन्तु (Nervous tissues)। इसी प्रकार पौधों में ढँकनेवाले तन्तु जड़ों और पत्तियों की खाल में, सहायक तन्तु तने के कठोर भाग में और रस खींचनेवाले तन्तु नेमं गूदे में पाये जाते हैं।

पौधों की तरह खानेवाले जानवर और जानवरों की तरह खानेवाले पौधे

जीवधारियों में समान या भिन्न अगणित कोषों के बहुधा घनिष्ट रूप में इकट्ठे होने से शरीर के भिन्न भिन्न भाग बनते हैं, जो अंग या इन्द्रियाँ कहलाते हैं। प्रत्येक अंग का एक विशेष कर्त्तव्य होता है। पशुओं में कई प्रकार की इन्द्रियाँ हैं, जैसे टाँगें चलने के लिए, आँखें देखने के लिए और कान सुनने के लिए। किन्तु आम तौर से वृक्षों में उतने प्रकार के अंग और तन्तु नहीं होते, जितने जानवरों में, क्योंकि पेड़ों के कर्त्तव्य उतने बँटे हुए नहीं हैं, जितने प्राणियों के। इसलिए हम देखते हैं कि पूर्ण जीवित वृक्ष एक घर के समान है। जिस प्रकार घर में कमरे, दालान और आँगन होते हैं और उसकी दीवारें और खम्भे ईंटों की बनी होती हैं, जो चूना और गारा से जोड़ी जाती हैं; इसी प्रकार हमारे शरीर में कई इन्द्रियाँ हैं और ये इन्द्रियाँ भिन्न-भिन्न तन्तुओं की बनी हुई हैं, जिनमें बहुत-से कोष हैं, और कोष जीवनमूल के बने होते हैं। यद्यपि जीवन-मूल की रचना वृक्षों और जीव-जन्तुओं में बहुत-कुछ एक-सी है, तो भी ये दोनों प्रकार के जीवधारी बहुत-सी बातों में अवश्य एक दूसरे से भिन्न हैं। इसका क्या कारण है, यह जानना असम्भव है। कदाचित् इसका कारण यह हो सकता है कि दोनों में जीवन-मूल बनने की रीतियाँ अलग अलग हैं। वनस्पति अपने जीवन-मूल को सीधे पृथ्वी, जल तथा वायु से बना सकते हैं, तथा प्राणी मुख्यतया अपना जीवन-मूल उन वस्तुओं को खाकर बना-बनाया प्राप्त करते हैं, जो जीवित हैं अथवा कभी जीवित रही हों—चाहे वे पेड़-पौधे हों या अन्य जीव-जन्तु। नियम तो ऐसा ही है; परन्तु कुछ पौधे और जन्तु इन नियमों को खण्डित भी करते हैं। अमरबेल की भाँति और भी ऐसे वृक्ष हैं, जो अपना भोजन उन वृक्षों से ग्रहण करते हैं, जिन पर कि वे उगते हैं। ऐसी भी वनस्पतियाँ हमारे ही देश में मिलती हैं, जो कीटाहारी कही जा सकती हैं, क्योंकि वे मक्खी या अन्य पतिंगों को अपने मायारूपी जाल में फँसाकर मार डालती हैं और उनके शरीर से अपना भोजन उसी प्रकार प्राप्त करती हैं जैसे कि पशु। इस प्रकार की एक वनस्पति तुम्बिलता का हाल आप पहले अंक में 'पेड़-पौधों की दुनिया' वाले भाग में पढ़ चुके हैं। यहाँ हम एक और मांसाहारी पौधे का दृश्य आपके सामने रखते हैं (दे० पृष्ठ १७८ के सामने का चित्र)। दूसरी ओर जानवरों में कुछ ऐसे पानी में रहनेवाले छोटे जीव मिलते
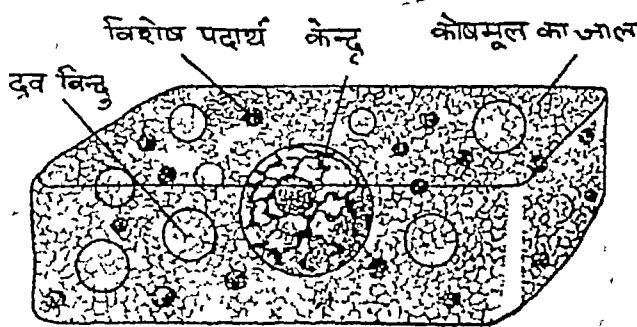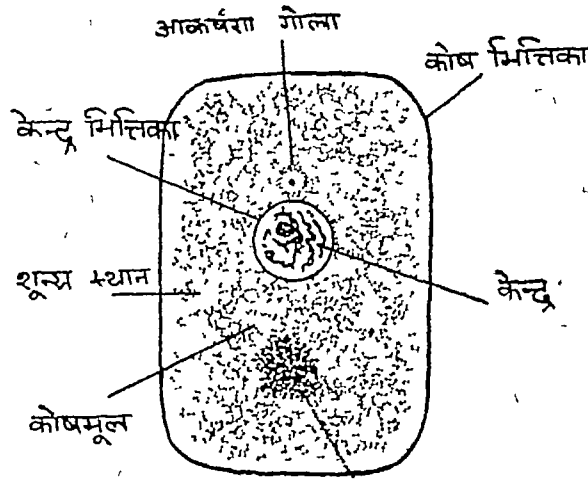
साधारण कोष का बड़ाकर दिखाया हुआ चित्र, और उसके मुख्य भाग

हैं, जो सूक्ष्मदर्शक यन्त्र से देखने से वृक्षों की भाँति हरे दिखाई देते हैं, क्योंकि उनमें भी पर्णहरित (Chlorophyll) होता है, जिसकी सहायता से वे पानी में घुली हुई अनैन्द्रिक वस्तुओं से अपना जीवन-मूल पेडों की तरह बनाते हैं। यूग्लीना (Euglena) नामक ऐसे ही जीव का चित्र इस पृष्ठ के सामने दिया है। अतः पेड़-पौधों में दो-चार ऐसे भी हैं, जो अपने जीवन-मूल को उसी प्रकार बना सकते हैं, जो पशुओं का लक्षण है और एक आध पशु भी ऐसे हैं, जो अपना जीवन मूल सच्ची वनस्पतियों की भाँति बनाते हैं। इससे यह भी विदित होता है कि वनस्पति-वर्ग और प्राणि-वर्ग के बीच ऐसा अन्तर नहीं है, जो पार न किया जा सके।

अब तक हमने जीवित पदार्थों की रचना और आचरण का अध्ययन एक जीवन-विज्ञान-वेत्ता की हैसियत से किया है। अब हम रसायनज्ञ की ओर बढ़ें और देखें, वे हमें जीवन-मूल की बनावट के विषय में क्या बतलाते हैं।

जीवन-मूल किन पदार्थों का बना है ?

सबसे पहले हमें स्मरण रखना चाहिए कि जीवन-मूल अति अस्थिर या चंचल पदार्थ है और जीवित दशा में बहुत ही सीमित ताप में रह सकता है अर्थात् २° श० से ३५° श० तक। यद्यपि बहुत कम दशाओं में यह बात लागू नहीं भी होती, क्योंकि न्यूज़ीलैंड के गर्म झरनों में, जिनका ताप ३५° श० से बहुत ज़्यादा होता है, कुछ बैक्टीरिया कीटाणु पाये जाते हैं। इसलिए उन पदार्थों या मूल वस्तुओं का पता, जिनसे जीवन-मूल बनता है, उसके बनने के बाद ही लगाया जा सकता है। आप प्रश्न कर सकते हैं कि यह कैसे कहा जा सकता है कि मृत्यु के बाद जो कुछ जाँचा गया, वह जीवन-मूल ही था। यह कहना कठिन है कि वह बिल्कुल वही वस्तु है। जो कुछ भी हो हम यह जानते हैं कि जीवित पदार्थ जितनी आसानी से जल ग्रहण कर सकते हैं और बाहर निकाल सकते हैं, उतनी ही सरलता से और कोई पदार्थ ऐसा नहीं कर सकता। वह सदा सारे जीवधारियों के शरीर में बहा करता है और उनके लिए बहुत लाभदायक है। इसीलिए जीवन-मूल में ७०-६० प्रति सैकड़ा पानी होता है और यह कहा जा सकता है कि वास्तव में जीवन मूल पानी के घोल में ही रहता है। इसलिए हम आप को सजीव पदार्थ के इस प्रधान भाग के विषय में कुछ और बतलाना उचित समझते हैं।

(१) जीव और पानी

पानी संसार की साधारण-से-साधारण चीज़ों में से एक है, किन्तु शुद्ध रूप में पानी कहीं नहीं मिलता; क्योंकि व ऐसा पदार्थ है कि उसमें पृथ्वी और वायु की बहुत सी वस्तुएँ शीघ्र ही घुल जाती हैं। जब हम पानी को गर्म करते हैं तो बर्तन पानी से जल्द गर्म हो जाता है, क्योंकि पानी का ताप बढ़ाने के लिए अधिक अग्नि की आवश्यकता होती है। यही कारण है कि गर्मी में झीलों और समुद्रों का जल उतना गर्म नहीं होता, जितना कि आसपास की धरती। पानी का यह गुण जीवन-पदार्थ के लिए बहुत सहायक है और जीवन के आरम्भ में इससे अवश्य सहायता मिली होगी। इसमें तो सन्देह ही नहीं कि जल में रहने वाले जीवों का जीवन स्थिर रखने के लिए पानी का जल्द अधिक न गर्म हो जाना बहुत लाभदायक है।

पानी का दूसरा मुख्य स्वभाव यह है कि वह जमने के पहले फैल जाता है और दूसरे द्रव पदार्थ ज्यों-ज्यों ठंढे किए जायँ त्यों-त्यों घने (भारी) होते जाते हैं, और अंत में जम जाते हैं। जल में भी ऐसा ही होता है जबकि उसका ताप ४° श० रह जाता है। इससे अधिक ठंढा होने पर वह भारी होने के बदले हल्का हो जाता है। इसलिए जब समुद्र, झील या नदी का पानी ४° श० से विशेष ठंढा होता है तो वह नीचे से ऊपर आ जाता है और नीचे के गर्म और भारी पानी के ऊपर तैरता रहता है। यही कारण है कि बर्फ सदा पानी के ऊपर तह से नीचे को जमता जाता है। अगर ऐसा न होता तो बर्फ़ पानी के तह में बनना शुरू होता और शीत ऋतु में महासागरों का सारा पानी जम जाता और गर्मी में भी पूरा न घुलता। ऐसा होने से पानी में जीवन बिल्कुल असम्भव हो जाता।

इससे आपको यह विदित हो गया होगा कि मामूली ताप में पानी द्रव होता है और ०° श० तक ठंढा करने से वह बर्फ हो जाता है और १००° श० तक गर्म करने पर भाफ बन जाता है। इसलिए पानी द्रव्य के तीनों रूप धारण करता है; अर्थात् द्रव, ठोस और गैस। पानी की एक ही बूँद बहुत-से अद्भुत अनुभव कर सकती है। एक समय वह अपार सागर का भाग हो जाती, दूसरे समय भाप बनकर उड़ती हुई आकाश में बादल का अंश हो जाती और वायु में इधर-उधर उड़ते हुए द्रवीभूत होकर पृथ्वी पर फिर पानी की बूँद होकर गिर पड़ती तथा बहकर किसी नदी, नाले, झील, या उसी समुद्र में जा मिलती है। या वह ओस या कोहरा बनकर गिरती और किसी वनस्पति के शरीर में पहुँच जाती या कोई जानवर या मनुष्य उसे पी जाता है। यह भी हो सकता है कि वह आकाश से किसी ऐसे पहाड़

पर या ठंढे देश में गिरे और जमकर ऐसे कड़े बर्फ़ का रूप ग्रहण कर ले कि जन्तु-जीव उसको पैरों तले रौंदे या मनुष्यगण उस पर खेल कूद करें। पृथ्वी, झील, पेड़, पत्ते या हमारे शरीरों से वही बूँद फिर धीरे-धीरे माफ बनकर उड़ सकती है या कोई उसे पकाने के बर्तन में खौलाकर तेज़ी से भाफ बना दे सकता है। इस प्रकार जल सदा भूमण्डल में चक्कर लगाता और अपना चोला बदलता रहता है। शुद्ध जल एक यौगिक वस्तु है, जो उद्जन (हाइड्रोजन) के ओषजन (आक्सिजन) में जलने से बन जाता है। दो भाग उद्जन के एक भाग ओषजन से मिलने पर पानी बन जाता है। इस संबंध में आप दूसरे विभाग में पढ़ेंगे।

(२) ओषजन और जीव

अब हम आपको कुछ थोड़ा हाल इन दो वायव्यों (Gases) का बताना चाहते हैं, जिनसे जल बनता है। ओषजन एक तत्व है, जो अपनी स्वतन्त्र अवस्था में वायु में पाया जाता है और जिसका वायु के हर पाँच भाग में एक भाग होता है। इसका सबसे मुख्य लक्षण, जो जीवन के लिए अत्यन्त ज़रूरी है, यह है कि वह वस्तुओं के जलने में सहारा देता है। बहुत-सी चीज़ें वायु की अपेक्षा ओषजन में बहुत जल्दी और तेज़ी से जलती हैं और जो चीजें इसमें जलती हैं उनसे मिलकर वह नये मिश्रित पदार्थ बना देता है। कभी कभी उसमें वस्तुयें धीरे-धीरे भी जलती हैं, जैसे कि लोहा पड़ा-पड़ा मोर्चा खाने लगता है। मोर्चा लगना एक रीति से लोहे का धीरे-धीरे जलना है और मोर्चा लोहे और ओषजन का यौगिक है। लेकिन जब हम अनार और फुलझड़ी छुड़ाते हैं, तो उसमें भरे हुए लोहे का रेत तेज़ी से भभक उठता है और सफ़ेद चकाचौंध करनेवाली रोशनी पैदा करता है, क्योंकि वह उन आतिशबाज़ियों में भरे हुए रासायनिक वस्तुओं के ओषजन से मिलने पर तेज़ी से जल उठता है। जिस प्रकार आतिशबाज़ी की रासायनिक वस्तुओं में से छूटकर ओषजन उनमें महान् शक्ति पैदा कर देता है, उसी प्रकार जो भोजन हम ग्रहण करते हैं, वे शरीर में जलकर ओषजन बनाते हैं और इसी ओषजन से हम अपनी शक्ति प्राप्त करते हैं। इससे स्पष्ट विदित होता है कि ओषजन जीवधारियों के लिए कैसा आवश्यक है; क्योंकि जीवन भर सदा किसी-न-किसी प्रकार की क्रिया होती रहती है और हर काम के लिए शक्ति चाहिए। यह शक्ति ओषजन से ही प्राप्त होती है।

(३) उद्जन और जीव

पानी का दूसरा भाग उद्जन तत्त्वों में सबसे हलका है। हवा से चौदह गुना हलका होने के कारण यही गैस गुब्बारों में भरा जाता है, जिसके कारण वे हवा में ऊपर उड़ते चले जाते हैं। स्वतन्त्र अवस्था में वह आम तौर से नहीं पाया जाता; लेकिन कभी-कभी ज्वालामुखी पर्वतों से निकलनेवाले वायव्यों में मिल जाता है। मिश्रित रूप में वह बहुत सी यौगिक वस्तुओं जैसे मिश्री, चीनी या चर्बी इत्यादि में पाया जाता है।

(४) कार्बन और जीव

दूसरी सरल मिश्रित वस्तु कार्बन द्वयोषिद (कार्बन डाइआक्साइड) भी जीवन मूल के लिए पानी की तरह ही आवश्यक है। इस गैस का विचित्र गुण यह है कि पानी और हवा दोनों में यह करीब-करीब एक ही मात्रा में पाया जाता है। इसलिए जीवधारी इसको दोनों ही पदार्थों से प्राप्त करते हैं। कार्बन-द्वयोषिद पानी में घुलकर कार्बोनिकाम्ल (कार्बोनिक एसिड गैस) बन जाता है। यह गैस बहुत कोमल होता है और पानी को करीब-करीब अविषम (Neutral) रखने में सहायक होता है, अर्थात् न अधिक क्षारीय न आम्लिक। यह बड़े महत्त्व की बात है, क्योंकि जब तक पानी शिथिल (Neutral) रहता है, वह अपने से संसर्ग में आनेवाली चीज़ों से न तो संगत करता है और न उन पर कोई प्रभाव दिखाता है। यदि पानी क्षारीय अथवा आम्लिक हो जाय तो वह रासायनिक दृष्टि से क्रियाशील हो जाता है और शीघ्र उसमें जीवन असम्भव हो जाता है। इसलिए वास्तव में सागर और जीवन मूल या जीवधारियों की आन्तरिक दशाएँ ऐसी सधी हुई होती हैं कि वे उनको स्थिर और अविषम बनाये रखती हैं।

यह कार्बन-द्वयोषिद भी दो तत्त्वों का बना है—अर्थात् कार्बन और ओषजन—और जीवित पदार्थों को अधिक परिमाण में जिस कार्बन की आवश्यकता होती है, उसका मुख्य साधन यही है। यथार्थ में कार्बन ही वह ठठरी अथवा चट्टान है जिस पर सम्पूर्ण जीवन बनाया गया है। जीवधारियों का आधे से अधिक ठोस अंश इसी के द्वारा बनता है। परन्तु कार्बन शरीर का इतना आवश्यक भाग होते हुए भी किसी भी प्राणी में स्वतन्त्र अवस्था में नहीं मिलता। सच तो यह है कि यदि शुद्ध कार्बन खा लिया जाय तो जीवन-मूल उसको पचा ही नहीं सकता। अतः इसको खाने से शरीर को कुछ लाभ नहीं होता। स्वतन्त्र अवस्था में कार्बन तीन रूपों में होता है—कोयला, सुरमा और हीरा। प्राणि-जीवन और वनस्पति-जीवन की कोई भी वस्तु

जलाई जाय, तो पीछे थोड़ी काली राख जरूर ही बच जायगी। इससे यह सिद्ध होता है कि उसमें कार्बन भी जरूर है। यह हमारा सौभाग्य है कि प्रकृति ने हमारे लिए ऐसी अनमोल वस्तु को नाना प्रकार के भोजनों में स्वयं मिला दिया है, जिसके कारण हमको उसे कहीं ढूँढना नहीं पड़ता।

(५) नोषजन और जीव

चौथा महत्त्वशील तत्त्व जो जीवित शरीर में पाया जाता है; नोषजन (नाइट्रोजन) वायव्य है, जो स्वतन्त्र अवस्था में वायु में मिलता है। वायु के हर पाँच भाग में चार भाग नोषजन होता है। ओषजन और कार्बन की भाँति यह वायव्य दूसरे तत्त्वों से आसानी से नहीं मिलता, तो भी सब जीवित कोषों में वह दूसरे तत्त्वों से मिला हुआ पाया जाता है। यदि यह पदार्थ भोजन में न हो, तो कोई वस्तु बढ़ न सके। इसलिए जीवधारियों के लिए भी यह वायव्य आवश्यक है।

(६) अन्य तत्व और जीव

इन चारों तत्त्वों के संयोग से, जिनका हाल हम ऊपर बता चुके हैं, बहुत-सी ऐसी संयुक्त यौगिक वस्तुएँ बन जाती हैं कि अब तक रसायनवेत्ता उनमें से कई एक की रचना ठीक ठीक नहीं निश्चय कर सके हैं। इन्हीं में से एक पदार्थ प्रत्यामिन (प्रोटीन) है, जो जीवधारियों का एक ज़रूरी अंश है। सभी प्रत्यामिन में नोषजन, कार्बन और ओषजन के अतिरिक्त और भी तत्त्व हैं, जैसे स्फुर और गंधक। इनकी कठिन बनावट का कुछ ज्ञान आपको इस बात से [illegible] है कि उनके एक अणु में एक हज़ार से अधिक परमाणु हो सकते हैं। प्रत्यामिन जीवित पदार्थ का ऐसा सबसे ज़्यादा लाक्षणिक अंश है कि उनके बिना हम उनका ध्यान भी नहीं कर सकते। चैतन्य वस्तुओं में स्फुर चूना और अन्य चीज़ों के साथ मिला हुआ होता है। हर एक जीवित कोष के केन्द्र का यह मुख्य भाग है और इसीलिए वह जीव के लिए सबसे आवश्यक वस्तु है। जीवधारी इसको ऐसे खाद्य पदार्थों द्वारा ग्रहण करते हैं, जैसे अंडा, दूध पनीर, और बिना छने आटे की रोटी। बहुत से शाक-पात में भी स्फुर पाया जाता है। गन्धक बहुत ही कम मात्रा में केन्द्र के जीवन-मूल में होता है।

हमारे शरीर के मूल तत्व

प्रतिशत ५५ भाग कार्बन (क), २३ भाग ओषजन (ओ,) १४ भाग नोषजन (नो), ७ भाग उदजन (उ) और १ भाग स्फुर-गंधक आदि (स० ग०)।

इससे आप जान गये होंगे कि जीवन-मूल की मुख्य वस्तुएँ निम्नलिखित मात्रा में होती हैं:—

कार्बन	(क)	५५ भाग
ओषजन	(ओ)	२३ ,,
नोषजन	(नो)	१४ ,,
उदजन	(उ)	७ ,,
स्फुर, गन्धक आदि	(स० ग०)	१ ,,

उपर्युक्त वस्तुओं के अतिरिक्त और भी छोटी-छोटी चीज़ें पोटाश (खार), चूना, सोडा, लोहा इत्यादि हैं, जिनसे प्राणियों के चैतन्य और क्रियाशील भाग नहीं बनते, लेकिन वे उनके शरीर में अन्य परिस्थितियों में लाभदायक होते हैं। हमारे शरीर में पाचन क्रिया-सम्बन्धी कुछ कोष हमारे भोजन से चूना लेकर थोड़े से स्फुर से संयुक्त करके हमारे शरीर को उन्नित स्थिति से क़ायम रखने में सहायक होते हैं। इसी प्रकार लोहा तथा अन्य शेष वस्तुएँ भी दूसरे तत्त्वों को सहायता देने के लिए आवश्यक हैं।
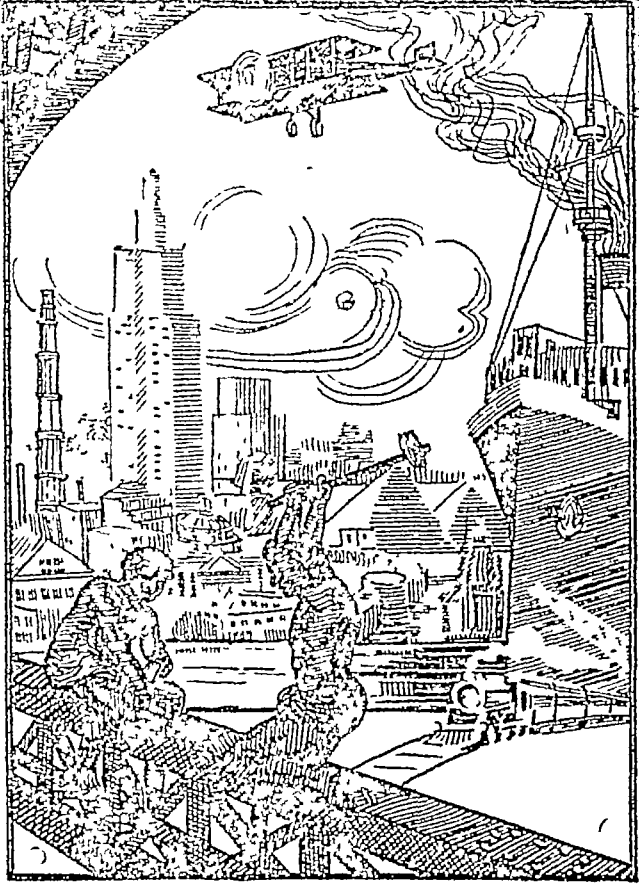
मनुष्य
की कहानी

पाँचों प्रकार के मानवसम वानर

(बायीं ओर से) गिब्बन, ओरेंगउटांग, चिम्पाञ्ज़ी, गोरिल्ला और आदमी। ये सब खड़े बनाये गये हैं, जिससे धड़ के मुकाबले में उनके हाथ-पैरों की लम्बाई साफ़ प्रगट हो रही है।
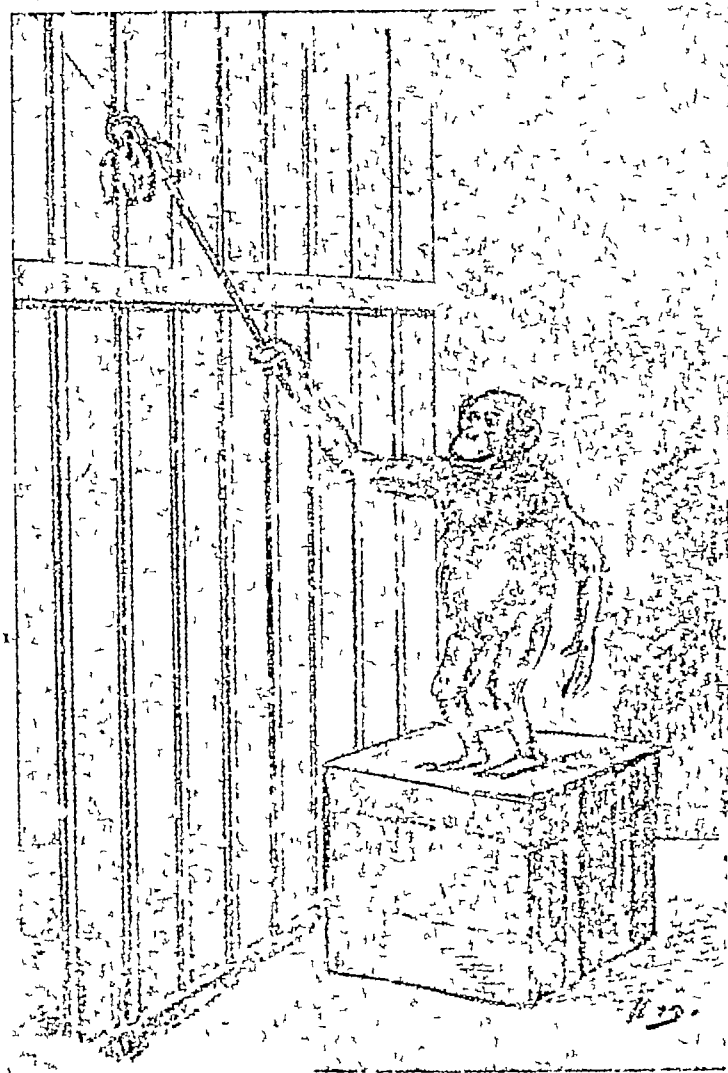
(बाईं ओर) चिम्पाञ्ज़ी का बुद्धिबल

इसमें सन्देह नहीं कि चिम्पाञ्ज़ी और मनुष्य के मस्तिष्क की मौलिक रचना एक ही-सी है यद्यपि चिम्पाञ्ज़ी का दिमाग़ बहुत साधारण है और बिल्कुल हमारे दिमाग़ की तरह काम नहीं करता। यह सिद्ध हो चुका है कि वह सिर्फ़ नक़ल ही नहीं कर सकता, या जो चालाकी के काम वह एक बार सयोग से कर लेता है उनका करना याद ही नही रखता, वरन् अपने कार्यों का आगा-पीछा भी थोड़ा-बहुत सोच सकता है। वह कोट पतलून पहनना, कुर्सी पर बैठकर छूरी काँटे से खाना और चाय पीना, बाइसिकिल पर सैर करना, और सिगरेट पीना ही नहीं सीख सका है, वरन् उसके सामने कोई समस्या—जो बहुत कठिन न हो—रख दी जाय, तो वह उसे सोच-विचारकर हल कर डालता है। इस प्रकार के कठिन काम उसने कर दिखाये हैं। विलायत में एक चिम्पाञ्ज़ी को बड़े कटहरे में बन्द कर दिया और कटहरे के बाहर केलों का एक गुच्छा काफ़ी ऊँचाई पर लटका दिया गया। कटहरे के अन्दर उसकी पहुँच के बाहर एक टेढ़ी मूठवाली छड़ी लटका दी गई, और कोने में एक लकड़ी का बक्स रख दिया गया। उस होशियार चिम्पाञ्ज़ी ने बिना किसी पहले अनुभव के अपने आस-पास की दशा को ताड़ लिया। बक्स को ढकेलकर वह उस पर चढ़ गया और छड़ी उतार ली, फिर छड़ी और बक्स केलों की ओर ले गया और बक्स पर खड़े होकर छड़ी से केलों को तोड़ कर खा गया। तब कौन कह सकता है कि चिम्पाञ्ज़ी मूर्ख है?

हम कौन और क्या हैं ?

अन्य प्राणियों से हमारी श्रेष्ठता

जंतु-जगत् में मनुष्य का कौन-सा स्थान है और कौन उसके निकट सगे-संबंधी हैं, यह हम पिछले अंक में देख चुके। यहाँ हमें देखना है कि एक पशु होकर भी मनुष्य में कौन-सी विशेषता है जिससे वह अन्य प्राणियों से श्रेष्ठ है।

इस विषय के पहले लेख में हम यह विचार कर चुके हैं कि मनुष्य-जाति का इस संसार-चक्र में कौन-सा स्थान है। अन्य प्राणियों के साथ तुलना करके हमने यह देखा है कि इस व्यापक संसार के असंख्य प्राणियों में मनुष्य भी एक प्राणी है। मनुष्य की रचना जीवनशास्त्र तथा रसायनशास्त्र के नियमों की दृष्टि से अन्य जीवधारियों की शरीर-रचना से भिन्न नहीं है। मानव-शरीर उन्हीं मुख्य संस्थानों के समूह से बना हुआ है, जिनसे अन्य जीव बने हैं। इस रचना के साधारण तत्त्व सब प्राणियों में एक-से ही हैं। मनुष्य के शरीर में लगभग दो सौ स्नायु (Muscles) हैं, परन्तु उनमें एक भी ऐसा नहीं, जो केवल उसके ही शरीर में विद्यमान हो अर्थात् और कहीं न पाया जाय। मनुष्य तथा अन्य प्राणियों की गर्भावस्था बहुत समय तक एक-सी ही रहती है। सच तो यह है कि मनुष्य के जीवन में जितने भी काम होते हैं, वे अन्य जानवरों की ही तरह होते हैं, किन्तु कोई बात कम है, कोई ज्यादा। न तो मनुष्य में शेर या हाथी-जैसा बल है, न वह उनके बराबर खा ही सकता है, न उसकी आवाज़ ही उतनी दूर तक पहुँच सकती है, जितनी दूर तक शेर की दहाड़ या हाथी की चिंघाड़। उसकी सुनने की शक्ति भी उतनी तेज़ नहीं, जितनी जंगल में रहनेवाले हिरन, बिल्ली, खरगोश इत्यादि की। उसकी दृष्टि भी उतनी तेज नहीं, जितनी चील व अन्य चिड़ियों की। उसके सूँघने की शक्ति गिद्ध व चींटी से भी बहुत कम है। इन सब बातों में कम होते हुए भी मनुष्य कैसे सब जानवरों पर हावी रहता है ? केवल अपनी बुद्धि और कपट से।

"आदमी का मन या मस्तिष्क वह चीज़ है, जिसने आज उसे अन्य जीवधारियों से ऊँचा उठा रक्खा है। मस्तिष्क ही की बदौलत आदमी अपनी प्रारम्भिक अवस्था से ऊँचा उठकर आज सभ्य बन पाया है। वह हवा में उड़ता है, समुद्र की छाती पर रौंदता हुआ चलता है, सात समुद्र पार बैठे हुए अपने मित्रों से बातचीत करता है, यहाँ तक कि उन्हें उतनी ही दूर पर बैठे-बैठे देखने भी लगा है। उसने प्रकृति पर विजय पा ली है, वह बीमारी और मृत्यु तक पर विजय पाने को तुला बैठा है।"

वानर-कक्षा के विशिष्ट लक्षण

यह सब होते हुए भी जैसा डाक्टर त्रिलोकीनाथ वर्मा ने अपनी 'स्वास्थ्य और रोग' नामक पुस्तक में लिखा है, "मनुष्य एक जानवर है, जिसके चार शाखाएँ होती हैं। इनमें दो शाखाएँ चीजों को पकड़ने, लड़ने और लिखने इत्यादि के काम में आती हैं और दो शाखाएँ चलने, फिरने, भागने, दौड़ने के काम में आती हैं। अर्थात् मनुष्य दो-पाया जानवर है; बचपन में जब वह खड़ा होना नहीं जानता, मनुष्य भी चौपाया होता है; इस समय अगली शाखाएँ भी पृथ्वी पर दौड़ने और चलने-फिरने में सहायता देती हैं।" प्राणिशास्त्र-वेत्ताओं अथवा विकासवादियों ने ही नहीं, परन्तु विकासवाद के विरोधियों ने भी शरीर की रचना का साम्य देखकर मनुष्य का समावेश स्तनधारी श्रेणी की वानर-कक्षा में किया है। संस्कृत में 'वानर' आधे मनुष्य को कहते हैं। जो विशेषताएँ वानर-कक्षा में पाई जाती हैं, वे सब मनुष्य में भी हैं। उनमें से मुख्य ये हैं। दोनों ही में और प्राणियों की अपेक्षा खोपड़ी और दिमाग़

बड़ा होता है। आँखें सामने होती हैं और सामने ही देखती हैं। हाथ पाँव लम्बे होते हैं और उनमें अन्य पदार्थों को ग्रहण करनेवाली पाँच पाँच उँगलियाँ होती हैं, जो इच्छानुसार घूमती हैं। अँगूठा घूमकर सामने आ जाता है और यदि सब उँगलियों में नहीं तो कम-से-कम अँगूठे का नाखून ज़रूर चपटा होता है। सभी में स्त्री के वक्षस्थल पर दो स्तन होते हैं, जिनके द्वारा वे बच्चों को दूध पिलाती हैं। हँसली की अस्थियाँ दृढ़ और पूरी तरह से बढ़ी होती हैं। दूध के दाँत गिरकर स्थिर दाँत उगते हैं और इनकी संख्या कक्षा के सब प्राणियों में नियत होती है। इनमें गर्भावस्था में माता और गर्भ का संग नाल द्वारा होता है। हम पहले लेख में यह भी बता चुके हैं कि मनुष्य का वंश वन-मानुषों के वंश से अलग है, जैसे वन-मानुषों का वंश अन्य वानर-वंशों से। परन्तु उपर्युक्त लक्षण सभी में पाये जाते हैं। मनुष्य के सबसे निकट-सम्बन्धी मानव-सम वानरों का विस्तारपूर्वक वर्णन जन्तु-जगत् के भाग में क्रमशः आपको मिलेगा। परन्तु उनके मुख्य लक्षण, जिनमे कि वे अन्य प्रधान-भागीयों से विभिन्न किये जाते हैं, हम यहाँ देते हैं। उनका अपूर्ण खड़ा आसन; उनके हाथ-ऐसे पैर जिनसे कि वे ज़मीन पर भलीभाँति नहीं चल सकते; उनका आगे को बढ़ा हुआ सिर; मज़बूत, बिना ठोढ़ी के, आगे को निकले हुए जबड़े; नीचा और पीछे को दबा हुआ माथा; भौं के ऊपर ऊँची निकली हुई हड्डी—ये उनके मुख्य लक्षण हैं। मनुष्य की खोपड़ी से उनकी खोपड़ी में आधी से कम जगह होती है। यह कहा जाता है कि वन-मानुषों का मानसिक स्वभाव दो-तीन वर्ष के आदमी के बच्चे के बराबर होता है। किन्तु शारीरिक गुणों में मनुष्य और वनमानुषों में केवल मात्रा का ही अन्तर है।

मनुष्य-वंश और वन-मानुषों के गुणों की तुलना

जिस प्रकार उपर्युक्त गुणों से मानव-सम बन्दर अन्य वानरों से पृथक् किये जाते हैं, उसी प्रकार मनुष्य भी अन्य प्रधानभागियों से कई मुख्य लक्षणों द्वारा अलग मानव-वंश (Hominidæ) में रक्खा जाता है। मनुष्य बिलकुल सीधा खड़ा होकर घंटों चलता-फिरता है, किन्तु दूसरे जीव अपनी पिछली टाँगों पर थोड़े ही समय तक खड़े हो सकते हैं। गोरिल्ला और चिम्पाञ्जी ही ऐसे हैं, जो कमर झुकाये पिछली टाँगों पर खड़े होकर दो-चार पग चल-फिर लेते हैं। बन्दर भी मदारी के सिखाने से रस्सी या छड़ी पकड़ कर दो पैरों पर चल लेता है; लेकिन कोई प्राणी मनुष्य की तरह बिलकुल सीधा होकर नहीं चल-फिर सकता। कहा जाता है कि मनुष्य के पूर्वजों ने जब पिछली टाँगों पर चलना सीख लिया, तो उनकी भुजाएँ और हाथ दूसरे कार्य करने के लिए खाली हो गये और उनको अवसर मिला कि हाथों को धीरे धीरे नाना प्रकार के कामों में लगाते हुए निपुण कार्य करने योग्य बना लें। इस प्रकार हाथ और पैरों के काम अलग-अलग बँट जाने से उनके रूप में भी अन्तर हो गया। हम अपने हाथ के अँगूठे की तरह पैर के अँगूठे को उँगलियों से नहीं छुआ सकते और न बंदरों की तरह
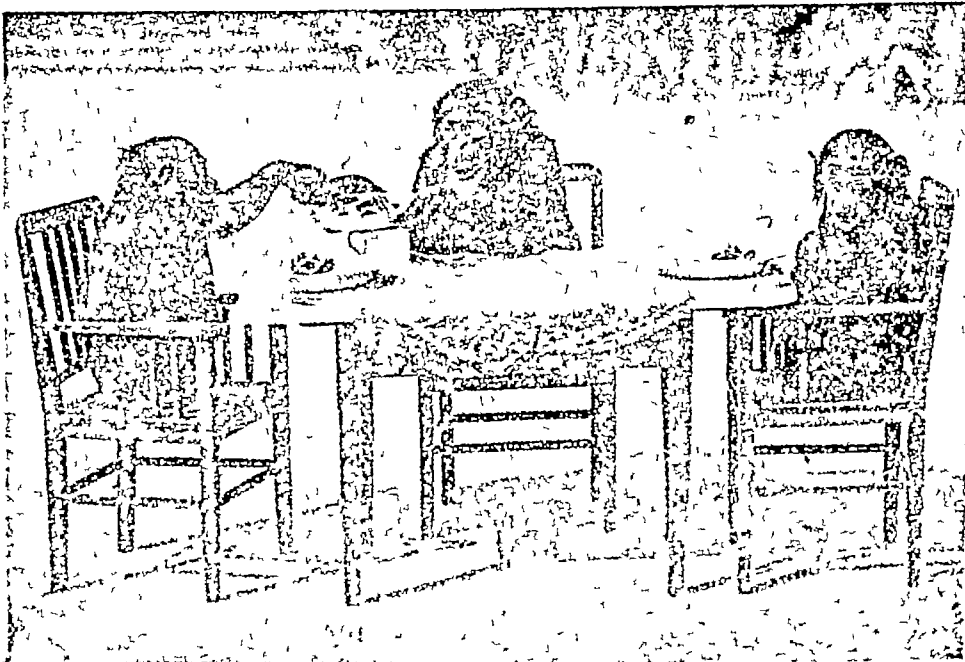
चिम्पांज़ी की होशियारी
इस चित्र में तीन पालतू चिम्पांज़ी कुर्सी और मेज़ पर बैठकर आदमी की तरह चाय पी रहे हैं और छुरी-काँटे से खाना खा रहे हैं।

पैरों से कोई चीज़ पकड़ने का काम ले सकते हैं। अन्य वन-मानुषों से तुलना करते हुए पता लगता है कि हमारी भुजाएँ टाँगों से अधिक छोटी होती हैं और शरीर पर बाल भी बहुत कम होते हैं। मानव-सम बन्दरों के समान न तो मनुष्य में जबड़े आगे निकले हुए हैं, न आँखों के ऊपर की हड्डियाँ उनकी सी उभरी हुई हैं, और न उसके कुक्कुर दन्त (Canine teeth) या कीलें अन्य दाँतों से लम्बे होते हैं। मनुष्य में साफ़ ठोड़ी होती है और उसकी नाक नुकीली और ऊपर की ओर गड्ढेदार होती है। ऊपरी होंठ के बीचोबीच में एक नाली भी बनी हुई है। परन्तु सबसे मुख्य विशेषता उसके मस्तिष्क में है। मनुष्य अपने शरीर की साधारण रचना से बन्दरों से इतना भिन्न नहीं किया जा सकता है, जितना कि उनकी तुलना में अपने बड़े मस्तिष्क द्वारा। उसका मस्तिष्क बड़े से बड़े वन-मानुष के मस्तिष्क से दो या तीन गुना बड़ा होता है। मनुष्य का मस्तिष्क वजन में १३८० माशे, गौरिल्ला का ६०० माशे, चिम्पाञ्ज़ी का ४५० माशे और घोड़े का ६५० माशे होता है।

सर आर्थर कीथ का कथन है कि मनुष्य के गुणों में से ६८ चिम्पाञ्ज़ी में, ८७ गौरिल्ला में, ८४ गिब्बन में, ६० पश्चिमी गोलार्द्ध (नई दुनिया) के बन्दरों में, ५६ उरंग-ओटांग में और ५३ पूर्वी गोलार्द्ध (पुरानी दुनिया) के बन्दरों में मिलते हैं। सर्वश्रेष्ठ वन-मानुष और सबसे प्राचीन मनुष्य में इतना मानसिक भेद है कि उनकी तुलना करना बहुत कठिन है।

मनुष्य के मस्तिष्क का चित्र

बायीं ओर से इसमें बोलने, स्वाद लेने, सुनने और देखने के केन्द्र दिखाये गये हैं।

चिम्पाञ्ज़ी की होशियारी

इसमें सन्देह नहीं कि चिम्पाञ्ज़ी और मनुष्य के मस्तिष्क की मौलिक रचना एक ही-सी है, परन्तु चिम्पाञ्ज़ी का दिमाग़ बहुत साधारण है और बिल्कुल हमारे दिमाग की तरह काम नहीं करता। यह सिद्ध हो चुका है कि वह सिर्फ़ नक़ल ही नहीं कर सकता, या जो चालाकी के काम वह एक बार संयोग से कर लेता है उनका करना याद ही नहीं रखता है, वरन् अपने कार्यों का आगा पीछा भी थोड़ा बहुत सोच सकता है। वह कोट पतलून पहनना, कुर्सी पर बैठकर छुरी काँटे से खाना और चाय पीना, बाइसिकिल पर सैर करना, और सिगरेट पीना ही नहीं सीख सका है, वरन् उसके सामने कोई समस्या—जो बहुत कठिन न हो—रख दी जाय, तो वह उसे सोच-विचारकर हल कर डालता है। इस प्रकार के कठिन काम उसने कर दिखाये हैं। बिलायत में एक चिम्पाञ्ज़ी को बड़े कटहरे में बन्द कर दिया और कटहरे के बाहर केलों का एक गुच्छा काफी ऊँचाई पर लटका दिया गया। कटहरे के अन्दर उसकी पहुँच के बाहर एक टेढ़ी मूठवाली छड़ी लटका दी गई, और कोने में एक लकड़ी का बक्स रख दिया गया। उस होशियार चिम्पाञ्ज़ी ने बिना किसी पहले अनुभव के अपने आस-पास की दशा को ताड़ लिया। बक्स को ढकेलकर वह उस पर चढ़ गया और छड़ी उतार ली, फिर छड़ी और बक्स केलों की ओर ले गया और बक्स पर खड़े होकर छड़ी से केलों को तोड़कर खा गया। (देखो पृष्ठ १८२ का चित्र) तब कौन कह सकता है कि चिम्पाञ्ज़ी मूर्ख है? और भी बहुत से प्राणियों में ऐसे ही उम्दा दिमाग़ होते हैं, लेकिन मनुष्य के निकट कोई भी नहीं पहुँच सकता। वे बहुत-से बुद्धि के काम कर दिखाते हैं, किन्तु यह कहना कि चिम्पाञ्ज़ी के बराबर भी और किसी में अपने कर्तव्यों का परिणाम सोचने की योग्यता है या नहीं, असम्भव है। यों तो बन्दर और रीछ नाचना, पैसा माँगना, सलाम करना, पैर छूना, मूढ़े पर बैठकर डमरू बजाना अपनी स्त्री को प्यार करना और उससे रूठना सीख लेते हैं। गाय-बकरी अपने भोजन का समय पहचान जाती हैं। बिल्ली मिठाई खाने के लिए अलमारी की कुंडी खोलना सीख लेती है। सरकसों में शेर, हाथी, घोड़े बहुत-से अनोखे काम कर दिखाते हैं।

मनुष्य कैसे वन-मानुषों से पृथक् हुआ

इन बातों से मालूम होता है कि मनुष्य और ऊँचे से-

ऊँचे अन्य पशुओं की बुद्धि में इतना विशाल अन्तर होने का कारण मनुष्य के मस्तिष्क का बड़ा और भारी होना ही है। मनुष्य का औसत डील के दीमाग़ का बोझ भारी-से-भारी गोरिल्ला के मस्तिष्क से दुगुने से भी अधिक होता है। इसकी वृद्धि उसके सबसे विशेष भाग, वृहत् मस्तिष्क(Cereqral hemisphere)के वल्क(Cortex) में ही हुई है, जो बुद्धि, स्पर्श-ज्ञान, वाक्शक्ति, और विचार आदि का केन्द्र है। हमारे वृहत् मस्तिष्क के वात कंषों की संख्या ६,२००,०००,००० (नौ अरब बीस करोड़) है। इसी कारण वह बहुत पेचीदा हो गया है। मस्तिष्क की वृद्धि से ही जैसे वन-मानुषों ने अन्य प्राणियों की अपेक्षा उच्चता प्राप्त की, उसी प्रकार मनुष्य भी वन-मानुषों पर मस्तिष्क की अत्यधिक वृद्धि के कारण ही उच्चता को प्राप्त हुआ। मस्तिष्क की उन्नति ने उसे शारीरिक बल के स्थान पर यान्त्रिक बल प्रयुक्त करना सिखा दिया। उसमें सोचने, विचारने, पढ़ने, लिखने इत्यादि के केन्द्र अन्य जानवरों की अपेक्षा बड़े और उत्तम होते हैं। उसमें बुद्धि अधिक होती है; जो काम अन्य जानवर नहीं कर सकते, उन्हें वह कर सकता है। वह किसी विषय पर अपने मन में वाद-विवाद कर, उस विषय का निर्णय कर सकता है, जो और कोई नहीं कर सकता। बुद्धि की ही बदौलत वह शेर, हाथी, ह्वेल को भी—जो उससे कहीं अधिक बलशाली हैं—सहज में वश में कर लेता है। शारीरिक बल के स्थान पर यान्त्रिक बल की उन्नति होने पर मनुष्य में धीरे-धीरे अग्नि, जल, भोजन के पदार्थों और वस्त्रों के आच्छादन का ज्ञान हुआ। पत्थर फेंकना, निशाना लगाना, पत्थरों के अस्त्र बनाना इत्यादि प्रारम्भिक कार्यों के पश्चात् शनैः-शनैः मकान बनाने और बीज बोकर खेती करने का ज्ञान उसने प्राप्त किया और क्रमशः वन्य जीवन से सभ्य जीवन में उसकी परिणति हुई। प्रथम अगविक्षेपों, फिर चित्रमय संकेतों और उसके बाद अक्षरमय चिह्नों से अपनी इच्छा को प्रकट करने की शैली उसने ढूँढ निकाली। विचार करने की उसकी जैसी-जैसी शक्ति बढ़ती गई, वैसे-वैसे उसके पास भिन्न-भिन्न साधन भी इकट्ठे हो गये और इसी अनुपात में उसमें और वन-मानुषों में बड़ा अन्तर पड़ता गया। प्रोफेसर सोलस, कीथ और हेक्ल के लगाये हुए हिसाब के अनुसार इस संसार में मनुष्य का प्रादुर्भाव हुए आज लगभग दस लाख (१०,००,०००) वर्ष बीत चुके हैं। इतनी अवधि में मनुष्य के बुद्धि सामर्थ्य से उसमें और वन-मानुषों में इतना अन्तर पड़ गया कि उसका मापना असम्भव है। वन-मानुषों से पृथक् होकर ही मनुष्य की उन्नति समाप्त नहीं हुई, उसके विकास का चक्र बराबर गतिशील रहा और अब भी है।

मानव मस्तिष्क, दृष्टि और कल्पना

मनुष्य का मस्तिष्क बड़ा और भारी होने पर उसमें और कौन-कौन मनुष्यत्व के गुण आ गये हैं, उनका वर्णन अब हम करना चाहते हैं। मनुष्य का मस्तिष्क प्रगतिशील है, वह किसी घटना के विषय में आगे-पीछे दोनों की कल्पना कर सकता है, परन्तु अन्य पशु केवल अपने सामने ही की घटना की अनुभूति कर सकते हैं। आदमी ऐसा जानवर है, जो स्वयं अपना अध्ययन अपने शरीर को स्पर्श करके या देखकर ही नहीं करता, किन्तु वह अपनी अभिलाषाओं और विचारों की छानबीन और इस बात का भी कुछ अनुभव कर सकता है कि अपने आस-पास की अद्भुत सृष्टि में, जिसका ज्ञान उसके समझदार मन में नेत्रों द्वारा होता है, वह क्यों भाग ले रहा है। देखभाल करने के अंग और उनकी शक्ति तो वन मानुषों में भी वैसी ही है, जैसी हममें; किन्तु उनके दिमाग़ में वह सामग्री बहुत कम या बिल्कुल नहीं पाई जाती, जिससे वे नेत्रों द्वारा दिखाई देनेवाली चीज़ों के बारे में आगे पीछे को नतीजा निकाल सकें। उनमें पेचीदा बातों को याद रखने की उतनी योग्यता नहीं है, जितनी हममें। अन्य प्राणियों में तो यह शक्ति और भी कम है। आगे के लेख में आप देखेंगे, कैसे आदमी की दृष्टि और उसके सीधे खड़े होने की शक्ति में एक घनिष्ठ सम्बन्ध है; इन दोनों ने कैसे अन्य शक्तियों से मिलकर उसके मस्तिष्क को इस उच्च पदवी पर सुशोभित किया। यहाँ हम इतना ही बतलाना चाहते हैं कि जब मनुष्य ने सीधा खड़ा होना सीख लिया, तो उसकी दृष्टि पहले की अपेक्षा अधिक विस्तीर्ण हो गई। उसके चलने में हाथों की ज़रूरत न रही और वह उनसे चीजों को पकड़ने, छूने और टटोलने के काम लेने लगा। ज्यों-ज्यों हाथों द्वारा वस्तुओं को पकड़ने और उनका ज्ञान प्राप्त करने की शक्ति उसमें बढ़ती गई, त्यों-त्यों उसके हाथ या उँगलियों में अनुकूलता और छूकर बोध करने की योग्यता बढ़ती गई और वह समय आ गया कि आदमी को देखभाल और छूकर अपने आस-पास की चीज़ों का पूर्ण ज्ञान होने लगा। जैसे-जैसे आवश्यकताएँ बढ़ती गईं, यह बात ज़रूरी हो गई कि उसे जो ज्ञान देखकर और छूकर हुआ है, उसे वह भूल न जाय। इसलिए उसके दिमाग को स्मरण-शक्ति की अधिक आवश्यकता पड़ी, जिसके कारण मस्तिष्क के स्मरण-शक्ति-

प्रधानभागीय जीवधारियों (Primates) का वंशवृक्ष और उसमें मनुष्य का स्थान

(चित्र पृष्ठ उलटकर देखिए)

आधुनिक विकासवाद के सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य जीवधारियों मे 'प्रधानभागीय वर्ग' (Primates) का सदस्य है, और इस वर्ग की विभिन्न शाखाओं में उसका स्थान वनमानुषों (Anthropoid Apes) के बाद आता है। इस सपूर्ण वर्ग में मनुष्य का स्थान सबसे अधिक उन्नत अवस्था पर है। चित्र में एक वृक्ष दिखाया गया है तथा उनमें से निकली हुई निम्न विभिन्न शाखाओं या वर्गों के प्रतिनिधि दिखाये गये हैं:—

ट— टारसीआइड्स (Tarsioids) वर्ग—इसका मुख्य प्रतिनिधि 'टारसियस' (*Tarsius*) जंतु है (चित्र में नं० १)।

ल—लीमराइड्स (Lemuroids)—इसके निम्न प्रतिनिधि हैं:—

(चित्र नं० २) अय-अय (Aye-Aye) (नं०३); रिंग-टेल्ड लीमर (Ring-tailed Lemur); (नं० ४) रफ़्ड लीमर (Ruffed Black Lemur), (नं० ५) मंगूज़ लीमर (Mongoose Lemur), (नं० ६) सिफाका (Sifaca) (नं० ७) इन्द्रिस (Indris), (नं० ८) गेलागो (Galago); (न० ९) बुश-बेबी (Bush-Baby), (न० १०) लोरिस (Loris), (नं० ११) पॉटो (Potto)।

पु—पुरानी दुनिया के वानर (Old World Monkeys)—इसके मुख्य प्रतिनिधि निम्न प्रकार हैं —

(चित्र में नं० १२) गुइनान (Guenon) ; (नं० १३) लाल पेटवाला बंदर (Red-bellied Monkey), (न० १४) मंगेबी (Mangabey), (नं० १५) मेकेक (Macaque), (न० १६) ब्लेक एप (Black Ape), (नं० १७) गेलादा बबून (Gelada Baboon), (न० १८) सेक्रेड बबून (Sacred Baboon), (न० १९) गुरेज़ा (Guereza), (नं० २०) लंगूर (Langoor), (न० २१) चपटी नाक का बदर (Snub-nosed-Monkey), (नं० २२) लंबी नाकवाला बन्दर (Proboscis Monkey)

[शेषांश चित्र के पीछे उलटकर देखिए]

४८
४७
४६
४५
३४
३५
३६
३३
४४
४२
४३
४०
४१
३७
ब
३९
म
३८
३२
३१
३०
२९
२८
२४
न
२५
२७
२६
२३

१९
२०
२१
२२
१५
१६
१७
१८
पु
१२
१३
१४
ट
१०
११
ल
६
७
३
४
५
२
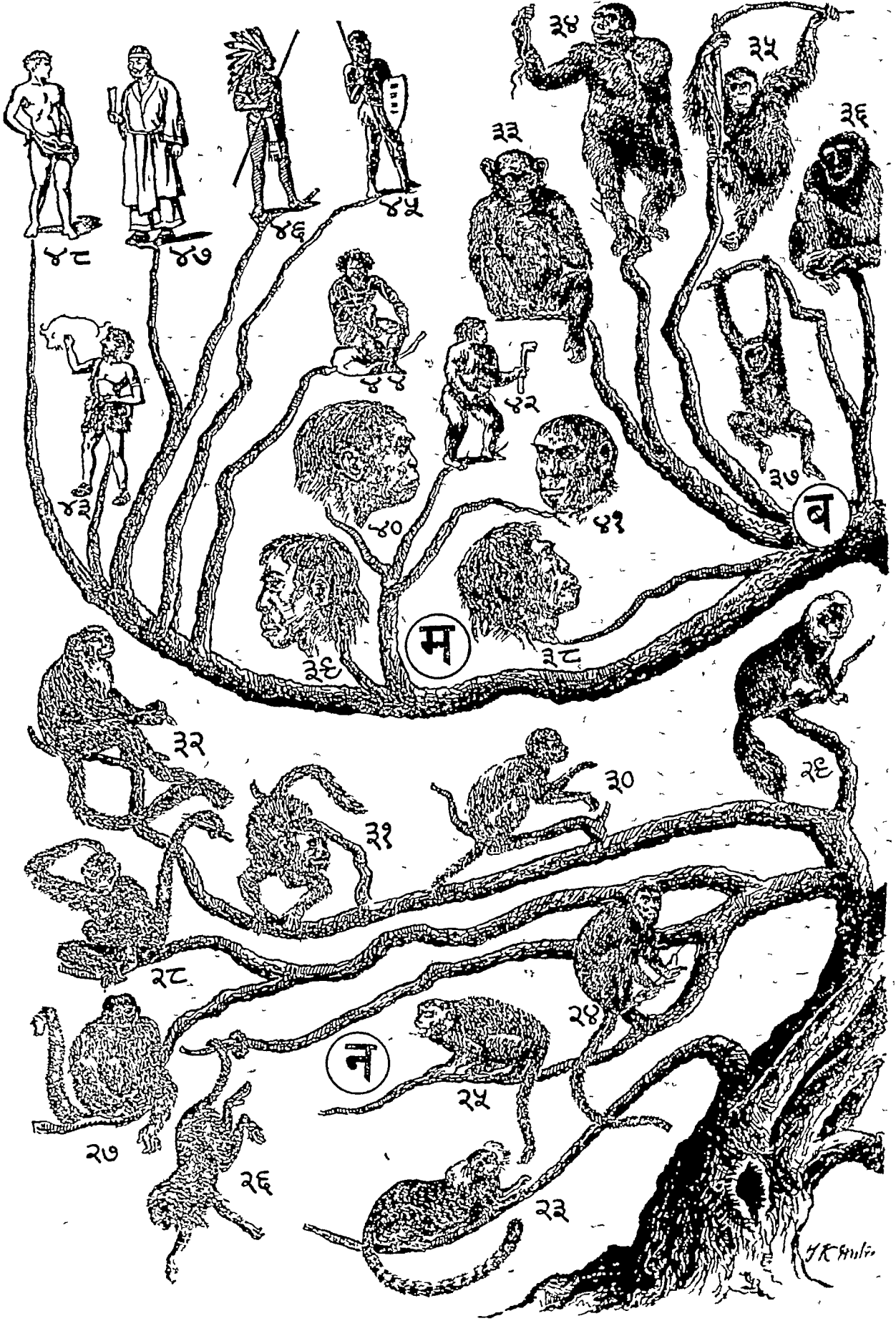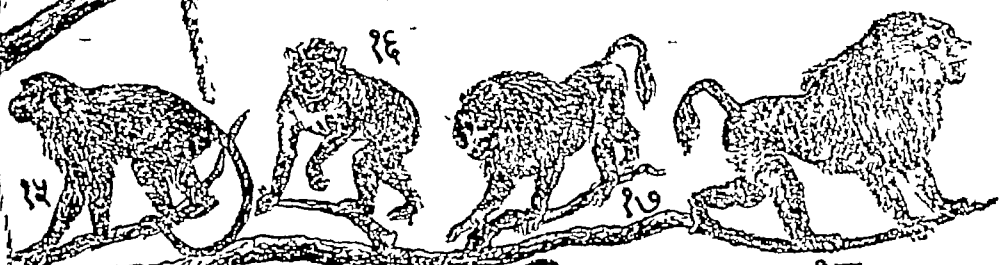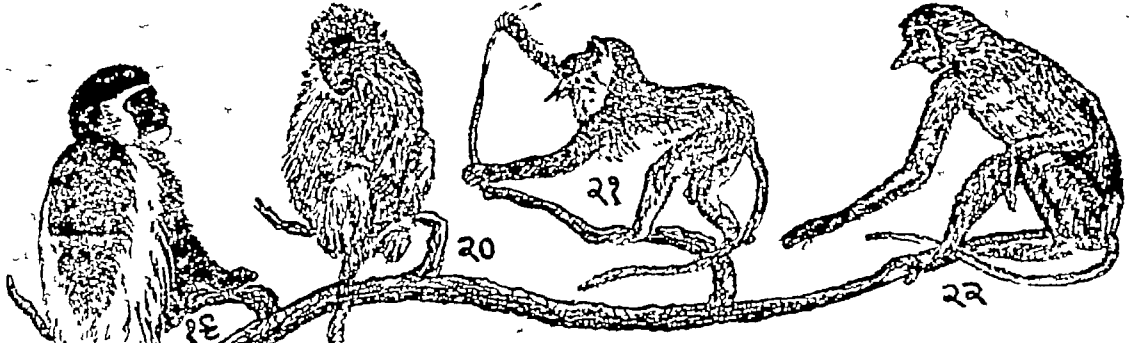
न—**नई दुनिया के वानर (New World Monkeys)**—इसकी मुख्य जातियाँ निम्न प्रकार हैं—

(चित्र में नं० २३) **मारमोसेट** (Marmoset), (न० २४) **टीटी बंदर** (Titi Monkey), (नं० २५) **इसी जाति का एक और बंदर** (नं० २६) **ब्लेक हाउलर** (Black Howler), (नं० २७) **ऊनी बालवाला बंदर**, (Woolly Monkey); (नं० २८) **स्पाइडर वानर** (Spider Monkey), (नं० २९) **साकी** (Saki); (न० ३०) **यूकारी** (Ukari), (नं० ३१) **सेपेजू** (Sapajou), (न० ३२) **स्कवीरल बंदर** (Squirrel Monkey)।

व—**वनमानुष (Anthropoid Apes) वर्ग**—इस वर्ग के नीचे लिखे मुख्य प्रतिनिधि हैं.—

(चित्र में नं० ३३) **चिम्पैंज़ी** (Chimpanzee); (न० ३४) **गोरिल्ला** (Gorilla), (नं० ३५) **ओरंग उटाङ्ग** (Orang-utan), (न० ३६) **हुलक गिबन** (Hoolook Gibbon), (नं० ३७) **साधारण गिबन** (White-handed Gibbon)।

म—**मानव वर्ग (Men)**—इस वर्ग में आदिम मानवों से आज की जातियों तक की विकास-श्रेणी बताई गई है—

(चित्र में नं० ३८) **जावा में मिली खोपड़ी वाला आदि मानव** (*Pithecanthropus* or the Java Man), (न० ३९) **पिल्टडाउन मानव** (Piltdown Man), (नं० ४०) **पेकिंग में मिली खोपड़ी वाला आदि मानव** (*Sinanthropus* or the Peking Man), (नं० ४१) **हाइडलबर्ग मानव** (Heidelberg Man); (नं० ४२) **निएण्डरथाल मानव** (Neanderthal Man), (न० ४३) **क्रोमेगनान मानव** (Cro-magnon Man), (नं० ४४) **ऑस्ट्रेलियन जाति का मनुष्य** (Australian Race), (न० ४५) **अफ्रीकन जाति का मनुष्य** (African Race), (नं० ४६) **रक्त वर्ण का मनुष्य** (Red Race), (नं० ४७) **पीत वर्ण का मनुष्य** (Yellow Race), (नं० ४८) **गौर वर्ण का मनुष्य** (White Race)।

[यह चित्र 'अमेरिकन म्यूजियम ऑफ नेचरल हिस्ट्री, न्यूयार्क', के एक भित्ति-चित्र के आधार पर तैयार कराया गया है। इसके निर्माण में लखनऊ-विश्वविद्यालय के जन्तु-विज्ञान-विभाग के डा० एम० एल० भाटिया और डा० दास से हमें अनमोल सहायता मिली है, अतएव हम उनके अत्यत कृतज्ञ हैं।]

सम्बन्धी स्थानों की उन्नति और वृद्धि होने लगी। ऐसा होने से ही हम एक बार जो कुछ देख लेते हैं, उसे याद रख सकते हैं। हम अपनी दृष्टि द्वारा ही एक चेहरे को दूसरे चेहरे से पहचानते हैं, एक रंग को दूसरे रंग से अलग कर सकते हैं, छूकर या देखकर, अथवा दोनों ही से, दूसरी वस्तुओं की बनावट में भेद समझ सकते हैं। दूसरों के संकेत अथवा चेहरों के भावों को देखकर उनकी इच्छा और विचारों का थोड़ा-बहुत अनुभव प्राप्त कर लेते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि हमारे मस्तिष्क में अपने पिछले अनुभवों अर्थात् उन वस्तुओं का, जिन्हें पहले देख या छू चुके हैं, या उन कामों का जिन्हें पहले कर चुके हैं, परस्पर मिलान करने की शक्ति है; अथवा यों कहिये कि हम में बड़ी पेचीदा स्मरण-शक्ति होना प्रकट है।

हमारी और जानवरों की भाषा

मस्तिष्क की समृद्धि होने की दूसरी आवश्यक सीढ़ी मनुष्य में वाक्-शक्ति का उदय होना भी है। मनुष्य में यह शक्ति अन्य प्राणियों की अपेक्षा अधिक बढ़ी-चढ़ी है, किन्तु बहुत से अन्य जीवधारी भी बोलते-चालते हैं।

मिदनापुर के जंगलों में मिली हुई लड़कियाँ जो भेड़ियों के भिटे से पकड़कर लायी गयी थीं। (देखिए पृष्ठ १८६)

चिड़ियाँ अपने बच्चे के चहचहाने के ढंग से जान जाती हैं कि वह क्या चाहता है, बकरी का बच्चा अपनी माँ की आवाज़ दूर से ही पहचान लेता है, बिल्ली म्याऊ-म्याऊँ करके अपने बच्चों को पास बुला लेती है। शेर, हाथी और बैल गरजते, चिंघाड़ते और रंभाते हैं. बुलबुल और लावा सुरीले और मधुर राग अलापते हैं। चिम्पाञ्जी भी आवाज़ लगाते हैं, जिससे उनकी ख़ुशी-नाख़ुशी प्रकट होती है। चींटा चींटी बिना बोले ही अपने महीन सींगों (Antenna) द्वारा एक दूसरे को इशारा करके समझाते-बुझाते हैं। मनुष्य भी बोलता, गाता और चिल्लाता है। फिर उसकी वाक् शक्ति और जानवरों की बोलचाल में क्या भेद है?

कहा जाता है कि मनुष्य ने उन्नति करके अपनी भाषा बना ली है, जिसमें एक शब्द से केवल एक ही अर्थ समझा जा सकता है; परन्तु पशुओं की बोलचाल में साकार अभिप्राय के लिए नियुक्त शब्द नहीं हैं। लेकिन यह कहना कि उन में अपने भाव या निर्णय को दूसरे में प्रकट करने की योग्यता है ही नहीं, असम्भव जान पड़ता है। शायद लोगों का यह विचार कि अन्य प्राणियों में कोई भाषा है ही नहीं, इसलिए हो कि उनकी बोली हमारी समझ में नहीं आती। पर क्या एक देश के निवासी दूसरे देश के मनुष्य की भाषा बिना सीखे समझ लेते हैं? भारतीय चीनी या जापानी भाषाएँ बिल्कुल नहीं समझ पाते। जर्मन और फ्रांसीसी अंग्रेज़ों की तरह नहीं बोलते।

बातचीत करनेवाली शहद की मक्खी और कुत्ते

जर्मनी के प्रोफेसर वी. वौनफ़िश, जिन्होंने २७ वर्ष शहद की मक्खियों का स्वभाव अथवा बोल चाल समझने का प्रयत्न किया, कहते हैं कि उनमें भी एक प्रकार की भाषा है, जो उनके नाच या महक द्वारा प्रकट की जाती है (देखो दैनिक 'लीडर', ४ मई, १९३७)। जब कोई मक्खी किसी फूल पर काफ़ी शहद देख लेती है, तो वह अपने छत्ते में आकर चक्कर-काटकर नाचने लगती है; उस नाच को देखकर और मक्खियाँ यह समझ जाती हैं कि उसने कहीं काफी शहद देखा है। यह समझ कर वे उसके पास आकर सूँघती हैं कि किस फूल की सुगन्ध उसके शरीर में से आ रही है, और उन्हीं फूलों पर जाकर शहद इकट्ठा करती हैं। यदि शहद बहुत थोड़ा है अथवा कठिनता से मिलनेवाला है, तो वह मक्खी छत्ते में आकर और मक्खियों को बुलाने के लिए नहीं नाचती। वह स्वयं बार-बार जाकर थोड़ा-थोड़ा शहद ले आती है। इन प्रोफेसर साहब ने मक्खियों के इस प्रकार एक दूसरे से बात करने की भाषा को पहचान लिया और

उनके नाच का फिल्म भी बना लिया है। इनका कथन है कि वह मछलियों से भी बातचीत कर सकते हैं और उनका दावा है कि जिस प्रकार हम सीटी बजाकर कुत्ते को अपने पास आना सिखा सकते हैं, उसी तरह मछलियों को भी सिखा सकते हैं।

मुझे पारसाल महाराज जयपुर के पुराने महल के पीछे की झील को देखने का अवसर मिला। उस झील में कई मगर रहते हैं। वहाँ का चौकीदार हाथ से ताली बजाकर "आ, आ; हा, हा" की आवाज़ लगाकर जब चाहे उन मगरों को अपने पास किनारे पर बुला लेता था। चाहे कितनी ही दूर क्यों न हों, उसकी आवाज़ सुनते ही मगर तैरते हुए उसकी ओर किनारे पर आ पहुँचते थे। जर्मनी के वैमर नगर में कुछ ऐसे प्रसिद्ध सिखाये हुए कुत्ते हैं, जिनको नम्बरों के द्वारा बातचीत करना सिखाया गया है। डाक्टर मैक्समूलर ने स्वयं जाकर इन कुत्तों को देखा है और उनका बड़ा ही मनोरंजक विवरण १४ दिसम्बर, सन् १६३८, के 'लीडर' अख़बार में छपा है। उन्होंने लिखा है कि ये कुत्ते भूककर और पंजों से थपथपाकर अक्षरों का ज्ञान दे सकते हैं। जैसे 'ए' के लिए एक बार भूकना, 'बी' के लिए दो बार, 'सी' के लिए तीन बार और इसी तरह से आगे के अक्षरों के लिए भी उतने ही बार भूकते और थपथपाते हैं, जितना उस अक्षर के लिए निश्चित होता है। इन प्रोफेसर ने कुत्तों से लिखकर और ज़बानी कई प्रश्न किये, जिनका उत्तर कुत्तों ने बहुत सोच-समझकर और बुद्धिमानी से दिया। प्रोफेसर मैक्समुलर लिखते हैं कि उनको इतनी आशा नहीं थी कि वैमर के ये साकार और निराकार विचारों को नम्बर द्वारा बात- में इतनी अच्छी तरह प्रकट कर सकते हैं और मनुष्य की बातों को समझ सकते हैं। इन कुत्तों ने हमें दिखला दिया है कि हमारे विचार इन शिक्षित पशुओं के विषय में कितने ग़लत हैं। इससे यह भी पता लगता है कि जितना हम जानवरों को समझ पाते हैं, उससे कहीं अधिक जानवर हमको समझ पाते हैं। इन हाल के पशु सम्बन्धी अध्ययनों से हम यह स्वीकार नहीं कर सकते कि जानवरों में सोचने और अपने विचारों को प्रकट करने की योग्यता है ही नहीं। फिर भी जो लोग जानवरों को इस शक्ति से हीन बतलाते हैं, तो इसका कारण उनका अपना घमण्ड या हठधर्मी ही है।
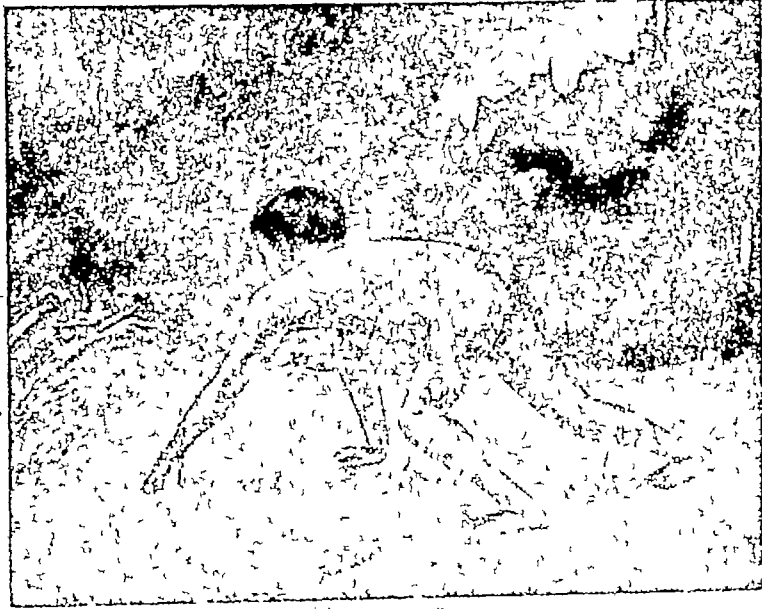
भेड़ियों द्वारा पाली गयी लड़की के चलने का ढंग

इसके सारे आचरण भेड़ियों-जैसे हो गये थे। यह उन्हीं की तरह चलती-फिरती, गुर्राती और खाती-पीती थी। (देखिए पृष्ठ १८६)

मनुष्य और समाज

अपनी वाणी के ही द्वारा मनुष्य दूसरे की विद्या और अनुभव से लाभ उठाता है और इस प्रकार अपनी बुद्धि की वृद्धि करता है। वाक् और स्मृति ही ऐसी शक्तियाँ हैं जिनके कारण हम दूसरों की अनुभूतियों और अनुमानों को अपने में एकत्र कर सकते हैं और एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में पहुँचा देते हैं। इससे हमारी अपने आप देखने-भालने और निर्णय करने की योग्यता की तो कुछ हानि अवश्य हुई, परन्तु मानव-समुदायों में परम्परागत विचार और रूढ़ियाँ निर्धारित हो गईं। आदमी को एक बहुत बड़ी सहायता मिली, जब उसने लिखना सीख लिया। लेखों के द्वारा आदमी ने दूसरों के अनुभवों से जिस प्रकार लाभ उठाया, वह बन्दरों के लिए बिल्कुल असम्भव है। इन्हीं शक्तियों के कारण हम अपने मस्तिष्क के ऊपर अनुचित घमंड करने लगे। कदाचित् हम कभी इतने होशियार न होते यदि हमसे कभी कोई बोला न होता अथवा हमने कभी कोई किताब न पढ़ी होती। यदि हमको सिखाया न गया होता, तो शायद ५-६ तक की गिनती भी हमें न आती, लेकिन

ज़बानी और पुस्तकों से पढ़कर हम बीज-गणित और रेखा-गणित ऐसे कठिन विषय भी सीख लेते हैं।

इन सब बातों से स्पष्ट होता है कि मनुष्य खाने-पीने, चलने-फिरने, लिखने-पढ़ने के लिए अन्य पशुओं की अपेक्षा दूसरों पर अधिक निर्भर हैं। यूनान के प्रसिद्ध प्रकृतिवादी और दर्शनशास्त्र-वेत्ता ऐरिस्टॉटल (अरस्तू) ने ठीक ही कहा है, कि "मनुष्य एक सामाजिक जीव है। वह न कभी अपने लिए जीता, न कभी अपने लिए मरता है।" हम ऐसे बने हैं कि हमारे लिए दूसरों के प्रभाव से अलग रहकर जीना बिल्कुल असम्भव है। सच तो यही है कि हम समाज के नियमों से ऐसे जकड़े हुए हैं कि दुनिया को बजाय अपनी आँखों के समाज की आँखों से देखने लगे हैं। कदाचित् इसी का यह फल है कि जब हम दुनिया में जन्म लेते हैं, बिल्कुल बेदम होते हैं। उस दशा में हम सारे जन्तुओं या वनस्पतियों से अपनी ख़बरदारी कम कर सकते हैं। हम अन्य प्राणियों से अधिक समय तक विवश रहते हैं। मनुष्य के बच्चे यह जानने के लिए कि क्या करें और कैसे करें, अन्य जीवधारियों की अपेक्षा, दूसरों पर अधिक निर्भर हैं। अगर कोई स्वस्थ और समझदार मनुष्य अन्य आदमियों की संगत से काफी समय तक पृथक् रक्खा जाय, तो उसकी विचार शक्ति में अवश्य ही हीनता आ जायगी। बच्चों में तो यह बात बहुधा देखी गई है। कभी कभी अवसर पाकर भेड़िये छोटे बच्चों को उठा ले जाते हैं और कभी-कभी जंगल के भटके हुए बच्चे भालू और बैबून (अफ्रीका का एक बड़ा बन्दर) या भेड़ियों को मिल जाते हैं और वे उनका अपने बच्चों की भाँति पालन-पोषण करते पाये गये हैं। जब ये बच्चे फिर अपने जंगली आश्रयदाताओं से छीन लिए गए तो देखा गया कि वे मानव-प्रकृति से बिल्कुल वंचित थे। वे अपने चारों हाथ पैरों से चलते-फिरते थे और मनुष्यों की-सी बोली बोलने की अपेक्षा उन पशुओं की, जिनमें कि वे पहले रहे थे, चीखते, चिल्लाते और इधर-उधर कूदते-फिरते थे। किसी किसी को आदमी की चाल और बोली सीखने में वर्षों लग गये, फिर भी वे सदा मूर्ख ही रहे। हमारे देश में कई बार ऐसे बच्चे सचमुच जंगल से पकड़े गये हैं और उनके विवरण प्रकाशित भी हुए हैं। लेखक को स्वयं ही सन् १६१२ या १६१३ में एक ऐसे बच्चे को, जो लगभग ६ वर्ष का था और भेड़िये की माँद से पकड़कर लाया गया था, मथुरा के अनाथालय के अस्पताल में देखने का अवसर मिला था। यह बच्चा चारों हाथ पैरों से चलता-फिरता था और झुके रहने के कारण उसकी खोपड़ी भी कुछ लम्बी-सी हो गई थी। वह आदमियों को देखकर भेड़ियों की तरह गुर्राता और भूकता था, छोटे बच्चों पर आक्रमण करने की भी चेष्टा करता था। उस समय वह मनुष्यों की बोली न तो बोल सकता था, न समझ सकता था। सन् १६३७ में बम्बई के सचित्र साप्ताहिक 'इलस्ट्रेटेड वीकली' (Illustrated Weekly of India) में दो लड़कियों का पूरा वर्णन छपा था, जिन्हें जे० एल० सिंह नामक एक पादरी साहब मिदनापुर के जंगल से भेड़ियों के भिटे से पकड़कर लाये थे। जिस समय ये बच्चे पकड़े गये थे, वे भी भेड़ियों ही की तरह चलते-फिरते तथा खाते-पीते थे। उनकी भाषा केवल गुर्राना और भूकना ही थी। रात में नित्य वे तीन बार एक विशेष प्रकार से निश्चित समय पर भूंका करते थे। उनका यह स्वभाव धीरे-धीरे बहुत दिनों में छूटा। दो वर्ष मनुष्यों के साथ रहने और सिखाये जाने पर भी वे "माँ" 'हू, हू" और 'न, न" के सिवाय और कुछ न बोल सकते थे। चार वर्ष बीतने पर उन्होंने कुछ बोल-चाल सीख पाई थी, हालाँकि उनकी आयु ८-१० वर्ष की हो गई थी।

नेकी और हम

उपर्युक्त बातों से स्पष्ट रूप से विदित होता है कि जानवरों और आदमियों के बीच मानसिक और आत्मिक बलों में एक महान् खाई है। इन्हीं बलों के अनुसार मनुष्यों में भी बहुत अन्तर है जैसे सन्त और पापी में, विद्वान् और मूर्ख में। परमात्मा की सृष्टि में मनुष्य ही सर्वश्रेष्ठ है। ईश्वर ने अपने अंश का जितना भाग मनुष्य को दिया है, उतना और किसी को नहीं। मनुष्य और पशुओं के बीच में नेकी की एक कल्पित विभाजक रेखा है। उसके ऊपरी ओर सचाई, साहस, ईमानदारी, परोपकार, विपत्ति में दूसरों की सहायता करना, आदि मनुष्य के गुण हैं। उसके नीचे पशुओं के-से कर्त्तव्य लड़ना-झगड़ना, मारना-पीटना, नोचना-खसोटना इत्यादि हैं। कभी-कभी मनुष्य भी जब मनुष्यत्व से गिर जाता है अथवा जब पशुत्व मनुष्यत्व के ऊपर अधिकार कर लेता है, तो मनुष्य पशुओं के-से कार्य करने लगता है। एक आदमी या राष्ट्र दूसरे आदमी या राष्ट्र के देश, धन और माल को ज़बरदस्ती छीनने को तैयार हो जाता है और घमासान युद्ध ठान लेता है; निरपराध स्त्री, पुरुष और बालकों पर अत्याचार करता है। इस समय मनुष्य अपनी सभ्यता को भूलकर लालच और घमंड के नशे में चूर होकर अपनी बुद्धि को गँवा देता है और निर्दयी तथा जंगली हो जाता है। जब कभी पृथ्वी पर

ऐसा अत्याचार हुआ है (जैसा आजकल योरोप में हो रहा है) तब कुछ स्त्री और पुरुष ऐसे निकले हैं, जो सत्य और न्याय पर अड़े रहे हैं और इन गुणों के विरोधियों पर उन्होंने विजय पाई है। यदि ऐसा न हुआ होता, तो हम आज इस संसार को उजड़ा हुआ रेगिस्तान पाते।

सत्य और ईमानदारी

अब हम "सत्य और ईमानदारी" इन दो ही नेकियों के विषय में सोचें कि इनके बिना हमारी क्या दशा होती। अगर हमको एक दूसरे का विश्वास न होता, तो न कहीं दूकानें होतीं, न बंक होते, न डाकख़ाने होते और न बीमा की कम्पनियाँ होतीं। हम सबको खुद ही अपना पेट भरने के लिए अनाज पैदा करना पड़ता या जीव-हत्या करना पड़ती। क्यों? इस भय से कि वह दूकानदार, जिससे हम खाना लाये हैं, झूठा या दग़ाबाज़ तो नहीं है; उसने खाने में कहीं विष तो नहीं मिला दिया है! अगर हम दूसरों को झूठा समझते तो अपने कमाये, कठिनता से बचाये हुए धन को बंक में न रख सकते और न तिजारत में लगा सकते; क्योंकि हमारे जी में यह खटका लगा रहता कि कहीं बंकवाले या कम्पनीवाले हमारे धन को हड़प न जायँ। हम डाक्टर की बतलाई हुई ज़हरीली से ज़हरीली दवा दूकान से ख़रीदकर पीते हैं, क्योंकि हमको विश्वास रहता है कि डाक्टर का नुसख़ा हानिकारक न होगा और दूकानदार ने भी दवा ठीक से बनाई होगी। हम हवाई जहाज़, रेलगाड़ी, आदि में बैठकर यात्रा करते हैं क्योंकि हमें भरोसा रहता है कि इनके चलानेवाले अपनी यथाशक्ति हमको हमारे इच्छित स्थान पर पहुँचायेंगे। किन्तु अगर मनुष्य के लिए दूसरों पर विश्वास करना असम्भव हो जाय, तो उसका जीवन और सामाजिक व्यवहार तहस-नहस हो जाय। इसलिए सचाई और ईमानदारी भी मनुष्य के लिए अति आवश्यक है।

मनुष्य और परोपकार

मनुष्य का एक और गुण परोपकार है, जो उसे सारे जीवों से ऊँचा बना देता है। ऐसा कौन-सा और जानवर हम जानते हैं, जो अन्य को विपत्ति में देखकर अपने प्राणों की पर्वाह न कर उसकी सहायता के लिए दौड़ पड़े? यदि किसी मकान में आग लग जाती है, तो अपरिचित मनुष्य भी उसको बुझाने और मकान के प्राणियों को बचाने का यथाशक्ति प्रयत्न करते हैं, चाहे स्वयं उनके प्राण संकट ही में आ जायँ। कोई बच्चा अथवा आदमी नदी में अचानक डूबने लगता है, तो दूसरा आदमी अपनी जान पर खेल-पानी में कूद पड़ता है और उसे किनारे पर ले आता है। क्यों? इसीलिए कि वह मनुष्य है, पशु नहीं। हममें से कौन ऐसा है, जिसने किसी जानवर के बारे में यह सोचा हो कि उसके जी में भी कभी ऐसा विचार आया हो कि वह स्वयं अपने उदाहरण और उपदेश से दूसरों को उनके दुःखों से मुक्ति दिला सकता है, जैसा महात्मा बुद्ध ने हज़ारों वर्ष पहले सोचा था। कई और मनुष्यों ने परोपकार के लिए स्वयं कष्ट ही नहीं वरन् प्राणदान भी दे दिये, जैसा ईसा मसीह ने लगभग २००० वर्ष हुए कर दिखाया था। आज भी महात्मा गाँधी जैसे व्यक्ति हैं जो दूसरों के हित के लिए खुशी से स्वयं कष्ट उठाने के लिए तैयार रहते हैं।

वास्तव में मनुष्य और अन्य प्राणियों की मानसिक और आत्मिक क्रियाओं में एक महान् भेद है। जब प्राचीन मनुष्य विकास की सीढ़ी पर वन-मानुषों से आगे बढ़ा और सीधे खड़ा होकर चलने लगा, तब उसकी आँख की दृष्टि बढ़ी, उसने समझनेवाले कान पाये, उसके हाथों में निपुणता, जीभ में वाक् और मस्तिष्क में स्मरणशक्ति बढ़ी और इसके पश्चात् उसने लेखन-कला निकाली। तब वह धीरे धीरे वन-मानुषों को नीचे छोड़ उन्नति की सीढ़ी के सबसे ऊँचे डंडे पर पहुँच गया, जहाँ हम उसे आज पाते हैं। अपने इतिहास के आरम्भ से ही मनुष्य का मन दृश्य और अदृश्य वस्तुओं के बारे में सोचता और प्रश्न करता रहा है। वह जंगल में कन्द मूल और फलों से अपना पेट भरकर संतोष की नींद नहीं सोता रहा, बल्कि सागर के तट पर खड़ा होकर उनकी गिरती उठती लहरों के बारे में भी ध्यान लगाने लगा। बादलों की गरज को सुनकर, आकाश पर सूर्य और चन्द्र को निकलते देख उनके बारे में भी वह सोचने लगा, जिससे उसके मस्तिष्क, ज्ञान और आत्मा की उत्तरोत्तर उन्नति होती गई। उसमें भलाई और बुराई की पहचान आ गई, जो और किसी जीव में नहीं पाई जाती। मनुष्य के उपर्युक्त गुणों में ऐसी उन्नति हुई कि आज हम यह कहने लगे कि मनुष्य को प्रकृति ने नेकी के लिए ही बनाया है। इस संबंध में हालैण्ड देश के प्रसिद्ध धर्मशास्त्रज्ञ ह्यूगो ग्रोटियस के अनमोल शब्दों को याद रखना चाहिए कि "ईश्वर को मनुष्य ही सबसे प्रिय जीव है।" जब तक वह अपने को अधिक नेक बनाने की कोशिश करता है, तभी तक वह सच्चा मनुष्य है। जिस घड़ी उसके मन में इस बात की परवाह नहीं रह जाती कि वह अच्छा है या बुरा, दोषी अथवा निर्दोषी, उसी घड़ी वह मनुष्य की पदवी से गिरकर पशुओं से आ मिलता है।

मस्तिष्क का स्थूल रूप

यद्यपि स्थूल मस्तिष्क का अध्ययन मनोविज्ञान का नहीं, बल्कि शरीरशास्त्र का विषय है, फिर भी मानसिक क्रियाओं को ठीक-ठीक समझने के लिए आवश्यक है कि मोटे तौर से हम उस यन्त्र से परिचित हो जायँ जो हमारी चेतन-शक्ति का केन्द्र है। स्थूल मस्तिष्क की रचना का विस्तारपूर्वक अध्ययन तो "हम और हमारा शरीर" शीर्षक स्तंभ ही में हम करेंगे।

हम मन या मस्तिष्क के विज्ञान का अध्ययन करने बैठे हैं और इस विज्ञान का क्षेत्र है, जैसा कि पहले लेख में कहा जा चुका है, मनुष्य की मानसिक क्रियाओं का अध्ययन। पर इसके पहले कि हम सीधे सोचने, समझने तर्क करने आदि मानसिक क्रियाओं का ज्ञान प्राप्त करें, हमें स्थूल मस्तिष्क के बारे में कुछ जानकारी प्राप्त करनी होगी, अर्थात् हमें मस्तिष्क का शरीरशास्त्र के अनुसार सरसरी तौर पर दिग्दर्शन करना होगा। कुछ वर्ष पूर्व बहुत सुरक्षित ढंग से कहा जा सकता था कि स्थूल मस्तिष्क का अध्ययन मनोविज्ञान का नहीं, बल्कि शरीरशास्त्र का विषय है, पर आज के इस वैज्ञानिक युग में किन्हीं भी दो विज्ञानों के बीच में आसानी से विभाजक रेखा का खींचा जा सकना सम्भव नहीं है। इसलिए मस्तिष्क की क्रियाओं के अध्ययन के लिए मस्तिष्क की स्थूल बनावट आदि की मोटे तौर पर जानकारी कर लेना वांछनीय ही नहीं, आवश्यक भी है।

हम अनुभव करते हैं, सोचते हैं, तर्क करते हैं और यह सब कुछ मस्तिष्क के द्वारा तथा ज्ञानेन्द्रियों या ज्ञानेन्द्रियों के तंतुओं के सहारे होता है। पर यह मस्तिष्क और ज्ञानेन्द्रियों के तंतु हैं क्या? इनका स्थान कहाँ है? ये किस प्रकार कार्य करते हैं?

वैज्ञानिकों ने बड़ी खोज और परिश्रम से यह परिणाम निकाला है कि हमारे शरीर का सबसे महत्त्वपूर्ण भाग मस्तिष्क हमारी खोपड़ी (Skull) के भीतर स्थित है। सिर के बाल और खाल के नीचे हमारी खोपड़ी होती है। यह हड्डियों का एक बड़ा पुष्ट-सा ढाँचा है, जिसका निर्माण आठ अस्थियों से हुआ है। उसके भीतर कई तरह की झिल्लियों का एक घना-सा जाल है, जिसके अन्त में स्थूल मस्तिष्क (Brain) मिलता है। मोटे तौर पर स्थूल मस्तिष्क की शक्ल और लम्बाई-चौड़ाई एक आधे कटे तरबूज़-जैसी होती है। वह बहुत ही मुलायम और लोहित-पीत (लाल-पीला के मिश्रण से मिले रंग का) होता है। उसकी ऊपरी तह में एक भूरे रंग की वस्तु भरी रहती है और भीतरी तह में सफेद रंग की। और वास्तव में हमारे आधे तरबूज़ की शक्ल के स्थूल मस्तिष्क के यही दो प्रमुख उपादान हैं। हेरिक नामक शरीरशास्त्रवेत्ता का मत है कि स्थूल मस्तिष्क के निर्मायक उपादानों में यह भूरे रंग का पदार्थ तौल में सारे मस्तिष्क का लगभग आधा होता है। मस्तिष्क में यह सबसे अधिक महत्व की वस्तु बतलाई जाती है। इसके महत्व पर सबसे पहले फ्रेंन्स जोज़ेफ़ गाल नामक एक जर्मन वैज्ञानिक ने १९वीं शताब्दी के आरंभ में ज़ोर दिया था। आधुनिक शरीरशास्त्र के प्रमुख अंग शरीर-तंतु-विज्ञान (Neurology) के हाल के अध्ययन और खोजों से यह ज्ञात हुआ है कि स्थूल मस्तिष्क के इन विभिन्न निर्मायक उपादानों के अलग-अलग विशेष कार्य हैं, जिनका शरीर के संचालन के लिए संपादित होना अत्यन्त आवश्यक है। यह ध्यान में रखने की बात है कि स्थूल मस्तिष्क एक चिकना पिण्ड-सा नहीं होता, बल्कि उसका धरातल बहुत ही ऊबड़-खाबड़ और उथला-पुथला-सा होता है, जैसे हल चलाने पर खेत की नालियाँ हो जाती हैं। यह पिण्ड आगे की ओर बढ़ते-बढ़ते ललाट तक और पीछे की ओर गर्दन के आगे तक बढ़ा चला गया है। इसका पिछला भाग आगे के भाग की तुलना में [illegible] मोटा और चौड़ा होता है। इस पूरे ढाँचे के दो हिस्से हैं—१. ऊपर का खोपड़ी को ऊपर से देखने पर दिख

है; इसे 'वृहत् मस्तिष्क' कहते हैं; २. वह जो वृहत् मतिष्क के पिछले हिस्से के नीचे स्थित है और जो मस्तिष्क की तली को उलटने पर ही देखा जा सकता है। इसे 'लघु मस्तिष्क' कहते हैं। वृहत् मस्तिष्क के दो खण्ड होते हैं, जिनके बीच एक दरार-सी रहती है। इस दरार के आस-पास के भाग दाहिने और बाएँ 'गोलार्द्ध' कहलाते हैं। इन गोलार्द्धों की पेचीदी रचना के बारे में विशेष बातें 'हम और हमारा शरीर' शीर्षक विभाग में क्रमशः आपको बताई जायँगी। यहाँ तो हमें इस अद्भुत यंत्र की रचना के संबंध में सरसरी तौर पर मोटी बातें जान लेना है, जिससे हमें अपने विषय के अध्ययन में सहायता मिले। वृहत् मस्तिष्क के पीछे गर्दन के पार बढ़ता हुआ रीढ़ की हड्डी से होते हुए वह पीठ के रास्ते कमर तक पहुँचता है। कपाल से लेकर कमर के ऊपर तक रीढ़ के साथ-साथ फैला हुआ हमारे वात-संस्थान का यह भाग ही सुषुम्ना है। यह बेलनाकार होती है। इसके बीच भी एक लंबी घाई होती है, जिससे उसके दो पार्श्व बन जाते हैं। इन दोनों पार्श्वों से कुछ-कुछ अंतर देकर बहुत-सी सूत्रवत् नाड़ियाँ निकलती हैं। ये पतले वातसूत्र या तंतु अपने उद्गम-स्थानों से प्रारंभ होकर शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों में अपने निर्दिष्ट स्थानों पर पहुँचकर रस्सी की लड़ियों की तरह फैले हुए हैं। इन वात-सूत्रों से हमारा सारा शरीर आच्छादित है। शरीर

मस्तिष्क की रचना

×× चिह्नवाला भाग महासंयोजक है।
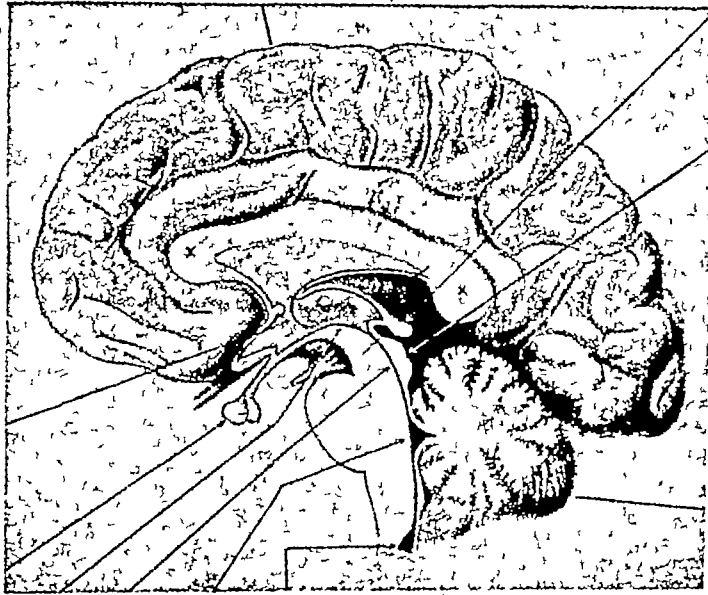
का बाहरी आवरण धूसर रंग का होता है, किन्तु भीतर से वह श्वेत होता है। बाहरी धूसर अंश को 'वल्क' कहते हैं। लघु मस्तिष्क की शक्ल पिचके गोले जैसी होती है। यह वृहत् मस्तिष्क से बहुत छोटा और वजन में दो ढाई छटाँक होता है। इसके पृष्ठ पर भी वृहत् मस्तिष्क की तरह घाइयाँ होती हैं। पर ये वृहत् मस्तिष्क की घाइयों से अधिक गहरी होती हैं। इन दोनों मस्तिष्क के अलावा हमारा एक और महत्वपूर्ण अंग है, जिसका हमारे वात-संस्थान से घनिष्ट संबंध है। यह 'सुषम्ना' कहलाता है। और इसका स्थान रीढ़ है। यहाँ यह बतला देना जरूरी है कि मस्तिष्क का अन्त खोपड़े ही तक नहीं हो जाता, बल्कि शरीर का कोई भी ऐसा भाग नहीं, जो इनसे खाली हो। ये वात-सूत्र शरीर के इस बड़े कारखाने में तारबर्की की तरह काम करते हैं। और हर जगह की खबर मस्तिष्क के केन्द्रीय संस्थान को दिया करते हैं। शरीर में यदि कहीं भी कोई काँटा या कोई और चीज़ चुभ जाय तो वहाँ के स्नायु कट जायँगे और पीड़ा द्वारा इसकी सूचना या अनुभूति इन्हीं वात-सूत्रों द्वारा केन्द्रीय चेतना या मस्तिष्क को पहुँच जायगी। इन सूत्रों के सिरों में विषय के ज्ञान या अनुभूति को ग्रहण करने की अद्भुत स्वाभाविक शक्ति होती है और उनके शेष भागों में उस सूचना के वहन करने और उसे निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचा देने का विचित्र सामर्थ्य होता है। भिन्न-भिन्न काम

करनेवाले भिन्न-भिन्न वात सूत्रों से सिरों की बनावट भी अलग-अलग प्रकार से उनके कार्यों के उपयुक्त ही होती है। दृश्य जगत् की अनुभूति वहन करनेवाले तंतुओं के सिरे एक तरह के हैं, तो शब्द का ज्ञान करानेवाले तंतु के सिरे दूसरे प्रकार के और स्पर्श या गन्धवाहक तंतुओं के सिरे तीसरे ढग के होते हैं।

अब प्रश्न यह उठता है कि पदार्थों की अनुभूति इन ततुओं को कैसे हो पाती है? वैज्ञानिकों ने बड़े परिश्रम और खोज के बाद सिद्ध किया है कि आकाश तत्त्व (ether) में हलचल होने पर प्रकाश की लहर उठा करती हैं और वे अन्य वस्तुओं से टकराकर चारों ओर छिटक जाती हैं। यही लहरें जब एक निश्चित संख्या और परिमाण में होती हैं, तो हमारी आँखों की विशेष प्रकार की बनावट के कारण उनके द्वारा देखने से सम्बन्ध रखनेवाले वातसूत्रों के सिरों तक पहुँच जाती हैं। इसी प्रकार वायु में जो लहरें निरन्तर उठा करती हैं, उनका भी एक निश्चित परिमाण हो जाने पर 'शब्द' या सुने जा सकने योग्य ध्वनि बनती है और श्रवण-वातसूत्रों के सिरों पर वह पहुँचती है। विद्वानों ने हिसाब लगाया है कि ठीक हवा की लहरों की संख्या चालीस हज़ार प्रति सेकंड हो, तब 'शब्द' श्रव्य बन सकता है अन्यथा शब्द का अस्तित्व होते हुए भी वह मनुष्य के लिए श्रवण सुलभ नहीं है। अब यहाँ पर एक बहुत ही विवादास्पद प्रश्न उठ सकता है। वह यह है कि हवा की इन लहरियों की, जब कि उनकी संख्या प्रति सेकंड चालीस हज़ार के नीचे होती है, हमें कैसी अनुभूति और किस ज्ञानेन्द्रिय के ज्ञानतंतु द्वारा होती है? यह एक टेढ़ा सवाल है। असल में विज्ञान अभी शैशव की अवस्था में है और वह इस प्रश्न का उत्तर दे सकने में असमर्थ है। इसके अतिरिक्त विकासवाद का निश्चित और प्रमाणित यह मत कि प्राणिजगत् में मनुष्य सरीसृप और वानरों की अवस्था से गुज़रकर आज का मनुष्य बना है, इसका किसी हद तक समाधान उपस्थित करता है। विभिन्न प्राणियों के स्थूल मस्तिष्क का विकासवादी दृष्टिकोण से अध्ययन करनेवालों ने पता चलाया है और उन्होंने यह प्रमाणित किया है कि किस प्रकार विकास की विभिन्न सीढ़ियों से गुज़रकर मनुष्य में अनुभव प्राप्त करने और ज्ञान वहन करनेवाले वात-तंतुओं का उत्तरोत्तर विकास हुआ है। न केवल इतना ही, बल्कि मनुष्य-शरीर के ही कालान्तर से विकसित होते हुए भिन्न-भिन्न स्वरूपों में बहुत-सी विशेषताएँ, जो पहले के मनुष्य में नहीं थीं, आज आ गयी हैं। इसलिए संभव है कि भविष्य में इस विकासशील और प्रगतिशील प्राणी में उन अननुभूत वायु की लहरियों की भी अनुभूति प्राप्त करने के लिए कोई तंतु बढ़े या स्थूल मस्तिष्क में कोई क्षेत्र बन जाय और लगभग चालीस हज़ार प्रति सेकण्ड से कम या उसके बहुत ऊपर की वस्तुस्थिति का भी हम अनुभव करने लगें।

मनुष्य-शरीर में वात-सूत्रों का जाल

काले भाग, मस्तिष्क, से नीचे की ओर जो मोटी काली रेखा खिची है, वही सुषुम्ना है। इसीसे शाखाओं की तरह फूटकर वात सूत्र सारे शरीर में फैल गये हैं।

इस तरह हमने देखा कि स्थूल मस्तिष्क की सारी क्रियाशीलता में ज्ञानवाहक वातसूत्रों का बहुत ही महत्वपूर्ण भाग है। पर इतने ही से तो मस्तिष्क की क्रियाशीलता का काम नहीं चल सकता। उदाहरण के लिए यदि किसी सरकार के केन्द्रीय शासनविभाग में केवल के ज्ञान और संदेश पहुँचाने की ही क्षमता है, तो एक मौन चकित दर्शक हो रह जायगा तक उसके पास अर्जित ज्ञान और प्राप्त स

निर्णीत आदेशों को भिन्न-भिन्न विभागों तक ले जानेवाले आज्ञाकारी कर्मचारी न हों, तब तक वह उन विभागों का शासन करने में असमर्थ ही रहेगी। मस्तिष्क हमारे शरीर का केन्द्रीय शासन-विभाग कहा जा सकता है। उनके राज्य-संचालन के लिए ऊपर वर्णित वात सूत्र या तार दूत का कार्य करते हैं। ये सूत्र न सिर्फ़ विभिन्न अंगों की सूचना या संदेश मस्तिष्क तक पहुँचा देते हैं, बल्कि मस्तिष्क की आज्ञा या आदेश को उन अंगों तक पहुँचाने का काम भी इन्हीं के सुपुर्द है। इन दोनों कामों के लिए दो भिन्न-भिन्न प्रकार के सूत्र या तार हमारे नाड़ी-मण्डल में हैं—१. वे जो मस्तिष्क और सुषुम्ना से विभिन्न अंगों को जाते हैं; ये 'केन्द्र त्यागी' कहे जाते हैं; २. वे जो अंगों से मस्तिष्क और सुषुम्ना को जाते हैं; ये 'केन्द्रगामी कहलाते हैं। केन्द्रगामी तार सांवेदनिक होते हैं अर्थात् मस्तिष्क में उनके द्वारा किसी अंग की अनुभूति की संवेदना होती है। इसके विपरीत केन्द्र-त्यागी तार मस्तिष्क के आज्ञानुसार अंगों में गति उत्पन्न करते और उनका संचालन करते हैं। ये 'मोटर नर्व्ज़' (Motor Nerves) कहे जाते हैं। ये तार किस प्रकार अपना कार्य-संपादन करने में समर्थ होते हैं, यह हम विस्तारपूर्वक आगे के लेख में बतायेंगे। यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि केन्द्रत्यागी या गत्युत्पादक तारों के उत्पत्ति-स्थान मस्तिष्क अथवा सुषुम्ना के भीतर रहते हैं। इसके विपरीत केन्द्रगामी अथवा सांवेदनिक तारों के उद्गमस्थल सुषुम्ना और मस्तिष्क से बाहर होते हैं।

अब हमें यह देखना है कि उपयुक्त केन्द्रगामी तार मस्तिष्क में कहाँ जाकर समाप्त होते हैं तथा केन्द्रत्यागी तार के उद्गमस्थलों का मूल मस्तिष्क से क्या संबंध है। इस संबंध में अध्ययन करने पर वैज्ञानिकों ने यह मालूम है कि बृहत् मस्तिष्क के वल्क या भूसर अंश में भिन्न भिन्न भागों के भिन्न-भिन्न काम हैं। कोई भाग दृष्टि से संबंध रखता है, तो कोई स्वाद या घ्राण से। किसी का कार्य गति उत्पन्न करना है, तो कोई शीत, ताप, वेदना आदि की संवेदना ही से संबंध रखता है। ये भाग अलग-अलग कहे जाने पर भी वास्तव में एक-दूसरे से पेचीदे ढग से जुड़े हुए हैं, और परस्पर संबंधित हैं। ये विभिन्न भाग 'केन्द्र' कहलाते हैं। इस प्रकार बृहत् मस्तिष्क के पृष्ठ पर दृष्टि केन्द्र, श्रवण केन्द्र, घ्राण और स्वाद के केन्द्र, गति क्षेत्र, सांवेदनिक क्षेत्र आदि विभिन्न केन्द्र निश्चित हैं (देखो इसी पृष्ठ का चित्र)। यहाँ यह ध्यान में रखना चाहिए कि किसी शासन तंत्र के विभिन्न विभागों की तरह यद्यपि ये केन्द्र या विभाग केवल अपने-अपने कार्यों ही के लिए उत्तरदायी हैं, फिर भी ज़रूरत पड़ने पर ये एक-दूसरे से मिलकर भी काम करते हैं। ये क्षेत्र केन्द्रगामी और केन्द्रत्यागी तारों द्वारा शरीर के विभिन्न भागों से सम्बंधित हैं। मानव मस्तिष्क बड़ी पेचीदा मशीन है। उसकी क्रिया-प्रक्रिया हमारे बिजली की तार-बर्क़ी के जंजाल से कहीं अधिक गूढ़ और पेचीदा है। अंगों से मस्तिष्क तक संवेदना की सूचना पहुँचने या मस्तिष्क से उन अंगों तक प्रतिक्रिया के रूप में आदेश पहुँचने में यद्यपि एक पल भर लगता है, किन्तु इस क्रिया के संपादन के लिए संसार में सबसे अधिक पेचीदा यन्त्र-प्रणाली हमारे इस शरीर में प्रकृति ने बनाई है। हम अगले लेख में देखेंगे कि किस प्रकार यह मशीन काम करती है। साथ ही, यह भी देखेंगे कि ऊपर वर्णित अंगों के अलावा हमारे मस्तिष्क में और कौन-कौन विशेष महत्त्व के अंग स्थित हैं, जिनका हमारी मानसिक क्रिया-प्रक्रियाओं से अत्यंत महत्त्वपूर्ण संबंध है, जैसे लघु मस्तिष्क का क्या कार्य है, सुषुम्ना के सिपुर्द कौन-कौन-से काम हैं, एक इष्ट गति उत्पन्न करने में कौन-कौन-सी क्रियाओं का हमारे वात-संस्थान में होना आवश्यक है, आदि।
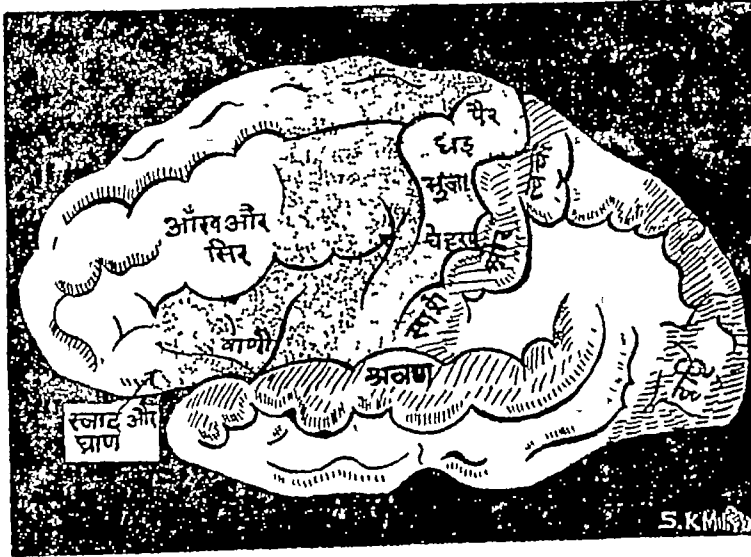
हमारे मस्तिष्क के विविध ज्ञान-केन्द्र

हमारा आर्थिक विकास

"मनुष्य निःसहाय होते हुए भी अपने बुद्धि-बल द्वारा संसार में सर्वविजयी हुआ है—इस विजय-यात्रा में प्रकृति और मनुष्य का प्रतिद्वन्द्व निरन्तर चलता रहा है।"

आदि काल से लेकर आज तक मनुष्य का जीवन निवासस्थान की प्राकृतिक दशा के अनुकूल ढलता रहा है। प्रकृति ने मनुष्य का आहार, वस्त्र, भूषण, रहने का घर, आचरण, आर्थिक उद्यम व राजनीतिक पद्धति को नियत किया है। पथरीले पहाड़ी देशों में, जहाँ खेती दुष्कर है, वन के कन्द-फल और पशु-मांस ही मनुष्य की भोजन-सामग्री रही है। यहाँ पशुओं की खालों से मनुष्य ने शरीर को ढकने का काम लिया है। मरुप्रदेशों में जल का अभाव होने के कारण समाज के विधान में हम जल के उपयोग के नियम तथा उसका दुरुपयोग करने पर दण्ड-विधान भी पाते हैं। भिन्न-भिन्न देशों का सामाजिक संगठन व आर्थिक क्रम वहाँ की भौगोलिक दशा के अनुसार निश्चित हुआ है। कहीं खेती का उद्यम है, तो कहीं कल-कारखानों द्वारा वस्तुएँ बनाकर दूर देशों को भेजी जाती हैं। यदि साइबेरिया और उत्तरी शीत प्रदेश के निवासी (एस्किमो आदि) पशु-मांस भक्षण करके बर्फ के मकानों में रहते हैं, तो अफ्रीका या भारतवर्ष के निवासी खेती द्वारा पैदा किये हुए अन्न व फल का स्वाद लेते हुए सूर्य व चन्द्र के प्रकाश में सुखप्रद जीवन व्यतीत करते हैं। अतः मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन प्राकृतिक दशा के द्वारा निर्धारित होता रहा है और नतमस्तक होकर उसे प्रकृति की आज्ञा का पालन करना पड़ा है। किन्तु इसके साथ-साथ प्रकृति से द्वन्द्व करने की भी उसने चेष्टा की है। मनुष्य का जीवन प्रकृति के साथ उसकी प्रतिद्वन्द्विता का एक रुचिकर इतिहास है। इस घोर युद्ध में मनुष्य का एक सहकारी और प्रबल मित्र उसकी बुद्धि थी। बुद्धिबल द्वारा मनुष्य ने पशु और प्रकृति दोनों को परास्त किया और प्रकृति का दास न रहकर प्रकृति और पशु दोनों को अपना दास बना लिया।

यह बतलाया जा चुका है कि मनुष्य ने सामाजिक जीवन जन्तुओं और पशुओं के आचरण से सीखा। परन्तु वास्तव में परिस्थिति व प्रकृति ने मनुष्य को साथ-साथ रहने व मिलकर काम करने के लिए विवश कर दिया। आर्थिक जीवन का प्रमुख कार्य भोजन एकत्रित करना है। प्रारम्भिक काल में मनुष्य को खेती करने की कला मालूम न थी। उस समय जीवन-निर्वाह की सामग्री केवल कन्द-फल, मछली और वन के पशु थे। पर्वत-प्रदेश तथा वन के समीप रहनेवालों का जीवन-आधार आखेट था। समुद्रतट-वासी मछली खाकर उदर-पोषण करते थे। विशेष बात यह है कि इस समय में मनुष्य का सामाजिक व आर्थिक संगठन भोजन व्यवस्था के अनुकूल ही बन गया। आर्थिक जीवन का आदि काल 'आखेट का युग' कहलाता है। इस काल में पुरुष आखेट करने, कन्द-फल जुटाने या मछली आदि पकड़ने में लगे रहते थे। स्त्रियाँ घर पर रहकर बच्चों का पालन-पोषण करती थीं। पुरुष निरन्तर भोजन की खोज में भ्रमण करता रहता था। इसलिए इस समय में मातृसत्तावादी (Matriarchal) परिवार का संगठन हुआ। जिस दिन सुयोग से भोजन अधिक मिलता, उस दिन बड़ा समारोह मनाया जाता था। आखेट के बाद परिवार के लोग एक स्थान पर एकत्रित होकर आनन्द मनाते थे। मित्र सम्बन्धियों का भोज होता था। यह एक प्रकार से उस समय का त्यौहार-दिवस था। आखेट में अनिश्चितता होने के कारण कई दिवस ऐसे भी होते थे, जब मनुष्य को जंगल अथवा जलाशय से निराश होकर खाली-हाथ घर लौटना पड़ता था। ऐसे दिन उपवास के अतिरिक्त कोई और उपाय ही न था। इस दुःखद अनिश्चितता को दूर करने और प्रति दिन के आखेट-सम्बन्धी अनिवार्य कठोर परिश्रम से बचने के लिए मनुष्य ने पशु से मैत्री करने का

प्रयत्न किया। अब मनुष्य आखेट में पशु को मारने व पकड़ने दोनों ही की चेष्टा करता था। इस नवीन योजना ने उसके जीवन पर बड़ा प्रभाव डाला। पशु को मारने के बजाय उसको जीवित पकड़ना अधिक दुष्कर कार्य था। अब यह आवश्यक हुआ कि कुछ मनुष्य साथ मिलकर आखेट पर जायँ और पशु को घेरकर पकड़ें। यही मनुष्य के सहयोगिक जीवन की नींव है। पशु पकड़ने के बाद इन बन्दी पशुओं के संरक्षण की समस्या उपस्थित हुई। डर था कि कहीं पशु भाग न जायँ, अथवा दूसरे मनुष्य और हिंसक पशु इन्हें उठा न ले जायँ। इसलिए परिवार के कुछ व्यक्तियों को पशुओं के निरीक्षण का कार्य करना पड़ा। साथ-ही-साथ इन पालतू पशुओं के भोजन के प्रबन्ध का भार भी बढ गया। उनकी समय-समय की देखरेख, तथा उनके बच्चों का पालन-पोषण स्वभाव ही से कोमलप्रकृति और मृगया के लिए असमर्थ स्त्री-जाति के हिस्से में आया। इस तरह आजकल के आर्थिक जीवन के मूल सिद्धान्त श्रम-विभाग (Division of Labour) का जन्म हुआ।

पालतू पशुओं में सबसे पहले पाला जानेवाला पशु कुत्ता था और यह पशु आज तक मनुष्य का साथी बना हुआ है। पालतू बनाने पर मनुष्य ने कुत्ते से आखेट में सहायता लेना प्रारम्भ किया और अब मनुष्य के समूह, पालतू कुत्तों की सहायता से, अन्य पशुओं को पकड़ने लगे। बहुधा शिकार न मिलने पर अथवा आखेट में असफल होने पर पाले हुए पशु को ही मारकर क्षुधा-तृप्ति होती थी। अपने परिवार के भोजन के अतिरिक्त पशुओं के लिए भोजन-प्रबंध का कार्य भी अब मनुष्य को चिन्तित करने लगा। अतएव मनुष्य ने अपना निवासस्थान ऐसे स्थानों को बनाया, जहाँ चरागाह समीप थे और पशुओं के लिए खाने का सुभीता था। थोड़े-थोड़े समय के बाद मनुष्य को अपना निवासस्थान बदलना पड़ता था और चरागाहों की खोज में जाना पड़ता था। इसके लिए मनुष्य ने कुत्ते के बाद घोड़े को पालतू बनाया और सुदूर यात्रा में उससे सवारी का काम लिया। पकड़े हुए पशु और चरागाह अब मनुष्य की सम्पत्ति गिने जाने लगे, जिन्हें बचाने की वह चेष्टा करता और उनकी रक्षा में बहुधा भिन्न-भिन्न दलों में परस्पर युद्ध भी होता था। विजयी दल पराजित दल के पशुओं और चरागाहों को छीन लेता था और पराजित दल को दास बनाकर अपने साथ रखता था। ऐसी अवस्था में प्रत्येक परिवार अपनी संख्या बढ़ाने की चेष्टा करने लगा। परिवार का बल ... पर निर्भर था। अब परिवार में पुरुष का पद उच्च समझा जाने लगा, क्योंकि युद्धकार्य, रक्षाकार्य, आखेट तथा चरागाहों का ढूँढना केवल पुरुष ही कर सकता था। परिवार मातृसत्तावादी के स्थान पर पितृसत्तावादी होने लगे। परिवार की जनसख्या बढ़ाने और एकत्रित रखने के लिए पुरुषों ने एक से अधिक विवाह किए, सयुक्त परिवार बनाये छोटे छोटे परिवारों में विवाह-संबंध द्वारा अथवा अन्य उपायों से मैत्री-भाव बढ़ाया और इस तरह कई परिवार अथवा जन-समूह मिलकर एक जाति के रूप में संगठित हुए। इन जातियों में साथ रहने के कारण एकसाँ आचरण-व्यवहार होता था। उनका एक मुखिया होता था और अधिकांश में उसी मुखिया के आदेशानुसार सम्पूर्ण जाति कार्य करती थी। चरागाहों का दूसरा प्रभाव मनुष्य के भोजन पर पड़ा। पशु मास के अतिरिक्त इनके भोजन में कन्द, मूल, फल इत्यादि भी अधिक मात्रा में आने लगे। पाले हुए पशुओं के प्रति मनुष्य में दया-भाव उत्पन्न हुआ और उनको मारकर खाने में उसे दुःख होने लगा।

अपने निवासस्थान को दैवी प्रकोप तथा हिंसक पशुओं से सुरक्षित रखने के लिए मनुष्य ने वृक्षों की शाखाओं, पत्थरों के टुकड़ों व अन्य सामग्री एकत्रित करके रहने के स्थान बनाये थे। पशुओं की खालें वस्त्र के काम लाई जाती थीं। अग्नि प्रज्वलित करने का कार्य भी मनुष्य को मालूम हो चुका था। दो पत्थरों को रगड़कर वृक्ष शाखाओं की सहायता से यह कार्य किया जाता था। यहीं से कला के विकास का भी आरम्भ होता है। इस कार्य में बूढ़े मनुष्य व स्त्रियों का प्रमुख हाथ था। युवा पुरुष सदैव आखेट, तथा परिवार व पशु-संरक्षण में संलग्न रहते थे। व्यक्तिगत सम्पत्ति की नींव भी इसी काल से पड़ती है। पकड़े हुए पशु, निवासस्थान तथा एकत्रित कन्द-मूल, परिवार व मनुष्य के छोटे-छोटे समूहों की सम्पत्ति समझे जाते थे। कहीं-कहीं तो चरागाह तक बँटे हुए थे और एक दूसरे के चरागाह में जाने के लिए तथा अधिकार पाने के लिए दो दलों में युद्ध भी होता था। इस समय तक मनुष्य को वृक्षों का लगाना तथा खेती करने की कला का ज्ञान नहीं हुआ था। खेती प्रारम्भ करने का श्रेय भी स्त्री-जाति ही को है। चरागाह के इस युग में स्त्रियाँ समीपवर्ती वन वृक्षों से कन्द-मूल तोड़ लेती थीं। नदियों से जल लाने का काम भी वे ही करती थीं। इस काम में कुछ समय तक एक ही मार्ग से फल इत्यादि लाते समय मार्ग में यहाँ-वहाँ फलों के बीज गिर जाते थे। उसी मार्ग से जल लाते समय उन पृथ्वी पर दबे हुए बीजों को पानी भी मिला। वर्षा ऋतु में इन बीजों ने छोटे-छोटे पौदों का रूप धारण किया
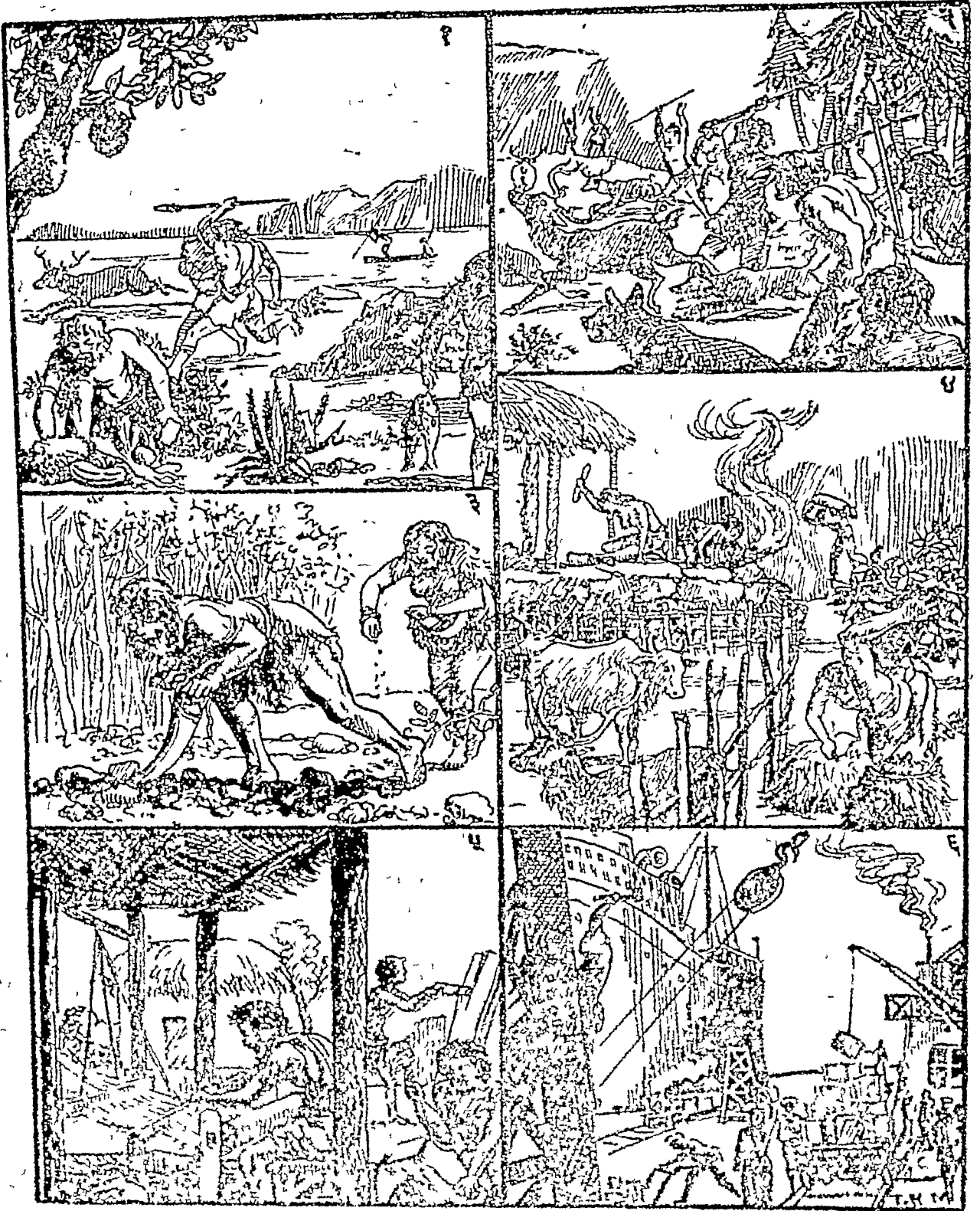
मनुष्य के आर्थिक जीवन का विकास

(१) आखेट-काल—जब जंगल के कंद-मूल, जल की मछली और वन के पशुओं से आहार प्राप्त करना ही मनुष्य का एकमात्र काम था; (२) पारस्परिक सहयोग का आरंभ—कई आदमी मिलकर कुत्ते आदि पशुओं की सहायता से बारहसिंगे आदि को घेर कर पकड़ रहे हैं। (३) खेती का आरंभ; (४) पारिवारिक जीवन का उदय और एक स्थान में बसना तथा पशु आदि को पालना; (५) छोटे-मोटे उद्योग-धंधों और कलाओं का आरंभ (६) आधुनिक युग में मनुष्य के आर्थिक जीवन का फैलाव

जिनको देखकर उस समय के मनुष्य को बड़ा कौतूहल हुआ। साथ-ही-साथ फल इत्यादि के इन वृक्षों के निवास-स्थान के समीप आ जाने से खाने की सुविधा भी हो गई, अतएव अब वृक्षों को समीप लगाने का प्रयत्न होने लगा और इसी प्रयत्न ने समयानुसार खेती का रूप धारण कर लिया।

भूमि व जलवायु के अनुसार भिन्न भिन्न प्रकार की खेती होने लगी। कृषि के विकास में भी अनेक अवस्थाएं रही हैं, जो देश की प्राकृतिक दशा तथा मनुष्य के तत्कालीन ज्ञान की अवस्था के अनुसार हुई हैं। खेती के काल में मनुष्य ने गाय व बैल को पालना शुरू किया और बैल से अपने इस नये कार्य में सहायता ली। खेती के आदि काल में भूमि खोदने के कार्य में पकड़े हुए मृगों के सींग से सहायता ली जाती थी। क्रमशः लोहे के अस्त्र बनाये जाने लगे और हल चलाने के लिए बैलों व अन्य चौपायों से काम लिया जाने लगा। यही कारण है कि कृषि-प्रधान देशों में आरंभ ही से गाय व बैल की महिमा बहुत है। खेती के विकास ने मनुष्य के निरन्तर भ्रमण, आखेट की खोज, भोजन की अनिश्चितता की अनिवार्यता को दूर कर दिया। अब परिवार एक स्थान पर बहुत काल तक निश्चित रूप से रहने लगा। इसके परिणामस्वरूप सुन्दर और अधिक काल तक रहनेवाले टिकाऊ निवासस्थानों का निर्माण हुआ। सबसे महत्वपूर्ण परिवर्तन यह हुआ कि मनुष्य गृहस्थ-जीवन व्यतीत करने के लिए बाध्य हुआ। एक किसान के लिए आवश्यक हुआ कि वह विवाह करे। खेती व्यक्तिगत न होकर अब परिवार की वस्तु हो गई, जिसमें सबका सहयोग अनिवार्य था। दुष्कर व परिश्रम के कार्य पुरुष के हिस्से में पड़े। स्त्रियाँ बीज बोने, ग़ल्ला साफ़ करने, खेत साफ करने इत्यादि के सुगम कार्य करती थीं। पशु-पालन का कार्य भी स्त्रियाँ तथा बालकों पर रहा। छोटी-छोटी कलाओं का उत्थान होने लगा। रुई इत्यादि के पैदा होने से कपड़ा बनने लगा। पुरुष को परिवार के साथ रहने और उसकी रक्षा व पालन का भार लेने से परिवार के स्वामित्व का पद प्राप्त हुआ। यहाँ से स्त्रियों का प्रभुत्व घटा तथा पुरुष का प्रभुत्व प्रबल हुआ।

इसके बाद का समय 'छोटे-छोटे कला-कौशल का युग' या 'कलाकार समिति (Guild) का काल' कहा जाता है। इस काल में व्यक्तिगत कलाकार से लेकर छोटे-छोटे कारखानों तक का उत्थान भी सम्मिलित है। छोटे-छोटे औज़ारों का बनाना, वस्तु को एकत्रित करना तथा औज़ारों के भिन्न-[illegible] मनुष्य ने इसी काल में सीखे। व्यक्तिगत सम्पत्ति का भाव अब प्रमुख हुआ और पैतृत्व की प्रथा प्रबल हुई। परिवार अथवा वंश संगठित हुए। एक ही उद्योग या कला में सलग्न व्यक्तियों में आवश्यकताओं, तथा सुविधा-असुविधाओं की एकता व समानता से परस्पर सम्पर्क बढ़ा और घनिष्ठता होने लगी। मनुष्य-समाज भिन्न-भिन्न उद्योगी समूहों में विभाजित हुआ। इधर गत दो शताब्दियों में मशीन, द्रुतगामी सवारियों तथा शीघ्र समाचार फैलने के साधनों के आविष्कारों ने कला-सम्बन्धी इस संगठन का रूप बिल्कुल पलट दिया है। छोटे-छोटे कारख़ानों, कारीगरों के परिवारों व व्यक्तिगत कलाकारों की जगह अब बड़े-बड़े मिलमालिकों द्वारा सचालित मिलें बन गई हैं। व्यापार गाँव, नगर व प्रान्त में सीमित न रहकर अब अन्तर्राष्ट्रीय हो गया है। गाँव की कला के विनाश के साथ-साथ मनुष्य के आर्थिक संगठन में भी अपूर्व परिवर्त्तन हुआ है। सुदृढ़ पारिवारिक जीवन शिथिल हो गया है और परिवार-विच्छेद होने लगा है। आज पुरुष यदि एक कारख़ाने में काम करता है, तो स्त्री दूसरे में। अब मनुष्य का आर्थिक जीवन इस सीमा तक पहुँच चुका है कि आर्थिक निर्भरता व सहयोगिता का स्थान अब स्वतन्त्रता व स्वच्छंदता ने ले लिया है। देश की प्राकृतिक दशा, सम्पत्ति व विज्ञान की उन्नति के अनुसार मनुष्य ने संसार के भिन्न-भिन्न भागों में अनेक आर्थिक परिवर्त्तन किये हैं। आर्थिक विकास का क्रम सर्वदा सर्वत्र एक-सा न रहकर भिन्न-भिन्न रहा है। कहीं-कहीं कई अवस्थाएँ अब भी एक साथ ही पाई जाती हैं और किसी-किसी जगह प्रगति के कारण बीच की अवस्थाएँ प्राप्त किये बिना ही आगे की उन्नतिशील अवस्था ने स्थान पाया है। बुद्धि-विकास द्वारा मनुष्य का कार्यक्रम पशु बद्ध के कार्यों तक ही सीमित न रहा, वरन् वह धीरे-धीरे प्रकृति पर विजय पाता गया और प्रकृति के कुछ अटल व अजेय नियमों को छोड़कर मनुष्य ने प्रकृति को स्वामी के स्थान से गिराकर उस पर अपना स्वामित्व स्थापित कर लिया है। परन्तु इतनी उज्ज्वल विजय के बाद भी मनुष्य प्रकृति को बिल्कुल परास्त नहीं कर सका। इस काल कारख़ानों के युग में भी जलवायु का प्रभाव, पृथ्वी की परिमित उपज, मानव प्रकृति, धातुओं की सुलभता अथवा न्यूनता, भूकम्प, बाढ़, वर्षा की कमी, अति शीत और ताप आदि बातें प्रकृति की शक्ति का प्रदर्शन करते हैं और विज्ञान का पुतला पराक्रमी अजेय मनुष्य पुनः उत्साहित होकर उससे द्वन्द्व करने में लग जाता है। यह क्रम आदि से चला आया है और शायद अन्त तक चलता रहेगा।

सभ्यताओं का उदय—(१) प्राचीन मिस्र

इतिहास की पगडंडी पर मनुष्य की लम्बी यात्रा की शुरू की मंज़िलों पर हमने पिछले प्रकरण में सरसरी नज़र दौड़ाई और कुछ ही पन्नों में हजारों लाखों वर्ष हम पार कर गए। इस प्रकरण में हम आज से लगभग ६००० वर्ष पूर्व की स्थिति पर आ पहुँचे हैं, जब पृथ्वी के भिन्न-भिन्न स्थानों में एक साथ ही सभ्यताओं का उदय होने लगा था। इस लेख में हम सर्वप्रथम मिस्र को लेते हैं।

सिन्धु और गङ्गा ने भारत की और दजला और फरात नदियों ने मेसोपटेमिया की सभ्यता के विकास में जितना भाग लिया है, उससे भी अधिक नील नदी ने मिस्र देश की सभ्यता पर अपना प्रभाव डाला है। वस्तुत: नील नदी के बिना वहाँ सभ्यता की कल्पना तक नहीं की जा सकती। वहाँ का जीवन और सभ्यता नील नदी का ही प्रसाद है। उसकी बाढ़ से और जल में मिली हुई मिट्टी से उसके दोनों तट उपजाऊ हो गए वरना वहाँ रेगिस्तान ही दिखाई देता। उसी की सहायता से लोग मिस्र के विभिन्न स्थानों में आ-जा सकते थे। उसी के दोनों तटों पर मिस्र के इतिहास का निर्माण हुआ है। कोई आश्चर्य नहीं कि मिस्र-निवासी नील नदी को देवता मानकर उसकी स्तुति किया करते थे।

पुरातत्व-वेत्ताओं ने विशेषतया मोगन ने, यह पता लगाया है कि अन्य देशों की तरह मिस्र में भी पुराने और नये पत्थर के युग थे, जिनका समय ईसा के दस हज़ार से चार हज़ार वर्ष पूर्व तक रहा। इस भूभाग के पत्थर के औज़ार संसार के अन्य देशों के पत्थर-युग के औज़ारों से बनावट, सफ़ाई और तेज़ी में बेहतर हैं। उस समय के लोगों ने जङ्गल साफ करके, दलदलों को दूर करके, खेती करना आरम्भ कर दिया था। वे नाव बनाना, अनाज पीसना, मिट्टी के अच्छे बरतन बनाना, कपड़े और दरी बुनना और तस्वीर बनाना जानते थे। वे जानवर पालते थे। उन्हें हथियार बनाने और रङ्गों का ज्ञान था। वे खाल कमाते थे। उनको चित्र-लेख अङ्कित करना आता था। पत्थर-युग के अन्त में उनको धातुओं का ज्ञान हो गया था। कुछ लोगों का अनुमान है कि लेखन-कला का आविष्कार मिस्र देश में ही हुआ है। यह तो सब मालूम हुआ, किन्तु यह ठीक पता नहीं कि वहाँ के आदिम निवासी कौन और किस जाति के लोग थे। यह अनुमान किया गया है कि वे लोग किसी एक जाति के न थे। उनका समाज न्यूबिया, लीबिया और ईथोपिया के काले लोगों एवं सेमेटिक और आर्मिनाइड लोगों के मिश्रण से बना था।

मिस्र के ऐतिहासिक काल का आरम्भ वस्तुत: ईसा के ३४०० वर्ष पूर्व अर्थात् अबसे लगभग ५४०० वर्ष पहले होता है। वहाँ के इतिहास को विद्वानों ने कई भागों में विभक्त किया है। पहला भाग ३४०० से २१६० वर्ष ई० पू० तक रहा। उसे 'पुरातन राज्य' (Old Kingdom) कहते हैं। उसके बाद 'माध्यमिक राज्य' (Middle Kingdom) अथवा 'सामन्त सत्ताकाल' (Feudal Age) आरम्भ हुआ, जो २१६० से १५८० वर्ष ई० पू० तक रहा। तीसरा काल जिसे 'नया राज्य काल' (New Kingdom) अथवा 'साम्राज्य काल' कहते हैं, १५८० से ६४५ ई० पू० तक रहा। इसके बाद मिस्र के दुर्दिन आ गये। उस पर आक्रमण होने लगे। ईसा के पूर्व की छठी शताब्दी में फ़ारस ने मिस्र में अपना प्रभुत्व स्थापित किया और ३३२ ई० पू० में यूनान के प्रख्यात विजेता अलेक्ज़ाण्डर (सिकन्दर) ने सदा के लिए मिस्र की स्वाधीनता का अन्त कर दिया। ऐतिहासिक ... मिस्र में इकतीस राजवंशों ने राज्य किया, ... पादरियों और पुजारियों विशेष रूप से ...
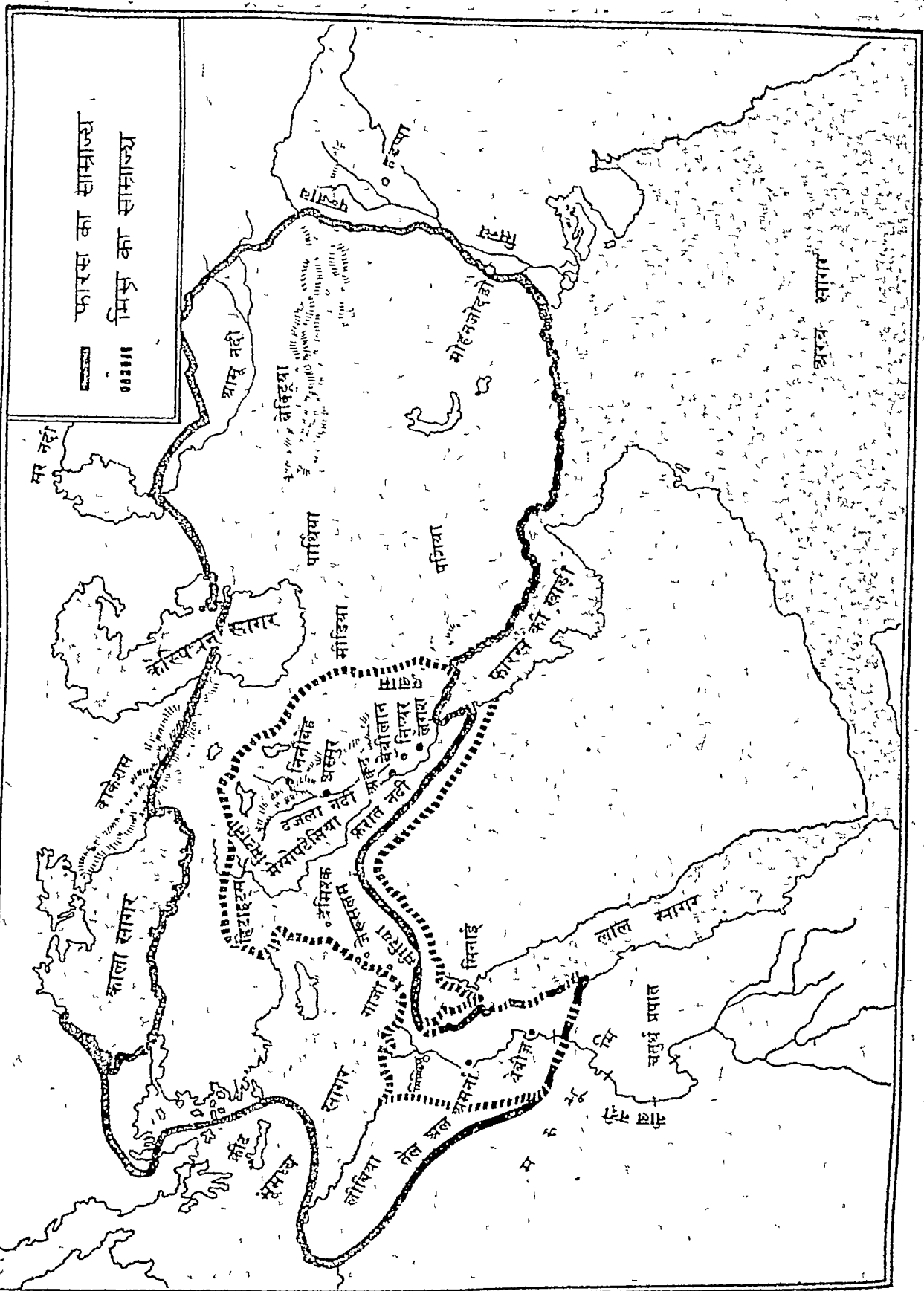
प्राचीन दुनिया का मानचित्र (फ़ारस के साम्राज्य के बारे में आगे विवरण दिया जायगा)

पुरातन राज्यकाल (३४००-२१६० ई० पू०)

इस युग का उस समय आरम्भ हुआ जबकि 'मीनीज़' नामक एक व्यक्ति ने, जो नील नदी के दक्षिणी भाग में राज्य करता था, नील के उत्तरी भाग को जीतकर सम्पूर्ण तलहटी में एक राज्य स्थापित कर दिया। उसके पहले अनेक छोटे-छोटे ज़मींदारों ने मिलकर एक राज्य नील के उत्तर में और एक दक्षिण में बना लिये थे। मीनीज ने क़ानूनों को प्रचलित किया, जो उसे 'थोथ' नाम के देवता से मिले थे। उसने लोगों को मेज़ और काउच (Couch) का प्रयोग सिखलाया। उसने अपनी राजधानी 'मेम्फ़िस' नगर में स्थापित की। इस समय का दूसरा प्रसिद्ध राजा ज़ोसीर (३१५० ई० पू०) हुआ, जिसको मिस्र के लोग देवता की तरह मानते थे। इसका कारण यह बतलाया जाता है कि उसने वैद्यक, विज्ञान, कला और स्थापत्य-विद्या का प्रचार मिस्र में पहले ही पहल किया। कहते हैं कि इसी के समय से वहाँ पत्थर के मकान बनना शुरू हो गये। इस युग में दस वंशों ने राज्य किया। ज़ोसीर जब मरा तब 'सक्कार' में उसकी क़ब्र के ऊपर एक पटरीदार या सीढ़ीदार पत्थर का पिरामिड बनाया गया, जिसे देखकर बाद को बड़े विशाल पिरामिडों की रचना की गयी। संसार में सबसे पुराना पत्थर का मकान भी इसी के समय में बनाया गया था। इस युग में सुन्दर धारीदार पत्थर के खंभे, उभरी नक़्क़ाशी का काम, गोलदार रंगीन मिट्टी की चीज़ें बनायी जाने लगी थीं। कहते हैं कि इस युग का संसार को ज्ञात प्रथम स्थपति 'इमहोटेप' था। वह ऊँचे दर्जे का हकीम और राजनीतिज्ञ भी माना जाता है। इन्हीं गुणों के कारण वह राज-मंत्री हो गया था। उसी ने उस काल की पत्थर की इमारतें बनायी थीं।

फ़ेरो ख़ेफ़रे

यह 'कैरो म्यूज़ियम' में रखी हुई एक मूर्ति का चित्र है।

[फ़ोटो—मेट्रोपालिटन म्यूज़ियम ऑफ़ आर्ट]

चतुर्थ राजवंश (३०००-२५०० ई० पू०)

ज़ोसीर के सौ वर्ष के बाद मिस्र के चौथे राजवंश (Fourth Dynasty) का प्रभुत्व आरम्भ हुआ। इस समय तक मिस्र ने स्थापत्य-कला और कारीगरी में ऐसी उन्नति कर ली थी जितनी उन्नीसवीं सदी को छोड़कर संसार की किसी भी एक शताब्दी में कहीं भी नहीं हुई। खनिज-विद्या की उन्नति एवं मिस्र का बढ़ता हुआ व्यापार इस अपूर्व उन्नति के कारण माने जाते हैं। इस वंश का पहला राजा 'ख़ूफ़ू'* नाम का था। मिस्र उसके समय में समृद्धिशाली देश हो गया था। ख़ूफ़ू अभिमानी और उग्र स्वभाव-वाला था। उसने एक लाख मज़दूर लगाकर बीस वर्ष में सबसे पहला पिरामिड 'गीज़े' में बनवाया। यूनानी लेखक हेरोडोटस के अनुसार कुछ लोगों ने उसे अत्याचारी माना है। इन लोगों के अनुसार गुलामों से ज़बरन काम लेकर उसने पिरामिड बनवाया था। किन्तु कुछ विद्वान् कहते हैं कि बेकारी के समय में अथवा नील में बाढ़ आने से पीड़ित किसानों और जनता को काम और दाम देकर उसने उनकी रक्षा की थी। अतएव उसे प्रजापालक समझना चाहिए। उसका उत्तराधिकारी 'ख़ेफ़रे' हुआ, जिसने ५६ वर्ष तक संतोषजनक शासन किया। उसके बाद वंश का पतन होने लगा।

* यूनानवाले 'ख़ीऑप्स' नाम से इसका उल्लेख

गीज़े का पिरामिड तेरह एकड़ ज़मीन पर बना है। उस की ऊँचाई ४८१ फीट है। उसकी लम्बाई ७५५ फीट और उतनी ही चौड़ाई भी है। पत्थरों का वह एक ठोस त्रिकोण है। उसके बनाने में तेईस लाख या पच्चीस लाख पत्थर लगे होंगे। प्रत्येक पत्थर का वज़न लगभग ढाई टन* है, किन्तु कुछ पत्थरों का वज़न तो डेढ़ सौ टन (४२०० मन) तक है। इतने भारी-भारी पत्थरों को काटकर अरब आदि दूर-दूर के प्रदेशों से लाने और उतनी ऊँचाई तक चढ़ाने में एवं एक लाख मज़दूरों के रहने, खाने-पीने और प्रबन्ध रखने में जो कठिनाइयाँ और समस्याएँ पैदा हुई होंगी, उनका अनुमान किया जा सकता है। उनको सुलझाकर कार्य को सफल करना प्राचीन इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण कृति है। मिस्र में इञ्जीनियरी ग्रीस और रोम से अधिक बढ़ी-चढ़ी थी। वैसे इञ्जीनियर योरप में उन्नीसवीं शताब्दी तक भी नहीं हुए।

मेम्फिस नगर

गीज़े पिरामिड के आसपास राजमहल, कचहरियाँ, पार्क, बाग़ आदि बनने लगे और धीरे-धीरे वहाँ "मेम्फिस" नाम का सुन्दर नगर निर्मित हो गया। यहीं चतुर्थ वंश की राजधानी स्थापित हो गयी। इस नगर की इमारतें पत्थर की नहीं, बल्कि कच्ची ईंटों और लकड़ी की बनी थीं। रईस लोगों के मकानों के चारों ओर बाग़ लगाया जाता था। उनको कमल के फूलों का बड़ा शौक़ था। बाग़ के तालाब में कमल के फूल लहलहाया करते थे। उसमें बाल-बच्चे खेला करते थे और आदमी आमोद-प्रमोद करते, जुआ खेलते तथा स्त्रियाँ नाचा गाया करती थीं। नगर में अच्छे-अच्छे कारीगर बसते थे। लकड़ी का और सुनारी का काम ऐसा सुन्दर होता था कि जिसका मुक़ाबला आज दिन भी करना कठिन है। चतुर कुम्हार, शिल्पकार, शीशे की चीज़ें बनानेवाले, ताँबे और काँसे की चीज़ें बनानेवाले, बारीक कपड़े बिननेवाले, रँगरेज़, छीपी, फ़र्दसाज़, संगतराश, जौहरी, चित्रकार, काग़ज बनानेवाले वहाँ बसते थे। स्मरण रखना चाहिये कि मिस्र में शीशा और बादामी काग़ज़ बनाने की कला, और बिनाई में बड़ी उन्नति हुई थी। कहते हैं कि सबसे पहले वहाँ ही शीशे का बनाना आरम्भ हुआ था। मेम्फिस नगर की समृद्धि कृषि और व्यापार पर अवलम्बित थी। मिस्रवासी छोटी बड़ी नावों और बजरों द्वारा नदियों और मेडिटरेनियन (भूमध्य सागर) में व्यापार करते थे। स्थल-मार्ग से व्यापार गधों के द्वारा होता था, क्योंकि वहाँ के लोगों को घोड़ों का परिचय न था। इस समय वहाँ सिक्के का चलन शुरू नहीं हुआ था और व्यापार साधारणतया विनिमय (Barter) द्वारा होता था। मालगुज़ारी भी जिन्स में दी जाती थी। केवल राजा, और रईस सोने अथवा ताँबे के वज़नी छल्लों का प्रयोग सिक्कों की तरह करते थे।

पिरामिड काल में मिस्र का समाज तीन श्रेणियों में विभक्त था। एक श्रेणी तो दासों की थी, जो दूसरों की ज़मीन पर काम करते थे। दूसरी श्रेणी में स्वतन्त्र जनता थी, जो कृषि और उद्योग-धन्धों से अपना निर्वाह करती थी। प्रत्येक पेशे के लोग पीढ़ी-दर-पीढ़ी उसी काम को करते थे, जिससे कि हर एक पेशे की बिरादरी या ज़ात बन गयी थी जैसी कि हमारे देश में है। हर पेशे के लोगों का एक नायक होता था, जो सबसे काम लेता और उनको मजदूरी देता था। मज़दूरी में अधिक विलम्ब होने अथवा ज्यादती करने पर कारीगर हड़ताल कर देते थे और कभी-कभी तो उपद्रव मचाते और आक्रमण कर बैठते थे। उपर्युक्त दोनों श्रेणियों के लोगों के पास अपनी ज़मीन न होती थी। इनके ऊपर ज़िमींदार, और सरकारी बड़े उच्च पदाधिकारी थे। सबसे ऊँचा स्थान 'फेरो' अर्थात् राजा या सम्राट् का था। सम्राट् ही कुल ज़मीन का मालिक माना जाता था।

पाँचवाँ वंश (२६६५-२८२५ ई० पू०) और छठा वंश (२८२५-२६३० ई० पू०)

चौथे राजवंश के बाद पाँचवें राजवंश का आरम्भ हुआ। इस वंश के तेरह राजाओं के नाम मिलते हैं, किन्तु सम्भवतः नौ राजाओं ने ही राज्यासन शोभित किया। इस समय के इतिहास का अधिक ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ है। किन्तु एक बड़े महत्व की वस्तु उस समय का एक पेपाइरस अर्थात् काग़ज़ की लपेटी हुई कुण्डली-सी मिली है, जिसमें पाँचवें वंश के सम्राट् तत्-का-रा अस्स (Tat-Ka Ra Assa) के समय की घटनाओं का उल्लेख है। कहा जाता है कि संसार का सबसे पुराना लेख यही है।

पाँचवें वंश की मुख्य विशेषता मिस्र में उत्तर के सूर्य देवता 'रा' की पूजा का पुनः स्थापन और प्रचार करना है। इसके पहले वहाँ दक्षिण के आकाश-देवता 'होरस' की पूजा होती थी। कहा जाता है कि इसी काल से मिस्र में 'पुरोहित' (Priest) श्रेणी का प्रारम्भ हुआ। इसके पहले पुरोहितों की कोई पृथक् श्रेणी न थी। इसी प्रकार पैतृक या पुश्तैनी पदाधिकारियों का भी आरम्भ हो गया। इसके पहले वहाँ राज्य के बड़े-बड़े पद राजा के वंशजों को ही मिलते थे। किन्तु इस समय से उच्च पद पुश्तैनी

* एक टन का वज़न लगभग २८ मन होता है।

हो गये। इनको जो अधिकार और भूमि मिली थी, वह छठे राजवंश के समय तक इनके वंश में पुश्तैनी हो गई।

छठे वंश में "पेपी" द्वितीय नाम का पराक्रमी राजा हुआ। इसके समय (२७३८ से २६४४ ई० पू०) से यह प्रथा चली कि प्रत्येक राजा अपने समय में ऐसे मन्दिरों का निर्माण करावे, जो भविष्य में उसके महत्त्व के साक्षी हो सकें। पेपी ने स्वयं लाल पत्थर के मन्दिर बनवाये। इस पत्थर के लिए उसे 'असवान' पर दो बार आक्रमण भी करना पड़ा। कहा जाता है कि 'सुएज़' की ओर भी उसने चढ़ाई की थी। अपने राजत्व काल में पेपी द्वितीय ने पाँच नहरें खुदवायीं, जिनका उद्देश्य असवान से पत्थर लाना था। यद्यपि पेपी के समय में राजकोष और राज्य की वृद्धि हुई और उसे योग्य मंत्री भी मिले और उसका राज्य-काल लगभग ९४ वर्ष तक रहा, किन्तु राज्य के अस्त-व्यस्त होने के लक्षण उसके राज्य-काल के अन्त तक साफ़ दिखाई पड़ने लगे। उसके मरते ही उसका राज्य भी टुकड़े टुकड़े हो गया। स्थानिक ज़मींदार, सरदार और राजवंश स्वतन्त्र बन बैठे। मेम्फ़िस नगर का महत्त्व भी उसके साथ-साथ नष्ट हो गया। ऐसी परिस्थिति में 'सीरिया' वालों ने मिस्र पर आक्रमण कर दिया। यह भी कहा जाता है कि न्यूबिया के 'नीग्रो' लोगों ने भी उस पर चढ़ाई कर दी। परिणाम यह हुआ कि पुराने राजवंशों और उनके ऐश्वर्य का अन्त हो गया।

माध्यमिक राज्य काल

ग्यारहवाँ राज्य-वंश (२३७५ से २२१२ या २१६० से २००० ई० पू०)

करीब तीन सौ वर्ष तक मिस्र का इतिहास अन्धकारपूर्ण और संभवतः अशान्तिपूर्ण रहा। छोटी छोटी रियासतों के आपस के बैर और विदेशियों के आक्रमण से मिस्र अव्यवस्थित हो गया। किन्तु उसका उद्धार करनेवाली एक नई शक्ति मिस्र के मध्य भाग से पैदा हो गई। यह थीबिया का "मन्तैतो" वंश था, जिसकी राजधानी 'थीबीज़' में थी। इस वंश का सबसे बड़ा राजा नेमपेत्र (२२६०-२२४२ ई० पू०) हुआ, जिसने ज़मींदारों पर अपना प्रभुत्व जमाकर मिस्र में फिर एक राज्य स्थापित कर दिया। किन्तु उसने न तो उनको नष्ट किया और न उनके स्थानिक अधिकारों को ही उसने छुआ। यही नहीं, उसने विदेशी आक्रमणकारियों से भी अनेक युद्ध किए। एक सौ साठ वर्ष तक राज्य करके यह वंश भी समाप्त हो गया, किन्तु इसने मिस्र के उत्थान के लिए रङ्ग-मञ्च तैयार कर दिया।

बारहवाँ वंश (२००० से १७८८ ई० पू०)

मिस्र के इतिहास में सबसे महत्त्व का वंश 'बारहवाँ वंश' माना जाता है। इसका सबसे पहला राजा "आमेनेमहेत" प्रथम (२२१२-२१८२ या १५५७-१५४१ ई० पू०) हुआ, जो या तो ग्यारहवें वंश की किसी शाखा में उत्पन्न हुआ या उसके अन्तिम राजा का मन्त्री था। इसी के समय में नये वंश की राजधानी 'इत्थतोई' की बड़ी उन्नति हुई और 'लक्सर' के प्रसिद्ध देवालयों का निर्माण आरम्भ हुआ। इसी ने 'आमोन' देवता की पूजा का प्रचार किया जो कुछ समय के बाद 'रा' से संयुक्त होकर 'आमोन रा' के नाम से मिस्र का प्रमुख देवाधिदेव प्रख्यात हो गया। इसने राजा और युवराज के मिलकर शासन करने की परिपाटी चलायी, जिससे वयस्क और युवक का सहयोग और शासन की स्फूर्ति रहे तथा राज्याभिषेक में कठिनाई भी कम पड़े। कहा जाता है कि मिस्र का यही पहला राजा है, जिसने प्रजा का पालन और राष्ट्र सेवा को ही राजा का परम कर्तव्य निश्चित किया। वह निरन्तर राज्य का दौरा करता और अराजकता और देशद्रोहियों का दमन करता रहा। इसी की नीति का अनुकरण करके उसके प्रतापवान उत्तराधिकारियों ने ज़िमींदारी वंश का विनाश कर दिया और राजाश्रित नये राज्य-पदाधिकारियों का वर्ग तैयार कर दिया।

सनूस्रेत तृतीय (२०६६-२०६१ ई० पू०)

इस वंश के राजाओं में दो विशेषतया उल्लेखनीय हैं। एक "सेनूस्रेत" तृतीय और दूसरा "आमेनेमहेत" तृतीय। 'सेनूस्रेत' तृतीय (२०६६-२०६१ या १८८७-१८४९ ई० पू०) ने न्यूबिया पर चढ़ाई करके दूसरे प्रपात तक अपने राज्य की सीमा बढ़ा दी। पेलेस्टाइन के दक्षिणी भाग में 'सिक़मेम' पर भी चढ़ाई की। किन्तु उसका सबसे महत्त्व का कार्य स्थानिक ज़िमींदारों और रजवाड़ों को निस्तेज और अशक्त करना था। उसका उत्तराधिकारी आमेनेमहेत तृतीय (२०६१-२०१३ या १८४९-१८०१ ई० पू०) हुआ। इसने राज्य की सीमा तृतीय प्रपात तक बढ़ाकर कई क़िले बनवा दिए। इसने मोइरिस झील के पानी का बाँध बनाकर नील नदी की ओर बहा दिया, जिससे एक बड़ा भूभाग जल से सिंचित और खेती से हरा-भरा हो गया। फ़य्यूम में उसने प्रसिद्ध भूल-भुलैयाँ और मनुष्य के चेहरे के सिंह बनवाये। सीनाई में मफ़कूत और ताँबे की खानों से भी पूरा लाभ उठाने का प्रबन्ध किया। उसके समय में राजा की शक्ति पूर्णता पर पहुँच गई और शासन का कार्य ज़िमींदारों के हाथ से राजकर्मचारियों के हाथ में चला गया।

किन्तु बढ़ते हुए वैभव में क्रूर काल का विनाशकारी विधान छिपा हुआ था। उसकी मृत्यु के बाद राज्य बिगड़ने लगा और १८०० या १७८८ ई० पू० 'हिक्सोस' नामक सेमेटिक भाषा-भाषी वंश ने अरब की मरुभूमि से बढ़कर मिस्र पर अपना अधिकार स्थापित कर दिया। मिस्र में विदेशियों का ऐसा प्रबल और इतने काल तक अधिकार पहले कभी नहीं हुआ था। उनके विजय का मुख्य कारण उनके युद्ध के साधन थे। उनके पास घोड़े थे, जिनको वे पहियोंवाले रथ में जोतकर चलाते थे। मिस्रवालों को न तो घोड़ों और न पहियेवाले रथों का ही ज्ञान था। इसके अलावा आक्रमणकारियों के पास काँसे के हथियार विशेषतः तलवार थी, जिसके मुकाबले का कोई अस्त्र मिस्र-वालों के पास न था, क्योंकि वे काँसे का प्रयोग जानते ही न थे। जान पड़ता है कि मिस्र के अधिकारच्युत ज़िमींदारों और असन्तुष्ट प्रजा ने राजाओं का साथ न दिया, जिससे आक्रमणकारियों का काम सुलभ हो गया। "हिक्सोस" के उत्थान के साथ-ही-साथ मिस्र के माध्यमिक काल का अन्त माना जाता है।

नया राज्य काल (१५८०-९४५ ई० पू०)

यद्यपि मिस्र के दक्षिणी भाग में वहाँ के ही राजा राज्य करते रहे, किन्तु हिक्सोस लोगों के प्रताप के सामने वे निस्तेज और नगण्य-से रहे। दो सौ आठ वर्ष तक हिक्सोस का ही दौर-दौरा रहा। किन्तु यह व्यवस्था ई० पू० की सत्रहवीं शताब्दी के अन्त से बदलने लगी। थेबीज़ के एक राजकुमार 'सेक्नेनरे' प्रथम ने हिक्सोस लोगों के विरोध का आरम्भ किया, जो दिनोदिन बल पकड़ता गया। उसका एक उत्तराधिकारी 'सेक्नेनरे' तृतीय भी सम्भवतः स्वतंत्रता के लिए लड़ता हुआ वीरगति को प्राप्त हुआ (१५९० ई० पू०)। उसका एक पुत्र 'आहमीज' बड़ा योद्धा निकला। उसने अपने पिता का संकल्प पूर्ण किया और हिक्सोस लोगों की राजधानी 'अवरिस' को छीनकर उनको मिस्र से निकाल दिया। इसी वीर नवयुवक ने १५७८ ई० पू० राजसिंहासन पर बैठकर अठारहवें राज्यवंश की प्रतिष्ठा की। यही नहीं, दक्षिण के विद्रोहियों और न्यूबियन लोगों का दमन करके उसने मिस्र को फिर एकता के सूत्र से बाँध दिया।

अठारहवाँ राजवंश (१५८०-१३५० ई० पू०)

'आहमीज़' के बढ़ते हुए प्रताप के आगे मिस्र के ज़िमींदारों और प्रबल राजकर्मचारियों का सितारा फिर डूब गया। उसने उनकी पैतृक भूमि छीनकर अपने शासन में ले ली। इसके समय में सामन्तों का अन्त हो गया और सारी भूमि राज-शासन में आ गई। अपनी विजयों से उत्साहित होकर उसने सीरिया और पेलेस्टाइन पर चढ़ाइयाँ आरम्भ कर दीं। देश में विजयाकांक्षा की ऐसी उत्तेजक लहर उठी कि मध्यम श्रेणी के लोग भी हथियार बाँधकर सैनिक हो गए। उसने उनको उदारता के साथ पुरस्कृत करके उनके उत्साह को दृढ़ और सवर्द्धित कर दिया। मिस्र में घोड़े, रथ और नए अस्त्रों से सज्जित नए ढंग की स्थायी सेना की स्थापना हो गई। इस सेना से मिस्र में दिग्विजय की अभिलाषा और नए युग का आरम्भ हो गया। आहमीज़ ने बड़े परिश्रम के साथ अपने सुयोग्य मन्त्री की सहायता से राज्य और शासन का संगठन नव आदर्शों के अनुकूल किया। समाज में राज-कर्मचारियों की वृद्धि होने लगी। मन्दिरों की सम्पत्ति और उनका महत्त्व बढ़ने के कारण "पुजारियों" के एक पृथक् श्रेणीबद्ध दल का आविर्भाव हो गया, जो आगे चलकर प्रबल हो गया और राज्य का एक महत्वपूर्ण अङ्ग बन गया।

आहमीज़ की मृत्यु (१५५७ ई०-पू०) के पश्चात् कई प्रतापी राजा हुए। आमेनहोतेप प्रथम (१५५७-१५४१ ई० पू०) ने न्यूबिया के उत्तरी भाग को राज्य में मिला लिया, लीबियावालों को खदेड़ कर उनके प्रान्त पर चढ़ाई कर दी, और कहा जाता है कि उसने मेसोपटेमिया की फरात नदी तक धावा किया। उसके उत्तराधिकारी 'थटमोज़' प्रथम (१५४०-१५०१ ई० पू०) ने अपना राज्य नील के चौथे प्रपात तक बढ़ा दिया। एशिया के राज्य, जिन्हें उसके पूर्वजों ने करद बनाया था, ठीक तौर पर कर नहीं देते थे। अतएव वह सीरिया की ओर बढ़ा और फरात नदी के तट तक जा पहुँचा। वहाँ उसे इतनी सफलता हुई कि वह प्रसन्नमन लौटा और थेबीज़ में आलीशान मन्दिर की रचना में लग गया। मन्दिरों के लिए उसने बहुमूल्य सामग्री एकत्रित कर दी और उनके लिए जागीरें दे दीं। उसकी मृत्यु (१५०१ ई० पू०) के बाद असली पुत्र के अभाव में उसकी पुत्री 'हाशेपसुत' महारानी बनाई गयी। वह बड़ी तेजस्विनी थी। यद्यपि उसका पति 'थटमोज़' तृतीय स्वयं पराक्रमी और प्रतापी था, किन्तु महारानी के जीते जी तक उसकी कुछ चलने न पाई। सारा राज-काज महारानी ही करती रहीं। कहा जाता है कि ऐतिहासिक स्त्रियों में यही सबसे पहली और प्रख्यात राज्य करनेवाली महारानी हुई। यद्यपि उसने राज्य-विस्तार तो नहीं किया, किन्तु उसके गौरव की पूरी तरह रक्षा की। उसके शान्तिमय
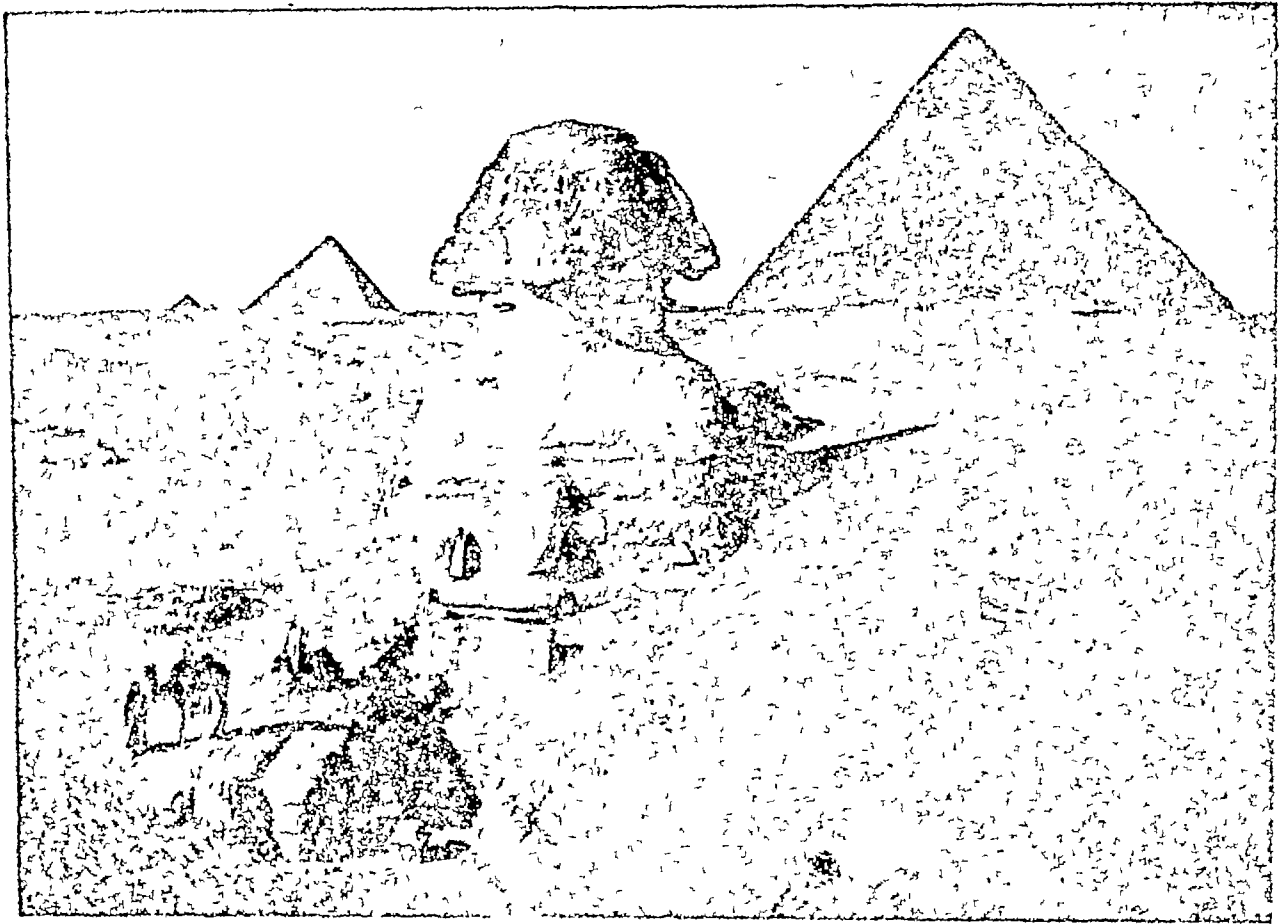
गीज़े में स्थित स्फिक्स की विशाल मूर्त्ति

पीछे खैफरे और मेनकुरे के पिरामिड हैं। स्फिक्स की मूर्ति के सम्बन्ध में तरह-तरह की धारणाएँ प्रचलित हैं। कई ऐतिहासिक इसे किसी मिस्री सम्राट् की मूर्त्ति मानते हैं, और इस संबन्ध में प्रायः खैफरे का नाम लिया जाता है, क्योंकि स्फिक्स की इस मूर्त्ति के पंजों के बीच एक लेख में खैफरे का कुछ उल्लेख है।
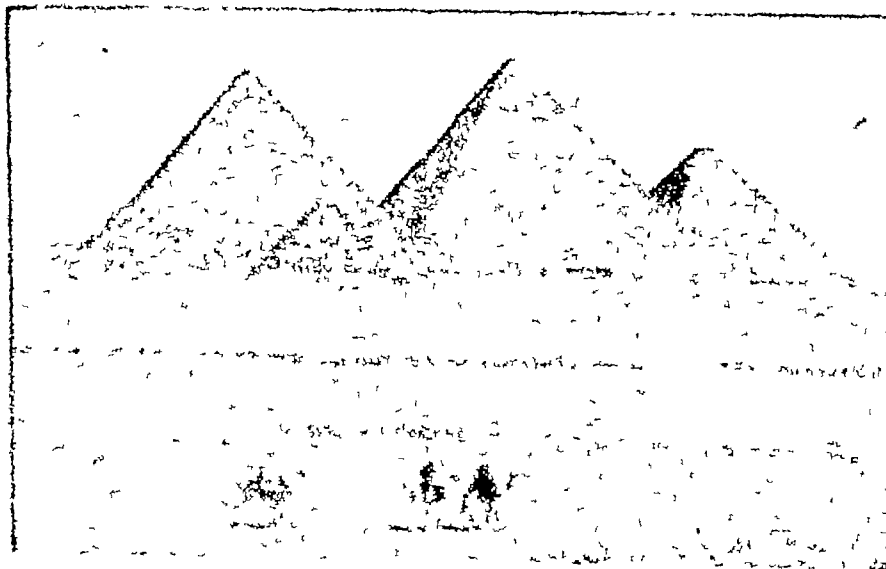
(बाईं ओर) गीज़े के सुप्रसिद्ध पिरामिड

यह फोटो इन पिरामिडों के दक्षिण-पश्चिम में स्थित रेगिस्तान से लिया गया है। इनमें बाईं ओर से पहला (खैफरे के उत्तराधिकारी) मेनकुरे का पिरामिड है, दूसरा खैफरे का पिरामिड है और तीसरा खूफू का महान पिरामिड है।

[फोटो—ब्रेस्टेड की 'हिस्ट्री आफ ईजिप्ट' से।]

(दाहिनी ओर)
सेनूस्रेत तृतीय
यह प्रस्तर-मूर्ति का टूटा अंश सेनूस्रेत तृतीय की प्रतिमा का भाग बताया जाता है।
[फ़ोटो—मेट्रोपालिटन म्यूज़ियम ऑफ़ आर्ट]
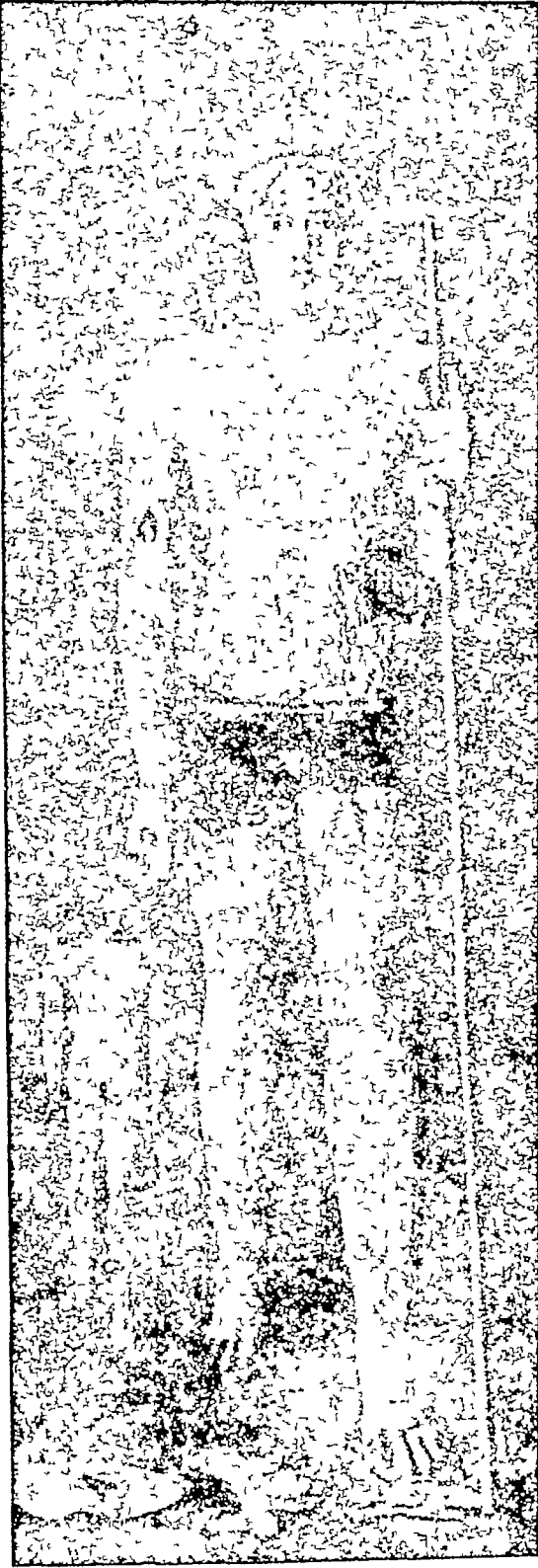
पेपी द्वितीय
यह प्रतिमा पूरे मनुष्य के आकार की है और ताँबे की चादर की बनी है। पीछे जो एक और छोटी प्रतिमा है वह पेपी के पुत्र की है। [फ़ोटो—क़ैरो म्यूज़ियम]

आमेनहोतेप तृतीय
यह पाषाण-मूर्ति भी 'क़ैरो म्यूज़ियम' में रक्खी है।

(बाईं ओर) इख़नातोन, जो मिस्र के राजाओं में सबसे अधिक प्रतिभाशाली, क्रान्तिकारी और आदर्शवादी राजा हुआ।

(दाहिनी ओर) थटमोज़ तृतीय जो 'मिस्र का नेपोलियन' कहा जाता है। यह सुन्दर प्रस्तर-मूर्त्ति क़ैरो म्यूज़ियम में रक्खी है। [फोटो—मेट्रापालिटन म्यूज़ियम ऑफ़ आर्ट]
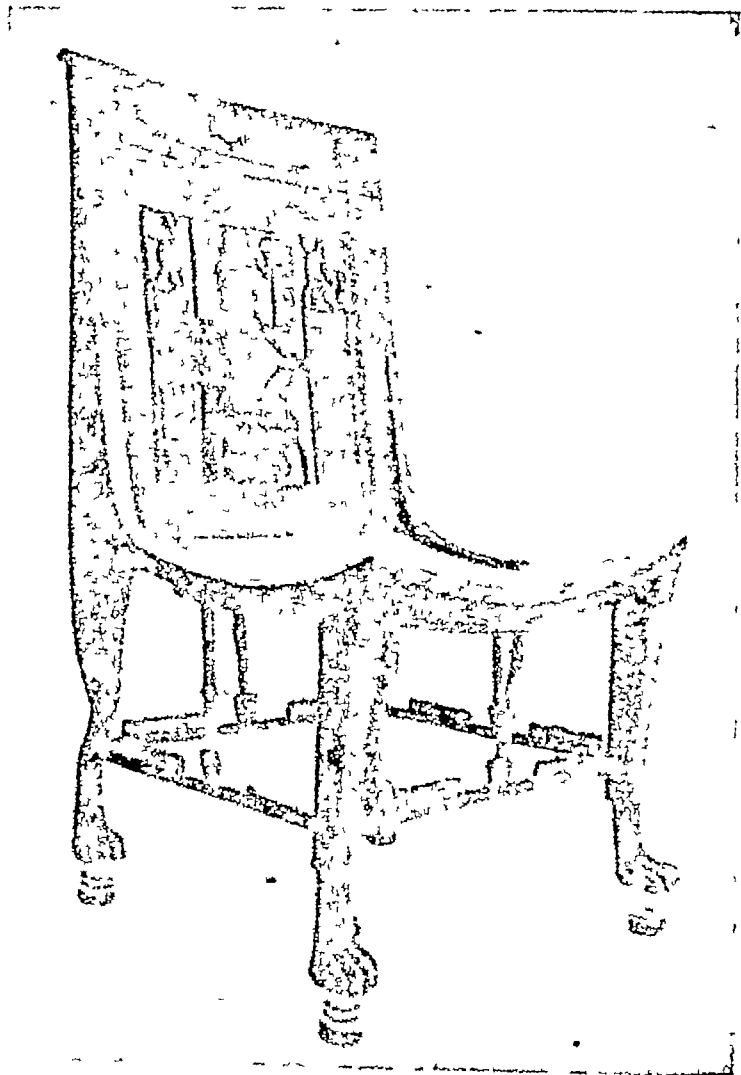
(ऊपर) तूतन ख़ामोन की कुर्सी या सिंहासन
सुन्दर नमूना 'क़ैरो म्यूज़ियम' में है। [फोटो—मेट्रापालिटन म्यूज़ियम ऑफ़ आर्ट]

' ओर) समाधिस्थान से प्राप्त तूतन ख़ामोन की एक प्रतिमा
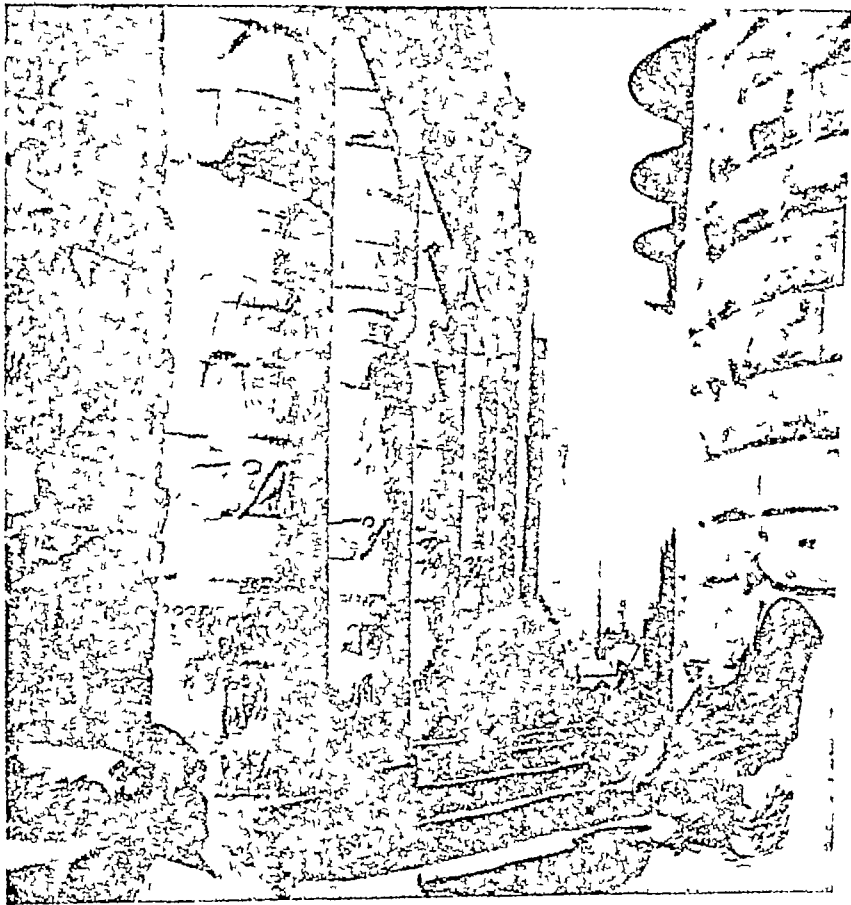
(बाईं ओर) कर्नाक के भव्य मंदिर में सभामण्डप के विशाल खंभों की पंक्ति

इन ध्वंसावशेषों से ही कुछ अनुमान किया जा सकता है कि मिस्र ने आज से हज़ारों वर्ष पूर्व ही स्थापत्य-कला में कितनी उन्नति कर ली थी।

(नीचे) कर्नाक के मंदिर का सभा-मण्डप कैसा रहा होगा ?

यह 'मेट्रोपालिटन म्यूज़ियम ऑफ़ आर्ट' मे प्रदर्शित कर्नाक के मंदिर के सभामण्डप के एक कल्पित नमूने का फ़ोटो है। यह इस भव्य इमारत के वर्तमान ध्वंसावशेषों के आधार पर बनाया गया है। इससे आप कल्पना कर सकते हैं कि अपनी वास्तविक दशा मे यह इमारत कैसी भव्य दिखाई देती रही होगी।
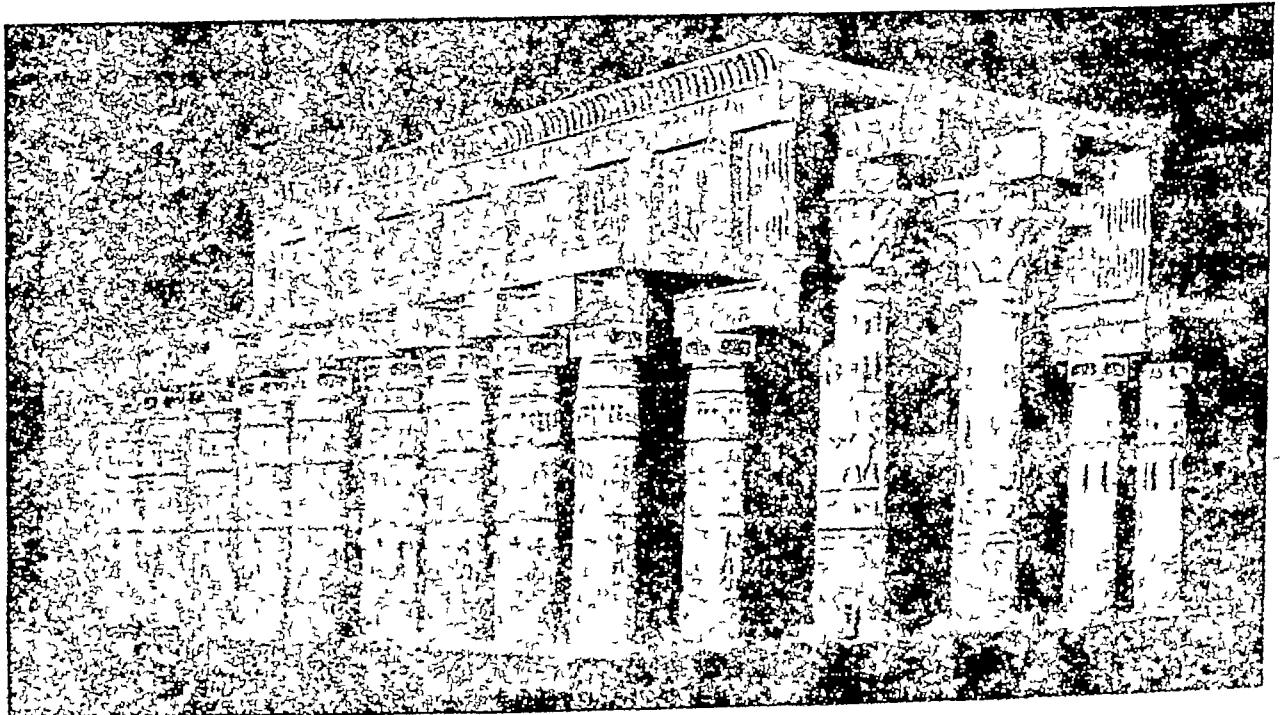
राजत्व काल में मिस्र ने अच्छी उन्नति और समृद्धि प्राप्त की। उसने भी बड़े आलीशान मन्दिर निर्माण कराए। मिस्रवाले उसे देवी होरस का अवतार मानने लगे। १५०६ ई० पू० उसके देहान्त होने के बाद उसके पराक्रमी पति को स्वतन्त्रतापूर्वक अपने पराक्रम के प्रदर्शन का अवसर मिला।

थटमोज़ तृतीय (१४७६-१४४७ ई० पू०)

थटमोज तृतीय जैसा पराक्रमी और विजयी था वैसा ही सेनानायक और राजनीतिज्ञ भी था। इतिहासज्ञ उसकी सेना-सञ्चालन की विधि को सोचकर अचम्भे में आ जाते हैं, क्योंकि उसका ढंग वैज्ञानिक और आधुनिक युद्ध के अनुकूल था। अपने शासन के पहले वर्ष में ही उसने सीरिया के संयुक्त बल का मुक़ाबला 'मेगीडो' में किया और घोर युद्ध के बाद प्रशंसनीय विजय प्राप्त की, जिससे अनेक राजे उसकी शरण में आ गए। इस विजय से प्रोत्साहित होकर उसने सात बार आक्रमण किए। प्रत्येक युद्ध में उसकी विजय हुई। इसी कारण उसे इतिहासकार 'मिस्र का नेपोलियन' कहते हैं। इसका आतङ्क ऐसा जम गया कि सीरिया असीरिया, नहरैन, मिटानी, खेटा (हिटाइट), फोनीशिया, अलाशिया (साइप्रस ?) की रियासतें उसको कर देने लगीं। उसकी सेना फरात की तलहटी तक जा पहुँची। उसका जहाज़ी बेड़ा भूमध्य-सागर में निर्द्वन्द विचरता फिरता था। चारों ओर से सम्पत्ति उड़कर मिस्र में आने लगी और उसकी समृद्धि अभूतपूर्व हो गयी। इस धन से मिस्र में बड़े-बड़े मन्दिर और स्मारक बनाए गए, जिनसे नील नदी के तट के कई नगर जगमगाने लगे। थटमोज़ जैसा विजेता था, वैसा ही शासक भी था। शासन के प्रत्येक विभाग और देश के समस्त जीवन पर उसने अपने व्यक्तित्व की छाप लगा दी। कहा जाता है कि वास्तविक अर्थ में वह सबसे पहला साम्राज्य-निर्माता और दिग्विजयी हुआ है। केन्द्रिक शासन के स्थानिक शासन पर आधिपत्य का विधान रचकर भविष्य को उसने नया मार्ग दिखाया। विजित प्रजा को स्वानुकूल बनाने के लिए उसने सहानुभूति, न्याय, शान्ति और शिक्षा का प्रयोग किया।

आमेनहोतेप तृतीय (१४११-१३७५ ई० पू०)

मिस्र का साम्राज्य शक्ति के प्रयोग से बना था, और उसी से उसकी रक्षा भी हो सकती थी। थटमोज़ के बाद उसके पुत्र और पौत्र को बल का प्रयोग करना पड़ा, क्योंकि थटमोज़ के मरते ही सीरिया आदि में विद्रोह की आग भड़क उठी थी। इस विद्रोह का दमन ऐसी दृढ़ता के साथ किया गया कि "आमेनहोतेप" तृतीय को अपने छत्तीस वर्ष के राज्य काल में फिर सीरिया की ओर जाने की आवश्यकता ही न पड़ी। इस राजा के समय में मिस्र उन्नति और समृद्धि की पराकाष्ठा पर पहुँच गया। इस समय को लोग 'मिस्र का स्वर्णयुग' मानते हैं। सम्पत्तिशाली होने के कारण इस युग में मिस्र की कलाओं और कौशल ने अभूतपूर्व उन्नति की। आमेनहोतेप तृतीय के पिता ने और स्वयं उसने भी मिटानी और बेबीलोन के राजवंश से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर लिया, जिससे राजनीतिक प्रभाव और सभ्यता की यथेष्ट वृद्धि हुई।

इतने वर्षों तक शान्ति, वैभव, ऐश और आराम में रहने के कारण मिस्र में विजयादर्श क्षीण हो गया और रण प्रेम कम हो गया। संयोगवश वहाँ का नया राजा 'आमेनहोतेप' चतुर्थ (१३७५-१३५८ ई० पू०) शान्ति और धर्म का प्रेमी निकला। उसके विचार और आदर्श क्रान्तिकारी थे। धर्म कला, आचार-विचार के सम्बन्ध में उसके विचार अपने पूर्वजों से भिन्न थे। न तो जातीय देवता 'आमोन' के प्रति उसकी श्रद्धा थी और न तो उसे मन्दिरों और पुजारियों का आडम्बर ही रुचिकर था। मन्त्र, तन्त्र, पशु-बलि और नरबलि एवं मन्दिरों की अगणित देवदासियों को वह निन्दनीय समझता था। पुजारियों की जीवनचर्या और व्यभिचार से उसको घृणा थी। उसके आचार-विचार पवित्र, और भाव एवं आदर्श शुद्ध थे। नवयुवक होने और कवि-हृदय पाने के कारण, उसमें उत्साह और सुधार करने की प्रबल इच्छा जाग्रत हो उठी। उसने एक ईश्वर "आतोन" की पूजा का प्रचार करना आरम्भ कर दिया। अन्य देवताओं के स्थान पर उसने केवल सूर्य की उपासना का ही आदेश दिया, क्योंकि सूर्य ही उस सर्व-व्यापक परम पिता, दयालु, रक्षक परमेश्वर की विभूति का द्योतक है। थेबीज़ नगर को आचारहीन और पापपूर्ण देखकर उसने "आखेतातान" नामक नवीन नगर का निर्माण किया। उसने "आतोन" के सिवा सभी देवताओं की पूजा और नामनिशान मिटा देने की आज्ञा दे दी। स्वयं अपना नाम भी बदलकर उसने "इख़नातोन" रख लिया। यही नहीं, मन्दिरों में खुदे हुए सब देवताओं और उनके नामों से संयुक्त होने के कारण अपने पूर्वजों के भी नाम उसने खुरचवा दिए। देवालयों से पुराने देवता निकाल दिए गए और पुजारियों की सम्पत्ति छीन ली गई। उसने अपने क्रान्तिकारी विचारों और आदर्शों के प्रचार में अपनी पूरी शक्ति, अपना कवित्व और सारा समय लगा दिया, जिससे राजकाज में ढील पड़ गई और अड़चनें आने लगीं।

प्रजा में उसके विचारों और नीति से असन्तोष पैदा हो गया। वंशानुगत जातीय देवताओं का अपमान लोगों को असह्य होने लगा। पुजारियों ने भी असन्तोष बढ़ाने का पूरा प्रयत्न किया। परिणाम यह हुआ कि इख़नातोन को लोग सनकी, आदर्शवादी, धर्मान्ध, निर्बल, और अदूरदर्शी, प्रचारक, उपदेशक और प्रमादी कवि समझने लगे। उसके प्रति उपेक्षा, अरुचि और घृणा के भाव पैदा हो गए। राजकर्मचारियों ने ढील डाल दी, प्रबन्ध में गड़बड़ी पैदा हो गई, अधीनस्थ राज्यों ने कर देना बन्द कर दिया, ख़ज़ाना ख़ाली हो गया, सेना उत्साहहीन हो गई और मिस्रवासियों का आत्म-विश्वास घट गया। ऐसी पतनोन्मुख परिस्थिति में हिटाइट, मिटानी और बेबिलान वालों ने साम्राज्य का विरोध करना आरम्भ कर दिया। ऐसी शोचनीय दशा में मिस्र को छोड़कर विलक्षण और प्रतिभाशाली किन्तु प्रभावहीन 'इख़नातोन' तीस वर्ष की अवस्था ही में दुःखी होकर बिना सन्तान के संसार छोड़कर चल दिया। उच्च आदर्शों का राज्य और देश पर दुःखद प्रभाव पड़ना इतिहास की एक विषम पहेली है।

इख़नातोन की मृत्यु के बाद उसका उत्तराधिकारी उसका एक दामाद हुआ, किन्तु वह बिना कुछ किये ही उसी वर्ष मर गया। फिर दूसरा दामाद तूतनख़ातोन राजा बना। जनता को सतुष्ट करने के लिए, वह राजधानी फिर थेबीज़ को वापस ले गया। 'आतोन' की पूजा छोड़ी जाने लगी। 'आमोन' तथा पुराने देवता फिर जीवित हो गये। पुराने पुजारी फिर फूलने-फलने लगे। उसने अपना नाम भी बदलकर 'तूतन ख़ामोन' रख लिया। किन्तु यह परिश्रम निरर्थक रहा। उसने एक बार मिस्र के महत्व को पुनरुज्जीवित करने की कोशिश की, किन्तु वह असफल रही। इसका समाविस्थान सन् १९२२ ई० में खोला गया। उसमें बड़े महत्व की चीज़ें निकलीं, जिससे शिक्षित संसार में उसकी चर्चा हो गयी। उन चीज़ों के देखने से साफ़ पता चलता है कि उसके श्वसुर के समय क्रान्तिकारी विचारों और कलाओं का भी पतन हो गया था। तूतन ख़ामोन की मृत्यु (१३५३ ई० पू०) राज्यासीन होने के पाँच वर्ष बाद हो गई। उसका उत्तराधिकारी और भी निर्बल निकला। उसके मरते ही (१३५० ई० पू०) अठारहवें राजवंश का विनाश हो गया, मिस्र का राज्य अस्तव्यस्त हो गया और अशान्ति के झकोरों से शासन की भित्ति टूटकर गिरने लगी।

अठारहवें वंश के अन्तिम राजा 'आइ' का मन्त्री 'होरमहेब' एक चतुर, कार्यकुशल और प्रभावशाली व्यक्ति था। विप्लव से राज्य की रक्षा करने के लिए उसने राज्य की बागडोर अपने हाथ में ले ली। प्राचीन संस्थाओं, पुराने देवताओं और देवालयों का पुनः-पुनः संस्कार करके शासन को सुधारने का उसने भरसक प्रयत्न किया। इख़नातोन की बहिन से विवाह करके उसने राजवंश से अपना सम्बन्ध स्थापित कर लिया। अपनी मृत्यु (१३२१ या १३१४ ई० पू०) के पूर्व उसने शायद किसी पुराने राजवंश के "राममेज" प्रथम नाम के एक व्यक्ति को अपना उत्तराधिकारी चुन लिया था।

उन्नीसवाँ और बीसवाँ राजवंश—रामसेज़ वंश
(१३२१—१०६४ ई० पू०)

'रामसेज' से ही उन्नीसवाँ और बीसवाँ राजवंश चला है। रामसेज़ वृद्ध था। सिंहासन ग्रहण करने के एक वर्ष बाद ही उसका देहान्त हो गया। इस वंश में भी कई प्रसिद्ध राजे हो गए हैं। उनमें पहला 'सती' प्रथम था, जिसने कि पेलेस्टाइन में बद्दुओं के बढ़ते हुए प्रभाव को रोककर वहाँ-वालों पर मिस्र की सेना का आतङ्क फिर स्थापित करने का प्रयत्न किया। वहाँ से लौटकर उसने लीबियावालों को पीछे हटा दिया। हिटाइट लोगों से, जिन्होंने सीरिया में अपना प्रभाव जमा लिया था, युद्ध करने के लिए सेटी ने उन पर चढ़ाई की और उनको परास्त किया। इस विजय से मिस्र की शक्ति का ऐसा प्रभाव जमा कि हिटाइट उससे फिर न उलझे। सेती ने राज्य के पुनरुत्थान का प्रयत्न किया और थेबीज को पुनर्जीवित करके विशाल मन्दिरों और स्मारकों से उसे विभूषित किया। उसकी मृत्यु लगभग १३०० ई० पू० हुई।

दूसरा प्रतापी राजा रामसेज़ द्वितीय (१३००—१२२५ ई० पू०) हुआ। यह बली योद्धा था। इसमें अदम्य आत्मिक विश्वास और स्वाभिमान था। थटमोज़ तृतीय की समता प्राप्त करने के लिए उसने हिटाइट लोगों पर चढ़ाई कर दी। यद्यपि उससे भयङ्कर चूक हो गयी थी, किन्तु अपनी वीरता और उत्साह से उसने उन पर (१२९६ या १२८८ ई० पू०) विजय प्राप्त कर ली। किन्तु उनकी भूमि लिए बिना ही उसे लौटना पड़ा। इतिहास में यह सबसे पहला युद्ध माना जाता है, जिसका पूरा वर्णन मिलता है। इस विजय को सन्दिग्ध समझकर हिटाइटों ने फिर उपद्रव खड़ा किया और अन्य रियासतों को भी उभाड़ा। इस बार रामसेज़ ने फिर चढ़ाई की और तीन वर्ष तक इधर-उधर विजय करता और नगरों पर आधिपत्य जमाता रहा। अन्त में हिटाइटों की प्रार्थना पर उसने शान्ति प्रदान कर

(१२६५ या १२७२ ई० पू०) सन्धि कर ली। यह सन्धि भी इतिहास की पहली सन्धि है, जिसकी कि बाक़ायदा लिखा-पढ़ी की गई थी। आगे चलकर उसने हिटाइट राजवंश की एक राजकुमारी से विवाह कर लिया (१२५६ ई० पू०)। रामसेज़ के चौरानवे वर्ष के दीर्घ राज्य-काल में यद्यपि मिस्र का बाहरी स्वरूप अच्छा दिखायी दिया, किन्तु भीतरी दशा कुछ न सुधर पायी। शासन में ढील पड़ गयी। उच्च कर्मचारी मनमानी करने लगे। पुजारियों के हाथ में सम्पत्ति और शक्ति बहुत कुछ आ गयी और आसपास की रियासतों में अशान्ति और विद्रोह के लक्षण दिखायी देने लगे। रामसेज़ द्वितीय की मृत्यु (१२२५ ई० पू०) के बाद वहाँ के राजाओं के सामने शासन के संगठन और देश की शत्रुओं से रक्षा के दो जटिल प्रश्न थे। कई राजे आये और चले गए, किन्तु पन्द्रह बरस तक व्यवस्था ख़राब ही रही।
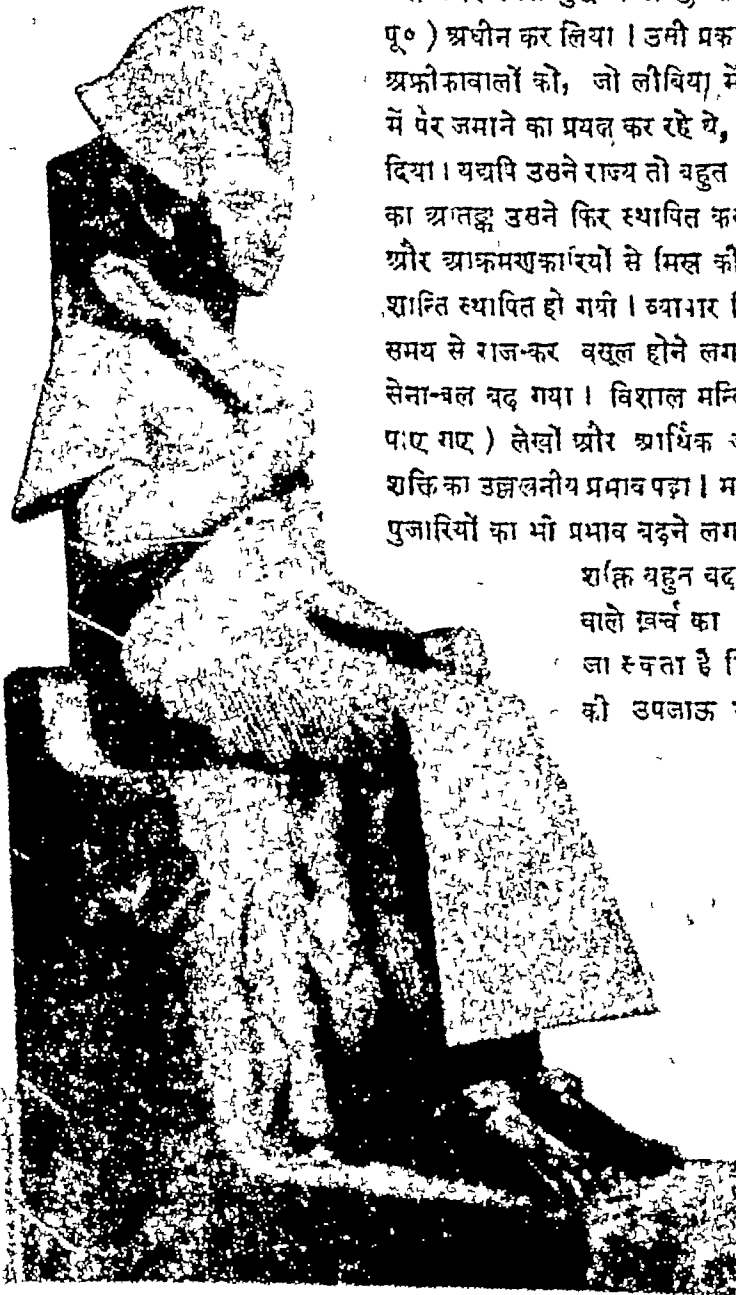
जब से रामसेज़ तृतीय सिंहासन पर आया (११९८ ई० पू०), तब से मिस्र में फिर जान आई। उसने देशी और विदेशी सिपाहियों को मिलाकर एक स्थायी सेना संगठित की और जहाज़ी बेड़ा भी मज़बूत किया। अपनी सहायता और अपने साहस और बल से इस युवक राजा ने क्रीट और सीरियावालों से युद्ध ठान दिया। क्रीटवालों के प्रबल बेड़े को उसने हराकर पीछे हटा दिया (११९४ ई० पू०)। सीरिया में ईजियन लोग थे, जो उत्तरी भूमध्य-सागर से आकर बलपूर्वक जम गए थे। उन्हें भी रामसेज़ तृतीय ने जल और स्थल युद्ध में अच्छी तरह हराकर (११९० ई० पू०) अधीन कर लिया। इसी प्रकार मेशवेश नामक उत्तरी अफ्रीकावालों को, जो लीबिया में घुस बैठे थे और मिस्र में पैर जमाने का प्रयत्न कर रहे थे, उसने हराकर पीछे भगा दिया। यद्यपि उसने राज्य तो बहुत नहीं बढ़ाया, किन्तु मिस्र का आतङ्क उसने फिर स्थापित कर दिया, और विद्रोहियों और आक्रमणकारियों से मिस्र की रक्षा कर ली। देश में शान्ति स्थापित हो गयी। व्यापार फिर से चेत उठा। ठीक समय से राज-कर वसूल होने लगा। सामुद्रिक बल और सेना-बल बढ़ गया। विशाल मन्दिरों के निर्माण, (उनमें पाए गए) लेखों और आर्थिक जीवन पर मिस्र की इस शक्ति का उल्लेखनीय प्रभाव पड़ा। मन्दिरों के महत्त्व के साथ पुजारियों का भी प्रभाव बढ़ने लगा और राज्य में उनकी शक्ति बहुत बढ़ गयी। मन्दिरों पर होनेवाले ख़र्च का अनुमान इसी से किया जा सकता है कि उनकी सेवा में राज्य की उपजाऊ भूमि का सातवाँ भाग दे दिया गया था। इसके सिवा ८८ जहाज़, ५३ कारख़ाने और कितने ही नगर भी इन मंदिरों के अधीन थे। उनमें से सबसे सम्पन्न और वैभवपूर्ण 'आमोन' का मन्दिर था, जहाँ ख़ज़ाने के ख़ज़ाने खिंचे चले आते थे। जनता के हितार्थ रामसेज़ ने राज्य में स्थान स्थान पर बहुत से पेड़ लगवा दिए थे, जिनसे लोगों को खाना मिल सके।

बाहरी वैभव में बहुत बड़े-बड़े दिखायी देने पर भी वास्तव में मिस्र के राज्य के भीतर पतन के कीटाणु

रामसेज़ द्वितीय
यह सुन्दर मूर्ति 'ट्यूरिन म्यूज़ियम', इटली में, रक्खी है।

हुए थे। मन्दिरों का अत्यधिक सम्पत्तिशाली होना, पुजारियों और राजकर्मचारियों का बल-वैभव बढ़ना, राजा तथा उनके अनुचरों और राजकर्मचारियों में आमोद-प्रमोद का व्यसन बढ़ना, राज्य में दासों और दासियों की संख्या बढ़ना, गुलामों का राज्य में महत्त्व पाना और उनके प्रभाव की वृद्धि होना, रनिवास में षडयंत्र का विकास होना आदि लक्षण पतन के प्रमाण थे। एक रानी ने तो रामसेज़ ही की हत्या करने का षड़यन्त्र रचा, जो सयोगवश विफल हो गया। राजा को चोट और घाव तो लगे, किन्तु जान बच गयी। अभी हत्यारों पर मुक़दमा चल ही रहा था कि मानसिक और शारीरिक आघात से राजा की मृत्यु हो गयी (११६७ ई० पू०)।

राज्य का पतन (११६७ से १०६० ई० पू०)

रामसेज़ की मृत्यु के बाद राज्य में अनस्थिरता इतनी बढ़ी की पचीस तीस वर्ष के भीतर ही पाँच राजे रामसेज़ नाम के आये और चले गये। जब तक रामसेज़ नवाँ राजा हुआ, तब तक आमोन के महन्त का इतना महत्त्व बढ़ गया कि उसके सामने राजा का महत्त्व दबने लगा। समय में इतना फेर आ गया कि लोगों ने पुराने राजाओं के समाधिस्थान की सम्पत्ति को चुराना और छीनना शुरू कर दिया, और अन्ततोगत्वा उन्होंने उसे लूट लिया। जब राजधानी में इतनी अराजकता फैल गई, तो दूरस्थ प्रान्तों का कहना ही क्या था। सीरिया तो स्वतंत्र हो ही गया और पेलेस्टाइन में मिस्र का प्रभाव नगण्य सा हो गया। मिस्र के बुरे दिन आ गये और उसके हाथ से सभ्यता और राजनीतिक नेतृत्व जाता रहा। राज्य का अङ्ग भङ्ग हो गया और अन्त में उसका इतिहास केवल स्थानिक महत्त्व का रह गया।

मिस्र का जीवन और उसकी सभ्यता

मिस्र का विकास नील नदी की उपजाऊ तलहटी में हुआ। वह कृषिप्रधान देश था। यद्यपि बाढ़ों के कारण हानियाँ हो जाया करती थीं तथापि धरती के अधिक उपजाऊ होने के कारण कृषि-कार्य वहाँ सरल था। समय-समय नहरों के बन जाने से और भी सहायता मिल गई थी। किन्तु किसानों की परिस्थिति बहुत अच्छी इसलिए न थी कि उनसे बेगारी का अधिक काम लिया जाता था, लगान भी दस से बीस सैकड़ा तक था, और ज़िमींदारों एवं स्थानिक कर्मचारियों का भी हाथ उन्हें गरम करना पड़ता था। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि किसानों की दशा विशेष ख़राब थी। मिस्र के लोग अनाज, मछली माँस खाते थे। खाने विविध ढंग से पकाये जाते थे। अस्सी तरह के पके हुए माँसों का और चौबीस प्रकार के पेय पदार्थों का उल्लेख पाया जाता है। अमीर अच्छी शराब और ग़रीब जौ की शराब पिया करते थे। मिस्र के लोग परिवर्तन प्रेमी न थे। वे अपने आचार-विचार में कम फेरफार करते थे। वे प्रगतिशील न थे। उनके बच्चे बारह वर्ष तक नगे फिरा करते थे; लड़कियाँ ज़रूर अग का कुछ भाग ढाँक लेती थीं। साधारणतः औरतें और मर्द नाभि तक नङ्गे रहते थे, उसके नीचे वे लुङ्गी-सी पहनते थे। आगे चलकर स्त्रियाँ और मर्द भी छाती ढकने लगे और चुस्त कपड़े के बदले ढीले कपड़े पहनने लगे। आदमी और औरतें आभूषणों के शौक़ीन थे। दोनों के कान छिदवाने का रिवाज़ था। औरतों को बनावटी सिंगार के अनेक साधन मालूम थे। आदमी दाढ़ी-मूँछें बनवाते थे और औरतें तरह-तरह के बाल सँवारती थी। लोगों को खेल कूद और मेलों और जलसों का शौक़ था। कुश्ती, घूँसेबाज़ी और साँडों को लड़ाने में उन्हें आनन्द आता था। पाँसे का खेल भी उनमें प्रचलित था। आज़ाद किसानों के अलावा ग़ुलामों की भी मिस्र में, भारी संख्या थी। उनकी परिस्थिति किसानों से भी ख़राब थी।

यद्यपि मिस्र में खाने-पीने की चीज़ों की कमी नहीं थी, किन्तु ताँबे के सिवा अन्य खनिज पदार्थ मिस्रवालों को अन्यत्र से लाने पड़ते थे। न्यूबिया से सोना और हिटाइट्स से लोहा लाना पड़ता था। ताँबा और टीन मिलाकर वे लोग काँसा बनाना भी सीख गये थे। उनसे वे पेंच, बरमा, आरी, गड़ारी, पहिये आदि बनाते थे। उन्हें लकड़ी पर बढ़िया नक्क़ाशी करना आता था। कुरसी, पलंग, सदूक़, गाड़ी, नाव आदि बना लेते थे। ईंटें, सीमेन्ट और पलस्तर बनाना वे जानते थे। रंगीन चमकीले मिट्टी के बरतन और शीशे की सादी और रंगीन चीज़ें भी वे बनाया करते थे। जानवरों की खाल से वस्त्र, ढाल, तरकश बनाते थे। पौदों और पेड़ों के रेशों से चटाइयाँ, रस्से, जूते और कागज़ बनाना उन्हें मालूम था, धातु पर रग चढ़ाने और पालिश करने का कौशल भी उन्हें आता था। वे ऐसे बारीक कपड़े सूत से बिनते थे कि बिना आतशी शीशे की परीक्षा के उन्हें रेशम से भिन्न मानना कठिन था। उद्योग-धधे आज़ाद और ग़ुलाम कारीगर करते थे। कारीगरों के कुटुम्ब में पुश्त दर-पुश्त कला या कौशल चला करते थे जैसा कि हमारे देश में है। कारीगरों के ठेकेदार या मुखिया होते थे, जो लोगों से काम लेते और उन्हें मज़दूरी देते थे। मज़दूरी ठीक-ठीक न मिलने से मज़दूर कभी-कभी हड़ताल भी कर

देते थे, किन्तु ऐसा बहुत कम होता था। सिक्कों का चलन न था, इसलिए वेतन और मजदूरी जिन्स में दी जाती थी और कर भी वैसे ही वसूल किया जाता था। लेन-देन के लिए अमीर आदमी सोने के छोटे, बड़े, पतले और मोटे छल्लों या कड़ों का प्रयोग करते थे। व्यापार बड़े मजे से चलता था। व्यापारियों की साख पक्की होती थी और लिखा-पढ़ी, हुंडी और खाता से काम लिया जाता था।

मिस्रवालों में इञ्जीनियरी ने अच्छी उन्नति की थी। कहा जाता है कि रोम, यूनान, और अठारहवीं शताब्दी तक योरपवालों को भी उनके बराबर इञ्जीनियरी का ज्ञान न था। बड़े-बड़े बाँध, तालाब, नहरें, आलीशान मन्दिर और स्मारक बनाना उन्हें आता था। उनके बनाए हुए पिरामिड संसार में प्रख्यात हैं। इनका निर्माण किसी कला अथवा धर्म के भाव से नहीं किया गया था। ये मृतक के समाधिस्थान एवं एक प्रकार से स्मारक मात्र हैं। स्थापत्य के अलावा वे मूर्त्तिनिर्माण-कला में भी निपुण थे। पत्थर पर वे तरह तरह की नक्काशी और तराश का काम करते थे।

मिस्र के राजे अपना वंश और रक्त शुद्ध रखने के लिए कभी अपनी बहनों और लड़कियों से विवाह कर लेते थे। प्रेमी और प्रेमिका के लिए वे उन्हीं शब्दों का प्रयोग करते थे, जो भाई और बहन के लिए प्रचलित थे। राजों और रईसों में बहुत-सी स्त्रियों को रखने का फैशन था, किन्तु साधारण लोग एक ही स्त्री से सन्तुष्ट रहते थे। उनमें तलाक-प्रथा का चलन था। पुरुष स्त्री और स्त्री पुरुष को तलाक दे सकती थी। पर आगे चलकर यह अधिकार स्त्रियों के हाथ से जाता रहा। व्यभिचारिणी स्त्री को वे निकाल देते थे। मर्दों में भी एकपत्नी-व्रत का आदर था। स्त्रियाँ स्वतंत्रता-पूर्वक अकेली अथवा साथियों के साथ आ-जा सकती थीं। पत्नी के अनुकूल पति प्रायः आचरण करता था। स्त्रियों को अपनी सम्पत्ति रखने, दे देने और अपने नाम से लेने का अधिकार था। जायदाद की उत्तराधिकारिणी प्रायः स्त्रियाँ ही मानी जाती थीं। प्रेम प्रकट करने में भी वे पुरुष की प्रतीक्षा किए ही बिना अग्रसर होती थीं। मिस्र में प्रेम की कविता प्रायः स्त्रियों की ओर से पुरुषों के प्रति की जाती थी। कानून नर्त्तकी बिना संकोच के नृत्य करने दे। इनके मन्दिरों के चित्र में नग्नता अनुचित नहीं गिनी जाती थी। वेश्याओं, देवदासियों एवं अन्य प्रकार के काम-वासना पूर्ण करने के साधनों की कमी न थी।

शिक्षा और साहित्य

शिक्षा और साहित्य का भी अभाव न था। शिक्षा प्रायः मन्दिरों में दी जाती थी। शिक्षा का मुख्य ध्येय लिखना-पढ़ना तथा व्यापारिक और व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करना था, किन्तु यम-नियम पर भी ध्यान रखा जाता था। मन्दिरों से विद्यार्थी निकलकर कचहरियों में काम सीखते थे। लेखक का पद प्राप्त कर लेना शिक्षा का विशेष लाभ माना जाता था। मिस्रवालों को संकेत चित्र में लिखना आता था। ये चित्र धीरे-धीरे छोटे होते चले गए और दो हज़ार वर्ष ई० पू० उनसे चौबीस व्यञ्जनों का विकास हो गया। पाँचवें और छठे राज-वंश तक के समय के इसी शैली में लिखे हुए लेख पिरामिडों में मिले हैं। ईसा के दो हज़ार वर्ष के पहले के पेपाइरी (काग़ज़) पर लिखे हुए लेखों के पुलिन्दे मिलते हैं। क़िस्से कहानियाँ, धार्मिक विषय, प्रेम गीत, रण गान, कविताएँ, पत्र, मंत्र तंत्र, स्तुतियाँ, ऐतिहासिक वार्ताएँ, वंशावलियाँ, नीति के उपदेश आदि मिले हैं। कहा जाता है कि नाटक और पद्य कथाओं को छोड़कर मिस्रवालों ने साहित्य के सभी मुख्य अङ्गों का ज्ञान प्राप्त कर लिया था। साहित्य के अलावा विज्ञान की ओर भी उनका ध्यान गया। गणित, ज्योतिष, आयुर्वेद, प्रजनन चिकित्सा, शृङ्गार के मसालों का भी अध्ययन किया जाता था। व्रण चिकित्सा या जर्राही (Surgery) का भी उन्हें शौक़ था। उनके लेखों में अड़तालीस प्रकार के आपरेशनों का उल्लेख है। सन्तान-निरोध की औषधियाँ उन्हें ईसा के अठारह सौ वर्ष के पूर्व मालूम थीं। अनेक रोगों के सैकड़ों नुसख़ों का भी उल्लेख मिलता है। उपवास, रेचन, आदि का प्रयोग किया जाता था। कहा जाता है कि वहाँ के लोगों का स्वास्थ्य अच्छा था। साहित्य और विज्ञान की भाँति सङ्गीत-कला और चित्र-कला से भी उन्हें अनुराग था। भीति चित्र बनाने में वे बड़े चतुर थे। कई प्रकार के रङ्गों का चित्रों में वे प्रयोग करते थे। कहते हैं कि चीन को छोड़कर कोई भी प्राचीन सभ्य देश चित्र-कला में उनकी समता नहीं कर सकता।

धार्मिक विचार और आचार

मिस्रवालों की धर्म-भावना बड़ी व्यापक थी। धर्म का प्रभाव उनकी प्रत्येक कृति में कुछ न कुछ पाया जाता है। मिस्र में अनेक देवता माने जाते थे, किन्तु आकाश, पृथ्वी, चन्द्रमा, सूर्य आदि प्रमुख गिने जाते थे। नदी, वृक्षों, पत्थर, जानवर और पक्षियों में भी वे देवताओं की भावना कर लेते थे। वे राजा को भी देवता मानते थे। [illegible] और [illegible] का सबसे अधिक महत्त्व था। रा (आमोन), ([illegible] देव), [illegible] ([illegible] देवी),

देव), सुनेल, और पृा सब देवताओं में मुख्य थे। मिस्र के इतिहास के उत्तरकाल में रा, आमोन और पृा त्रिदेव गिने जाने लगे, जो एक ही महान् देवता के तीन भिन्न स्वरूप हैं। इखनातोन ने आमोन देवता और पशु बलि द्वारा उनकी पूजा का विरोध किया था। उनके सिद्धांत के अनुसार सब देवता कपोलकल्पित थे; क्योंकि वस्तुतः ईश्वर केवल एक है, जिसे वह "आतोन" (सूर्य) कहता था। उसे वह सर्वव्यापक, आनन्दमय, प्रेममय, रक्षक, द्रष्टा, सर्वज्ञ, और अन्तर्यामी मानता था। इस प्रकार एकेश्वरवाद भी प्राचीन मिस्र में प्रचलित था। आतोन की उपासना भक्तिमूलक थी। इखनातोन ने स्वयं उसकी प्रभावपूर्ण भक्तिरसात्मक स्तुतियाँ रची थीं। मिस्र में देवताओं के भोज्य और पेय पदार्थ चढ़ाये जाते थे। देवताओं के लिए देवालय बने थे, जिनके प्रबन्ध के लिए उन्हें अच्छी सम्पत्ति मिली थी। उनकी सेवा के लिए पुजारी, दास और दासियाँ नियुक्त थीं। प्रजनन के देवता आसरिस की नग्न मूर्त्तियाँ साङ्केतिक मुद्रा में उसके मन्दिर में बनायी जाती थीं।

मिस्रवालों का विश्वास था कि प्रत्येक प्राणी का एक लिंग-शरीर होता है, जो उसके मरने के बाद भी जीवित रहता है। उसको वे लोग 'का' कहते थे। शरीर और 'का' के अतिरिक्त प्रत्येक प्राणी में 'जीव' रहता है, जो अमर है। शरीर यदि नष्ट होने से बचा लिया जाय तो वह भी 'का' और जीव की तरह स्वर्ग को जाता है, जहाँ शान्ति, सुख और सफलता के साथ वे रहते हैं। किन्तु यदि प्राणी पापी है, तो वह अनन्तकाल तक अन्धकारमय समाधि-स्थान में भूखा-प्यासा पड़ा रहता है और तरह-तरह के त्रास पाता है। स्वर्ग केवल पवित्र आचरण से ही नहीं प्राप्त होता, प्रत्युत् मंत्रों-तंत्रों आदि के प्रभाव से अपवित्र आचरण वाला भी स्वर्ग प्राप्त कर सकता है।

राज्य-संगठन

राजा के ऊपर राज्य-सञ्चालन का भार था। न्याय करना तथा शासन का निरीक्षण और सेना का नियंत्रण उसके मुख्य कर्त्तव्य थे। ज्यों-ज्यों धन और वैभव बढ़ता गया, त्यों-त्यों कर्मचारियों की भी वृद्धि होती गयी। कर्मचारियों की संख्या का इसी से अनुमान किया जा सकता है कि राजा के साज और शृंगार की सामग्री के प्रबन्ध के लिए इक्कीस अफ़सर नियुक्त थे। राज सेवकों में मन्त्री और कोषाध्यक्ष प्रमुख माने जाते थे। राजा प्रातः-काल उनको बुलाकर उनसे राज्य और कोष की व्यवस्था परामर्श करता और उचित आदेश देता था। ख्य काम शासन-यन्त्र का रक्षण, सेना-प्रबन्ध और न्याय करना था। राज्य बढ़ने पर एक के बदले दो मन्त्री रखे जाने लगे। राजा स्वयं राज्य में घूम घूमकर शासन-प्रबन्ध का निरीक्षण करता और न्याय करता था। बड़े-बड़े पदाधिकारियों का एक परिषद् था, जिसे 'सरू' कहते थे। यह परिषद् परामर्श द्वारा राजा की सहायता करता था। राज्य चालीस या पचास प्रान्तों में विभक्त था। प्रान्त के लिए वे लोग "नोम" शब्द का प्रयोग करते थे। प्रत्येक नोम का एक बड़ा अफ़सर रहता था, जो न्याय, प्रबन्ध और कोष के लिए उत्तरदायी था। इसी प्रकार प्रत्येक नगर के लिए भी अफ़सर रखे जाते थे। इनकी सहायता के लिए लेखक आदि बहुत से कर्मचारी नियुक्त कर दिए गए थे। ज़मीन दो प्रकार की थी। एक तो वह जो ज़मींदारों के अधिकार में थी और दूसरी वह जिसका प्रबन्ध स्वयं राजकर्मचारी करते थे। सिक्कों का चलन न होने कारण मालगुजारी पशु, अन्न, तेल, शहद, शराब और वस्त्र आदि के रूप में वसूल की जाती थी। पैदावार का पाँचवाँ हिस्सा मालगुज़ारी में लिया जाता था। कर्मचारियों से कर लिया जाता था, जो प्रायः सोना, चाँदी, पशु, अनाज और वस्त्र के रूप में था। स्थानिक कर्मचारी प्रति मास आय-व्यय का चिट्ठा राजमंत्री और कोषाध्यक्ष के पास भेजा करते थे।

मन्त्री से साधारण कर्मचारी तक अपने-अपने क्षेत्र में न्याय करता था। न्याय करने के लिए रोज़ ख़ास कचहरी लगती थी। मुक़द्दमों का फ़ैसला तीन दिन में प्रायः कर दिया जाता था, किन्तु अगर मामला दूर का हुआ तो अधिक-से-अधिक दो महीने तक लग जाते थे। फ़ैसला लिखे हुए क़ानून के अनुसार था। क़ानून चालीस पुलिन्दों में लिखे हुए थे। मुक़दमे की सारी कार्रवाई लिखकर होती थी। वादी और प्रतिवादी एवं गवाहों के बयान और फ़ैसला सब लिखे जाते थे। स्थानिक अफ़सरों के फ़ैसले के विरुद्ध मन्त्री की कचहरी या राजदर्बार में अपील की जा सकती थी। किसी भी व्यक्ति को बिना बाक़ायदा मुक़दमा किए हुए दण्ड नहीं दिया जाता था। मिस्र में रिश्वत भी चलती थी, जिससे धनी व्यक्तियों का काम बन जाता था। किन्तु अमीर और ग़रीब के लिए क़ानून एक ही था। सज़ाएँ कई तरह की थीं। शारीरिक दण्ड, अङ्ग भङ्ग, देश निर्वासन और प्राणदण्ड भी दिए जाते थे। यदि किसी बड़े आदमी को प्राणदण्ड दिया जाता था तो उसे पहले आत्महत्या कर लेने का अवसर दिया जाता था, ताकि वह जनता के सामने बेइज्ज़ती से बच सके।
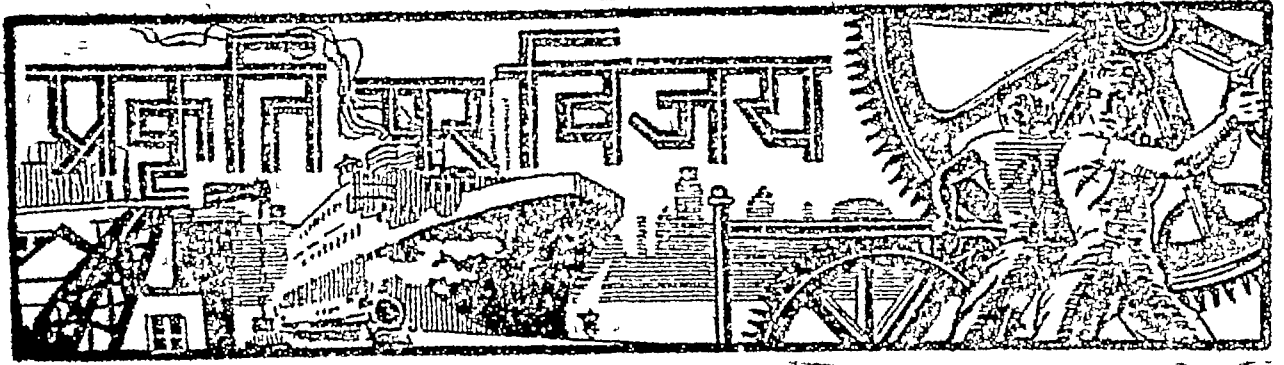
लोहे का युग

लोहा हमारी भौतिक सभ्यता की रीढ़ है। यदि आज लोहा पृथ्वी से एकाएक गायब हो जाय तो हमारी इस सभ्यता की सारी इमारत ही ढह पड़ेगी।

आधुनिक युग मशीनों का युग है। यन्त्रों की बदौलत ही मनुष्य प्रकृति पर विजय प्राप्त करने में सफल हो सका है। यह सही है कि कोयला, गैस, भाप तथा बिजली की शक्ति ही हमारे तमाम कारबार और कल-कारखाने का भार उठाए हुए है। किन्तु इन शक्तियों से पूरा फ़ायदा उठाने के लिए हमें मशीनों का ही सहारा ढूँढ़ना पड़ता है, और मशीनों के निर्माण के लिए लोहे तथा इस्पात से बढ़कर अन्य कोई पदार्थ लभ्य नहीं है।

यदि हम यह कहें कि हमारी सभ्यता लोहे की नींव पर टिकी हुई है, तो इस कथन में तनिक भी अतिशयोक्ति न होगी। पत्थर और काँसे के युग भी गुज़र चुके हैं, किन्तु काँसे को तत्कालीन सभ्यता में वह सर्वव्यापी स्थान
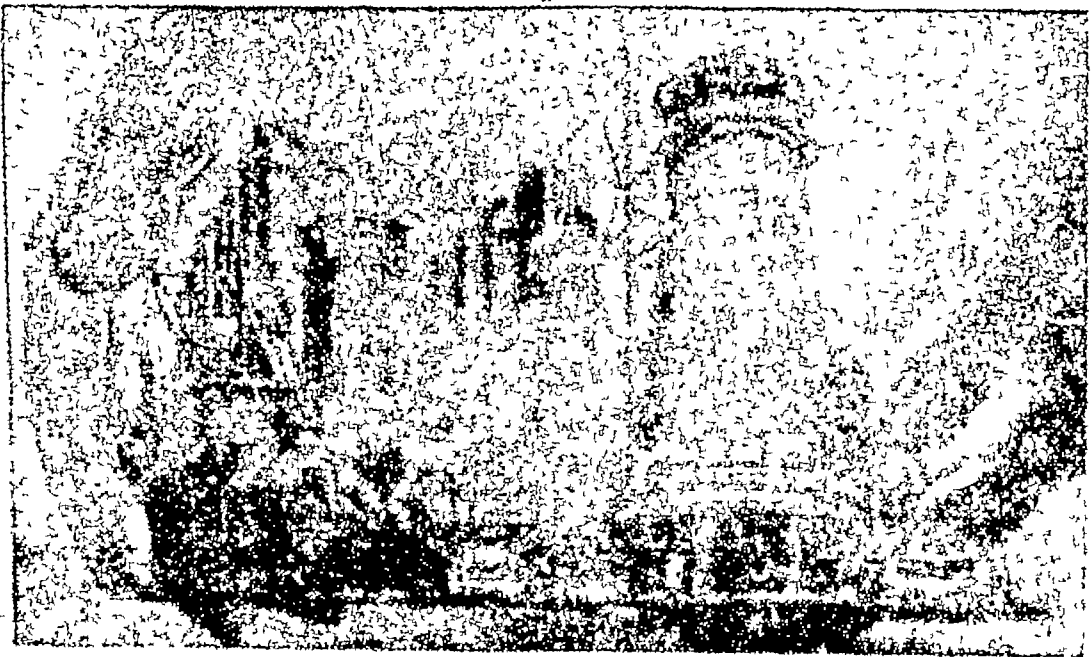
यंत्र युग का प्रतीक—लोहा

हमारे आज के सारे कल-कारखाने प्रमुख रूप से एक ही मूल भित्ति पर टिके हुए हैं और वह है लोहा। [illegible] को लोहा प्राप्त [illegible] है, उसकी सभ्यता में एक [illegible] हो गया है। पिछली दो शताब्दियों में तो लोहे ने [illegible] में यह सर्वव्यापी स्थान प्राप्त कर लिया है कि आज हम इस युग को 'लोहे का युग' कह सकते
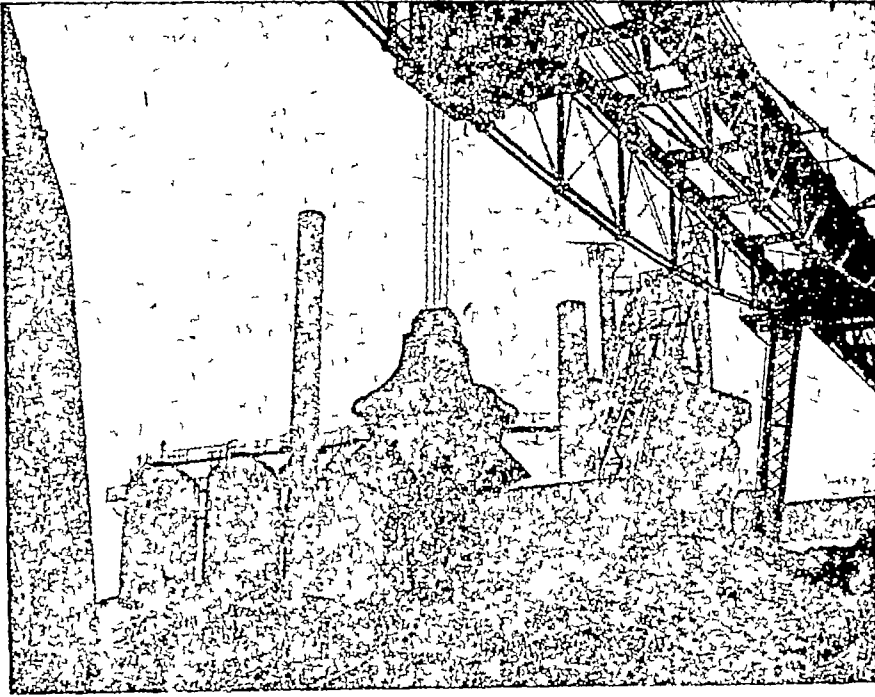
कच्चा लोहा कारखाने को पहुँचाया जा रहा है

इस भीमकाय यंत्र के बालटे से एक बार में १४० मन कच्चा लोहा उठाकर कारखाने के ढेर में पहुँचा दिया जाता है।

लोहे के रूप में आधुनिक युग को एक बेजोड़ वस्तु मिल गयी है। निब, आलपीन, बिस्कुट के डब्बे से लेकर न्यूयार्क की ७५ तल्लेवाली गगन-चुम्बी अट्टालिकाओं का ढाँचा, लम्बे-लम्बे पुल, सुरंगें और रेलगाड़ियाँ सभी कुछ लोहे से तैयार की जाने लगी हैं। लोहे की उपयोगिता विशेषकर इस बात से है कि भिन्न-भिन्न प्रकार से तैय्यार किया हुआ लोहा भिन्न-भिन्न विशेषताएँ भी रखता है। एक ओर जहाँ हम बढ़िया स्प्रिङ्ग के लिए लचकदार इस्पात तैय्यार कर सकते हैं, वहाँ दूसरी ओर हम ऐसा लोहा भी बना सकते हैं, जिसमें लचक नाम-मात्र को भी न हो। लोहे की कुछ क़िस्में ऐसी भी तैय्यार की गयी हैं, जो इतनी कड़ी होती हैं कि तनिक-सी चोट से शीशे की तरह टूटकर चूर-चूर हो जायँ, तो कुछ जातियाँ ऐसी भी हैं जो बेहद मुलायम हैं। वैज्ञानिक इच्छानुसार एक जाति के लोहे को दूसरी जाति के लोहे में परिणत भी कर सकता है। उचित रीति से सिझाने पर लोहे से ऐसे औज़ार बनाये जा सकते हैं, जो लोहे को भी काट सकें। यह विचित्र गुण किसी अन्य पदार्थ में नहीं पाया जाता। इस्पात के आरे से लोहे की गर्म गर्डरें मूली की तरह आसानी से काटी जाती हैं।

प्राप्त न था, जो वर्त्तमान सभ्यता में लोहे को प्राप्त है। जहाँ-कहीं भी बोझा सँभालने का प्रश्न उठता है, या अत्यधिक ज़ोर पड़ने की सम्भावना रहती है, इंजीनियर का ध्यान फ़ौरन लोहे पर जाता है। मज़बूती में लोहा अन्य सभी पदार्थों से आगे बढ़ा हुआ है। विशालकाय इंजिन, बड़े-बडे पुल, कल-कारख़ाने सभी कुछ लोहे के ही तो बने हुए होते हैं!

पुराने ज़माने में पत्थर, लकड़ी और मिट्टी, बस ये ही तीन वस्तुएँ लोगों को लभ्य थीं। इन्हीं से अतीत काल का मनुष्य अपने उपयोग के लिए तरह-तरह की चीज़ों का निर्माण करता था। किन्तु उपयुक्त औजार न रहने के कारण उसे कई तरह की अड़चनों का भी सामना करना पड़ता था। पत्थर के नुकीले टुकड़े से वह काटने और खोदने का काम लेता था। मामूली सा वृक्ष काटने में उसे हफ़्तों लग जाते थे। पेड़ के तने को खोखला बनाने के लिए वह पत्थर के गर्म टुकड़ों से महीनों उसे खुटखुटाता और तब कहीं वह एक काम-चलाऊ डोंगी बना पाता था। किन्तु आज फौलाद के तेज़ औज़ारों की मदद से चुटकी बजाते ऊँचे-ऊँचे वृक्ष धराशायी किये जाते हैं और लोहे की मोटी-मोटी चद्दरों को मशीनों के नीचे दबाकर उम्दा ... ली जाती हैं।

यह कह सकना सम्भव नहीं कि पहले-पहल लोहे का उपयोग करना मनुष्य ने कब सीखा। यूनान देश की पौराणिक कथाओं में उल्लेख है कि टूर्नामेण्ट की प्रतियोगिता में भाग लेनेवालों को लोहे का चक्र पारितोषिक के रूप में प्रदान किया जाता था। अतः इसमें सन्देह नहीं कि हज़ारों वर्ष पूर्व भी लोग लोहे का प्रयोग करना जानते थे। किन्तु उस युग के लोहे के बने हुए हथियार या अन्य चीज़ें हमें स्मारक-चिह्न के रूप में नहीं मिलतीं, क्योंकि लोहा नमी पाते ही मोर्चा खाकर नष्ट हो जाता है। फिर भी मिस्र देश के एक पिरामिड में लोहे का एक टुकड़ा मिला है, जिसकी आयु ४००० वर्ष आँकी जाती है। दिल्ली में पृथ्वीराज के क़िले के पासवाला लोहे का खम्भा भी बहुत पुराना है।

खानों के अन्दर चाँदी या सोने की तरह लोहा शुद्ध रूप में नहीं मिलता, बल्कि आक्सिजन, कार्बन, गन्धक तथा फ़ास्फ़ोरस (स्फुर) कच्चे लोहे के साथ रासायनिक संयोग में पाए जाते हैं। आग में गर्म करके कच्चे लोहे को शुद्ध किया जाता है। ऐसा ज्ञान पड़ता है कि प्राचीन काल में जब लोग गुफाओं में जीवन बिताते थे, संयोगवश उन्होंने एक दिन मांस भूनने के लिए ऐसी चट्टान के पास आग जलायी, जिसमें कच्चे लोहे का अंश पर्याप्त मात्रा में मौजूद था। तीव्र आँच पाकर काले रंग का पत्थर, जो वास्तव में अशुद्ध लोहा था, पिघलकर बहने लगा। गरमी से पिघल कर वह शीरे की तरह गाढ़ा हो गया। ठण्डा होने पर वह फिर कड़ा हो गया। यही लोहा था। इसे फिर गर्म करके इन्होंने इसे पत्थर के हथौड़ों से पीटा। इस सर्वथा नई चीज़ को पाकर उनके आश्चर्य की सीमा न रही। वे लोग लोहे की मज़बूती देखकर हैरान थे। उन्होंने लोहे से नुकीले और तेज़ धार के हथियार बनाना शुरू किये।

एशिया के प्राचीन लोग भी लोहे से तरह-तरह की चीज़ें बनाते थे। पश्चिमी एशिया के असीरियन लोग लोहे के रथ और सुन्दर गहने बनाते थे। उनके पास लोहे की तलवारें भी थीं। उनका आरा आजकल के आरे ही की तरह था। वे लोग लोहे से फ़ौलाद बनाना जानते थे। पहले लोहे का पता लगाने और उसे शोधने में ज़्यादा ख़र्च पड़ता था। इसलिए आरम्भ में लोहा बहुत कीमती था। स्पार्टा (ग्रीस) के लोग लोहे के सिक्के ढालते थे। सिकन्दर हिन्दुस्तान से सोने के साथ साथ लोहे को भी लूट ले गया था।

पृथ्वी पर लोहा बहुत ही प्रचुरता के साथ पाया जाता है। पृथ्वी का लगभग २० वाँ भाग लोहा है। किन्तु यह लोहा शुद्ध अवस्था में नहीं मिलता। फिर यह कच्चा अशुद्ध लोहा भी हर जगह समान रूप से नहीं पाया जाता। कच्चे लोहे की चार मुख्य जातियाँ हैं—

१. मैग्नेटाइट

इसकी गिनती उत्तम श्रेणी के कच्चे लोहे में होती है।
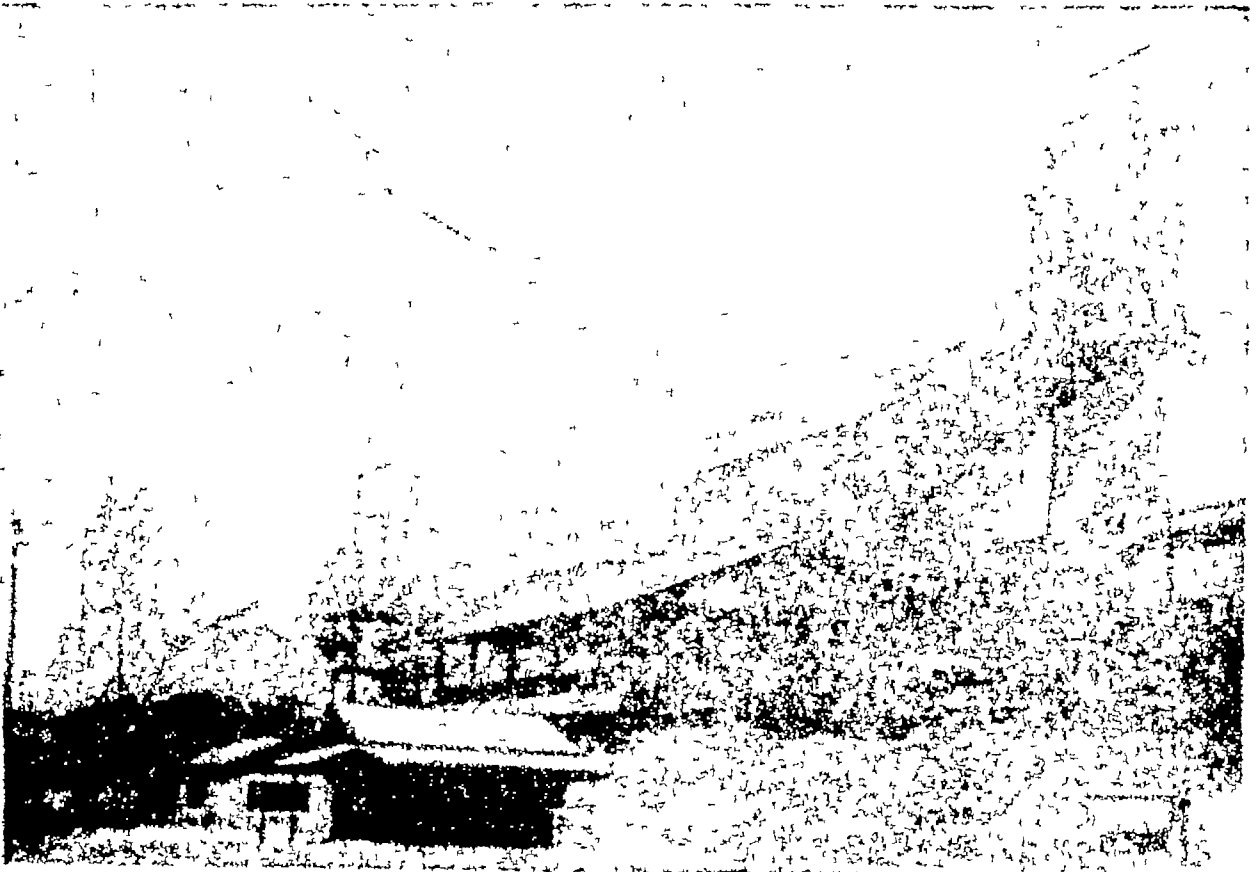
टाटानगर, जमशेदपुर, में ब्लास्ट फर्नेसों का दृश्य

भारत में लोहे का सबसे बड़ा कारखाना टाटा का कारखाना है। इस फोटो में पाँच फर्नेसों का —

[फोटो—'टाटा आयरन एण्ड स्टील कं० लि०' की कृपा से प्राप्त]

टाटा के कारखाने में बेसेमर कन्वर्टर की फुफकार
[फ़ोटो—टाटा आयरन एण्ड स्टील कं० लि० की कृपा से]

स्पेन में इस क़िस्म के लोहे की खानें बहुत-सी हैं। इन खानों में दलदल तथा नमी रहती है, अतः ब्राउन हेमटाइट में पानी का अंश भी बहुत होता है।

४. साइडरेट

ऊपर की तीनों क़िस्म के कच्चे लोहे में आक्सिजन मिला रहता है, किन्तु साइडरेट में लोहे का कार्बोनेट होता है। शुद्ध लोहे का अंश उसमें कम पाया जाता है। किन्तु साइडरेट की खानें प्रायः कोयले की खानों के नज़दीक मिलती हैं, अतः लोहे को शोधने के लिए कारख़ानों को चलाने में भी ऐसी जगहों में ासानी पड़ती है।

पहले कच्चे लोहे को साफ़ करने का ढंग बहुत सीधा-सादा था। कच्चा लोहा लकड़ी के कोयले से गर्म किया जाता था। तेज़ आँच में लोहा पिघलकर एक तरफ़ इकट्ठा हो जाता था। लोहार ने देखा कि अधिक आँच से लोहा अधिक शुद्ध उतरता है, इसलिए उसने तेज़ हवा के झोंके से फ़ायदा उठाने के लिए पहाड़ियों की चोटी पर या बहुत ऊँचे स्थानों में भट्टियाँ बनायीं। वहाँ हवा ज़ोर की लगती थी, अतः भट्टी में आँच भी तेज़ पैदा होती थी। किन्तु हवा कभी चलती, कभी न चलती, अतः भट्टी का काम जारी रखने के लिए उसने नली द्वारा मुँह से हवा फूँकने का प्रबन्ध किया। कुछ दिनों उपरान्त भट्टी में हवा पहुँचाने के लिए धौंकनी का आविष्कार किया गया। मिस्र की प्राचीन काल की मूर्तियाँ इस बात की द्योतक हैं कि वे लोग धौंकनी का प्रयोग लोहे को शोधने के लिए करते थे।

धीरे-धीरे लोहे की माँग इतनी बढ़ी कि भट्टियों में जलाने के लिए लकड़ी का कोयला तैयार करने के लिए जंगल के जंगल साफ़ किए जाने लगे। इङ्गलैंड में तो वहाँ के मल्लाहों को भय होने लगा कि कहीं वहाँ के जंगल बिलकुल

इसमें शुद्ध लोहे का अंश अन्य जाति के कच्चे लोहे की अपेक्षा ज्यादा होता है। इसमें चुम्बकीय शक्ति भी मौजूद होती है। नार्वे और स्वीडन में यह अधिक मिलता है। बढ़िया क़िस्म का लोहा तैयार करने के लिए मैग्नेटाइट ही काम में लाया जाता है। किन्तु मैग्नेटाइट को गलाने में ईंधन का ख़र्च ज्यादा पड़ता है, अतः इससे तैयार किया गया लोहा महँगा भी पड़ता है।

२. रेड हेमटाइट

इसमें शुद्ध लोहा ७० प्रतिशत होता है। इङ्गलैंड, कनाडा और जर्मनी में इस क़िस्म के कच्चे लोहे की खानें हैं।

३. ब्राउन हेमटाइट

रेड हेमटाइट और ब्राउन हेमटाइट में बहुत कम अन्तर है। इङ्गलैंड में ब्राउन हेमटाइट नहीं पाया जाता।

ही साफ़ न हो जायँ और किश्ती बनाने के लिए उन्हें लकड़ी ही न मिले। इसलिए उनके आन्दोलन करने पर क़ानून बना कि कोई जलाने के लिए पेड़ न काटे। तब ईंधन की तलाश में लोगों का ध्यान बरबस पत्थर के कोयले की ओर गया, और तब से भट्टियों में पत्थर का कोयला जलाया जाने लगा।

किन्तु आधुनिक युग में खान से निकले हुए कच्चे लोहे को साफ़ करने के लिए उन्नत प्रणालियाँ काम में लाई जाती हैं। सबसे पहले खान के लोहे को साथ की मिट्टी, बालू, पत्थर आदि से अलग करना होता है। इसके बाद उसमें रासायनिक तरीक़े से घुले हुए कार्बन, गन्धक, फ़ास्फ़ोरस आदि को अलग करना होता है। अब इस पूर्णतया शुद्ध लोहे में कार्बन की निश्चित मात्रा अलग से मिलाकर उससे कड़ा, नरम या लचकदार इस्पात या मामूली लोहा तय्यार करते हैं।

भट्टियों में डालने से पहले खान के कच्चे लोहे को खुली भट्टियों में डालकर उसे इधर-उधर ख़ूब उलटते हैं, ताकि कार्बोनिक ऐसिड, गन्धक और उसकी नमी अलग हो जाय। अब इस कच्चे लोहे में फ़ास्फ़ोरस, कार्बन और ऑक्सिजन तथा बालू रह जाता है। तब कच्चा लोहा 'ब्लॉस्ट फ़र्नेस' में लाया जाता है। ब्लॉस्ट फ़र्नेस पुराने ज़माने की धौंकनीदार भट्ठी का ही परिष्कृत रूप है। एक बड़े भट्ठे की तरह यह लगातार आग और चिनगारियाँ उगलता रहता है। इसकी चिमनी लगभग १०० फ़ीट ऊँची होती है। चिमनी के चारों ओर लोहे की मज़बूत चद्दरें मढ़ी रहती हैं, तथा भीतर कहीं आँच में भी न पिघल सकनेवाली ईंट लगी रहती है। यदि ऐसी एक खाली भट्ठी में आप खड़े हों तो ऐसा लगेगा मानो आप एक गहरे कुएँ में खड़े हैं, जिसका मुँह २५ फ़ीट चौड़ा है। इस चिमनी का ऊपरी भाग ज़रा बाहर की ओर इस तरह मोड़ दिया जाता है कि चिमनी के मुँह पर एक ढक्कनदार ढक्कन ठीक तरह से बैठ जाता है। [illegible] लोहा ऊपर से इसी ढक्कन पर लाद दिया जाता है। मशीनों के [illegible] इस ढक्कन का भाड़ा नीचे करते ही यह कच्चा लोहा भट्ठी में आ गिरता है। पत्थर का कोयला [illegible] और चूने का पत्थर भी लोहे के साथ भट्ठी में [illegible] एक दो लोहे के पीछे [illegible] चूने का पत्थर [illegible] है। भट्ठे के [illegible] [illegible] गर्म हवा के [illegible]

इन सब पाइपों का संबंध एक मुख्य पाइप से रहता है। ये भट्टियाँ जब चालू होती हैं, तो वर्षों तक अनवरत रूप से इनका काम जारी रहता है—एक क्षण के लिए भी यह ठण्डी नहीं होने पातीं, अन्यथा उन्हें फिर से गर्म करने में बहुत-सा ईंधन नष्ट हो जायगा। दिन-रात चार-चार पाँच-पाँच घण्टे पर लोहा, कोक और चूने का पत्थर उसके अन्दर डालते रहते हैं। ये चीज़ें भट्ठे के अन्दर ज्यों-ज्यों नीचे पहुँचती हैं, त्यों-त्यों उतनी ही अधिक गर्मी इन्हें मिलती है। पहले ये थोड़ी-सी गर्म होती हैं, फिर इनका रंग लाल हो जाता है और नीचे पहुँचते-पहुँचते तक ये एकदम गर्म होकर उजली दिखाई देने लगती हैं। कड़ी आँच में पिघलकर बालू और लोहे का मैल चूने के पत्थर में घुल जाता है तथा पिघले हुए लोहे के ऊपर द्रव रूप में यह तैरने लगता है—इसे 'स्लेग' कहते हैं २१२ डिग्री की गर्मी में पानी खौलने लगता है, किन्तु इन भट्ठों का तापक्रम ३००० डिग्री तक पहुँचता है। चार-पाँच घण्टे के बाद भट्ठे की तली की दो खिड़कियाँ खोल दी जाती हैं। ऊपरवाली खिड़की से स्लेग बहकर बाहर निकल आता है, और नीचेवाली खिड़की से पिघला हुआ तपता लोहा। पिघला हुआ लोहा नालियों से बहकर जमा होता है। नालियों में बालू बिछी रहती है। ठण्डा होने पर काले लोहे के ढेर सुअर के [illegible] की शक्ल के दिखाई देते हैं, इसी कारण अंग्रेज़ी में इसे 'पिग आयरन' कहते हैं। बड़े [illegible] ब्लॉस्ट फ़र्नेस प्रतिदिन ६०० टन पिग आयरन तैयार कर देते हैं।

ब्लॉस्ट फ़र्नेस के [illegible] पहले [illegible] हवा के [illegible] पहुँचाए जाते हैं, किन्तु ठण्डी हवा को गर्म करने में [illegible] को बहुत-सी आँच [illegible] १००० [illegible] [illegible]

टाटा के कारखाने का एक और विभाग—ब्लूमिङ्ग मिल

इस भीमकाय यंत्रमें उत्तप्त लोहे के पिण्ड को दबाकर रेल की पटरियाँ, गर्डरें आदि के रूप में बदल दिया जाता है। [फोटो—टाटा आयरन एण्ड स्टील क० लि० की कृपासे प्राप्त।]

गैस की लपटें सीधी 'पिग आयरन' के ऊपर पड़ती हैं। लोहे की सलाखों से मिस्त्री 'पिग आयरन' को कई घंटे तक बराबर उलटता-पलटता रहता है—ठीक इसी तरह जैसे मैल साफ करने के लिए धोबी गन्दे कपड़े को लकड़ी के पाटे पर छाँटता है। इस क्रिया में पिघले हुए लोहे में आसमानी रंग की लपटें निकलती हैं—फुफकारें भी छूटती हैं। जब फुफकारों का निकलना बन्द हो जाता है, तब मिस्त्री अपनी सलाखों के सिरे पर ३०-४० सेर का लोंदा लपेटकर भट्ठी के बाहर लोहा निकालता है। फिर इस लोंदे को मशीन से दबाते हैं, मानों धोबी कपड़े को निचोड़ रहा हो।

इस तरह फ़ास्फ़ोरस, गन्धक और कार्बन लोहे से अलग हो जाते हैं, और क़रीब-क़रीब शुद्ध लोहा बच जाता है। इसे 'राट आयरन' कहते हैं। इसमें कार्बन का अंश बहुत कम रहता है, प्रायः ·१ से लेकर ·२ प्रतिशत तक। 'राट आयरन' में खिंचाव सहने की शक्ति ख़ूब होती है, यही कारण है कि बड़े बड़े जहाज़ों के लिए लंगर और ज़ंजीरें 'राट आयरन' से ही तैयार की जाती हैं। सुन्दर आकार की वस्तुएँ भी

तरह-तरह की चीज़ें बना सकते हैं, किन्तु यह बेहद कड़ा होता है। अतः इसे मोड़कर या हथौड़े से पीटकर कोई चीज नहीं बनाई जा सकती। इसका कारण यह है कि 'पिग आयरन' में कार्बन, गन्धक, फास्फोरस आदि विजातीय वस्तुएँ काफी मात्रा में मौजूद रहती हैं। इस्पात तैय्यार करने के लिए इन विजातीय द्रव्यों को अलग करना ज़रूरी है। 'पिग आयरन' को एक बार फिर कोक के संग खुली भट्टियों में पिघलाते हैं। इन भट्टियों में जलते हुए

'राट आयरन' से तैयार की जाती हैं। कब्जे, कीलें, साँकल छड़ आदि 'राट आयरन' से बनते हैं। किन्तु 'राट आयरन' इतना नरम होता है कि इससे हमारी सभी आवश्यकताएँ पूरी नहीं की जा सकतीं। नियत-मात्रा में कार्बन मिलाकर 'राट आयरन' इच्छानुसार कठोर और मज़बूत बनाया जा सकता है। ऐसे लोहे को फौलाद या 'स्टील' कहते हैं। 'पिग आयरन' में ३ प्रतिशत कार्बन होता है। इससे यह कम आँच में पिघल जाता है, अतः ढलाई के काम के लिए
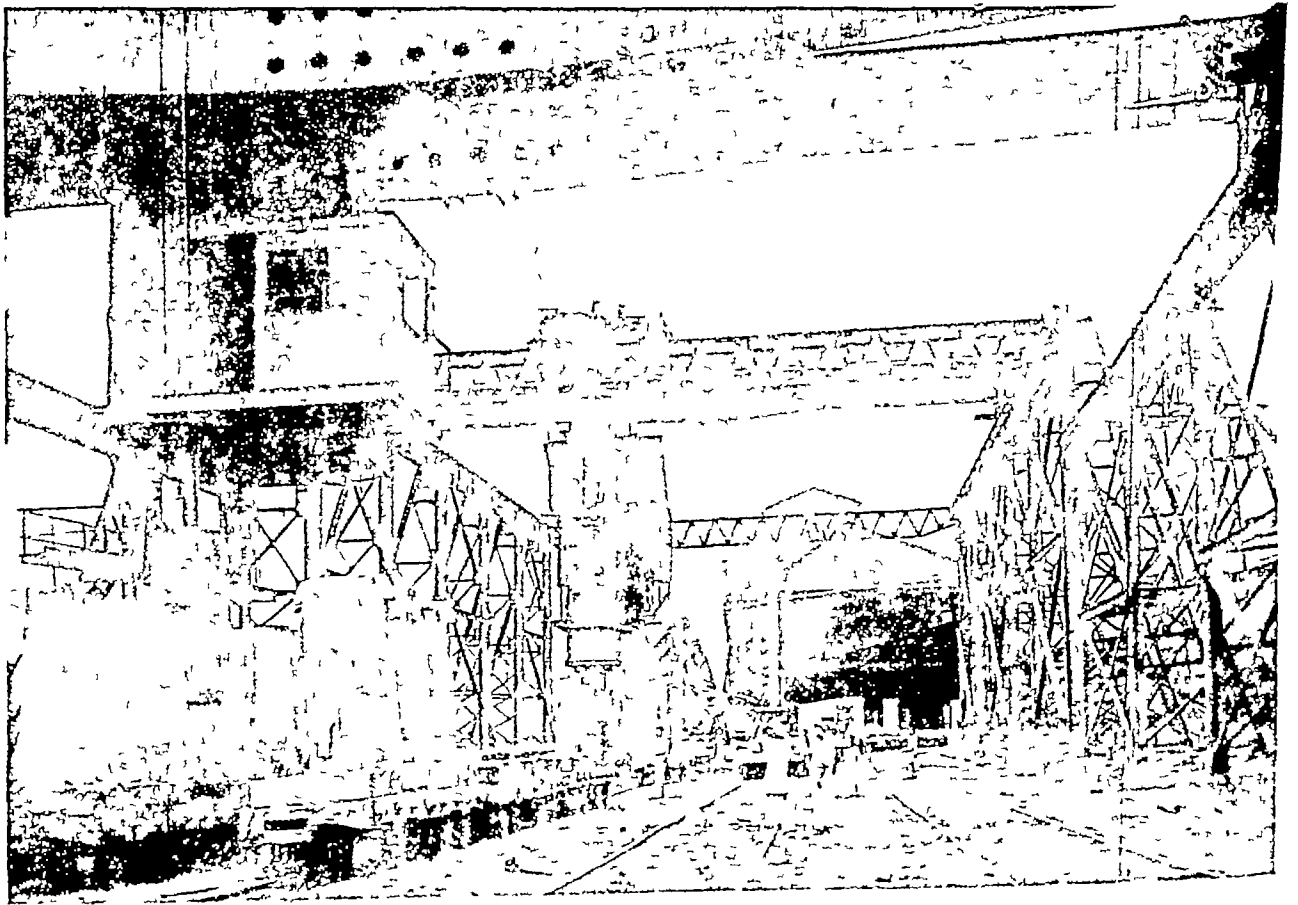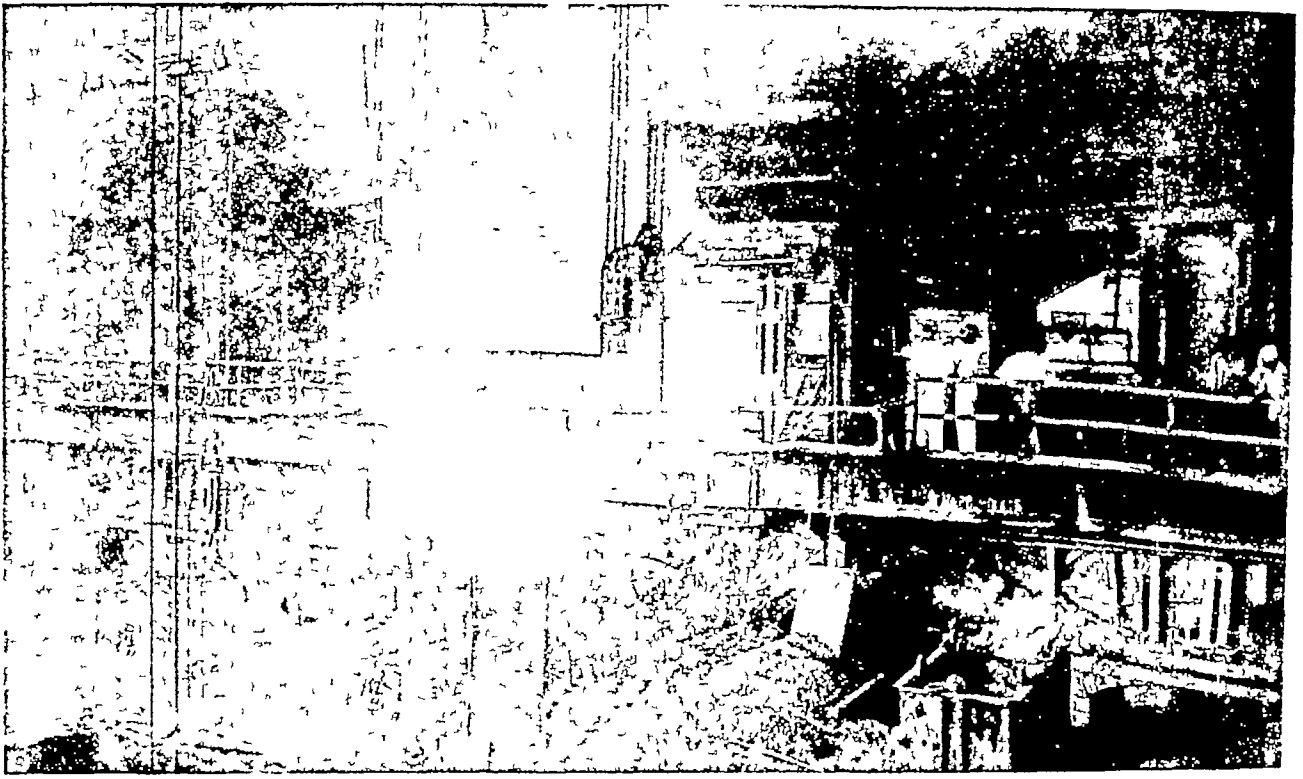
टाटा के लोहे के कारखाने के दो दृश्य

ऊपर के चित्र में फौलाद बनाने के खुले भट्टे का दृश्य है। चित्र के बीच में आँखो में चकाचौंध करनेवाला प्रकाश पिघले हुए फ़ौलाद और भट्टे की आँच के फलस्वरूप है। नीचे के चित्र मे अन्य एक विभाग का दृश्य है, जहाँ बड़े-बड़े साँचों मे से अगारे की तरह चमचमाते हुए लोहे के पिण्ड निकाले जा रहे हैं! [फोटो—टाटा आयरन एण्ड स्टील क० लि]

'पिग आयरन' बहुत ही उपयुक्त है। किन्तु ठंडे होने पर 'पिग आयरन' के जल्द टूटने का डर रहता है—हथौड़े से पीटकर इससे कोई चीज़ तैयार करना बड़ा कठिन होता है। 'राट आयरन' में बहुत थोड़ा कार्बन रहता है, इससे मामूली आँच में यह नहीं पिघलता।

फौलाद इन दोनों से अच्छा होता है—इसमें १ से लेकर २ प्रतिशत कार्बन रहता है। कार्बन की मात्रा के अनुसार इसके गुण भी बदलते रहते हैं—ज्यों-ज्यों कार्बन की मात्रा बढ़ती है, फौलाद कड़ा होता जाता है।

फौलाद बनाने के लिए 'राट आयरन' के छोटे छोटे टुकड़े काटकर लकड़ी के शुद्ध कोयले के साथ बक्सनुमा भट्ठियों में रख देते हैं। पहले लोहे के टुकड़ों की एक तह बिछाते हैं, फिर कोयले की तह। इस तरह कई तहें एक के ऊपर दूसरी बिछा दी जाती हैं। ये भट्टी या आवें की तेज़ आँच में प्रायः एक हफ़्ते तक पड़ी रहती हैं। इस क्रिया से लोहे के भीतर कार्बन प्रवेश कर जाता है, और लोहे की पीठ पर जगह-जगह छाले उभड़ आते हैं। इसी कारण इसे 'ब्लिस्टर स्टील' कहते हैं। 'ब्लिस्टर स्टील' में सबसे बड़ी ख़राबी यह है कि लोहे में कार्बन समान रूप से मिल नहीं पाता, अतः 'ब्लिस्टर स्टील' की बनी चीज़ों पर भरोसा नहीं किया जा सकता, क्योंकि इसका कोई भाग ज़्यादा मज़बूत हो सकता है तो कोई कम।

शेफील्ड के एक घड़ीसाज़ को कमानी के लिए प्रायः बढ़िया क़िस्म के फौलाद की ज़रूरत पड़ा करती थी। अतः उसने स्वयं उत्तम फौलाद तैयार करने की सोची। उसने ब्लिस्टर स्टील के टुकड़ों को लिया और उन्हें चीनी मिट्टी के ढकनदार प्यालों (क्रुसिबल) में भरकर तेज़ आँच में रख दिया। पिघलने पर क्रुसिबल के लोहे में कार्बन समान रूप से मिल गया और एक बहुत ही उत्तम जाति का फौलाद मिला। यह बात सन् १७४० की है। इस फौलाद को 'क्रुसिबल स्टील' कहते हैं। सेफ्टी रेज़र की पत्तियाँ, चाकू तथा तेज़ धार के औज़ार क्रुसिबल स्टील से ही तैयार किए जाते हैं। किन्तु क्रुसिबल स्टील तैयार करने में समय भी ज़्यादा लगता है और ख़र्च भी। अतः यह महँगा बिकता है।

ऐसा फौलाद तैयार करने की विधि के आविष्कार का सेहरा एक अंग्रेज़ मिस्त्री हेनरी बेसेमर को प्राप्त है। 'पिग आयरन' को पूर्णतया शुद्ध करके 'राट आयरन' तैयार करके उसमें कार्बन मिलाकर फौलाद बनाने का तरीक़ा बड़े झंझट का है। बेसेमर ने सोचा यदि पिग आयरन के भीतरी द्रव्यों को हम किसी तरह जला सकें या उसे गैस के रूप में उड़ा सकें तो बड़ी आसानी से हमें फौलाद मिल सकेगा। इस तरह समय और पैसे दोनों की बचत होगी। बेसेमर ने एक गिलासनुमा भट्ठी ली। इस भट्ठी के पेंदे में ५ छेद किये। इन सूराख़ों के रास्ते से तेज़ हवा के झोंके आ रहे थे। अब पिघला हुआ पिग आयरन इसमें उँडेला गया। पिग आयरन के डालते ही उसमें से आसमानी रंग की लपटें निकलने लगीं और हवा पाकर गर्म कार्बन अपने आप जलने लगा। कार्बन के जलने से इतनी काफ़ी गर्मी पैदा होती थी कि बिना किसी ईंधन के भट्ठी का काम चलता रहा। जब लपटों का निकलना बन्द हो गया तो उसने भट्ठी से लोहे को बाहर निकाल लिया। इस तरह कुछ मिनटों के अन्दर उसने कई टन पिग आयरन को फौलाद में परिणत कर दिया।

बेसेमर की बातों का कारख़ानेवालों ने पहले तो विश्वास नहीं किया—भट्ठी में बाहर से बिना गर्मी पहुँचाए केवल ठण्डी हवा के झोंके से भला फौलाद कैसे तय्यार किया जा सकता है? किन्तु लोगों ने जब स्वयं अपनी आँखों से प्रयोग देखा तो उनके आश्चर्य की सीमा न रही। थोड़े ही दिनों में वह गिलासनुमा भट्ठी 'बेसेमर कन्वर्टर' सभी फैक्टरियों में काम में आने लगी।

बेसेमर कन्वर्टर ने लोहे के कारबार में एक नये युग का आविर्भाव किया, और फौलाद का प्रयोग अब हर तरह के कामों में होने लगा।

आधुनिक बेसेमर कन्वर्टर का आकार एक टेढ़े पेंदे-वाले अण्डाकार बोतल की तरह होता है। कन्वर्टर के भीतर भट्ठीवाली ईंट जुड़ी रहती है, और बाहर लोहे का पत्तर मढ़ा रहता है। इसकी चौड़ाई १० फ़ीट और ऊँचाई २० फ़ीट होती है। उसमें ३० टन पिग आयरन एक बार में समा सकता है। पेंदे में सैकड़ों सूराख बने रहते हैं, उन्हीं में से होकर हवा कन्वर्टर में प्रवेश करती है। जब नीचे से हवा का झोंका आता है, तब बड़े ज़ोर की आवाज़ होती है, और पीली और आसमानी रंग की लपटें ऊपर को निकलती हैं। रंगीन शीशे की ऐनक लगाये एक विशेषज्ञ उन लपटों को देखता रहता है—जब सारा कार्बन जल चुकता है, तब वह इशारा करता है और हवा के झोंके बन्द कर दिये जाते हैं, और एक निश्चित मात्रा में कार्बन इस कन्वर्टर में डाल दिया जाता है। इतना होने पर वही लोहा फौलाद बन जाता है। मशीनों से झुकाकर कन्वर्टर को टेढ़ा कर देते हैं, तब पिघला हुआ लोहा [illegible]

बालटों में गिर पड़ता है, जो 'लेडिल' कहलाते हैं। ये क्रेन की सहायता से उठाये जाते हैं।

बेसेमर के तरीके में एक भारी कमी यह है कि जिस पिग आयरन में फास्फोरस और गन्धक का अंश अधिक रहता है, उसे इस रीति से फौलाद बनाने में दिक्कत पड़ती है। अमेरिका, जर्मनी और भारतवर्ष में, जहाँ खान से निकले हुए कच्चे लोहे में फ़ास्फोरस और गन्धक अधिक मात्रा में नहीं होते, बेसेमर कन्वर्टर ही फौलाद बनाने के लिए काम में लाया जाता है। किन्तु इङ्गलैण्ड की खान के कच्चे लोहे में फास्फोरस और गन्धक का अंश अधिक रहता है, अत: वहाँ बेसेमर कन्वर्टर की जगह अब ज्यादातर सर विलियम सीमेन की खुली भट्टी काम में लायी जाती है। इन भट्टियों में हवा तथा जलनेवाली गैसें बगल से प्रवेश करती हैं, और लपटें पिग आयरन में ऊपर तथा बग़ल से लगती हैं। पिग आयरन में फ़ौलाद के छोटे-छोटे टुकड़े भी डाल दिये जाते हैं। घण्टे आध घण्टे में फ़ास्फ़ोरस, गन्धक और बालू वग़ैरह स्लेग के रूप में ऊपर आ जाते हैं और बाहर गिर जाते हैं। समय-समय पर भट्टी में से नमूना निकालकर जाँच की जाती है कि कितना प्रतिशत कार्बन उसमें मौजूद है। इतमीनान होने पर पिघला हुआ फ़ौलाद लेडिल में गिराया जाता है।

खुली हुई भट्टी में बेसेमर कन्वर्टर की अपेक्षा देर लगती है। बेसेमर कन्वर्टर में सब काम १५ मिनट में ख़त्म हो जाता है, किन्तु खुली भट्टी में आठ-दस घण्टे लग जाते हैं। लेकिन खुली भट्टी में निकासी अच्छी होती है, एक बार में २५० टन फ़ौलाद तैयार किया जा सकता है।

लेडिल से फ़ौलाद के वृहताकार टुकड़े क्रेन की मदद से रोलिंग मिल में लाये जाते हैं। दानव की तरह टन-टन करता हुआ एक क्रेन अपने पंजे में रक्तवर्ण का गर्म लोहा दबोचे हुए रोलिंग मिल की ओर बढ़ता है। रोलरों के बीच से जब गर्म लोहा गुज़रता है, तो चारों ओर लाल चिनगारियाँ छूटती हैं। देखते देखते लोहे का मोटा लोंदा लम्बी-चौड़ी चद्दरों में परिवर्तित हो जाता है, मानो किसी कुम्हार ने मिट्टी के लोंदे को हाथ से थाप-थाप कर पतला बना दिया हो! वहीं बगल में कुछ मशीनें लगी रहती हैं, जो गर्म लोहे की चद्दरों और गर्डरों को आसानी से काट देती हैं, मानों लोहे की न होकर वे लकड़ी की बनी हों! इस प्रकार लोहा हमारे बाज़ारों में जाने योग्य होता है।

गर्म लोहे के पिण्ड को दबाकर चद्दरें, सलाखें, आदि बनाये जा रहे हैं।

[फ़ोटो—टाटा आयरन एण्ड स्टील कं० लि० की कृपा से प्राप्त।]

प्रस्तरयुग के कलाकार इस चित्र में पत्थर के युग में अँधेरी गुफाओं में मशाल की सहायता से दीवारों पर जानवरों के चित्र अंकित करते हुए आदिम मनुष्यों की कल्पना की गई है।

पूर्व ४००४वें वर्ष में शुक्रवार ता० २८ अक्तूबर को किया था। किसी में भी यह साहस नहीं था कि वह बिना नास्तिकता का अपराधी बने इन धर्माधिकारियों के वक्तव्यों का विरोध करे। 'ओल्ड टेस्टामेण्ट' (बाइबिल का एक भाग) की सूक्तियों ही का सर्वोपरि आधिपत्य और शासन था। परन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भिक वर्षों में मिस्र देश के सम्बन्ध में जो अनुसन्धान हुए, उन्होंने सृष्टि के आरम्भ की तिथि को और भी पीछे ढकेल दिया और बाद को असीरियन, कैल्डियन तथा सुमेरियन सभ्यताओं का पता चलने पर इतिहासज्ञ इस बात का अनुभव करने लगे कि दुनिया और उसका इतिहास धर्म के आचार्य लोग जितना समझते हैं उससे कहीं अधिक प्राचीन है। भूगर्भ-विद्या की हाल की खोजों ने तो संसार के इतिहास के और भी कई अप्रत्याशित और भयोत्पादक पृष्ठ खोल डाले हैं, साथ ही नवनिर्मित मानव-विज्ञान (Anthropology) और मानुषमिति (Anthropometry) नामक विद्याओं ने भी प्रागैतिहासिक मानव के सम्बन्ध में हमारे ज्ञान को बढ़ाने में कुछ कम मदद नहीं की है। अब हमें मोटे तौर पर इस बात का पता मिल गया है कि आज से लगभग दस लाख वर्ष पूर्व पृथ्वी पर मनुष्य-जैसे कुछ प्राणी विचरण करते थे, जो अपने काम के औज़ार बनाने के उद्देश्य से समझबूझकर चकमक पत्थर या साधारण पत्थर को हथौड़े की चोटों से तोड़कर या खुरचकर गढ़ते थे। ये थे आरम्भिक प्रस्तर-युग के मनुष्य (Eolithic or Dawn-Stones Men) जिनकी अस्थियाँ जावा में पायी गयी हैं। इनके बाद हाइडेलबर्ग (Heidelderg Men) नामक मनुष्य-प्राणी आए, जिनके युग में पृथ्वी पर ऐसे चीते होते थे, जिनके कटारी के आकार के लम्बे दाँत थे, तथा ऐसे गैंडे पाए जाते थे, जिनका शरीर ऊन-जैसे बालों से ढका रहता था। इसके बाद आए पिल्टडाउन-नामक मनुष्य (Piltdown Men) जिनके द्वारा छेद किया गया बल्ले की शक्ल का एक हाथीदाँत का टुकड़ा मिला है। इस (पिल्टडाउन) मानव को वैज्ञानिक लोग इयनथ्रोपस (Eoanthropus) या आदि-मानव भी कहते हैं। तब लगभग ५०००० वर्ष पूर्व, जब पृथ्वी का चतुर्थ हिम युग अभी पराकाष्ठा को नहीं पहुँच पाया था, नीएन्डरथेल मनुष्य (Neanderthal Men) उत्पन्न हुए, जिन्हें अग्नि के प्रयोग का ज्ञान था। ये लोग कन्दराओं में निवास करते, चमड़े के वस्त्र धारण करते और हम लोगों की तरह दाहिने हाथ से अधिकतर काम लेते थे। कालान्तर में आज से लगभग २५००० वर्ष पहले इनका स्थान ऐसे लोगों ने आकर लिया जो सर्वप्रथम वास्तविक मानव कहे जाते हैं। इन वास्तविक मनुष्यों की अस्थियाँ क्रोमेगनान (Cromagnon) और ग्रिमैल्डी (Grimaldi) की कन्दराओं में पायी गयी हैं, अतः इन जातियों के मनुष्य को "क्रोमेगनानीय" या "ग्रिमैल्डीय" कहते हैं। ये मनुष्य जंगली थे, परन्तु ये बड़े ऊँचे दर्जे के जंगली। वे कण्ठहार बनाने के लिए कौड़ियों या सीपियों में छेद कर लेते थे; सजावट के लिए अपने शरीर को रँगा करते थे, हड्डियों और पत्थरों पर चित्रकारी भी करते थे, तथा कन्दराओं की दीवालों और आकर्षक शिला खण्डों पर पशुओं इत्यादि के टेढ़े-मेढ़े परन्तु कभी कभी बहुत ही बढ़िया चित्र भी बनाते थे। वे तरह-तरह के औज़ार बनाते थे और घोड़ों (उस युग के टट्टू, जिनके थोड़ी-सी दाढ़ी भी होती थी)

२५००० वर्ष पूर्व के कलाकारों की महान् कलाकृतियों का एक नमूना

यह अल्टामीरा की गुफा की उस सुप्रसिद्ध दीवाल का चित्र है जिस पर पत्थर-युग के मनुष्यों द्वारा चित्रित जानवरों के चित्र पाये गये हैं, जिनमें से दो रंगीन चित्र इसी पृष्ठ के सामने अलग से दिये जा रहे हैं।

कल की छड़ियों मे बिलकुल भिन्न थे। यह भी नहीं कहा जा सकता कि उनसे औरों पर आक्रमण करने अथवा आत्म-रक्षा करने का काम लिया जाता होगा। पुरातत्व-वेत्ताओं का अनुमान है कि वे या तो उस समय के जादूगरों की छड़ियाँ रही होंगी, या संभवतः 'राजदंड' के रूप में काम में लायी जाती होंगी। इसीलिए इन लोगों ने इन्हें राजदंड (batons de commandement) का नाम दिया है।

उपर्युक्त छुरे के हत्थों तथा 'राजदंडों' पर चित्रकारी करने के अलावा उस समय का कन्दरा-निवासी मनुष्य मैमथ-नामक हाथी के दाँत के टुकड़ों तथा बारहसिंघे के अनेक शाखाओंवाले सींगों पर मनुष्य या पशु पक्षियों के सुन्दर चित्र अथवा बढ़िया बेल बूटों की नक्काशी भी करता था। उस समय सींग या हड्डी के टुकड़े की सब सतह चित्रों से भर देना ही चित्रकला की पूर्णता समझी जाती थी। कभी कभी एक चित्र दूसरे के ऊपर बना दिया जाता था, और प्रायः ऐसा होता था कि किसी बड़े चित्र की रूप रेखा के भीतर एक दूसरा छोटा चित्र या किसी जानवर का केवल सिर बना दिया जाता था। इस तरह उस युग के चित्रों में अधिकतर हमें यह देखने को मिलता है कि किसी बारह-सिंघे के चित्र की रूप-रेखा के अन्दर मछली, सर्प या घोड़े का सिर बना हुआ है। वास्तव में जब तक कोई स्वयं अपनी आँखों से इन प्रागैतिहासिक कृतियों को देख न ले तब तक वह यह अनुमान नहीं कर सकता कि ये कन्दरा-वासी मनुष्य चित्रों की रूप-रेखा खींचने में, मूर्ति-निर्माण में अथवा सामान्य रूप से प्रस्तर-खण्डों को केवल छीलने में कितने आगे बढ़े हुए थे! वास्तव में वे पूर्ण रूप से विकसित मूर्तिकार नहीं थे। वे विकास की ऐसी अवस्था में थे, जिसके लिए यह कहना सही होगा कि वे केवल लकड़ी या पत्थर को छीलना-छालना जानते थे। यह बात हमें स्वाभाविक ही मालूम पड़ेगी, यदि हम इस बात को ध्यान में रखें कि धातुओं का प्रयोग इस समय तक बिल्कुल अज्ञात था, तथा पदार्थों को गढ़कर उन्हें कोई रूप देने का सारा कार्य चकमक पत्थर के तेज टुकड़ों द्वारा ही होता था। परन्तु सच्चे कलाकार के कुशल करों में आकर चकमक पत्थर के नुकीले टुकड़े भी चमत्कार पैदा कर सकते हैं। लगभग सौ वर्ष पहले ही अब तक इस पृथ्वी पर ऐसे स्थल पाये जाते थे, जैसे न्यूजीलैण्ड या आस्ट्रेलिया में, जहाँ के आदि-निवासी, धातुओं का कोई ज्ञान न होने पर भी, लकड़ी और पत्थर दोनों से गढ़कर ऐसे आभूषणों का निर्माण करते थे, जिनकी सुन्दरता और कारीगरी कहीं बढ़ी-चढ़ी होती थी।

कला का यह तथाकथित 'बारहसिंघा युग' बहुत दिनों तक नहीं रहा। कालान्तर में उपस्थित होनेवाले जलवायु के रहस्यपूर्ण परिवर्त्तनों ने पृथ्वी के हिमप्रदेशों की रेखा और
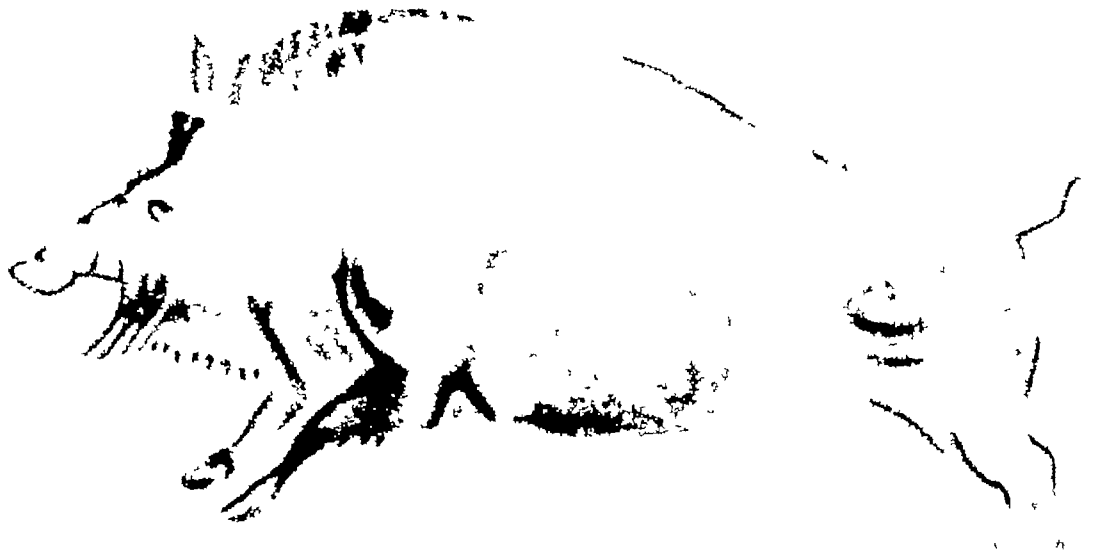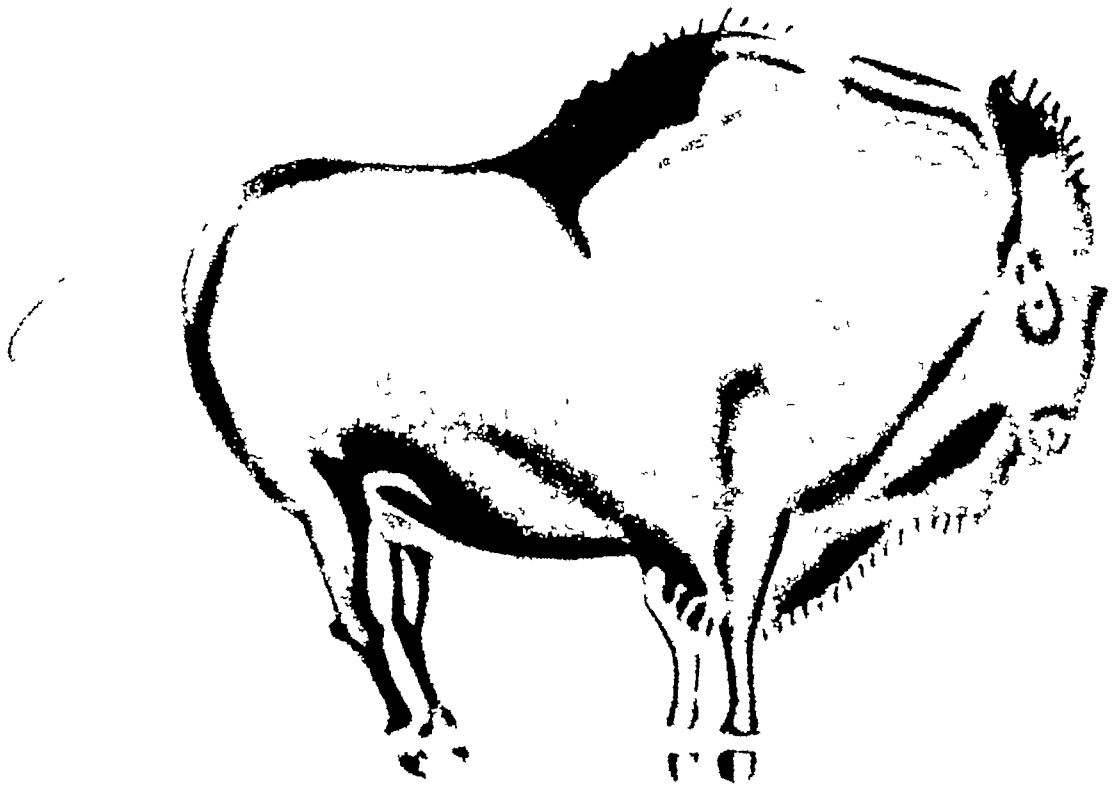
पत्थर के युग की सुंदर कला के नमूने

ये चित्र अल्तामीरा की गुफा की छत दीवाल पर अंकित हैं। इनकी सुडौल रचना को देखकर हजारों वर्ष पूर्व के उन आदिम कलाकारों की प्रतिभा का अनुमान किया जा सकता है। (चित्र—'ला केवर्न द अल्तामीरा' से)

उत्तर की ओर ऊपर हटा दी, और बारहसिंघा अपने आपको इस नये गर्म वातावरण के उपयुक्त न बना सकने के कारण उत्तर के अधिक ठंडे प्रदेशों की शरण लेने लगा। इधर आदिमानव को धूप की गर्मी लेने ही में आनन्द आने लगा। अतएव उसने बारहसिंघे के पीछे-पीछे उत्तर की ओर जाने की झंझट नहीं की, क्योंकि बारहसिंघा के चले जाने के बाद ही उसकी जगह इस प्रदेश में एक जाति का लाल हिरण आ गया, जिसने आदिमानव को भोजन तथा आच्छादन ही नहीं बल्कि मछली पकड़ने और शिकार मारने के लिए हथियार का भी सामान मिलने लगा। इस रक्तवर्ण हिरण के शिकारी मनुष्य ने न केवल बारहसिंघे के शिकारियों की कलात्मक परम्परा को ही जारी रखा, बल्कि आत्माभिव्यंजन के दो और नये साधन भी प्राप्त कर लिये। अब वह चित्रकार तथा मूर्तिकार दोनों बन गया।

उन गुफाओं की खोज, जिनमें आदिम मनुष्य अपनी इस कलात्मक विरासत को छोड़ गये हैं, कला के इतिहास की एक सबसे विचित्र घटना है। १८७९ में पुरातत्त्व-विद्या के प्रेमी एक स्पेन-निवासी रईस के मस्तिष्क में अल्टामीरा (Altemira) की गुफा का निरीक्षण करने की सनक सवार हुई। यह गुफा उत्तरी स्पेन की केन्टेब्रियन पर्वतमाला (Cantabrian Mountains) में स्थित है। स्पेन के इन श्रीमान् का नाम था मार्क्विस डि० सन्तोला (Marquis de Santuola) पुरातत्त्वविद्या के सौभाग्य से यह अपनी छोटी लड़की को भी इस खोज की यात्रा में अपने साथ लेते गये थे। जबकि पिता पुराने शिलीभूत अस्थि-पंजरों को ढूँढ निकालने में जुटे पड़े थे, लड़की ने स्वयं भी कुछ अनुसन्धान करने का निश्चय किया। हाथ में मोमबत्ती लेकर रेंगते-रेंगते वह गुफा के एक ऐसे हिस्से में जा पहुँची, जो इतना अधिक सँकरा था कि इस कारण कभी किसी ने उसकी जाँच करने की परवाह नहीं की थी। लड़की ने अन्दर पहुँचकर जो ऊपर की ओर देखा तो ठीक अपने सामने ही एक बड़े बैल को अपनी ओर घूरते पाया! घबराहट में वह इतनी डरी कि उसने पिता का नाम लेते हुए ज़ोर की चीख मारी। लड़की की आवाज़ सुनकर मार्क्विस महोदय ने दौड़कर गुफा के भीतर प्रवेश किया और इस प्रकार अनायास ही अपने युग की सबसे बड़ी खोज करने में वह सफल हुए!

प्रागैतिहासिक काल की इस प्रथम चित्रकारी का समाचार दूर-दूर तक फैल गया, किन्तु चित्रकला के क्षेत्र के धुरंधर पंडितों ने इस सम्बन्ध में यह सन्देह प्रकट किया कि [illegible] बिलकुल [illegible] के आधुनिक कलाकारों की कृति था। कुछ ने तो आगे बढ़कर बेचारे मारक्विस पर यह आरोप भी लगाया कि उन्होंने एक महान् पुरातत्त्ववेत्ता के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त करने के लिए मैड्रिड (स्पेन की राजधानी) के किसी कलाकार को किराये पर रखकर गुफा की दीवालों पर स्वयं ही मूर्तियाँ चित्रित और अंकित कराई हैं। पर अन्त में जाकर सत्य ने असत्य पर विजय पायी। जिस माध्यम द्वारा ये चित्र अंकित किये गये थे उसकी तथा चित्रों की कौशल-सम्बन्धी विशेषताओं की परीक्षा से यह निश्चित रूप से सिद्ध हो गया कि इस प्रकार का चित्राङ्कन आज के युग के किसी कलाकार द्वारा संभव न था।

ये चित्र क्या थे, चट्टानों की सतह पर खींची हुई आकृतियों की रूप-रेखायें मात्र थे। परन्तु स्वयं उस चट्टान की सतह पर एक विचित्र प्रकार का अपरिचित लाल रंग चढ़ा हुआ था, जो परीक्षा करने पर एक प्रकार का लोहे का मोर्चा (Iron Oxide) निकला। इस लाल पदार्थ के साथ गहरा नीला रंग भी मिला था। यह भी एक प्रकार का मोर्चा था, जो संभवतः 'मैङ्गनीज़ आक्साइड था'। इनके अलावा और भी अनेक प्रकार के पीले तथा रंगीन रंग के द्रव्य इस माध्यम में मिश्रित थे, जो जाँचने पर 'आयरन कार्बोनेट' (Iron Carbonate) नामक द्रव्य साबित हुए। इन रंगों में चर्बी मिला दी गई थी, ताकि चट्टान की सतह पर ये चिपट जायँ। इन रंगों के बीच-बीच उन आदिम कलाकारों ने (जो खुरचने के लिए एक तरह का पत्थर का औज़ार काम में लाते थे; कालान्तर में ऐसे औज़ार उनके कार्यस्थलों पर पाये गये हैं) जली हुई हड्डी से बनाये गये कुछ काले रंग का भी प्रयोग किया था। खोखली हड्डियों से रंग के बर्तन का काम लिया जाता था—मानो ये हड्डियाँ रंग से भरी ट्यूबें थीं—और छिछले पत्थर के टुकड़ों पर रंग मिलाया जाता था। कोई आधुनिक चित्रकार शायद ही अपने काम के लिए ऐसे साधनों का उपयोग करता।

सौभाग्य से उक्त सत्यान्वेषी मारक्विस के स्वर्गवास के कुछ समय बाद ही दक्षिण-पश्चिमीय फ्रान्स में दोर्दो (Dordogne) की घाटी में और भी इसी तरह की गुफा की दीवालों में ही कई चित्रकारी का पता लगा। तब से प्रागैतिहासिक कलाकारों की चित्रकारियों का दक्षिणी फ्रान्स और उत्तरी स्पेन के प्रदेशों में पता लगा है। कुछ तो [illegible] के प्रदेश में भी पाई गई हैं। परन्तु उत्तरी योरप या इंग्लैंड में ऐसी गुफाओं का सर्वथा अभाव है।

इन कन्दरा-चित्रशालाओं की एक सामान्य विचित्रता यह है कि उनके चित्र सूर्य के प्रकाश से इतने अधिक दूर या आड़ में रक्खे गये हैं कि उधर से होकर निकलनेवाले किसी भी दर्शक की निगाह उन पर पड़ना असंभव था। ये चित्रकारियाँ प्रायः कन्दरा के उस भाग में की गई हैं, जहाँ सबसे घना अँधियारा छाया रहता है और जहाँ तक सूर्य की किरणों की कभी भी पहुँच न हो पाई होगी। इससे हम यह अनुमान करते हैं कि इन चित्रकारों ने मशाल की रोशनी में काम किया होगा। सूर्य की किरणों के पूर्ण अभाव ने इन अत्यन्त मूल्यवान चित्रों की रक्षा करने में एक प्रकार के प्राकृतिक बचाव का काम दिया। अन्यथा बनने के कुछ ही वर्षों के अन्दर ही सूर्य की किरणों की रासायनिक प्रतिक्रिया के फलस्वरूप उनका रंग सदा के लिए उड़ जाता।

प्रागैतिहासिक कलाकार क्यों हमेशा ऐसे अंधकारपूर्ण अगम्य स्थानों ही में चित्राङ्कन करता था, तथा क्यों उसके कलात्मक प्रयत्न पशुओं तक ही सीमित थे, इस सम्बन्ध में अनेक अनुमान लगाये गये हैं। यह कहा जाता है कि धर्म ही प्रत्येक प्रकार की कला का उद्गम रहा है, अतएव ये प्रागैतिहासिक चित्र सम्भवतः मनुष्य के प्रारम्भिक धार्मिक कृत्यों का ही एक भाग रहे हों। ये चित्रित गुफाएँ संभवतः उन लोगों के पूजा के प्राचीन स्थल रही हों, जहाँ जाति के बड़े-बूढ़े मंत्र-तंत्र की साधना करके चित्रों पर जादू करने के लिए जुटते थे, ताकि शिकारी अपने भोजन की प्राप्ति के प्रयत्न में आखेट करते समय और भी अधिक निश्चित रूप से सफल हो सके।

प्रागैतिहासिक काल की चित्राङ्कन-शैली का उत्थान जिस आकस्मिक वेग से हुआ था, उसका ह्रास भी उतनी ही तेज़ी के साथ हुआ। थोड़े दिनों तक तेजी के साथ पर्याप्त रूप से बढ़ने और अपनी मनोहर छटा दिखलाने के बाद वह धरातल से एकदम लुप्त हो गया। अब न यथार्थ पर्यवेक्षण की वह अद्भुत देन रही, न भाव-व्यंजक चित्राङ्कन की वह जादू-भरी अलौकिक-सी रहस्यपूर्ण शक्ति ही! और सुघड़ गढ़न की वह भावना भी जाती रही।

इन विशेषताओं का लोप होने पर कला को फिर से अपना रूप और स्थान प्राप्त करने में हज़ारों वर्ष लग गए। इन हज़ारों वर्षों की अवधि में ऐसी बहुत-सी महत्वपूर्ण घटनाएँ घटीं, जिनका कला के विकास के लि[ए] अत्यन्त महत्व था। क्योंकि इन्हीं दिनों में मानव-समा[ज] ने क्रमशः भिन्न-भिन्न धातुओं का उपयोग करना औ[र] सूखी मिट्टी के बर्तनों को आग में तपाकर टिकाऊ बर्त[न] बनाना सीखा।

इस अवस्था तक पहुँचते-पहुँचते पत्थर के युग [का] अवसान हो गया था और पृथ्वी पर तथाकथित 'ताम्रयु[ग]' या 'काँसे के युग' (Bronze Age) के उदयकाल [की] किरणें फूटने लगी थीं।

पत्थर-युग की मूर्ति-निर्माण-कला का ए[क] अद्भुत नमूना

यह तक द-आदोब[र] नामक स्थान की गुफा [में] पाई गई दो बिसन य[ा] साँड़ों की मिट्टी की बनाई हुई मूर्तियों का चित्र है। इन मूर्तियों की सुडौल रूपरेखा देखकर आज भी लोग हज़ारों वर्ष पूर्व के अपने पूर्वजों की अद्भुत कला-प्रवीणता के सम्बन्ध में आश्चर्य से दाँतों तले उँगली दबाने लगते हैं।

छठवाँ मत कहता है कि जब मनुष्य खूब परिश्रम करता है, तो उसकी साँस वेग से चलने लगती है, जिससे स्वर-तन्त्रियों में कम्पन होने लगता है। यही कम्पन आदिम मनुष्य के प्रथम शब्दों का कारण है। हेइया', 'आहो' आदि ध्वनियाँ परिश्रमपूर्वक किये गये कार्य के ही परिणामस्वरूप हैं। इस मत को 'यो-हे-हो-वाद' (Yo-He Ho Theory) के नाम से पुकारते हैं।

मनोयोगपूर्वक देखने से उपर्युक्त मतों में तथ्यांश अवश्य है, पर यह कहना कि ये पृथक्-पृथक् स्वतःसिद्ध हैं भूल है। विद्वानों के मतानुसार तो इन सबका समन्वय ही सन्तोषजनक हो सकता है।

इन मतों को ध्यान में रखते हुए हम उस आदि काल के शब्द-भंडार की कल्पना कर सकते हैं। अनेक शब्द बने, पर उनमें से केवल वही जीवित रहे, जो सर्वाधिक उपादेय समझे गये—जो आसानी से बोले जा सकें और कानों को पूर्णतया स्पष्ट सुन पड़े। इन शब्दों के विकास में उपचार का बहुत बड़ा भाग है। 'उपचार' का अर्थ है ज्ञात के द्वारा अज्ञात को समझाना। जहाँ पहले अँग्रेज़ी के 'पाइप' शब्द का अर्थ 'गड़रिये के बाजे' का होता था, उसी का आधुनिक अर्थ नल' भी है। ऋग्वेद-काल में यदि 'रम' धातु का अर्थ 'स्थिर होना' था, तो आज उसका अर्थ 'आनंद देना' है।

उस सुदूर काल में शब्द और अर्थ का सम्बन्ध अवश्य ही उतना स्पष्ट नहीं रहा होगा, जितना कि वह आज है। लोग समझने में अनेक भूलें करते होंगे। जो इच्छा हुई, वही अर्थ लगा लेते होंगे। शब्दों का ठीक-ठीक बोध तो कदाचित् सहस्रों वर्ष बीतने पर ही होना सम्भव हुआ होगा। आज भी अधिकांश मनुष्यों के लिऐ शब्द और अर्थ का सम्बन्ध अस्पष्ट ही रहता है।

आदिमानव ने अपने विचारों को प्रकट करने के लिए सर्वप्रथम सांकेतिक भाषा का ही प्रयोग किया होगा, यह मानने में कोई विशेष आपत्ति नहीं। आज भी दो विभिन्न भाषाभाषी एक-दूसरे को समझने के प्रयत्न में संकेतों का ही प्रयोग करते हैं। संकेत के साथ-साथ ध्वनि का भी प्रयोग करते हैं। अमेरिका के आदिमनिवासी रैडइंडियन तथा अफ्रीका और प्रशांत महासागर के विविध द्वीपों के निवासियों में आज दिन भी सांकेतिक भाषा द्वारा ही विचारों का आदान-प्रदान होते देखा गया है।

आदिमानव ने प्रारम्भिक अवस्था में परिस्थितियों से बाध्य होकर आवश्यकता-निवारण के लिए जो प्रथम संकेत किया होगा, उसके द्वारा अवश्य ही उसने पूर्ण विचार का आभास दिया होगा। वह संकेत एक पूर्ण वाक्य का द्योतक होगा। यदि ध्वनि-संकेत किया होगा, तो उसमें भी पूर्ण वाक्य निहित रहा होगा। मानव का संकेत-प्रयोग अथवा शब्दप्रयोग पूर्ण वाक्य का ही काम देता है। क्योंकि केवल संकेत अथवा शब्द, जब तक ध्यान आकर्षित न करे, व्यर्थ ही है, और ध्यान आकर्षित करना ही भाषा है।

जैसे-जैसे शब्द-भंडार बढ़ता गया, सामाजिक परिवर्त्तन होने लगे। शब्दों के आदिम प्रयोगों तथा अर्थों में भी यथेष्ट परिवर्त्तन होने लगे और मानव ने सांकेतिक (Conventional) अर्थों को अपनाना प्रारम्भ कर दिया। अंग्रेज़ी शब्द 'ब्रोकर' (Broker) का आदिम अर्थ है 'वह आदमी जो मद्य के पीपों में सूराख़ करता है'। आज इसी शब्द का अर्थ है 'दलाल'। 'सैलेरी' (Salary) का मूल अर्थ है 'नमक का पैसा'। आज उसका अर्थ है 'वेतन'। ग्रीक शब्द 'पोलिस' (Polis) का अर्थ है 'नगर'। वही शब्द अंग्रेज़ी में हुआ 'पोलिस' (Police)। इसी से अनेक शब्द बने यथा 'पौलिटिक्स' (Politics) (राजनीतिशास्त्र), 'पालिसी (Policy) (नीति), (Politician) 'पौलीटीशियन' (राजनीति विशारद)। एक शब्द है 'इंडिगो' (Indigo)। इस शब्द का मूल अर्थ है 'भारतीय'। पहले नील का उत्पादन भारतवर्ष में होता था। ग्रीक लोगों ने इसका नाम रक्खा 'इंडिकौन' (Indikon); लटिन भाषाभाषियों ने 'इंडिकम' (Indicum) और इटली-स्पेन निवासियों ने इसको नाम दिया 'इन्डिगो'। अंग्रेज़ों ने इसको इसी रूप में अपनाया। अंग्रेज़ी शब्द 'फौरेन' का (Foreign) जिसका आज 'विदेशी' के अर्थ में प्रयोग होता है, आदिम अर्थ है घर के बाहर'। 'बार्गेन' (Bargain), जो आज सौदा' के अर्थ में प्रयुक्त होता है अंग्रेज़ी में लेटिन शब्द 'बार्का' (Barca) द्वारा आया, जिसका अर्थ होता है 'नाव का'।

ऐसा क्यों होता है, इसका एक कारण है। किसी भी शब्द का आदिम अर्थ कुछ भी रहा हो, पर सामाजिक परिस्थिति और आवश्यकता के आगे 'शब्द' को सिर झुकाना ही पड़ता है। सदैव ही भाषा की उन्नति सामाजिक उन्नति की आश्रित रही है। क्योंकि भाषा कोरे शब्दों का समूह ही नहीं है, वह मानव समाज के पारस्परिक व्यवहार का साधन है। जैसे-जैसे समाज विकसित होता गया है, भाषा भी अधिक व्यवहारक्षम तथा शक्तिवती होती गई है। इसी से कहा जाता है कि भाषा का विकास होता है।

भाषा के पूर्व रूप का अध्ययन विद्वानों ने कई प्रकार से किया है। अंग्रेज़ी भाषा के प्रकाण्ड वैयाकरण

जेस्पर्सन ने असभ्य जातियों की भाषा, बच्चों की भाषा और विविध भाषाओं के इतिहास—इन तीन विभिन्न क्षेत्रों का विशेष अध्ययन कर आदिम मानव भाषा को खोज निकालने का प्रयत्न किया है। इन तीनों क्षेत्रों में सबसे अधिक सफलता विविध भाषाओं के इतिहास के अध्ययन द्वारा ही मिली है। उदाहरणार्थ आधुनिक हिन्दी की पूर्वी और पश्चिमी हिन्दी से तुलना की जाय; फिर पश्चिमी हिन्दी की बाँगड़ू भाषा से, पंजाबी से और डिंगल से तुलना की जाय; फिर इनकी नागर अपभ्रंश से, नागर अपभ्रंश की शौरसेनी से, शौरसेनी की दूसरी प्राकृत अथवा पाली से, फिर दूसरी प्राकृत की पहली प्राकृत से, फिर पहली प्राकृत की संस्कृत से, फिर संस्कृत की वैदिक संस्कृत से, फिर वैदिक संस्कृत की अवेस्ता अथवा गोथिक भाषा से तुलना करके तत्पश्चात् इण्डो-योरोपियन परिवार की लैटिन, ग्रीक, हिट्टाइट, तोखारी आदि भाषाओं के साथ तुलना करने से बहुत सन्तोषजनक परिणाम निकाला गया है। निम्नलिखित तालिका से हम भली प्रकार यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि ये सब भाषाएँ किसी आदिम भाषा की ही सन्तान हैं :—

(संस्कृत)	(लैटिन)	(फ़ारसी)	(हिन्दी)	(अंग्रेज़ी)
पितृ	पेटर	पिदर	पिता	फ़ादर
मातृ	मेटर	मादर	माता	मदर

कौन-सी भाषा कौन बोलेगा, यह परिस्थिति या शिक्षा पर निर्भर है, जन्म पर नहीं। भाषा मानव की अर्जित संपत्ति है। मानव प्रत्येक भाषा का सीख सकता है। अंग्रेज़ी भाषा को आज संसार भर के देशों और जातियों के स्त्री-पुरुष पढ़ते, लिखते और बोलते हैं। यह इस बात का प्रबल प्रमाण है कि मानव मात्र एक है और आरंभ में उन सबका बोलनेवाला एक ही मूल परिवार रहा होगा। इस प्रकार आज तक [illegible] [illegible] परिवार [illegible] [illegible] परिवारों का पता लगा है। पर इन सबके एक मूल का पता नहीं लग सका है। इन परिवारों में से इण्डो-योरोपियन अथवा इण्डो-जर्मेनिक, [illegible], सेमेटिक, यूराल-अल्टाई, चीनी, द्रविड़, मलय-पोलिनेशियन, [illegible], [illegible] और [illegible] मुख्य हैं।

[illegible] दृष्टि से विश्व भर की भाषाएँ चार [illegible] में विभाजित की जा सकती हैं—(१) यूरेशिया, (२) [illegible], (३) [illegible] ([illegible] और [illegible]) [illegible] और (४) [illegible] [illegible]।

यूरेशिया [illegible] की भाषा, संस्कृति और सभ्यता के दृष्टि-कोण से सबसे अधिक महत्व की है। इसी में सर्वश्रेष्ठ साहित्य-सृजन हुआ है। इसके मुख्य परिवार हैं—(१) इण्डो-योरोपियन, (२) काकेशन, (३) चीनी अथवा एकाक्षर, (४) यूराल-अल्टाई, (५) सैमेटिक, (६) द्रविड़, और (७) (अ) बास्क और (आ) सुमेरियन।

इण्डो-योरोपियन परिवार में दस उप-परिवार हैं—(१) केल्टिक, (२) ट्यूटानिक, (३) लैटिन, (४) हैलेनिक, (५) हित्ती (हिट्टाइट), (६) तोखारी, (७) अल्बेनियन, (८) आर्मेनियन, (९) लेटो-स्लाविक, और (१०) आर्य (इण्डो-ईरानी)। भारत की संस्कृत, पाली, फ़ारसी, हिन्दी, उर्दू, बँगला, गुजराती, मराठी आदि से लेकर योरप की ग्रीक, लैटिन, जर्मनी, फ्रेंच, अंग्रेज़ी, इटैलियन, रूसी, स्पैनिश, स्वीडिश, आदि भाषाएँ इसी महत्त्वपूर्ण परिवार में हैं।

काकेशन परिवार में छः भाषाएँ हैं—(१) किरकाशिअन, (२) किस्तिअन, (३) लेस्घिअन, (४) मिग्रेलिअन, (५) जार्जिअन और (६) सुआनिअन। इन भाषाओं में प्रत्ययों का बाहुल्य होता है।

चीनी अथवा एकाक्षर-परिवार में चार भेद मुख्य हैं—(१) चीनी, (२) स्यामी, (३) अनामी और (४) तिब्बती बर्मी। एकाक्षर परिवार के बोलनेवालों की संख्या इण्डो-योरोपियन परिवार की तुलना में दूसरी ठहरती है। इस परिवार का धार्मिक एकता बनाए रखने में बहुत बड़ा भाग है। इसमें चीनी भाषा ही मुख्य है और अन्य भाषाओं पर इसी का सर्वाधिक प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। चीनी भाषा में प्रत्येक शब्द के लिए एक चिन्ह होता है। स्वर भेद और स्थान-भेद से सूक्ष्मातिसूक्ष्म भाव प्रकट करने की इसमें क्षमता है।

यूराल-अल्टाई परिवार में पाँच उपपरिवार हैं—(१) मंगोलियन, (२) टर्को-टाटर, (३) तुंगुज़, (४) फिनो-उग्रिक और (५) समोयेद।

मंगोलियन भाषा मंचूरिया और मंगोलिया में बोली जाती है, तुंगुज़ [illegible] [illegible] के [illegible] भागों में और मंचूरिया के कुछ भागों में बोली जाती है। [illegible] [illegible] के [illegible] [illegible] भागों में बोली जाती है। फिनो-उग्रिक [illegible] में [illegible] [illegible] हैं। ये [illegible], [illegible], [illegible] और [illegible] में बोली जाती हैं। इस परिवार की भाषाओं में प्रत्ययों का बाहुल्य है और [illegible] में [illegible] [illegible] है।

[illegible] में ये भाषाएँ हैं—(१) [illegible], (२) [illegible], (३) [illegible] [illegible] (४) [illegible],

मोवाइट, (६) प्यूनिक, (७) अरबी, (८) हिम्यार्टिक और (९) अबीसीनीयन। इण्डो-योरोपियन परिवार को छोड़कर सबसे अधिक महत्वपूर्ण परिवार यही है। इस परिवार ने संसार को लिपि-कला सिखलाई। केवल चीन और भारत की लिपियाँ ही शुद्ध स्वदेशी हैं। इस भाषा में सर्वनाम क्रिया के अन्त में प्रयुक्त होते हैं, जैसे कतबइ (मेरी किताब)। धातुएँ तीन व्यजनों से बनती हैं, जैसे क्तब् (लिखना)। स्वर एक भी नहीं होता। रूप चलते हैं—नाक्तूब् (हम लिखते हैं)? कतवत् (उसने लिखा) आदि।

द्रविड़-परिवार में बारह भाषाएँ हैं—(१) तामिल, (२) मलयालम, (३) कनारी, (४) तुलु, (५) टोडा, (६) कोडगू (७) कूई, (८) कुरुख, (९) गोंडी, (१०) कोलामी, (११) तैलगू, और (१२) ब्राहुई।

इस परिवार की भाषाओं की एक विशेषता है कि उत्तम पुरुष सर्वनाम के दो रूप होते हैं, जिनमें से एक में श्रोता भी शामिल रहता है। बास्क भाषा स्पेन और फ्रांस की सीमा की बोली है। इसमें लिंग-भेद क्रियाओं में होता है और क्रिया वाक्य के अन्त में प्रयुक्त होती है। सुमेरिअन भाषा प्रत्यय-प्रधान है और यह बेबीलान में बोली जाती थी। इनकी श्रेष्ठ संस्कृति और सभ्यता का पता अब भी उनके सुरक्षित साहित्य के अवलोकन से लगता है।

अफ्रीका-विभाग में चार मुख्य भाषा-परिवार हैं—(१) बाँतू, (२) हैमेटिक, (३) सैमेटिक, और (४) सूडान। इनमें सर्वाधिक महत्व के केवल हैमेटिक और सैमेटिक परिवार हैं। हैमेटिक परिवार की 'काप्टिक' भाषा में लिखा धार्मिक साहित्य अब भी महत्वपूर्ण है। सैमेटिक परिवार की प्रसिद्ध भाषा अरबी है, जो मिस्र, एल्जीअर्स, मोरोक्को, आदि देशों में राजकाज की भाषा है।

अमरीका विभाग की भाषाओं में एस्किमो, सोदेरू, अज़तेक, मय, कारिब, अरवाक, गुआर्नी, तूपी, अरौकन, चाको मुख्य हैं। इन भाषाओं का कोई विशेष अध्ययन नहीं हुआ है। अज़तेक और मय सभ्यतायें बहुत प्राचीन हैं।

प्रशात महासागर विभाग के परिवार में पाँच उप-परिवार माने जाते हैं।—(१) मलयन, (२) मैलानेशिअन, (३) पौलीनेशिअन, (४) पापुअन, और (५) आस्ट्रेलिअन। मलयन भाषायें मलय प्रायद्वीप, सुमात्रा, जावा, बोर्निओ, फिलिपाइन्स आदि द्वीपों में बोली जाती हैं। मैलानेशिअन न्यूगिनी और फीज़ी द्वीपों में, पौलोनेशिअन न्यूज़ीलैण्ड में, और आस्ट्रेलिअन आस्ट्रेलिया महाद्वीप में बोली जाती है। ...भाषा में कोई साहित्य-सृष्टि नहीं हुई है और विद्वानों ने इनका कोई विशेष अध्ययन भी नहीं किया है। इतना बतलाकर हम कुछ भाषाओं की आकृतियों का संक्षेप में विवेचन कर इस प्रकरण को समाप्त करते हैं। यह तो पहले ही बतलाया जा चुका है कि आदिम मानव ने सर्वप्रथम वाक्य का ही प्रयोग किया था, अतएव वाक्य ही भाषा का मूल है। संसार की भाषाओं में वाक्य का कैसा रूप है, उसकी कैसी रचना है, इसका भाषाविज्ञों ने अनुसन्धान किया है और अपने अनुसन्धान के बल पर वाक्यों के चार भेद बतलाये हैं—(१) समास-प्रधान (Incorporating), (२) व्यास-प्रधान (Isolating), (३) प्रत्यय-प्रधान (Agglutinating), और (४) विभक्ति-प्रधान (Inflecdtlng)। समास-प्रधान वाक्य वह है, जिसमें उद्देश्य, विधेय, विशेषणादि सम्मिलित होकर समास के रूप में पूर्ण वाक्य बनाते हैं। ऐसे वाक्य पूर्ण शब्द के तुल्य प्रयुक्त होते हैं। जैसे मैक्सीकन भाषा में 'मैं उसे खाता हूँ' के लिए कहेंगे 'निक्क', जो एक पूर्ण वाक्य है।

व्यास-प्रधान वाक्य में शब्द स्वतंत्र रहते हैं। उद्देश्य, विधेय, विशेषणादि का पारस्परिक सम्बन्ध, स्वर (Tone) स्थान, निपात (Particle) आदि पर निर्भर होता है। चीनी, बर्मी भाषाएँ व्यास-प्रधान ही होती हैं। चीनी भाषा के केवल ५०० साहित्यिक शब्दों से लगभग १५०० शब्दों का निर्माण हो जाता है। उदाहरणार्थ 'न्गो ता नी' का अर्थ होता है, 'मैं तुम्हें मारता हूँ'। यदि इसको 'नी ता न्गो' कर दें, तो अर्थ होगा 'तुम मुझे मारते हो'। उच्चारण करने में 'केइ क्वोक' में यदि 'इ' पर उदात्त (Acute) स्वर रहे, तो अर्थ होगा 'दुष्ट देश'। और यदि 'इ' पर अनुदात्त (Grave) स्वर रहे, तो अर्थ होगा 'श्रेष्ठ देश'।

प्रत्यय-प्रधान वाक्य में कारक, लिंग, वचनादि के भेद प्रत्ययों द्वारा बतलाये जाते हैं। तुर्की भाषा में 'एव' का अर्थ 'घर' है। बहुवचन के लिए 'लेर' जोड़ देने से अर्थ हो जायगा 'बहुत-से घर'। इसी में 'मेरा' अर्थवाला प्रत्यय जोड़ देने से हो जाता है 'एवलेरिम' (मेरे बहुत से घर)।

विभक्ति-प्रधान वाक्य में शब्दों का सम्बन्ध विभक्तियों द्वारा सूचित किया जाता है। संस्कृत भाषा विभक्ति-प्रधान है। इसमें कारक, लिंगादि के भेद को प्रदर्शित करनेवाले प्रत्यय प्रकृति-शब्द से अलग नहीं किये जा सकते।

आदि काल में अधिकांश शब्द विस्मयादिबोधक और मूर्त पदार्थों के रहे होंगे। जैसे-जैसे सभ्यता विकसित होती गई, शब्दों में भी वृद्धि हुई और अमूर्त पदार्थों के लिए भी शब्द गढ़े गये।

सभ्यता से परे की दुनिया

दानाकील प्रदेश और उसके निवासी

पृथ्वी पर निवास करनेवाली विविध मनुष्य-जातियों के जीवन-क्रम का अध्ययन करने की ओर क़दम बढ़ाते समय यह उचित ही है कि हम उन्हीं जातियों से शुरू करें जो विकास की बिल्कुल निम्न श्रेणी या तल्ले पर हैं। अबीसीनिया के उपप्रदेश दानाकील के निवासी ऐसी ही एक जाति के लोग हैं।

इस बीसवीं शताब्दी में भी दुनिया में ऐसे भूभाग वर्तमान हैं, जहाँ सभ्यता का नामोनिशान भी नहीं पाया जाता। इन हिस्सों से तुलना करने पर रेगिस्तान भी 'विकसित' की श्रेणी में गिने जा सकेंगे। रेगिस्तान में भी कारवान के रास्ते मिलते हैं—और नहीं तो ऊँटों के पाँव की छाप तो बालू पर बनी रहती ही है, पर जिन हिस्सों की चर्चा हम करने जा रहे हैं, वहाँ इस निशान का भी पता नहीं चलता। वहाँ मनुष्य की कोशिश अथवा उससे सम्बन्ध रखता हुआ कोई भी चिह्न कहीं नहीं दिखाई देता।

दानाकील प्रदेश दुनिया का एक विचित्र हिस्सा है। इस प्रदेश से हमारा मतलब इटालियन उपनिवेश एरिट्रिया (या इरीट्रिया) के दानाकील से नहीं, जो लगभग ८० मील चौड़ा है और लाल सागर के किनारे-किनारे मसावा से लेकर असब तक गया है। वास्तविक दानाकील प्रदेश इससे भिन्न है। इस प्रदेश की बाहरी दुनिया को अब तक बहुत कम [illegible] प्रदेश में प्रवेश किया है और जीवित वापस आ गए हैं।

इसकी सीमा तक ही बहुत कम आदमी पहुँच पाते हैं। सीमा के आसपास कुछ निश्चित स्थान हैं, जहाँ तक सिर्फ़ अबीसीनियन लोगों की पहुँच है। यहाँ पर थोड़ी-बहुत नमक की तिजारत चलती है। इस सिलसिले में यदि कोई काम दानाकील की सीमा के भीतर पड़ता है, अथवा वहाँ से होकर जाने की ज़रूरत पड़ती है तो भी अबीसीनियन या किसी बाहरी व्यक्ति को इसकी सुविधाएँ नहीं मिलतीं। दनकाली (दानाकील प्रदेश के निवासी) स्वयं नमक के बोरे ढोकर अपनी सीमा के एक हिस्से से दूसरे तक पहुँचा दिया करते हैं।

इस दानाकील प्रदेश का दक्खिनी तथा बीच का हिस्सा ज्वालामुखी पहाड़ तथा पहाड़ियों से भरा है। इन पर्वतों का दृश्य बड़ा ही भयानक रहता है। [illegible] बालुकामय प्रदेश में ये [illegible]
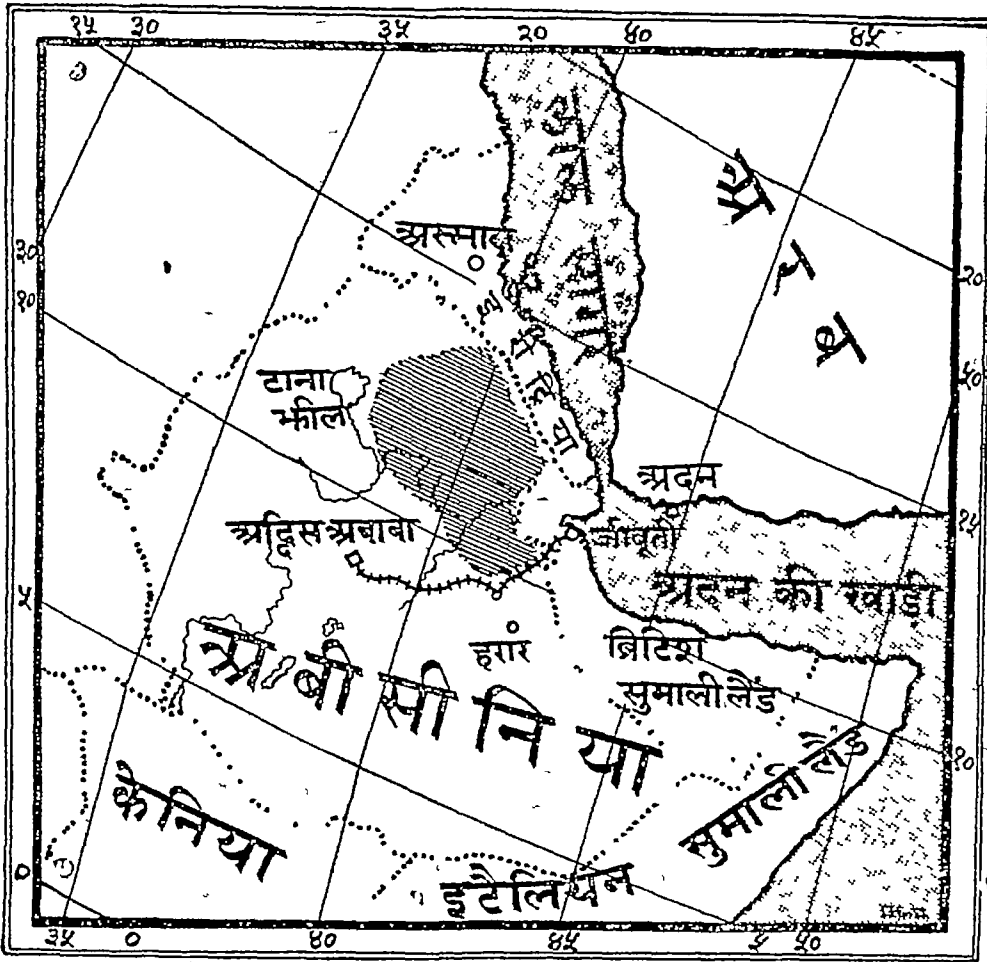
दानाकील प्रदेश

यह अखाड़ा बन गया है। विजय अवश्य ही ध्वंस-शक्ति की हुई होगी इसमें संदेह नहीं।

चलते समय पाँवों तले स्लेट-जैसे दीखनेवाले पत्थर मिलते हैं, जिन पर पॉव रखते ही 'खन... खन......' की आवाज़ होती है। इन पर चलते समय टट्टू और ऊँट तक तलमलाने लगते हैं। कितनों की तो इस रास्ते के पार करने ही में मौत हो जाती है!

इस दानाकील प्रदेश में हम ज्यों ज्यों उत्तर की ओर बढ़ते जायँ, त्यों-त्यों रास्ता अधिकाधिक भयंकर होता जाता है। दक्षिण की अपेक्षा उत्तर और भी भयानक दीखता है। सबसे बड़ी मुसीबत यह होती है कि इस रेगिस्तानी इलाक़े में पानी की बड़ी क़िल्लत रहती है। कई स्थान यहाँ ऐसे हैं, जहाँ ऊँट पर सात-सात दिन का रास्ता पार करने पर पानी मिलता है।

धूप और गरमी का तो कुछ कहना ही नहीं। इसकी तुलना में तो जेठ-बैसाख में लखनऊ की लू के दिन सर्दी की मौसिम में गिने जायँगे! तापमान का पारा दिन में साये में नापने पर १३० और १६० डिग्री (फारेनहाइट) के बीच निकलता है!!

इसी धूप के कारण यहाँ कुछ भी उपजता नहीं है। एक भी हरे पत्ते का कहीं नामोनिशान नहीं दिखाई देता है। पौधों की शक्ल के बबूल-जैसे काँटेवाले सूखे ठूँठे दरख्त यदि कहीं-कहीं मिलते भी हैं तो काटने से उनके मर्मस्थल तक सूखा हुआ ही मिलता है। शायद गुस्से में आकर प्रकृति ने इस प्रदेश की सृष्टि की थी!

खेती करने का एक तो प्रश्न ही बहुत सीमित रूप में इस प्रदेश के लिए उठता है, दूसरी बात यह है कि वहाँ के

पड़ता है, मानो पॉवों के नीचे की धरती काँप रही हो। अँधेरे की तो बात ही दूर रही—दिन-दोपहर को ही इस प्रदेश में भय लगता है!

जहाँ तक दृष्टि जाती है हरियाली का कहीं भी नामोनिशान नहीं। जीव जन्तु का पता नहीं। आकाश में एक पक्षी तक नहीं। शायद वे कभी भूलते-भटकते इधर उड़कर आते भी होंगे, तो नुकीले पत्थरों पर से पाँव फिसल जाने के भय से यहाँ विश्राम न ले आगे उड़ते चले जाते होंगे।

थोड़ा आगे बढ़ने पर दृश्य और भी भयानक बन जाता है। जहाँ तक दृष्टि जाती है, वहाँ तक राख के रंग की भूमि कहीं घुटने, कहीं कमर, कहीं मनुष्य के और कहीं-कहीं हाथियों के पोरसा भर कुरेदी हुई दीखती है। आदमियों में वैसी ताक़त नहीं कि वे ज्वालामुखी के पत्थरों को इस भाँति कुरेद सकते। शायद स्वयं प्रकृति की ही ध्वंस-... के साथ कभी कुश्ती हुई थी और उसी के चिह्नस्वरूप

लोग भी इस कला से बिलकुल अनभिज्ञ हैं। इसे देखकर सबसे पहली बात कल्पना में यही आती है कि यहाँ भूत भी आकर शायद भूखा-प्यासा ही मर जायगा।

फिर भी यहाँ पर कुछ लोग रहते हैं। इस प्रदेश के हाल को देखकर ही यह अनुमान लगा सकना कठिन नहीं होगा कि जो प्राकृतिक ध्वंसशक्ति के इतने कोप का सामना करते हुए यहाँ टिकने की हिम्मत करते हैं वे कितने भयानक लोग होते होंगे। ऐसे लोग सिवा दनकालियों के और दूसरे कोई हो भी नहीं सकते।

ये दनकाली भी विचित्र जीव होते हैं। पहली बार इन पर निगाह पड़ने पर तुरंत ही इन्हें आदमी की गिनती में शुमार कर लेना कठिन होता है। इनके अंग सूखकर चोंटे हुए रहते हैं। बिना किसी प्रकार की भूल की आशंका किये इनकी देह के प्रत्येक अंग की हड्डियाँ गिन ली जा सकती हैं। कम उम्रवालों के चमड़ों में सिकुड़न आ जाती है और किसी किसी के तो झूलने तक लग जाते हैं।

इनके अंग पर प्रायः वस्त्र का एक चिथड़ा भी नहीं रहता। हड्डी, दाँत, सितुहे और कौड़ियों में छेदकर सूखी लताओं से इन्हें गूँथकर अपने कमर में पहने रहते हैं। इसी से जितनी दूर तक लज्जा निवारण होने का अनुमान किया जा सकता है, उतना हुआ करता है। इसी प्रकार की मालाएँ इनके गले में भी झूला करती हैं। इनकी तुलना साक्षात् भूतों से की जा सकती है, इसीलिए इन्हें देखकर भयभीत होना स्वाभाविक ही है।

प्रकृति के कठोरतम आघात सहते सहते इनके चेहरे अत्यंत निष्ठुर बन जाते हैं। 'दया' अथवा 'कोमल हृदय' नाम की कोई चीज इनके भीतर पाया जाना आश्चर्य की बात होगी। ये भूख और दरिद्रता के मारे वास्तव में ही खूँखार बन जाते हैं।

दनकालियों के स्थायी घर-द्वार कहीं भी नहीं होते। स्थायी तरीके से टिकने के लिए ये कहीं कहीं पत्थर मिट्टी जोड़कर कमर भर ऊँची [illegible] दिखनेवाली दीवारें उठा लेते
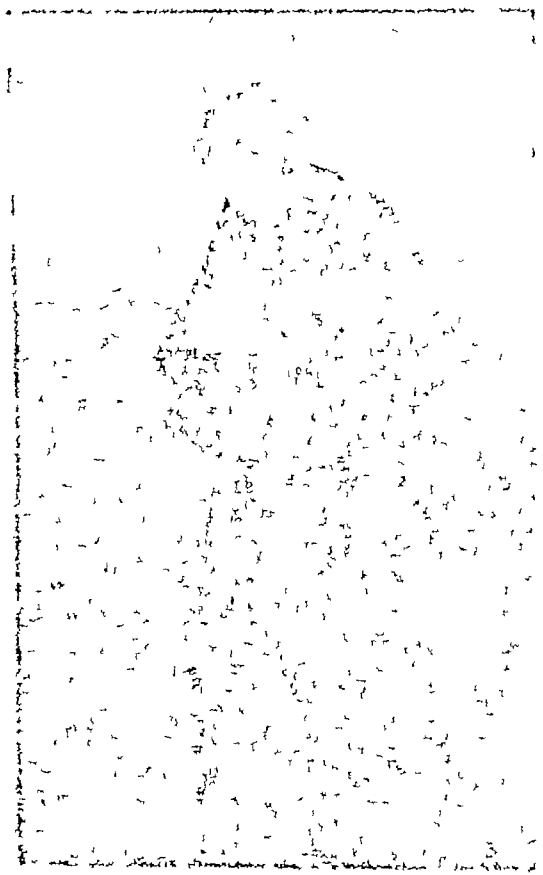
दनकाली स्त्रियाँ

[illegible]
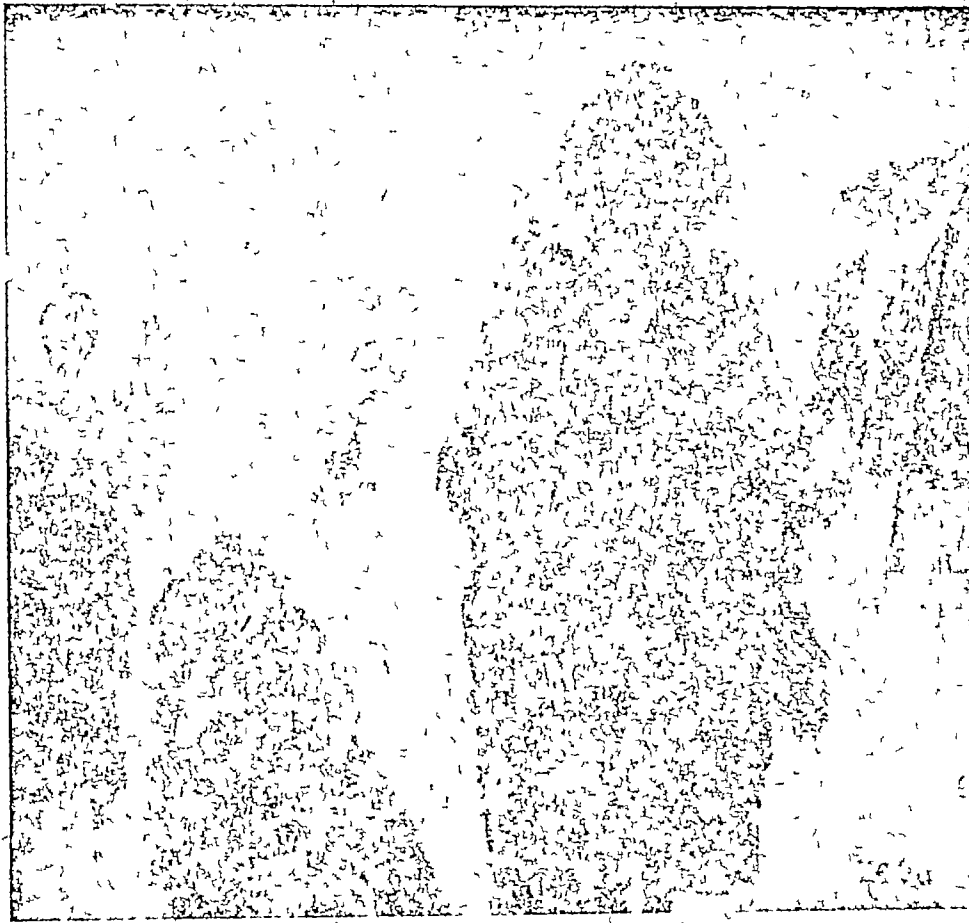
जानवरों की खाल पहने कापालिक-जसा एक दनकाली पुरुष

अधिकतर ये अर्द्धनग्न ही रहते हैं। [फ़ोटो—लेखक द्वारा]

लिए सम्पत्ति हैं। इन्हीं चुगने के दाने और अपने जानवरों के लिए घास की तलाश में ये दनकाली सदा घूमते रहते हैं और मौक़ा मिलने पर उपजाऊ इलाक़ों पर धावा बोल दिया करते हैं।

दनकाली आपस में भी कई जातियों में बँटे रहते हैं। इन जातियों की भी आपस में एक-दूसरे से हमेशा लड़ाई चलती है। इन्हीं लड़ाइयों में इनकी सारी शक्ति ख़र्च होती है और उसी के कारण ये कमज़ोर भी बने रहते हैं।

जो इनके इलाक़े का न हो ऐसे प्रत्येक आदमी को वे अपना शत्रु समझते हैं। बाहरी लोगों की तो बात ही दूर हैं, नहीं तो साधारणतया हमेशा अपने रेगिस्तानी इलाक़े में ही इधर-उधर मारे मारे फिरते हैं। ये अपना निर्वाह आस-पास के इलाक़ों में लूटमार मचाकर कर या अपने प्रदेश से गुज़रनेवाले लोगों को लूटपाटकर चलाया करते हैं। जो इनमें धनी होते हैं, उनके पास किसी कारवान या 'गाला' (अबीसीनिया की एक और जाति) से लूटकर लाया गया एक आध ऊँट या टट्टू रहता है। पर ये जानवर भी दनकालियों की ही तरह के और उनकी ही हालत में रहते हैं। इनके जीवन की मियाद भी लम्बी नहीं हुआ करती।

जो दाने भारतवर्ष में जानवरों को दिये जाते हैं, उनकी एक मुट्ठी भी किसी दनकाली को रोज़ाना मिल जाती है, तो वह अपने को बड़ा भाग्यशाली मानता है। उन दानों से रोटी पका लेने का भी ज्ञान इन्हें नहीं होता। ये दानों को बायें हाथ में ले दायें हाथ से एक एक दाना उठा पक्षियों की तरह चुगते हैं। जो दाने हम अपने यहाँ मुर्ग़ियों को देते हैं और जिन्हें यहाँ का कोई भी आदमी अपने खाने योग्य नहीं मानता वे ही दाने दनकालियों के देश के रही, वे आपस की भिन्न जातियों को भी अपने इलाक़े में नहीं घुसने देते। एक-एक जाति का दायरा साधारणतया पानी पाये जानेवाले तीन चार इलाक़ों के घेरे में रहता है। इनकी आपस की लड़ाइयाँ पानी पाये जानेवाले स्थानों पर क़ब्ज़ा करने के लिए हुआ करती हैं। इन लड़ाइयों में एक गाँव का दूसरे गाँव के साथ, अथवा यदि पानी की और भी क़िल्लत हुई तो कई गाँवों का दूसरे गाँवों के गुट्ट के साथ, युद्ध हुआ करता है, जिसमें बहुतेरे आदमी मारे जाते हैं।

भूख और दरिद्रता से विवश हो जो कुछ भी इनकी आँखों के सामने आता है, उसे ये लूट लेने के लिए विवश होते हैं। जिन चीज़ों के लिए हमारे देश में कुत्ते भी नहीं झगड़ेंगे, उनके लिए ही दनकालियों के देश में आदमियों की जान चली जाती है। उपभोग की सामान्य से भी सामान्य वस्तुओं के लिए दनकाली लालायित रहते हैं। कितनी बार तो ये किसी अरब से उसकी बिना चीनी की काफी का एक प्याला छीन लेने के लिए ही उसको जान से

मार डालते हैं। पर ज्यादातर ये पानी, दाने और घास की ही फ़िराक़ में रहते हैं। इसी पर और इसी के लिए ये जीते हैं, इसीलिए इन चीज़ों के लिए ही इनकी अधिकतर लड़ाइयाँ होती हैं।

आदमी को नुकीले पत्थर या बर्छे से मार डालना इस प्रदेश में कोई अपराध नहीं। उल्टे बनवासियों के बीच यह बहुत बड़ी इज़्ज़त की बात समझी जाती है। ये गले में जो ताबीज़ पहनते हैं, उसमें अक्सर उनके द्वारा मारे गये आदमियों के अंग से काट ली गई निशानी होती है। प्रत्येक हत्या की एक एक निशानी रहती है। बनवासियों के लिए यह निशानी बहुत कुछ 'इज़्ज़त का तमग़ा' सा है।

बुश बनवासी हमेशा इस प्रकार के तमग़ों की फ़िराक़ में रहते हैं। यदि इन्हें कोई अजनबी भटकता हुआ मिल जाता है, तो ये उसे पानी का स्थान दिखाने के बहाने भटका देते हैं। वास्तव में ये उसे रेगिस्तान में हैरान करते हैं और पानी के स्थान से दूर लेते चले जाते हैं। आदमी जब थककर बेहोश होने लगता है, तब ये उसे मार डालते हैं और उसके अंग का एक विशेष हिस्सा काटकर उसका ताबीज़ बना पहन लेते हैं!

कालाहारी प्रदेश और वहाँ के लोगों के इस वर्णन से स्वतः ही स्पष्ट हो जाता है कि ये दुनिया के और हिस्सों से बिल्कुल ही भिन्न हैं। सभ्य संसार से इनका किसी भी प्रकार का सम्पर्क नहीं है। सदियों से ये ऊपर वर्णन किये गये ढंग से और अपने निजी ढंग से रहते चले आ रहे हैं। न तो इनकी कोई ख़बर कभी दुनिया के पास पहुँच पाती है और न कभी दुनिया की ही कोई ख़बर इनके पास तक पहुँचती है।

से इलाक़ों में 'होशियार' गिने जाते हैं, उन्होंने इटालियन आक्रमण का सबसे अधिक समझदारी का अर्थ लगाया है। उन्हें याद है कि अपनी जवानी में उन्होंने कई 'फ़िरंगियों' को मार डाला था, अब उनकी बुद्धि के अनुसार उन्हीं फ़िरंगियों के जात-भाई बदला लेने के लिए आये हैं। इससे अधिक दूर तक सारे दानाकील प्रदेश में किसी भी व्यक्ति की अक़्ल या उसकी अनुमान करने की शक्ति का पहुँच पाना असम्भव है।

इस उदाहरण से और भी अधिक स्पष्ट हो जाता है कि सभ्य जगत् से दनकाली और उनका प्रदेश कितना दूर है! लेकिन एक बात और इस सिलसिले में स्पष्ट कर देना उचित जान पड़ता है। बहुतेरे लोगों की यह धारणा रहती है कि जो समाज जितनी दूर तक सभ्य होने का दावा रखता उसमें चालाकी और धूर्तता की मात्रा भी उतनी ही अधिक रहती है। इसी विचार के आधार पर इस धारणा के पोषक यह भी अंदाज़ लगाते हैं कि जो समाज सभ्यता से जितनी ही दूर रहेगा, उसमें धूर्तता और चालाकी की मात्रा उतनी ही कम होगी। आइए, इस कसौटी पर हम एक बार दनकाली लोगों को परखकर देखें।

लड़ाई में ही इनका समय सबसे अधिक ख़र्च होता है और यही इनके जीवन की मुख्य समस्या रहती है इसलिए इनके मानसिक क्षेत्र की जानकारी भी इन क्षेत्रों में जाँच करें तो इस विषय में सही नतीजे पर पहुँचने की अधिक सम्भावना रहे।

अपने शत्रुओं से लड़ते समय दनकालियों की लड़ाई में यह नीति रहती है कि जिस समय शत्रु बीच रेगिस्तान में पानी के स्थान से अधिक दूर रहता है, उसी समय वे उस

बचते जा सकें। ऐसे मौक़ों पर ये नक़ल करते हुए ज़ोर-ज़ोर से चिल्ला कर कहते हैं:—

'हम बड़े ही बेवक़ूफ़ हैं कि इतनी दूर बढ़ते चले आए। अब हमारे पास एक बूँद भी पानी नहीं बचा! हमारे ऊँट मर गये। हम अब एक क़दम भी नहीं चल सकते। अब मौत! हाय मौत!'

ये रोने का बहाना करते हैं, जिसमें इनकी इस मजबूती की ही हालत में इन्हें कमज़ोर समझकर छिपे हुए शत्रु शीघ्र हमला कर दें और उनके आक्रमण से ये अपने को आसानी से बचा ले सकें! कभी-कभी ये जिस इलाक़े में होते हैं, उनके मित्र जाति के होने वा ऐसे मौक़ों पर बहाना करते हैं जिसमें छिपे हुए शत्रु उन्हें मारने न आवें।

इस प्रकार के अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं, जिनसे साबित होता है कि हम जिसे साधारणतया सभ्यता कहते हैं उससे दूर रहते हुए भी दनकालियों में धूर्तता और चालाकी कम नहीं; वे कम मिथ्यावादी नहीं। चालाकी से किसी को रेगिस्तान में बहकाकर ले जाने और वहाँ पर उसका सामान लूट लेने तथा अँधेरे में उसकी जान ले लेने की कला ये भलीभाँति जानते हैं।

कम-से-कम दनकालियों का उदाहरण देखते हुए हम इसी नतीजे पर पहुँचते हैं कि सभ्यता से दूर रहने का मतलब धूर्तता या चालाकी से दूर रहना नहीं हुआ करता। इन विशेषताओं का ख़ास कारण रोटी का सवाल दीखता है। यह सवाल हल करना जिस समाज के लिए जितना ही कठिन होता है वह उतनी ही दूर तक अपनी परिस्थिति विशेष के हिसाब से मानसिक तथा शारीरिक शक्तियों का उपयोग करता है।

मानसिक क्षेत्र में दनकाली अधिक विकसित नहीं हैं, इसीलिए भोजन की समस्या हल करते समय ठीक पशुओं के समान खूंख़ार बन जाते हैं। इसी आधार पर हम इनकी गिनती सभ्य संसार से सबसे अधिक दूर रहनेवालों में करने का साहस करते हैं।
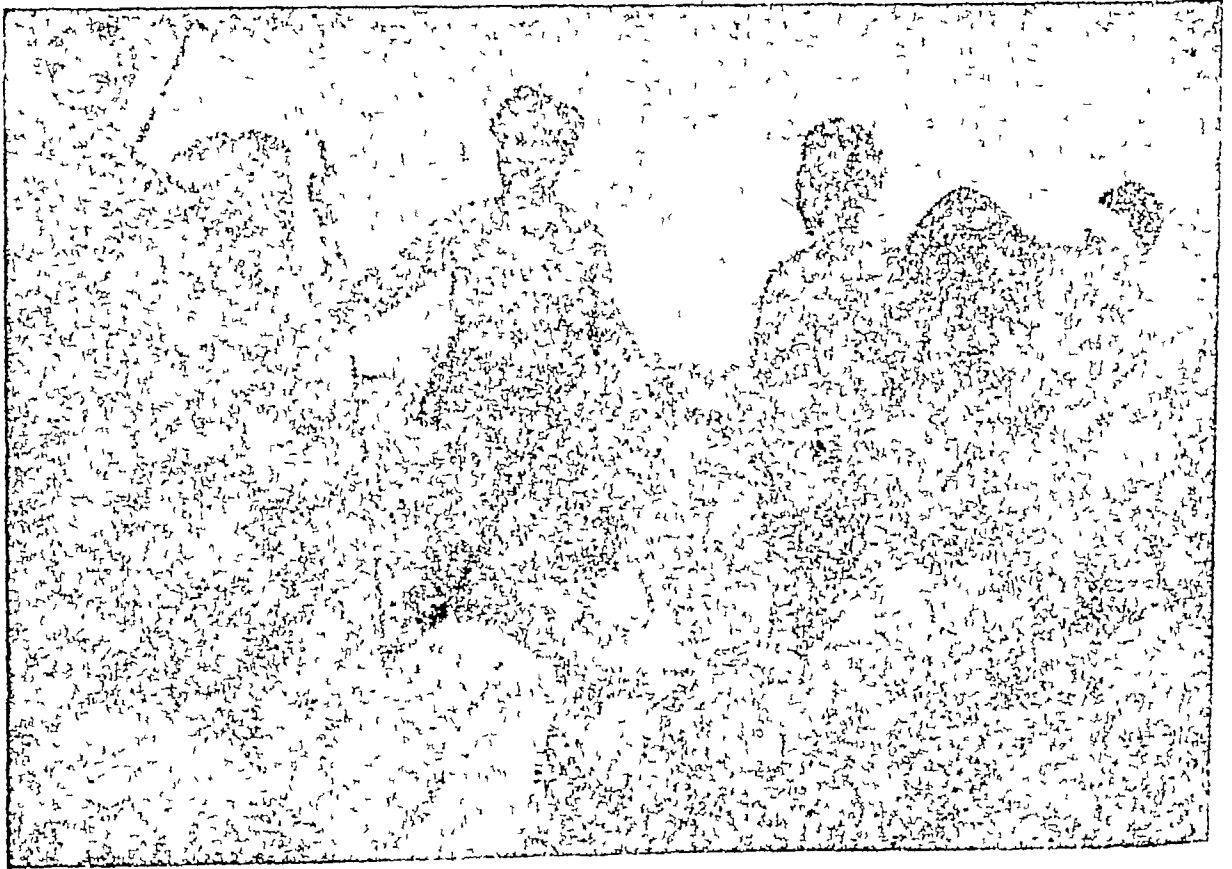
दनकालियों का एक गिरोह

इस चित्र में दनकाली स्त्री-पुरुष ख़रीद-फ़रोख़्त कर रहे हैं। यही उनका बाज़ार है! बीच में इस लेख के लेखक डा० शास्त्री खड़े हैं, जो पिछले अबीसीनिया युद्ध में युद्ध-संवाददाता के रूप में अबीसीनिया में महीनों रह चुके हैं और दानाकील जैसे भयंकर प्रदेश की भी सैर कर चुके हैं! [फ़ोटो—लेखक द्वारा]

कोरवा जाति के लोग
[फ़ोटो—रिज़्ले की 'पीपल्स ऑफ़ इण्डिया' से]

अनुसार भारतवर्ष की आदिम जातियों की संख्या में पहले से वृद्धि हुई है। १६२१ में जहाँ इनकी तादाद १ करोड़ ६० लाख थी, वहाँ १६३१ में वह २ करोड़ ५० लाख हो गयी है। इसका अर्थ यह न समझना चाहिए कि आदिम जातियों की संख्या वास्तव में ही हर स्थान पर बढ़ी है। देश के सभी भागों की अवस्था उनकी वृद्धि के लिए अनुकूल नहीं है, अतएव जहाँ कुछ जातियों की आबादी बढ़ी है, वहाँ बहुत-सी जातियों की जन-संख्या घट भी गयी है अथवा

अपने पड़ोसियों के रस्म-रिवाज़ों को अपनाते जाते हैं। धीरे धीरे अज्ञात रूप से 'जनों' का जाति-समुदाय में घुल-मिल जाना बहुत प्रारम्भिक काल से चला आता है।

भारतवर्ष में 'जन' की अवस्था में रहनेवालों की संख्या १६३१ की मनुष्य-गणना के अनुसार २ करोड़ ५० लाख है। मर्दुमशुमारी की रिपोर्ट में ये लोग 'आदिम जनों या जातियों' (Primitive tribes) के नाम से पुकारे गये हैं। इनमें २ करोड़ तो ब्रिटिश भारत के रहनेवाले हैं और शेष ५० लाख रियासतों की प्रजा हैं। किन्तु यह बात सही है कि पहाड़ियों और जंगलों में रहनेवाली इन आदिम जातियों की संख्या का ठीक-ठीक अन्दाज लगाना मुश्किल है और इस बात को ध्यान में रखते हुए हमें मर्दुमशुमारी की रिपोर्ट में दी हुई संख्या को एकदम अक्षरशः सत्य नहीं मान लेना चाहिए। ज्यों-ज्यों जंगली और ख़ानाबदोश जातियाँ स्थान-विशेष में बसती जाती हैं, और व्यवस्थित जीवन बिताने लगती हैं, त्यों त्यों उनकी तादाद का सही अन्दाज़ा लगाना आसान होता जाता है। इस दृष्टि से १६३१ की मनुष्य-गणना इससे पहले की मनुष्य-गणनाओं की अपेक्षा अधिक विश्वसनीय है। १६३१ की मनुष्य-गणना के

उसकी प्रवृत्ति घटने की ओर है। कुछ जातियों की संख्या निस्सन्देह इस कारण घटी है कि उस जाति के लोगों ने ईसाई या किसी अन्य धर्म को स्वीकार कर लिया है, किन्तु 'जनों' के रूप में तो उनकी शक्ति पहले से बढ़ ही गयी है। बिहार में छोटा नागपुर के रहनेवाले मुण्डा (Mundas) लोगों की तादाद जो सन् १८६१ में ३,३३,४६४ थी, सन् १६३१ में बढ़कर ६,५८,४५४ हो गयी है। उसी प्रकार इसी प्रदेश में रहनेवाले हो (Hos), और संथाल (Santhals) लोगों की तादाद भी बढ़ी है। छोटा नागपुर की इन आदिम जातियों को बहुत-सी सुविधाएँ प्राप्त हैं। इनमें से कुछ तो एक प्रकार ऐसी शासन व्यवस्था के अन्तर्गत रहते हैं जिसमें उनकी रक्षा का प्रबन्ध किया जाता है, पर ज्यादातर लोग अपने मुखियों के अप्रत्यक्ष शासन में हैं और बहुत-से ऐसे क़ानूनों की पाबन्दियों से बरी हैं जो कि उनके हित में घातक हैं।

देश के दूसरे भागों में विविध प्रकार से सभ्यता के सम्पर्क में आने का इन आदिम जातियों की जन संख्या पर बड़ा महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा है। नीलगिरि की पहाड़ियों में बसनेवाली टोडा जाति (Todas) की संख्या उत्तरोत्तर

घटती ही गई है। सन् १८८१ में जहाँ इनकी संख्या १,७०१ थी, वहाँ सन् १९०१ में ८०७, सन् १९११ में ७४८ और सन् १९३१ में ६८० ही रह गयी। बिहार और उड़ीसा के हिन्दू 'असुरों' (Asurs) की संख्या १९११ में २,०१६ के स्थान पर १९२१ में २,०२४ ही रह गयी। मूल असुर जाति की तादाद, जो १९११ में ३,०६६ थी, १९३१ में घटकर सिर्फ़ ६६६ रह गयी। इसी प्रकार युक्तप्रान्त के कोरवों (Korwas) की संख्या १९०१ में ६०७ के स्थान पर १९३१ में ४२७ ही रह गयी। बिहार और उड़ीसा के हिन्दू कोरवों की संख्या भी सन् १९११ के ३,७१४ से घटकर १९२१ में १,८६२ और १९३१ में १,४२१ ही रह गयी। मध्यप्रान्त और बरार में इनकी तादाद १९११ में ८४६ की जगह १९३१ में ३४८ ही रह गयी। इससे यह स्पष्ट है कि अन्दमान द्वीप के आदिम निवासियों की तरह ये लोग भी कुछ दिनों बाद ख़त्म हो जानेवाले हैं।

मद्रास के 'कोटों' (Kotas), कुर्ग तौर के हिन्दू 'मलायों' (Malaryans), मूल और हिन्दू 'मलविलों' (Mavi lions), मद्रास प्रान्त के 'जतापू खोंधों' (Jatapu Khondhs) आदि आदिम जातियों की संख्या में भी ह्रास हुआ है। मध्यप्रान्त की रियासतों में रहनेवाले भील लोगों की संख्या १९०१ में ६३,९२४ थी, १९३१ में वह घटकर २१,९६६ रह गयी। मध्यप्रान्त और बरार के 'गोंड' (Gond) लोगों की भी यही हालत है। आसाम के 'नागा' (Nagas), 'कूकी' (Kukis), 'कुकी' (Lushei) और 'खोनमा' (Konyaks) जातियों की संख्या भी लगातार घटती गयी है। कुछ आदिम जातियाँ ऐसी भी हैं जिनमें ... [illegible] ... हुआ है, किन्तु उनकी भी वृद्धि रुक गयी है और ... घटने की ओर ही प्रवृत्ति हो रही है।

[illegible]

है। ये बड़े फुर्तीले होते हैं। ये लोग इस प्रान्त में सबसे आदिम निवासियों के प्रतिनिधि हैं। ये दरख़्तों की शाखों का एक गोल छप्पर सा बनाकर रहते हैं। ये लोग जंगलों में ही रहते और अपनी कुल्हियों से खाने योग्य कंद मूल को ज़मीन में से खोद निकालते हैं। जंगली वृक्षों के फल और जंगली कंद-मूल ही इनका आहार है। पहाड़ियों में रहनेवाले कोरवा धनुर्बाण से भी काम लेते हैं, पर उनको शिकार का मौक़ा अब कम मिलता है। इसकी वजह यह है कि जंगली जानवर पहले की तरह स्वच्छन्द विचरण नहीं करते और उनकी तादाद भी बहुत कम हो गयी है। इसके अलावा जंगल-क़ानून पाबन्दियों के कारण इन लोगों के आर्थिक कार्य क्षेत्र का दायरा सीमित हो गया है और आजकल उन्हें जंगल के कन्दमूल और पथरीली ज़मीन की इनकी पैदावार पर ही गुज़र करना पड़ता है। परिणाम स्वरूप कोरवों की संख्या वृद्धि पर भारी रोक लग गयी है। दूधी परगने के कुन्दपान (Kundpan) और विशरामपुर नामक स्थानों की कोरवों की बस्तियों में जाकर जाँच करने से पता चला है कि किस प्रकार इस जाति की संतानोत्पादन की गति एकदम रुक गयी है। जाँच के परिणामस्वरूप मालूम हुआ कि ६६ फ़ी सदी विवाहित लोग ऐसे थे, जो निःसन्तान थे या जिनकी कोई भी सन्तान जीवी न रही थी, और लगभग २१·१ फ़ी सदी के सिर्फ़ एक ही बच्चा था, तथा सबसे ज़्यादा से ज़्यादा तादादवाले परिवार में भी अधिक-से-अधिक ५ बच्चे थे।

मध्यप्रान्त के आदिम गोंड
... [illegible] ... (फ़ोटो—... [illegible])

समाज-शास्त्रियों ने हाल में जो विस्तृत छान-बीन की है, उससे यह सिद्ध हो गया है कि आदिम जातियों में नैसर्गिक उर्वराशक्ति सभ्यता की उन्नतावस्था में रहनेवाले लोगों की अपेक्षा कम ही पायी जाती है। इससे जन-साधारण में प्रचलित इस विश्वास का खंडन होता है कि आदिम जातियों की संतानोत्पादक शक्ति अबाध ही नहीं बल्कि बहुत अधिक प्रबल होती है। परन्तु इस बात को स्वीकार कर लेना बड़ा कठिन है, क्योंकि जंगली जातियों में पैदाइश और मौत के जो आँकड़े मिलते हैं, वे अक्सर बड़े अधूरे होते हैं। तीन स्थानों में स्वयं मैंने जो जाँच की, उससे यही पता चला कि आदिम जातियों की सन्तानोत्पादन-शक्ति सभ्यता की उन्नतावस्था में रहनेवाली जातियों की अपेक्षा किसी प्रकार घटकर नहीं है। इन जातियों में प्रचलित भ्रूण-हत्या, गर्भपात और शिशुओं की उचित देख-रेख के अभाव के कारण बहुत-सी जातियों की संतान-वृद्धि में कड़ी रुकावट ज़रूर पड़ गयी है, पर जिन जगहों पर पैदाइश और मौत के आँकड़े ठीक-ठीक संग्रह किए गए हैं, उन्हें देखने से हमें यही पता चलता है कि सन्तानोत्पादन में ये जातियाँ उन्नत जातियों से पिछड़ी नहीं हैं।

यदि आदिम जातियों के ह्रास का कारण उन्नत जातियों की अपेक्षा उनमें सन्तानोत्पादन-शक्ति का कम मात्रा में होना नहीं है, तो फिर आइए देखें कि इस सम्बन्ध में उन जातियों में स्त्री-पुरुषों के अनुपात, तथा जीनेवाले और जल्द मर जानेवाले बालकों के सम्बन्ध के आँकड़े हमारे सामने दूसरा कौन-सा प्रमाण रखते हैं। आदिम जातियों में पुरुष की संख्या ब्राह्मण आदि उच्च वर्ण जातियों के अनुपात में कम ही पायी जाती है। किसी जन सख्या में औरतों के मुकाबले में मर्दों का ज़्यादा होना कमज़ोरी का चिह्न समझा जाता है, अतः इस कसौटी पर कसने पर आदिम जातियों पर इस संबंध में अयोग्यता का आरोप नहीं लगाया जा सकता। आदिम जातियों में विभिन्न आयु की मृत्यु के जो आँकड़े मिलते हैं, वे विश्वसनीय नहीं हैं। इन आँकड़े के भरोसे सही नतीजे पर नहीं पहुँचा जा सकता। परन्तु विशेष स्थानों में खोज करने से यह अद्भुत बात प्रकाश में आई है कि आदिम जातियों के गिरोहों में वृद्ध पुरुष शायद ही मिलते हैं! आदिम जातियों की अपेक्षा आजकल के हिन्दू और मुसलमानों में ४४ वर्ष के तथा इससे अधिक उम्र के आदमियों की औसत ज़्यादा होगी। हिन्दुओं तथा मुसलमानों की कुल जनसंख्या में पाँच वर्ष के अन्दर की उम्र के १५ प्रतिशत लोग रहते हैं, परन्तु आदिम जातियों में ऐसे २० प्रतिशत व्यक्ति पाये जाते हैं। अतः यह अनुमान करना शायद सही होगा कि आदिम जातियाँ उन्नत जातियों की अपेक्षा सन्तानोत्पत्ति तो अधिक करती हैं पर, आत्मरक्षा के उचित साधनों के अभाव में वे अपनी ठीक-ठीक रक्षा नहीं कर पातीं, और चूंकि भौतिक तथा सामाजिक वातावरण से संघर्ष करते हुए अपने को उसके अनुकूल बनाने के उपकरण वे नहीं ढूंढ पायी हैं, इसलिए उन्नत जातियों की अपेक्षा वे कम दिन ही जी पाती हैं।

मध्य प्रान्त और बरार के 'गोंड' लोग जिनकी भी संख्या अब कम होती जा रही है, एक बड़ी दिलचस्प जाति है। ये गोंड सभ्यता और संस्कृति के अनेक रूपों का प्रतिनिधित्व करते हैं और इतिहास में इस प्रदेश में उनके राजनीतिक प्रभाव का भी उल्लेख पाया जाता है। बस्तर (मध्यप्रान्त) के 'माड़िया' (Maria) नामक गोंड, जो उक्त प्रदेश की सबसे जंगली जाति है, अब भी घने जंगलों में राज्य की ओर से बिना किसी रोक-टोक या छेड़छाड़ के अपना आहार खोजते हुए विचरते हैं। राज्य के सामाजिक और आर्थिक संगठन में अभी तक उनका प्रवेश नहीं हुआ है। इन गोंडों में से कुछ लोगों ने, जो घूम-घामकर मैदानों में चले आये हैं और स्थायी या अर्द्धस्थायी रूप से कृषकों का जीवन व्यतीत करते हैं, अपने पड़ोसी हिन्दुओं की आदतों और प्रथाओं का अनुकरण कर लिया है और वे अब 'डंडामी माड़िया' (Dandami Maria) के नाम से पुकारे जाते हैं। माड़िया लोग कमर में गुरियों की करधनी के अलावा अपने शरीर पर नहीं के बराबर कपड़े पहनते हैं। पुरुष अपने गुप्तांगों को छिपाने भर के लिए एक कपड़े का टुकड़ा पहनकर प्रायः नंगे ही घूमा करते हैं। परन्तु उनके शरीर के अंगों की सुन्दर सुडौल गठन का सामञ्जस्य तथा उनका प्रसन्न वदन उनके नंगेपन में उत्पन्न जुगुप्सा को दूर कर देते हैं। स्त्रियाँ किनारीदार या बिना किनारी का कपड़ा कमर में लपेटती हैं, परन्तु कमर से ऊपर के हिस्से को नहीं ढँकती। इन लोगों की गर्दन में गुरियों की कई मालाएँ तथा धातुओं के हार रहते हैं, जिनमें से अधिकतर जहाँ वे रहते हैं उसी जगह के बने होते हैं, या सप्ताह में लगनेवाले बाजार से ख़रीदे जाते हैं। आज भी ये लोग अपनी ही जाति के लोगों को मार डालने के लिए बदनाम हैं। माड़िया प्रदेश में ज़रा-ज़रा-सी बात पर हो जानेवाली हत्याओं ने इन्हें काफी बदनाम कर रक्खा है। इन हत्याओं तथा उनके मन्त्र-तन्त्र एवं धर्म-सम्बन्धी विश्वासों और प्रथाओं में कोई सम्बन्ध है या नहीं यह अभी निश्चित

गीता के प्रवक्ता श्रीकृष्ण

महाभारत के युद्धक्षेत्र में गीता के रूप में कर्मयोग का जो पाठ श्रीकृष्ण ने अर्जुन को पढ़ाया था, वह युग-युग तक समस्त मानव-जाति को अंधकार में राह दिखाता रहेगा

गोवंश की वृद्धि और प्रतिपालन के वे प्रयत्न किये गये, जिनका पुनरुद्धार हमारे कृषिप्रधान देश के लिए आज भी एक प्रातःस्मरणीय आदर्श के रूप में हमारे सामने है।

राजनीतिक चरित्र

इन रमणीय बालचरित्रों की सुखदायी भूमिका तैयार करने के बाद श्रीकृष्ण ने एक दूसरे ही प्रकार के जगत् में प्रवेश किया। उनका वृन्दावन छोड़कर मथुरा को आना उस जगत् का देहली द्वार है। यहाँ जीवन के कठोर सत्य उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे। उनके द्वारा सबसे पहला परिवर्त्तन शूरसेन जनपद की राजनीति में हुआ। उग्रसेन के पुत्र लोकपीड़क कंस को राज्यच्युत करके कृष्ण ने उग्रसेन को सिंहासन पर प्रतिष्ठित किया। इस समय वह और उनके बड़े भाई बलराम दोनों किशोरावस्था में पदार्पण कर चुके थे। यमुना के तट पर प्रकृति के विश्वविद्यालय में स्वच्छन्द वायु और आकाश के साथ मिलकर ग्वाल-बालों के बीच में उन्होंने जीवन की एक बड़ी तैयारी कर ली थी, परन्तु मस्तिष्क की साधना का अवसर अभी तक उन्हें नहीं मिल सका था। इस कमी को पूरी करने के लिए वे सान्दीपिनि मुनि के गुरुकुल में प्रविष्ट हुए। कुल-पुरोहित गर्गाचार्य और काशी के विद्याचार्य सान्दीपिनि इन दो नामों का भगवान् कृष्ण के साथ बड़ा मधुर सम्बन्ध है। अवश्य ही गीता के प्रवक्ता को अपने ज्ञान का प्रथम बीज आर्ष ज्ञानपरम्परा की रक्षा करनेवाले तपस्वी ब्राह्मणों से ही प्राप्त हुआ था।

जैसे ही सान्दीपिनि मुनि ने विद्या समाप्त करके कृष्ण को 'सत्यं वद, धर्मं चर' वाला अपना अन्तिम उपदेश देकर विदा किया, वैसे ही परिस्थिति ने उनका सम्बन्ध हस्तिनापुर की राजनीति से मिला दिया। वसुदेव और उग्रसेन कृष्ण-बलदेव को लेकर कुरुक्षेत्र स्नान के लिए गये हुए थे। यहीं कुन्ती भी पाण्डवों के साथ आई थीं। बस यहीं कृष्ण और पाण्डवों के बीच उस घनिष्ठ सम्बन्ध का सूत्रपात हुआ, जिसके कारण आज तक हम योगेश्वर कृष्ण और धनुर्धर पार्थ का एक साथ स्मरण करते हैं। कंस-वध के समय ही कृष्ण अपनी राजनीतिक प्रवृत्ति का परिचय दे चुके थे। हस्तिनापुर की राजनीति के साथ सम्पर्क होने के बाद उस प्रवृत्ति को और भी उत्तेजना मिली। उन्होंने यह अनुभव किया कि इस समय देश में एक बड़ा प्रबल संगठन उन राजाओं का है, जो भारतीय राजनीति की प्राचीन लोकपक्षीय परम्पराओं के विरुद्ध क्रूर होकर राजशक्ति का प्रयोग करते हैं और जिनके कारण प्रजा में क्षोभ और कष्ट है। कृष्ण का बाल-जीवन लोक की गोद में पला था। वे स्वयं यादव जाति की अन्धक-वृष्णि शाखा के, जो एक गणराज्य (Republic) था, सदस्य थे। इसी कारण उनकी सहानुभूति स्वभावतः लोक के साथ थी। जैसे-जैसे कारण उपस्थित होते गये, एक-एक अत्याचारी शासक से उनका संघर्ष हुआ। मगध की राजधानी गिरिव्रज में बली जरासंध का वध कराकर उन्होंने उसके पुत्र जारासंधि सहदेव का अभिषेक किया। महाभारतकार ने लिखा है कि उस समय पृथ्वी पर जरासंध का आतंक था, केवल अन्धक-वृष्णि और कुरुवंशी क्षत्रियों ने उसकी अधीनता स्वीकार नहीं की थी। इन्हीं दोनों घरानों ने मिलकर उसका अन्त किया। चेदि जनपद में शिशुपाल का एकछत्र शासन था। शिशुपाल दुर्योधन की राजनीति का समर्थक था। दुर्योधन की शक्ति को निर्बल बनाने के लिए जरासंध और शिशुपाल का कंटक निकालना आवश्यक था। तदनुसार शिशुपाल का वध करके माहिष्मती की गद्दी पर उसके पुत्र धृष्टकेतु को बैठाया। नग्नजित् के पुत्रों को हराकर गांधार देश को अनुकूल किया। बलिष्ठ पांड्यराज को मल्लयुद्ध में अपने वक्षःस्थल की टक्कर से चूर कर डाला। सौभ नगर में शाल्वराज को वशीभूत किया। सुदूर पूर्व के प्राग्ज्योतिष दुर्ग में भौम नरक का निरंकुश शासन था, जिसने एक सहस्र कन्याओं को अपने बन्दीगृह में डाल रक्खा था। उसकी निर्मोचन नामक राजधानी में सेना सहित मुर और नरक का वध करके कामरूप प्रदेश को स्वतंत्र किया। बाणासुर, कलिंगराज और काशिराज-इन सबको कृष्ण से लोहा लेना पड़ा और सब ही उनके बुद्धिकौशल के आगे परास्त हुए।

कृष्ण की राजनीतिक बुद्धि अद्‌भुत थी। अर्जुन ने कहा था कि युद्ध न करने पर भी कृष्ण मन से जिसका अभिनन्दन करें वह सब शत्रुओं पर विजयी होगा। 'यदि मुझे वज्रधारी इन्द्र और कृष्ण में से एक को लेना पड़े, तो मैं कृष्ण को लूँगा।' आर्य विष्णुगुप्त चाणक्य को भी अपनी बुद्धि पर ऐसा ही विश्वास था। उनका मंत्र अमोघ था। जहाँ कोई युक्ति न हो, वहाँ कृष्ण की युक्ति काम आती थी। धृतराष्ट्र की धारणा थी कि जब तक एक रथ पर कृष्ण, अर्जुन और अधिज्य गाण्डीव धनुष—ये तीन तेज एक साथ हैं, तब तक ग्यारह अक्षौहिणी भारतीय सेना होने पर भी कौरवों की विजय असम्भव है।

महाभारत का युद्ध भारतीय इतिहास की एक अद्भुत दारुण घटना है। इस प्रलयकारी युद्ध में दुर्योधन की

कौरवों की सभा में राजनीतिज्ञ श्रीकृष्ण

श्रीकृष्ण ने महाभारत के विनाशकारी युद्ध को रोकने के लिए भरसक प्रयत्न किया था। इसी उद्देश्य से वह पाण्डवों की ओर से दूत (दे० पृष्ठ २४७) के रूप में कौरवों के पास हस्तिनापुर गये थे, ताकि संधि हो जाय और व्यर्थ का रक्तपात न हो। किन्तु स्वेच्छाचारी निरंकुश दुर्योधन ने आज के 'डिक्टेटरों' की तरह उनके शांति के संदेश को ठुकरा दिया। इस चित्र में बाईं ओर सिंहासन पर श्रीकृष्ण हैं, दाहिनी ओर नीचा सिर किये अंधे राजा धृतराष्ट्र हैं और उनके पास बैठा हुआ दुर्योधन अपना क्रोध प्रदर्शित कर रहा है।

दक्षिणी ध्रुव के अमर विजेता

सर डगलस मावसन
(जन्म १८८२)

सर ह्यूबर्ट विल्किंस
(जन्म १८८८)

सर अर्नेस्ट शेकल्टन
(जन्म १८७४; मृत्यु १९२१)

कैप्टेन राबर्ट स्कॉट
(जन्म १८६८; मृत्यु १९१२)

रोल्ड एमंडसन
(जन्म १८७२; मृत्यु १९२८)

कैप्टेन रिचर्ड बर्ड
(जन्म १८८८)

ध्रुव से लौटते समय पड़ाव से ११ मील दूर और उसके साथियों की मृत्यु

जब स्कॉट और उसके साथी ध्रुव पर पहुँचे तो वहाँ उन्होंने एमंडसन का तंबू और झंडा गड़ा पाया !

दक्षिणी ध्रुव प्रदेश पर मँडराता हुआ कैप्टेन बर्ड का हवाई जहाज़

सुदूर दक्षिण तक जाकर लौट आया और उसका रेकार्ड कोई भी न तोड़ सका। इसके बाद नारवे, बेलजियम और ब्रिटेन के अन्य कई यात्री ध्रुव की खोज में गए।

आधुनिक शताब्दी के प्रभात-काल में सन् १६०१ में, कैप्टन स्कॉट के नायकत्व में एक ब्रिटिश जहाज़ दक्षिणी ध्रुव की खोज में चल पड़ा। उसी विशाल वर्फ के पठार पर जिस पर रॉस उतरा था, ये नये यात्री भी उतरे तथा पूर्व की ओर ७०० मील तक बढ़े चले गए। फिर भी ध्रुव-बिन्दु तक ये नहीं पहुँच पाये। स्कॉट ने बेलून पर ७५० फीट ऊँचे चढ़कर चारों ओर देखा तो सिवा बर्फ के और कुछ नज़र नहीं आया।

सन् १६१२ में मावसन (Mawson) नामक यात्री दो वीर साथियों को लेकर चल पड़ा। उस रीददार बर्फ़ीली भूमि की छोटी-मोटी टेकड़ियों, दरारों, खड्डों आदि को पार करते हुए ये लोग जा ही रहे थे कि एकाएक मावसन का एक साथी ग़ायब हो गया। मालूम हुआ, वह कुत्तों और स्लेज़ की गाड़ी सहित सैकड़ों फ़ीट नीचे एक बर्फ़ीली दरार के मुँह में समा गया है। उसके चीख़ने तक की भी आवाज़ नहीं आती थी। केवल १५० फ़ीट नीचे एक कुत्ता, जिसकी पीठ की हड्डी टूट गई थी, अपने प्राणों की अन्तिम शक्ति लगाकर मारे दर्द के मिमिया रहा था। लेकिन उतनी लम्बी रस्सी भी तो नहीं थी कि उस विशाल दरार के तले को छुआ जा सकता। स्लेज के साथ उस पर लदी हुई खाद्य-सामग्री आदि सभी वस्तुएँ भी उसी वर्फ़ की उदर-दरी में समा गई। मावसन के पास अब केवल मुट्ठी भर किशमिश और एक कुत्ते की लाश बची थी। एक स्लेज जिस पर कि तम्बू का बोझा लदा हुआ था उसके पास थी। इसी को खींचकर मीलों का रास्ता उसने अपने बचे हुए साथी के साथ पार किया। पर उसका यह साथी भी चल बसा। अब अकेले ही इस वज़न को घसीटकर चलना था। नीचे छिपी हुई हज़ारों फीट गहरी दरारें थीं। फिर भी वह बढ़ता ही गया। एक बार तो वह दरार में गिर पड़ा, ६ फ़ीट नीचे तक लटक गया और चक्कर खाने लगा। बड़ी मुश्किल से वह बाहर निकल पाया। थकावट और भूख के मारे वह उस दरार के किनारे बेहोश हो गया। जब होश आया तो फिर आगे बढ़ा। लेकिन हवा इतनी तेज थी कि वह आगे बढ़ने के बदले पीछे ही अपने रास्ते से मीलों दूर घसिटता चला गया।

अन्त में अपने यन्त्र तोड़-ताड़कर उनकी कीलें जूतों में ठोंककर और पैर जमा-जमाकर वह आगे बढ़ा। इस तरह बड़ी कठिनता से समुद्र-किनारे तक पहुँचा।

इसके बाद फिर वही अमर यात्री कैप्टन स्कॉट अपने कुछ वीर साथियों को लेकर ध्रुव पर धावा बोलने के लिए चल पड़ा। यह वही स्कॉट है, जिसने विशाल वर्फ के पठार के किनारे-किनारे जहाज़ चलाकर एक बड़ा भू-भाग खोज निकाला था और जिसका नाम 'किंग एडवर्ड दि सेवंथ लैन्ड' रखा था। शीत बीत जाने पर वह अपने वीर साथियों के साथ ३७० मील तक बढ़ता चला गया, लेकिन मुख्य भूभाग
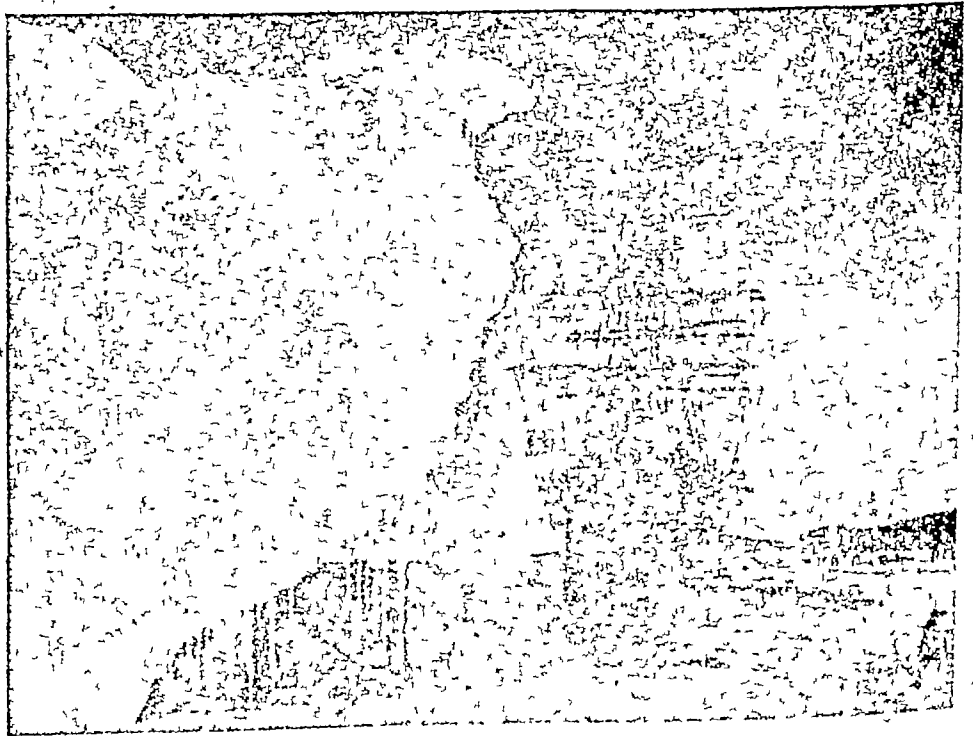
ध्रुव-प्रदेश में कैप्टेन स्कॉट का प्रसिद्ध जहाज़ "टेरा नोवा" सामने की ओर तैरता हुआ वर्फ़ का पहाड़ (Iceberg) है, जिससे यह जहाज़ बाल-बाल बचा था।

और लड़खड़ाते हुए उस तीक्ष्ण बर्फ़ीले तूफ़ान के श्वेत अंधकार में विलीन हो गया। अब शेष रहे स्कॉट और दो और साथी। बर्फ़ के तीक्ष्ण टुकड़े आ-आ कर उनके मुखों पर चुभ-चुभ जाते थे। उनके कपड़े बर्फ़ से तर-बतर हो रहे थे। अन्त में उन्हें क्रूर प्रकृति के भीषण अत्याचार से बचने के लिए वहीं रुककर तम्बू की शरण लेनी पड़ी। उनका मुख्य पड़ाव अब केवल ग्यारह मील दूरी पर ही रह गया था। वहाँ उनको भर-पेट भोजन मिल सकता था। लेकिन केवल दो दिन का भोजन लिए हुए वे वीर पथिक भयंकर तूफ़ान से हिलते हुए इस छोटे-से तम्बू में ही सिकुड़ कर पड़े थे। तूफ़ान एक सप्ताह से भी अधिक समय तक चलता रहा और वे उसी तम्बू में वीरतापूर्वक अनशन करते रहे।

स्काट के साथी ४ दिन तक जिन्दा रहे और आख़िरी दम तक उन्होंने सद्भावना के पत्र लिखे तथा अपनी-अपनी डायरियाँ भी लिखते रहे। स्कॉट ने, जिसकी मृत्यु सब के बाद हुई, अपनी डायरी में मृत्यु का कारण तथा अपने ध्रुव सम्बन्धी अनुभवों की बातें लिखीं। जब मृत्यु की घड़ी सन्निकट आ गई, तब भी स्कॉट ने मरते-मरते लिखा—'अपनों की सुधि लेना।' कितना करुणा-जनक वाक्य था यह! जब १२ नवम्बर, १६१२, को इन अमर वीरों की खोज में एक पार्टी पहुँची, तब उक्त पार्टी के लोगों को वह मृत्यु-शिविर दिखलाई पड़ा। उन लोगों ने देखा कि वे तीनों मृत्यु की अमर शैय्या में लिपटे हुए सो रहे हैं। उनकी डायरियाँ उनके आस-पास बिखरी पड़ी हैं। मूँगों के टुकड़े, कोयले, क़िस्म-क़िस्म की धातुओं के नमूने तथा अन्य कई वस्तुएँ, जिन्हें उन लोगों ने प्राणों से भी अधिक क़ीमती समझकर जुटायी थीं—उस तम्बू में मिलीं जिसमें खाने के लिए एक दाना भी न बचा था। स्कॉट का हाथ विल्सन के शरीर पर रखा हुआ था। ऐसी गौरवशालिनी वीर-मृत्यु की महत्ता विनष्ट न होने देने के लिए लोगों ने उन वीरों के मृत शरीरों को समुद्र से सैकड़ों मील दूर शाश्वत बर्फ़ीले मैदान पर छाती की तरह तने हुए नीरव निर्जन तम्बू में ही रहने दिया। आज दिन भी उनकी वीर आत्माएँ उनके मृत शरीरों के साथ साथ उस बर्फ़ीले मैदान की छाती पर मानों क़दम बढ़ाए चली जा रही हैं!

इसके बाद शेकल्टन तथा अन्य लोगों ने भी यात्राएँ कीं। शेकल्टन १६२२ में इसी प्रदेश में स्वर्गलोक को सिधारा।

पृथ्वी के दोनों ओर अर्थात् उत्तरी तथा दक्षिणी ध्रुव की यात्राओं से मनुष्य को यह ज्ञात हुआ कि उत्तर का "आर्कटिक" प्रदेश बड़े-बड़े ज़मीन के टुकड़ों से घिरा हुआ एक समुद्र है तो दक्षिण का एण्टार्कटिक प्रदेश गहरे समुद्र से घिरा हुआ एक महाद्वीप है। दक्षिण का यह ध्रुव-प्रदेश पृथ्वी का सबसे ऊँचा पठार है। इसका भीतरी भाग समुद्र-सतह से ६००० फ़ीट ऊँचा तथा इस ऊँचाई पर भी हज़ारों फ़ीट ऊँची हिमाच्छादित पर्वत-श्रेणियों से आच्छादित है। इस हिम प्रदेश में साल भर शुष्क रेत-कणों के समान चमकीले बर्फ़-कणों ही की झड़ी लगी रहती है। इस प्रदेश की समस्त ऊँची समतल भूमि लाखों वर्षों से बरसती हुई बर्फ़ की हज़ारों फ़ीट मोटी सतह से आच्छादित है। यहाँ पर हज़ारों फ़ीट नीचे तक पानी में डूबे हुए भिन्न-भिन्न आकार के बर्फ़ के तैरते हुए विशाल पहाड़ों (Icebergs) की भी भरमार है। ६०६० मील लम्बे पानी पर तैरनेवाले बर्फ़ के पहाड़! प्रकृति का कितना भव्य और साथ ही भयानक दृश्य होगा वह! यहाँ न तो कोई मनुष्य ही रहता है और न वनस्पति ही पैदा होती है। हाँ, पेंग्वीन (Penguin) नामक एक विचित्र प्राणी यहाँ का एक-मात्र निवासी है। यह दूरी से कुछ-कुछ मनुष्य-जैसा दिखाई पड़ता है।

आज इस अखण्ड भू-भाग को हथियाने के लिए सात राष्ट्र अपने-अपने अधिकारों की माँग पेश कर रहे हैं। क्यों? कारण यही है कि इसके बर्फ़ीले गर्भ-स्थल में कोयला आदि कई प्रकार के खनिज पदार्थ प्रचुर मात्रा में विद्यमान हैं। आज ब्रिटेन, रूस, जर्मनी, स्वीडन, फ्रान्स, नॉरवे और यूनाइटेड स्टेट्स इसे हथियाने के लिए प्रयत्नशील हैं तथा अपने-अपने झंडे गाड़ने के लिए उत्सुक हैं। यूनाइटेड स्टेट्स का वीर वायुयान-यात्री रिचर्ड एवेलीन बर्ड (Richard Evelyn Byrd) दक्षिणी ध्रुव पर उड़ा था और वहाँ झण्डा गाड़ कर लौटा है। उसने अपनी पहली यात्रा में ४००००० वर्ग-मील अनदेखी ज़मीन का नक़्शा खींचा। १६३३ में उसने फिर वायुयान द्वारा यात्रा की। यूनाइटेड स्टेट्स बर्ड को ७०००० पौंड की आर्थिक सहायता दे रही है और वह इसी वर्ष में फिर दक्षिण-ध्रुव की यात्रा के लिए जहाज़ लेकर रवाना हो रहा है। अभी तो योरप आपसी लड़ाई-झगड़े से ही फ़ुरसत नहीं पा रहा है। सम्भव है, वह दिन भी आ जाय जब कि योरप के राष्ट्रों में इस महान् आश्चर्य-जनक बर्फ़ीले महाद्वीप के टुकड़ों के लिए भी रणभेरी झनझना उठे!

विश्व की कहानी
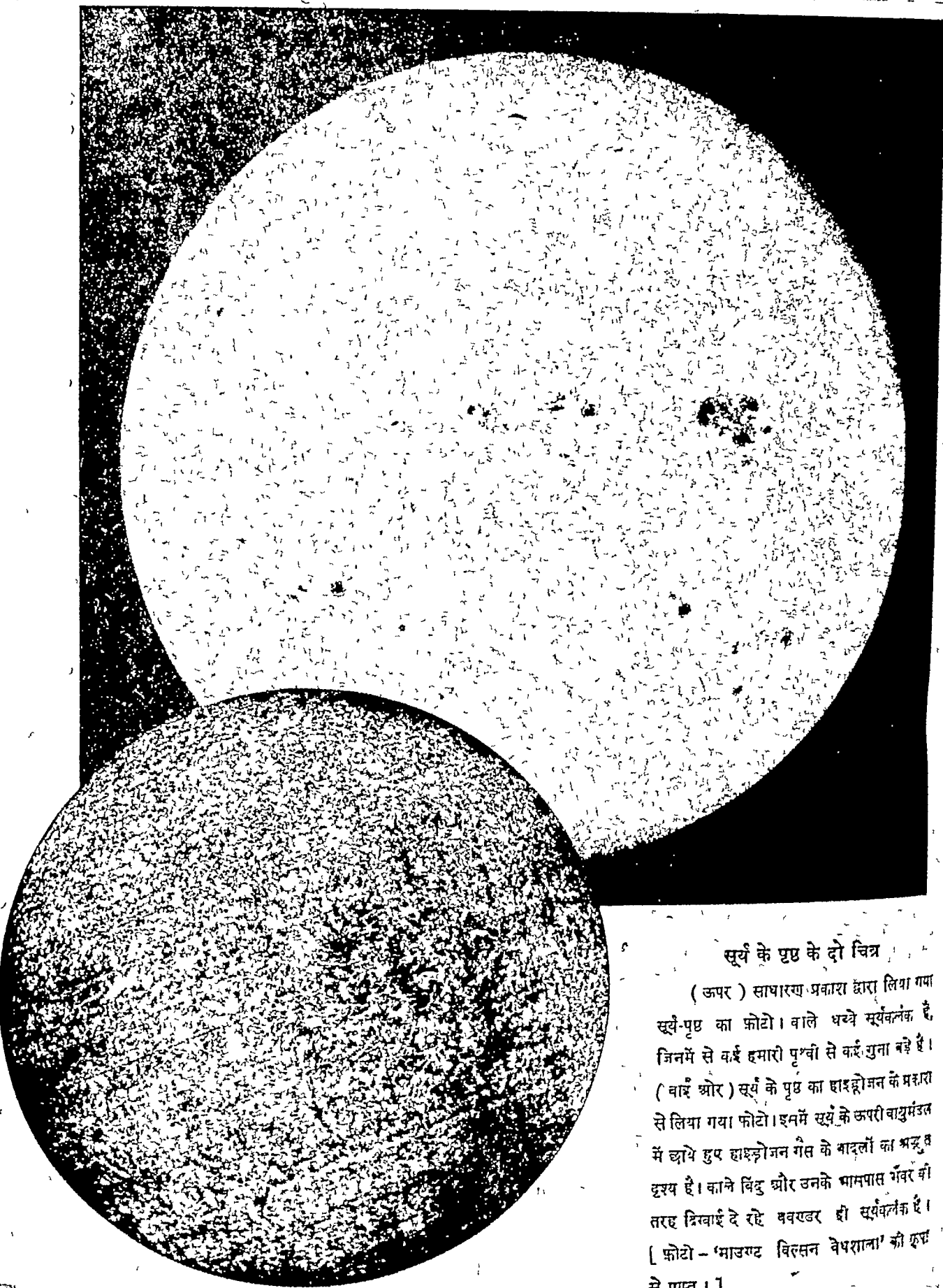
सूर्य के पृष्ठ के दो चित्र

(ऊपर) साधारण प्रकाश द्वारा लिया गया सूर्य-पृष्ठ का फ़ोटो। काले धब्बे सूर्यकलंक हैं, जिनमें से कई हमारी पृथ्वी से कई गुना बड़े हैं। (बाईं ओर) सूर्य के पृष्ठ का हाइड्रोजन के प्रकाश से लिया गया फोटो। इसमें सूर्य के ऊपरी वायुमंडल में छाये हुए हाइड्रोजन गैस के बादलों का अद्भुत दृश्य है। काले बिंदु और उनके आसपास भँवर की तरह दिखाई दे रहे बवण्डर ही सूर्यकलंक हैं। [फ़ोटो – 'माउण्ट विल्सन वेधशाला' की कृपा से प्राप्त ।]

उपरोक्त बातों से स्पष्ट पता चलता है कि सूर्य ठोस नहीं है। यदि सूर्य ठोस होता और उसमें कहीं-कहीं धब्बे होते, तो वे सदा एक ही स्थान पर रहते, उनके आकार में परिवर्तन न होता और उनका भ्रमणकाल सदा समान रहता।

स्वरूप

सूर्य-कलंकों का स्वरूप भी कुछ निश्चित नहीं है, परंतु बड़े और अधिक दिन तक टिकनेवाले कलंक प्रायः गोल होते हैं। बड़े दूरदर्शक से देखने पर सभी कलंकों में दो भाग स्पष्ट दिखलाई पड़ते हैं; एक बीच का भाग, जो अधिक काला होता है; दूसरा बाहर का भाग, जो इस बीच के भाग को घेरे रहता है और कुछ कम काला होता है।

एक ही कलंक के विविध रूप

ये एक विशाल कलंक के थोड़ी-थोड़ी देर से एक के बाद एक लिये गये चार फ़ोटो है। चौथे फ़ोटो में यह कलंक रूपी बवंडर क्रमशः हटते हटते सूर्य के पृष्ठ के किनारे आ पहुँचा है और शीघ्र ही लुप्त हो जाने वाला है। इन से स्पष्ट है कि सूर्य कलंक एक प्रकार का बवंडर होता है। [फ़ोटो—'माउण्ट विल्सन वेधशाला'।)

परिवर्तन से शीघ्र पता चल जाता है कि सूर्य किसी अक्ष पर उसी प्रकार नाच रहा है, जैसे पृथ्वी। कलंक हमें पूर्व से पश्चिम की ओर चलते दिखलाई पड़ते हैं और इस दिशा में वे लगभग सवा सत्ताइस दिन में एक बार चक्कर लगा लेते हैं। परंतु विचित्र बात यह है कि मध्य रेखा के पासवाले कलंक शीघ्र चलते हैं। यहाँ कलक केवल साढ़े चौबीस या पचीस दिन में ही एक चक्कर लगा लेते हैं। ज्यों-ज्यों हम सूर्य के उत्तरी या दक्षिणी ध्रुव की ओर जाते हैं, त्यों-त्यों वहाँ के कलंकों की गति मंद पड़ जाती है। इस संबंध में एक विचित्र बात यह भी है कि कलक मध्य-रेखा से हटकर केवल ५ से ४० अंश तक के ही प्रदेशों में अधिक बनते हैं। ध्रुवों के पासवाले स्थानों में कलंक कभी नहीं दिखलाई पड़ते। परतु इन प्रदेशों में सूर्य का भ्रमणकाल सूर्यबिम्ब के अन्य चिह्नों से स्थिर किया जा सकता है। पता लगा है कि ध्रुव के पासवाले भागों के एक बार घूमने में लगभग चौंतीस दिन लगते हैं। मध्य रेखा से एक ही दूरी पर स्थित कलंकों का भी भ्रमणकाल पूर्णतया निश्चित नहीं है—इनमें से कुछ तनिक शीघ्र गति से चलते हैं, कुछ ज़रा धीरे।
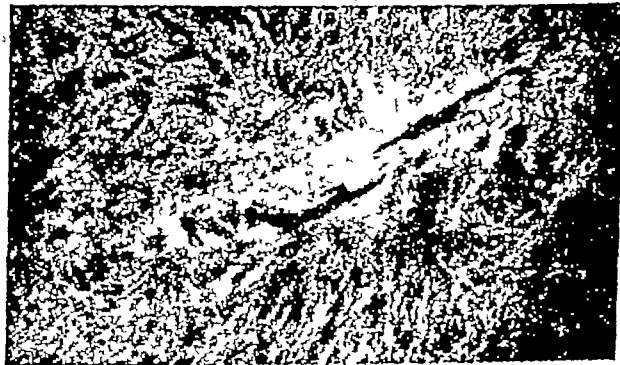
हुए देखे गये हैं। एक बार एक कलंक १८ महीने तक दिखलाई पड़ता रहा, परंतु अधिकांश कलक कुछ सप्ताह तक ही टिकते हैं और अंत में मिट जाते हैं। मिटने का कारण साधारणतः यही होता है कि ऊपर आसपास का चमकीला पदार्थ चढ़ आता है।

अभी तक ठीक-ठीक पता नहीं लगा है कि सूर्य-कलंक वस्तुतः हैं क्या। परंतु आधुनिक सिद्धांत यह है कि ये तुरहीनुमा भँवर या बवंडर हैं, जिनमें से भीतर की गैसें चक्कर मारती हुई ऊपर और बाहर निकलती हैं। यदि तुम इस प्रकार के भँवरों को पानी पर देखना चाहते हो तो दफ़्ती या पतली लकड़ी का आठ-दस इंच व्यास का एक वृत्त काट लो। किसी तालाब के स्थिर जल में लकड़ी को आधी डुबा दो और इसको इसी प्रकार आधी डुबी हुई और खड़ी स्थिति में रखते हुए ज़ोर से पीछे खींचकर पानी के बाहर निकाल लो। तुम देखोगे कि इस प्रकार पानी पर दो भँवर बन जाते हैं। असली बात यह है कि लकड़ी के खींचने पर लकड़ी की कोर के कारण पानी में भँवर की अर्धगोलाकार रेखा बन जाती है। इसके दोनों सिरे ही तुमको पानी पर दिखलाई पड़ते हैं। ये सिरे तुरही के आकार के होते हैं। तुम देखोगे कि यदि एक में पानी घड़ी की सुइयों की दिशा में चक्कर लगाता है, तो दूसरे में इसकी विपरीत दिशा में। सूर्य-कलंक भी कई बातों में ठीक इन्हीं भँवरों के समान होते हैं। यदि उपयुक्त यंत्रों द्वारा सूर्य के प्रकाश से अन्य अवयव निकाल दिये जायँ और केवल हाइड्रोजन गैस से आये हुए प्रकाश से सूर्य का फोटो खींचा जाय, तो सूर्य पर के हाइड्रोजन के बादलों का बड़ा सुंदर चित्र खिंच आता है। इन चित्रों में सूर्य-कलंकों की भँवर-सरीखी बनावट स्पष्ट दिखलाई पड़ती है। यह भी दिखलाई पड़ता है कि दो पासवाले कलंकों का पदार्थ विपरीत दिशाओं में चक्कर लगाता है। थोड़ी थोड़ी देर पर कई फोटो खींचने पर कलंकों में आसपास से बादल खिंच आते हुए भी देखे गये हैं। इससे स्पष्ट है कि सूर्य कलंक भँवर हैं।

सूर्य-कलंक और श्वेत कण

यह एक सूर्य-कलंक और उसके आस-पास के पृष्ठ पर बिखरे हुए चावल जैसे श्वेत कणों का चित्र है। इसमें 'परिच्छाया' और 'उपच्छाया' स्पष्ट दिखलाई पड़ते हैं। (देखो पृष्ठ २६२)
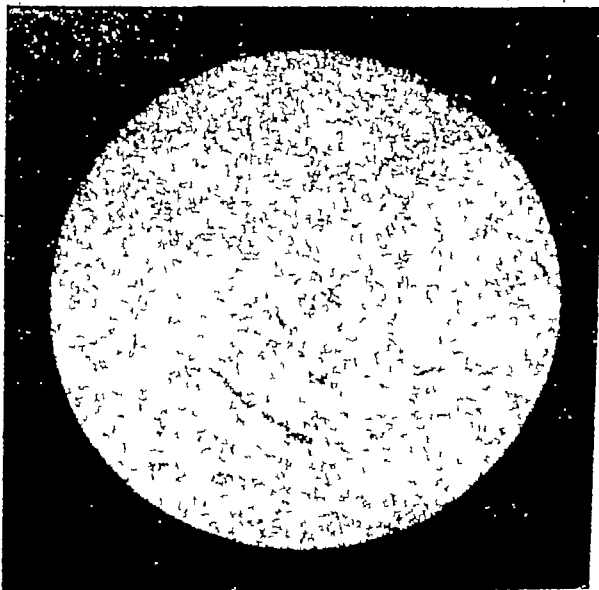
हाइड्रोजन-प्रकाश द्वारा लिया गया सूर्य का एक फोटो
[फ़ोटो—'कोदईकैनाल वेधशाला' की कृपा से]
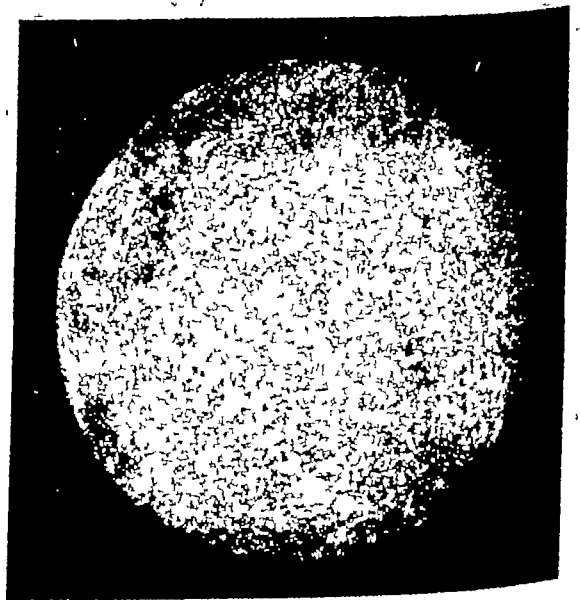
कैल्शियम-प्रकाश द्वारा लिया गया सूर्य का फ़ोटो
[फ़ोटो—'कोदईकैनाल वेधशाला' की कृपा से]

प्रकाश-मंडल

सूर्य के पृष्ठ पर कलंक ही सर्व-प्रथम हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं, परंतु यदि ध्यान से देखा जाय, तो अन्य रोचक बातें भी दिखलाई पडती हैं। बड़े दूर दर्शक से देखने पर सूर्य का श्वेत भाग भी सर्वत्र एक-रूप श्वेत नही दिखलाई पड़ता। इसमें छोटे-छोटे अनेक अत्यंत चमकीले कण दिखलाई पड़ते हैं। ऐसा जान पड़ता है जैसे मटमैले कपड़े पर सफेद चावल बिखरा हुआ हो। अनुमान किया जाता है कि मटमैली ज़मीन की अपेक्षा ये चावल के दाने बीस गुने अधिक चमकीले होंगे। इनका व्यास ४०० मील से लेकर १२०० मील तक होता है। कभी-कभी छोटे दाने भी दिखलाई देते हैं, जिनका व्यास १०० मील से अधिक न होता होगा। ये दाने हमको साधारणत गोल या दीर्घ वृत्ताकार दिखलाई पड़ते हैं और कई दाने सिमटकर बड़े दाने भी बन जाया करते हैं। इन दानों का जीवनकाल बहुत कम होता है। कुछ दो-चार मिनट ठहर भी जाते हैं, परंतु अधिकाश आधे मिनट भी नहीं टिकते। इन सब की गति इधर-उधर प्रत्येक दिशा मे हुआ करती है। कोई-कोई तो प्राय. स्थिर ही रहते हैं। ऊँचे हवाई जहाज से जिस प्रकार आँधी से मथा हुआ समुद्र दिखलाई पड़ता है, ठीक वैसे ही, परंतु बहुत बड़े पैमाने पर, ये दाने भी दिखलाई पडते हैं।

सूर्य का बिम्ब हमको किनारे की ओर कम चमकीला दिखलाई पडता है। इससे स्पष्ट पता चलता है कि सूर्य पर कोई वायुमडल है। किनारे के भागों से जो प्रकाश-रश्मियाँ हमारी आँखों तक पहुँचती हैं, उनको इस वायुमंडल में तिरछी दिशा में चलना पड़ता है। इसलिए उनकी चमक कुछ कम हो जाती है। यदि सूर्य पर किसी प्रकार का वायुमंडल न होता तो अवश्य ही सूर्य-बिम्ब के केंद्र और किनारे हमको एक-समान चमकीले दिखलाई पड़ते। हम इस वायुमडल को प्रतिदिन तो नही देख सकते, परंतु सर्व सूर्य ग्रहणों के अवसर पर, जब सूर्य स्वयं चन्द्रमा के पीछे छिप जाता है, हम इसे देख सकते हैं।

सूर्य के चमकीले भाग को, जिस पर हमें कलक और चावल के दाने के समान चमकीले कण दिखलाई पड़ते हैं, 'प्रकाश-मंडल' या 'फोटोस्फियर' कहते हैं। इसके ऊपर वर्ण मंडल आदि हैं, जिनका ब्योरा आगे दिया जायगा।

ग्यारहवर्षीय चक्र

जर्मन ज्योतिषी श्वावे को सन् १८३२ के लगभग पता चला कि सूर्य-कलकों के घटने-बढ़ने मे भी नियम है। ११८ वर्ष में एक बार सूर्य कलकों की सख्या और क्षेत्रफल बढकर महत्तम तक पहुँचते हैं और एक बार घटकर लघुतम तक पहुँचते हैं। प्रत्येक ग्यारह वर्ष के काल में एक ही प्रकार से घटना-बढ़ना लगा रहता है। श्वावे दवा बेचता था, परंतु ज्योतिष के प्रेम के कारण उसने अपनी दूकान बेच दी, जिसमें निश्चिन्त होकर सूर्य का अध्ययन कर सके।

श्वावे के आविष्कार के कुछ ही वर्षों बाद इगलैंड में प्रति दिन सूर्य के फ़ोटो लेने की योजना हुई। इस अभिप्राय से कि बादलों के कारण कोई दिन नागा न चला जाय, मद्रास के पास स्थित सरकारी 'कोदईकैनाल वेधशाला' और दक्षिण अफ्रीका की सरकारी 'केप आफ गुड होप वेधशाला' में भी प्रति दिन सूर्य के फोटो लिये जाते हैं। इन सब फोटोग्राफों में सूर्य का चित्र एक ही नाप का अर्थात् ८ इच व्यास का लिया जाता है, जिसमें तुलना में कोई असुविधा न हो। उपरोक्त वेधशालाओं के अतिरिक्त, फ्रान्स और अमरीका की कुछ वेधशालाओं में भी सूर्य-सबंधी खोज बराबर की जाती है।

पता चला है कि कलंकों के घटने-बढ़ने का चक्र-काल नियमित रूप से ग्यारह वर्ष नहीं है। कभी एक चक्र में केवल सात ही वर्ष लगता है, कभी सत्रह वर्ष तक का समय लग जाता है। फिर प्रत्येक बार यह देखा गया है कि कलकों की सख्या और क्षेत्रफल शीघ्र (लगभग साढ़े चार वर्ष में) बढ़कर धीरे-धीरे (लगभग साढे छ वर्ष में) घटते हैं। अभी तक इस बात का पता नहीं चल सका है कि क्यों इस प्रकार कलक घटते बढते रहते हैं।

सूर्य-कलंक और सांसारिक घटनाएँ

समाचार-पत्रों में प्राय. भविष्यवाणियाँ छपा करती हैं, जिनका आधार सूर्य-कलक बतलाये जाते हैं, जैसे भविष्य में खूब आँधी-पानी आयेगा, या अन्य दुर्घटना होगी, क्योंकि कलकों की संख्या बढ़ रही है। क्या ऐसी भविष्यद्वाणियाँ सच्ची होती हैं ? क्या सूर्य कलकों और सांसारिक घटनाओं म वस्तुत. कोई सबंध है ? इस पर अमरीका के सूर्य सम्बधी विशेषज्ञ प्रो० मिचेल की उनकी 'सूर्य-ग्रहण' पुस्तक में ज़ोरदार भाषा में लिखी निम्न सम्मति जानने योग्य है—

"कई बार वास्तविक चेष्टा की गई है कि सूर्य-कलक और अन्य घटनाओं के बीच, चाहे वे सूर्य-सबंधी हों, चाहे पृथ्वी-संबंधी, नाता जोडा जाय। सूर्य-संबधी घटनाओं से जो नाते जोड़े गये हैं, उनकी नीव अधिकतर पक्की है, परंतु पृथ्वी संबधी नाते प्राय बिल्कुल काल्पनिक जान पड़ते हैं। यदि सयुक्त राष्ट्र (अमरीका) के किसी एक स्थान, जैसे लुई में, साधारण से अधिक गर्मी पड़ती है, ×××× और उसी समय यदि संयोगवश सूर्य पर एक बड़ा-सा कलक

नदी पर तैरते हुए लट्ठे

लकड़ी का घनत्व पानी से कम है। यही कारण है कि हम हज़ारों बड़े-बड़े लट्ठों को यहाँ नदी में तैरते हुए देख रहे हैं। कनाडा, नारवे, बर्मा आदि देशों में पहाड़ों से लकड़ी की शहतीरें काट-काटकर इसी प्रकार नदियों द्वारा बहा-कर मैदानों से शहरों में विना परिश्रम पहुँचा दी जाती हैं।

तैरता हुआ बर्फ़ का पहाड़

पानी जब बर्फ में परिणत हो जाता है, तब उसका घनत्व कम हो जाता है। यही कारण है कि मीलों लंबे और हजारों फ़ीट ऊँचे बर्फ के पहाड़ (Icebergs) इस प्रकार समुद्र में तैरते रहते हैं। इन पहाड़ों का केवल दसवाँ भाग बाहर दिखाई देता है, शेष जल में रहता है।
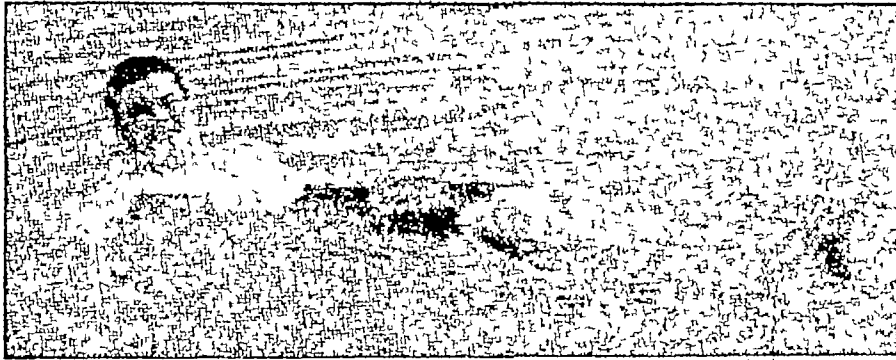
मृत सागर (Dead Sea) में तैरता हुआ आदमी

पैलेस्टाइन के 'मृत सागर' के पानी का घनत्व, बहुत अधिक नमक की मिलावट के कारण, इतना अधिक है कि मनुष्य का शरीर उसमें जल्दी डूबता नहीं। भारी से भारी बदनवाला आदमी भी उसमें बिना प्रयास तैरता रहता है।

हवा में उड़ता हुआ वायुपोत

हाइड्रोजन नामक गैस का घनत्व साधारण हवा से इतना अधिक कम होता है कि उससे भरे जाने पर सैकड़ों टन वज़न के बड़े-बड़े वायुपोत विना किसी यंत्र की सहायता के आकाश में ऊँचे उठकर उड़ सकते हैं। यह घनत्व की असमानता ही की करामात है। यह 'हिंडनबर्ग' नामक प्रसिद्ध जर्मन वायुपोत का चित्र है, जो जलकर नष्ट हो गया था।

असम घनत्व के कुछ विशिष्ट उदाहरण (दे० पृष्ठ २६५-२६६)
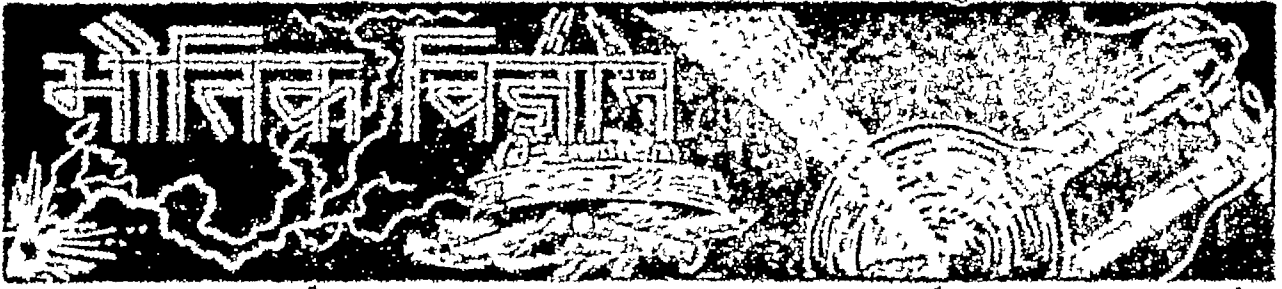
घनत्व और भार

प्रत्येक पदार्थ का कुछ-न-कुछ आयतन और वजन अवश्य होता है, और किसी भी वस्तु विशेष के आयतन की कमी-बेशी के अनुपात में उसके वजन में भी कमी-बेशी हो जाती है। किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि समान आयतनवाली दो वस्तुओं का वजन भी समान ही हो। इसका क्या कारण है? एक घनइंच लकड़ी का वजन एक घनइंच लोहे जितना क्यों नहीं होता? इस प्रकरण में इसी का विवेचन किया गया है।

है। इसका मूल कारण उनका घनत्व है। गर्म पानी का घनत्व ठंढे पानी से कम होता है, अत. जब गर्म पानी हौज़ मे डाला जाता है, तो यह ऊपर ही रह जाता है, किन्तु यदि उसमें ठढा पानी डाला जाय, तो वह एकदम पेंदे तक पहुँच जाता है। तेल पानी से भी हलका है, वह पानी के ऊपर तैरता है। गैसों का घनत्व बहुत-ही कम होता है, फिर भी विभिन्न गैसों के घनत्व में अन्तर है। हाइड्रोजन सब गैसों से हलकी है। गुब्बारे और ज़ैप्लीन में हाइड्रोजन ही भरी रहती है। इसी कारण ये आकाश में उड़ सकते हैं। लोहे की कील पानी में डूब जाती है, किन्तु लोहे का ही बना पीपा बड़े-बड़े पुलों का बोझा लिये तैरा करता है। यह सब घनत्व की ही करामात है।

नित्य के काम के लिए हमें भिन्न-भिन्न वस्तुओं के घनत्व की तुलना करने की भी आवश्यकता होती है। रुपया पानी में डूब जाता है, किन्तु पारे के हौज़ में वह आसानी से तैरता रहता है; क्योंकि चाँदी का घनत्व पानी के घनत्व से तो ज़्यादा, किन्तु पारे के घनत्व से कम है।

तुलना के लिए हम पानी की शरण लेते हैं, क्योंकि पानी सब कहीं मिल सकता है और अधिकाश ठोस तथा द्रव पदार्थों के घनत्व से पानी का घनत्व कम है। एक और बात यह है कि पानी का घनत्व फ्रेञ्च प्रणाली में १ ग्राम प्रति घन सेन्टीमीटर होता है। अत घनत्व की तुलना के लिए, पानी का घनत्व इकाई का काम देता है। पानी के घनत्व से अन्य पदार्थों का घनत्व कितने गुना ज्यादा या कम है, इस अनुपात को 'आपेक्षिक घनत्व' कहते हैं। अतएव आपेक्षिक घनत्व निरी संख्या होती है। इस संख्या के साथ पाउण्ड प्रति घनफ़ुट या ग्राम प्रति घन-सेन्टीमीटर की ज़रूरत नहीं, क्योंकि यह संख्या भिन्न-भिन्न चीजों के घनत्व के बीच का अनुपात बताती है। यह अनुपात सदैव एक-सा रहेगा, चाहे घनत्व ब्रिटिश प्रणाली से निकाला जाय या फ्रेञ्च (मेट्रिक) प्रणाली से।

किन्तु आपेक्षिक घनत्व सम्बन्धी प्रयोग करने के लिए पानी चुनने में विशेष सावधानी बरतनी पड़ती है। पानी में प्राय विजातीय वस्तुएँ घुली रहती हैं, जिसके कारण उसका घनत्व बढ़ जाता है मृत सागर (Dead sea) के पानी में नमक इतनी-अधिक मात्रा में घुला हुआ है कि उसमें नहानेवाले लोग जल्दी डूबते ही नहीं। वहाँ पानी का घनत्व इतना अधिक रहता है कि मनुष्य का शरीर निष्प्रयास ही उसकी सतह पर तैरा करता है। इसीलिए आपेक्षित घनत्व के लिए शुद्ध पानी लिया जाता है। फिर घनत्व पर तापक्रम का भी प्रभाव पड़ता है। गर्मी पाकर चीज़ें फैलती हैं, अत. वज़न तो वही रहता है, पर उनका आयतन बढ़ जाता है। इस तरह तापक्रम बढ़ने पर चीज़ों का घनत्व कम हो जाता है। पानी का भी यही हाल है। प्रयोग करने से हम जानते हैं कि पानी का घनत्व सबसे अधिक ४ डिग्री शताश ताप पर होता है। अत विभिन्न पदार्थों के घनत्व की तुलना के लिए इसी ताप का पानी लेते हैं। कुछ ठोस और द्रव पदार्थों का आपेक्षिक घनत्व निम्न प्रकार है—
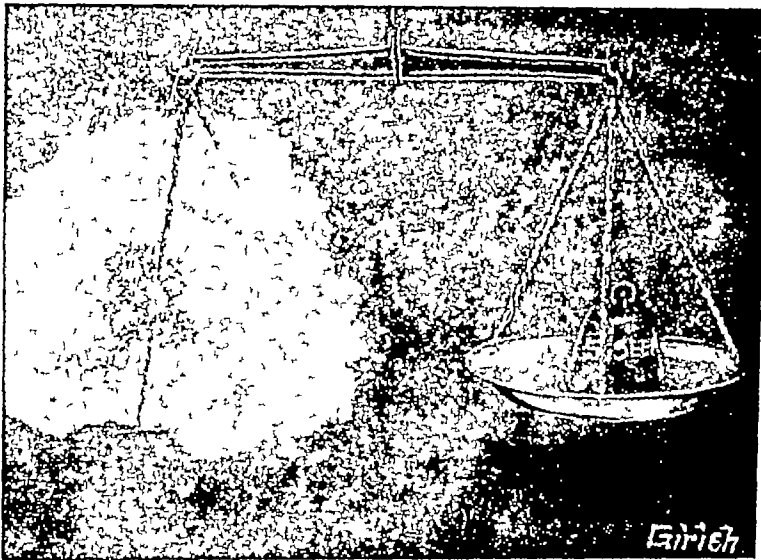
घनत्व और आयतन का संबंध

भिन्न घनत्ववाली दो वस्तुओं को यदि समान वज़न में लिया जाय तो उनका आयतन समान न होगा। इसका सबसे सरल उदाहरण रुई और उतने ही वज़न का लोहे का बटखरा है। समान वज़न के होकर भी घनत्व की असमानता के कारण दोनों के आयतन में कितना अंतर है।

ठोस पदार्थ		द्रव पदार्थ	
प्लैटिनम	२२·०	पारा	१३.६
सोना	१६·३	रुधिर	१·०६
सीसा	११·४	दूध	१·०३
चांदी	१०·४	समुद्र का जल	१·०२
लोहा	७·२	टर्पेन्टाइन	०·८७
बर्फ	०·६	अल्कोहॉल	०·७६
कार्क	०·२		
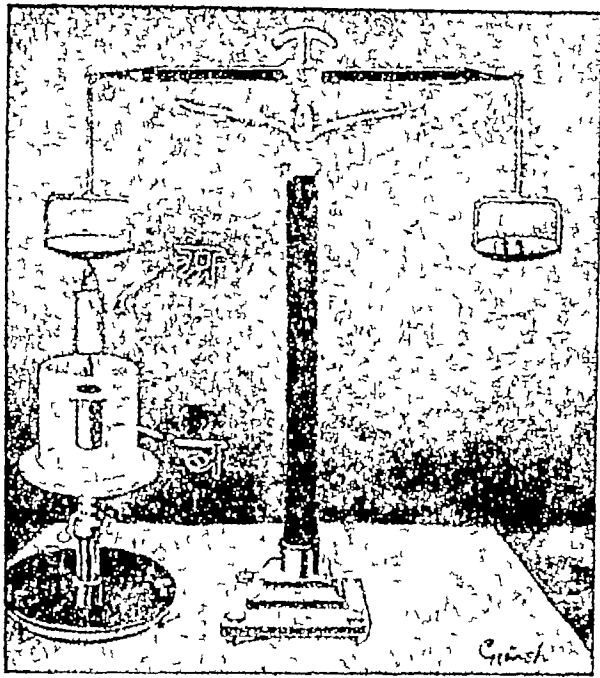
अर्कमिदीज़ के सिद्धान्त का प्रयोग

इस विशेष प्रकार की तराजू में एक पलरे में बटखरे रखे जाते हैं और दूसरे में एक के नीचे दूसरा इस तरह दो धातु-दण्ड लटकते रहते हैं। इनमें से ऊपर का दण्ड 'अ' खोखला होता है और नीचे का 'ब' ठोस। 'ब' का आकार ऐसा होता है कि वह 'अ' में ठीक समा जाय। पहले ये दोनों दण्ड ख़ाली हवा में एक साथ बटखरों से तौल लिये जाते हैं। इसके बाद एक जल-भरे पात्र को नीचे लाकर नीचेवाला दण्ड उसमें पूरा डुबो दिया जाता है। ऐसा करने पर उसका वज़न मानो घट जाता है, क्योंकि पलरा ऊपर उठने लगता है। तब ऊपर के खोखले दण्ड में पानी भरकर फिर तराजू का तौल ठीक किया जाता है। इससे यह ज्ञात हो जाता है कि पानी में डुबाने पर नीचे के दण्ड का जितना वज़न घटा, वह ऊपर के दण्ड में भरे गये पानी अर्थात् डूबी हुई वस्तु के आयतन के बराबर के पानी के वज़न के बराबर था।

किन्तु कुछ अनियमित आकार की नन्हीं वस्तुएँ (जैसे अँगूठी) भी होती हैं, जो न घनत्ववाली बोतल में आ सकती हैं, न नापने के गिलास में ही पानी की सतह को अधिक ऊँचा उठा सकती हैं। इनका आपेक्षिक घनत्व निकालने के लिए अर्कमिदीज़ के सिद्धान्त की सहायता ली जाती है। अर्कमिदीज़ की कहानी भी बड़ी विचित्र है। लगभग २२० ई० पूर्व सीराक्यूज़ के राजा हीरो ने मुकुट बनाने के लिए एक सुनार को सोना दिया। जब मुकुट बनकर आया, तो राजा को सन्देह हुआ कि सुनार ने कुछ सोना चुरा लिया है, और उसकी जगह कोई दूसरी सस्ती धातु मिला दी है। किन्तु मुकुट का वज़न दिये हुए सोने के बराबर ही था। इसलिए चोरी फ़ौरन् पकड़ी न जा सकी। निदान राजा ने अर्कमिदीज़ को यह पता लगाने का भार दिया कि सुनार ने सचमुच राजा को ठगा है या नहीं। किन्तु साथ-ही-साथ शर्त थी कि मुकुट किसी प्रकार ख़राब न होने पाये। अर्कमिदीज़ बड़ी देर तक सोचता रहा कि इस टेढ़ी समस्या को कैसे हल करें। दूसरे दिन स्नान करने के लिए तत्कालीन प्यालेनुमा टब में वह उतरा। टब में पानी लबालब भरा हुआ था। जब वह उसमे घुसा तो कुछ पानी फ़र्श पर गिर गया। किन्तु अब भी पानी टब के मुँहामुँह था। जब वह बाहर आया तो पानी की सतह बहुत नीचे चली गयी। फ़ौरन् मानो उसके दिल में प्रेरणा हुई कि ठीक उतना ही पानी टब से बाहर गिरा है, जितना उसके शरीर का आयतन था। साथ ही उसने यह भी देखा कि पानी में घुसते समय उसे ऐसा लगा था, मानो उसे नीचे से ऊपर की ओर कोई उछाल रहा है। पानी में उसका वज़न कुछ हलका पड़ गया था। उसने देखा कि इस नई जानकारी की मदद से तो वह मुकुटवाली समस्या भी हल कर सकता है। बस, ख़ुशी में पागल होकर वह बिना कपड़ा वग़ैरह पहने ही राजा के पास नङ्गा दौड़ा गया! रास्ते भर वह चिल्लाता जा रहा था—"युरेका, युरेका (अर्थात् मैंने जान लिया, मैंने जान लिया)।"
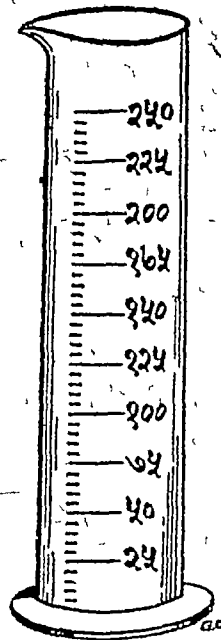
'ग्रेजुएटेड जार' या नापने का गिलास

उसने एक चाँदी की और दूसरी सोने की ईंट बनवाई। दोनों का वज़न ठीक मुकुट के बराबर रक्खा। तब एक चौड़े मुँह के बर्तन में उसने लबालब पानी भरा और तीनों को उसमें बारी-बारी से डाला। इस प्रयोग में मुकुट के कारण जितना पानी बाहर गिरा, उसका आयतन चाँदी की ईंट द्वारा स्थानान्तरित हुए पानी के आयतन से तो ज्यादा था, किन्तु सोने की ईंट द्वारा स्थानान्तरित हुए पानी के आयतन से कम। फ़ौरन् उसने इस बात की घोषणा की कि मुकुट विशुद्ध सोने का नहीं बना है। तदुपरान्त बड़े मनोयोगपूर्वक काम करके उसने सिद्ध किया कि जब किसी ठोस पदार्थ का कुल या थोड़ा सा हिस्सा
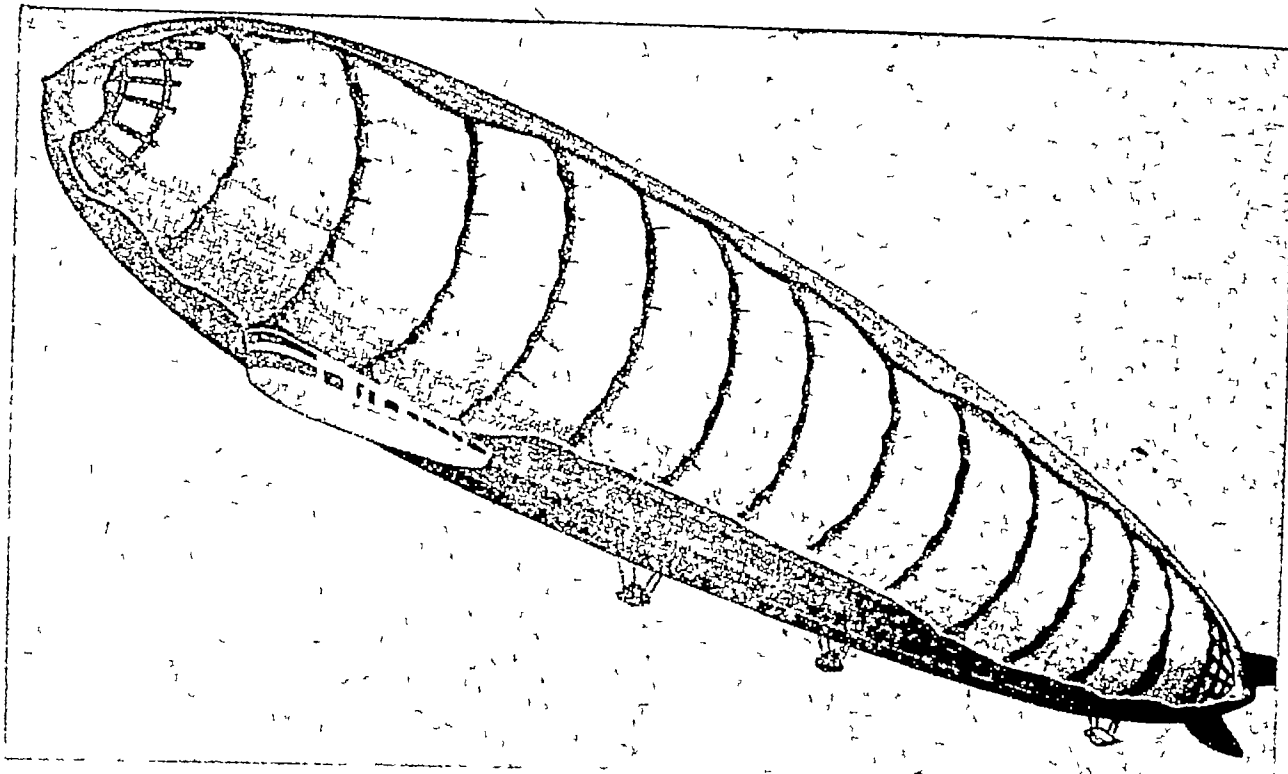
ज़ैप्लीन नामक बड़े-बड़े वायुपोत हाइड्रोजन ही से भरे जाते हैं। इन हवाई जहाज़ों का भार कई टन होने पर भी ये साबुन के बुलबुले की तरह आकाश में ऊँचे उठकर उडते हैं। इस चित्र में प्रसिद्ध 'ग्राफ़' ज़ैप्लीन के कलेवर के अंदर के हाइड्रोजन से भरे थैले दिखाये गये हैं।
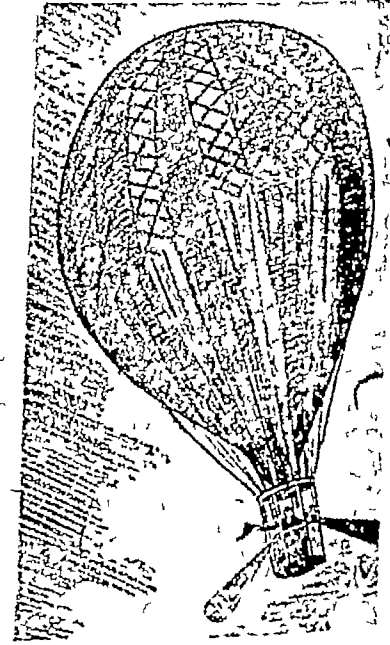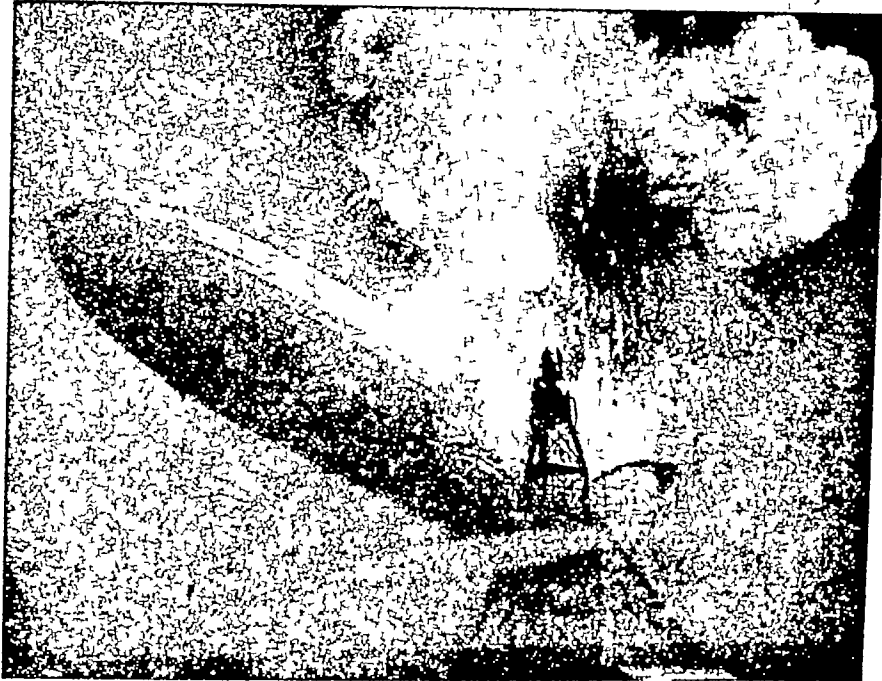
किंतु प्रज्वलनशील होने के कारण हाइड्रोजन का उपयोग खतरनाक है। प्रायः ह सुलगकर वायुपोतों को नष्ट कर देती है। इस अभागे वायुपोत की यह दशा कभी होती यदि हाइड्रोजन की जगह अप्रज्वलनशील 'हीलियम' गैस का उपयोग किया या होता।

बच्चों के गुब्बारों की तरह उड़ाकुओं के गुब्बारों में भी प्रायः हाइड्रोजन गैस ही भरी रहती है। यह हवा में उसी प्रकार तैरते-उतराते रहते हैं जैसे पानी में कार्क।

हाइड्रोजन के हलकेपन का मनुष्य द्वारा उपयोग

कार्कों के इधर-उधर से न निकल सके। निकास-नली का दूसरा सिरा एक गोल नाँद में 'बीहाइव शेल्फ' (beehive shelf) के नीचे डूबा रहता है। थिसिल कीप द्वारा तेज़ाब वुल्फ़ बोतल में डाला जाता है और थिसिल कीप को नीचे की ओर खिसकाकर उसका निचला सिरा तेज़ाब में डुबा दिया जाता है, ताकि उससे होकर गैस न निकल सके। तेज़ाब डालते ही तेज़ी से गैस के बुलबुलों का निकलना शुरू हो जाता है। निकासनली द्वारा पहले हवा और फिर कुछ देर तक हवा-मिश्रित गैस निकलती है, किंतु यह मिश्रण विस्फोटक होने के कारण इकट्ठा नहीं किया जाता। गैस के बनते समय कोई जलती हुई वस्तु निकट न रखना चाहिए, नहीं तो उपकरणपात्रों के भीतर, यदि हाइड्रोजन वायु मिश्रित हुई तो खतरनाक विस्फोटन की संभावना रहती है। कुछ देर में सारी हवा बुलबुलों के रूप में बाहर निकल जाती है और शुद्ध हाइड्रोजन गैस आने लगती

में रहता है, किंतु सूर्य तथा अन्य नक्षत्रों में अधिक परिमाण में है (देखिए पृष्ठ २ पर सूर्य के हाइड्रोजन के बादलों का चित्र)।

स्कूल अथवा घरेलू प्रयोगशाला में हाइड्रोजन गैस कई रीतियों से तैयार की जा सकती है। सबसे सरल रीति में साधारण ग्रेनुलेटेड जस्ते (granulated zinc) पर हलके गंधकाम्ल की क्रिया का उपयोग किया जाता है। ग्रेनुलेटेड जस्ता पिघले हुए जस्ते को पानी में छोड़कर बनाया जाता है जिससे वह टेढ़े-मेढे पत्तुरों के रूप का हो जाता है। ऐसा होने से उसका तल बढ़ जाता है और गंधकाम्ल की क्रिया, क्रिया-क्षेत्र बढ़ जाने के कारण, अधिक तीव्र हो जाती है। शुद्ध जस्ते पर अथवा ऐसे जस्ते पर जो ग्रेनुलेटेड न हो, गंधकाम्ल की क्रिया नहीं के बराबर होती है। कुछ ग्रेनुलेटेड जस्ता एक वुल्फ बोतल (Woulfe's bottle) में रक्खा जाता है। बोतल के एक मुँह में एक एक छेदवाले कार्क द्वारा थिसिल कीप (thistle funnel) लगा दी जाती है और दूसरे मुँह में उसी तरह एक निकास-नली लगा दी जाती है। दोनों कार्कों को इस प्रकार दृढ़ता से लगाना चाहिए कि गैस

प्रयोगशाला में हाइड्रोजन तैयार करने की रीतियाँ (१)
(ऊपर) ग्रेनुलेटेड जस्ते पर हलके गंधकाम्ल का प्रयोग; (बीच में) पानी का वैद्युत विश्लेषण, (नीचे) सोडियम पर जल की प्रतिक्रिया।

प्रतीक Zn है। इसलिए पूरी क्रिया निम्न रासायनिक समीकरण द्वारा स्पष्ट की जाती है—

$$Zn \times H_2SO_4 = ZnSO_4 \times H_2$$
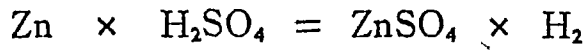
यशद गंधकाम्ल यशद सल्फेट (जो पानी में घुल जाता है) हाइड्रोजन गैस (जो निकल जाती है)

हाइड्रोजन गैस के बनाने की एक दूसरी रीति को 'पानी का वैद्युत् विश्लेषण' कहते हैं। प्रयोगशाला में पानी का वैद्युत् विश्लेषण निम्न रीति से किया जा सकता है। एक शीशे के पात्र में अलग अलग प्लैटिनम धातु के दो पत्र लगे रहते हैं। पानी को बिजली का संचालक बनाने के लिए उसमें थोड़ा-सा गंधक का तेज़ाब मिला दिया जाता है और दोनों प्लैटिनम-पत्रों के ऊपर उसी तेज़ाबी पानी से भरी हुई दो नलियाँ (अथवा गैस जार) उलट दिये जाते हैं। प्लैटिनम इसलिए उपयुक्त होता है कि उस पर तेज़ाब आदि का असर नहीं पड़ता। प्लैटिनम पत्रों को तारों द्वारा बैटरी के दोनों शिरों से सबंधित करने पर तुरंत दोनों नलियों में उन परसे बुलबुले उठने लगते हैं। थोड़ी ही देर में पर्याप्त गैस भर जाती है। ऋणध्रुव (negative electrode) पर निकलनेवाली गैस का आयतन धनध्रुव (positive electrode) पर निकलनेवाली गैस के आयतन से दुगुना होता है। परीक्षा करने पर अधिक आयतनवाली गैस हाइड्रोजन पाई जाती है और कम आयतनवाली ऑक्सिजन। हाइड्रोजन जलाने से जल उठती है और ऑक्सिजन एक सुलगती हुई खिपाच अथवा दियासलाई को भक से जला देती है। इस प्रयोग में जो मूल तत्त्व जिस आयतन-संबंधी अनुपात में संयुक्त होकर पानी बनाते हैं, उसी अनुपात में वे निकल पड़ते हैं। जहाँ बिजली सस्ती होती है, वहाँ हाइड्रोजन को अधिक परिमाण में तैयार करने यह एक सुगम रीति है।

हाइड्रोजन संबंधी दो प्रयोग

नं० १–हाइड्रोजन स्वयँ जलती है किंतु दूसरी वस्तुएँ उसमें नहीं जलतीं (देखिए पृष्ठ २७१ का मैटर)। नं० २–हाइड्रोजन-ऑक्सीजन के मिश्रण द्वारा विस्फोटन (देखिए पृष्ठ २७५ का मैटर)

हाइड्रोजन बनाने की एक अन्य रीति में गर्म दहकते हुए लोहे के बुरादे के ऊपर से भाफ़ प्रवाहित की जाती है। उस तापक्रम पर लोहा पानी की ऑक्सिजन से मिलकर अपनी काली चुंबकीय ऑक्साइड में परिवर्तित हो जाता है और बची हुई हाइड्रोजन स्वतंत्र मूल तत्त्व के रूप में बाहर निकल जाती है। लोहे के सस्ता होने के कारण यह रीति बहुधा हाइड्रोजन को अधिक परिमाण में बनाने के लिए उपयुक्त होती है। केवल लोहा ही नहीं मैग्नेशियम और जस्ता भी इन दशाओं में इसी प्रकार पानी से हाइड्रोजन को मुक्त कर देते हैं। सोडियम धातु तो ठंढे पानी को ही विच्छेदित कर देती है। यदि हम एक जालीदार बंद चमची में सोडियम का एक छोटा-सा टुकड़ा लें और उसे जलपात्र में पानी से भरे जार के नीचे डुबो दें, तो हाइड्रोजन बुलबुलों के रूप में निकलकर जार में इकट्ठा हो जाती है।

हाइड्रोजन गैस एक रंगहीन, गंधहीन, स्वादहीन, अदृश्य गैस होती है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, संसार की सबसे हलकी वस्तु यही है। हवा से यह लगभग पंद्रह गुनी अधिक हलकी होती है। बहुत ही अधिक ठंढा करने पर और भारी दबाव में हाइड्रोजन द्रवीभूत हो जाती है तथा और भी अधिक ठण्ढा करने पर ठोस में परिवर्तित हो जाती है। तरल हाइड्रोजन एक रंगहीन द्रव होता है, जिसका क्वथनांक –२५३°C और हिमांक –२५९° है (देखो पृष्ठ २७५ का चित्र)। हाइड्रोजन का एक अणु उसके दो परमाणुओं के संयोग से बनता है। इसीलिए हाइड्रोजन गैस का अणु सूत्र H_2 लिखा जाता है।

अगर हम गैस से भरे एक जार को सीधा रखकर उसे खोलें और तुरंत जलती हुई चीज़ उसके मुँह पर ले जायँ तो गैस, यदि वह हवा से मिश्रित नहीं है, धीमी 'पप' की आवाज़ करके एक हलके आसमानी रंग की लौ के साथ जल उठेगी। किन्तु, यदि गैस हवा या ऑक्सिजन से मिल

कर लटका दिया जाय और उसका एक सिरा एक सुलगती हुई वस्तु से सुलगाकर गुब्बारा उड़ा दिया जाय, तो थोड़ी देर में उड़ता हुआ गुब्बारा जल उठेगा और एक मनोरंजक दृश्य उपस्थित करेगा।

एक दूसरा मनोरंजक प्रयोग साबुन के बुलबुलों का उड़ाना है। इसके लिये निम्न रीति से तैयार किया गया साबुन का घोल बहुत ही उपयुक्त पाया गया है। ४०० c.c. स्रवित जल (distilled water) में १० ग्राम सोडियम ओलिएट (साबुन का एक अवयव) छोड़कर एक बंद बोतल में तब तक रक्खा रहने दीजिए जब तक वह घुल न जाय। इसमें १०० c. c. ग्लिसरीन छोड़कर किसी अँधेरी जगह में कुछ दिन के लिए छोड़ दीजिये, फिर ऊपर का साफ़ घोल निथारकर उसमें एक बूंद तेज़ अमोनिया छोड़ दीजिये। हवा में खुला न छोड़ने और अँधेरी जगह में रखने से यह घोल बरसों काम दे सकता है। साबुन के बुलबुलों को बनाने के लिये एक थिसल कीप के पतले सिरे को रबर की नली के द्वारा किप अपरेटस अथवा किसी अन्य हाइड्रोजन अपरेटस से जोड़ दीजिये और कीप को उपर्युक्त साबुन के घोल में डुबा दीजिये। जैसे ही बुलबुला बनने लगे, वैसे ही कीप को ऊपर उठा देने से बुलबुला बन जायगा और अलग होकर उड़ जायगा। यह उड़ते हुये बुलबुले सावधानी से जलाने पर जल उठते हैं।

हाइड्रोजन और हवा के घनत्व में अत्यधिक विभिन्नता होने के कारण उनकी प्रकाश-सम्बन्धी वर्त्तन शक्तियों (refractive powers) में भी बहुत अन्तर होता है। इसीलिये वायु में मिश्रित होती हुई हाइड्रोजन पारदर्शक होते हुए भी तीव्र प्रकाश में अपनी छाया डालती है। हाइड्रोजन अपरेटस के मुंह में लगी हुई किसी पतली टोंटी (jet) को, जिससे हाइड्रोजन निकल रही हो, किसी श्वेत तल के समक्ष रखकर यदि सामने से कोई तीव्र प्रकाश डाला जाय, तो यह छाया देखी जा सकती है।

हाइड्रोजन, इतनी हलकी होने के कारण, गुब्बारों तथा वायुयानों को भरने में उपयुक्त होती है, लेकिन प्रज्वलनशील होने के कारण इसका उपयोग ख़तरनाक साबित हुआ है। इसलिए आजकल वायुयानों में हाइड्रोजन की जगह पर इसके बाद वाली दूसरी सबसे हल्की गैस हीलियम (helium) का उपयोग होने लगा है। हीलियम में रासायनिक क्रियाशीलता होती ही नहीं, अतएव न वह जल ही सकती है और न उसमें और ही कोई रासायनिक परिवर्तन संभव है। हाइड्रोजन का एक अन्य उपयोग 'ऑक्सी-हाइड्रोजन ज्वालशिखा' (oxy-hydrogen flame) के उत्पादन में होता है। इस ज्वालशिखा का तापक्रम लगभग २८००°C होता है और यह इतनी गर्म होती है कि अधिकतर धातुएँ इससे जोड़ी, गलाई, अथवा छिद्रित की जा सकती हैं और इसी कार्य के लिए इसका उपयोग भी होता है। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, धातव ऑक्साइडों के अवकरण में भी हाइड्रोजन का उपयोग होता है। हाइड्रोजन का एक अन्य आधुनिक उपयोग वनस्पति तेलों को वनस्पति घी में परिवर्तित करने का है। निकल (nickel) धातु के महीन चूर्ण की उपस्थिति में जब हाइड्रोजन गैस वनस्पति तेलों में से गुज़ारी जाती है, तो तेल इससे संयुक्त होकर घी के रूप में परिणत हो जाते हैं। निकल चूर्ण इस संयोग को केवल संभव कर देता है और इस क्रिया की गति को बढ़ाता है, किंतु स्वयं परिवर्तित नहीं होता। ऐसे पदार्थों को योगवाही पदार्थ (catalysts) कहते हैं।

आक्सी-हाइड्रोजन ज्वालशिखा

इस चित्र में आक्सी-हाइड्रोजन ज्वाल-शिखा द्वारा लोहे की एक गर्डर को काटते हुए दिखाया गया है। यंत्र में दो नलियाँ हैं, जो मुँह पर मिलकर एक हो जाती हैं। एक नली से हाइड्रोजन और दूसरी से आक्सिजन गैस आती है दोनो का मिश्रण टोंटी से निकलता है। जब वह सुलगा दिया जाता है तब भीषण लौ पैदा हो जाती है।

संप्रश्न[5]

खड़ा कर दिया है, जिनका अवलोकन कर प्राचीन देवों का स्मरण हो आता है। परन्तु विश्व का रहस्य कहीं इन सबके पीछे छिपा हुआ है। और जिस प्रकार ऋग्वेद के ऋषि ने कहा है कि देवगण बाद में जनमे हैं अतएव उन्हें कर्त्ता के आद्य रहस्य का ज्ञान नहीं, उसी प्रकार हम भी कह सकते हैं कि आधुनिक विज्ञान के ये 'अर्वाचीन देवता' शक्ति के आद्य कारण का पता लगाने में बिल्कुल अशक्त हैं—

न तं विदाथ य इमा जजान। [ऋ० १०।८२।७]

'वे उसे नहीं जानते जिसने इन सबको उत्पन्न किया है।' विज्ञान के चमत्कार स्तुत्य हैं, परन्तु **किं, कथं, कुतः** इन मौलिक प्रश्नों की उद्भावना जहाँ पहले थी, आज भी वहीं है। 'कस्मै देवाय हविषा विधेम' का काव्यमय संगीत आज भी अमर है और नये अर्थों से भरा हुआ है।

दर्शन के उषःकाल में जब भारतवर्ष के ऋषियों ने इस प्रकार अपने अनुभवों को व्यक्त किया था, उसके बाद से आज तक विश्वनियन्ता के रहस्य के विषय में हम क्या जान सके हैं? मेटरलिंक ने The Supreme Law नामक अपने ग्रंथ में प्राचीन और नवीन दोनों की तुलना करते हुए लिखा है—

What have we found out since? 'Something is doing something we do not what,' writes Eddington. Is not this *nescio quid,* which is the last word of our science but a faint and vulgar echo of the magnificent a vowal of the Sama Veda saying of the supreme Deity' He who believes he knows it not knows it; he who believes he knows it knows it not at all. It is regarded as incomprehensible by those who know it most, and as perfectly known by those who are utterly ignorant of it." [p 66]

अर्थात् "तब से हमारे ज्ञान ने क्या प्रगति की है? एडिंगटन का वचन है 'कहीं पर कोई कुछ कर रहा है।' परन्तु क्या विज्ञान की यह अन्तिम स्वीकृति कि 'हमें कुछ नहीं मालूम' इन महान् ओजस्वी वचनों की, जिन्हें सामवेद के ऋषि ने परब्रह्म के विषय में कहा है, एक अति तुच्छ और बोदी प्रतिध्वनि जैसी नहीं जान पड़ती—

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्॥

[सामवेदीय केन उपनिषद्]

अर्थात् जो मानता है कि मैं ब्रह्म को नहीं जानता, वह उसे जानता है; और जो यह मानता है कि मैं जानता हूँ, वह नहीं जानता। जो उसके जाननेवाले हैं, वे उसे अनजाना हुआ समझते हैं, और जो कुछ नहीं जानते, वे समझते हैं कि हमने ब्रह्म को सर्वथा जान लिया।"

ब्रह्म या अन्तिम रहस्यात्मक तत्त्व की यही अनिर्वचनीयता है, जिसके कारण उसके आगे सदा के लिए एक दुर्धर्ष प्रश्नवाची चिह्न लगा हुआ है*। इसी से मुग्ध होकर ऋग्वेद के ऋषि ने उस रहस्य का एक नाम संप्रश्न कहा है। यह ऐसा विराट् प्रश्न है, जिसकी कुक्षि में विश्व का समस्त ज्ञान समाया हुआ है, जो भूतभुवनभविष्यत् से गर्भित होकर भी अनन्त अवकाश को लिये हुए है।

यो देवानां नामधा एक एव
तं संप्रश्नं भुवना यन्त्यन्या। [ऋ० १०।८२।३]

अर्थात् अनेक देवों के नामों के पीछे जो एक ही समाविष्ट है, उस 'संप्रश्न' नामक देव में सब भुवनों का पर्यवसान है।

क्या यह कभी सम्भव है कि इस प्रकार के रहस्यमय देव ने जिस रहस्यमय जगत् को उत्पन्न किया है, उसके एक परमाणु का भी सम्पूर्ण रहस्य हमें कभी मिल पायगा? मेटरलिंक ने कहा है कि मैं अपने शत्रु के लिए भी इस प्रकार की कामना न करूँगा कि उसे ऐसे संसार में रहना पड़े, जिसके एक अणु का भी सारा भेद खुल गया हो। फिर वहाँ मनुष्य के लिए कुतूहल और आनन्द का क्या सामान बच रहेगा! अपनी समस्त तर्कणाशक्ति, बुद्धि, धैर्ययुक्त परिश्रम और आविष्कृत वैज्ञानिक साधनों से निरन्तर अध्ययन के बाद भी हमारा ज्ञान अधिकाधिक **अ+ज्ञान** में परिणत हो रहा है। जितना हम प्रकाश को ढूँढते हैं, हमारे परिचय का अभाव उतना ही अधिक हमें खटकता है। क्या मनुष्य के प्रयत्नों का पर्यवसान इसीलिए है? परन्तु इससे हम निराश न हों। 'संप्रश्न' के साथ टक्कर मारकर जिस अज्ञान की अनुभूति होती है, वह उस थोथे पाण्डित्य से भली है, जिसमें जिज्ञासा और संशय का उदय ही नहीं होता। उस रहस्य को जानने की जो सनातनी पद्धति है, उससे कम-से-कम उस तत्त्व का माहात्म्य तो प्रकट होता ही है:—

प्रभु प्रताप महिमा उद्घाटी। प्रगटी धनु-विघटन परिपाटी।

उस अज्ञेय रहस्य-रूपी शिवधनु के विघटन के लिए एक के बाद एक होनेवाले असफल प्रयत्न, उस शक्ति की अनन्त और अचिन्त्य महिमा को अवश्य व्यक्त करते हैं। 'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्'—मैं उस महान् पुरुष को जानता हूँ, इस प्रकार कह सकनेवाले विरले धीर पुरुष ही उस कठोर संप्रश्न-रूपी पिनाक को अधिज्य करने में समर्थ हो पाते हैं।

---

*'A confession where God becomes a mark of interrogation in the darkness'—*The Supreme Law,* p. 67.

पृथ्वी
की कहानी
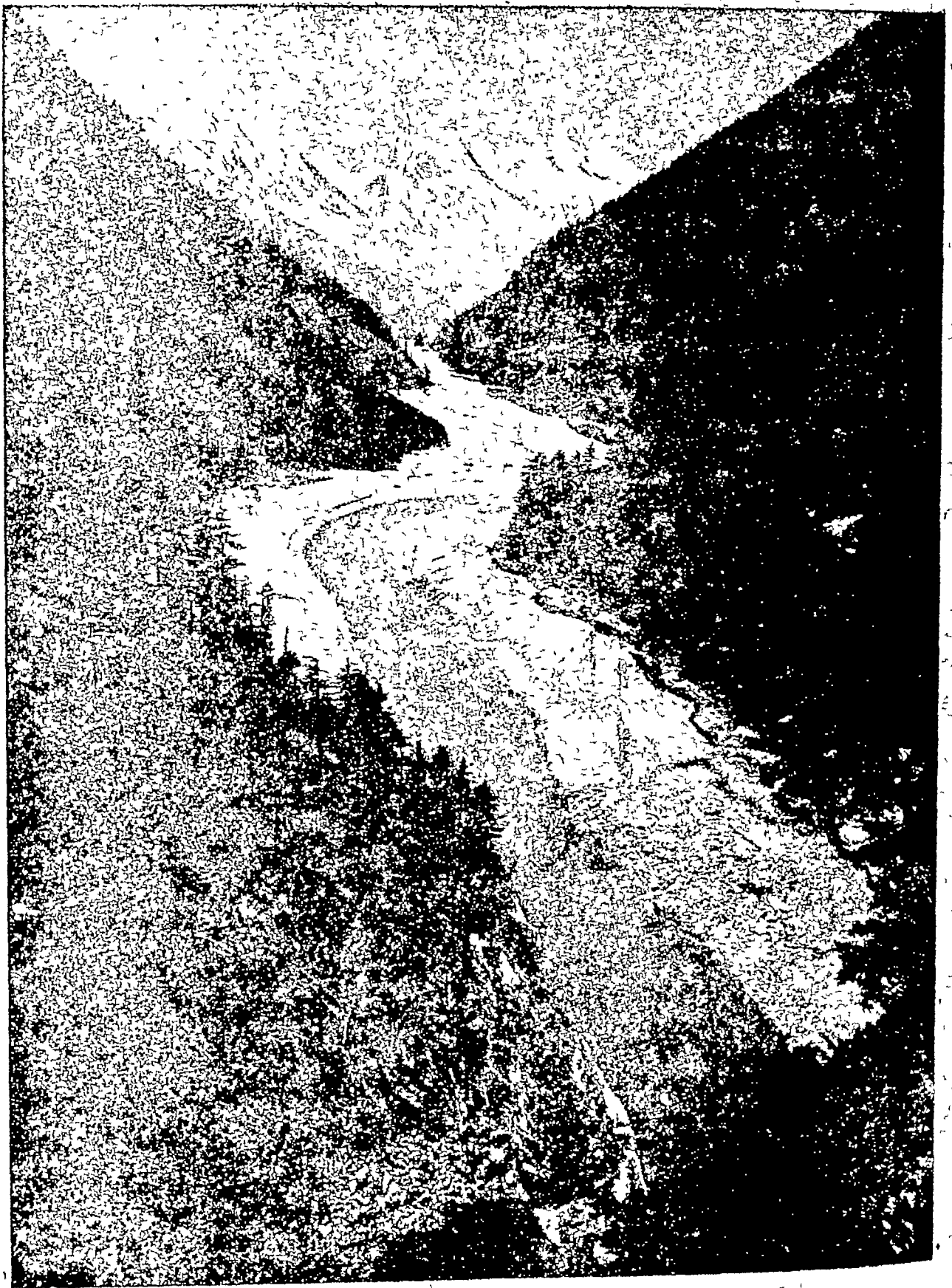
धरातल का निरंतर उलट-फेर करनेवाली शक्तियों का एक प्रत्यक्ष उदाहरण

बड़ी-बड़ी नदियाँ हिमाच्छादित पर्वतों से उतरकर पर्वत-खण्डों को काटती और शिलाओं को बहाती तथा चूर-चूर करती हुई उनकी मिट्टी को बहा-बहाकर समुद्र के तट-भाग को पाटती रहती हैं। इस चित्र में हिमालय से उतरती हुई गंगा नदी का एक दृश्य है।

धरातल के परिवर्त्तन में समुद्र का क्रान्तिकारी प्रभाव

समुद्र लहरों के द्वारा लगातार तट की भूमि को काट-काटकर अपना विस्तार बढ़ाने में प्रयत्नशील रहता है। इस चित्र में प्रदर्शित पानी के बीच के भूखण्ड समुद्र की इसी क्रिया के फलस्वरूप मुख्य भूभाग से अलग होगए हैं।

उत्पत्ति और विनाश, मूंगे आदि का जन्म, टापुओं का बनना आदि-आदि हजारों घटनाएँ ऐसी हैं, जो हमारे लिए यद्यपि साधारण हैं तथापि इनका भूतत्त्विक प्रभाव अत्यन्त गम्भीर है।

पृथ्वी पर होनेवाली दूसरे प्रकार की घटनाएँ वे हैं, जिन्हें हम 'आकस्मिक घटनाओं' के नाम से पुकार सकते हैं। इस श्रेणी के अन्तर्गत वे घटनाएँ आती हैं जो पृथ्वी पर कभी-कभी घटित होती हैं, और अपना गहरा प्रभाव सदैव के लिए छोड़ जाती हैं। भूकम्प, ज्वालामुखी का विस्फोट, भीषण तूफानों और आँधियों का आना आदि इसी श्रेणी की घटनाओं में सम्मिलित हैं।

तीसरी श्रेणी की घटनाएँ वे हैं, जिन्हें हम 'गुप्त घटनाओं' के नाम से पुकार सकते हैं। ये घटनाएं अधिकतर पृथ्वी और समुद्र के गर्भ में घटित होती हैं, और इसीलिए हम इन्हें देख सकने में असमर्थ हैं। परन्तु इनका प्रभाव इतना भीषण होता है कि उससे पृथ्वी के पिण्ड का रूप ही बदल जाता है। इन घटनाओं के प्रभाव से पृथ्वी पर समुद्र के स्थान में आकाशचुम्बी पर्वतों का उठ खड़ा होना और सूखी भूमि के स्थान पर गहरे जल-गर्त्त बन जाना साधारण-सी बात है।

इन तीनों प्रकार की घटनाओं के फलस्वरूप ही पृथ्वी पर निरन्तर परिवर्त्तन होते रहते हैं। ये परिवर्त्तन कई रूप में होते हैं। प्रथम प्रकार की घटनाओं का सब से महत्त्वपूर्ण

भूकंप द्वारा होनेवाले परिवर्त्तन का एक दृश्य

यह मुजफ्फरपुर के कलक्टर के बँगले की ज़मीन का दृश्य है, जो पिछले बिहार-भूकंप में ७ फ़िट नीचे धँस गई थी।

हिमानी या ग्लेशियर का रोमांचकारी दृश्य

यह हिमानी या ग्लेशियर क्या होता है ? बर्फीली शिलाओं का एक हहराता हुआ भीषण नद जो पर्वत-शिखरों से धीरे-धीरे खसकता हुआ नीचे की ओर बढ़ता जाता है और राह की कठोर शिलाओं को चकनाचूर करता या बहाता हुआ आगे बढ़कर गंगा जैसी विशाल नदी, में परिणत हो जाता है।

निर्माण, पर्वतों का छिन्न-भिन्न होना, वनस्पति की उत्पत्ति और चट्टानों का विध्वंस आदि सम्मिलित हैं।

जल की भाँति ही प्रथम श्रेणी की अन्य घटनाओं का भी प्रभाव पृथ्वी की रचना पर दो प्रकार का पड़ता है—प्रथम तो वर्तमान चिप्पड़ का विनाश और दूसरा चिप्पड़ के नये अवयवों का निर्माण। विनाश और निर्माण की क्रिया निरन्तर साथ-साथ चलती रहती है। जब हम इन घटनाओं के विनाशकारी प्रभाव का अध्ययन करते हैं, तब उनके निर्माणकारी प्रभाव का भी ध्यान रखना पड़ता है।

दूसरी श्रेणी की घटनाएँ जिन्हें हम 'आकस्मिक घटनाओं' के नाम से पुकार चुके हैं, वास्तव में तीसरी श्रेणी की घटनाओं अर्थात् 'गुप्त घटनाओं' के प्रत्यक्ष रूप हैं। गुप्त घटनाएँ पृथ्वी और समुद्रों के गर्भ में होती हैं, परन्तु आकस्मिक घटनाएँ पृथ्वी के ऊपर दिखाई पड़ती हैं। कोई दिन ऐसा नहीं जाता, जिस दिन पृथ्वी के किसी-न-किसी भाग में भूकम्प का धक्का न लगता हो। भूकम्प कैसे और क्यों आते हैं, इसका वर्णन हम आगे विस्तार-पूर्वक करेंगे। भूकम्प और ज्वालामुखी द्वारा पृथ्वी पर कैसे-कैसे अनर्थ होते हैं, इसको प्रत्येक मनुष्य जानता है। इन घटनाओं के फलस्वरूप पृथ्वी की रचना में भी महान् परिवर्त्तन हो जाते हैं। नदियों के मार्ग बदल जाना, भूमि का नीचा-ऊँचा हो जाना, समुद्र के स्थान पर सूखा देश और पहाड़ों के स्थान पर सागर हो जाना, आदि परिवर्त्तन इन्हीं घटनाओं के फलस्वरूप होते हैं।

गुप्त रूप से होनेवाली घटनाएँ पृथ्वी की रचना में क्रान्ति उत्पन्न करती हैं। ये घटनाएँ अदृश्य हैं, परन्तु इनका प्रभाव महान् है। इनमें भी हम तीन श्रेणी बना सकते हैं। एक तो वे जिनके फलस्वरूप ज्वालामुखी भड़कते हैं, भूचाल आते हैं और पृथ्वी के गर्भ से आग्नेय शिलाखण्डों की उत्पत्ति होती है। पृथ्वी के गर्भ से निकलनेवाली खनिज सम्पत्ति इन्हीं के फलस्वरूप जन्म लेती है।

गुप्त घटनाओं की दूसरी श्रेणी वह है, जो पृथ्वी की रचना में भूमि और सागरतल को नीचा-ऊँचा दायें-बायें उठाती-बैठाती और हटाती रहती हैं। इस क्रिया का नाम डायस्ट्राफ़िज़्म (Diastrophism) है। इस क्रिया का परिणाम हमें पृथ्वी की रचना के इतिहास में कई स्थलों पर दिखाई पड़ता है। पृथ्वी की रचना का इतिहास बताता है कि लगभग सभी महाद्वीप (भूमिखण्ड) एक न एक

के साथ जुड़े हुए नहीं हैं और न उसके कारण ये टिके हैं। वरन् ये भाग पृथ्वी के चिप्पड़ के नीचे के पदार्थ पर उसी प्रकार तैरते हैं, जैसे शहद में मक्खी। चिप्पड़ के नीचे का पदार्थ इस्पात की भाँति कठोर है तथापि भूगर्भ की क्रियाओं के फलस्वरूप उसको भी विचलित होना पड़ता है।

इस सिद्धान्त के अनुसार पर्वतों के नीचे का पदार्थ समुद्रतल के नीचे के पदार्थ की अपेक्षा हलका है। भूतल के नीचे ४० मील की गहराई के ऊपरवाले समान क्षेत्रफल के भूखण्डों का भार बराबर है, चाहे ऊँचाई-नीचाई में उनमें सहस्रों मील का अन्तर हो। पृथ्वी पर भूखण्ड के दो पड़ोसी टुकड़ों में एक पर विशाल पर्वत खड़ा हो और दूसरे में गहरी खाई हो, पर यदि दोनों बराबर क्षेत्रफल के टुकड़ों पर बने हैं, तो उनका भार समान होगा, यही आईसास्टेसी का सिद्धान्त है।

'समतुलन' के सिद्धान्त से भूखण्डों का नीचे-ऊपर बैठना-उठना तथा सागर के स्थान में पर्वतों का निकलना हमारी समझ में बड़ी सरलता से आ जायगा। पृथ्वी का जो भाग घिस-घिसकर हलका हो जायेगा, वह ऊपर उठता जायगा और जहाँ पर सदैव पृथ्वी के चिप्पड़ की छीलन जमा होगी, वह भारी होकर नीचे बैठ जायगा। यही कारण है कि समुद्र में ठोस पदार्थों का करोड़ों मन बोझा महीन छीलन के रूप के जाकर नित्य जमा होता है, तथापि वह भरने में नहीं आता। जो पदार्थ उसकी तलहटी में जमा होते हैं, वे अपने भार से तलहटी को नीचे दबाते जाते हैं। इसी सिद्धान्त के बल पर वैज्ञानिकों का कथन है कि हिमालय पर्वत आज भी ऊपर उठ रहा है। प्रकृति के दूत यद्यपि पर्वतों को नित्य काट-काटकर छोटा करने में व्यस्त रहते हैं तथापि वे हलके होकर ऊपर ही उठते जाते हैं।

ऊपर हमने पृथ्वी पर होनेवाली निरन्तर घटनाओं और उनके प्रभाव से पृथ्वी की रचना में होनेवाले परिवर्तनों की ओर अपने पाठकों का ध्यान दिलाया है। यहाँ न हमने उन घटनाओं का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है, और न यह दिखाने की चेष्टा की है कि किस प्रकार ये घटनाएँ परिवर्तन उत्पन्न करती हैं। वास्तव में प्रत्येक क्रिया पृथ्वी के प्रत्येक भाग में एक ही-सा प्रभाव नहीं उत्पन्न करती। इसका कारण पृथ्वी के चिप्पड़ के विभिन्न भागों की बनावट की विभिन्नता है। इसलिए विभिन्न क्रियाओं के प्रभाव को समझने के लिए आवश्यक है कि पृथ्वी के चिप्पड़ की बनावट को हम समझ लें। अगले अध्याय में पृथ्वी के चिप्पड़ की बनावट का अध्ययन करने की चेष्टा की जायगी।
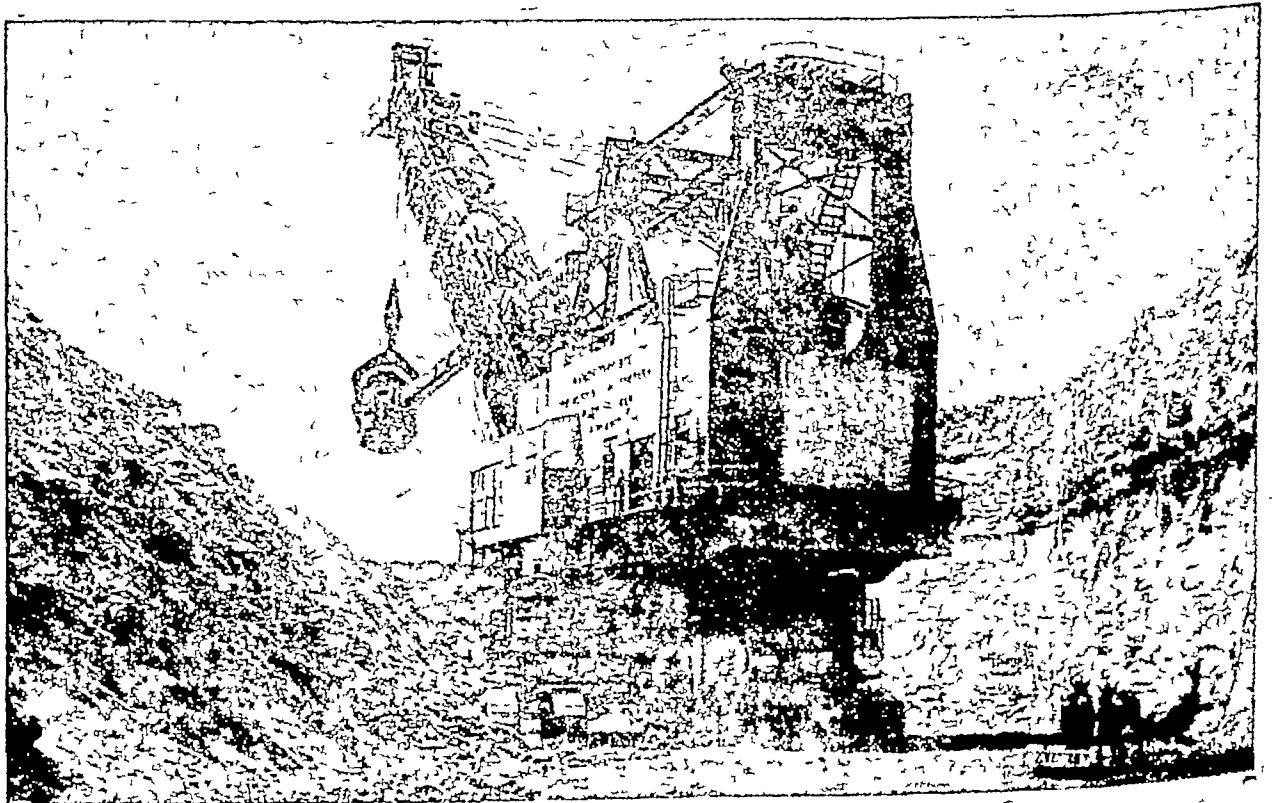
खानों की खुदाई, नहरों की रचना, सड़कों का निर्माण आदि द्वारा धरातल के परिवर्तन में मनुष्य का हाथ।

पृथ्वी का परिभ्रमण

पिछले परिच्छेद में हम इस बात को जान चुके हैं कि पृथ्वी गोल है। इस प्रकरण में यह बताया जाता है कि वह स्थिर नहीं है, बल्कि लट्टू की तरह अपनी धुरी पर घूमते हुए नियत कक्षा में सूर्य की परिक्रमा करती रहती है। भूगोल के अध्ययन के लिए पृथ्वी के इस परिभ्रमण का ज्ञान जानना आवश्यक है, क्योंकि रात और दिन, सर्दी और गर्मी आदि इसी के फलस्वरूप होते हैं।

यह अद्‌भुत फ़ोटोग्राफ़ उत्तरी अमेरिका के अलास्का प्रदेश में लगभग ६४ डिग्री अक्षांश के एक स्थान से दिसंबर २८ को लिया गया था। केमेरा का रुख़ दक्खिन की ओर था और चार घंटे तक वह एक ही स्थान में रक्खा गया था। एक ही निगेटिव प्लेट पर क्रमश: १०,११,१२,१ और २ बजे दिन को ५ फ़ोटो लिये गए थे। इस फ़ोटो में स्पष्ट दिखाई दे रहा है कि किस प्रकार सूर्य उदय हुआ और धीरे-धीरे आकाश में चढ़कर अंत को अस्त हो गया। वास्तव में सूर्य एक स्थिर नक्षत्र है। हमें उसके परिभ्रमण का जो भ्रम होता है वह पृथ्वी की गति के कारण ही है। दिसंबर में अलास्का में केवल ४ घंटे का दिन होने का कारण पृथ्वी की धुरी का झुकाव है।

वह एक प्रकार का दीर्घ वृत्त (ellipse) बनाती है, जिसके केन्द्र पर सूर्य स्थित है। इस पथ की यात्रा पूरी करने में पृथ्वी को ३६५¼ दिन लगते हैं। इस काल को हम वर्ष कहते हैं। परन्तु वर्ष में ३६५ दिन ही माने जाते हैं। शेष ¼ दिन जोड़कर प्रति चौथे वर्ष में एक दिन बढ़ा दिया जाता है और वह वर्ष ३६६ दिन का माना जाता है।

पृथ्वी को गरमी और प्रकाश दोनों सूर्य से ही मिलते हैं। पृथ्वी की गति और उसके झुकाव के कारण धरातल के विभिन्न भागों में प्रकाश और गरमी दोनों की दशा सदा बदलती रहती है। सूर्य स्थिर है, इसलिए प्रकाश और गरमी का मार्ग भी स्थिर है। परन्तु पृथ्वी के निरन्तर घूमते रहने के कारण धरातल के किसी भी भाग में न सदैव प्रकाश रहता है और न सदैव अंधकार। जो भाग सूर्य के सामने आ जाता है, अर्थात् जहाँ सूर्य का प्रकाश पड़ता है, वहाँ 'दिन', और जो भाग सूर्य के सामने नहीं होता, वहाँ 'रात' होती है।

पृथ्वी अपनी धुरी पर २४ घंटे में पूरा चक्कर लगा लेती है। इस काल में धरातल का प्रत्येक भाग एक बार सूर्य के सामने आकर फिर छिप जाता है। अर्थात् धरातल पर एक बार दिन और एक बार रात होती है। रात और दिन दोनों को मिलाकर २४ घंटे का समय होता है। परन्तु रात और दिन सदा बराबर नहीं होते। वे घटते-बढ़ते रहते हैं। हम जानते हैं कि हमारे देश में जाड़ों में रात बड़ी और दिन छोटा होता है। फिर जैसे-जैसे गरमी आती जाती है, दिन बढ़ने लगता है और रात छोटी होने लगती है।

रात और दिन पृथ्वी के आवर्त्तन (Rotation) के परिणामस्वरूप होते हैं। रात और दिन के घटने बढ़ने का कारण पृथ्वी की परिक्रमा और उसकी धुरी का झुकाव होना ही है। पृथ्वी का परिक्रमा-मार्ग पूर्ण वृत्त नहीं है, इस कारण इस मार्ग में दो स्थान ऐसे हैं, जहाँ आने पर पृथ्वी सूर्य के सबसे अधिक समीप हो जाती है, और दो स्थान एसे हैं, जो सूर्य से परिक्रमा-मार्ग के अन्य स्थानों की अपेक्षा सबसे अधिक दूर हैं। २१ मार्च और २३ सितम्बर की तिथियों के दिन पृथ्वी सूर्य के सबसे निकटवाली स्थिति में तथा २१ जून और २१ दिसम्बर के दिन सबसे अधिक दूर होती है (दे० पृष्ठ २८६ का चित्र)।

पृथ्वी की इन स्थितियों के फलस्वरूप धरातल पर सूर्य से आनेवाले प्रकाश और गरमी में अन्तर पड़ जाता है। जब पृथ्वी सूर्य के निकटवाली स्थिति मे आ जाती है, उस समय अर्थात् २१ मार्च और २३ सितम्बर को पृथ्वी का प्रत्येक भाग २४ घंटे में सूर्य के सामने आ जाता है और सूर्य ठीक भूमध्य रेखा के ऊपर होता है। इन अवस्थाओं में पृथ्वी के प्रत्येक भाग में दिन और रात बराबर होते हैं। इन दिनों को क्रमश 'वसंत संपात' (Vernal Equinox) और 'शरद् संपात' (Autumnal Equinox) कहते हैं।

पृथ्वी की परिक्रमा के मार्ग के जो दो स्थान सबसे अधिक दूर हैं, उन पर पृथ्वी क्रमश: २१ जून और २१ दिसम्बर को पहुँचती है। ये स्थान एसे हैं कि यहाँ पृथ्वी की धुरी के झुकाव के कारण उसका कुछ भाग बराबर
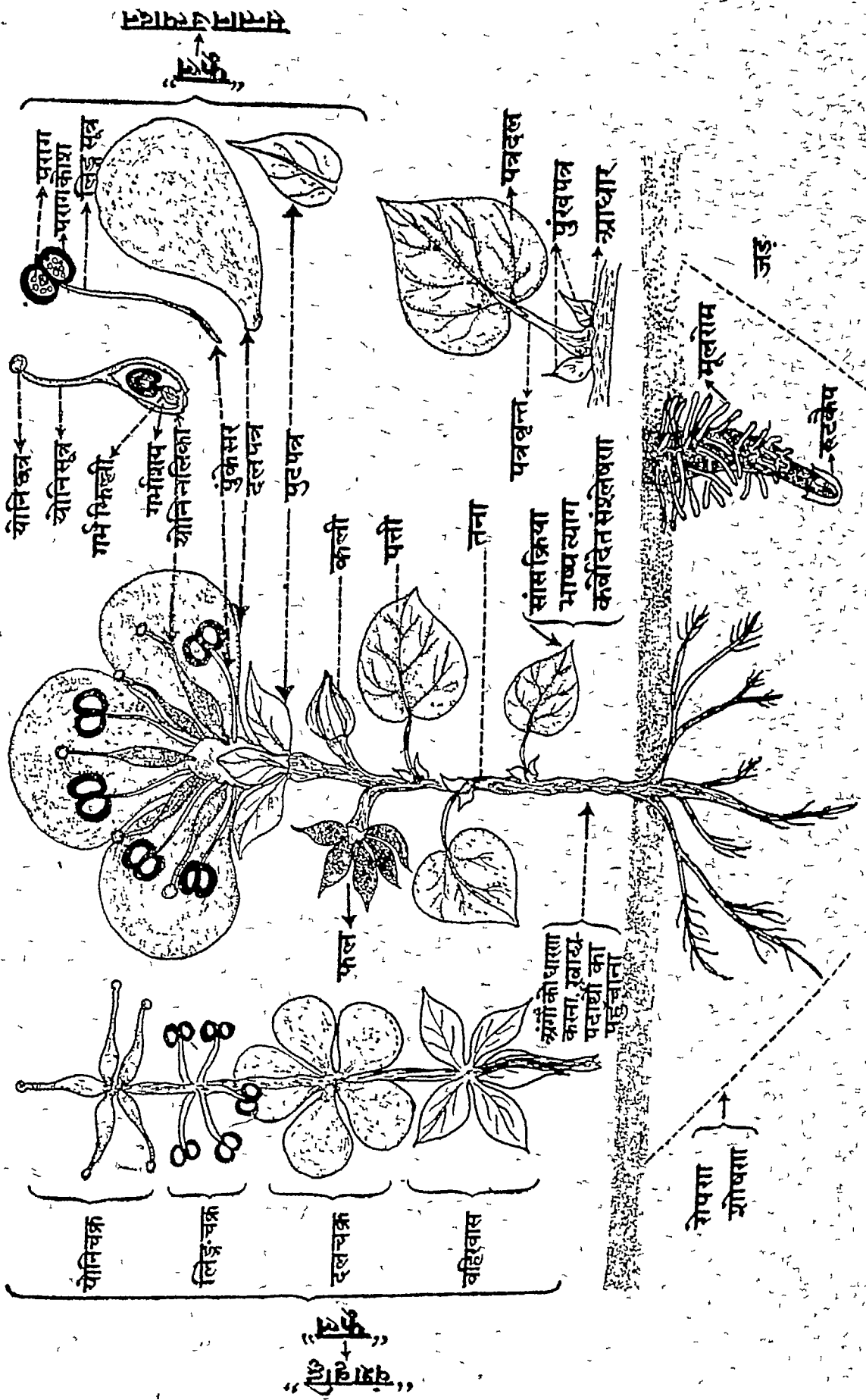
चित्र १—पौधे का अङ्ग-विधान
[चित्र—लेखक द्वारा ।]

पौधे का अङ्ग-विधान

गत प्रकरण में हम वनस्पति जगत् के विस्तार और उसके प्रधान अंगों का [illegible] में [illegible] कर चुके हैं। इस लेख में पौधों की रचना और उनके अंगों का विवेचन किया गया है।

बीज होते हैं, जिनके अलग-अलग काम हैं (दे० चि० १)। क्षुद्र जाति के जीवों की भाँति नीची कोटि के पेड़ों में भी प्रकट अंग नहीं होते। बैक्टिरिया तथा क्लैमाइडोमोनस (*Chlamydomonas*) की भाँति के एककोशीय (unicellular) जीवों में तो आहार-विहार की सारी क्रियायें अति सूक्ष्म जीवनमूल (Protoplasm) के बिन्दु के अन्दर ही होती हैं।

पौधे का पृथ्वी के अन्दर का भाग — "जड़" और उसके कर्त्तव्य

प्राय: सभी साधारण पेड़ों में कुछ भाग ज़मीन के अन्दर और कुछ ऊपर रहता है। ज़मीन के नीचे के भाग को 'जड़' कहते हैं। यह अन्दर-अन्दर दूर तक फैली रहती है (दे० चि० १)। जड़ों के अंतिम भाग पर 'मूल रोम' (Root hairs) होते हैं (दे० चि० १)। ये आसानी से दिखाई नहीं देते, ख़ुर्दबीन से ही देखे जा सकते हैं। जड़ों के सिरे पर दरज़ी की अँगूठी-जैसी एक ढकनी होती है, जिसे रूट कैप(Root cap) कहते हैं (दे० चि० १)। यह जड़ के कोमल भाग की रक्षा करती है। मूल रोमों द्वारा जड़ें ज़मीन के अन्दर जल मे घुले नमकों से ख़ूराक खींचती हैं। पेड़ को ज़मीन में रोपना और उसके लिए खाद्य पदार्थों का संग्रह करना ही जड़ का मुख्य काम है। कभी-कभी जड़ें दूसरे काम भी करती हैं। इसीलिए इनमें परिवर्त्तन भी पाये जाते हैं। कोई-कोई जड़ें पेड़ों में गोदाम का काम देती हैं। मूली, शकरकन्द (दे० चि० २) और शतावर की जड़ें इसी भाँति की हैं। जड़ों के और भी अनेक-रूप-रूपान्तर हैं। जब हम जड़ों के संबध में अन्य बातों पर विचार करेंगे, तो इस ओर भी ध्यान देंगे।
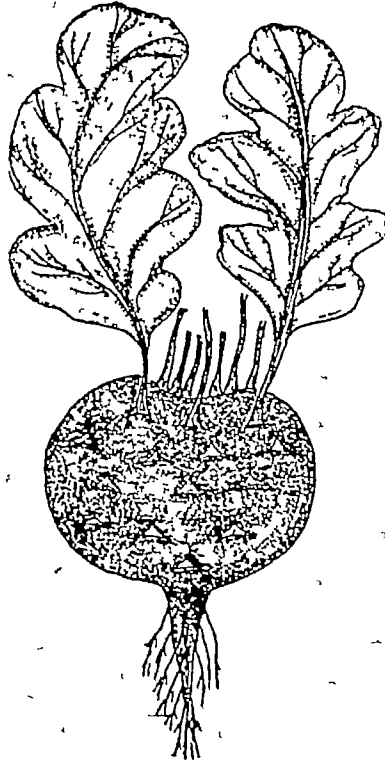
चित्र ३—गाँठ गोभी
[चित्र—लेखक द्वारा]

पौधे के पृथ्वी के ऊपर के भाग— तना, पत्ती, फूल, फल और बीज

पेड़ के ज़मीन के ऊपर के भाग में तीन मुख्य अंग होते हैं—तना और शाखें, जो कठीली और ऊपर उठी रहती हैं; पत्तियाँ, जो पतली और चिपटी होती हैं ; और फूल, जो रंग-बिरंगे होते हैं। वास्तव में फूल भी पत्तियों का रूपान्तर हैं। तना और शाखें पत्तियों को धारण करती हैं और जड़ों द्वारा संचित घोलों को इनमें पहुँचाती हैं। यही इनका मुख्य काम है। इसके अलावा तने कभी-कभी अन्य काम भी करते हैं। गाँठगोभी (चि० ३),
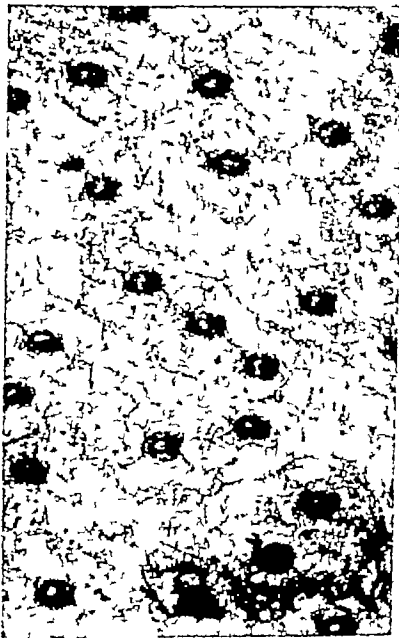
चित्र ४-५-(बाईं ओर) सुदर्शन की पत्ती के ऊपरी पर्त्त का ख़ुर्दबीन से लिया गया फ़ोटो। काले निशान स्टोमैटा हैं। (दाहिनी ओर) उसी पर्त्त के भाग का अधिक शक्तिशाली ख़ुर्दबीन से खींचा गया फ़ोटो। [फ़ोटो—वि० शर्मा]
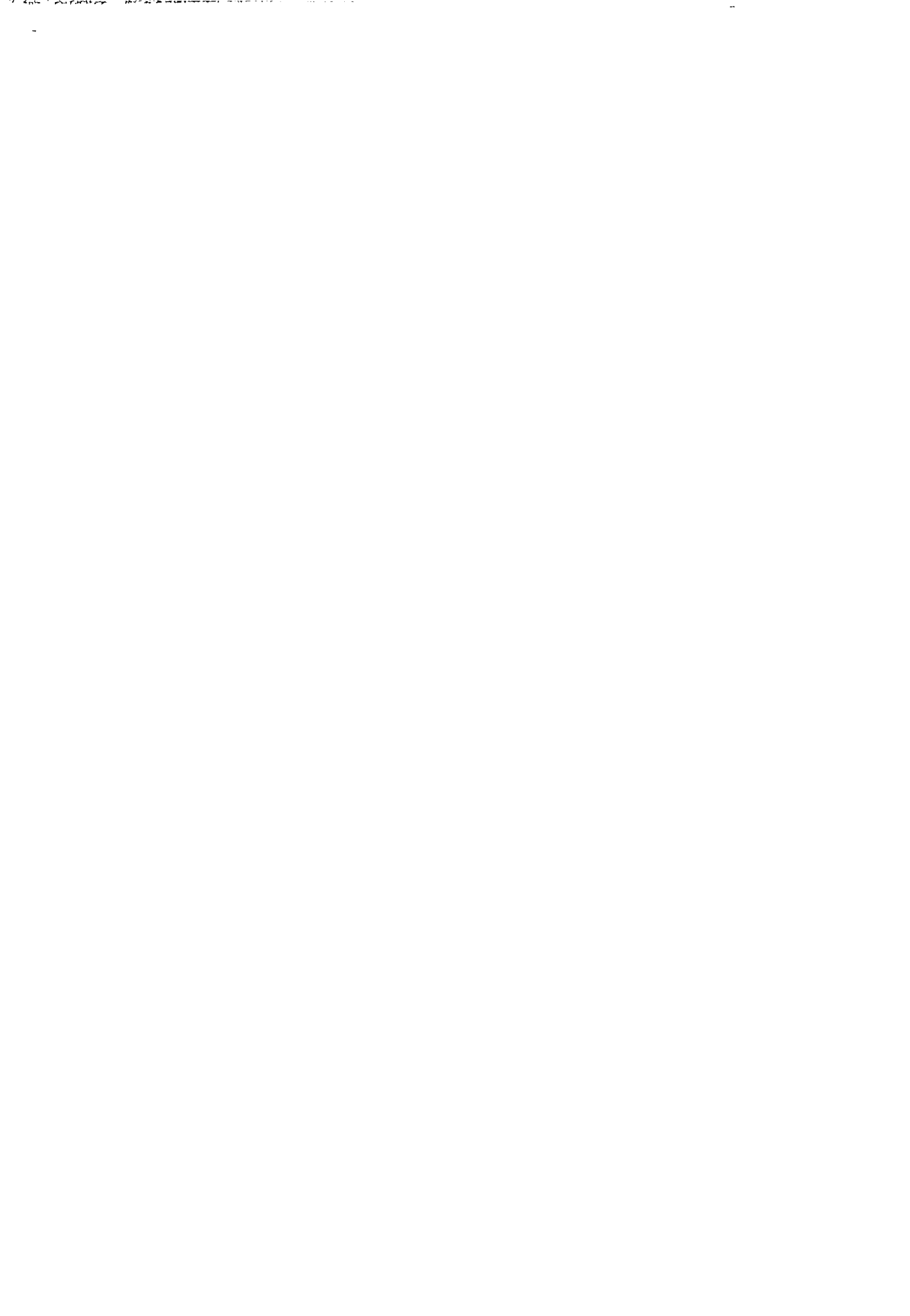
पत्रवृन्त (Stalk) और आधार (Base) (दे० चि० १)। पत्तियाँ तरह-तरह की होती हैं। इनकी बनावट, शिखर (Apex), सतह (Surface) किनारे (margin) और नाड़ीक्रम (Veination) आदि के अनेक भेद हैं। किसी-किसी पत्ती में आधार के पास एक अंग होता है, जिसे पुंखपत्र (Stipules) कहते हैं. (दे० चि० ६-७)। ये दो होते हैं और आधार के अगल बगल रहते हैं। इनके भी तरह-तरह के रूपान्तर हैं। बबूल और डंडा थूहड़ के काँटे (दे० चि० ६) इन्हीं का रूपान्तर हैं। मटर के पुंखपत्र (दे० चि० ७) पत्तियों का काम करते हैं।

आहार संचित करने के अलवा पत्तियाँ कभी-कभी अन्य काम भी करती हैं। निपेन्थीज़ की तूँबी, जिसके संबंध में आप पढ़ चुके हैं, पत्ती ही का रूपान्तर है। प्याज़ में पत्ती का निचला भाग भण्डार का काम देता है। प्याज़ का वह भाग जो खाने के काम में आता है, पत्तियाँ ही हैं (दे० चि० ८)।

चित्र ९—बतखबेल

(ऊपर की ओर) मुख्य पौधा है। (दाहनी ओर) फूल के भीतर का दृश्य है। इसमें चित्र को बढ़ाकर फूल में क़ैदी पतिंगा दिखाया गया है।

[चित्र—लेखक द्वारा]

फूल

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, फूल भी एक प्रकार से पत्तियाँ ही हैं। फूलों के अनेक भेद हैं। आपने तरह-तरह के फूल देखे होंगे—लाल, पीले, नीले, गुलाबी, सफेद, रंग-बिरंगे, कोई सवृन्त (stalked) तो कोई अवृन्त (sessile) कोई छोटे, तो कोई बड़े; किसी की पँखुड़ी आपस में मिली (gamopetalous), तो किसी की अलग-अलग (polypetalous); कोई घंटिकाकार (bell-shaped), तो कोई तुरही-जैसे (trumpet-shaped); कोई अण्डाकार (egg-shaped), कोई तितली जैसे (papillionaceous); कोई एकान्तवासी (solitary), तो कोई झुंड के झुंड एक ही अक्ष पर भाँति भाँति के व्यूह (Inflorescence) की रचना में, कोई सरस तो कोई नीरस; कोई इतने सुगंधित कि एक ही फूल से फुलवाड़ी को महका दें, तो कोई ऐसे कि जिनमें गंध छू तक नहीं गई है—करोड़ों फूलों से लदे हुए सैकड़ों पेड़ होने पर भी इनकी वास हमारे पास तक नहीं पहुँचती। लेकिन अनेक अन्तर होने पर भी इनका ध्येय एक ही है। प्रकृति ने इनकी सृष्टि एक ही अभिप्राय से की है। फूल पेड़ों की सुन्दरता का ही सार नहीं, वरन् उनका एक परम आवश्यक अंग है। वनस्पति संसार में निस्सदेह सबसे रोचक कहानी इसी की है। फूल वह नाट्यशाला है, जहाँ पेड़ों की अत्यन्त गोपनीय लीलाओं का अभिनय होता रहता है। इस रंगमंच पर कितने ही नट-नटी रूप-यौवन में माते, मकरंद की उमंग में मदान्ध हो मर्यादा छोड़ नाचते और किलोलें करते हैं। फूलों में दूसरों को आकर्षित करने का सामर्थ्य है। वसंत-ऋतु में मंद-मंद सुगंध से परिपूरित वाटिका की समीर किसके चित्त को चंचल नहीं करती? फूल के अनुपम रूप-रंग पर कौन मोहित नहीं हो जाता? कमल, गुलाब, चम्पा, चमेली की कौन कहे, साधारण फूलों पर भी मनुष्य ही नहीं कीट-विहग तक उन्मत्त हो उनके पीछे लगे रहते हैं। कोई-कोई तो यहाँ तक आसक्त हो जाते हैं कि

अनेक कष्ट पाने पर भी इन्हें घेरे रहते हैं। "भँवर न छोड़े केतकी, तीखे कटक जान"। कभी-कभी तो ये अपनी जान तक की परवाह नहीं करते। बतख-बेल (*Aristolochia*) (दे० चित्र ६) के फूल मे तो जाकर पतिंगे ऐसे फँस जाते हैं कि एक बार फूल के अन्दर प्रवेश करते ही घण्टों तक के क़ैदी बन जाते हैं और फिर चाहे जितनी उछल-कूद करें और मचलें, पहरों तक वहाँ से निकल नहीं पाते; लेकिन फिर भी इस आचरण से बाज़ नहीं आते। एक फूल से निकलते ही दूसरे में जा घुसते हैं। मक्खी, तितली, पनगे आदि को भी आपने फूलों को घेरे देखा होगा। कहाँ तक कहें, इन फूलों मे ऐसा जादू है कि घोंघे तक इनके पीछे घोंघे बने फिरते हैं! आप समझते होंगे कि हमारी आपकी भाँति अन्य जीव भी यहाँ सैर करने आते होंगे और विवश हो फूल के रूप-रंग में यों-ही फँस जाते होंगे। परन्तु ऐसा नहीं है। वास्तव में इन बेचारों को इतनी फुरसत कहाँ जो फूलों पर खेलने आएँ? ये तो दिन भर काम करनेवाले परिश्रमी जीव हैं। ये फूलों के पास जी बहलाने नहीं आते, बल्कि इसलिए कि इनको यहाँ भोजन मिलता है। यह मधु और मकरंद ही का लोभ है कि जिसके पीछे ये यहाँ मँडराते हैं।

अब आपके सामने प्रश्न ही दूसरा उपस्थित हो गया। आप और भी भ्रम में पड़े होंगे। माना कि कीड़े-मकोड़े फूलों पर इस लिए आते हैं कि यहाँ इनको भोजन मिलता है, परन्तु पौधे को इससे क्या लाभ? यह मधु और मकरंद की वर्षा किसलिए? क्या सात पर्त के अन्दर ग्रन्थियों में सुरक्षित यह मधु निष्प्रयोजन चोर और लुटेरों के मज़ा उड़ाने के लिए ही है? हम या आप कोई भी इस राय से सहमत न होंगे। जिस पेड़ की जड़ें धरती के रत्ती रत्ती नमक और पाताल के बूँद-बूँद जल से खाद्य पदार्थों को इकट्ठा करने में इतनी कुशल हों; जिसकी पत्तियाँ वायु-मंडल की विषैली कार्बन-डाइ आक्साइड (CO_2) से शक्कर और निशास्ता या माड़ी जैसी अमूल्य वस्तुएँ बनाती हों, उसी पेड़ के लिए यह धारणा करना कि इसमें मधु और मकरंद केवल इसीलिए है कि दूसरे निकम्मे जीव मौज उड़ाएँ और पेड़ को इनसे कोई लाभ नहीं है, निस्सदेह असंभव है। इसमें हो-न हो कोई-न-कोई रहस्य है। इसमें अवश्य ही पेड़ों का कोई-न कोई बड़ा भारी स्वार्थ होगा। यथार्थ में बात भी यही है और फूलों का रूप, रंग, मधु, पराग, आदि सारे माया-जाल इसी स्वार्थ-साधन के हेतु हैं। फूलों में पेड़ों की जननेन्द्रियाँ रहती हैं। इनमे भी नर और मादा होते हैं और जब तक इनका मेल नहीं होता, बीज पैदा नहीं हो सकते। ये जननेन्द्रियाँ अपना कर्त्तव्य दूसरों की सहायता के बिना नहीं कर सकतीं। इसीलिए इन्हें औरों को रिझा-फुसलाकर किसी-न-किसी तरह फँसाकर अपना काम निकालना पड़ता है। चैतन्य की कौन कहे, इस काम को वे जल और पवन जैसे जड पदार्थों से भी करा लेते हैं।

(२)

चित्र—११ गुलमोहर का पुष्प
(१) वहिरवास से सुरक्षित पुष्प, (२) पूर्णतया खिला फूल—दलचक्र, में ५ दल हैं। (३) वहिरवास और दलचक्र निकाल दिए गए हैं। पुष्पेद्रिय में १० पुकेसर हैं। (४) योनि-नलिका, (५) फल। [फ़ोटो:—वि० शर्मा।]

फूल और पतिंगों का पारस्परिक व्यवहार है। फूलों से पतिंगों को मधु और पराग मिलते हैं और इसके बदले में पतिंगे इनके नर को मादा से मिलाते हैं। कोई-कोई पेड़ तो पतिंगों के यहाँ तक अधीन हो गये हैं कि उनमें बिना विशेष जाति के पतिंगे के गर्भाधान ही नहीं हो सकता। जहाँ इस विशेष जाति के पतिंगे नहीं होते, वहाँ ऐसे पेड़ों में बीज ही नहीं उत्पन्न हो सकते।

यक्का (Yucca) इसी प्रकार का एक पौधा है। इसमें सैकड़ों मनोहर रुपहले अण्डाकार पुष्प होते हैं (दे० चि० १०)। परन्तु ये सब सुंदर पुष्प किस काम के? जब तक यक्का-माथ (Yucca Moth) नामक पतिंगा इनमें सेचन (Pollination) करने को न हो, ये सारे-के-सारे मुरझाकर गिर जाते हैं। इनका सारा-का-सारा पराग धूल की भाँति झड़-झड़कर नष्ट हो जाता है। पास ही उपस्थित योनिनलिका (Carpel) तक उसका एक कण भी नहीं पहुँच पाता। इसीलिए इसके सब-के सब फूल सूखकर बिना बीज उत्पन्न किये ही नष्ट हो जाते हैं। कैसी विचित्र लीला है! आगे चलकर जब इस विषय पर हम विचार करेंगे तब आपको और भी कितनी ही रहस्यमय बातों का पता लगेगा।

चित्र १३—अलामंडा
[फ़ोटो—श्री० रा० व० सिठोले ।]

(Style), और सबसे ऊपर कुछ उभरा हुआ भाग 'योनिछत्र' (Stigma) (चित्र १, ११) गर्भाशय के अन्दर नन्हें नन्हें कण या 'रजोविन्दु' (Ovules) होते हैं। रजोविन्दु गर्भाशय मे 'गर्भ झिल्ली' (Placenta) पर होते हैं (चित्र १)।

सम्पूर्ण फूल की रचना पर विचार करने से हमें भली भाँति ज्ञात हो गया कि इसमे नर और मादा दोनो ही अंग हैं। किसी-किसी फूल में नर और मादा अंग पृथक्-पृथक् फूलों में होते हैं और कभी कभी तो ये पृथक्-पृथक् पौधों मे होते हैं। जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, नर और मादा अंशों के मेल से ही बीज उत्पन्न होते हैं, अन्यथा नहीं। एक ओर परागकोश के अन्दर हजारों नन्हें-नन्हें पराग-कण हैं और दूसरी ओर गर्भाशय में सुरक्षित गर्भ झिल्ली पर अनेक रजोविन्दु (दे० चित्र १)। बीज-उत्पत्ति के लिए इन दोनों का संयोग होना आवश्यक है। इसीलिए पराग-कणों को योनिछत्र तक पहुँचना चाहिए। इस क्रिया को सेचन (Pollination) कहते हैं और पानी, हवा, पतिंगे अथवा अन्य जीव इसके मुख्य साधन हैं। इसीलिए फूलों को पतिंगों को आकर्षित करना पड़ता है। इसी अभिप्राय से फूल पतिंगों को मधु और कभी-कभी पराग तक देते हैं।

फल, बीज और प्रसारण

योनिछत्र पर पहुँचने पर परागकण में परिवर्तन होने लगते हैं और अन्त मे नर व मादा अंशों का मेल हो जाता है, जिसे गर्भाधान (Fertilisation) क्रिया कहते हैं। इसके पश्चात् गर्भपिण्ड (Embryo) की रचना होती है। यही समय पाकर बीज हो जाता है। अब गर्भाशय कुछ बढ़कर मोटा हो जाता है। यही पकने पर फल बन जाता है। फूल में केवल बीज ही नहीं होता, वरन् बीज को दूर-दूर देशों में फैलाने का साधन भी। आप लोगों ने कभी कभी बरगद या पीपल को आम, जामुन, खजूर (दे० चित्र १४) या अन्य पेड़ पर अथवा मकान की छतों व दीवालों पर उगा हुआ देखा होगा। इनके बीज यहाँ कैसे पहुँचे? अगर आप विचार करें, तो पता लग जायगा कि ये बीज यहाँ चिड़ियों द्वारा पहुँचे। इन पेड़ों के पके फलों को चिड़ियाँ बड़े चाव से खाती हैं, परन्तु इनके बीज को हजम नहीं कर पातीं। इसलिए इनकी बीट के साथ बीज जैसे-के-तैसे बाहर निकल आते हैं, और जहाँ कहीं इनका यह बीट पहुँचता है, उसमें इन पेड़ों के सैकड़ों बीज सम्मिलित रहते हैं, जो अनुकूल परिस्थिति पाकर उग आते हैं। चित्र १४ में जो आप बरगद का पेड़ देखते हैं, वह आज से कई वर्ष पहले संभवतः इन्हीं

चित्र १४—खजूर पर लगा हुआ बरगद
[फ़ोटो—श्री० हरिपद चौधरी ।]
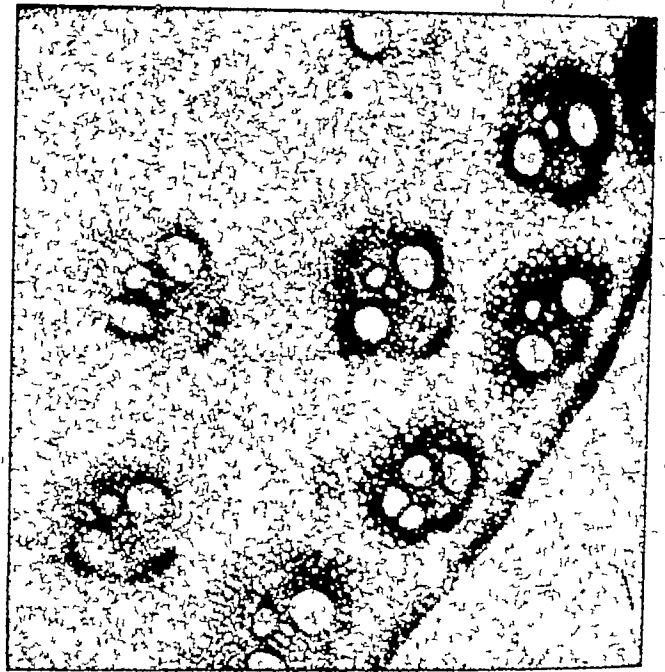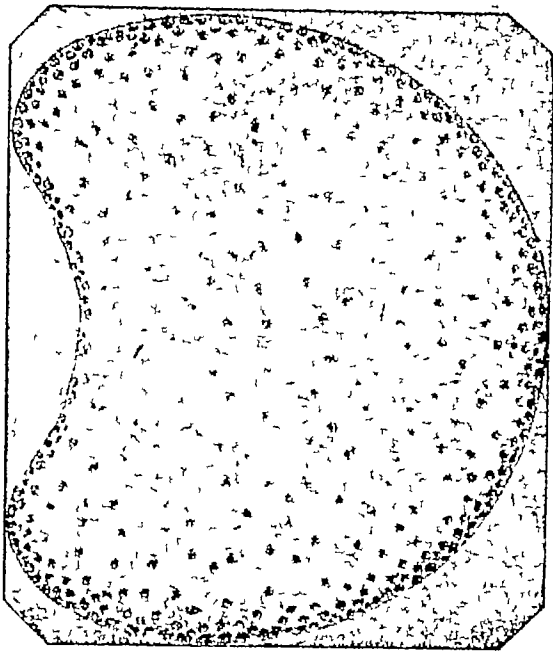
कारखाने हैं, जहाँ ये वस्तुएँ बनती हैं ? इत्यादि-इत्यादि अनेक प्रश्न हैं, जिनको समझने के लिए हमको पेड़ों की आन्तरिक रचना पर विचार करना पड़ेगा। केवल इनकी अंग-व्यवस्था जान लेने से ही हम सारी बातों के रहस्य का यथेष्ट ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते।

यदि हम अपने किसी भी अंग को ध्यान से देखें, तो हमें तुरन्त पता लग जायगा कि यह बाहर-भीतर एक-से नहीं है। इनमें कई पर्त हैं, जिनकी आकृति में बड़ा अन्तर है। हाथ पर ही ध्यान देकर देखिए। सबसे ऊपर घास की तरह सहस्रों रोयें हैं; फिर खाल है जिसमें कई पर्त हैं; इसके नीचे मांस, रुधिर, नाडी, मज्जा, हड्डी आदि हैं। यही बात आपके अन्य अंगों के संबंध में भी है। इसी प्रकार पेड़ के अंगों की रचना भी है। ये भीतर-बाहर मिट्टी या पत्थर के ढेले की भाँति एक-से नहीं होते। इनकी रचना में बड़ा अन्तर होता है। इनमें भी कई पर्त होते हैं। इसका आपको भली भाँति अनुभव होगा। इसकी जाँच भी बड़ी सुगमता से की जा सकती है। किसी पेड़ की टहनी को ले लीजिए। आप इसमें स्पष्ट देख सकते हैं कि सबसे ऊपर छाल, फिर अंतरछाल, इसके अन्दर गूदा और गूदे के बीच-बीच कई नसें हैं (चि० १५, १८, १९ और २०) परन्तु क्या इतना ही जानकर आप सन्तोष कर लेंगे ? अभी पिछले अध्याय में आपने देखा है कि रेशम के तागे से भी महीन स्पायरोगायरा (Spirogyra) जब खुर्दबीन से देखा जाता है तो अपूर्व छटा दिखाता है। इस बाल [illegible]ी महीन नली के अन्दर वह चित्रकारी है, जिसकी समा-

चित्र १८-१९-२०

(ऊपर बाईं ओर) मक्का की शाख के आड़े कत्तल का पाँच गुना बड़ा फ़ोटो। काले निशान नसें हैं। (दाहिनी ओर) उसी के एक भाग का परिवर्द्धित फोटो नसों के कोश दिखाई देरहे हैं। (नीचे दाहिनी ओर) मक्का की नस के तंतु। यह लम्बान की कत्तल का खुर्दबीन से लिया गया फ़ोटो है। [फ़ोटो—वि० शर्मा।]
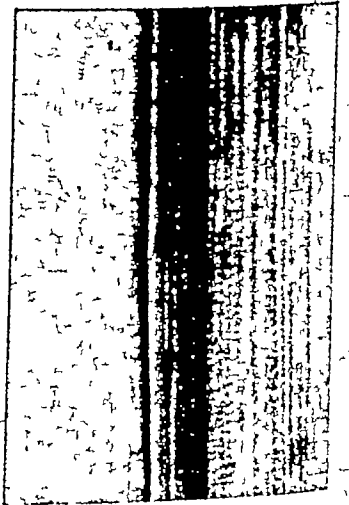
नता करने का साहस संसार का निपुण से निपुण चित्रकार भी नहीं कर सकता (दे० चि० १६) स्पायरोगायरा की रचना के विषय में खुर्दबीन द्वारा हमको ऐसी बातों का पता लगता है, जिनकी हम स्वप्न में भी कल्पना नहीं कर सकते थे। वास्तव में अणुवीक्षण यंत्र की सहायता बिना हमारी आँखें वृक्ष के प्रत्येक अंग का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने में असमर्थ हैं। हमको पेड़ की जीवनी और रहस्य, उसकी अनेक क्रियायें, उसके अंग-अंग के कर्त्तव्य, इन अंगों का एक-दूसरे से और बाह्य-जगत् से संबंध तथा उसका उद्भव, नाश, विकास आदि समझने के लिए उसके अंग-अंग की रचना का हाल जानना आवश्यक है। इसलिए हमें पेड़ के रेशे-रेशे की जाँच खुर्दबीन से करनी होगी।

जीवन क्या है ?

जब से मनुष्य में इस अद्भुत सृष्टि के संबंध में जिज्ञासा का अंकुर ही फूट पड़ा है, तब से अब तक 'जीवन क्या है ?' यह प्रश्न एक गूढ़ पहेली है [illegible] अपेक्षित है।

वर्ष में कलकत्ते के लोगों ने पहली रेलगाड़ी देखी, तो उन्हें यह विश्वास हो गया कि इंजन काली माई के प्रताप से ही रेल के पीछे के डिब्बों को खींचता है; परन्तु आज हम सब जानते हैं कि इंजन के चलने में कोई ऐसी विचित्रता नहीं है, जो समझ में न आवे। उसके चलने का कारण भाप है, किसी देवी का प्रताप नहीं। विज्ञान और मानव विचारों के विकास के इतिहास में ऐसी बहुत-सी अद्भुत-बातों के उदाहरण मिलते हैं, जिनका संबंध किसी समय भूत-प्रेत से जोड़ा जाता था; परन्तु बाद में पता चला कि वे स्वाभाविक कारणों और पहचानने योग्य साधनों द्वारा ही होती हैं। यही बात बहुत-से आविष्कारों तथा प्लेग, हैज़ा, चेचक-जैसे भयंकर रोगों के विषय में भी हुई है। सारे संसार के मनुष्य रोगों को बहुत दिनों तक ईश्वर का दण्ड मानते रहे। हमारे देश में आज भी बहुत-से लोग चेचक को 'माता' तथा 'देवी' के नाम से पुकारते हैं। जब घर में किसी को यह बीमारी हो जाती है, तो घर की स्त्रियाँ यह समझकर कि घर में देवी का प्रवेश हुआ है, जब तक बीमारी रहती है, बहुत सफाई रखती हैं, और देवी की पूजा करती हैं। इस भय से कि कहीं माता रुष्ट न हो जायँ, वे रोगी को कोई दवा नहीं पीने देतीं। वे यथाशक्ति ऐसा प्रबन्ध करती हैं कि माता प्रसन्न होकर रोगी को शीघ्र ही अच्छा कर दें और घर से विदा हो जायँ। इसी प्रकार कुछ वर्ष पूर्व जब हमारे देश में प्लेग की बीमारी ज़ोर से फैली थी, तो लोग उसे 'महामारी' कहते थे। देहाती ही नहीं, नागरिक भी उससे बचने के लिए पूजा पाठ करते और दान-दक्षिणा देते थे। अब तो डाक्टरों और वैज्ञानिकों ने यह सिद्ध कर दिया है और हममें से भी बहुतेरे जान गये हैं कि इन रोगों का कारण देवी देवता अथवा भूत-प्रेत नहीं हैं। ये रोग ऐसे स्पष्ट कीटाणुओं से होते हैं, जिन्हें शिक्षित मनुष्य सहज में देख-भाल और परख सकते हैं। ऊपर के विवेचन से ऐसा लगता है कि जीवन की परिभाषा करना बहुत कठिन है; इसलिए हमें पहले जीवन का वर्णन करना चाहिए। इसको अच्छी तरह समझ जाने से जीवन की प्रकृति को समझने में सुविधा होगी।

(१) वृद्धि

हम पहले परिच्छेद में लिख चुके हैं कि जब चीनी का कोई रवा चीनी के सम्पूर्ण घोल में लटका दिया जाता है, तो वह धीरे-धीरे बड़ा हो जाता है; परन्तु वही रवा नमक के घोल में रक्खा जाय, तो कदापि न बढ़ेगा, क्योंकि वह उस नमक को, जिसके घोल में वह डूबा हुआ है, बदलकर अपनें में नहीं मिला सकता। इसका यह अर्थ है कि रवा अपने-जैसे पदार्थ के घोल मे ही बढ़ सकता है। यदि वह अपने से भिन्न वस्तु के घोल में रख दिया जाय, तो वह न उसे बदल ही सकता है, और न अपनी वृद्धि ही कर सकता है। जीवधारियों में यह बात नहीं होती है। साधारण-से-साधारण जीव भी किसी अनोखे ढंग से आस-पास की वस्तुओं को बदलकर उनसे लाभ उठा सकते हैं। या यों कहिए कि प्राणों मे (और इसलिए सभी जीवधारियों में) कोई ऐसा पदार्थ है, जो अपने स्पर्श में आनेवाली वस्तु को प्रभावित करके उन भौतिक और रासायनिक क्रियाओं को, जो उस वस्तु पर क्रिया करती हैं और जिन पर कि वह वस्तु प्रतिक्रिया करती है, ऐसे डौल पर लाता है कि जिससे स्वयं उसका स्वभाव या रूप उत्तरोत्तर सिद्ध या पूर्ण होता जाता है। प्राण-हीन पदार्थ ऐसा नहीं कर सकते।

(२) सर्वकालिक परिवर्तन

एक प्रकार से कहा जा सकता है कि सजीव पदार्थ में सर्वकालिक परिवर्तन की योग्यता होती है। जानवर हर घड़ी हवा में साँस लेते हैं, और भोजन खाते हैं। शरीर में पहुँचकर साँस ली हुई हवा और खाये हुए पदार्थ टूट फूट कर साधारण तत्त्वों में बदल जाते हैं, जो उन तन्तुओं और इन्द्रियों को बनाने में काम आते हैं, जिन्हें हम प्राणी के भिन्न-भिन्न भागों मे पाते हैं। सब प्राणियों के पालन-पोषण में यह क्रिया या अवस्था—जिसके द्वारा खाई हुई वस्तुएँ पचकर शरीर का भाग बन जाती हैं—जीवनी क्रियाओं का प्रधान आधार है। इसके बिना जीवन असम्भव है। इस प्रकार जीवित पदार्थ के बनने में बल या शक्ति की बहुत आवश्यकता होती है। हमें चलने-फिरने तथा अन्य कामों के करने में बल की ज़रूरत होती है। इस दौड़ने धूपने, लिखने-पढ़ने आदि के करने से जो बल की कमी हम में हो जाती है, अथवा जो तत्त्व क्षीण हो जाता है, उसकी पूर्त्ति भोजन-सामग्री के शरीर में पहुँचकर जीवनप्रद तत्त्वों में परिणत होने से ही होती है। इसी क्रिया के फलस्वरूप शरीर में दूषित पदार्थ भी बनते हैं। आहार का जो भाग हम शारीरिक तत्त्वों में नहीं बदल सकते, वही हमें मल और मूत्र के रूप में त्यागना पड़ता है। इस प्रकार सब जीवधारियों में बनाने और बिगाड़ने की दोहरी क्रियाएँ एक साथ ही होती रहती हैं। बाल्यावस्था में बनानेवाली क्रिया बिगाड़नेवाली क्रिया से अधिक तेज होती है। इसी कारण बाल्यावस्था में जीवों के शरीर और अंग बढ़ते जाते हैं, और युवावस्था में पहुँचकर तन्दुरुस्त बने रहते हैं। जब शरीर में बनानेवाली

डाक्टरों ने कर दिखाये हैं। पिछले वर्ष ही वाशिंगटन के विश्व-विद्यालय में एक जीवित मछली का हृदय दूसरी जीवित मछली के हृदय के स्थान में लगा दिया गया और वह जीती रही। एक वर्ष हुआ, लंदन में एक आदमी के घायल होने पर उसकी एक आँख निकालने की आवश्यकता पड़ी। जिस डाक्टर के पास यह मरीज़ गया, उसका एक और मरीज़ था, जिसकी अवस्था २१ वर्ष की थी, और जो ३ साल से अन्धा था, क्योंकि उसकी आँख की कनीनिका (Cornea) ख़राब हो गई थी। चतुर डाक्टर ने उस घायल आदमी की एक आँख निकाल कर उसकी कनीनिका का एक भाग अन्धे आदमी की आँख में लगा दिया, जिससे कि वह एक आँख का सूझता बन गया! न्यूयॉर्क में एक बच्चे की बाईं आँख चेचक से नष्ट हो गई थी। थोड़े दिन बाद उसकी दूसरी आँख भी नष्ट होने को थी। डाक्टरों की सलाह से उसकी माता ने अपनी एक आँख ख़राब होनेवाली आँख की जगह लगवा दी! इसी प्रकार वियेना में एक जन्तु-शास्त्र के प्रोफ़ेसर ने अँखफुट्टों के बच्चों के सिर काट कर एक दूसरे से बदल दिये। वे बढ़े और उनके सतान भी पैदा हुई! उनमें और अन्य अँखफुट्टों में कोई भी अंतर न था। इससे सिद्ध होता है कि जानवर भी किसी किसी बात में मशीन जैसे हैं। पर किसी किसी बात में उनमें एक विशेष व्यक्तित्व भी है। यंत्र और जन्तु में एक और भेद है। जब साइकिल टूट या बिगड़ जाती है, तो वह अपने आप उसे ठीक नहीं कर पाती; किन्तु जब हमारे किसी अंग में चोट लग जाती है, तो घाव अपने आपही भर जाते हैं। सभी जीवधारी इस तरह अपने शरीर को स्वयं ही ठीक-ठाक कर लेते हैं। हमारे बाल और नाख़ून कट जाने पर स्वयं ही फिर बढ़ जाते हैं। पेड़-

क्या जीव एक जटिल यन्त्र मात्र है?
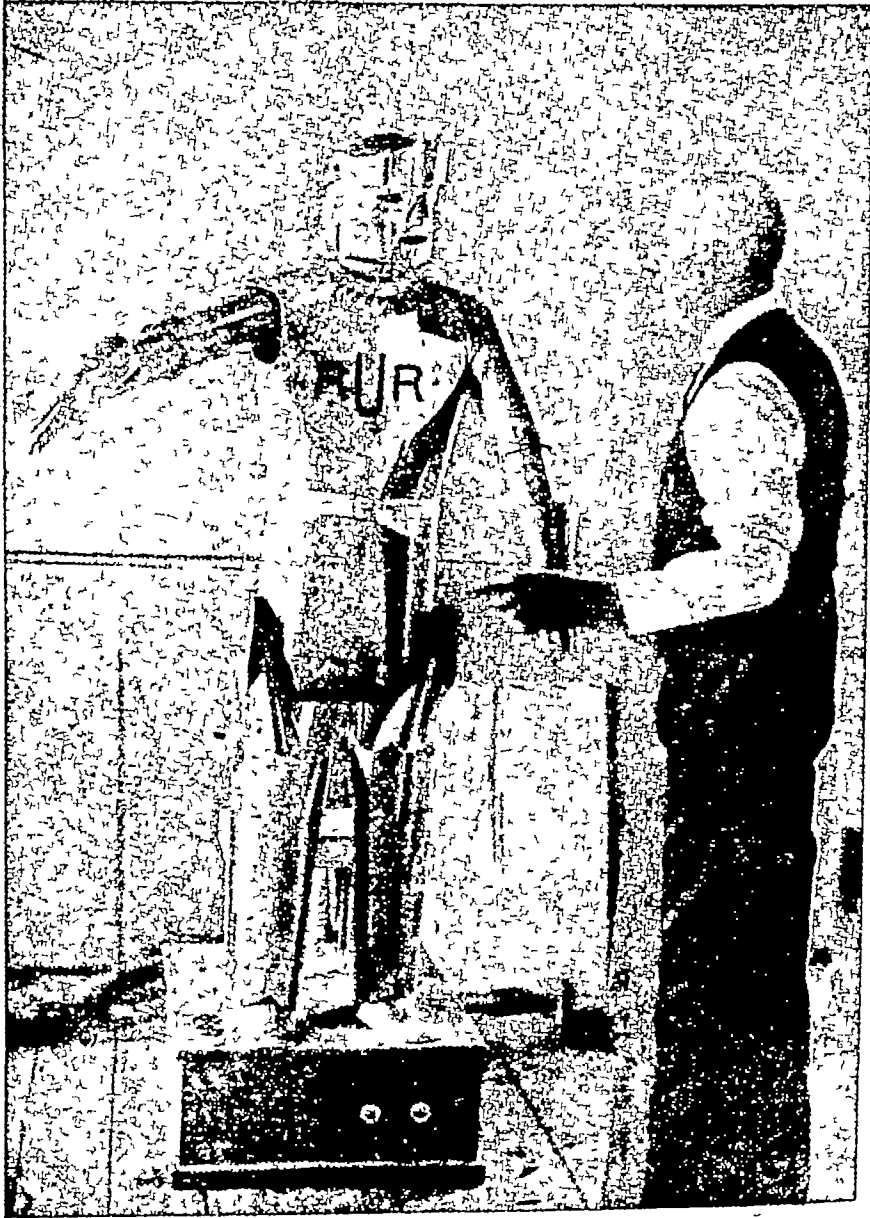
वैज्ञानिकों द्वारा तैयार किया गया यह यन्त्र-नर (Robot) केवल आपकी आवाज सुनकर जिधर आप कहें उधर सिर या हाथ घुमा सकता है और दूसरे कई कार्य करता है। किन्तु क्या हम इसे जीवधारी की श्रेणी में रख सकते हैं? इस मानवसम यन्त्र और उसके सामने खड़े सजीव मनुष्य में एक मौलिक भेद है, अर्थात् इस यंत्र में 'व्यक्तित्व', 'संतानोत्पादन शक्ति', और 'अपने आपको वातावरण के अनुकूल बनाने की शक्ति' का पूर्ण अभाव है जो जीवधारियों के विशेष लक्षण हैं।

जब गर्मी लगती है, तो उसे पसीना आने लगता है और जब ठढक लगती है, तो वह आग की ओर बढ़ता या गर्म मोटे कपड़ों में अपने शरीर को लपेट लेता है। रेगिस्तान में उगनेवाले पेड़ों के पत्ते बहुत कम और बहुत ही छोटे होते हैं, जिससे कि उनमें से पानी भाफ होकर बहुत ज्यादा न उड़ सके। इसके विपरीत स्थिर जल में रहनेवाले पौधों के पत्ते कमल-जैसे चौड़े और बड़े होते हैं, और जहाँ हवा बहुत तेज़ी से चलती है, उन देशों में पेड़ों के बड़े पत्ते चिरे हुए होते हैं, जिससे कि वे हवा के झोंकों से फट न जायँ। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि प्राणी की प्रवृत्ति अपने को अधिकाधिक सिद्ध बनाने की होनी है। अन्त में मशीन से तुलना करते हुए हम यह कह सकते हैं कि **जीव एक ऐसी मशीन है, जो अपनी रक्षा आप करती है, आप ही अपना प्रबन्ध करती है, आप ही अपनी मरम्मत करती है, आप ही अपने को पैदा करती है और आप ही अपने को सिद्ध बनाती है।**

जीवन विरोधी गुणों का संयोग है

ऊपर हम जो कुछ लिख आये हैं, उस पर एक सरसरी निगाह डालते हुए अब देखना चाहिए कि हम जीवन की प्रकृति के विषय में क्या कह सकते हैं। यह कहा जा चुका है कि जीवन सजीव वस्तु के निरतर निर्माण की एक प्रकार की अत्यन्त आवश्यक क्रिया है; परन्तु इस बनने की क्रिया के साथ ही उसका टूटना-फूटना या बिगड़ना भी उतने ही आवश्यक रूप में साथ लगा हुआ है। एक ओर काम की सामग्री बनती रहती है, तो दूसरी ओर बेकार चीज़ें भी पैदा होती रहती हैं। हम यह भी जानते हैं कि सब जीवधारी अपने को इस संसार में क़ायम रखने की कोशिश करते हैं, तब भी उनके जीवन में एक अवस्था ऐसी आती है, जब उनका जीवन ढलने लगता है और समाप्त हो जाता है। यदि जीवों में अपना अन्त करने का गुण न होता, तो सारे नीची श्रेणी के जन्तु, एक बार जन्म ले चुकने पर, अभी तक जीवित होते तथा हमारे कुरूप और असभ्य पूर्वज भी आज पृथ्वी पर दिखाई देते। यदि ऐसा होता तो वास्तव में कोई भी उन्नति न हुई होती। मनुष्य पर ही विचार करते हुए हम देखते हैं कि बूढ़ों के मुक़ाबले में नई सन्तान अधिक बढ़ी-चढ़ी और उन्नतिशील होती है। इसलिए मानव-समाज क्रमानुसार एक के बाद दूसरे बूढ़े वंशों के मरने से ही उन्नति-पथ पर बढ़ता चला जाता है। अत यह कहा जा सकता है कि जीवन मृत्यु के विरुद्ध एक अखंड युद्ध है, फिर भी मृत्यु जीवन का अचूक अन्त है। बिना अन्त के जीवन की उन्नति होना असंभव है। हमने यह भी देखा कि जीवन में निरन्तर हेर-फेर होता रहता है; वह एक बराबर झिलमिलानेवाली ज्वाला है। अंतर यही है कि जीवन नित नये विशेष और लाक्षणिक शरीर धारण करता रहता है, जब कि ज्वाला लगातार झिलमिलाने पर भी ज्वाला ही रहती है। यह भी कहा जा चुका है कि जीवन यत्र-रचना और व्यक्तित्व-जैसी दो विरोधी बातों का मिलन है। ऊँचे प्राणियों में यंत्र के गुणों से व्यक्तित्व अधिक होता है और नीचे प्राणियों में व्यक्तित्व कम तथा यत्र के गुण अधिक। अत. ऊपर लिखी हुई बहुत सी बातों में जीवन दो विरुद्ध वस्तुओं का सयोग प्रतीत होता है। इसमें कोई आश्चर्य नहीं है, क्योंकि हर जगह हम विरोधियों का ही मेल पाते हैं। लकड़ी नर्म और कड़ी दोनों ही होती है, लोहा बड़ा कठोर होते हुए भी लचीला होता है। पालने से चिता तक हमारी जीवन-कहानी भी सुख-दु:ख, आशा-निराशा, प्रेम-वैर, सफलता-असफलता से भरी पड़ी है। अंग्रेज़ी के एक लेखक ने ठीक ही लिखा है कि 'जीवन असाधारण विरोधों की गठरी है'।

ऊपर लिखी हुई बातों से स्पष्ट है कि जीवन की ऐसी परिभाषा देना सम्भव नहीं है, जो उसके आत्म विरोधी स्व भाव पर लागू हो सके। दार्शनिक उसको समझने तथा उसका अर्थ बतलाने की चेष्टा करता है; प्राणि-शास्त्रवेत्ता (Biologist) उसका अध्ययन करने का प्रयत्न करता है, यद्यपि दोनों अच्छी तरह जानते हैं कि वे शायद उसकी जटिलता को भली भाँति कभी भी न समझ सकेंगे। पर जैसे-जैसे हम उसका ज्ञान प्राप्त करने में आगे बढ़ते जाते हैं, उतना ही वह हमारे वश में आता जाता है। इस समय हम जो कुछ कह सकते हैं, वह यही है कि इधर कुछ ही वर्षों में जीवन के कुछ पहलू भौतिक विज्ञान और रसायन-शास्त्र के शब्दों में समझाये गये हैं। परन्तु अब भी उसके बारे में हमारा ज्ञान अधूरा ही है। अभी कोई भी दावे के साथ नहीं कह सकता कि जीवन की पहेली उसके समझ में ठीक से आ गई। पर तीस पैंतीस वर्ष की आश्चर्यजनक उन्नति को देखते हुए हम जानते हैं कि भविष्य में हमें इस बात से निराश न हो जाना चाहिए कि हम जीवन की पहेली को कभी बूझ ही न सकेंगे। हाँ, अभी तो जीवन की अच्छी-से-अच्छी परिभाषा जो हम दे सकते हैं वह यही है कि **जीवन एक गुण है, जो सजीव प्राणी या ऐन्द्रिक तन्तु के सजीव भागों को मृत या निर्जीव पदार्थों से पृथक् करता है।** किन्तु वह गुण क्या है, यही तो हम नहीं बतला सकते।

मनुष्य की कहानी
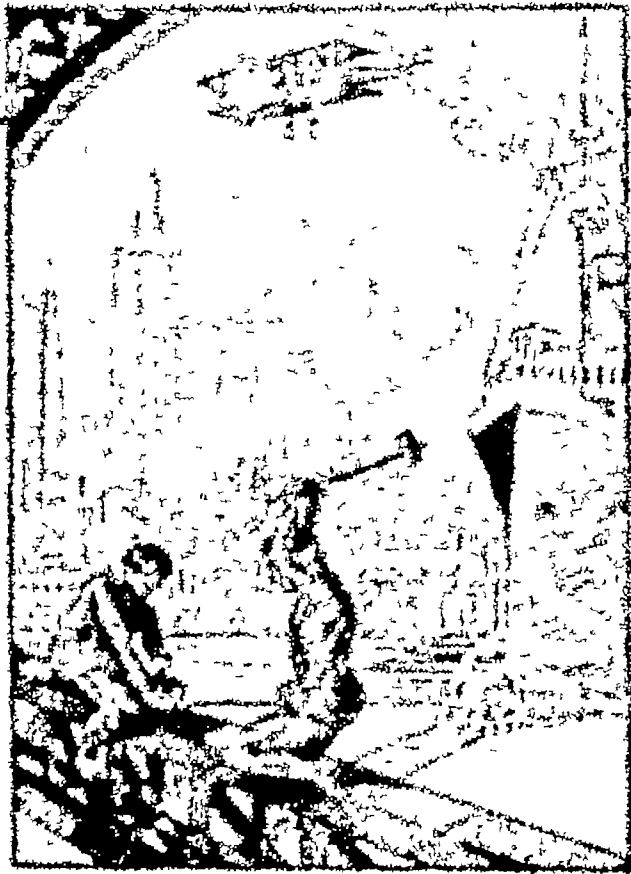
मनुष्य के विकास की सीढ़ी के कुछ डंडे

(१) पेड़ों पर रहने वाला छछूंदर-जैसा कीटभोजी 'श्रू'; (२) सबसे नीची श्रेणी का प्रधान भागीय जीव टारसियस, जो मलाया और समीप के टापुओं में मिलता है, (३) मडागास्कर टापू का गंडेदार दुमवाला अर्द्धवानर लीमर; (४) दक्षिणी भारत और लंका में पाया जाने वाला एक लीमर—(अ) जगता हुआ, (ब) सोया हुआ ; (५) नई दुनिया के नीची जाति वाले (अ) मारमोसेट और (ब) मकड़ी बंदर ; (६) पुरानी दुनिया का (अ) काला मुंहवाला लंगूर और (ब) मामूली बंदर ; (७) बोर्नियो और सुमात्रा में पाया जानेवाला वनमानुष ओरंग उटांग ; (८) बन्दर की तरह पैरों को उठाये हुए लटकता हुआ तीन सप्ताह का मनुष्य-बालक ।

हमारी उत्पत्ति कैसे, कब और कहाँ हुई ?

मनुष्य-जाति का उद्भव और विकास

[illegible]

विकास प्रकृति की गोद में उसी प्रकार हुआ है, जैसे अन्य जानवरों का, तो मनुष्य के विचारों को बड़ा धक्का लगा। डार्विन साहब ने अपनी एक पुस्तक "मनुष्य का जन्म" (Descent of Man, 1871) में यह लिखा है कि "मैं उस छोटे-से बहादुर बन्दर की, जिसने कि अपने संरक्षक के प्राणों की रक्षा करने के लिए भयंकर शत्रु का मुक़ाबला किया था, अथवा अफ्रीका के उस बड़े बन्दर बैबून की, जो अपने एक छोटे साथी को कुत्तों से घिरा देखकर फ़ौरन् पहाड़ से नीचे दौड़ पड़ा था और अपने साथी को कुत्तों के बीच से ले भागा था, सन्तान कहा जाना उतना ही पसन्द करूँगा, जितना कि उस असभ्य मनुष्य की सन्तान कहलाना जो अपने शत्रुओं को सताने और दुःख देने में प्रसन्न होता है।" परन्तु इससे डार्विन साहब का यह आशय न था कि मनुष्य-जाति सीधे-सीधे उन जानवरों की ही सन्तान है; यद्यपि बहुत-से लोगों ने भ्रमवश ऐसा कहना और लिखना शुरू कर दिया था और अब भी कुछ लोग मनुष्य के विकास के सिद्धान्त से यही अर्थ निकालते हैं कि मनुष्य वानरों से ही बन गया है। जो ऐसा सोचते हैं, वे भूल करते हैं। कुछ वैज्ञानिकों ने भी कभी-कभी ऐसी ही बातें कहीं और लिखी हैं, जिससे साधारण लोगों को भ्रम हुआ है। सन् १९२७ में ब्रिटिश एसोसियेशन* के सभापति ने अपने भाषण में कहा था, "मनुष्य का प्रारम्भ क्या है? क्या डार्विन ने ठीक कहा था कि उन्हीं विकासवादी शक्तियों के द्वारा, जो अन्य जानवरों में पाई जाती हैं, मनुष्य बन-मानुष के बीच के किसी स्थान से उठकर अपनी वर्त्तमान स्थिति को पहुँचा है?" उक्त महाशय ने अपने प्रश्न का उत्तर स्वयं ही दे लिया था, "हाँ।" किन्तु जैसा कि वुड-जोन्स साहब ने इसके दो वर्ष पश्चात् "स्तनपोषितों में मनुष्य का स्थान" नामक अपनी पुस्तक में लिखा है, यह सम्मति देना उचित न होगा कि आज का कोई भी वैज्ञानिक मनुष्य की उत्पत्ति के विषय में यह विचार करता हो कि वह किसी भी विद्यमान बन-मानुष या उससे मिलते-जुलते नष्ट-भ्रष्ट पशुओं से पैदा हुआ है। पिछले वर्षों में बहुत-से लेखकों ने इस बात पर ज़ोर दिया है कि यह बिल्कुल स्पष्ट है कि बन-मानुष या वानर और मनुष्य जाति के वर्त्तमान समूह ज़्यादा-से ज़्यादा एक दूसरे के साथ दूर के भाई-बन्धुओं का रिश्ता रखते हैं, या यों कहिये कि वे सब किसी ज़माने में एक ही पुरखे से पैदा हुए हैं। सिद्धान्त तो यह है कि मनुष्य और बन-मानुषों की शाखायें एक ही धड़ से फूटी हैं—वानरों ने एक राह ली और मनुष्य ने दूसरी, किन्तु दोनों के जहाज़ एक ही बन्दरगाह से चले हैं, दोनों एक ही कारख़ाने में बने हैं।

आज हम सब जानते हैं कि पृथ्वी अपनी जगह पर घूमती हुई सूर्य के चारों ओर परिक्रमा लगाती है, यद्यपि प्रतिदिन की बोल-चाल में प्रचलित परंपरा के अनुसार हम अब भी यही कहते हैं कि सूर्य एक ओर से निकलकर और चल-फिरकर स्थिर पृथ्वी के दूसरी ओर डूब जाता है। इसी परंपरा के अनुसार हम कहते हैं कि सूर्य पूर्व में निकलता है और पश्चिम में डूब जाता है। जिस प्रकार कि यह मनुष्य के ढीले-ढाले विचारों का एक नमूना है, उसी प्रकार हमें उन प्रचलित वृत्तान्तों और मतों को भी समझना चाहिए, जो यह बताते हैं कि मनुष्य विद्यमान वानरों के किसी मिलते-जुलते आकार से निकला है। मनुष्य और बन-मानुषों में जो समता या भिन्नता है, वह हम आपको बता चुके हैं, किन्तु यहाँ थोड़ा-सा प्रधानभागियों के विभागों का हाल भी बता देना आवश्यक समझते हैं, जिससे कि आगे समझने में सहायता मिले।

नई दुनिया के बन्दर

नई दुनिया के बन्दर पुरानी दुनिया के बन्दरों से छोटे होते हैं और सब क़रीब-क़रीब पेड़ों पर रहते हैं। वे अधिकतर डरपोक और सीधे-सादे स्वभाव के होते हैं, पुरानी दुनिया के बन्दरों की तरह नटखट और आक्रमणकारी नहीं होते। पुरानी दुनिया के बन्दरों के मुक़ाबले में उनके मस्तिष्क की मुख्य इन्द्रियों के स्थान ज़्यादातर समान रूप से बढ़े होते हैं। यदि कोई परिचित मनुष्य नई और पुरानी दुनिया के बन्दरों के किसी मिले हुए झुण्ड में बिल्कुल दूसरे ढंग के या अपरिचित कपड़े पहनकर अचानक आ जाय, तो पुरानी दुनिया के बन्दर उसकी आवाज़ सुनकर भी उसे न पहचान सकेंगे, परन्तु नई दुनिया के बंदरों के पहचानने में भेष बदलने से कोई बाधा नहीं पड़ेगी। नई दुनिया के बन्दर अपने परिचित मनुष्य को उसकी आवाज़ या पैरों की आहट सुनकर ही पहचान लेते हैं। पुरानी दुनिया के बन्दर किसी को देखकर पहचानने में तेज़ होते हैं, लेकिन वे नई दुनिया के बन्दरों की तरह आवाज़ से किसी को नहीं पहचान सकते। इससे प्रकट है कि वानरों की मानसिक अवस्था (Psycholgy) में बहुत भेद है। नई दुनिया के बन्दर सैबिडी (*Cebidae*) वंश में रक्खे जाते हैं। इनके नथुने एक दूसरे से बहुत दूर पर होते हैं, इसलिए इन्हें चपटी नाक वाले कहा जाता है। मकड़ी बन्दर (Spider Monkey) में आगे की टाँगें पिछली टाँगों से लम्बी होती हैं, किन्तु

* विलायत का एक प्रसिद्ध वैज्ञानिक मण्डल।
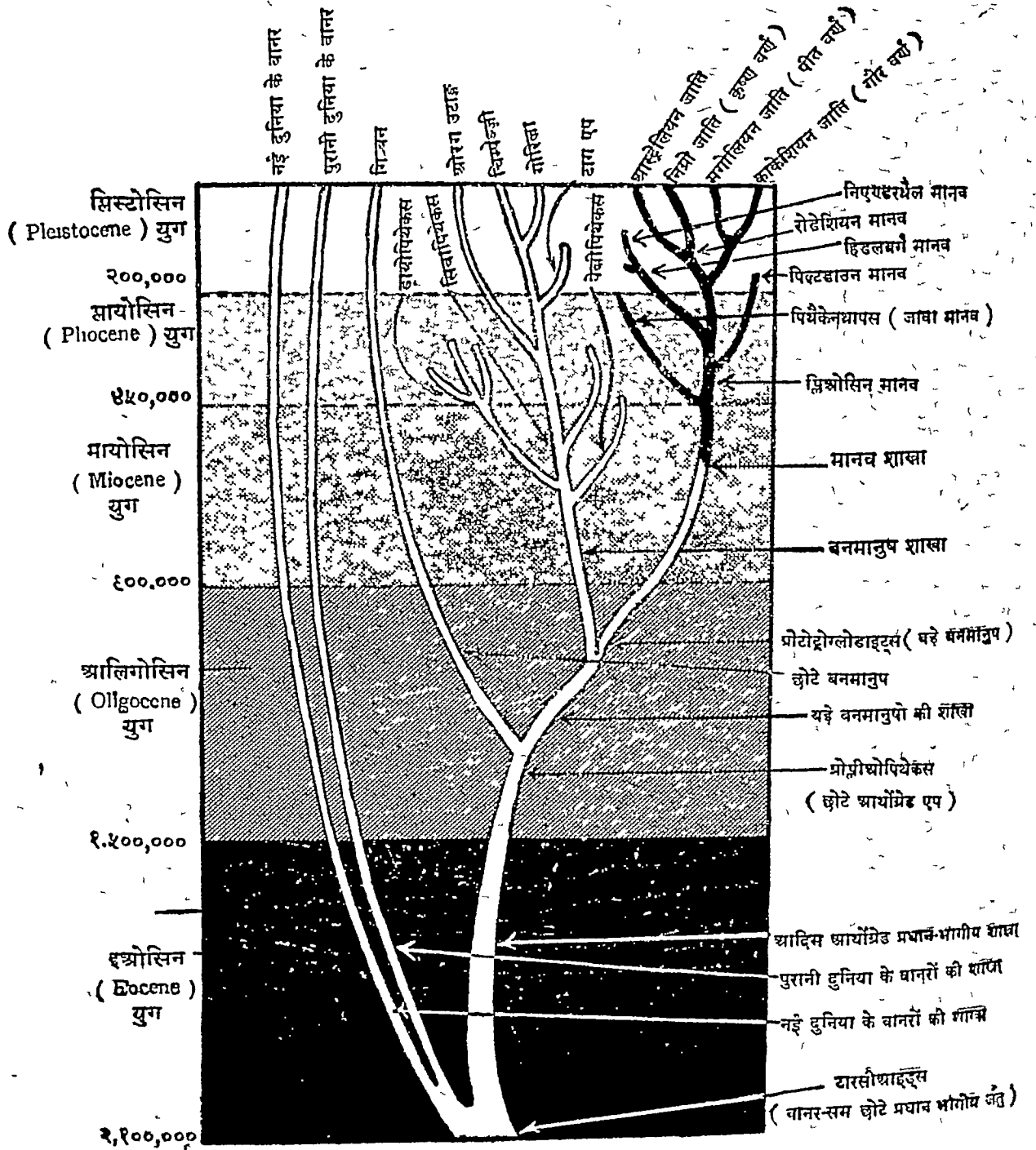
मनुष्य-जाति, वनमानुष और बंदरों का मूल वंश-वृक्ष

यह चित्र मानव-विज्ञान के धुरंधर विद्वान् सर आर्थर कीथ द्वारा तैयार किये एक रेखा-चित्र के आधार पर बनाया गया है। इससे स्पष्ट रूप में समझ में आ सकता है कि किस प्रकार सुदूर अतीत में एक ही प्रधानभागीय मूल तने से दो विशाल शाखाएँ फूटीं, जिनमें से एक डाली की उपशाखाओं से नई और पुरानी दुनिया के बन्दर निकले, और दूसरी डाली से क्रमशः गिब्बन, ओरैंग आदि वनमानुष और मनुष्य की उपशाखाएँ फूटीं। वनमानुष-उपशाखा से ड्रायोपिथेकस, पेलीपिथेकस, सिवापिथेकस, ओरैंग, टैंग एप, गोरिल्ला, चिम्पैंजी आदि निकले और मानव शाखा से पिथैकैनथ्रापस आदि प्राचीन और काकेशियन आदि अर्वाचीन मानव स्वरूप निकले। चित्र की पृष्ठभूमि क्रमशः गहरे और हल्के रंग से विभिन्न युगों का निर्देश किया गया है, जिससे उक्त शाखाओं के फूटने के समय का ज्ञान होता है। मूलवृक्ष के तने में सब से नीचे टारसिआइड्स का निर्देश है जो वानर शाखाओं के फूटने के पहले के प्रधानभागीय रूप का स्मारक है।
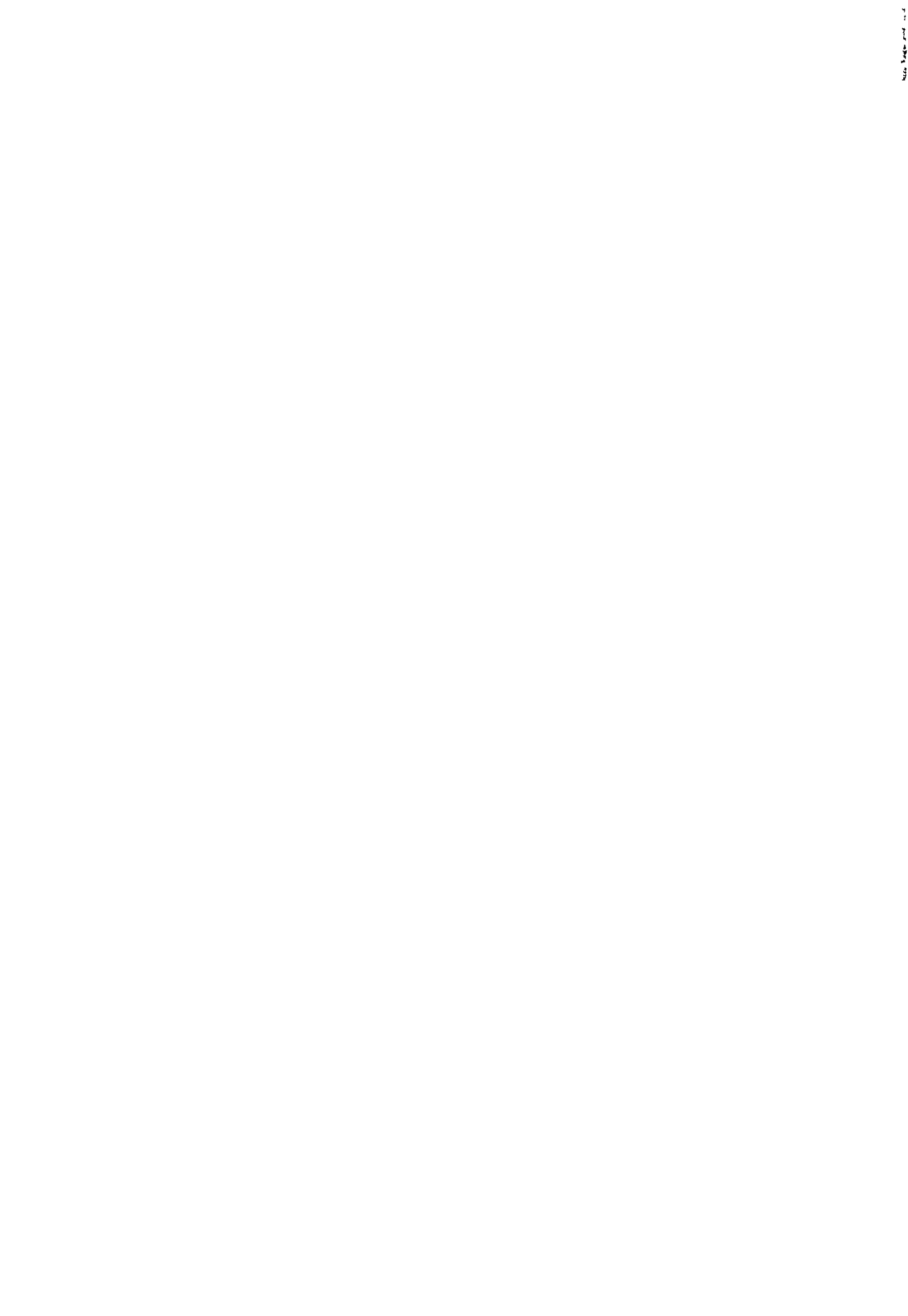
इनमें से कुछ दक्षिणी अमरीका में जा पहुँचे और वहाँ धीरे-धीरे चपटी नाकवाले बन्दर बन गये। दूसरों ने अर्द्ध-वानर और टारसियर्सों के कुछ पुरखों के साथ-साथ यात्रा स्वीकार की। इस यात्रा में ये प्राचीन बन्दर अदल-बदल-कर पुरानी दुनिया के तंग नाकवाले बन्दर हो गये। उन्होंने इस यात्रा के चिह्न उस समय की चट्टानों में छोड़े हैं और उनमें से कुछ चिह्न मिस्र, भारतवर्ष और यूरोप की बहुत प्राचीन चट्टानों के काटने से मिले हैं। तृतीय महायुग के चौथे काल अथवा प्लायोसीन युग के पहुँचते-पहुँचते लंगूर ऐसे कुछ जीव—मध्य-कपि (Mesopithecus) तथा लंबित कपि (Dolichopithecus)—बन चुके थे और यूरोप व एशिया में लगूर, मकाकस और बैबून भी पाये जाने लगे थे। इसके आगे के युगों में इन्हीं रूपों और अन्य समूहों के द्वारा इनका प्रचार सारे एशिया में हो गया। इन्हीं के साथ-साथ उनसे ऊँची श्रेणी के मानव-सम बानरों के पूर्वज भी जन्म ले चुके होंगे। कहा जाता है कि इनका विकास भारतवर्ष के शिवालिक के मैदान में हुआ और यहाँ से ये पूर्वी गोलार्द्ध के भागों में फैले। इनमें से चार अर्थात् गिब्बन, ओरेंग, चिम्पाञ्ज़ी और गोरिल्ला अभी तक मौजूद हैं।

अब यह प्रश्न होता है कि इन मानव-सम वानरों की शाखा क्या पूर्वी गोलार्द्ध में फैले हुए कपि-सदृश वानरों से ही फूटी तथा मनुष्य के तात्कालिक पूर्वज भी क्या इनमें से ही बने? स्थानाभाव के कारण हम इस संबंध में यहाँ विस्तार से नहीं लिख सकते। किन्तु जो बातें अभी तक मालूम हुई हैं, उनसे यह परिणाम निकाला जाता है कि पूर्वी गोलार्द्ध के बन्दरों के सारे कुटुम्ब में कोई भी ऐसा नहीं है, जो मानव-जाति का पुरखा कहा जा सके। इसमें सन्देह नहीं कि बड़े डीलवाले वानर ही बनावट में अन्य जीवों की अपेक्षा मनुष्य से अधिक मिलते हैं। इस विषय के हाल के सभी अधिकारी इस बात में एक मत रखते हैं कि चिम्पाञ्ज़ी और गोरिल्ला वर्ग अन्य जानवरों की अपेक्षा मानव-जाति से अधिक मिलता-जुलता है। तब भी हमको यह भूल न जाना चाहिए कि मानव-जाति और कपि-सदृश तथा मानव-सदृश वानरों में भेद है और उन दोनों के विकास की धारा मानव विकास की धारा से अलग बहती है। वन-मानुषों में कुछ ऐसे रूप भी हैं, जिनमें बन्दरों के मुख्य लाक्षणिक परिवर्त्तन नहीं पाये जाते। कीथ साहब ने हिसाब लगाया है कि पुरानी दुनिया के बन्दरों के लक्षणों की संख्या, जो -मानुषों में भी पाई जाती है, निम्न प्रकार है—गोरिल्ला में १४४, चिम्पाञ्ज़ी में १७२, ओरेंग में २१३ और गिब्बन में ३२३।

इससे यह मानना ही पड़ता है कि वन-मानुष एक प्रकार के परिवर्तित कपि-सदृश बन्दर हैं, किन्तु चारों प्रकार के वन-मानुषों और मनुष्य में अन्य बन्दरों के समान दुम नहीं पाई जाती। यह दुम क्यों और कैसे ग़ायब हुई? क्या उसके ग़ायब होने से ही वन-मानुष और मानव अन्य बन्दरों से भिन्न हो गए? डाक्टर ग्रैगरी साहब की राय है कि बन्दर और मनुष्य के पूर्व-पुरुषों में सीधे बैठने की आदत पड़ जाने से दुम धीरे-धीरे छोटी होती गई और ग़ायब हो गई। लेकिन सर आर्थर कीथ का कहना है कि दुम के ग़ायब होने का कारण इनका सीधा खड़ा होना है; क्योंकि कूल्हे के स्नायु दुम के चलाने तथा आँतों का भार सँभालने में असमर्थ हो गये। वुड-जोन्स साहब की राय है कि दुम का होना या न होना ऐसी बात है कि जिसका कोई ठीक कारण बतलाना सहज नहीं है। बहुत-से समूहों में देखा जाता है कि दो निकट सम्बन्धी प्राणियों में, जो बहुत कुछ एक-सा ही जीवन व्यतीत करते हैं, एक में लम्बी और काम में आनेवाली दुम होती है और दूसरा बिना दुम के होता है। यदि हम पेड़ों पर रहनेवाले जीवों ही की ओर ध्यान दें तो पता लगता है कि उनमें दुमदार और वेदुमदार दोनों ही प्रकार के जीव पाये जाते हैं, चाहे वे खड़े रहनेवाले हैं या बैठनेवाले। पेड़ों पर चढ़नेवाले मासभोजी श्रेणी के जन्तुओं में बहुत-सी लम्बी दुमवाली बिल्लियाँ, वेदुमदार लिन्क (Links), और दुम से पकड़नेवाले किंकाजू हैं। थैलीवाले जन्तुओं में भी दुमदार, वेदुमदार तथा पकड़नेवाली दुमवाले जन्तु पाये जाते हैं। अर्द्ध-वानरों मे भी बहुत-से लम्बी दुमवाले और बहुत-से वेदुमदार हैं। इसी प्रकार नई और पुरानी दुनिया के बन्दरों में भी लम्बी दुमवाले, दुम से पकड़नेवाले और वेदुमदार जीव मिलते हैं, परन्तु इनमें यह देखा जाता है कि जहाँ लम्बी दुमवाले कूदने-फाँदने में तेज़ होते हैं, वहाँ जिनकी दुम में पकड़ने की शक्ति होती है, वे लटकने और झूलने में चतुर होते हैं, तथा वेदुमदार बंदर हाथों से पकड़कर चढ़ने में निपुण होते हैं।

इससे विदित होता है कि सबमें दुम न तो बैठने के कारण और न खड़े होने के कारण ही घिसी और न आँतों के बोझ सहने की वजह से ही। साथ-ही-साथ यह भी जान पड़ता है कि दुम के ग़ायब हो जाने से इनके पेड़ों पर चढ़ने का ढंग भी बदल गया। अब वे हाथों से चढ़नेवाले

रह गये और न उतनी मज़बूत गर्दन ही। कार्वेथ रीड साहब का कहना है कि इस प्रकार जहाँ सिर आक्रमणों से बचा रहने लगा और खोपड़ी की मोटाई कम हो गई, वहाँ उसके भीतर की खोखली जगह और दिमाग़ बढ़ता गया, जिससे चेहरे सुडौल, जबड़े छोटे, और मस्तक सीधा व ऊँचा हो गया। कालान्तर में इन आदिम नराकार प्राणियों ने बनमानुषों से अलग होकर मानव का रूप और ढग धारण कर लिया। पर इन साधारण परिवर्तनों के होने में भी कई लाख वर्ष लग गये।

प्रश्न उठता है कि ज़मीन पर रहनेवाले गोरिल्ला आदि बनमानुषों में भी ऐसे ही परिवर्तन क्यों नहीं हुए? वे भी मनुष्यों के पुरखों की तरह सारी धरती पर क्यों नहीं फैल गये? इसका उत्तर यही जान पड़ता है कि मनुष्य के पूर्वज केवल शाकाहारी ही नहीं रहे, बल्कि वे शिकारी और मासाहारी भी हो गये। इसलिए उन्हें केवल फलवाले जगलों में ही रहने की आवश्यकता न रह गई। वे स्थलवासी पशुओं को मारकर खाते हुए जगलो से ढके गर्म देशों को छोड़कर सम्पूर्ण पृथ्वी पर फैल गये; किन्तु बेचारे बनमानुष आज तक फलाहारी ही बने हैं और अफ्रीका के उष्ण कटिबन्धीय वन, मलाया प्रायद्वीप तथा सुमात्रा और बोर्नियो के घने जंगलों में ही पाये जाते हैं, जहाँ आहार के लिए खाने योग्य शाक-पात साल भर मिलता रहता है। यहाँ के अतिरिक्त वे और कहीं ...पाये जाते। उनमें से चिम्पेञ्ज़ी और गोरिल्ला कभी-कभी भूमि पर उतर तो आते हैं, लेकिन रहने के लिए झोपड़ी पेड़ों पर ही बनाते हैं। वे मानवीय पुरखों की भाँति बनों से छुटकारा नहीं पा सके। कहा जा सकता है कि वनवासी फलाहारी जीव भी शाकपात खाते हुए बनों को छोड़ अन्य देशों में फैल सकते थे, जैसे कि गाय, बैल, भैंस इत्यादि। परन्तु इससे वे न तो सीधे खड़े होनेवाले दोपाये हो सकते थे, न उनके मस्तिष्क की वृद्धि ही हो सकती थी और न मनुष्य के विशेष लक्षणों को ही वे पा सकते थे। यह भी सम्भव है कि कुछ शिकारी मानवीय पूर्व पुरुष जब ऐसे देशों में पहुँच गये, जहाँ उन्हें खाने-योग्य नर्म शाक-पात बिल्कुल न मिल सका या कम मिलने लगा, तो वे उनके बदले मास के साथ-साथ कद-मूल व दूसरी खुरदरी वस्तुएँ भी खाने लगे। इस कारण उनके दाँत भी इस नये आहार के अनुरूप बदल गये।

हमारे पूर्वज अपनी उन्नति के मार्ग में कुछ ऐसी अवस्थाओं से गुज़रे होंगे जिनका कि हमारे पास प्रस्तर-विकल्प (Fossils) में कोई प्रमाण नहीं है। फिर भी यह निश्चित है कि लगभग मध्य मायोसीन काल तक लाइकोपिथेकस (*Lycopithecus*) जैसा कोई वानर पृथ्वी पर था। उसके बाद धीरे-धीरे वह दूसरी श्रेणी में पहुँचा। इस अवस्था मे शायद वह प्लायोसीन काल के मध्य तक रहा। इसी युग में उसमें मानव रूप और गुण का कुछ अंश आने लगा [जैसा कि प्रस्तर-विकल्प प्रोटोरैन्थ्रोपस
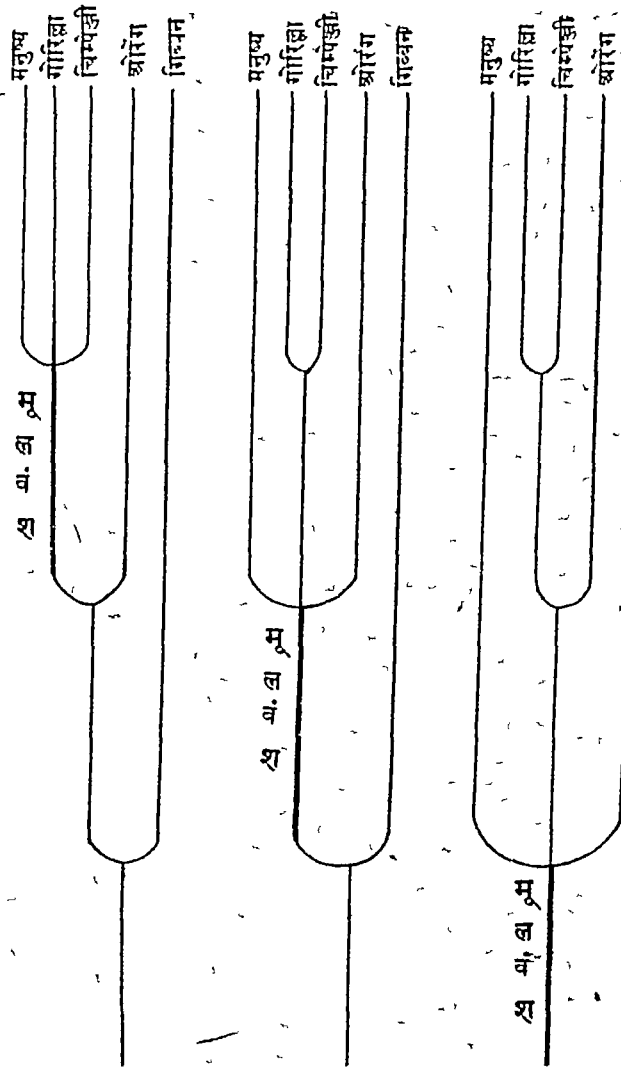
मनुष्य और बनमानुषों के मूलवंश संबंधी तीन मत

(१) मनुष्य, गोरिल्ला और चिम्पेञ्जी एक ही मूलवंश की तीन समान उपशाखाएँ हैं। ओरैंग और गिब्बन इनसे बहुत पहले ही पृथक् हो चुके थे। (२) एक ही मूलवंश से तीन शाखाएँ निकलीं—पहली मनुष्य की, दूसरी ओरैंग की और तीसरी गोरिल्ला और चिम्पेञ्जी की, जो दो भागों में बँट गई। गिब्बन पहले हा अलग हो गया था। (३) एक ही मूलवंश से तीन शाखाएँ फूटीं—एक से मनुष्य, दूसरी से गिब्बन और तीसरी से क्रमश तीन उपशाखाओं के रूप में ओरैंग, चिम्पेञ्जी और गोरिल्ला निकले।

मानुषों से नये वन-मानुष पैदा हुए। मनुष्य के सब से प्राचीन प्रस्तर-विकल्प अभी तक भारतवर्ष में कहीं नहीं मिले। यह कहना कठिन है कि वर्तमान मनुष्य की उत्पत्ति भारतवर्ष में हुई है। डार्विन साहब का विचार था कि मनुष्य-वंश का मूल घर अफ्रीका है। जब सन् १८९१ में एक बड़े प्राचीन मनुष्य की खोपड़ी (पिथैकेन्थ्रोपस) जावा के टापू में मिली, तो यह धारणा की गई कि मनुष्य के उत्पन्न होने की जगह जावा या पूर्वी एशिया है, अफ्रीका नहीं। जब सन् १९२९ और उसके आगे के वर्षों में चीन में पेकिंग नगर के आस-पास मानव जाति की कई पूरी खोपड़ियाँ [साइनेनथ्रोपस (*Sinanthropus*)] और हड्डियाँ मिलीं, तब यह बात और भी पक्की हो गई।

लेकिन जब प्राचीन मनुष्यों की ये दो जातियाँ पूर्वी देशों में रहती थीं, दूर के पश्चिमी देशों में एक और जाति इयनथ्रोपस (*Eoanthropus*) घूमती फिरती थी। इसके प्रस्तर-विकल्प विलायत में पिल्टडाउन-नामक स्थान में मिले हैं। लगभग १५ लाख वर्ष पूर्व प्लायोसीन काल समाप्त होने के पहले सारी पुरानी दुनिया में मनुष्य के बिगड़े हुए स्वरूप अवश्य फैले हुए थे। जहाँ तक प्रमाण मिलता है, मनुष्य-वंश से सचमुच मिलनेवाले वानर भारतवर्ष के पश्चिमी भागों में ही पाये जाते थे। इससे यह अधिक सम्भव प्रतीत होता है कि मनुष्य-वंश की शैशवावस्था हिमालय और अफ्रीका के बीच के देश मसोपोटामिया के ही आस-पास बीती होगी। हाल ही में स्वेन हैडेन ने मंगोलिया के रेगिस्तानों में खोज की है और इस खोज में प्राचीन मनुष्य के साथ रहनेवाले बड़े-बड़े जानवरों के प्रस्तर-विकल्प पाये हैं। इससे पता चलता है कि मनुष्य की उत्पत्ति शायद यहीं कहीं या गोबी के रेगिस्तान में हुई हो। रूस के कुछ वैज्ञानिकों ने, लगभग एक वर्ष हुआ, प्रोफेसर कैप्टैरैफ के नेतृत्व में एक खोज-सम्बन्धी यात्रा करने का प्रयत्न किया। कैप्टेरैफ़ का कहना है कि उम्मीद है कि हमें उत्तरखंड के ध्रुव-प्रदेश के आस-पास मनुष्य के पूर्वजों के शव बर्फ़ के भीतर ढके हुए मिलें, जिन से पता चलेगा कि वे काले थे या गोरे; उनके शरीर पर लम्बे और सीधे बाल थे या छोटे और घुँघराले, वे दाढ़ी रखते थे या नहीं; किसी प्रकार के कपड़े पहनते थे या नहीं; वे लम्बे या सुन्दर थे, अथवा नाटे और बदसूरत, तथा वे बन्दर की-सी शक्ल के थे या नहीं। प्रोफेसर साहब का विचार है कि वे इन प्राचीन मनुष्यों के शवों को ध्रुव-प्रदेश की किसी खोह या गुफा में बर्फ़ में जमे-जमाये पायेंगे।

मनुष्य कितना पुराना है?

मनुष्य कितना पुराना है, इस संबंध में भी विद्वानों में बहुत मतभेद है। सर आर्थर कीथ ने ३-४ वर्ष हुए एक अभिनन्दनपत्र के उत्तर में कहा था कि वर्तमानकाल के चारों प्रकार के मनुष्य, अर्थात् श्वेतांग, पीतांग, रक्तांग और कृष्णांग। मध्य प्लायस्टोसीन काल में एक ही शाखा से पैदा हुए थे; किन्तु हाल की कुछ खोजों ने उनको यह विचार बदलने के लिए बाध्य कर दिया है। अब ऐसा जान पड़ता है कि प्लायस्टोसीन काल के आरम्भ में ही, लगभग ५ लाख वर्ष हुए, मंगोल, आस्ट्रेलियन और नीग्रो के पूर्वज महाद्वीपों पर फैल चुके थे। इसके पश्चात् इन सभी जातियों में एक ही से ऐसे परिवर्त्तन हुए जिनकी वजह से वे वानरों के रूप को छोड़कर मनुष्य के रूप को धारण करती गईं; जैसे जबड़ों और दाँतों का छोटा होना, मस्तिष्क का बड़ा होना इत्यादि। जे० रीड मौयर ने हाल ही में कहा है कि सन् १९२९ में पेकिंग में पाया गया मनुष्य दस लाख वर्ष पुराना है। प्लायोसीन काल में पूर्वी इंगलिस्तान में ऐसे बलवान् पूर्वज देखे जाते थे, जो चट्टानों से बड़े-बड़े चिप्पड़ उखाड़ सकते थे और उनसे औज़ार बना सकते थे। इनको लगभग २० लाख वर्ष हो गये। अमरीका के प्रसिद्ध प्रस्तर विकल्प शास्त्री (Palæontologist) प्रो० ओसबोर्न का कथन है कि मनुष्य सर आर्थर कीथ तथा अन्य वैज्ञानिकों के बताये हुए समय से ६० लाख वर्ष अधिक पुराना है। वह विश्वास करते हैं कि मनुष्य बन्दरों की शाखा से ६० लाख वर्ष नहीं, वरन् लगभग १ करोड़ ५० लाख वर्ष पहले अलग हुआ। १२ लाख ५० हज़ार वर्ष तो मनुष्य को हाथी तथा अन्य स्तनपोषितों का शिकार करते बीत गये, क्योंकि प्राचीन हाथियों के दाँत मनुष्य के प्रस्तर-विकल्पों के साथ-साथ पाये गये हैं। इसी गणना के अनुसार विलायत में पिल्टडाउन नगर में पाये हुये मनुष्य की आयु १२ लाख ५० हज़ार वर्ष होती है, किन्तु जावा के ट्रिंडल मनुष्य की आयु ६ लाख ही रह जाती है। प्रोफ़ेसर स्विनरटन साहब ने इस विषय के सम्बन्ध में बहुत ही सुन्दरता से निम्न शब्दों में लिखा है—

"वैज्ञानिक लोग थियेटर देखनेवाली जनता की तरह हैं, जो रंगमंच पर एक अभिनेता को एक आवारे का अभिनय करते देखती है और थोड़ी ही देर बाद उसे एक राजकुमार के रूप में सामने पाती है, परन्तु वह पर्दे के पीछे जाकर यह नहीं देख पाती कि उस आवारे ने किस प्रकार और कैसे राजकुमार का भेष धारण कर लिया!"

इतनी खोज के बाद भी हम पाते हैं कि वल्क का अधिकांश भाग ऐसा है, जिसकी उपयोगिता का हमको पता नहीं है। वह भाग बिलकुल अक्रियाशील-सा लगता है। अनुमान यह किया जाता है कि उक्त अक्रियाशील क्षेत्र बुद्धि के विकास मे सम्बन्धित है। इसके लिए एक प्रमाण यह मिलता है, जैसा कि डॉ० हगलिङ्गस जैक्सन का मत है, कि वात-सूत्र-प्रणाली धरातलों के एक सिलसिले से बनी हुई है, और वे धरातल एक-दूसरे पर बिछे हुए हैं। इनमें का सबसे ऊपरी धरातल विकास के क्रम में नवीनतम है। इस सत्य को हम तब स्वीकार करते हैं, जब हम 'वल्क' (Cortex) को मस्तिष्क का नवीनतम परिधान या ढक्कन कहते हैं। इस वल्क में यह अक्रियाशील क्षेत्र अन्य भाग की अपेक्षा अपनी नवीनता प्रकट करता है। इसलिए वल्क का यह अक्रियाशील भाग मस्तिष्क का नवीनतम और उच्चतम अंग समझा जाना चाहिए, जिससे मानव मस्तिष्क की प्रगतिशीलता का परिचय मिलता है।

यद्यपि छोटी-छोटी विस्तार की बातों में प्रत्येक स्थूल मस्तिष्क में कुछ-न-कुछ विभिन्नता अवश्य होती है, फिर भी साधारणतया सभी बातें समान होती हैं। जैसा कि पहले लेख में बतलाया जा चुका है, 'बृहत् मस्तिष्क' दो गोलार्द्धों में विभाजित है। इन्हें वाम और दक्षिण गोलार्द्ध कहते हैं। ये एक दरार के द्वारा अलग होते हैं और इन पर भूरे पदार्थ की एक पपड़ी-सी पड़ी रहती है, जो साँप की कुण्डली की तरह भीतर के सफेद पदार्थ पर छायी रहती है। यह कुण्डलीनुमा पपड़ियाँ बहुत ही असमान होती हैं और इस कारण इन गोलार्द्धों के धरातल खूब ऊबड़खाबड़ होते हैं। जितना ही ऊँचा धरातल होगा, मस्तिष्क में उतना ही अधिक रक्त का संचार हो सकेगा। साधारणतया बुद्धि की मात्रा उक्त भूरे पदार्थ की कुण्डलियों की सख्या के अनुपात में ही होती है। अब यह निश्चित हो चुका है कि बृहत् मस्तिष्क ही विवेक, बुद्धि, इच्छा और भावना आदि का प्रधान केन्द्र है।

'बृहत् मस्तिष्क' की तरह 'लघु मस्तिष्क' भी दो गोलार्द्धों से बना हुआ होता है और उसकी सतह पर भी उक्त धूसर पदार्थ की कुण्डलीनुमा जमावट होती है, किन्तु वह जमावट 'बृहत् मस्तिष्क' की तुलना में अधिक क्रमबद्ध और नियमित होती है।

यही लघु मस्तिष्क शारीरिक गतियों का संचालन और नियमन करता है। चलना, दौड़ना, कूदना, उठना, बैठना आदि क्रियाएँ लघु मस्तिष्क के ही संकेत और आज्ञा पर होती हैं। यदि 'लघु मस्तिष्क' में कोई खराबी पैदा हो जाय, तो आदमी किसी अंग को हिला तो सकेगा, पर वह शरीर का संतुलन स्थिर नहीं रख सकेगा, फलतः वह चल नहीं पायगा। यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि 'लघु मस्तिष्क' से विभिन्न अंगों की अपने आप होनेवाली गति पैदा नहीं होती, वरन् उसका नियन्त्रण मात्र उसके द्वारा होता है।

स्थूल मस्तिष्क की भीतरी सतह से वात-तंतुओं के १२ जोड़े निकलते हैं। इनमें का पहला जोड़ा गन्ध-तन्तु या घ्राण-नाड़ियों का होता है, जो नाक के भीतरी प्रदेश अर्थात् घ्राण प्रदेश तक जाता है।

दूसरा जोड़ा दृष्टि-तन्तु अथवा दृष्टि-नाड़ियों का होता है। तीसरा जोड़ा, जो 'दृष्टि-संचालक-तंतु' कहलाता है, उन मांस-पेशियों तक जाता है, जिनसे आँख की पलकों का सचालन होता है। चौथा जोड़ा भी आँखों की गति से संबंधित है।

तंतुओं के पाँचवें जोड़े में सबसे बड़े तंतु होते हैं, जिनमें चालक या गति-सबधी (Motor) और ज्ञान वाहक या सावेदनिक (Sensory) दोनों प्रकार के तंतु होते हैं। इनके द्वारा चेहरे के चमड़े तथा निचले जबड़े और जीभ की मास पेशियाँ गति प्राप्त करती हैं।

छठा जोड़ा उन मांस-पेशियों तक जाता है, जो पलकों को बाहर की ओर मोड़ती हैं। इस तरह हम देखते हैं कि आँख की मास-पेशियाँ तीन स्पष्ट वात-तंतुओं के जोड़ों से वात सूत्र प्राप्त करती हैं।

वात-तंतुओं का सातवाँ जोड़ा चेहरे की मांस पेशियों को वात-सूत्र प्रदान करता है। आठवें जोड़े को श्रवण-तंतु या श्रावणी नाड़ियाँ कहते हैं। नवाँ जोड़ा दो प्रकार के तंतुओं अर्थात् चालक-तंतुओं और ज्ञान-तंतुओं से मिलकर बना होता है अतः उनमें एक के द्वारा हलक, जीभ, नाक आदि के सधि स्थान की मास-पेशियाँ गति प्राप्त करती हैं, तथा दूसरे के द्वारा हमें स्वाद का ज्ञान होता है।

वात-तंतुओं का दसवाँ जोड़ा भी मिश्रित प्रकार का होता है। इससे हलक, फेफड़े, कलेजे, पेट और लिवर या प्लीहा का सचालन होता है। ग्यारहवाँ जोड़ा चालक नाड़ियों का होता है, जिनसे गर्दन की कुछ मास-पेशियाँ सचालित होती हैं। बारहवाँ जोड़ा भी चालक नाड़ियों ही का होता है, जिनसे जीभ की मास-पेशियों को वात-सूत्र प्राप्त होते हैं।

यदि कोई सांवेदनिक या ज्ञान-तंतु चोट खा जाता है तो अनुभूति मर जाती है और यदि कोई चालक या गति-संबंधी तंतु बिगड़ जाता है, तो अंग-विशेष की गति नष्ट हो जाती है, जैसे लकवा आदि रोगों में होता है।

है, तो राल अपने आप अधिक निकलती है ताकि मुँह मे का सूखा खाना अपने आप तर हो जाय। इसके विपरीत तरल पदार्थों के खाने में राल की मात्रा और उसकी जमावट बहुत कम होती है। ये क्रियाएँ साधारणतया मस्तिष्क के अध्ययन के दायरे में आती हुई नहीं लगतीं, क्योंकि इन स्वयंचालित क्रियाओं में मस्तिष्क कोई स्पष्ट काम करता हुआ नहीं प्रतीत होता। पर आगे हम देखेंगे कि मानसिक क्रिया से इनका स्पष्ट सम्बन्ध है।

ये स्वयंचालित क्रियाएँ (Reflex Actions) पोफ़ोलोफ के मत के अनुसार दो प्रकार की होती हैं—एक अभ्यस्त और दूसरी स्वाभाविक। इसका अन्तर निम्न प्रयोग से समझा जा सकता है, जिसे पोफोलोफ ने स्वयं किया था। एक कुत्ते को एक शान्त कमरे में बन्द करके अगर ऊपर से किसी छेद के ज़रिये कोई बर्तन लटकाया जाय, तो पहले दिन वह बर्तन की आवाज़ सुनकर शान्त रहेगा और जब बर्तन ज़मीन पर आ लगेगा, तब उठकर उसे सूँघेगा, चाटेगा और फिर खाना शुरू करेगा। परन्तु इस तरह अगर बार-बार और नित्यप्रति किया जाय तो वह कुत्ता बर्तन के खटकने को ही खाना पहुँचने का सकेत समझ लेने का आदी हो जायगा और उसके शब्द के साथ ही जीभ चाटना, दुम हिलाना, लोटना-पोटना आदि शुरू कर देगा। उसकी यह आदत या क्रिया अर्जित अथवा अभ्यस्त होगी, जब कि पहले दिन की उसकी क्रिया स्वभाव-सिद्ध कही जायगी। किन्तु इस प्रकार अर्जित या अभ्यस्त क्रिया से स्वाभाविक क्रिया अधिक शक्तिसम्पन्न और दृढ होती है; क्योंकि अभ्यस्त क्रिया में मस्तिष्क की बहुत उलझी हुई क्रियाएँ होती हैं।

अगर कोई अपने नित्य के कामों पर ग़ौर करे और यह विचार करे कि उनमें का कितना अश उसके निज के अनुभवों से कार्यान्वित होता है और कितना स्वभावत., तो उसकी समझ में अर्जित और स्वाभाविक क्रियाओं का अतर बड़ी आसानी से आ सकता है, यद्यपि इसमे भी ग़लतफ़हमी होने की गुजायश है और कई अर्जित आदतों से होनेवाली क्रियाएँ भूल से स्वभावसिद्ध समझी जा सकती हैं, क्योंकि आधुनिक मनोविज्ञान इस बात को अधिकाधिक सिद्ध करता जाता है कि हमारी बहुत-सी क्रियाएँ जो स्वभाव-सिद्ध समझी जाती हैं, बचपन की किन्हीं विस्मृत घटनाओं पर निर्भर रहती हैं।

पोफोलोफ की खोज का मूल सूत्र यह है कि बृहत् मस्तिष्क के गोलार्द्धों की क्रियाएँ दो विरोधी प्रणालियों (Processes) के पारस्परिक सघर्षण द्वारा नियन्त्रित होती हैं, और वे प्रणालियाँ हैं— उत्तेजन (Excitation) और अवरोध (Inhibition)।

उदाहरण के लिए 'हृदय' (Heart) को लिया जाय। हृदय एक स्वय-चालित पम्प जैसा यंत्र है। यदि यह शरीर से निकाल लिया जाय और इसकी ठीक देख-भाल रखी जाय, तो भी वह चलता रह सकता है, लेकिन शरीर में उसकी गति जिस प्रकार नियन्त्रित होती है, वह बाहर नहीं हो सकती। शरीर में कभी उसकी गति तेज और कभी धीमी होती रहती है, ताकि वह शरीर की आवश्यकताओं को पूरी कर सके। इसके लिए हृदय के नीचे दो जोड़े वात-सूत्र के होते हैं, जिनमें एक सदेशवाहक है, जो हृदय की गति को तेज करता है, दूसरा है सदेश का सचय करनेवाला, जो उसे धीमा करता है। पहला हृदय को उत्तेजन प्रदान करता है और दूसरा उसका उचित अवरोध करता है।

अब देखा जाय कि साधारणतया किस तरह गति उत्पन्न होती है। हमारे सभी विचार, चिन्तन की क्रियाएँ और इच्छायें 'बृहत् मस्तिष्क' (Cerebrum) में पैदा होती हैं। ज्योंही एक अंग को हिलाने की इच्छा पैदा होती है, त्योंही बृहत् मस्तिष्क से एक 'वात-प्रवाह' शरीर के उस भाग की ओर प्रवाहित होता है, जिधर वह अंग विशेष होता है और उस तरफ़ से होते हुए वह 'महासयोजक' तक जाता है। 'महासंयोजक' से एक 'शक्ति प्रेरणा' (Motor Impulse) सुषुम्ना के ऊपर से उसके नीचे तक गुज़रती है और वहाँ से वाततन्तुओं के द्वारा वह उस अग विशेष तक पहुँचती है। तब कही जाकर वह अंग-विशेष शक्ति प्राप्त करता है और गतिशील होता है।

इस क्रिया में एक विचित्र बात हम यह देखते हैं कि एक प्रेरणा जो स्थूल मस्तिष्क के दक्षिण भाग में उठती है, वह महासंयोजक के रास्ते मस्तिष्क के वाम भाग को जाती और वहाँ से सुषुम्ना के वाम भाग के नीचे तक उतरकर शरीर के वाम भाग में स्थित अग-विशेष में वितरित हो जाती है।

इसी प्रकार 'ज्ञान-प्रेरणा' (Sensory Impulse) भी, जो किसी ज्ञान-इन्द्रिय से उठती है, बृहत् मस्तिष्क से गुज़रकर शरीर के दूसरे भाग को जाती है, और उस प्रेरणा के गुजरने का मार्ग भी महासयोजक से होकर ही है। अतएव मस्तिष्क की तार-घर्की के आफिस में बृहत् मस्तिष्क और महासंयोजक मानो 'एक्सचेंज' का काम करते हैं।

युग में पुरुष ने स्त्री और सन्तान को अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति समझा और इस प्रकार मातृसत्तावादी परिवार पितृसत्तावादी परिवार में परिणत हो गए तथा 'परिवार' वास्तविक रूप में एक निकट-सम्बन्धियों का समूह हो गया। मिश्रित परिवार भी इसी युग में स्थापित हुए, जब मनुष्य पति-पत्नी के छोटे समूहों में विभाजित होकर भी अपने सम्बन्धियों व बान्धवों के साथ रहने लगे। इस प्रकार स्त्री-पुरुष के जन-समूहों (hordes) ने व्यक्तिगत परिवार (families) का रूप धारण कर लिया। पति-पत्नी-समूह का निर्माण इसलिए भी हुआ कि स्त्री-जाति अविवेकी समागम से थककर इस प्रथा से घृणा करने लगी। इसलिए निश्चित रूप से किसी विशेष व्यक्ति से विवाह करने की प्रथा आरम्भ हुई। इस युग में स्त्री और सन्तान पुरुष के अधीनस्थ रहे। क्रमशः स्त्री के व्यक्तित्व का विकास हुआ और धीरे-धीरे उसकी दासता की बेड़ी शिथिल हुई। आज परिस्थिति इस सीमा को पहुँच चुकी है कि स्त्री जाति विवाह के बन्धन में फँसना ही नहीं चाहती। सन्तानोत्पत्ति के सम्बन्ध में भी जहाँ बड़ा परिवार होना सौभाग्य का चिह्न समझा जाता था और परिवार-वृद्धि के लिए पुरुष अनेक विवाह तक करते थे, वहाँ अब स्त्रियाँ गर्भधारण करना तक नहीं चाहतीं। साराश यह है कि अब स्त्री-जाति ने अपने व्यक्तित्व को पहचाना है। स्त्री अब किसी प्रकार भी पुरुष की आज्ञाकारी दासी नहीं बनना चाहती, वरन् पुरुष के बराबर होने का दावा करती है। परिवार के विकास-क्रम की यह धारणा 'उत्क्रान्तिक धारणा' (Evolutionary hypothesis) कहलाती है।

परिवार-विकास की दूसरी कल्पना यह है कि परिवार का रूप आर्थिक आवश्यकताओं अथवा आर्थिक स्थिति के अनुकूल बदलता रहा है। यह धारणा 'आर्थिक निर्माण-आधार' (Economic determinism) के नाम से प्रसिद्ध है। कार्ल मार्क्स की धारणाएँ इस विचार की पुष्टि करती हैं। इस अनुमान के अनुसार आर्थिक विकास के क्रम के साथ-साथ परिवार का रूप हर समय में भिन्न भिन्न रहा है। मनुष्य-परिवार का निर्माण आर्थिक जीवन को सरल बनाने के हेतु हुआ था। बच्चों का पालन-पोषण, रक्षा, भोजन-प्रबन्ध, निवास-गृह की आवश्यकता इत्यादि को पूरा करने के लिए माता-पिता व सन्तान एक स्थान पर सामूहिक रूप से रहने के लिए बाध्य हुए। और यही सुसंगठित परिवार का मुख्य ध्येय है। प्रारम्भिक समय में, अर्थात् उस काल में जब केवल मृगया ही मनुष्य का आधार था, बच्चों के पालन-पोषण तथा उनकी अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति का भार पूर्णतया माता पर ही रहता था और वह भी उस समय तक जब तक कि बच्चे स्वयं अपने भोजनादि का प्रबन्ध करने को समर्थ न हो जायँ। दूसरी ओर पिता अपनी शक्ति का प्रयोग मृगया में करता था और आखेट द्वारा प्राप्त भोजन से अपने परिवार का उदर-पोषण करता था। अतः इस काल में वंश-संगठन बहुत ढीला था। चरवाहों के समय में मनुष्य का निवास-स्थान कुछ स्थिर हो गया था और उस समय पति-पत्नी व उनकी संतान एकत्रित होकर रहने लगे थे। अतएव इस परिवार को किसी अंश तक संगठित कह सकते हैं, क्योंकि इस समय हम परिवार के प्रत्येक व्यक्ति को एक-दूसरे की सहायता करते पाते हैं। खेती के समय में भोजनादि की सामग्री अधिकाश में निश्चित हो गई थी, परन्तु खेती के कठिन

आदि युग में मनुष्य

स्त्री द्वारा सतान का पालन-पोषण और पुरुष द्वारा उनकी रक्षा की नैसर्गिक भावनाओं के रूप में भावी परिवार के सूक्ष्म बीज आदि युग ही में मनुष्य के पुरखों में विद्यमान रहे होंगे।

तीसरी विचारधारा यह है कि परिवार का प्रमुख ध्येय व्यक्तिगत तृप्ति है। प्रत्येक मनुष्य, चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, परिवार में इसलिए सगठित होता है कि उसके निजी व्यक्तित्व का पूर्ण रूप से विकास हो सके। इस धारणा के अनुसार व्यक्तित्व का विकास (Development of Individuality) ही परिवार का सगठन-आधार है, और परिवार कुछ व्यक्तियों का समूह मात्र है। इस मत के अनुसार यदि किसी परिवार में व्यक्तित्व का पूर्ण विकास नहीं हो पाता, तो वह परिवार त्याज्य अथवा बदलने योग्य है। परिवार का रूप केवल वही होना चाहिए, जो प्रत्येक मनुष्य के व्यक्तित्व को पूर्ण रूप से चमका दे। यदि परिवार स्त्री को पुरुष के अथवा सन्तान को माता-पिता के अधीन बनाता है अथवा उनकी स्वतन्त्रता में बाधक होता है, तो वह परिवार दोषपूर्ण है। इस मत के अनुसार परिवार का रूप सदैव व्यक्तिगत विकास की सुगमता के अनुसार बदलता रहा है और भविष्य में भी बदलता रहेगा।

इसमें संदेह नही कि तीनों विचारधाराओं की पुष्टि परिवार के रूप, कार्य व संगठन की शैली से होती है, परतु इन तीनों में से कोई भी विचारधारा परिवार-संगठन व पारिवारिक रूप को पूर्णतया स्पष्ट नहीं कर पाती। वास्तव में तीनों शक्तियाँ हर समय में परिवार-संगठन को प्रेरित करती रही हैं और परिवार के रूप-निर्माण में उनका प्रभाव बहुत प्रबल रहा है। परिवार का वास्तविक रूप इन तीनों धारणाओं से मिश्रित है और परिवार के प्रत्येक स्वरूप में तीनों धारणाओं के चिह्न पाये जाते हैं। जैसे-जैसे सामाजिक उन्नति हुई है, वैसे-वैसे सभ्यता, आर्थिक आवश्यकता और व्यक्तित्व के आधार पर परिवार का रूप बदला है, और भविष्य में भी इन तीनों प्रबल शक्तियों का प्रभाव परिवार के रूप पर पड़ते रहने की सम्भावना है। इन प्रभावशाली शक्तियों के अधीन परिवार के भावी रूप के चिह्न आज भी दृष्टिगोचर होते हैं। नवीन आर्थिक पद्धति ने पति-पत्नी को आज बहुताश में स्वतन्त्र कर दिया है। अब पत्नी पति द्वारा लाये हुए मृगया से प्राप्त भोजन की भिखारिणी नही। चरवाहों के युग की तरह पुरुष द्वारा पकडे हुए पशु या जाति द्वारा जीते हुए जगलों पर आज उसका जीवन-निर्वाह निर्भर नहीं। खेती के समय के मनुष्य के अधीनस्थ खेती के सरल कार्य व गृह-कार्य पर भी उसका जीवन सीमित नहीं है। आज वह स्वतंत्र होकर ...बाहर कारखानो मे कलों पर काम करती है और ...-निर्वाह का प्रबन्ध स्वय कर लेती है। पति से भोजन पाने की लालसा में वह पतिदासी बनने की कोई आर्थिक आवश्यकता नहीं समझती। शारीरिक विकास और प्रकृति से द्वन्द्व के लिए उसे जनसमूह के साथ साथ रहने की भी आवश्यकता अब नहीं है। पुरुष की सपत्ति न होकर वह स्वय पुरुष को अपनी सपत्ति समझती है और उसे एक पत्नीव्रत होने को बाध्य करती है। आज मनुष्य बहुपत्नी-स्वामी बनकर नहीं रह सकता, उसे एक-पत्नीव्रत होना पड़ता है। स्त्री उसे अपनी एकमात्र सम्पत्ति समझती है और पुरुष को यह अधिकार नही कि विवाह-सम्बन्ध के उपरान्त भी वह किसी अन्य स्त्री से प्रेमालाप कर सके। व्यक्तित्व के विकास की चरम सीमा अब समीप आ रही है। स्त्री-पुरुष के अधिकार में साधारणतया कोई अन्तर नहीं रह गया है। दोनों स्वतन्त्रता के पुजारी हैं। सन्तान पर भी उनका पूर्ण अधिकार नहीं। यदि यह सम्भावना हो कि माता पिता के दुराचरण से अथवा दुष्प्रभाव से सन्तान के व्यक्तित्व-विकास में न्यूनता अथवा दोष का भय है, तो राष्ट्र स्वय बच्चों की देखरेख अपने हाथ में ले लेता है और बच्चे ऐसे परिवारों से हटा लिये जाते हैं। उनकी पढ़ाई-लिखाई, भोजनादि का प्रबन्ध भी राष्ट्र द्वारा किया जाता है। सन्तान का पालन पोषण, जो परिवार-संगठन का मुख्य ध्येय था, आज बहुत-कुछ अनावश्यक हो चुका है। स्त्रियों के व्यक्तित्व का विकास इतना हुआ है कि आज वे विवाह-विच्छेद, गर्भधारण, सन्तानोत्पत्ति इत्यादि कार्यों में अपने स्वतन्त्र विचार रखती हैं। स्वतन्त्रता में बाधा पड़ने के भय से अथवा गर्भधारण और सन्तानोत्पत्ति के कष्ट के कारण स्त्रियाँ विवाह-बन्धन में पड़ने और मातृत्व का भार उठाने के विरुद्ध हो रही हैं। कहीं-कहीं तो दाम्पत्य-जीवन की स्थापना केवल सुख व इच्छा पर निर्भर है। अल्पकालिक विवाह, क्षणिक प्रेम-सम्बन्ध, स्वेच्छानुकूल विवाह-विच्छेद, पुनर्विवाह आदि इस नवीन सभ्यता के द्योतक हैं। परिवार का पुराना स्वरूप अब उनके ध्यान में भी आना संभव नहीं। भविष्य का परिवार पुरुष का पारिवारिक राज्य न होकर पति-पत्नी की परस्पर इच्छा पर निर्भर एक निवासगृह होगा, जिसमें प्रेमाकर्षित स्त्री व पुरुष का सहवास होगा। यह एक ऐसी मित्रमण्डली होगी, जो मैत्री में शिथिलता आते ही छिन्न भिन्न होकर फूल की पँखड़ी की भाँति बिखर जायगी। सारांश यह कि परिवार का कार्य व बाहरी रूप तो लगभग पहले ही जैसा होगा परन्तु इस संस्था के संगठन की प्रेरणा-शक्ति नवीन आधार पर होगी, जिसमें आवश्यकता, नि सहायता, और प्रभुत्व के स्थान पर स्वतन्त्रता, निर्भीकता व प्रेम का साम्राज्य होगा।

लगश के तेजस्वी सम्राट् 'गुडिया' की एक मूर्ति

सभ्यालियन डमरूमध्य की राह से उत्तरी अमरीका तक पहुँच गई। दूसरी शाखा भारतवर्ष को चली आई। तीसरी शाखा पश्चिम की ओर बढ़ी और फारस, मसोपोटेमिया, मिश्र, इटली और स्पेन तक पहुँच गई। जो कुछ हो, यह निश्चय रूप से कहना कि सभ्यता का आरम्भ अमुक प्रदेश में ही सबसे पहले हुआ, अभी तक सम्भव नहीं है।

दजला और फरात नदियों के दुआबा और तलहटियों में प्राचीनतम सभ्यता ने बहुत उन्नति की। यहाँ पर कई पुराने नगरों और राज्यों की निशानियाँ मिलती हैं। इनमें किश, अगद, लगश, निप्पर, उर, अस्सुर, बेबिलान आदि मुख्य नगर थे। इस दुआवे के उत्तर और पश्चिम में पहाड़ियाँ, दक्षिण में फारस की खाड़ी और पश्चिम में अरब है। इन दोनों नदियों के मुहाने के आस पास की भूमि दुआवे के अन्य भागों से अधिक उपजाऊ है। यहीं पर सुमेरिया राज्य था। यहीं की सभ्यता को 'सुमेरियन सभ्यता' कहते हैं।

अभी तक इसका ठीक पता नहीं चला कि सुमेरियन कौन थे। इनका क़द छोटा, नाक ऊँची और नुकीली, माथा दबा हुआ और आँखें नीचे की ओर झुकी हुई थीं। इनके सिर मुँडे रहते थे। इनमें कुछ तो दाढ़ी रखाते और कुछ मुँडाते थे। इनकी पोशाक ऊनी थी। साधारण लोग सिर्फ तहमत बाँधे रहते थे; कमर से ऊपर उनका बदन नंगा रहता था। किन्तु अमीर लोग गले तक पोशाक पहना करते थे। वे सिर पर टोपी और पैरों में कसी हुई चट्टी पहनते थे। औरतें नरम चमड़े की जूती पहनती थीं। यह तो निश्चित जान पड़ता है कि सुमेरियन लोग सेमेटिक वर्ग के नहीं थे। कुछ लोग इनका सबंध मध्य एशिया की मंगोल-जाति से मानते हैं, कुछ इन्हें आर्य या द्राविड़ी [illegible]। द्राविड़ लोग किसी समय स्पेन, मध्य अफ्रीका के पूर्वीय भाग तक फैले हुए थे।

५००० वर्ष पूर्व की नक़्क़ाशी

राजपुरुषों के चित्रों से सुशोभित यह तावीजनुमा चीज़ 'उर' में मिली है।
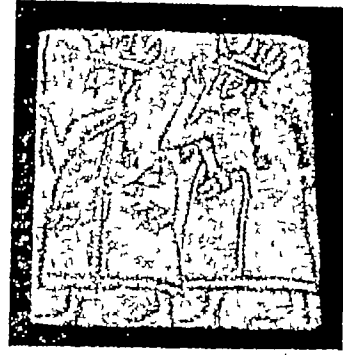
कहा जाता है कि ईसा से पाँच हज़ार वर्ष पूर्व मसोपोटेमिया में वे लोग आये, जो इतिहास में 'सुमेरियन' नाम से प्रसिद्ध हैं। सुमेरिया में क़रीब पाँच हजार वर्ष पूर्व के मिट्टी की ईंटों पर अङ्कित किये हुए मार्के के लेख मिलते हैं, जिनके लेखक संभवतः वहाँ के पुरोहित होंगे। इनमें तथा इनके बाद की ईंटों के लेखों से सुमेरिया ही नहीं, मसोपोटेमिया एवं आस-पास के प्रदेशों और राज्यों के प्राचीन इतिहास, उनके क़ानूनों और संस्थाओं का पता चलता है। सभ्यता का इससे पुराना अङ्कित प्रमाण कहीं नहीं पाया जाता। इन लेखों के अनुसार सुमेरियन राज्य की स्थापना चार लाख बत्तीस हज़ार वर्ष पहले हुई थी। यह तो उनकी निरी कपोल-कल्पना-सी जान पड़ती है। अभी तक जो पुरानी चीजें मिली हैं, वे साढ़े सात हजार वर्ष से पुरानी नहीं मानी जातीं। तो भी इनकी ऐतिहासिक वंशावली पाँच हजार वर्ष से सिलसिलेवार मिलती है। किन्तु इनमें नामों के अलावा घटनाओं का उल्लेख नहीं है।

पुरातत्ववेत्ता सुमेरिया के इतिहास को दो भागों में विभक्त करते हैं—एक तो वह जब वहाँ पर स्वतंत्र नगर थे, जिनमे "राजपुरोहित" (Patesi) राज्य करते थे; दूसरा वह जब कि स्वतंत्र नगरों का दमन होकर वहाँ बड़े राज्य या साम्राज्य की स्थापना हो गई थी।

नगर-राज्यकाल में सबसे
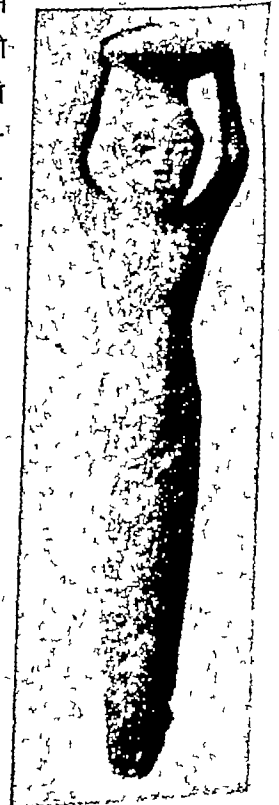
उर के राजा 'डुङ्गी' की एक प्रतिमा

'लगश और सुमेर का राजा' कहता था। उसने अनेक मन्दिर, इमारतें और एक नहर भी बनवाई। उसका दावा था कि उसने अपनी प्रजा को स्वतन्त्र कर दिया था। उसके प्रबन्धकाल में धर्माधिकारी अथवा धनिक लोग ग़रीब-से-ग़रीब विधवा अथवा अनाथ बालक पर भी अत्याचार नहीं कर सकते थे। साधारण जनता को धर्म, धन आदि के बलवान् अधिकारियों के त्रास और अनुचित हस्तक्षेप से बचाने का यह सबसे पहला प्रयत्न समझा जाता है।

लगश का पतन उम्मा नगर के शोषक आक्रमण से हुआ। उम्मा के विजेता 'लुगल ज़ग्गिसी' ने लगभग २५ वर्ष तक राज्य किया, परन्तु उसको राज्यच्युत कर 'सारगन' ने लगश पर आधिपत्य जमा लिया।

सारगन (२७७२-२७१७ ई० पू०) सेमेटिक वंश का था। किम्वदन्ती है कि इसकी मा नीची श्रेणी की और पिता अज्ञात था। मा ने उसे नरकुलों के ऊपर रखकर नदी में बहा दिया था। एक सिंचाई-वाले ने उसको निकालकर उसका पालन-पोषण किया और उसे माली बनाया। यही माली आगे चलकर बड़ा विजयी हुआ। उसने पचास नगरों को परास्त करके अपना राज्य बढ़ाया। इसकी राजधानी 'अकेड' में थी। सारगन ने भूमध्य सागर तक अपना राज्य बढ़ा लिया और वह अपने को "संसार का सम्राट्" कहने लगा। कहा जाता है कि संसार का सबसे पहला साम्राज्य यही था। यदि यह सत्य है तो सारगन ही संसार का पहला सम्राट् कहा जाने का अधिकारी है। उसने अपने साम्राज्य को अनेक प्रान्तों में विभक्त कर दिया और प्रत्येक में किसी "...-प्रासाद के पुत्र" को शासन करने के लिए नियुक्त ...। ऐसा ऐश्वर्य रहते हुए भी उसका बुढ़ापा चिन्ता

सुमेरियन कला का एक नमूना

सुवर्ण और 'लेपिस लेजुली' नामक क़ीमती पत्थर का बनाया हुआ यह बैल का सिर 'उर' की खुदाई में पाया गया था।

और कष्ट से बीता। साम्राज्य में विद्रोह की आग चारों ओर फैल गई। उसने दमन करने का कठोर प्रयत्न अवश्य किया, किन्तु सफल होने के पहले ही उसकी मृत्यु हो गई। यद्यपि सारगन के उत्तराधिकारियों ने साम्राज्य को एकदम नष्ट नहीं होने दिया, किन्तु उसकी क्षीणता दिनोंदिन बढ़ती गई। उसके पुत्र "नरम-सिन" ने अनेक विद्रोहियों का दमन किया, और कई मन्दिरों का निर्माण कराया। किन्तु उत्तर की ओर से सुमेर और अकेड को अर्द्धसभ्य जाति वाले 'गुतियम' लोग दबाते ही चले गये और अन्त में उन्हें नष्ट कर दिया। यद्यपि इन विजेताओं में 'गुडिया' नामक एक तेजस्वी राजा हो गया है, जिसने अन्याय और बुराइयों को दूर करने के लिए सद्प्रयत्न कर अपना नाम इतिहास में अमर कर दिया, तथापि लगश के साम्राज्य के पतन को कोई भी न रोक सका।

लगश के साम्राज्य के बाद 'उर' नामक नगर का उत्थान हुआ, जिसने सुमेर और अकेड की पतनोन्मुख ख्याति की रक्षा करने का अच्छा प्रयत्न किया। 'उर' के राजवंश में 'उर एङ्गर' का नाम पहले आता है। उसके माता-पिता का ठीक पता न चलने के कारण उसका जन्म माता पृथ्वी और पिता चन्द्रदेव से माना जाता था। कहा जाता है, उसने और उसके पुत्र डुङ्गी ने पश्चिमी एशिया को जीतकर अपने अधिकार में कर लिया। अपने साम्राज्य को उन्होंने चार भागों में विभक्त कर दिया था—सुमेर एवं अकेड, एलाम, सुबर्तु और अमर्रु। पिता और पुत्र ने (२४५६ ई० पू०) सारे सुमेरिया के लिए क़ानून बनाये। इनके प्रयत्नों के बल पर आगे चलकर बेबिलान के सेमेटिक सम्राट् हम्मुरब्बी ने अपना

'लगश और सुमेर का राजा' कहता था। उसने अनेक मन्दिर, इमारतें और एक नहर भी बनवाई। उसका दावा था कि उसने अपनी प्रजा को स्वतन्त्र कर दिया था। उसके प्रबन्धकाल में धर्माधिकारी अथवा धनिक लोग ग़रीब-से-ग़रीब विधवा अथवा अनाथ बालक पर भी अत्याचार नहीं कर सकते थे। साधारण जनता को धर्म, धन आदि के बलवान् अधिकारियों के त्रास और अनुचित हस्तक्षेप से बचाने का यह सबसे पहला प्रयत्न समझा जाता है। लगश का पतन उम्मा नगर के शोषक आक्रमण से हुआ। उम्मा के विजेता 'लुगल ज़ग्गिसी' ने लगभग २५ वर्ष तक राज्य किया, परन्तु उसको राज्यच्युत कर 'सारगन' ने लगश पर आधिपत्य जमा लिया।

सारगन (२७७२-२७१७ ई० पू०) सेमेटिक वंश का था। किम्वदन्ती है कि इसकी मा नीची श्रेणी की और पिता अज्ञात था। मा ने उसे नरकुलों के ऊपर रखकर नदी में बहा दिया था। एक सिंचाई वाले ने उसको निकालकर उसका पालन-पोषण किया और उसे माली बनाया। यही माली आगे चलकर बड़ा विजयी हुआ। उसने पचास नगरों को परास्त करके अपना राज्य बढ़ाया। इसकी राजधानी 'अक्केड़' में थी। सारगन ने भूमध्य सागर तक अपना राज्य बढ़ा लिया और वह अपने को "संसार का सम्राट्" कहने लगा। कहा जाता है कि संसार का सबसे पहला साम्राज्य यही था। यदि यह सत्य है तो सारगन ही संसार का पहला सम्राट् कहा जाने का अधिकारी है। उसने अपने साम्राज्य को अनेक प्रान्तों में विभक्त कर दिया और प्रत्येक में किसी "राज-प्रासाद के पुत्र" को शासन करने के लिए नियुक्त कर दिया। ऐसा ऐश्वर्य रहते हुए भी उसका बुढ़ापा चिन्ता और कष्ट से बीता। साम्राज्य में विद्रोह की आग चारों ओर फैल गई। उसने दमन करने का कठोर प्रयत्न अवश्य किया, किन्तु सफल होने के पहले ही उसकी मृत्यु हो गई। यद्यपि सारगन के उत्तराधिकारियों ने साम्राज्य को एकदम नष्ट नहीं होने दिया, किन्तु उसकी क्षीणता दिनोंदिन बढ़ती गई। उसके पुत्र "नरम-सिन" ने अनेक विद्रोहियों का दमन किया, और कई मन्दिरों का निर्माण कराया। किन्तु उत्तर की ओर से सुमेर और अक्केड़ को अर्द्धसभ्य जाति वाले 'गुतियम' लोग दबाते ही चले गये और अन्त में उन्हें नष्ट कर दिया। यद्यपि इन विजेताओं में 'गुडिया' नामक एक तेजस्वी राजा हो गया है, जिसने अन्याय और बुराइयों को दूर करने के लिए सद्प्रयत्न कर अपना नाम इतिहास में अमर कर दिया, तथापि लगश के साम्राज्य के पतन को कोई भी न रोक सका।

सुमेरियन कला का एक नमूना
सुवर्ण और 'लेपिस लेजुली' नामक क़ीमती पत्थर का बनाया हुआ यह बैल का सिर 'उर' की खुदाई में पाया गया था।

लगश के साम्राज्य के बाद 'उर' नामक नगर का उत्थान हुआ, जिसने सुमेर और अक्केड की पतनोन्मुख ख्याति की रक्षा करने का अच्छा प्रयत्न किया। 'उर' के राजवंश में 'उर-एङ्गर' का नाम पहले आता है। उसके माता-पिता का ठीक पता न चलने के कारण उसका जन्म माता पृथ्वी और पिता चन्द्रदेव से माना जाता था। कहा जाता है, उसने और उसके पुत्र डुङ्गी ने पश्चिमी एशिया को जीतकर अपने अधिकार में कर लिया। अपने साम्राज्य को उन्होंने चार भागों में विभक्त कर दिया था—सुमेर एवं अक्केड़, एलाम, सुबर्तु और अमर्रु। पिता और पुत्र ने (२४५६ ई० पू०) सारे सुमेरिया के लिए क़ानून बनाये। इनके प्रयत्नों के बल पर आगे चल कर बेबिलान के सेमेटिक सम्राट् हम्मुरब्बी ने अपना

पारस्परिक संघर्ष का काल २०५० ई० पू० तक माना जाता है। किन्तु व्यापार की उन्नति के कारण यह परिस्थिति स्थिर न रह सकी। ईसा के २८०० वर्ष पूर्व यहाँ साम्राज्य की स्थापना हो गई। स्वतंत्र नगरों के बदले वहाँ एक नई राजकीय सत्ता का आरम्भ हो गया, जिससे वे राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक एकता के सूत्र में बँध गये और उनका कार्यक्षेत्र और भी अधिक विस्तृत हो गया।

सुमेरिया के लोग पृथ्वी देवी, तथा सूर्य, चन्द्र, आकाश व समुद्र के देवताओं को मानते थे। किन्तु उनका सबसे बड़ा देवता "वायु" था। वायु देवता का सबसे प्रसिद्ध मन्दिर निप्पर में था। यह मन्दिर पक्की ईंटों का बना था, क्योंकि बेबिलोनिया में पत्थर नहीं मिलता था। उसके पास पक्की ईंटों की एक ऊँची मीनार बनी थी, जो पिरामिड की-सी थी। मन्दिर के चारों ओर छोटी-छोटी इमारतें और आँगन बने थे। मन्दिर और उसके साथ की इमारतों को चारों ओर से चहारदीवारी घेरे हुए थी। भक्त लोग यहाँ पानी के घड़े और बकरे लाकर चढ़ाते थे। वे कर्मकाण्ड की विधि, मंत्र-तंत्र, आदि के द्वारा देवताओं को प्रसन्न करते और भूत-प्रेतादि को भगाते थे। वे मृत्यु के बाद भी जीवन की कल्पना करते थे, किन्तु वह कल्पना अंधकारमय थी। पाप-पुण्य का भी उनको ज्ञान था। वे मुरदों को दफना देते थे, किन्तु न तो वे उन्हें सन्दूकों आदि में रखते थे और न उन पर समाधि-स्तूप आदि ही बनाते थे। मन्दिरों में पुजारियों का प्रभुत्व था, जो "पटेसी" कहलाते थे। यही लोग ज्ञान और विद्या, मंत्र, पूजा-विधि, चिकित्सा आदि के भाण्डार माने जाते थे। ये लोग धनसम्पन्न भी थे। इनका प्रधान स्वयं राजा था। वस्तुत. राजा ही एक तरह से प्रमुख पुरोहित माना जाता था।

मन्दिरों में स्त्रियाँ भी रखी जाती थीं—कुछ तो साधारण काम-काज करने के लिए और कुछ देवताओं अथवा उनके प्रतिनिधियों के भोग-विलास के लिए। देवताओं के निमित्त कन्यादान करना अहोभाग्य और सराहनीय कार्य माना जाता था। सुमेरियावालों का धर्म और साहित्य के क्षेत्र में बहुत कुछ प्रभाव पड़ा। बेबीलोनिया तथा असीरियावालों पर तो उनका पूरा-पूरा प्रभाव था ही, ईसाई और इस्लाम धर्म भी उनके प्रभाव से नहीं बचे। बहुत संभव है कि फारस और भारत पर भी उनका प्रभाव पड़ा हो।

सुमेरिया में विवाह की प्रथा प्रचलित थी। पत्नी अपने पिता से पाये हुए दहेज पर अपना अधिकार रखती थी। बच्चों पर पति और पत्नी के अधिकार समान थे। पत्नी अलग व्यवसाय करती थी। पति के मरने पर वह उसकी सम्पत्ति का प्रबन्ध भी करती थी। यदि पत्नी पर व्यभिचार का भी दोष होता तो भी उसे तलाक़ नहीं दिया जा सकता था। हाँ, पति दूसरा विवाह कर सकता था।

किश के महल की दीवारों की शिल्पकारी

इस तरह के और भी कई खुदाई के नमूने 'सुमेरियन ध्वंसावशेषों से मिले हैं, जिनसे ५००० वर्ष पूर्व के इन अद्भुत लोगों की प्रतिभा का परिचय मिलता है। इस चित्र में दीवार पर खुदे हुए बकरे-बकरी के चित्र हैं।

साराश यह है कि सुमेरियन लोगों ने ही पहले पहल साम्राज्य की रचना की। उन्होंने ही पहले पहल नालियों व नहरों से सिंचाई करने की तरकीब निकाली; सोने-चाँदी से चीज़ों की कीमत निश्चित करने का आविष्कार किया; लिखा-पढ़ी करके व्यापार करने की विधि चलाई; लेखन-कला की रचना की; पुस्तकालयों और पाठशालाओं की स्थापना की; गद्य-पद्य लिखना आरभ किया; तथा ज़ेवर और सौन्दर्य-वर्द्धक मसाले बनाये। इन्हीं ने पहले मन्दिर व महलों का बनाना शुरू किया। गुम्बद, मेहराब, खम्भे वग़ैरह बनाकर स्थापत्य-कला की उन्नति की। इन गुणों के होते हुए भी उन्होंने एकसत्तावाद, गुलामी, सैनिक अत्याचार और पुरोहित-सत्ता की नींव ही नहीं डाली, किन्तु उन्हें काफी मज़बूत बना दिया। यद्यपि उनके इतिहास का अभी तक पूर्ण ज्ञान नहीं प्राप्त हुआ, किन्तु यह निश्चित है कि उनकी सभ्यता का दौर-दौरा तीन-चार हज़ार वर्ष तक क़ायम रहा।
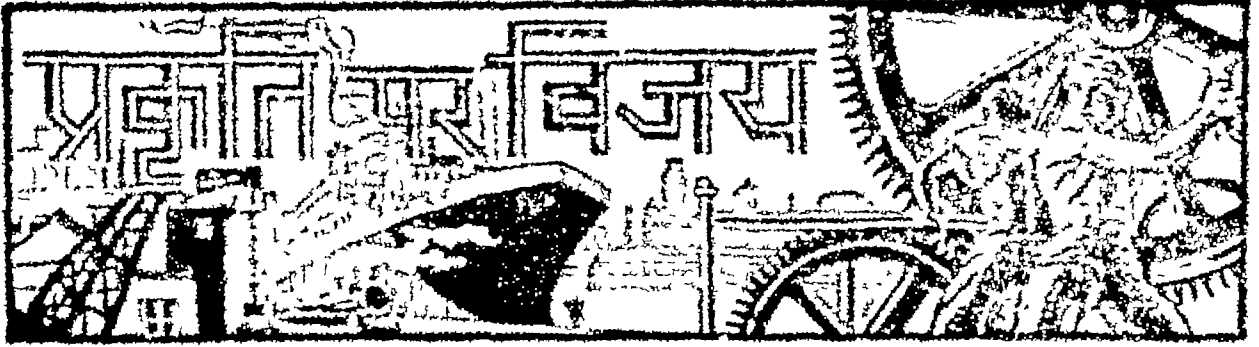
भाप के इंजिन

मनुष्य की भौतिक प्रगति के इतिहास में भाप की शक्ति के आविष्कार का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी की 'औद्योगिक क्रांति' का सूत्रपात भाप-यंत्रों के आविष्कार से ही हुआ। भाप से ही चलनेवाले रेल और जहाज व कल-कारखानों की एक अद्भुत बहु-सुविधा का निर्माण हुआ, जिसने मनुष्य के विकास की धारा को एक नवीन दिशा की ओर मोड़ दिया है।
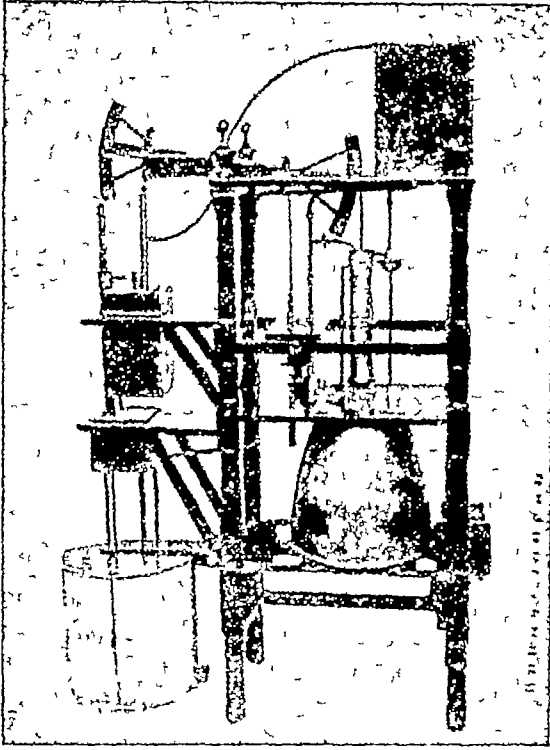
न्यूकामेन के पंपिङ्ग इंजिन का एक नमूना (model)

यह मॉडल या नमूना किंग्ज़ कॉलेज, लंदन के अजायबघर में रक्खा हुआ है। 'पिस्टन' का सर्वप्रथम प्रयोग इसी इंजिन में किया गया था, जिससे आगे इंजिन के विकास में बड़ी सहायता मिली।

क़रीब-क़रीब इसी सिद्धान्त पर काम करते रहे। उन दिनों इङ्गलैण्ड में खानों से पानी उलीचने की महत्त्वपूर्ण समस्या सामने थी। खान के मालिक लोग हैरान थे कि खान के पानी को कम दाम में और तेज़ी के साथ कैसे उलीचें! किसी-किसी खान से पानी उलीचने के लिए ५०० घोड़ों द्वारा रहट चलाया जाता था, और कितनी खानें तो पानी भर जाने के कारण बन्द भी हो गई थीं। अत. लार्ड वोर्सेस्टर के इंजिन की हर खान में माँगें हुईं, और इस इंजिन के दोष दूर करके उसे और भी शक्तिशाली बनाने के लिए तत्कालीन वैज्ञानिकों ने जी तोड़ कर परिश्रम करना शुरू किया।

केप्टेन सेवरी ने लार्ड वोर्सेस्टर के इंजिन में बहुत-कुछ सुधार किये। किन्तु उसे भी यह बात नहीं मालूम थी कि पानी भाप बनने पर १६०० गुना ज्यादा जगह घेरता है। अत भाप की प्रसरणशीलता का लाभ सेवरी भी न उठा सका। किन्तु सेवरी का इजिन इतना शक्तिशाली न साबित हो सका कि खानों की पानीवाली कठिनाई को वह पूर्णतया दूर कर सकता। सेवरी का इजिन ३४ फ़ीट से अधिक नीचे का पानी नहीं खींच सकता था। हाँ, ऊँचे दबाव की भाप का प्रयोग करके क़रीब ३०० फ़ीट की ऊँचाई तक पानी को वह ऊपर को अवश्य चढ़ा लेता था। अत १७१२ में न्यूकामेन ने सेवरी के इजिन में कई एक मौलिक सुधार किये। उसने पहले पहल पिस्टन (Piston) का प्रयोग किया। पिस्टन की मदद से उसका इजिन पानी को बहुत ऊँचे तक फेंक सकता था। इसमें एक भारी शहतीर का एक सिरा ज़ंजीरों द्वारा पम्प के डण्डे से बँधा था और दूसरा सिरा एक पिस्टन से बँधा था, जो एक गोल सिलिण्डर में नीचे-ऊपर आता-जाता था। इसी सिलिण्डर
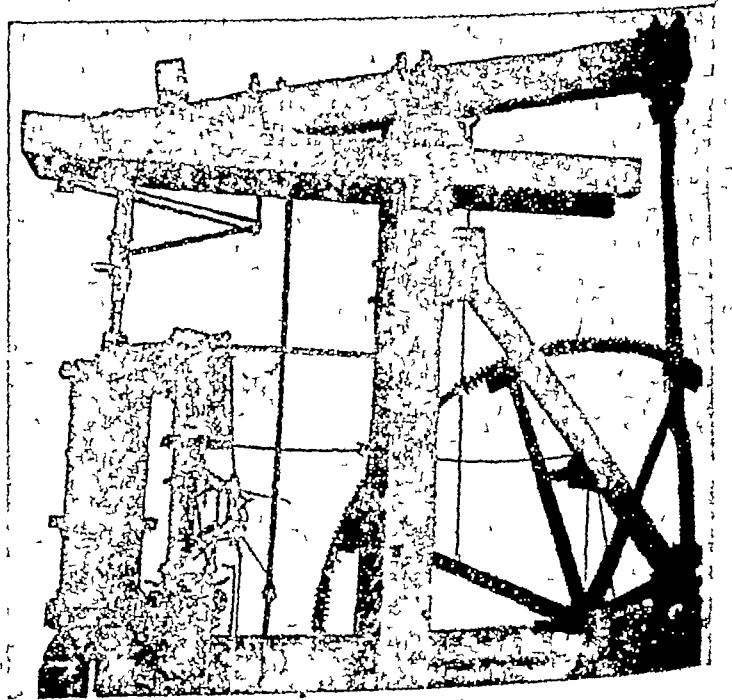
जेम्स वाट और मेथ्यू बोल्टन के सयुक्त प्रयत्न द्वारा आविष्कृत इंजिन

भाप के इजिन के विकास में योग देनेवाले आरंभिक आविष्कारकर्त्ता इसी खोज में लगे थे कि कोई ऐसा शक्तिशाली साधन उन्हें मिल जाय जिससे खानों से पानी बाहर खींचने में मदद मिले। इस पपिङ्ग इजिन का जन्म इसी आवश्यकता-पूर्ति के निमित्त हुआ। किन्तु इससे आगे के असली भाप के इंजिन के निर्माण का रास्ता खुल गया।

[फ़ोटो. सायंस म्यूज़ियम लदन।]
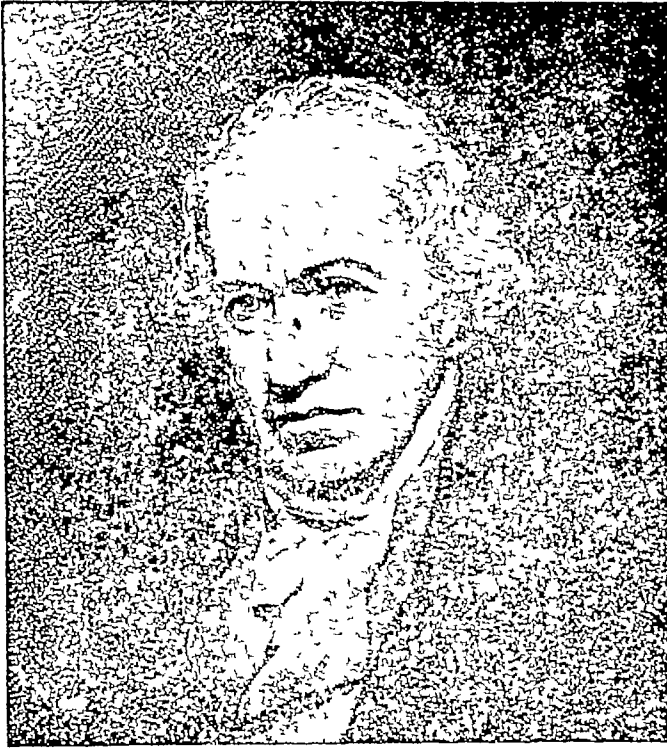
भाप के इंजिन का विधाता जेम्स वैट
(१७३६—१८१६)

था। इंजिन की इस फिजूलखर्ची को कम करने के लिए उसने, सिलिण्डर से अलग एक दूसरे जैकेट में भाप को ठण्ढा करने का प्रबन्ध किया, और सिलिण्डर को गर्म बनाए रखने के लिए उसके चारों ओर नमदा, ऊन और घास लपेट दिया।

भाप के लिए अलग कन्डेन्सर बनाकर जेम्स वैट इंजिन के ख़र्च में दस गुना कमी करने में समर्थ हुआ। फिर उसने सोचा कि सिलिण्डर के ऊपर यदि ढक्कन लगा दिया जाय, तो अवश्य ही बाहर की हवा का दबाव तो पिस्टन को हुला न सकेगा, किन्तु तब भाप के द्वारा ही पिस्टन को हम ऊपर से नीचे भी ला सकते हैं। वैट की इस सूझ ने वाष्प-इंजिन को एक सच्चा वाष्प-यन्त्र बना दिया। इसके पहले पानी खींचने का काम भाप से नहीं लिया जाता था। इंजिन के असली काम में केवल हवा का दबाव ही मदद देता था। अब वैट पहली बार बाहर की हवा की मदद लिये बिना केवल भाप के ज़ोर से ही इंजिन द्वारा पानी उलीचने में समर्थ हुआ। इस तरह उसने वाष्प-इजिन का कायापलट कर

के कारण स्कूल में भर्ती नहीं किया जा सका था। उसने घर ही पर शिक्षा पाई और बड़ा होने पर गणित-सम्बन्धी औज़ारों और यंत्रों की मरम्मत करने का काम शुरू किया। अपने काम में वह इतना निपुण था कि ग्लासगो यूनिवर्सिटी की प्रयोगशाला के औजारों की मरम्मत करने के लिए मिस्त्री बना दिया गया। एक दिन उक्त विश्वविद्यालय के विज्ञान के प्रोफेसर ने उसे एक बिगड़ा हुआ न्यूकामेन-इंजिन मरम्मत करने के लिए दिया। जेम्स वैट ने उस न्यूकामेन-इजिन का ध्यानपूर्वक अध्ययन किया। उसने उसकी अनेक कमियों पर ध्यान दिया और अब उसे धुन सवार हुई कि न्यूकामेन-इजिन के दोषों को दूर करें।

उसने देखा कि सिलिण्डर में भाप को ठण्ढा करने के लिए जब पानी प्रवेश कराते हैं, तो ठण्ढे पानी के स्पर्श से सिलिण्डर भी ठण्ढा हो जाता है। अत: पिस्टन को ऊपर भेजने के लिए जब भाप को सिलिण्डर में फिर प्रवेश कराया जाता है, तो भाप की बहुत सी गर्मी अनायास सिलिण्डर को फिर से गर्म करने में ख़र्च हो जाती है। फलस्वरूप पिस्टन को ऊपर भेजते समय बहुत सी भाप ठण्ढी होकर पानी बन जाती है। इसलिए वैकुअम पैदा करने के लिए और अधिक भाप सिलिण्डर मे प्रवेश कराना पड़ता

जार्ज स्टीफ़ेन्सन (१७८१—१८४८)
जिसने रेल के इंजिन का आविष्कार किया।

हरकत पैदा करने की भी तरकीब निकाल ली। वैट ही सर्वप्रथम व्यक्ति था, जिसने भाप के बल से पहिया घुमाया। अब तक भाप के इंजिन केवल पम्प को ऊपर-नीचे चलाया करते थे, किन्तु 'क्रैन्क' और 'शैफ्ट' की मदद से वाष्प इंजिन से ख़राद की मशीन, लकड़ी काटने के लिए वृत्ताकार आरे आदि हर तरह की मशीनों को चलाने का काम लिया जाने लगा।

तदुपरान्त वैट ने एक बहुत ही छोटा, किन्तु उपयोगी सुधार कर इस इंजिन को पूर्ण बना दिया। इंजिन की रफ़्तार एकसाँ बनाये रखने के लिए उसने 'गवर्नर' बनाया, जो भाप के वाल्व के छेद को छोटा बड़ा करता था। गवर्नर में दो लट्टू लगे रहते हैं। ये लट्टू एक कीली के दोनों बाजू पर लटते रहते हैं। उस कीली का सम्बन्ध इंजिन के शैफ़्ट (धुरी) से रहता है। ज्यों-ज्यों शैफ़्ट तेज़ घूमता है, ये लट्टू भी तेज़ नाचते हैं। तेजी के साथ नाचने के कारण ये लट्टू कीली से दूर हट जाते हैं। कई लीवरों की मदद से लट्टुओं का संबंध वाल्व से बना रहता है। लट्टू जब तेज़ी के साथ घूमने के कारण एक-दूसरे से दूर हट जाते हैं, तो वाल्व के भीतर का सूराख भी छोटा पड़ जाता है, जिससे सिलिण्डर में कम भाप प्रवेश करती है। नतीजा यह होता है कि इंजिन की चाल धीमी पड़ जाती है। उसी तरह जब इंजिन धीमा पड़ने लगता है, तो वाल्व के सूराख बड़े हो जाते हैं, और पिस्टन में ज्यादा भाप आने लगती है, जिससे रफ़्तार बढ़कर फिर पूर्ववत् हो जाती है।

वैट के संग उसका एक सहायक भी था, जिसका नाम विलियम मर्डक था। मर्डक कुछ दिन वैट के साथ रहने के बाद कार्नवाल की खान में पानी उलीचने की मशीनों की देखभाल करने के लिए इञ्जीनियर नियुक्त हो गया। दिन भर के कठिन परिश्रम के उपरान्त भी वह शाम को इंजिन के नमूने बनाया करता था। वह इस फ़िक्र में था कि किसी तरह ऐसा इंजिन बना ले, जो सड़क पर दौड़ सके। उसने तीन पहियों का एक इंजिन बनाया, जिसमें आगे का पहिया छोटा था। इसमें ब्वायलर का पानी एक स्पिरिट लैम्प द्वारा गर्म किया जाता था। मर्डक सबसे छिपाकर अकेले में अपने हाते के अन्दर इंजिन-सम्बन्धी प्रयोग करता था। एक दिन शाम को मुहल्ले की सड़क को सूना पाकर वह अपने माडल को सड़क पर ले गया। संयोगवश गिर्जे का एक पादरी घूमकर उसी सड़क से लौट रहा था। पादरी ने देखा कि धुएँ की बदबू से भरा हुआ एक विशालकाय दानव, जिसके मुँह से आग की लपटें निकलती थीं, सड़क पर उसकी ओर बढ़ता आ रहा है। वह एकदम घबरा उठा, और बेतहाशा एक ओर भागा। इसके कुछ ही दिन उपरान्त उसने गिर्जे में उपदेश देते हुए कहा कि मैंने शैतान को आग उगलते हुए देखा है। इस घटना से मर्डक इतना घबराया कि फिर उसने अपने नमूने को बहुत दिनों तक हाते से बाहर नहीं निकाला। वह हाते के भीतर ही गुप्त रूप से प्रयोग करता रहा।

उसने अपने नमूने में सिलिण्डर के दोनों सूराखों को, जिनमें से होकर भाप सिलिण्डर में
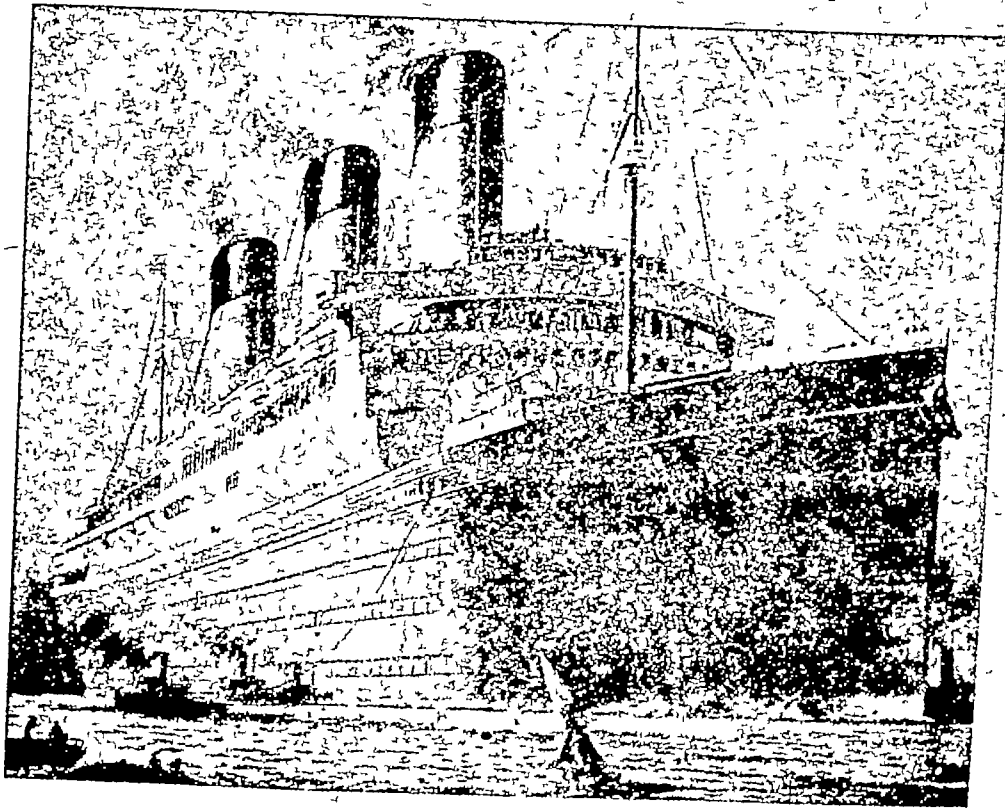
भाप की शक्ति का जादू

वैट की चाय की देगची के ढक्कन को ढकेलनेवाली भाप आज भीमकाय जहाजों को चलाती है।
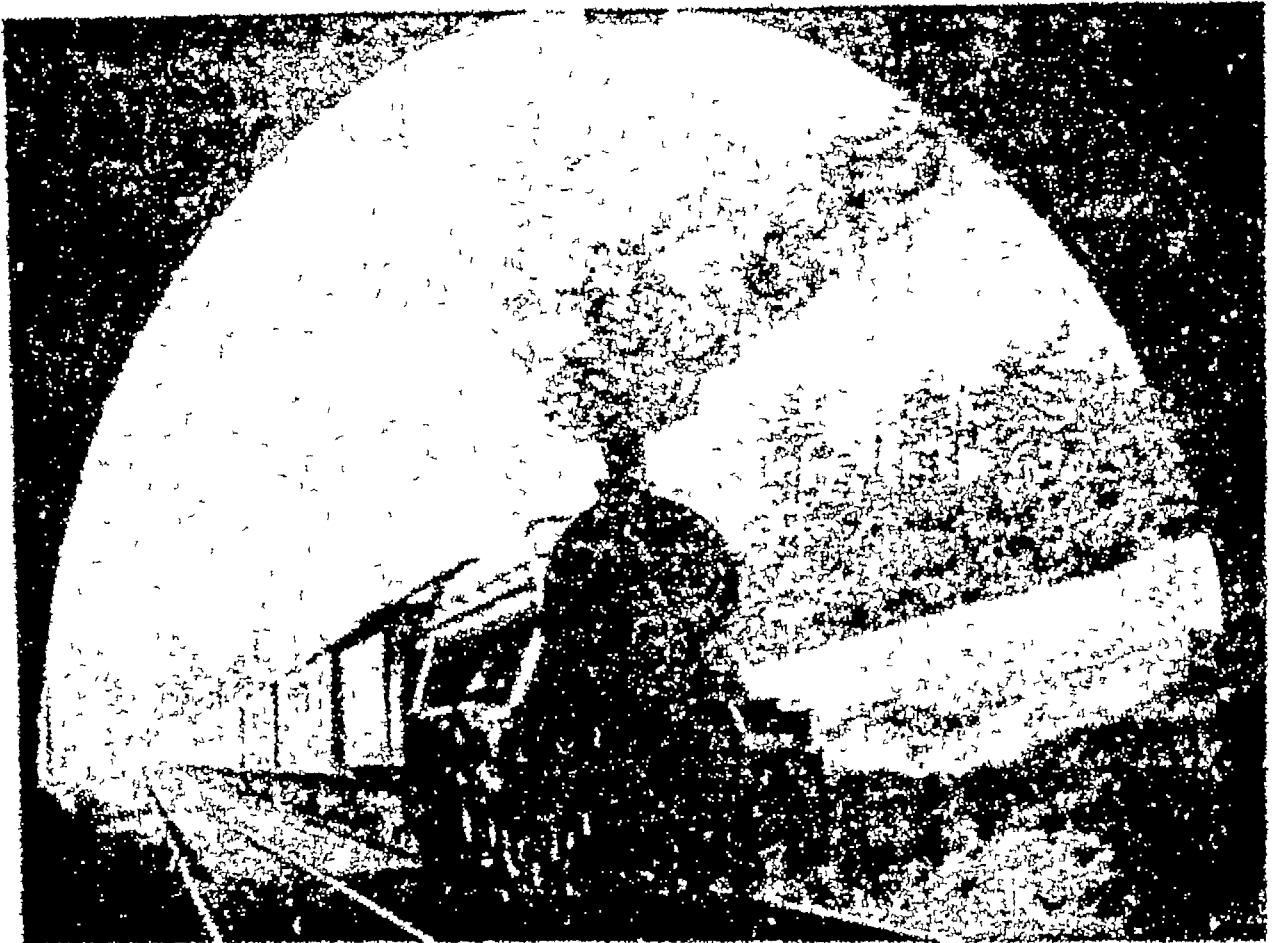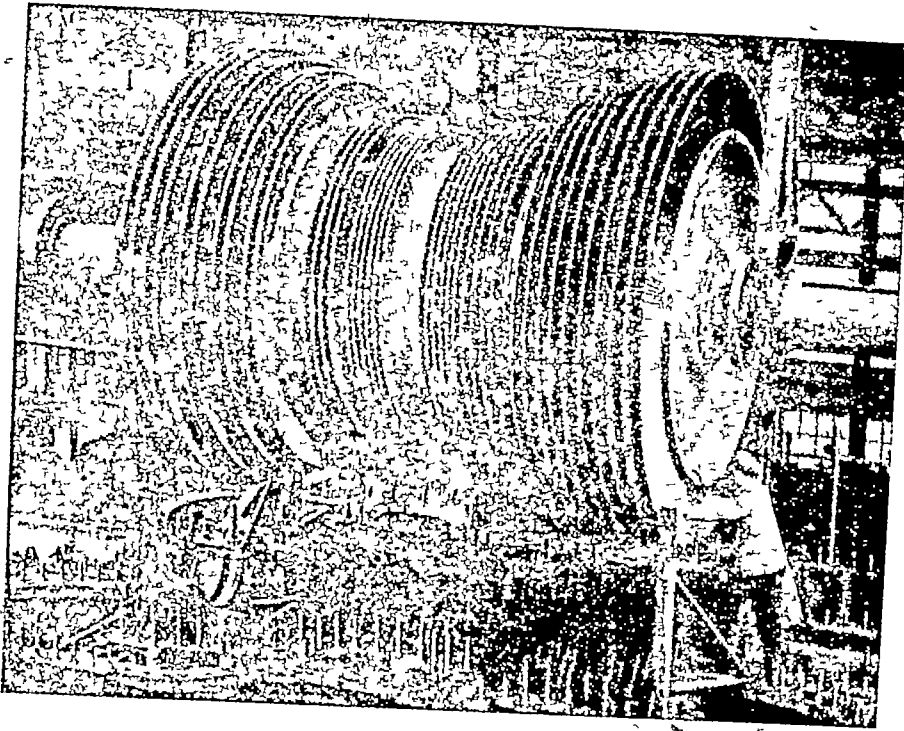
भाप से चलनेवाले टरबाइन (Turbine) का चक्र (खुला हुआ)

आजकल अधिकांश बड़े जहाज़ों को चलाने के लिए एक विशेष प्रकार के चक्रवत् यंत्र टरबाइन का प्रयोग किया जाता है। विशेष विवरण के लिए पृष्ठ ३४२ का मैटर देखिए।

पिता काम करता था। यहाँ इसने छोटे-छोटे इंजिनों को कोयला ढोते हुए देखा। वह घंटों इन इंजिनों को देखा करता और घरपर मिट्टी से इन्हीं इंजिनों के माडल बनाया करता था। कुछ ही दिनों में वह इंजिन के कलपुर्ज़ों से पूर्णतया परिचित हो गया। अब वह इनमें मरम्मत करने का काम करने लगा। लोग उसे 'इजिन का डाक्टर' कहने लगे। इजिन में कैसी भी ख़राबी क्यों न आ गई हो, वह उसे दुरुस्त कर देता था। फिर भी उस समय तक स्टीफ़ेन्सन एक अक्षर भी नहीं पढ़ पाता था। उसने न्यूकामेन, मर्डक, वेट आदि का नाम भी न सुना था। उसने इंजिन के सबध मे जानकारी स्वयं अपनी आँखों और कानों की सहायता से ही प्राप्त की थी। बड़ा होने पर उसने रात्रि पाठशाला में जाकर पढ़ना सीखा। उसका छोटा-सा लड़का जब स्कूल से घर लौटता, तो स्टीफेन्सन अपनी किताब लेकर उसके पास पहुँच जाता और उसके साथ अपना पिछला सबक दुहराता था।

कुछ लिख-पढ़ लेने के बाद स्टीफेन्सन ने और भी मनोयोगपूर्वक इजिनों का अध्ययन किया। इन दिनों बढ़िया क़िस्म के इजिनों की माग भी बढ़ रही थी, क्योंकि खान के मालिकों के सामने नई समस्याएँ आ उपस्थित हुई थीं। समय इङ्गलैंड मे नेपोलियन का डर छाया हुआ था, जिससे सभी अच्छे-अच्छे घोड़े फ़ौज के काम के लिए खरीद लिये गये थे। खान में कोयला-गाडी खींचने के लिए बढ़िया घोड़े मिलते ही न थे। युद्ध की सम्भावना के कारण चारा भी महँगा हो गया था। अतः खान के मालिकों ने सोचा कि यदि कोयला-गाडी खींचने के लिए वे घोड़े के स्थान पर भाप के इंजिनों का प्रयोग कर सकें, तो उनकी सारी मुश्किलें दूर हो जायँ। अत वाष्प-यंत्र सम्बन्धी अनुसन्धानों के लिए खान के मालिकों की ओर से खूब प्रोत्साहन मिलना शुरू हुआ।

स्टीफ़ेन्सन ने वर्षों के अथक परिश्रम के उपरान्त अत में बड़े आकार का एक इंजिन तैयार किया। उसने अपने इंजिन का ब्वायलर बहुत लम्बा बनाया। इस इजिन की चिमनी भी बहुत ऊँची थी, जिससे भाप बहुत जल्द बनती थी और इंजिन में शक्ति भी काफ़ी पैदा होती थी। स्टीफेन्सन का यह इजिन ६० मन का बोझा ५ मील प्रति घंटा की रफ़्तार से खींच लेता था। यह सन् १८१८ की बात है।

किन्तु ये इंजिन और उसके डिब्बे चलते समय बहुत ज्यादा हिलते-डुलते थे। अत. केवल कोयला, पत्थर, आटा आदि ऐसी चीज़ें, जो टूट-फूट नहीं सकती थीं, इन रेलगाड़ियों में लादी जाती थीं। किन्तु स्टीफेन्सन तो सवारी गाड़ी को खींचनेवाला इंजिन तैयार करना चाहता था। आख़िर उसका यह स्वप्न भी २७ सितम्बर, १८२५, को पूरा हुआ। संसार की यह सर्वप्रथम पैसेञ्जर ट्रेन थी। इसमे ६ मालगाड़ी के डिब्बे थे, जिनमें आटा और कोयला लदा था, एक डिब्बा कम्पनी के डायरेक्टरों के बैठने के लिए था, और ३१ डिब्बे पैसेञ्जरों के बैठने के लिए जुड़े हुए थे। इस गाड़ी को १२ मील प्रति घण्टा के वेग से भागते देखकर दर्शकों ने दाँतों तले उँगलियाँ दबा लीं। इस छोटी सी गाड़ी पर लगभग ६०० आदमी चिपके हुए थे।

उन दिनों साधारण जनता फक-फक धुँआ उगलनेवाले इस लोहे के नवीन दानव से बहुत डरती थी। इसलिए इंजिन के आगे-आगे लाल झण्डा लिये हुए एक आदमी असली घोड़े

देर-अल-बहारी (Deir-El Bahari) का मन्दिर और उसके पीछे का कगार

यह मन्दिर आज से क़रीब ३५०० वर्ष पूर्व बनाया गया था। मन्दिर के पीछे चट्टानों के ऊँचे खड़े कगार पर ध्यान दीजिए। मिस्र वालों की इमारतों की रचना-शैली पर इन चट्टानों के आकार और रूप की स्पष्ट छाप है, जिससे प्रतीत होता है कि इन्हीं से उनको अपनी स्थापत्यशैली के निर्माण में मुख्य प्रेरणा मिली होगी।

विकास की चरम सीमा को पहुँच गये, इस दिशा में हमें उनकी आरम्भिक आकांक्षाओं के दर्शन होते हैं। इस प्रकार के आरम्भिक शिलागृह या 'डॉलमेन' पुरातत्ववेत्ताओं को ब्रिटैनी के समुद्र-तट से कुछ हटकर स्थित गैवरीनिज़ (Gavr'inis) नामक द्वीप मे मिले हैं और इसी तरह के अन्य उदाहरण या नमूने फ्रान्स, डेनमार्क, स्वीडेन, स्पेन और पुर्त्तगाल में भी पाये गये हैं। इन आरम्भिक रचनाओं में जो शिल्पकारी है, वह कतिपय दुर्लभ उदाहरणों को छोड़कर, प्राय आयताकार (geometrical) अर्थात् भूमिति की रेखाओं का अंकन मात्र है, उसमें मनुष्य या पशु के जीवन का चित्रण करने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया है।

की सजावट करने की ओर अधिक थी। इसके अतिरिक्त स्थापत्य की ओर भी उनका झुकाव होने के प्रमाण पाये जाते हैं। शिलाखण्डों को एक दूसरे पर रखकर बनाये आदिम शिलागृहों (Dolmens) (देखिए पृष्ठ ३४३) अथवा पत्थर की समाधियों में, जो आगे चल-शताब्दियों बाद पुरातन मिस्र की कला में अपने

प्राचीन मिस्र के इतिहास का वर्णन डा० त्रिपाठी ने 'हिन्दी विश्व-भारती' के पिछले भाग में इतने सराहनीय ढंग से किया है कि इस पुरातन देश की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के सम्बन्ध मे यहाँ विशेष कुछ कहना अनावश्यक प्रतीत होता है। किसी भी देश की कला, वहाँ के निवासियों की वेषभूषा और चरित्र सबंधी विशेषताओं की भाँति, उस देश की प्राकृतिक दशा पर निर्भर है। वह उस देश विशेष की अवस्थाओं के साथ सामञ्जस्य रखने-वाले विचारों और भावनाओं ही का स्पष्टीकरण है। एक

चढ़ाया जाता था। रंग का यह प्रयोग इतना अधिक होने लगा कि रंग चढ़ाने के उद्देश्य से प्रायः अत्यंत उच्च कोटि की कलात्मक मूर्तियों पर भी एक प्रकार का अत्यधिक मसाले का लेप या प्लास्टर (stucco) चढ़ा दिया जाता था, जिसके कारण बहुत सी अति सुन्दर मूर्तियों की सुन्दरता का प्रायः बलिदान हो जाता था।

मरुभूमि की एकान्त अनुर्वरता के मध्य में पाये जानेवाले उष्णकटिबन्धीय वनस्पति की हरियाली की प्रचुरता का प्रतिबिम्ब हमें मिस्र की इमारतों में उनके बाहरी रूप की भव्यता और विशालता तथा भीतर की ओर बारीकी के साथ की गई अत्यत सूक्ष्म शिल्पकारी की मात्रा के अद्भुत सामजस्यमें दृष्टिगत होता है। मिस्री कलाकारों की कृतियाँ दीर्घकाय होती थीं, परन्तु उनकी सजावट वे जौहरियों की भाँति करते थे। किसी अन्‍ स्थान पर ज बातें असंग होतीं, वे ही ऐ नैसर्गिक अर गति के सा मिलकर संगत प्रतीत होती हैं। प्राकृतिक दृश्यों की आड़ी और सीधी दृढ़ाङ्कित रेखाएँ उस स्थापत्यशैली का बहुत कुछ निश्चय करती हैं, जो इस प्रकार की पृष्ठभूमि को दृष्टि में रखते हुए अपनायी जा सकती है। उत्तरी भारत के शिखरयुक्त मन्दिरों के गगन-चुम्बी कँगूरों में हिन्दू स्थापत्य-विशारदों ने हिमालय के शिखरों के उत्तुग सौन्दर्य को प्रतिबिम्बित किया था। इसी तरह मिस्री स्थापत्यकारों ने मिस्र के मैदानों की आड़ी रेखाओं और कगारनुमा पर्वतीय चट्टानों को सीधी रेखाओं का ढेर अल बटारी के ...र बनाने के निर्माण में पूर्णतया उपयोग किया है।

...न्त सिद्धान्त, जिनका प्रयोग मिस्र के स्थापत्यकला-विशारदों को अपने क्षेत्र में करना पड़ा, वहाँ की मूर्ति-कला पर दुगुनी शक्ति के साथ लागू हुए। विशाल आकार-प्रकार के रहस्यमय मिस्री मन्दिर में ग्रीस की मूर्तियों जैसी कोई भी मूर्ति बहुत तुच्छ खिलौने-सी प्रतीत होती है। ग्रीस की मूर्ति-कला की उल्लसित मासलता नृत्य करते हुए चरवाहों के जीवन और लहराती नदियों के देश की उपज है, वह उस क्षणभंगुर विश्व की वस्तु है, जहाँ का सौन्दर्य अस्थिर है—वह अनत के भाव को व्यक्त करनेवाले प्राकृतिक दृश्य अथवा स्थापत्य की वस्तु नहीं। मिस्र के कलाकारों की मानसिक अवस्था को समझने के लिए हमें उन विशेषताओं या गुणों की ओर ध्यान देना पड़ेगा, जो उनके साहित्य मे जीवन के आदर्श-स्वरूप माने गये हैं। प्राचीन मिस्र में अटल स्थिरता (Stability) और शक्ति या दृढ़ता सब गुणों से अधिक प्रशंसनीय समझे जाते थे और सार्वजनिक स्मारकों (PublicMonuments) का नाम ही वहाँ "स्थिर वस्तुएँ" था। मिस्रवासियों में शक्ति, चिरस्थिरता, भव्यता, सामञ्जस्य और कर्मठता की भावना अत्यंत पूर्ण रूप में विद्यमान थी। इस भावना में सहानुभूति और दया का भी पुट था, जो एक विस्तृत सुसगठित ढाँचे को सबद्ध किये हुए थी। मिस्री कलाकार इन सारे जीवन के उद्देश्यों को अपनी कला मे इस सत्यता और शक्ति के साथ सम्पुटित एवं अभिव्यंजित करते थे कि उनके व्यक्तित्व का प्रभाव उन सभी पर पड़ा है, जो उनकी कलाकृतियों की ओर आकृष्ट हुए हैं। वे अपने बाद आनेवाली किसी भी जाति की तुलना मे सच्ची कला के सिद्धान्तों का पूर्णतया प्रतिपादन करते हैं।
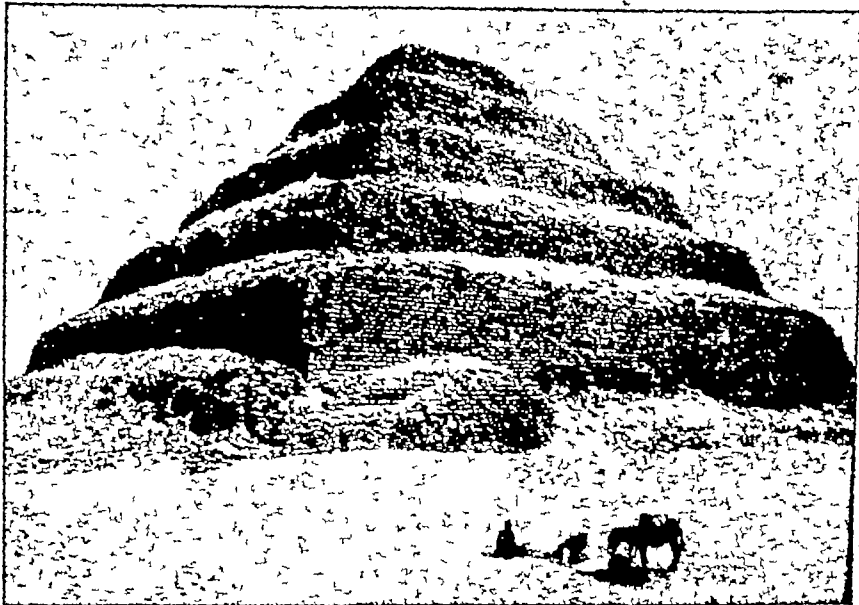
सम्राट् ज़ोसेर का सीढ़ीनुमा पिरामिड
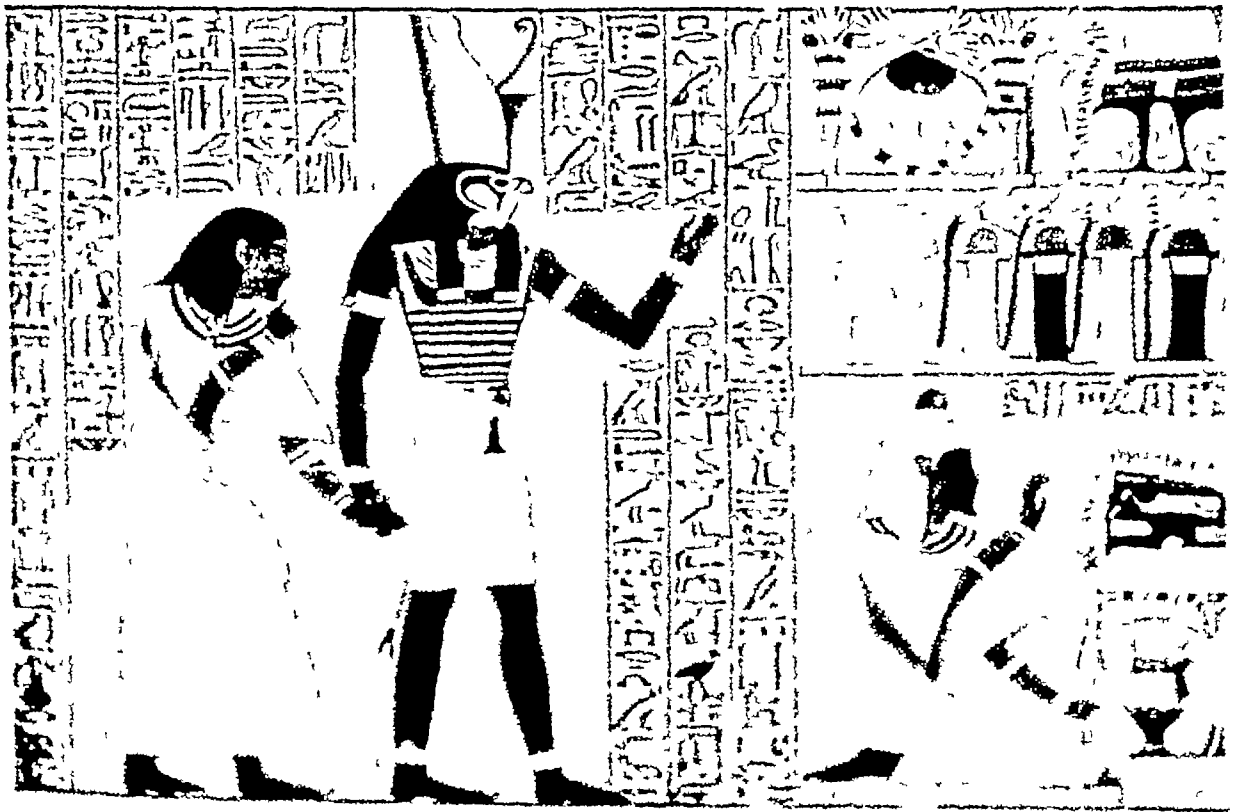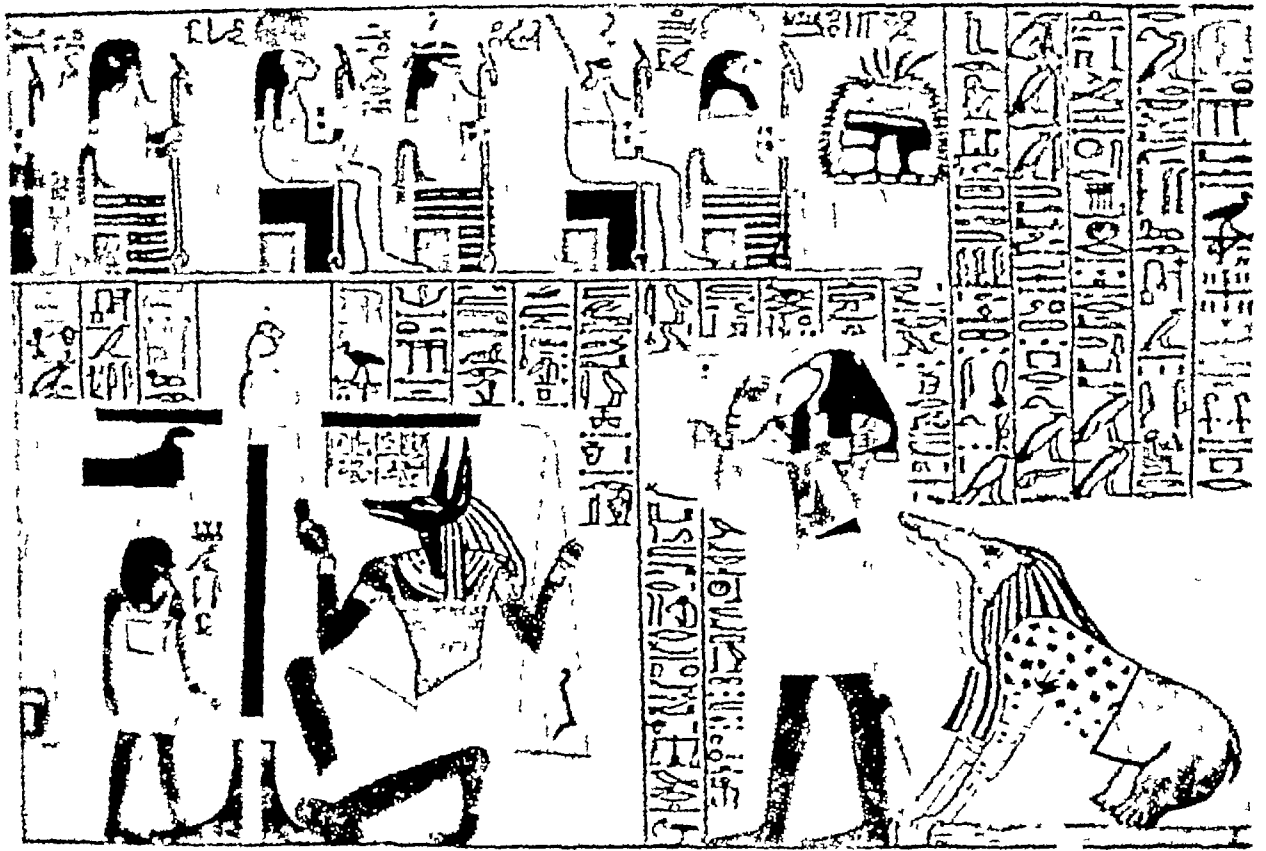
यह मिस्र की सबसे प्राचीन इमारतों में माना जाता है। इसकी रचना लगभग ५००० वर्ष पूर्व उस युग के महान् मिस्री स्थपति इमहोतेप ने की थी। इसी तरह के पिरामिडों से आगे चलकर मिस्री पिरामिडों का विकास हुआ।

प्राचीन मिस्र की चित्रकला के उत्कृष्ट नमूने — 'एनी' के पेपीरस के दो दृश्य

ये चित्र ब्रिटिश म्यूजियम में सुरक्षित प्राचीन मिस्र के एक 'पेपीरस' [illegible]

[illegible]

होगा और उसकी उपादेयता का क्षेत्र भी बहुत संकुचित होगा। मिस्र, असीरिया और चीन आदि देशों की वर्णमालाएँ पूर्ण न होने के कारण विशद वर्णनों के लिए विशेष कठिनाइयाँ उपस्थित करती हैं। फल यह होता है कि एक विशेष जाति ज्ञान और धर्म की अधिकारिणी बन जाती है; देशव्यापी संस्कृति का प्रसार असम्भव हो जाता है, तथा राज-सत्ता और प्रजा के बीच जो खाई होती है, वह बढ़ती ही जाती है। इस तरह वह लेखन-कला, जिसके द्वारा उन्नति होनी चाहिए थी, मानव को दासता की बेड़ियों में जकड़ने का एक प्रबल साधन बन जाती है।

इससे निष्कर्ष निकलता है कि मानव की उन्नति के लिए विचारों को केवल लिपिबद्ध करने की विधि को मालूम करना ही पर्याप्त नहीं है, बल्कि आवश्यक यह है कि कोई ऐसी सरल विशद लेखन-प्रणाली का आविष्कार किया जाय, जिसको मानव थोड़े समय में ही सीखकर उपयोग में ला सके।

वर्णाक्षरों द्वारा विचारों को लिपिबद्ध करने की प्रणाली यद्यपि आज इतनी सरल और सुविधाजनक है परंतु उसका आविष्कार अनेक कठिनाइयों से अभिभूत रहा है और सहस्रों वर्षों के अविरल परिश्रम द्वारा ही आज हम उसका पूर्ण रूप देखने में समर्थ हो सके हैं। अंग्रेज़ी वर्णमाला के २६ अथवा देवनागरी के ४२ अक्षरों को कार्योपयोगी सिद्ध करने के लिए मानव ने अपना समस्त मस्तिष्क-बल लगा दिया है। मिस्री, सैमेटिक और यूनानी तीनों विचारशील जातियों के अथक परिश्रम-स्वरूप आज हमको रोमन लिपि के २६ वर्णाक्षर मिल सके हैं।

यह बताने के पूर्व कि मानव ने किस प्रकार लिखना सीखा, हमको आदिम जीवन के बारे में भी थोड़ा जान लेना आवश्यक है। आरम्भिक अवस्था में जीवन पूर्णतया अव्यवस्थित था। चेतनता किसे कहते हैं, इसका मानव को लेशमात्र भी भान नहीं था। मरना और जन्म लेना कोई विशेष महत्त्व नहीं रखते थे। हजारों वर्षों में मानव ने प्राकृतिक जीवन की देखा देखी अनुकरण करना सीखा, जिसने कालान्तर में परम्परा (Tradition) का रूप ग्रहण किया। इस तरह परम्परा मानव की स्मृति बनी। तब मानव ने चित्रकला सीखी, बोलना सीखा, मूर्तियाँ बनाना सीखा, और स्थापत्यकला को भी उसने अपनाया। बहुत काल तक, जब तक मानव को लिखना नहीं आया, उसने अपनी जातीय कथाओं, कविताओं, नाटकादि को कण्ठस्थ रखा। उदाहरणार्थ उपनिषद् आदि सहस्रों वर्षों तक कण्ठस्थ ही रक्खे गये। राजदरबारों में हजारों वर्षों तक वीरों की यशोगाथा भाटों द्वारा जीवित रखी गई। भाषाओं के आधुनिक रूप के लिए हम बहुत अंशों में भाटों के आभारी हैं। जब लिखना आ गया, परम्परागत ज्ञान ने सुव्यवस्थित रूप पाया। वह विश्वसनीय समझा जाने लगा। विचारशक्ति में अधिक प्राण सञ्चरित हुआ। मानव एक दूसरे के अधिक निकट आने लगा। पहले तो पुस्तकों की हस्तलिखित प्रतियाँ ही रहती थीं। लिखने में अधिक परिश्रम की आवश्यकता होने के कारण प्रतियों की संख्या सीमित होती थी, परन्तु मुद्रणालय ने इस कठिनाई को दूर किया। मानव ने एक असीम शक्ति को हस्तामलक किया। मुद्रणालय के आविष्कार से पहले अनेक बातें गोपनीय तथा रहस्य से आवृत रहती थीं। जो थोड़े-से लोग लिखना-पढ़ना जानते थे, उनसे जनता भयभीत रहती थी, उनका आतंक छाया रहता था। जब ज्ञान-प्रसार हुआ, तब रहस्य रहस्य न रह गया। अब ज्ञान के अनेक साझीदार बने। मानव ने आत्मशक्ति का आभास पाया। उसने जीवन का अनन्त रूप देखा और ज्ञान-राशि का सञ्चय किया। उसका यह उद्योग अब भी जारी है और तब तक जारी रहेगा, जब तक उसको व्यष्टि एवं समष्टि रूप में वास्तविक आनन्द की प्राप्ति नहीं हो जाती। मानव का अपने विचारों को लिपि-बद्ध करने का पहला उद्योग उसकी प्रथम ज्ञान-किरण थी, जिसका कि प्रकाश आज भी शनैः-शनैः तिमिरावृत मानव-जीवन को ज्योति-पूर्ण करने में संलग्न है।

विचारों को लिपि-बद्ध करने की प्रत्येक प्रणाली का प्रारंभ मूर्त पदार्थों के चित्रों द्वारा हुआ है। कालान्तर में यही चित्र सांकेतिक बन गये और मौलिक ध्वनियों के लिए काम में आने लगे। सर्वप्रथम लिपि भावचित्रानुरूप (ideographic) रही, तत्पश्चात् वह ध्वनि-बोधक चित्रों में परिणत होने लगी। भावबोधक चित्र पदार्थों अथवा विविध भावनाओं के द्योतक होते हैं। वे मूर्त पदार्थों के वास्तविक सांकेतिक चित्र अथवा अमूर्त पदार्थों के सांकेतिक चित्र होते हैं।

ध्वनिबोधक चित्र ध्वनियों के द्योतक होते हैं। इनकी उत्पत्ति भावबोधक चित्रों द्वारा हुई है। ये तीन प्रकार के होते हैं—(१) मौखिक (Verbal), जो पूर्ण शब्द के लिए प्रयुक्त होते हैं, (२) आक्षरिक (Syllabic) जो शब्दों के उच्चारण मात्र के लिए प्रयुक्त होते हैं, और (३) वर्णमाला के द्योतक चित्र अथवा अक्षर जो मौलिक ध्वनियों के लिए प्रयुक्त होते हैं।

(Demotic) लिपि में, जो कि और भी अधिक अनवरुद्ध गति से लिखी जाती है, रूप और भी सरल हो गया। पहले (पृष्ठ ३४९ के चित्र में) नं० ४ जैसा और पश्चात् नं० ५ जैसा रूप बन गया। सैमेटिक वर्णमाला के अक्षर मिस्री चित्रों के हाएरेटिक रूपों से ही लिये गये मालूम होते हैं। सैमेटिक लिपि का प्राचीनतम लेख जो प्राप्त हो सका है, वह मोवाइट शिला का अभिलेख है। इस अभिलेख में अक्षर M (एम)' का रूप (३४९ पृष्ठ के चित्र में) न० ६ जैसा है। यह रूप बिना किसी कठिनाई के नं० ७ में प्रदर्शित हाएरेटिक अक्षर से समानता रखता है। मोवाइट अक्षर से वह पूर्व-ग्रीक रूप हो जाना एकदम आसान है, जो चित्र में नं० ८ में प्रदर्शित है। इसी के पीछे के रूपान्तर वे हैं, जो चित्रों में नं० ९, १० और ११ में दिखाये गये हैं। इटली में जो यूनानियों के उपनिवेश थे, वहीं से रोमन वर्ण M का प्रादुर्भाव हुआ, जिससे रूपान्तर हुआ न० १२ में प्रदर्शित चिह्न में, जिससे हमको अंग्रेज़ी का m मिला। ६००० वर्ष पुराना होने पर भी इस अक्षर में उलूक का पूर्व रूप देखने को अब भी मिलता है। M (एम) में दो चोटियाँ उलूक के दोनों कान हैं और उनके बीच में उलूक की चोंच देखी जा सकती है, और इसी मे पहली सीधी लकीर वक्ष स्थल के स्थान पर है। m मे बीच की लकीर चोंच की है और उसके दोनों ओर की लकीरें कानों का आभास देती हैं।

जो विशेषताएँ M (एम) अक्षर मे दिखलाई गई हैं, वे सब—अन्य अक्षरों मे भी निहित हैं। अंग्रेजी अक्षर F (एफ) का मूल है मिस्री वर्ण (दे० पृष्ठ ३४९ के चित्र में नं० १३)। इसमे दो समानान्तर रेखाएँ दो सींघ (horns) है और सीधी लकीर उसका शरीर है। इसी प्रकार यह साबित किया जा सकता है कि A का मूल रूप ...ष है, R का मुँह है और D का हाथ है।

इस बात का दिग्दर्शन किया जायगा कि भावचित्रात्मक और आक्षरिक संकेतों से किस प्रकार वर्णमाला के अक्षरों का उद्भव हुआ।

विद्वानों ने पता लगाया है कि संसार में पॉच स्वतंत्र रूपों से चित्र-लिपि का आविष्कार हुआ है। ये हैं—(१) मिस्री या इजिप्शियन, (२) क्यूनीफार्म (Cuneiform) (३) चीनी, (४) मैक्सीकन और (५) हिटाइट।

इनके अतिरिक्त कितनी ही अन्य असभ्य जातियों की चित्र-लिपियों के उदाहरण भी सुरक्षित हैं। लेखन-कला का इतिहास बड़ा पुराना है। वह कितना पुराना है, यह केवल कल्पना और उपमान की सहायता से ही कुछ-कुछ बतलाया जा सकता है। इस काम के लिए जिन जातियों पर सभ्यता का रग नही चढ़ा है, जो अब भी सभ्यता और सस्कृति के ससर्ग से दूर अपना जीवन बिता रही हैं, उनसे बहुत-कुछ सहायता मिल सकती है। दक्षिणी फ्रास में उन लोगों ने जो बर्फ़ीले युग के पीछे आये, अपने जीवन का कुछ लेखा छोड़ा है। यह हड्डियों, सींघों और विनष्ट पशुओं के हाथीदाँतों पर खुदे हुए कुछ चित्रों के रूप में उपलब्ध है। प्राचीनतम लेखा जो मिल सका है, वह है, एक दृश्य का जो एक सींघ पर खुदा हुआ है। यह औवर्न (Auvergne) नामक स्थान में मिला है। इस दृश्य में एक शिकारी दिखाया गया है जो कि पूर्ण नग्नावस्था में है और एक बड़े ऊरस (Urus) नाम के पशु के पास तक, जो कि घास चर रहा है, पहुँच गया है, और भाले से हमला करने ही वाला है। उसी काल की गुफाओं से मैमथ, बारहसिंघे, सील, ह्वेल और भालुओं के चित्र भी उपलब्ध हुए हैं। इन चित्रों में बहुत उच्च कोटि की कला देखने को मिलती है। आधुनिक समय की असभ्य जातियों में भी हमको ऐसे ही प्रयास के उदाहरण मिलते हैं। असभ्य जातियों मे जब कोई बड़ा आदमी मर जाता है, तो उसकी समाधि पर एक पत्थर, जिस पर उसके घराने के परम्परागत पशु का चित्र (Totem) बना होता है, रख दिया जाता
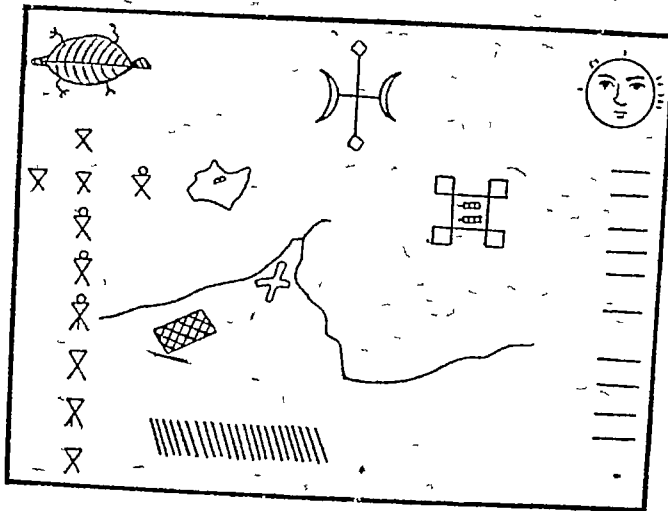
रेड इंडियन जाति का २०० वर्ष पुराना एक संकेत चित्र

इसमें एक सरदार की विजय का उल्लेख है। चित्र में नीचे की ओर २३ खड़ी रेखाएँ युद्ध-भूमि की ओर जारहे २३ योद्धा हैं। अन्य सकेत चिह्नों के लिए पृष्ठ ३५१ का मैटर देखिए।

क़दम और आगे बढ़ गई, जब कि सीधे-सादे भाव चित्रों को सम्मिलित कर जटिल विचारों को व्यक्त किया गया। प्राचीन चीनी लिपि में 'विवाहिता स्त्री' का बोध कराने के लिए 'स्त्री' और 'झाड़ू' के सांकेतिक चित्रों को जोड़ दिया जाता था; और 'प्रेम करना' क्रिया का बोध कराया जाता था 'स्त्री' और 'पुत्र' के चित्रों द्वारा। आदिम क्यूनीफ़ार्म लिपि में भी ठीक यही तरीक़ा काम में लाया जाता था। 'बन्दीगृह' का बोध 'घर' और 'अंधकार' के सांकेतिक चिह्नों से कराया जाता था। 'अश्रु' का बोध 'चक्षु' और 'जल' के चिह्नों से।

भाव बोधक चित्रों के पश्चात् बारी आती है ध्वनि-बोधक चित्रों की। मैक्सिको देश की चित्र-लिपि के अनुशीलन से स्पष्ट हो जाता है कि किस प्रकार भावचित्र ध्वनि-बोधक चित्रों में परिणत हो गये। चतुर्थ मैक्सिकन राजा का नाम था इत्ज़-कोल्ल। 'इत्ज़' का अर्थ है 'चाकू' और 'कोल्ल' का अर्थ है 'सर्प'। इसका बोध कराया गया है, पृष्ठ ३४६ के चित्र में नं० १४ में दिखाये गये चिह्न द्वारा। जब व्यक्तिवाचक संज्ञाओं का बोध कराने की आवश्यकता प्रतीत हुई, तब ध्वनि-बोधक चित्रों का निर्माण हुआ।

अमेरिका के यूकातान (Yucatan) निवासी माया लोगों के ध्वनि-संकेतों में लिखे कुछ आलेख प्राप्त हुए हैं और ऐसा विश्वास किया जाता है कि इन संकेतों के मूल रूप मैक्सिकन चित्र (Hieroglyphics) हैं। उसी वर्णमाला में लिखी हुई तीन हस्तलिपियाँ भी प्राप्त हुई हैं। इनके अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि कुछ आक्षरिक संकेतों और भाव-चित्रों के अतिरिक्त माया लोग २४ चिह्न और काम में लाते थे, जो कि अवश्य ही वर्णमाला के अक्षर रहे होंगे। यह लिपि चीनी या असीरियन जातियों की लिपियों से कहीं अधिक पूर्ण है। पर दुःख का विषय है कि मध्यवर्ती अमेरिका की लिपियों के बारे में विशेष नहीं मालूम हुआ है। वे केवल अद्भुतालय की ही शोभा बढ़ा सकती हैं। उनके द्वारा लेखन-कला की प्रगति पर प्रकाश नहीं डाला जा सकता।

जब हम चीनी वर्णों पर दृष्टिपात करते हैं, तो स्पष्ट हो जाता है कि आदि काल में मानव ने किस प्रकार चित्र-लिपि द्वारा अपने विचारों तथा संस्कृति को सुरक्षित रखने का प्रयास किया था। चीनी वर्णों के अध्ययन से एक बात और भी मालूम होती है कि यह लिपि सांकेतिक चित्र-लेखन की परिधि से बाहर न जा सकी। यह चीनी प्रगति के लिए बहुत घातक सिद्ध हुआ है।

यदि आधुनिक चीनी लिपि की प्राचीन लिपि से तुलना की जाय, तो मूल का पता तो लग जाता है पर साम्य किसी भी बात में दृष्टिगोचर नहीं होता। उदाहरणार्थ, 'श्वान' के लिए सांकेतिक चिह्न है पृष्ठ ३४६ के चित्र में नं० १५ जैसा और लकड़ी के लिए नं० १६ जैसा है। इन दोनों सांकेतिक चिह्नों में, उन वस्तुओं की अपेक्षा जिनका उनके द्वारा बोध होता है, अधिक साम्य है। किन्तु जब हम इन सांकेतिक चिह्नों के मूल रूप का पता लगा लेते हैं, तो सब समझ में आ जाता है। 'लकड़ी' के लिए मूल सांकेतिक चिह्न पहले ३४६ पृष्ठ के चित्र में नं० १७ जैसा था। इस रूप में वृक्ष की शाखाएँ, तना और जड़ों को पहचानना कोई मुश्किल नहीं। 'श्वान' के मूल सांकेतिक रूप न० १८, १६ और २० के चित्रों जैसे थे। इनमें श्वान का आकार स्पष्ट झलक रहा है। मूल भावचित्र में श्वान का शरीर, टाँगें, दुम, सिर और कान देखकर आधुनिक लिपि-संकेत भी समझ में आ जाता है।

'साधु' का बोध कराने के लिए दो सांकेतिक चिह्न हैं, जो कि संयुक्त रूप में इस प्रकार लिखे जाते थे, जैसे ३४६ पृष्ठ के चित्र मे न० २१ में दिखाये गये हैं। इनका प्राचीन रूप न० २२ के चिह्न जैसा था, जिसमें दो सांकेतिक चित्र 'मनुष्य' का 'पर्वत' पर रहने का बोध कराते हैं।

अधिक विशद वर्णन के लिए प्रतीकों का सहारा लिया गया। मूर्त पदार्थों के चित्र अमूर्त विचारों को व्यक्त करने के लिए प्रतीक तुल्य प्रयुक्त किये गये। 'रक्षा' का बोध कराने के लिए एक 'हाथ' का चित्र बनाया गया, जो कि 'अबला' की सहायता के लिए तना हुआ है। 'वृक्ष' के चित्र के नीचे 'सूर्य' का चित्र अन्धकार का बोध कराने लगा और 'वृक्ष' के चित्र के ऊपर 'सूर्य' का चित्र या 'चन्द्र' और 'सूर्य' के चित्र साथ-साथ प्रकाश का बोध कराने लगे। दो मिले हुए हाथों से 'मित्र' का अर्थ लिया गया। इसी प्रकार ४०,००० चीनी शब्दों में से अधिकांश सांकेतिक चिह्न बन गये। इनको चित्र के बजाय प्रतीक कहना अधिक युक्तिसंगत होगा, क्योंकि आधुनिक चीनी लिपि में बहुत कम चिह्न ऐसे रह गये हैं, जिनमें मूल चित्रों का लेशमात्र भी आभास मिल सके। चीनी लिपि के अध्ययन करने पर हमको उसकी क्लिष्टता और उसके निर्माताओं की बुद्धिमत्ता पर चकित होना पड़ता है।

चीनी भाषा की विचित्रता के ही कारण उसकी लिपि भी विचित्र ही प्रकार की बनी। चीनी भाषा धातु-प्रधान है। उसमें ऐसे कोई चिह्न नहीं, जिनके द्वारा काल, पुरुष,

का जन्म हुआ और ईरानी आर्यों ने क्यूनीफार्म वर्ण-माला को जन्म दिया। जिन प्रकारों से लिपि में विविध सुधार और परिवर्तन होते हैं, क्यूनीफार्म लिपि इसका एक आश्चर्यजनक सच्चा उदाहरण है—किस तरह मूल चित्र से भाव बोधक चित्र बनते हैं और फिर ये मौखिक ध्वनि-बोधक चित्रों से आक्षरिक सकेतों में परिणत हो जाते तथा अन्ततोगत्वा वर्णमाला के अक्षर बन जाते हैं। ३४६ पृष्ठ के चित्र में न० २६ का चिह्न एक असीरियन साकेतिक चिह्न है, जिसको 'अल्पू' कहते हैं; इसका अर्थ है 'बैल'। इस असीरियन रूप का हाइरैटिक बैबीलोनियन रूप नं० ३० का चिह्न है और इसका लीनियर (Linear) वैबिलोनियन रूप है नं० ३१ का चिह्न। यदि इसको थोड़ा घुमाकर सामने से देखा जाय (दे० न० ३२ का चिह्न) तो बैल के सिर और सींगों का आकार दिखलाई पड़ेगा। एक बात और ध्यान देने योग्य है कि इस मूल चित्र और नं० ३३ के फिनीशियन साकेतिक चिह्न में अधिक अन्तर नहीं है। संयुक्त साकेतिक चिह्न भी छोटे-छोटे रूपों के मेल से बनाये गये। निनेवेह (Nineveh) नगर का बोध कराने के लिए भाव-बोधक प्रतीक है नं० ३४ में प्रदर्शित चिह्न। इसका प्राचीन रूप है नं० ३५ का चिह्न। यह साकेतिक चित्र दो भावबोधक चित्रों को मिलाने से बना। इसमें प्रदर्शित है एक 'घर', जिसमें 'मत्स्य' है। इस चित्र में उस काल के इतिहास की झलक मिलती है कि शाही निनेवेह एक समय केवल मछुओं की बस्तीमात्र था। जब यह लिपि असीरिया पहुँची, तो उसमें अनेक सुधार किये गये। क्यूनीफ़ार्म लिपि के निर्माताओं की भाषा अनेकाक्षरी थी। अतएव उन्होंने अपनी भाषा को सरल करने के लिए उसे आक्षरिक बनाने का प्रयत्न किया। उन्हों-ने मूल भाव-बोधक चित्र को ध्वनि-बोधक मान लिया, फिर इस प्रतीक द्वारा उन्होंने शब्द के आदि अक्षर के उच्चारण का बोध कराया। उदाहरणार्थ आकाश का वाचक साधारण सकेत (पृष्ठ ३४६ के चित्र मे नं० ३६ का चित्र) है। यह भावबोधक तारे के चित्र (देखो उक्त चित्र में नं० ३७) का सरलीकृत रूप है। प्रोटो-बैबीलोनियन धर्म में नक्षत्रों की उपासना मुख्य थी। इसलिए यह सांकेतिक चिह्न 'भगवान्' के लिए प्रतीकात्मक भाव-बोधक चित्र बना। भग वान् के लिए मूल शब्द ऐकेडियन भाषा मे 'ऐना' है। इसका सरलीकृत रूप हुआ 'ऐन'। इस प्रकार हमने देखा कि पहले साकेतिक चिह्न आकाश का बोध करानेवाला भाव-बोधक बना, और भगवान् के लिये भी वह प्रयुक्त हुआ, और अन्तिम अवस्था मे वह केवल 'ऐन' के उच्चारण-बोधक ध्वनि-बोधक चिह्न के रूप में प्रयुक्त हुआ। जब एक बार मूल ध्वनि-बोधक सकेतों से अक्षरों का निर्माण हो गया, तो इन अक्षरों को मिलाकर अनेकाक्षरी शब्दों का बोध कराया जाने लगा। उदाहरणार्थ, 'प्रकाश' का बोध करानेवाला आक्षरिक चिह्न वह है, जो ३४६ पृष्ठ के चित्र में नं० ३८ में दिया है। इसको 'पर्वत' बोधक चिह्न से संयुक्त करा दिया, तो वह सयुक्त ध्वनि-बोधक सकेत बना, जो नं० ३६ में दिया है, और जिसका अर्थ होता है 'आत्मा'।

क्यूनीफ़ार्म में अनेक जटिलताएँ कालान्तर में प्रवेश करने लगीं। असली वर्णमाला का उद्भव तो ईरानी आर्यों द्वारा ही हुआ, परन्तु ईरानी क्यूनीफार्म में भी कई बातों का अभाव खटकता है, जिसके कारण वह पूर्ण वर्णमाला के अधिकार से वञ्चित रह गई। कदाचित् ईरानियों को वर्णमाला की आवश्यकता फिनीशियन वर्णमाला से परिचय होने पर सूझी। फिनीशियन वर्णमाला फरात की घाटी में ईसवी पूर्व आठवीं शताब्दी में प्रचलित थी और वह क्यूनीफार्म लिपि की समकालीन थी। ओपर्ट के कथनानुसार प्रोटो-मीडिक अक्षरों से थोड़े-से क्यूनीफ़ार्म वर्ण (Characters) लिये गये। उनको और सरल बनाया गया और भावबोधक साकेतिक अर्थों का ईरानी भाषा में अनुवाद किया गया। इस प्रकार ईरानी शब्द बनने पर आद्यक्षरोच्चारण सिद्धान्त (Acrologic Principle) के अनुसार वर्णमाला तैयार की गई। ईरानी वर्णमाला के अनुशीलन से विकासवाद के सिद्धान्त की पुष्टि होती है। मनमाने आविष्कार नाम की कोई चीज़ नहीं है। जिस प्रकार वृक्षों और पशुओं का विकास होता है, उसी प्रकार लिपि का भी। जिस प्रकार मूल चित्रों से ईरानी वर्णमाला के अक्षरों की उत्पत्ति हुई उसी प्रकार मिस्री चित्रों से अँग्रेज़ी वर्णमाला की उत्पत्ति हुई। इसका इतिहास बड़ा ही विस्मयजनक है।

जब हम क्यूनीफार्म और चीनी लिपियों की मिश्री चित्र-लिपि से तुलना करते हैं, तो शीघ्र ही समझ में आ जाता है कि किस प्रकार मिश्री चित्र लिपि बनी।

यह तो स्पष्ट ही है कि मिश्री चित्र-लिपि का श्री गणेश अन्य लिपियों की भाँति भाव-बोधक चित्रों से हुआ और बहुत-से चित्र अपने पूर्व रूप मे अन्त तक प्रयुक्त होते रहे। उदाहरणार्थ पृष्ठ ३४६ में नं० ४० वाला प्रतीक सूर्य का बोध करानेवाला भाव बोधक चित्र-सकेत ही है। अनेक अमूर्त विचार प्रतीकों द्वारा बुद्धिगम्य किये गये। 'प्यास का बोध जल की ओर दौड़ते हुए वत्स द्वारा कराया गय

पिगमी तीरन्दाज़

भारतवर्ष के जंगली भीलों की तरह मध्य अफ्रीका के इंतूरी-वन के ये बौने भी तीर-कमान धारण करते हैं और ताक कर निशाना मारते हैं। ये प्रायः अपने तीरों की नोक को एक प्रकार के विष में बुझा लेते हैं, जिसके कारण शिकार की मृत्यु निश्चित हो जाती है। यह विष ये लोग एक जंगली पेड़ की छाल से निकालते हैं। तीर इनके जीवन-संग्राम का प्रधान शस्त्र है, फिर भी ये लोग इतने अधिक पिछड़े हुए हैं कि स्वयं इसको नहीं बना पाते। इसके लिए ये अपने पड़ोसी निग्रो लोगों पर निर्भर करते हैं। (यह चित्र 'अमेरिकन म्यूज़ियम ऑफ़ नेचरल हिस्ट्री' के एक चित्र का फ़ोटो है।)

है। यह हालत हमेशा बनी रहती हैं, क्योंकि वैसे घने वृक्षों की छाया को छेदकर पार करना सूर्य की किरणों के लिए कठिन होता है। कई दृष्टियों से यह प्रदेश इतना भयंकर है कि बाहरी संसार के विरले ही लोग यहाँ पाँव रखते हैं। इस विशाल वन-प्रदेश की शांति आज तक कोई भी सभ्यता भंग नहीं कर पायी है।

इस प्रदेश को ही देखकर अन्दाज़ा लग जाता है कि वहाँ जो कोई भी बसता होगा उसे हमेशा अपने चारों तरफ के जंगल से संग्राम करते रहना पड़ता होगा। वह हमेशा ही भयभीत रहता होगा। उसका रोटी का प्रश्न भी अत्यन्त जटिल होगा—उसे हल करने में ही उसे अपनी सारी शक्ति लगानी पड़ती होगी। इतना करने पर भी इसमें उसे सफलता मिलती होगी या नहीं इसमें संदेह रहेगा। वन की भयावह विशालता अवश्य ही उन प्राणियों को बौना बनाकर रखती होगी। इस वातावरण के कारण उनका शारीरिक तथा मानसिक विकास दोनों का ही क्षेत्र बहुत परिमित रहता होगा।

इतूरी वन के तीन बौने निवासी

मानव-विज्ञान के आचार्यों का कथन है कि ये पिगमी आदिम मनुष्यों की एक अत्यंत प्राचीन शाखा के वंशज हैं जो आज से लाखों वर्ष पूर्व मनुष्य के आदिम पुरखों के मुख्य समुदाय से बिछुड़कर अफ्रीका के घने गर्म जंगलों में आ बसी थी।

इस प्रदेश में जाने पर ये सभी बातें यथार्थ साबित होती हैं। मनुष्य इस वन-प्रदेश में मीलों निकल जाता है, पर उसे एक भी आदमी दिखाई नहीं देता। वह इस प्रदेश को निर्जन करार देने लगता है। पर नहीं; कहीं-कहीं आदमियों के छोटे छोटे पाँव के चिह्न ज़मीन पर उभड़े दिखाई देते हैं। इतना अवश्य है कि ये चिह्न हमें हमारे आम रास्ते से बहुत दूर दूर पर मिलेंगे। यदि हम इन पद चिह्नों के पीछे-पीछे चलें तो अत्यन्त ही घने वृक्ष और झाड़ियों के बीच जा पहुँचेंगे। वहाँ पर हमारे पाँवों की ज़रा-सी भी आहट हुई नहीं कि किसी के ...ों की तरह लोप हो जाने की आहट हमें मिलेगी! बड़े परिश्रम के बाद हमें पता लगता है कि एकाएक विलुप्त हो जानेवाला यह अद्भुत जीव कौन था। पर जब पहलेपहल हमारी दृष्टि उसके ऊपर पड़ती है तो हमें अवाक् रह जाना पड़ता है!

बौना। क़द बहुत ही छोटा। बदन गठीला। गर्दन छोटी। छोटे पतले पाँवों पर अड़ा हुआ लम्बा मोटा धड़। कंधे चौड़े। बाँह अनुपात से बहुत अधिक लंबी, लेकिन हथेली और तलवे बौनों के उपयुक्त। अंगों का सारा अनुपात ही एक अजीब गोल-माल सा। दाढ़ी रहने के कारण शक्ल बहुत-कुछ जानवरों-सी। शरीर का रंग पीली मिट्टी के समान। हमारी दृष्टि में बड़े ही बदसूरत!

हम उन्हें और भी ध्यान से देखने की कोशिश करते हैं, लेकिन नुकीले दाँत देखकर सहम जाते हैं। दाँत काटकर या किसी चीज़ से घिसकर अत्यन्त ही नुकीले बना लिये गए हैं। उनमें सुई-सी नोक हो गयी है। वे इन्हें हम अपने अंग के सबसे सुन्दर हिस्से के समान दिखाते हैं। पर हमें ये भद्दे जँचते हैं। अब हमारी दृष्टि उनकी वेष-भूषा पर जाती है।

पोशाक वृक्षों के खाल की। डोरी के स्थान पर चमड़ा। गहने लकड़ी के। कलाई में साँप की चितकबरी खाल लपेटे। शरीर पर काले कोयले से की गयी मोटी भद्दी चित्रकारी। कहीं कहीं लाल स्याही के भी चिह्न।

हमें यह अजीब शक्ल देखकर आश्चर्य होता है। हम इसे दुनिया की अपने ढंग की एक ही 'क़िस्म' मानते हैं। सोचते हैं कि इनकी जाति के और दूसरे जीव शायद ऐसे भयंकर न हों। पर हमारा अनुमान ग़लत निकलता है। आगे भी जो मिलते हैं वे भी पहले से बहुत अधिक मिलते-जुलते होते हैं। मोटी-मोटी विशेषताएँ सबमें एक ही होती हैं। उनके पद

के लिए बाध्य होना पड़ा। क्षुधा ने इनके जीवन को इस प्रकार अस्थिर बनाये रखा कि इन्हें कभी भी और कामों के लिए फ़ुरसत नहीं मिली। आज भी हम देखते हैं कि भोजन या जीवन के उपयोग की अन्य कोई भी वस्तु जमा करके रखने का ढर्रा इनके यहाँ चल नहीं सकता। यदि एक दिन की मेहनत से लाया गया भोजन दूसरे एक और दिन के लिए चल जाय तो वही बहुत हुआ। इसी से अन्दाज़ा लगाया जा सकता है कि इस प्रदेश में भोजन जुटाना कितना कठिन है, इसके लिए कितना परिश्रम, कितना ख़तरा उठाते रहने की ज़रूरत पड़ती होगी।

इसी भोजन जुटाने के महान् संग्राम ने पिगमियों को एक विशेष प्रकार के साँचे में ढाल दिया है। इसी ने उनके ऊपर ऐसी गहरी छाप लगा दी है कि वे अपने जीवन के परिवर्तन की संभावना की बात सोच ही नहीं सकते। उनका घूमना उनके लिए गत हज़ारों वर्षों में इतना स्वाभाविक, जीवन के लिए इतना आवश्यक बन गया है कि अब वे इसके बिना जी नहीं सकते। वे स्थिर जीवन बिताने की बात सोच ही नहीं सकते। इसलिए उनकी जो बस्तियाँ हैं, उनके नाम तक भी स्थायी नहीं रहते। बस्तियों का नामकरण वे अपने दल के मुखिये के नाम पर किया करते हैं। इसी कारण जब वह मुखिया चला जाता है और दूसरा उस गाँव में आता है तो उस गाँव का नाम बदल जाता है।

बाहर के जितने भी धक्के आये, पिगमियों को परिवर्तित करने में समर्थ नहीं हुए। ये धक्के विशेष कर निग्रो लोगों की ओर से आये। वे ही पिछली कई शताब्दियों में ऐसे रहे हैं, जिन्होंने इक्के-दुक्के ईतूरी-वन में प्रवेश किया है और उसमें वे स्थान-स्थान पर बस गये हैं। कई मामलों में ये पिगमियों से अधिक आगे बढ़े हुए अवश्य हैं, फिर भी वे अपने जीवन के ढर्रे पर पिगमियों के जीवन को लाने में समर्थ नहीं हुए हैं। पिगमियों के जीवन का भलीभाँति निरीक्षण कर हम इस बात की यथार्थता की जाँच कर सकते हैं।

दो पिगमी बूढ़े

अधिक से अधिक साढ़े चार फ़ीट क़द के इन बौनों की भावभङ्गी से बन्दरों-जैसा एक अजीब भय-मिश्रित मसख़रेपन का भाव टपकता है। बुढ़ापे में तो इनके चेहरे पर यह भाव और भी स्पष्ट हो जाता है।

और आदमियों की तरह पिगमियों के लिये भी आग बहुत आवश्यक है। वे इसका व्यवहार भी करते हैं, पर उसे नये सिरे से जलाना उन्होंने अब तक नहीं सीखा है। इनमें अब भी बहुतेरे ऐसे हैं जो अपने घरों में आग बुझने नहीं देते; क्योंकि बुझ जाने पर उन्हें उसे दूर की बस्ती से लाने जाना पड़ेगा। निग्रो पत्थर और काठ घिसकर जिस तरह चिनगारी निकालते हैं, वह तरीका पिगमियों ने हज़ारों वर्षों में भी नहीं सीखा। पिगमियों के इस प्रकार की मानसिक अवस्था का ख़ास कारण यह मालूम होता है कि जिस विशाल जंगल में ये शुरू से ही घिरे आ रहे हैं, उसने बहुत हद तक अपने को इनके सामने अजेय साबित कर दिया है। उसी ने इनका स्वभाव बदलकर इस ढंग का बना दिया है कि मनुष्य अपने वायु-मंडल पर विजय पा सकता है, इस बात पर अब वे विश्वास ही नहीं कर सकते।

दूसरा उदाहरण हम इनके आहार का लें। पिगमियों के भोजन का सिर्फ एक-तिहाई भाग गोश्त रहता है; बाकी दो-तिहाई फल, शाक इत्यादि होता है। जड़, मूल, खाने योग्य पत्ते तथा जंगली फल वन में बहुत कम जुटते हैं, इनसे पेट नहीं भरा जा सकता। इसलिए पिगमियों को मनुष्य द्वारा उपजायी गई चीज़ों की आवश्यकता पड़ती है। वे ताल के फल और ऊख खाते हैं; पर सबसे अधिक केला पसन्द करते हैं। एक तरह से केला ही उनका सुन्दर से सुन्दर आहार गिना जा सकता है। पर इतना होते हुए भी वे इसे उपजा नहीं पाते।

इस प्रदेश में खेती करने वाले सिर्फ निग्रो ही हैं। वे ही ऊख और केला भी उपजाते हैं। इन चीज़ों के बल पर वे पिगमियों को एक तरह से गुलाम बनाकर रखते हैं। निग्रो इन्हें समय समय पर खाने के लिए ऊख और केले दिया करते हैं। इसके बदले पिगमी उनके अधीन रहते हैं। निग्रो उनसे शिकार मरवाया करते हैं और जंगली पदार्थ इकट्ठा कराते हैं। थोड़े से केले के लिए नये

कम्बल, चटाई आदि के व्यवहार की तो ये कल्पना भी नहीं कर सकते। लकड़ी के कुन्दों पर ही, आग के पास शरीर गरमाते हुए, सो जाते हैं।

अब हाल में आकर तो इनकी हालत और भी बदतर होती जा रही है। गोरे चमड़े वालों ने निग्रो लोगों को जंगलों में खदेड़ दिया है और निग्रो लोगों ने पिगमियों को और भी अधिक संकीर्ण घेरे में डाल दिया है, जहाँ उनका जीवित रहने का संग्राम और भी अधिक जटिल हो गया है। परिणामस्वरूप पिगमियों की जाति मरणप्राय होती जा रही है। हाल में लौटे कुछ अन्वेषकों की धारणा है कि अब उनकी संख्या कई गुनी घटकर सिर्फ बीस हज़ार ही रह गई है।

अभी कुछ समय पहले तक कुछ गोरे यूरोपियन प्रमाद-वश पिगमियों को पूरी तरह से जानवरों की गिनती में रखकर उनका शिकार तक खेलने का शौक़ रखते थे। यहाँ पर यह दोहराने की आवश्यकता नहीं कि पिगमी हैं तो आख़िर मनुष्य ही। उनके भाव प्रकाश करने का ढंग हमसे भिन्न है, फिर भी वे मनुष्य की कोटि के हैं, इसमें संदेह नहीं किया जा सकता।

पिगमियों के बर्ताव के तरीके हमारी तरह जटिल न होकर अब भी बड़े सीधे-सादे और स्पष्ट हैं। इसका यह मतलब नहीं कि ये चालाकी जानते ही नहीं। चालाकी से अपने शत्रु को ज़हर देकर मार डालने की कला ये जानते हैं; और मौक़े-मौक़े पर इसका ये उपयोग भी करते हैं, पर आदमी होने के नाते इतना समझते हैं कि 'जो ज़हर देकर मारता है वह ख़ुद भी ज़हर से ही मरता है।' यह समझ इनके भीतर चाहे जिस प्रकार भी क्यों न घुसी हो, परंतु इनमें यह विवेक का भाव है अवश्य, और यही विचार ज़हर देने के रिवाज़ को इनमें आम तरह से प्रचलित नहीं होने देता।

पिगमियों के चेहरे पर अतिशय कठोरता और मानव-सुलभ कोमल भाव का अभाव देखकर हम उन्हें अपनी कोटि का होने में संदेह करते हैं, पर हम उनके संग्राम को भी भूलना नहीं होगा। जीवन धारण किए रहने के निरंतर संग्राम ने ही पिगमियों को कठोर बना दिया है। पिगमियों में पुरुष कभी रोते नहीं देखे गये। तकलीफें बर्दाश्त करने की उनमें अद्भुत क्षमता होती है। लेकिन इसके साथ ही हम यह भी पाते हैं कि शहद की सिर्फ याद भर करा देने से ही वे अँगुली चाटने लगते हैं, नमक देख भर लेने के लिए उछल पड़ते हैं और बड़ा शिकार या केला पाकर उत्सव लगते हैं।

आज हम यदि अपनी दृष्टि से उनके जीवन में परिवर्त्तन लाना चाहें, तो हमें शायद ही सफलता मिलेगी। हजारों वर्ष से कठोर जीवन व्यतीत करते-करते वे उसके ऐसे आदी हो गये हैं कि उसके बिना वे अब जी नहीं सकते। इसी-लिए किसी पिगमी को यदि किसी बड़े गाँव में लाकर रखा जाता है, जहाँ उसके आराम की सब चीज़ें मौजूद मिलती हैं, तो भी वह वहाँ रहना नहीं पसन्द करता। पिगमी का उस गाँव में मानों दम फूलने लगता है और अपने ईतूरी-वन के घोंसले में लौट जाने के लिए वह बेचैन होने लगता है।

पिगमियों का इस प्रकार का स्वभाव देखकर हम मनुष्य के जीवन में वस्तुस्थिति के महत्त्व का अन्दाजा लगा सकते हैं। मनुष्य जैसे प्रदेश में रहता है, जैसी परिस्थिति में रहने के लिए वह बाध्य होता है, अपने निर्वाह के लिए उसे जितना वक़्त लगाना और परिश्रम करना पड़ता है, खाद्य-पदार्थों के प्राप्त करने के प्रयत्न में जिन मानसिक और शारीरिक अस्त्रों का वह उपयोग करने लगता है, वे ही सब उसका स्वभाव बनाते हैं और इन्हीं बातों के ऊपर उसका आगे का विकास भी निर्भर करने लगता है।

मानव-विज्ञान आचार्यों का मत है कि पिगमी मानव जाति की एक बहुत पुरानी उपशाखा के प्रतिनिधि हैं। कहते हैं कि आज से कई लाख वर्ष पहले पृथ्वी पर घोर शीत छाने लगी, और अधिकांश भागों में बर्फ़-ही-बर्फ़ फैल गया। इस तरह के कई हिमयुग पृथ्वी पर आए, जिनके कारण मनुष्य के आदिम पुरखे अलग-अलग समूहों में बँटकर इधर-उधर गर्म प्रदेशों में बिखर गये। एक शाखा सुदूर ऑस्ट्रेलिया तक पहुँची, दूसरी उत्तर की ओर बढ़ गई। तीसरी शाखा मध्य अफ्रीका के घने जंगलों की ओर बढ़ी, और एक बार उसकी भूलभुलैयाँ में फँस जाने पर फिर वहाँ से बाहर न निकल पाई। इसी शाखा के बचे बचाए स्मारक आज के अफ्रीका के पिगमी और निग्रो हैं। जिस तरह एक ही विशाल वृक्ष की अनेक शाखाओं में कोई एक शाखा निरंतर फूलती फलती हुई ऊपर की ओर बढ़ती जाती है, और कुछ शाखाएँ तने से अलग फूटकर कुछ ही दूर फैलने के बाद ठूँठ हो जाती हैं, वही हाल पिगमियों का भी है। मानव जाति के एक ही विशाल वंश में उत्पन्न होकर भी पिगमी जाति उन्नति की दौड़ में अपनी अन्य सहोदर जातियों का साथ न दे सकी। यही कारण है कि उसकी बाढ़ रुक गई, और अब तो वह शीघ्रता से लुप्त होती जा रही है।

बुरी नजर, बददुआ और भूत-प्रेतों के कुप्रभाव के निवारण के लिए समूचे गाँव की ओर से मिलकर भी बलि दी जाती है। पैदावार को बढ़ानेवाली तांत्रिक विधियों की उपयोगिता में भी वे लोग विश्वास करते हैं। अपने खेतों की उपज की वृद्धि के लिए वे मानव रक्त की भेंट चढ़ाते हैं। उनका विश्वास है कि अगर मनुष्य की रक्तवाहिनी शिरा को छेदकर ताज़ा लहू खेत में ख़ास इसी काम के लिए बनाये हुए गड्ढे में डाला जाय, तो इससे शिकार पर निर्वाह करनेवाले लोगों को शिकार के जानवर बहुतायत से मिलते हैं और साथ ही उनकी ख़ूराक के दूसरे मुख्य साधन खेती की पैदावार भी बढ़ती है। ये लोग जादू-टोने में बड़ा विश्वास करते हैं और ऐसे जादूगरों और ऐन्द्रजालिकों की तो इनमें भरमार है, जिनके बारे में यह समझा जाता है कि वे लोगों पर मंत्र द्वारा प्रभाव डाल सकते हैं। अपने को खतरे में डाले बिना जब कभी भी गोंड़ों को कोई मौक़ा हाथ लगता है, वे इन जादूगरों और डाइनों को जान से मारकर उनसे बदला चुकाते हैं। इस प्रकार की हत्या करनेवाले को गाँव भर की सहानुभूति और सहायता प्राप्त होती है और गाँववाले अक्सर इस काम में उसका साथ देते हैं। कुछ दिनों पहले तक गोंड लोगों में विवाह के लिए कन्याओं का अपहरण करने की भी प्रथा थी, लड़कियों को घर से भगा लाना उनके यहाँ शादी का आम दस्तूर था। पर अब सरकार ने इस प्रथा को क़ानूनन जुर्म करार दे दिया है और इस क़ानून का उल्लंघन करनेवालों को कड़ी-से-कड़ी सज़ायें दी जाती हैं। लेकिन चूँकि गोंड अब भी इस प्रथा की उपयोगिता में विश्वास करते हैं, अतएव उन्होंने क़ानून के पाश से बचने का उपाय निकाल लिया है। अब उनमें वर और कन्या के बीच पहले ही ठहराव हो जाता है और भगाकर लाने की बात महज़ रस्म अदायगी के तौर पर पूरी कर दी जाती है। ज़िन्दगी की दूसरी बहुत-सी बातों में भी उनके काम-काज पर अब काफी बंदिशें लग गई हैं। उन्हें अब पहले की तरह खेती की जगह को बराबर बदलते हुए खेती करने की इजाज़त नहीं है। पहले इन जंगली लोगों की आदत थी कि वे दरख़्तों को काटकर उन्हें जला डालते थे और ज़मीन को जोतने के बजाय इन्हीं जले हुए पेड़ों की राख में ही बीज बो देते थे। इस प्रथा से तंग आकर बहुत-से भागों में जंगलों की हिफ़ाज़त के लिए सरकार को बहुत कड़े क़ानून जारी करने पड़े और खेती के इस बड़े ख़र्चीले तरीके को एकदम बन्द करा देना पड़ा। पर, मध्यप्रान्त के भीतरी भागों में और वहाँ की देशी रियासतों में इस तरह की खेती का रिवाज अब भी बहुत पाया जाता है। बहुत-सी आदिम जातियों के लोगों में, यह लाज़िमी है कि देवताओं और भूत-प्रेतों को भेंट चढ़ाते वक्त स्वयं अपने ही परिवार द्वारा भपके से तैयार की हुई शराब चढ़ाई जाय। इधर आबकारी के जो क़ानून जारी किये गये हैं, उन्होंने इस तरह, शराब तैयार करने की रीति पर रोक लगाकर इन लोगों को कठिनाई में डाल दिया है। परन्तु ये अब लाइसेंसशुदा दूकानों से मदिरा ख़रीदकर देवताओं को चढ़ाने लगे हैं; यद्यपि अब भी ऐसे लोगों की कमी नहीं है, जो अगले जमाने के अपने पूर्वजों की तरह घर पर ही चुपके से मदिरा तैयार करके देवताओं को चढ़ाते हैं।

मध्य प्रांत में बस्तर रियासत के ओरछा नामक स्थान की माड़िया गोंड जाति की कुछ युवतियाँ

गोंड लोग अनेक 'जनों' या जातियों (tribes) और उपजातियों में बटे हुए हैं। इनमें से प्रत्येक जाति या 'जन' के तो

बरतनों में से एक उसके आगे फेंक देते हैं और उस रोज एक वक्त का उपवास रखते हैं। इसी तरह सर्प क़बीले के लोग सर्प को नहीं मारेंगे और बाज़ क़बीले के लोग चिड़ियों के शिकार में बाज़ का उपयोग नहीं करेंगे।

गोंड़ों में विवाह आजकल एक बहुत सरल रस्म हो गई है। हिन्दुओं के सम्पर्क में आकर वे लोग भी विवाह की धार्मिक पवित्रता को मानने लगे हैं और बहुतेरे गोंड़ शादी की रस्म को पूरी कराने के लिए ब्राह्मण को बुला लेना भी पसन्द करते हैं। किन्तु भीतरी प्रदेश में, ख़ासकर अधिक जंगली लोगों में, विवाह अब भी (व्यक्ति का नहीं बल्कि) जाति का कार्य माना जाता है। वर और कन्या के परिवारों पर शादी की ज्यादा जिम्मेदारी नहीं रहती, विवाह द्वारा जिन दो गाँवों के बीच संबंध स्थापित होता है, उन्हीं का यह कर्त्तव्य समझा जाता है कि वे देखें कि विवाह की परम्परागत विधियाँ सम्पन्न हुईं या नहीं। इस जातीय समारोह का ख़र्च भी गाँववालों ही को वर्दाश्त करना पड़ता है। वर और कन्या के माता पिता को विवाह में अपने-अपने गाँव के निवासियों से आर्थिक तथा दूसरे प्रकार की पूरी सहायता प्राप्त होती है। कई दिनों तक गाँव के परिवार अपना अपना खाना अलग न पकाकर एक ही सामूहिक चौके में ही भोजन करते हैं। विवाह में वर के माता पिता को कन्या का मूल्य चुकाना होता है। जब वर पक्ष के लोग कन्या के गाँव में पहले ही से तय किये हुये कन्याधन और उपहार की दूसरी चीजें—जिनमें ज़िन्दा और मुर्दा सुअर, शराब, लकड़ी और उसकी माँ के लिए कपड़े, धान, गहने [illegible] शामिल रहते हैं—लेकर आते हैं तो कन्या-पक्षवालों द्वारा भद्दी गालियों द्वारा उनका स्वागत किया जाता है। इस रस्म की अदायगी में दोनों पक्ष के मुखिया अश्लील और फूहड़ भाषा के प्रयोग में एक दूसरे से बाज़ी लेने की कोशिश करते हैं। इस शत्रुभाव के प्रदर्शन के बाद दोनों पक्षों के लोग एक दूसरे का बड़े सौहार्द के साथ स्वागत करते हैं। वधू-पक्ष के लोग, अपने जंगली तरीके से जो कुछ भी वे कर सकते हैं उसके अनुसार, वर पक्ष के लोगों के लिये नाना प्रकार के मनोरंजन के साधन जुटाते हैं। तब वर और वधू एक दूसरे की बाँह पकड़े लोगों के सामने लाये जाते हैं और जनसमूह की प्रशंसा-ध्वनि के बीच विधिवत् उनका विवाह होता है। इसके पश्चात् वधू का पिता दम्पति को उनके पारस्परिक कर्त्तव्य, सहनशीलता, परिस्थिति के अनुकूल अपने को बना लेने की आवश्यकता तथा सामने आने वाली भावी कठिनाइयों आदि के सम्बन्ध में बहुमूल्य परामर्श देता है। वह ग्रामवासियों से भी दम्पति के साथ सहयोग करने की याचना करता है, ताकि दम्पति अपना विवाहित जीवन सफलता-पूर्वक निभा सकें। इस भाषण के उपरान्त वर और वधू को वर के घर एक जुलूस बनाकर बाजे की ताल पर नाचते गाते लिवाया जाता है। वहाँ वे उस झोपड़े के सामने पहुँचाये जाते हैं, जहाँ दम्पति को अपना विवाहित जीवन व्यतीत करना होगा। वहाँ पहुँचकर उनसे झोपड़े के दरवाज़े की ओर मुँह करके खड़ा रहने को कहा जाता है। वर का मामा या और कोई बुज़ुर्ग रिश्तेदार झोपड़े की छत पर चढ़ जाता है और उस जगह से सबके सामने वह एक नये बर्तन में से

डंडामी माड़िया गोंडों में मृत व्यक्ति की स्मृति में लगाया जानेवाला लकड़ी का समाधि-स्तंभ या 'मेनहीर'।

के गाँवों में एक बड़ा घर होता है, जहाँ अविवाहित युवक और युवतियाँ इकट्ठे होकर रात्रि के समय नृत्य गान करते हैं। कुछ गाँवों में ऐसे दो घर होते हैं—एक युवकों के लिए और दूसरा युवतियों के लिए। बस्तर के माड़िया और मुड़िया लोग गाँव के बाहर सोने के लिए ऐसे बारिकनुमा घर बनाते हैं, जहाँ युवक और युवतियाँ रात्रि के समय मिल कर नृत्य-गान तथा क्रीड़ा करते हैं और अन्त में थकने पर सो जाते हैं। गोतुल प्रथा मुड़िया लोगों के कुछ गाँवों में अपनी पूर्णता को पहुँच गयी प्रतीत होती है। यहाँ उसने जाति और क़बीले के संगठन का स्थान ले लिया है। मुड़िया गोतुलों में ऐसे युवक और युवतियाँ मिलती हैं, जो एक ही गोतुल के होने पर भी एक ही क़बीले के नहीं होते और यदि युवक और युवतियों का परिचय स्थायी मित्रता में परिणत हो जाय तो आवश्यकता होने पर उनमें विवाह-सम्बन्ध भी हो जाता है। प्रारम्भ में गोतुल ग्राम का सामूहिक शयनकक्ष (सोने का स्थान) था, जिसका उपयोग मुख्यतया अविवाहित युवक और अवसर आ पड़ने पर ग्राम का पुरुषवर्ग करता था। इसका पुरुषों के मनोरंजन गृह या क्लब के रूप में भी उपयोग होता था।

मुड़िया गोंड़ जाति की युवतियों का एक समूह

इनकी वेषभूषा और अलंकारों की समानता पर ग़ौर कीजिए। इस चित्र में ये एक उत्सव के समय नृत्य करने की तैयारी में हैं।

गोतुल के कई एक अधिकारी या अफ़सर होते हैं और उनके कार्य भी भिन्न-भिन्न प्रकार के हैं। कभी-कभी इन अधिकारियों के नाम रियासत या जमींदारी के कर्मचारियों की उपाधियों के नाम पर रखे जाते हैं। बस्तर के मुड़िया लोगों के एक गाँव के गोतुल के मुख्य अधिकारियों के नाम ये हैं—सलाऊ, बैधर, सिलादार और कोतवार। 'सलाऊ' गोतुल का मुखिया या प्रधान होता है। वह गोतुल में घटने वाली सभी बातों के सम्बन्ध में जाति या ग्राम के गुरुजनों के प्रति उत्तरदायी है। नृत्य के लिए वही आज्ञा देता है, सामाजिक उत्सवों का स्थान और समय भी निर्धारित करता है और गोतुल के अन्य अधिकारियों पर नियन्त्रण भी रखता है। 'बैधर' ईंधन इकट्ठा करने तथा गोतुलगुरी में झाड़ू लगाने और सफाई कराने का प्रबन्ध करता है। 'सिलादार' गोतुल के सदस्यों की हाज़िरी के लिए ज़िम्मेदार होता है। उसे गोतुल के सदस्यों को गोतुल में होनेवाले प्रत्येक कार्यक्रम के बारे में सूचित करते रहना पड़ता है। सदस्यों के व्यवहार या आचरण के विषय में सलाऊ को सूचना देना भी उसी का काम है। कोतवार नाज़िर का काम करता है और जब सलाऊ गोतुल के किसी समारोह के आरम्भ होने की आज्ञा जारी करता है, तो कोतवार सदस्य और सदस्याओं को बुलाता है। चलन के अनुसार सलाऊ को कुछ विशेषाधिकार होते हैं। उदाहरण-स्वरूप, वह किसी भी युवती से प्रेम कर सकता है और सार्वजनिक रूप से इसकी विज्ञप्ति भी कर सकता है। वह जिस युवती को पसन्द करता है, उसे कुछ ऐसी सुविधायें होती हैं, जो अन्य युवतियों को नहीं होतीं। जब तक गोतुलवालों को यह पता रहता है कि सलाऊ अमुक युवती को चाहता है, तब तक गोतुल के किसी पुरुष सदस्य को उस युवती से प्रेमानुरोध या प्रणय करने का अधिकार नहीं रहता। सलाऊ को यह भी अधिकार है कि वह अपने पास जितनी चाहे उतनी युवतियाँ रखे। जब तक गोतुल का प्रधान विवाह नहीं करता, वह संस्था का एकमात्र अधिकारी बना रहता है, परन्तु विवाह के बाद एक नये सलाऊ का चुनाव होता है। यह चुनाव सर्वसम्मति से ही होता है। विवाह के बाद गोतुल के सदस्य का गोतुल में आना ठीक नहीं समझा जाता। परन्तु यदि कोई विवाहित सदस्य गोतुल में आए, तो उसे गोतुल के जीवन में प्रविष्ट होने या भाग लेने से रोकने
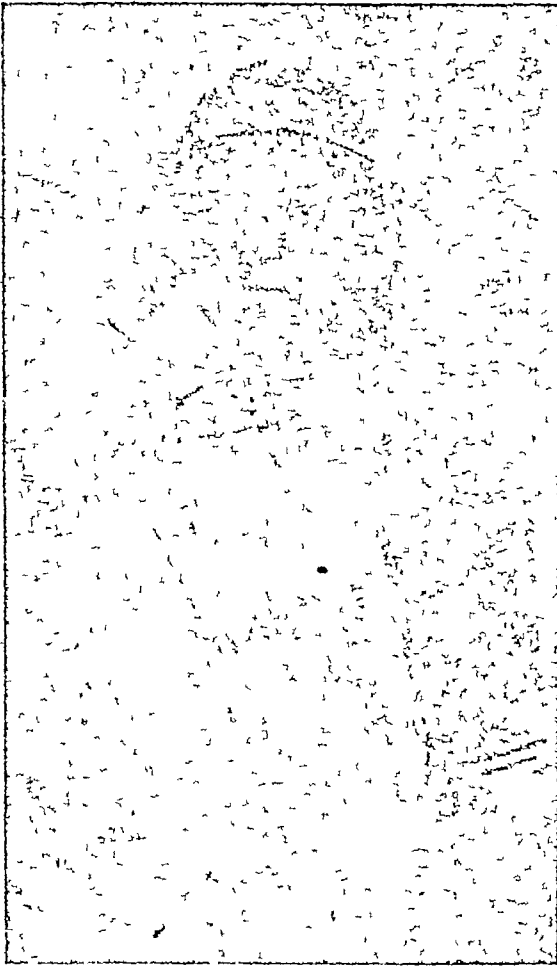
एक गोंड़ युवती

दाबते, बालों में कंघी करते तथा अन्य सेवाएँ करते हैं। आचरण बनाने के लिए उनको कड़े संयम-नियम से रक्खा जाता है। जहाँ लड़के और लड़कियाँ एक ही शयनकक्षा में रहते हैं (जैसा कि बस्तर के मुड़ियों में प्रथा है), वहाँ छोटी उम्र के लड़कों का काम लड़कियाँ करती हैं। भोजन के बाद सन्ध्या को गोतुलगुरी में प्रविष्ट होते ही उनका काम आरम्भ हो जाता है; और इनको बिना नागा हर-शाम को वहाँ हाजिरी देनी पड़ती है। वे पहले गोतुल के प्रधान को शीश नवातीं हैं, फिर युवकों की सेवा में जुट जाती हैं। उनके बालों में कंघी करतीं तथा उनकी थकान मिटाने के लिए हाथ पैर की मालिश करती हैं। तत्पश्चात् वे लड़कों के साथ बड़ी रात तक नाचती-गाती हैं। थक जाने पर अपने-अपने मित्रों के संरक्षण में वे घर को लौट जाती हैं।

शयन-कक्षा-भवन अधिकतर वनस्थली के मध्य में जंगली जातियों के बीच या गाँव से दूर—जैसा कि बस्तर में है—बना रहता है, ताकि किसी उत्सुक अन्वेषी के तिरिक्त कोई अपरिचित व्यक्ति वहाँ न आ सके। घर को जान-बूझकर चारों तरफ से बन्द रक्खा जाता है। दरवाज़े के रूप में सिर्फ एक छोटा सूराख रहता है, जिसमें से आदमी रेंगकर भीतर-बाहर आ-जा सकता है। कमरे का भीतरी भाग उपयोग के समय प्रायः अँधेरे या धुएँ से भरा रहता है। बाहर से किसी को कुछ पता नहीं लग सकता। इसके अतिरिक्त शयन-कक्षा का भ्रातृमण्डल शयन-कक्षा में घटनेवाली घटनाओं के सम्बन्ध में किसी से कुछ भी न बतलाने के लिए प्रतिज्ञाबद्ध रहता है। प्रतिज्ञा-भंग करने पर कड़े दण्ड दिए जाने की व्यवस्था रहती है। वहाँ की बातें बतलाने का साहस करने पर लड़कियों को भी दण्ड दिया जाता है। जब तक उन्हें अपने अपराधों की क्षमा न मिल जाय, तब तक उन्हें नृत्य में भाग लेने की आज्ञा नहीं मिलती और किसी भी गोंड़ लड़की की कल्पना में-यह उसके लिए सबसे बड़ा दण्ड है। यदि लड़कियों से उनके शयन-कक्षा-सम्बन्धी जीवन के विषय में प्रश्न पूछा जाय, तो वे तुरन्त सामने से हट जाती हैं। शयन-कक्षा-सम्बन्धी किसी बात का प्रकट करने वाला सदस्य प्रायः रात के कार्य-क्रमों में शरीक नहीं हो सकता। इन शयन-कक्षों में पाये जाने वाले संगठन का प्रभाव जाति के जीवन पर बहुत पड़ा है और शायद यही उस स्वाभाविक अनुशासन का कारण है, जो इन आदिम जातियों के जीवन में देख पड़ता है। [लेख के चित्र 'लखनऊ विश्वविद्यालय द्वारा बस्तर को भेजे गये 'एनथ्रोपोलोजिकल एक्सपीडीशन' द्वारा प्राप्त हुए हैं]

डंडामी माड़िया युवतियाँ (नृत्य करती हुई)

उसका चौबीसवाँ साल लग रहा था कि उसकी प्रेममयी माता की मृत्यु हो गई। यह असह्य आघात उस मानव-हितैषी का कोमल हृदय सहन नहीं कर सका। माता की अंत्येष्टि क्रिया समाप्त करके अब उसने पुन अपने एकान्त को अपनाना प्रारंभ कर दिया। फिर वही चिन्तन, मनन, शिक्षण आदि।

पूर्व के अनेक भाग्यवादी विचारकों ने मानव के दुःखों का निवारण पाया है प्राय सन्तोष और सहनशीलता में—दुःखों के अदर्शीकरण में। दुर्बलों को ऊँचा उठाना नहीं वरन् उन पर दया करना उनका आदर्श रहा है। और इसी कारण अबला स्त्री अपनी शारीरिक दुर्बलताओं के कारण उनकी मनोवृत्ति की अभिव्यक्ति की एक प्रमुख भूमि रही है। "पति को स्वामी की तरह आज्ञा देनी चाहिए, और पत्नी को उसके आगे आत्म-समर्पण करना चाहिए, उसका आज्ञापालन करना चाहिए। पति सदा नेतृत्व करता और आज्ञा देता हुआ, तथा पत्नी सदा अनुगमन और समर्पण करती हुई चले। और ये सब बातें न्याय, पवित्रता और सम्मान पूर्वक निश्चित मर्यादा के भीतर ही होनी चाहिएँ," कनफ्यूशियस की तरह इस विचार के पोषक अधिकाश दार्शनिकों के जीवन में सदा ही यह दुर्घटना रही है कि स्वय उनका ही वैवाहिक जीवन सुखमय नहीं रहा है। लगभग २७ वर्ष की अवस्था में ही कनफ्यूशियस को अपनी पत्नी को त्याग देना पड़ा। इतिहास को इसका कोई कारण ज्ञात नहीं है और न स्वय कनफ्यूशियस ही ने इस विषय पर प्रकाश डाला है। पर इतना निर्विवाद है कि यह दुर्घटना पत्नी के किसी दुष्कृत्य के कारण नहीं घटी, क्योंकि कई साल बाद जब कन्फ्यूशियस ने उसकी मृत्यु का समाचार सुना, तो वह दु:खी हुआ और उसने उसके प्रति अपना प्रेम प्रदर्शित किया था।

चीन का अप्रतिम महापुरुष कनफ्यूशियस
(ईस्वी पूर्व ५५०—४७८)

इस विवाहोच्छेद का कारण यह भी नहीं कहा जा सकता वह मौलिक रूप से विवाह के विरुद्ध और आजीवन ब्रह्मचर्य का पक्षपाती रहा हो, क्योंकि एक बार लू (चीन का एक प्रदेश) के राज्याधीश से विवाह पर बात करते हुए उसने कहा था—"विवाह मनुष्य की एक स्वाभाविक अवस्था है, जिसके द्वारा वह इस ससार में अपना कर्तव्य पूरा करने की योग्यता प्राप्त करता है।"

लू का राज्याधीश अपने मुसाहिबों के प्रभाव से पहले तो कनफ्यूशियस की शिक्षा का विरोधी हो गया था, पर दिनों-दिन बिगड़ती हुई राज्य की अवस्था ने उसे विवश किया कि इस विचारक से सहायता प्राप्त करें और राज्य के साथ मिटती हुई अपनी सत्ता को पुन. स्थापित करें। अतएव कनफ्यूशियस फिर सार्वजनिक जीवन में एक मत्री के रूप मे आया। इस पद पर स्थापित होते ही उसने लोकहित के अनेक कामों से राज्य की अवस्था में कायापलट कर दिया। मत्री के पद के साथ ही उन दिनों प्रधान न्यायाधीश का पद भी जुड़ा हुआ था। अतएव शासन के साथ-साथ उसे न्याय भी करना पड़ता था।

एक बार आवारागर्दी की हालत में त्से प्रदेश की सीमा में पहुँचने पर उससे वहाँ के राज्याधीश ने प्रश्न किया था—"अच्छा शासन किसे कहते हैं?"

कनफ्यूशियस ने तत्काल जवाब दिया—"अच्छे शासन की सफलता उस स्वाभाविक सम्बन्ध को क़ायम रखने मे है, जो मनुष्य-मनुष्य के बीच होनी चाहिए। शासक में राजोचित चरित्र, प्रजा में राजभक्ति, माता-पिता मे वात्सल्य और बच्चों में श्रद्धा होनी चाहिए।"

सरदारतंत्र के ध्वंसावशेष पर खड़ी आज की पीढ़ी को यह वक्तव्य अरुचिकर हो सकता है, पर दो-ढाई हजार वर्ष पूर्व के उस अन्धकारपूर्ण युग मे, जब कि सभ्यता अपनी शैशवावस्था से धीरे-धीरे उठ रही थी, इतना कह सकना भी क्या कुछ आसान था? उन दिनों न्याय होता था सरदारों और राजाओं के लिए, आम जनता के लिए नहीं। कनफ्यूशियस ने इस प्रथा को भंग किया और अपने

उसका चौबीसवाँ साल लग रहा था कि उसकी प्रेममयी माता की मृत्यु हो गई। यह असह्य आघात उस मानव-हितैषी का कोमल हृदय सहन नहीं कर सका। माता की अन्त्येष्टि क्रिया समाप्त करके अब उसने पुनः अपने एकान्त को अपनाना प्रारंभ कर दिया। फिर वही चिन्तन, मनन, शिक्षण आदि।

पूर्व के अनेक भाग्यवादी विचारकों ने मानव के दुःखों का निवारण पाया है प्रायः सन्तोष और सहनशीलता में—दुःखों के अदर्शीकरण में। दुर्बलों को ऊँचा उठाना नहीं वरन् उन पर दया करना उनका आदर्श रहा है। और इसी कारण अबला स्त्री अपनी शारीरिक दुर्बलताओं के कारण उनकी मनोवृत्ति की अभिव्यक्ति की एक प्रमुख भूमि रही है। "पति को स्वामी की तरह आज्ञा देनी चाहिए, और पत्नी को उसके आगे आत्म-समर्पण करना चाहिए, उसका आज्ञापालन करना चाहिए। पति सदा नेतृत्व करता और आज्ञा देता हुआ, तथा पत्नी सदा अनुगमन और समर्पण करती हुई चले। और ये सब बातें न्याय, पवित्रता और सम्मान पूर्वक निश्चित मर्यादा के भीतर ही होनी चाहिएँ," कनफ्यूशियस की तरह इस विचार के पोषक अधिकाश दार्शनिकों के जीवन में सदा ही यह दुर्घटना रही है कि स्वयं उनका ही वैवाहिक जीवन सुखमय नहीं रहा है। लगभग २७ वर्ष की अवस्था में ही कनफ्यूशियस को अपनी पत्नी को त्याग देना पड़ा। इतिहास को इसका कोई कारण ज्ञात नहीं है और न स्वयं कनफ्यूशियस ही ने इस विषय पर प्रकाश डाला है। पर इतना निर्विवाद है कि यह दुर्घटना पत्नी के किसी दुष्कृत्य के कारण नहीं घटी, क्योंकि कई साल बाद जब कनफ्यूशियस ने उसकी मृत्यु का समाचार सुना, तो वह दुःखी हुआ और उसने उसके प्रति अपना प्रेम प्रदर्शित किया था।

इस विवाहोच्छेद का कारण यह भी नहीं कहा जा सकता कि वह मौलिक रूप से विवाह के विरुद्ध और आजीवन ब्रह्मचर्य का पक्षपाती रहा हो, क्योंकि एक बार लू (चीन का एक प्रदेश) के राज्याधीश से विवाह पर बात करते हुए उसने कहा था—"विवाह मनुष्य की एक स्वाभाविक अवस्था है, जिसके द्वारा वह इस संसार में अपना कर्त्तव्य पूरा करने की योग्यता प्राप्त करता है।"

लू का राज्याधीश अपने मुसाहिबों के प्रभाव से पहले तो कनफ्यूशियस की शिक्षा का विरोधी हो गया था, पर दिनों-दिन बिगड़ती हुई राज्य की अवस्था ने उसे विवश किया कि इस विचारक से सहायता प्राप्त करें और राज्य के साथ मिटती हुई अपनी सत्ता को पुनः स्थापित करें। अतएव कनफ्यूशियस फिर सार्वजनिक जीवन में एक मंत्री के रूप मे आया। इस पद पर स्थापित होते ही उसने लोकहित के अनेक कामों से राज्य की अवस्था में कायापलट कर दिया। मंत्री के पद के साथ ही उन दिनों प्रधान न्यायाधीश का पद भी जुड़ा हुआ था। अतएव शासन के साथ-साथ उसे न्याय भी करना पड़ता था।

चीन का अप्रतिम महापुरुष कनफ्यूशियस
(ईस्वी पूर्व ५५०—४७८)

एक बार आवारागर्दी की हालत में त्से प्रदेश की सीमा में पहुँचने पर उससे वहाँ के राज्याधीश ने प्रश्न किया था—"अच्छा शासन किसे कहते हैं?"

कनफ्यूशियस ने तत्काल जवाब दिया—"अच्छे शासन की सफलता उस स्वाभाविक सम्बन्ध को क़ायम रखने में है, जो मनुष्य-मनुष्य के बीच होनी चाहिए। शासक में राजोचित चरित्र, प्रजा में राजभक्ति, माता-पिता मे वात्सल्य और बच्चों में श्रद्धा होनी चाहिए।"

सरदारतंत्र के ध्वंसावशेष पर खड़ी आज की पीढ़ी को यह वक्तव्य अरुचिकर हो सकता है, पर दो-ढाई हजार वर्ष पूर्व के उस अन्धकारपूर्ण युग मे, जब कि सभ्यता अपनी शैशवावस्था से धीरे-धीरे उठ रही थी, इतना कह सकना भी क्या कुछ आसान था? उन दिनों न्याय होता था सरदारों और राजाओं के लिए, आम जनता के लिए नहीं। कनफ्यूशियस ने इस प्रथा को भंग किया और अपने

न्यायाधीश-पद से उसने एक बार एक दुश्चरित्र सरदार को प्राणदंड दिया। इस अभूतपूर्व कार्य पर क्षोभ का एक समुद्र उमड़ पड़ा और कनफ्यूशियस के शिष्यों और मित्रों तक को इस पर आपत्ति हुई। पर वह अटल था। उसने कहा—"मैं आप लोगों की भावनाओं का आदर करता हूँ, गोकि आप गलती पर हैं। पर आपकी ग़लती आपके अज्ञान पर निर्भर है। क्या आपको मालूम नहीं है कि बहुतेरे अपराध ऐसे होते हैं, जो देखने में साधारण-से लगते हैं, पर अवहेलना करने पर कालान्तर में मनुष्य को बड़ा अपराधी बना देते हैं। फिर एक ऐसा सरदार तो, जो स्वभाव से ही पाखंडी, झूठा, निन्दक और अत्याचारी है, कठिन-से-कठिन सजा के योग्य है। जिसके लिए आप अफसोस कर रहे हैं, वह न सिर्फ़ एक बल्कि अनेक अपराधों का अपराधी था, जिसे माफ करना कमज़ोरी होती, न्याय के साथ विश्वासघात होता।"

पर रूढ़िवादियों का इतने से समाधान नहीं हो सका। उनकी ईर्ष्या और क्रोध बढ़ता ही गया, गोकि राज्य की इससे उन्नति ही हुई। लू के राज्य की उन्नति और जनता के सुख संतोष से पड़ोस के राज्य सी का राज्याधीश भी जलभुन गया। सबप्रयत्न करके थक जाने पर भी जब वह कनफ्यूशियस को नीचा नहीं दिखा सका, तो अन्त में लू के राज्याधीश को कर्त्तव्यभ्रष्ट करने के लिए उसने अपने राज्य की चुनी हुई सुन्दरियों का एक दल उपहार-स्वरूप लू के शासक के दरबार में भेजा, जिन्होंने अपने जादू का चमत्कार आते ही दिखाया। इन युवतियों के जाल में फँसकर लू के राजा ने महल से निकलना और राजकाज देखना ही छोड़ दिया। कनफ्यूशियस ने उसे कर्त्तव्य-पथ पर लाने की बड़ी चेष्टा की, पर वह उसको सुधार नहीं सका। अन्त में ग्लानियुक्त होकर वह त्यागपत्र देकर चलता बना।

कनफ्यूशियस के लिए एक लेखक ने लिखा है कि 'कनफ्यूशियस से अच्छा या कोई आदमी नहीं जान पाया कि कब पद ग्रहण करना चाहिए, कब तक उस पर स्थिर रहना चाहिए और कब उसे त्याग देना चाहिए।'

वर्षों खानाबदोशी करते फिरने के बाद वह फिर अपने जन्म-स्थान को लौटा, और आखिर बुढ़ापे ने उसे आ घेरा। इस बीच उसकी स्त्री मर चुकी थी और लू को वापस आने के साल भर के भीतर ही उसका बच्चा भी जाता रहा। इस दार्शनिक के अथक प्रयत्नों को प्रेरणा देनेवाले दिवास्वप्न अब भंग हो चले थे। परिपक्व अवस्था और विचारों ने उसे अब बहुत शान्त और सुस्थिर बना दिया था, यद्यपि आखिरी दम तक वह लोकशिक्षण का कार्य करता ही रहा। पर अन्त में जब उसकी शारीरिक दुर्बलता बढ़ती गई और अपने स्वस्थ जीवन का भरोसा उठता गया, तो उसे अपनी असफलता का बड़ा दु:ख होने लगा। यद्यपि उसके सिद्धांतों का प्रचार बड़ी तेजी से हो रहा था और सहस्रों ज्ञान पिपासु उन पर चिन्तन कर रहे थे, साथ ही चुने हुए शिष्यों का एक विश्वासपात्र दल भी उसकी शिक्षा के आधार पर लोकशिक्षण का कार्य करने लगा था, पर कनफ्यूशियस ने इससे कहीं अधिक की आशा कर रक्खी थी।

कनफ्यूशियस

(लोकशिक्षक के रूप में)

कनफ्यूशियस ने अन्य लोक शिक्षकों की तरह अपना कोई अलग धर्म नहीं स्थापित किया, यद्यपि उसके बाद 'कनफ्यूशियन धर्म' नामक एक मत स्वयं ही पैदा हो गया, और आज के चीन का लगभग एक-तिहाई जन समूह इसी मत को मानता है।

कनफ्यूशियस के जीवनकाल का वह समय, जब कि वह मुसीबत का मारा यहां से वहां दर-दर की खाक छानते हुए भटकता फिरता रहा, एक दर्द-भरी कहानी है। अपने कुछ शिष्यों को साथ लिये हुए वह एक राज्य से दूसरे राज्य की ठोकरें खाता रहा, पर कहीं भी उसे पनाह न मिली। इस तरह भटकने की दशा में कई ऐसे विरक्त सन्यासियों से उसकी भेंट हुई, जो मन में संसार के प्रति ग्लानि उत्पन्न हो जाने के कारण सब कुछ छोड़-छाड़कर दुनिया से दूर बसते थे। कनफ्यूशियस को, इस प्रकार मारे मारे फिरने के बावजूद भी, शिक्षा द्वारा [illegible] मानव जाति का सुधार करने की ओर प्रवृत्त देखकर वे लोग आश्चर्य करते थे। वे कहते, 'जो कभी बदल नहीं सकती उस दुनिया की क्रूर प्रकृति और दुष्ट बुद्धि को बदलने का व्यर्थ प्रयास किया

मूर्खता के और क्या है ?' पर इसके उत्तर में कनफ्यूशियस कहता—'मानव-समाज से दूर हटकर उन पशुओं या पक्षियों के साथ रहना भी तो, जो मनुष्य को समझ नहीं सकते, किसी के लिए असंभव है।' वह इन लोगों से पूछता, "आखिर आप ही बताइये कि यदि मैं पीड़ित मानव का नहीं, तो और किसका साथ दूं ?" पर दो हज़ार वर्ष पूर्व के वे चीनी उसकी यह बात समझ नहीं पाते थे और इस मुसीबत की हालत में भी जब वह लगातार उपदेश देता, पीड़ित जनों को आश्वासन देता और एक आदर्श राज्य की स्थापना के स्वप्न देखता हुआ भ्रमण करता, तो वे लोग उसे एक पगला समझते थे।

उसका वह आदर्श राज्य कभी भी स्थापित न हो सका, किन्तु उसकी दी हुई शिक्षा दृढ़ रूप से आनेवाली पीढ़ियों के मन पर अङ्कित हो गई। लगातार ढाई हज़ार वर्ष से लाखों करोड़ों मनुष्यों के हृदय पर शासन करते रहना क्या किसी भी बड़े-से-बड़े साम्राज्य का अधिपति होने से कम गौरव की बात है ? इतिहास में सिकंदर, चंगीज़खां और नैपोलियन जैसे अनेक विश्वविजेताओं की भव्य गाथाएँ हमें मिलती हैं, पर वे अब इतिहास के पन्नों ही मे रह गई हैं। इसके विपरीत, विजेताओं का एक और वर्ग भी हमें मिलता है जिन्होंने मनुष्य को कुचलकर भूमि या संपत्ति पर विजय पाने के बजाय अपना सर्वस्व त्यागकर मनुष्यों के हृदय पर विजय पाने ही में अधिक संतोष माना। ऐसे लोग प्राय अपने जीवनकाल में भिखारी ही रहे—उनमें से बहुतेरे पीड़ित भी किये गये—किन्तु आज न सिर्फ इतिहास ही में उनके नाम स्वर्णाक्षरों में अङ्कित हैं, प्रत्युत उनका प्रकाश हज़ारों-लाखों घरों का अंधकार दूर करता हुआ उनकी अमरता का परिचय दे रहा है। कनफ्यूशियस इसी प्रकार के लोगों में था।

कनफ्यूशियस ही के समकालीन एक और महात्मा चीन मे हो गये हैं, जिनका वहां की जनता पर काफी प्रभाव पड़ा है। इन महापुरुष का नाम था लाओत्ज़े। लाओत्ज़े का जन्म कनफ्यूशियस की भांति उच्च श्रेणी के परिवार में नहीं, वरन् एक ग़रीब झोपड़े मे हुआ था। कनफ्यूशियस जिन सिद्धान्तों का चीन में प्रचार कर रहा था, वे लाओत्ज़े के सिद्धान्तों से बिलकुल भिन्न थे। कनफ्यूशियस जीवन और संसार से दूर भागने के बदले उसे अधिक संगठित और सुखपूर्ण बनाने का पक्षपाती था, कि लाओत्ज़े संसार को छोड़कर उदासीन भाव ग्रहण के पक्ष में थे। कहते हैं, एक बार चीन के इन दो समकालीन महापुरुषों की भेंट हुई थी। उन दिनों लाओत्ज़े पेकिङ्ग नगर के समीप ही वन में एकान्तवास कर रहे थे। उनकी आयु इस समय लगभग १०० वर्ष थी। कनफ्यूशियस ने अत्यन्त विनम्रतापूर्वक इस वृद्ध महात्मा से उनकी शिक्षा या उपदेशों के संबंध में कुछ बतलाने के लिए प्रार्थना की। कहते हैं कि लाओत्ज़े ने उसे आड़े हाथों लिया और उलटे उसे फटकारना शुरू किया।

पर कनफ्यूशियस इससे तनिक भी विचलित या नाराज़ न हुआ। वह शुद्ध जिज्ञासा के भाव से प्रेरित होकर लाओत्ज़े के समीप आया था और श्रद्धा के साथ उसकी सारी बातें सुन रहा था। लाओत्ज़े ने पूछा—"ताउ (ब्रह्म) के बारे में तुमने क्या जान पाया है ?" इस प्रश्न के उत्तर में कनफ्यूशियस ने कहा, "अफसोस ! मैं पिछले ३० वर्षों से उसकी खोज में हूँ, पर अब तक मैं उसे नहीं जान पाया।" कहते हैं इस पर लाओत्ज़े ने कनफ्यूशियस को एक साधारण कोटि का मनुष्य समझकर तत्त्व के संबंध में अधिक कुछ भी न बताया। वास्तव में, लाओत्ज़े ने कनफ्यूशियस के प्रति बड़ा अप्रिय बर्त्ताव किया। पर कनफ्यूशियस ने तनिक भी बुरा न माना। उलटे वह लाओत्ज़े के बारे में ऊँचा भाव लेकर ही वापस आया।

हमें उपर्युक्त घटना से कनफ्यूशियस के चरित्र की एक विशेष झलक मिलती है। वह सचमुच ही एक सच्चा 'मनुष्य' मात्र था और इससे अधिक होने का उसने कभी भी दावा नहीं किया। यद्यपि उसके बाद उसके नाम से एक मत स्थापित हो गया, यहा तक कि लोग उसके नाम पर मंदिर बनाकर उसकी पूजा भी करने लगे, परन्तु स्वयं उसने अपने जीवनकाल में न कभी किसी अलौकिकता का दावा किया, न अपने को पैग़ंबर या मसीहा ही बतलाया।

कनफ्यूशियस की शिक्षा का सार उसके द्वारा प्रतिपादित इस सुन्दर वाक्य में निहित है "दूसरों से तुम अपने प्रति जैसे बर्त्ताव की आशा करते हो, वैसा ही बर्त्ताव तुम स्वय भी औरों के साथ करो।" वास्तव में संसार के अन्य कई धर्म-संस्थापकों—बुद्ध, जरस्तुत्र या मुहम्मद—में और कनफ्यूशियस में एक महान् अन्तर है। उन लोगों ने प्राचीन सामाजिक या धार्मिक रूढ़ियों के ढाँचे को गिराकर उस पर एक नई इमारत खड़ी की थी। इसके विपरीत कनफ्यूशियस न तो विध्वंस न बिल्कुल नवीन रचना ही का पक्षपाती था। वह समाज के ढाँचे को उसका प्राचीन रूप स्थायी रखते हुए और भी अधिक संगठित करने का पक्षपाती था।

हिमालय से होड़ — अजेय एवरेस्ट पर चढ़ाई

मनुष्य के अदम्य साहस और जीवट का नाप हमें उतने प्रखर रूप में शायद ही कहीं मिलेगा जितना प्रकृति से लोहा लेने के उसके अनवरत प्रयासों में मिलता है। जहाँ-जहाँ भी प्रकृति ने उसे ललकारा है, मनुष्य ने उसकी चुनौती को हँसते-हँसते स्वीकार किया है और यदि कहीं-कहीं उसे मात भी खाना पड़ी है, तो अधिकांश में उसने प्रकृति को नीचा भी दिखाया है।

पर्वतराज हिमालय की हिमाच्छादित गगनचुम्बी चोटियाँ चिरकाल से मनुष्य को अपने अनुपम रहस्यमय सौंदर्य से विस्मय-विमुग्ध करती आ रही हैं। इन अज्ञात प्रदेशों में अनन्तकाल से प्रकृति की जो लीलाएँ होती आ रही हैं, उन्हें जानने का कुतूहल मनुष्य के मन में होना स्वाभाविक है। पाश्चात्य वैज्ञानिकों और यात्रियों ने इस रहस्य का अनुसंधान करने के लिये अनेकों बार प्रयत्न किये हैं। वास्तव में ये लोग किसी भी वस्तु को अज्ञात नहीं रहने देना चाहते। अपने इन प्रयत्नों में हँसते हँसते मृत्यु का आलिंगन करने में भी वे आगा-पीछा नहीं करते। उनकी ज्ञान-विज्ञान लिप्सा, प्रकृति के रहस्यों का उद्घाटन करने की उनकी उत्कंठा और प्राकृतिक शक्तियों पर विजय प्राप्त करने की महत्वाकांक्षा दिन पर दिन प्रबल होती जा रही है। हिमालय की तुषार-मण्डित चोटियों पर विजय प्राप्त करने के लिए इधर कई वर्षों में जो भगीरथ प्रयत्न किये जा रहे हैं, वे उनकी इस महत्वाकांक्षा के स्पष्ट उदाहरण हैं।

धावा बोलनेवालों की साजसज्जा

पीठ पर बंधा हुआ यंत्र 'आक्सीजन एपेरेटस' है, जिसकी सहायता से इन ऊँचाइयों के वायुशून्य वातावरण में सांस लेना सम्भव होता है।

संसार के सबसे ऊँचे शिखर

हिमालय प्रदेश में २०००० फीट से ऊँचे अनेक शैल-शिखर हैं। उनमें गौरीशंकर या एवरेस्ट (२६१४१ फीट), कंचनजंघा (२८१४० फीट), नंगा पर्वत (२६६२० फीट), नन्दा देवी (२५६४५ फीट), और कामेट (२५४४७ फीट), नाम के पाँच शिखरों ने मानव-समाज का ध्यान विशेष रूप से आकृष्ट किया है। इन पर विजय प्राप्त करने की अनेक बार चेष्टाएँ की गई हैं। परन्तु अभी तक 'कामेट' और 'नन्दा देवी' को छोड़कर शेष सभी चोटियाँ अजेय बनी हुई हैं। नाना प्रकार की कठिनाइयाँ और आपदाओं को झेलने, दर्जनों साहसी युवकों की आहुतियाँ चढ़ाने और बार बार विफल प्रयास होने पर भी ये साहसी और मनचले आरोही निराश नहीं हुए हैं।
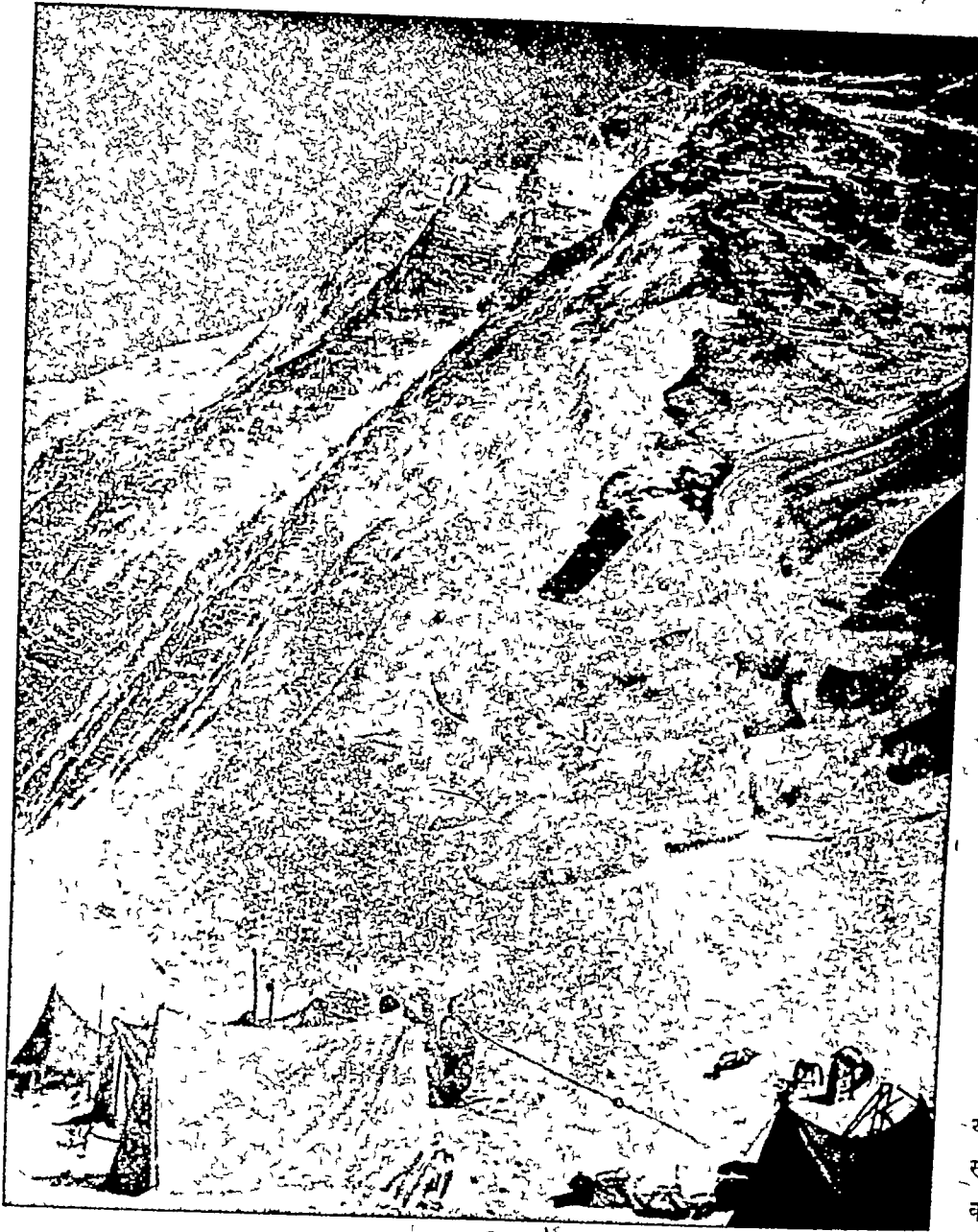
गौरीशंकर पर चढ़ाई करनेवाले वीरों का एक शिविर

इस चित्र में सन् १९२२ के धावे के समय २६००० फीट की ऊंचाई पर स्थापित चौथे पड़ाव का दृश्य है। सामने एवरेस्ट का उत्तर-पूर्वीय स्कंध है। इतनी ऊंचाई पर डेरा डालना कोई खिलवाड़ नहीं था। यहां के वातावरण में हवा इतनी सूक्ष्म मात्रा में रहती है कि सांस लेने में बड़ी कठिनाई होती है। [फ़ोटो 'माउंट एवरेस्ट कमिटी'।]

चढ़ाइयाँ की हैं। पर बार-बार प्रयत्न करने पर भी अभी तक पूर्ण सफलता प्राप्त नहीं हो सकी है। सन् १९३३ में वायुयानों द्वारा अवश्य इस चोटी की परिक्रमा करने और ३३००० फीट की ऊँचाई से उसके दर्शन करने में सफलता प्राप्त हुई थी। ३३००० फ़ीट की ऊँचाई तक वायुयान द्वारा उड़ान लेना भी कुछ कम जीवट का काम नहीं है, परतु वास्तविक विजय का सेहरा तो पैदल यात्रियों ही के सिर बाँधा जायगा। इस रहस्यमय अजेय पर्वतराज का ब्योरेवार और विस्तृत वृत्तान्त ज्ञात करने का एकमात्र उपाय पैदल चढ़ाई करना ही है।

सर फ्रांसिस यंग-हसबैंड

एवरेस्ट प्रदेश की यात्रा करने और उसके सर्वोच्च शिखर तक पहुँचने की प्रेरणा पाश्चात्य लोगों में सबसे पहले सर फ्रांसिस यंग-हसबैंड को हुई। यह १८९३ ई० की बात है। पर उस समय बहुत कुछ ज़ोर लगाने पर भी सर फ्रांसिस की योजना कार्य रूप में परिणत न हो सकी। उसके बाद १९०६ और १९०८ में इस योजना को फिर से उठाया गया। परतु दोनो ही बार राजनैतिक कारणों से चढाई के विचार को तिलाञ्जलि दे देनी पडी। तदनन्तर महायुद्ध के बाद पुन इस ओर ध्यान दिया गया। इस बार भी सर फ्रांसिस आगे आये। सर फ्रांसिस यंग-हसबैंड ने इस संबंध

मानव के ज्ञानभण्डार को भरने के लिए वे निरन्तर प्रयत्नशील हैं, चाहे उन्हें सफलता मिले या न मिले।

एवरेस्ट, हिमालय ही का नहीं, समस्त संसार का सर्वोच्च पर्वत-शिखर है। बगाल के स्वर्गीय राधानाथ सिकदर ...निक काल में इसके आदि अन्वेषक माने जाते हैं। ...५ पर्वतारोहियों ने भी इस पर अनेक बार

में कभी भी आशा न छोड़ी। सुप्रसिद्ध पर्वतारोही ब्रिगेडियर-जनरल ब्रूस का तो यहाँ तक कहना है कि हिमालय पर विजय प्राप्त करने की लालसा रखते हुए आज तक किसी ने भी सर फ्रांसिस की-सी लगन और अध्यवसाय से काम नहीं किया है। वास्तव में यात्रा से पूर्व की समस्त कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करना उन्हीं का काम था। उनके ही परिश्रम के फलस्वरूप आगे के यात्रियों के लिए इस कार्य की ओर बढ़ने का रास्ता पहले पहल खुला।

रास्ते की खोज

१९२१ में कर्नल हावर्ड-बरी के नेतृत्व में एवरेस्ट-शिखर पर चढ़ाई करने का पहला प्रयत्न आरम्भ हुआ। इस दल का काम मुख्य रूप से एवरेस्ट-शिखर के आस-पास के भूभाग की भौगोलिक जानकारी हासिल करना था। कई सप्ताह प्रयत्न करने के बाद इस दल के सदस्य २३००० फ़ीट की ऊँचाई तक पहुँच पाये। पर उसके बाद उन्हें वापस लौट आना पड़ा। इसी दल ने अगले वर्ष चढ़ाई करनेवाले आरोहियों के लिए रास्ता तय किया। यह रास्ता अब लगभग निश्चित-सा हो गया है। दार्जिलिंग से कालिम्पोङ्, राटुंग, चम्बी, फारी, जोंग, खम्बाजोंग, टिंकीजोंग, शेकरजोंग होकर भोंगचू नदी की घाटी से पार करके रोंगबुक नामक स्थान में पहुँचना होता है। यह स्थान एवरेस्ट-शिखर से लगभग १५ मील नीचे नेपाल और तिब्बत की सीमा पर स्थित है। यहाँ से एवरेस्ट-शिखर आसानी से देखा जा सकता है।
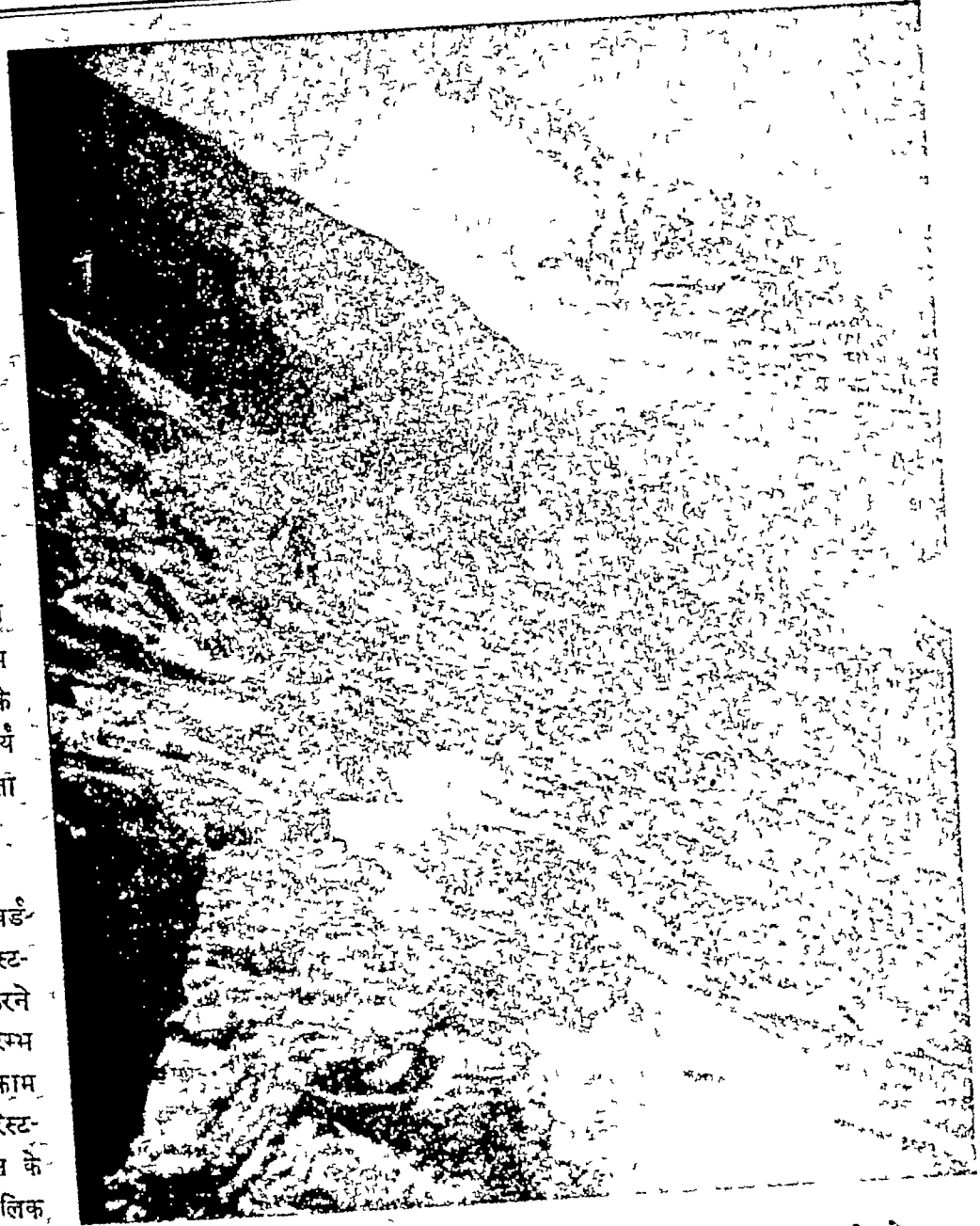
संसार के सर्वोच्च शिखर की गर्वोन्नत मुद्रा और क्षीणकाय मानव की उसमें होड़

यह चित्र २८००० फ़ीट की ऊँचाई पर से डा० समरवेल द्वारा लिया गया था, जबकि कर्नल नार्टन के साथ उन्होंने १९२४ में एवरेस्ट को जीतने का साहसपूर्ण प्रयास किया था। चित्र में पहाड़ी ढाल पर कठिन चढ़ाई करते हुए नार्टन हैं, जो बर्फ की शिलाओं से लोहा लेते हुए २८१२६ फ़ीट पर जा पहुँचे थे।

अग्रसन्धान

हावर्ड बरी के दल के वापस आ जाने पर जनरल ब्रूस के नेतृत्व में एक आरोही दल

गया। इस दल में १३ यूरोपियन और ६० कुली शामिल थे। यह दल मई १९२२ के शुरू में रंगबुक पहुँच गया। धीरे-धीरे ये लोग २६६६० फीट की ऊँचाई तक जा पहुँचे, यद्यपि बीच में उन्हें एक ज़बर्दस्त बर्फ़ के तूफ़ान ने आ घेरा।

७ जून १९२२ की बात है। २६००० फीट की ऊँचाई पर फिर से पड़ाव डालने की कोशिश की जा रही थी। २६००० फीट ऊपर पहुँचते ही कुलियों को नीचे लौटा दिया जायगा, ऐसा निश्चय किया गया था। पर शुरू में कुछ खड़ी चढ़ाई पड़ती थी। पग-पग पर इस बात की आशंका बनी रहती थी कि ऊपर चढ़ते समय यात्रियों पर कहीं बरफ की चट्टानें खिसककर न गिरने लगें। मलेरी, क्राफोर्ड और समरवेल नामक तीन आरोही चौदह मज़दूरों को साथ लेकर आगे बढ़ रहे थे। बर्फ बहुत पोली थी। कहीं-कहीं तो घुटनों तक बर्फ़ में धँस जाने की नौबत आ जाती थी। आगे की चढ़ाई इससे भी कठिन थी। इसलिए अब सब लोग कमर में रस्से बाँधकर आगे बढ़े। दोपहर को डेढ़ बजे के लगभग एकाएक बड़े ज़ोर की गड़गड़ाहट की आवाज़ हुई। ऐसा सुन पड़ा मानो विकट भूचाल आ गया हो। मालूम हुआ, एक विशालकाय बर्फीला पर्वतखण्ड खिसककर धँस पड़ा है। इसके नीचे मलेरी, क्राफोर्ड और समरवेल तीनों ही वीर यात्री दब गये! आपस में रस्सों से जकड़े होने के कारण ये लोग तो किसी तरह बाहर निकल आये, परन्तु बहुत-कुछ कोशिश करने पर भी सात कुली इस दुर्घटना से न बचाये जा सके। वे सदा के लिए हिमालय की गोद में सो गये! यह अपने ढंग की पहली दुर्घटना थी। इस तरह एवरेस्ट-शिखर तक पहुँचने का प्रथम प्रयास इस लोमहर्षक दुर्घटना के साथ समाप्त हुआ।

कर्नल नार्टन

पर सत्यान्वेषी वीरों की जिज्ञासा की लौ ऐसे संकटों से बुझनेवाली चीज़ नहीं। १९२४ ई० में फिर एक दल संगठित किया गया। इसके नेता लेफ्टिनेंट कर्नल नार्टन थे। इस दल में भी १३ यूरोपियन सदस्य शामिल थे और सबको पर्वतारोहण का अच्छा अनुभव था। कर्नल नार्टन स्वयं बहुत ही बहादुर और जवाँमर्द आदमी था। कठिनाइयों से तो वह घबड़ाता ही न था। पर २७५०० फीट की ऊँचाई पर पहुँचकर नार्टन का शरीर बेक़ाबू होने लगा। बर्फ की चकाचौंध में पड़ने से उसकी आँखें बहुत ख़राब हो गईं। उसे अपने नेत्रों से प्रत्येक वस्तु दोहरी दिखाई पड़ने लगी। अब उसके लिए एक-एक क़दम आगे बढ़ना दूभर हो गया। परन्तु फिर भी वह प्राणों की बाज़ी लगाकर आगे बढ़ता ही चला गया और २८१२६ फ़ीट की ऊँचाई तक जा पहुँचा! इससे आगे बढ़ना उसके लिए नितान्त असम्भव सिद्ध हुआ। उसे विवश हो नीचे उतरना पड़ा। नीचे आने पर उसकी आँखों की तकलीफ़ और ज्यादा बढ़ गई और दो दिन तक तो वह बिलकुल अंधा-सा रहा। वास्तव में आज तक कोई भी इससे अधिक ऊँचे स्थान तक जाकर जीवित नहीं लौट सका है।

जार्ज मलेरी और कर्नल नार्टन

यह १९२४ में कर्नल नार्टन के नेतृत्व में संगठित चढ़ाई का चित्र है। इस चित्र में जार्ज मलेरी और कर्नल नार्टन २७००० फ़ीट के लगभग पहुँचते दिखाई दे रहे हैं। [फ़ोटो 'माउंट एवरेस्ट कमिटी'।]

मलेरी और इर्विन की अमर गाथा

नॉर्टन के विफल प्रयास हो वापस आने के बाद अगले दिन ६ जून को दल के दो अत्यन्त उत्साही सदस्य इर्विन और मलेरी कुछ कुलियों को साथ लेकर पाँचवें पड़ाव से ऊपर की तरफ रवाना हुए। इर्विन इस दल का सबसे कम उम्र-वाला सदस्य था उसकी आयु केवल २२ वर्ष की थी। वह था भी सबसे अधिक स्वस्थ, धैर्यवान् और साहस-सम्पन्न। बुद्धि-

गौरीशंकर या एवरेस्ट का अजेय शिखर

मानी उसकी बात-बात से टपकती थी। मलेरी यद्यपि था तो ३७ वर्ष का फिर भी इर्विन ही के समान नवयुवक मालूम होता था। दोनों सदस्यों को बड़े तपाक के साथ विदा किया गया। उनकी सफलता और सकुशल वापस आने के लिए ईश्वर से प्रार्थना की गई। परन्तु समय की गति बड़ी विचित्र है। उस समय किसी को स्वप्न में भी ध्यान न था कि मलेरी और इर्विन से वह अन्तिम भेंट थी।

छठे पड़ाव में पहुँचकर दोनों आरोहियों ने कुलियों को नीचे लौटा दिया। उनके हाथ मलेरी ने एक पत्र भेजकर सूचित किया था कि वे दोनों अपना सारा सामान डेरे में ही पड़ा छोड़कर केवल आक्सीजन के दो पीपे साथ में लेकर रवाना हो गये हैं, और कुतुबनुमा तक साथ में नहीं ले गये हैं। यह भी मालूम हुआ कि मौसम अच्छा है और उनके अनुकूल है। वास्तव में, वे चढ़ाई के लिए ऐसे ही मौसम की कामना किया करते थे।

७ जून को इन लोगों के ऊपर से वापस आने की प्रतीक्षा की गई, पर न तो वे वापस ही आये और न उनका कोई समाचार ही मिला। इससे दल के सभी सदस्य बहुत चिन्तित हो गये। अगले दिन ओडेल नाम के एक दूसरे साहसी आरोही को इन लोगों की तलाश में छठे पड़ाव की ओर भेजा गया। २६६०० फीट की ऊँचाई पर पहुँचकर ओडेल को ऐसा मालूम हुआ कि कोई व्यक्ति शिखर के निकट किसी की चढ़ाई पार करके ऊपर पहुँच रहा है। पर्वत की चोटी वहाँ से थोड़ी ही दूर पर थी। वह व्यक्ति अवश्य ही मलेरी या इर्विन दोनों में से कोई था। इतने ही में बादल छा गये और वह व्यक्ति आँखों से ओझल हो गया। थोड़ी देर बाद ओडेल ने दोनों को बड़ी तेज़ी से ऊपर की ओर चढ़ते देखा। यह एक बजे दोपहर की बात थी। दो बजे के क़रीब ओडेल छठे पड़ाव में जा पहुँचा। उस वक़्त हवा तेज हो गई थी। लेकिन वह फिर भी आगे बढ़ा। २०० फीट की ऊँचाई और तय करके जब फिर शिखर की ओर देखा तो इस बार कोई न दिखाई दिया। इसने सीटी बजाई, आवाज़ें दीं, चिल्लाया, पर कोई नतीजा न निकला, किसी भी तरह का उत्तर न मिला। उसे घोर निराशा हुई। उसका दिल बैठ गया। उस वक्त हवा बहुत तेज़ हो चली थी ठंडक भी बड़ी विकट थी। उससे और आगे न बढ़ा गया। समय भी बहुत कम था। आगे बढ़कर फिर लौटना असम्भव था। वह थक भी बहुत ज्यादा गया था। किसी तरह वह छठे पड़ाव तक वापस आया और ४॥ बजे शाम तक अपने दोनों साथियों के वापस आने का इन्तज़ार करता रहा। जब बहुत ज्यादा देर होते देखी तो वह पाँचवें पड़ाव की ओर लौट पड़ा। वहाँ से उसे फिर चौथे पड़ाव को जाना पड़ा। इतनी ज़बरदस्त ऊँचाई पर जाकर वापस आना और फिर नीचे उतरना वास्तव में बड़े साहस और ... का काम था। ओडेल ने पहले और ... किया था। अगले दिन ... फिर दो

मलेरी और इर्विन की खोज के लिए ऊपर गया। पर उन मनचले वीरों का पता-ठिकाना न लगा। एक दिन और खोज की गई। अन्त में निराश होकर यह विश्वास कर लेना पड़ा कि मलेरी और इर्विन सदा के लिए हिमालय की शीतल गोद में सो गये हैं और उन्हें ढूँढ निकालना मानवीय शक्ति की बात नहीं है। इस तरह उन दोनों अमर वीर मलेरी और इर्विन ने अपने बहुमूल्य प्राण हिमालय की वेदी पर अर्पित कर दिये।

ओडेल ने मलेरी और इर्विन को जिस स्थान पर ओझल होते हुए देखा था, वह स्थान हिसाब करने पर २८२३० फ़ीट की ऊँचाई पर पाया गया। अभी तक कोई भी मनुष्य इससे ज़्यादा ऊँचाई पर नहीं पहुँच सका है। नार्टन २८१२६ फीट की ऊँचाई तक जाकर लौट आया था। कुछ लोगों का अनुमान है कि मलेरी और इर्विन एवरेस्ट शिखर तक अवश्य पहुँच गये होंगे और उन्हें वहाँ पहुँचते-पहुँचते तीन-चार बज गया होगा। वापस आते समय रास्ते ही में सूर्यास्त हो गया होगा और वे दोनों बहुत ज्यादा थके होने की वजह से छठे पड़ाव तक भी न लौट सके होंगे। सम्भवत कहीं रास्ते ही में उन्होंने किसी चट्टान की साया में रात बितानी चाही होगी। पर अत्यन्त भीषण सर्दी के कारण वे सदा के लिए वहीं पर सोते रह गये होंगे।

रटलेज दल

इसके बाद १९३३ की ग्रीष्म ऋतु में सुप्रसिद्ध पर्वतारोही ह्यू रटलेज की अध्यक्षता में एक और दल रवाना हुआ। २२ मई को यह दल २५६०० फीट की ऊँचाई तक पहुँच गया। इसके बाद एक सप्ताह तक अनवरत प्रयत्न करते रहने पर २९ मई को दल के तीन सदस्य विन हैरिस, वेगर और लोंगलैंड २७४०० फीट की ऊँचाई तक चढ गये, पर तदनंतर लाख कोशिश करने पर भी आगे बढ़ना मुहाल हो गया। सन् १९३५ में एक बार फिर चोटी तक पहुँचने की ज़बरदस्त कोशिश की गई, पर विफलप्रयास होना पड़ा। १९३६ में ह्यू रटलेज ने कुछ साथियों को लेकर अंतिम बार फिर शिखर पर चढ़ने का प्रयास किया, परंतु इस बार भी वह निराश लौटे। हिमालय ने उन्हें सफल नहीं होने दिया।

१९३८ में

१९३८ में डब्ल्यू० एच० टिलमैन के नेतृत्व में फिर एक बार एवरेस्ट-शिखर पर चढ़ने की चेष्टा की गई। पर इस बार आरोही दल में केप्टेन ओडेल, ई० ई० शिप्टन और एफ० एस० स्मिथ जैसे अनुभवी पर्वतारोही शामिल हुए थे। ये लोग दो-दो बार एवरेस्ट-आरोहण के प्रयत्न कर चुके थे। इस दल को लगभग २७३०० फीट तक चढने में सफलता प्राप्त हुई पर उसके बाद विवश हो लौट आना पड़ा।

अजेय हिमालय

मानव द्वारा इतने अधिक गम्भीर और भगीरथ प्रयत्नों के बाद भी अजेय हिमालय आज दिन भी अनन्त आकाश में अपना सर्वोच्च शिखर गर्व से ऊँचा किए हुए मानव समाज को चुनौती दे रहा है। उसकी दुर्गमता ही उसका एकमात्र बल है। मुट्ठी भर पसलियों का पुतला मानव जब २९ हज़ार फीट ऊँचे इस हिमशृंग की बर्फीली चट्टानों से टक्कर लेने के लिए आगे बढ़ता है, तो कटकटाती आँधी की दिल फाड़नेवाली चीत्कार और हिमशिलाखण्डों की हर-हर आवाज़ से उस शून्य प्रदेश को गुँजाता हुआ मनुष्य का यह विकट प्रतिद्वंदी मानो उसके असीम दुस्साहस को देखकर अट्टहास्य करने लगता है। परन्तु उसकी घोर-से-घोर ललकार भी मानव के हृदय को दहलाने में असमर्थ है—बार-बार की चढ़ाई और वीरात्माओं के अनवरत बलिदान इस बात के साक्षी हैं।

अज्ञात हुतात्माएँ

एवरेस्ट की भीषण और दुर्गम चढाई में जो कुछ भी सफलता प्राप्त हुई है, उसका अधिकांश श्रेय भोटिया कुलियों को है। मुश्किलों से तो ये लोग घबराते ही नहीं। ये लोग चढाई करनेवाले गोरों का सारा साजो-सामान अपने मज़बूत कन्धों पर लादकर आगे बढते हैं और उन्हें सब प्रकार की सुविधायें पहुँचाने में अपनी सुविधा की तनिक भी परवाह नहीं करते। गोरों को तो ख़ाली हाथ आगे बढना होता है, अधिकांश यातनाएँ और तकलीफें तो इन्हीं बेचारे कुलियों को झेलनी पड़ती हैं और अपने प्राण तक निछावर कर देना पड़ता है। वर्ण-भेद के इस युग में चाहे कोई उन्हें याद करे या न करे पर भावी पीढ़ियाँ हिमालय-आरोहण के इतिहास के साथ इन वीरों का नाम अवश्य आदर के साथ लेंगी।

सफलता मिले या न मिले, जिन्होंने एवरेस्ट तक पहुँचने के प्रयत्नों में अपने प्राणों की आहुति दी है और हिमालय प्रदेश में मृत्यु के साथ क्रीड़ा करने के बाद भी जो अभी तक निराश नहीं हुए हैं, निश्चय ही उनका अदम्य साहस और उत्साह प्रशंसनीय है।

विश्व
की कहानी
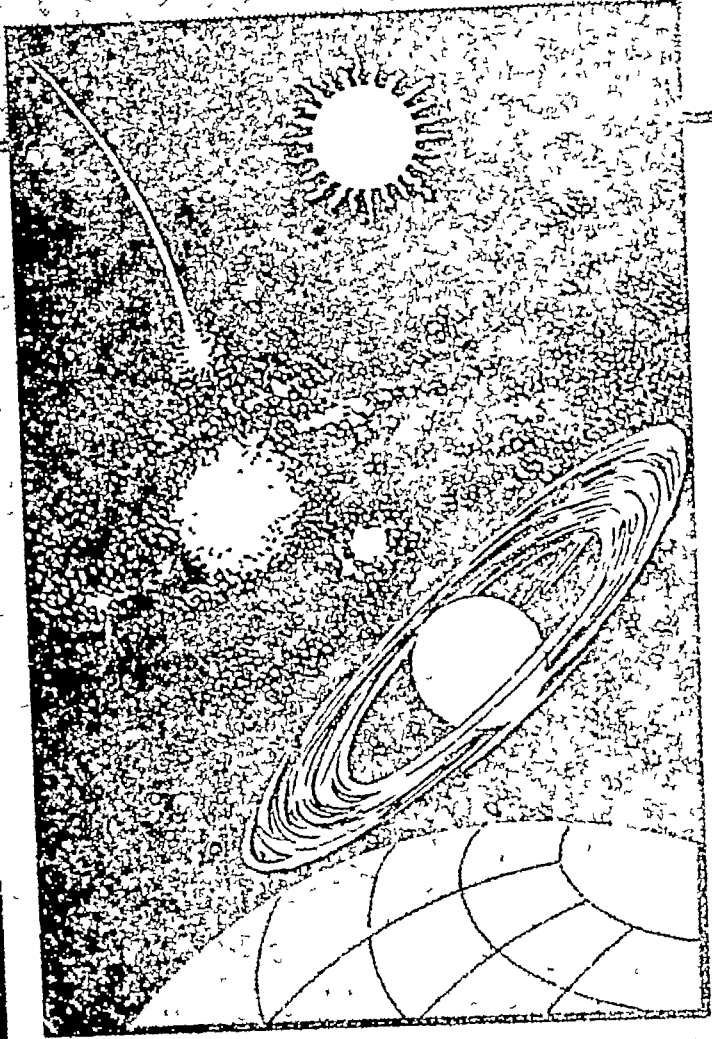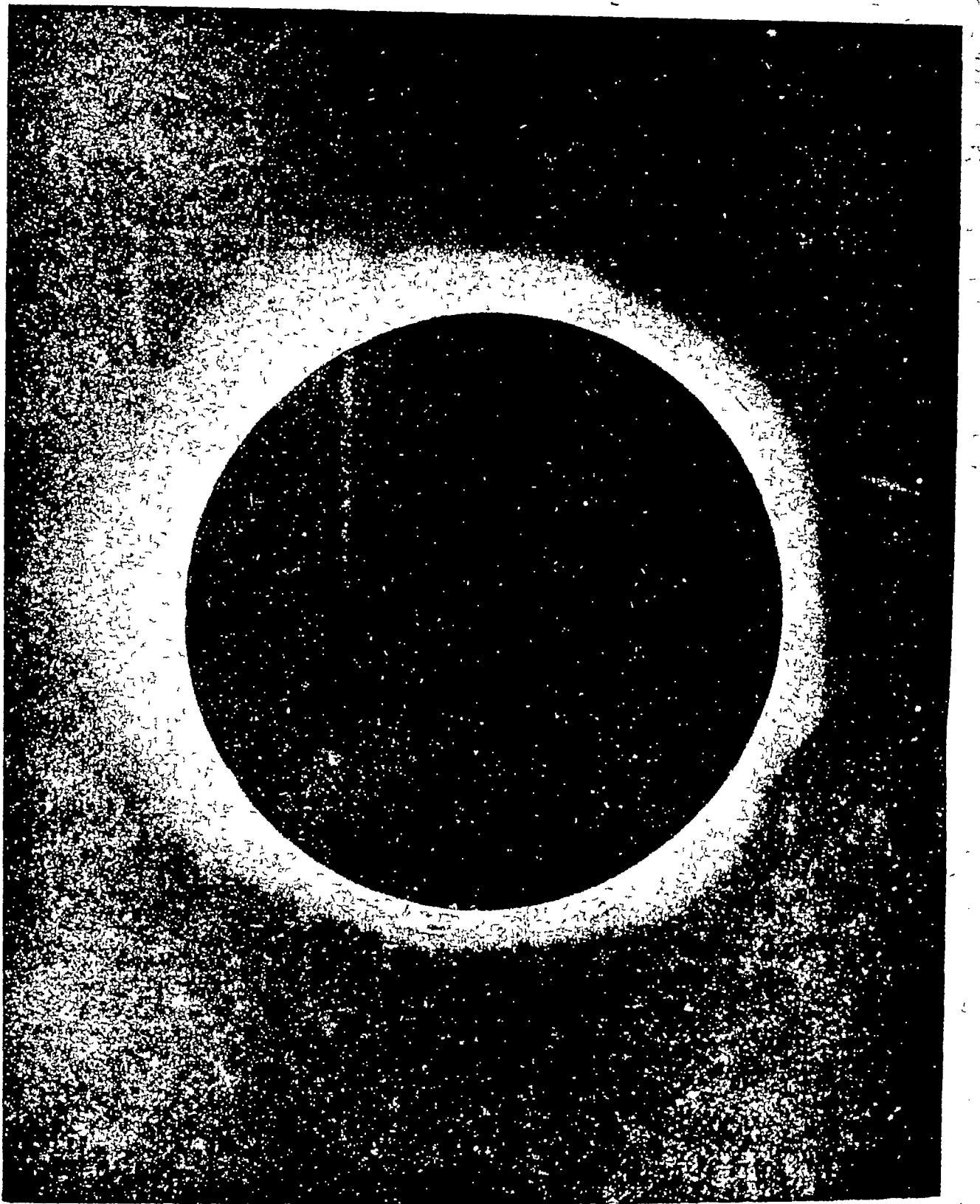
सर्व-सूर्यग्रहण के समय कॉरोना और सूर्योन्नत ज्वालाओं का दृश्य

सर्व-सूर्यग्रहण का यह फ़ोटो दक्षिणी अमेरिका के चाइल नामक प्रदेश के एक स्थान से अप्रैल १६, १८९३, को 'लिक वेधशाला' की ग्रहण-पार्टी द्वारा लिया गया था। सूर्य-बिम्ब काले चन्द्रमा द्वारा पूरी तरह ढक लिया गया है और आसपास कॉरोना का प्रकाश फैला हुआ दिखाई दे रहा है। किनारे पर स्थान-स्थान में अधिक तीव्र प्रकाशवाली लपटें ही सूर्योन्नत ज्वालाएँ हैं, जो कई हज़ार मील ऊपर तक उठती रहती हैं। [फ़ोटो—'लिक वेधशाला, कैलिफ़ोर्निया यूनिवर्सिटी, माउण्ट हैमिल्टन, कैलिफोर्निया (अमेरिका)' से प्राप्त।
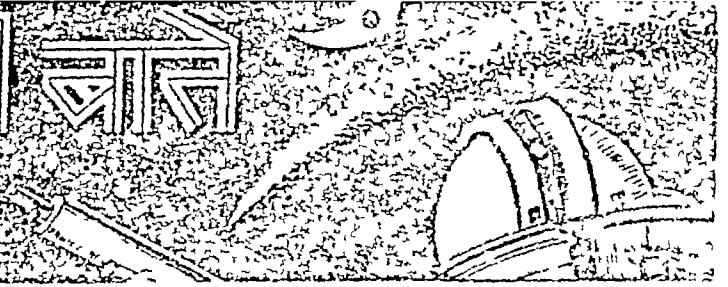
सूर्य की बनावट

सूर्य की ऊपरी सतह की जाँच करने से जो मुख्य बातें मालूम हुई हैं, उनमें से कुछ तो पिछले अध्यायों में बताई जा चुकी हैं और शेष इस लेख में बताई जा रही हैं।

सूर्य के संबंध में बहुत-सी बातों का पता सूर्य के सर्व-ग्रहणों के समय लगा है। इसीलिए सूर्य के सर्व-ग्रहण ज्योतिषियों के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण होते हैं। उनको देखने के लिए ज्योतिषी अक्सर दूर-दूर से आते हैं और आवश्यक यंत्रों के बनाने और लाने में बहुत धन व्यय करते हैं। कभी कभी कुछ ज्योतिषियों को एक सर्व-ग्रहण देखने के लिए आधी पृथ्वी की यात्रा करनी पड़ती है। बात यह है कि सर्व-सूर्यग्रहण समस्त पृथ्वी पर नहीं दिखलाई पड़ता है। सूर्य बड़ा है और चंद्रमा छोटा। इसलिए चंद्रमा की वह छाया—प्रच्छाया—जहाँ सूर्य का कुछ भी प्रकाश नहीं पड़ता, सूचिकाकार होती है। ज्यों-ज्यों हम चंद्रमा से दूर होते जाते हैं, त्यों-त्यों छाया छोटी होती जाती है। पृथ्वी तक पहुँचते-पहुँचते यह कुछ ही मील व्यास की रह जाती है। हाँ, पृथ्वी के घूमने और चंद्रमा
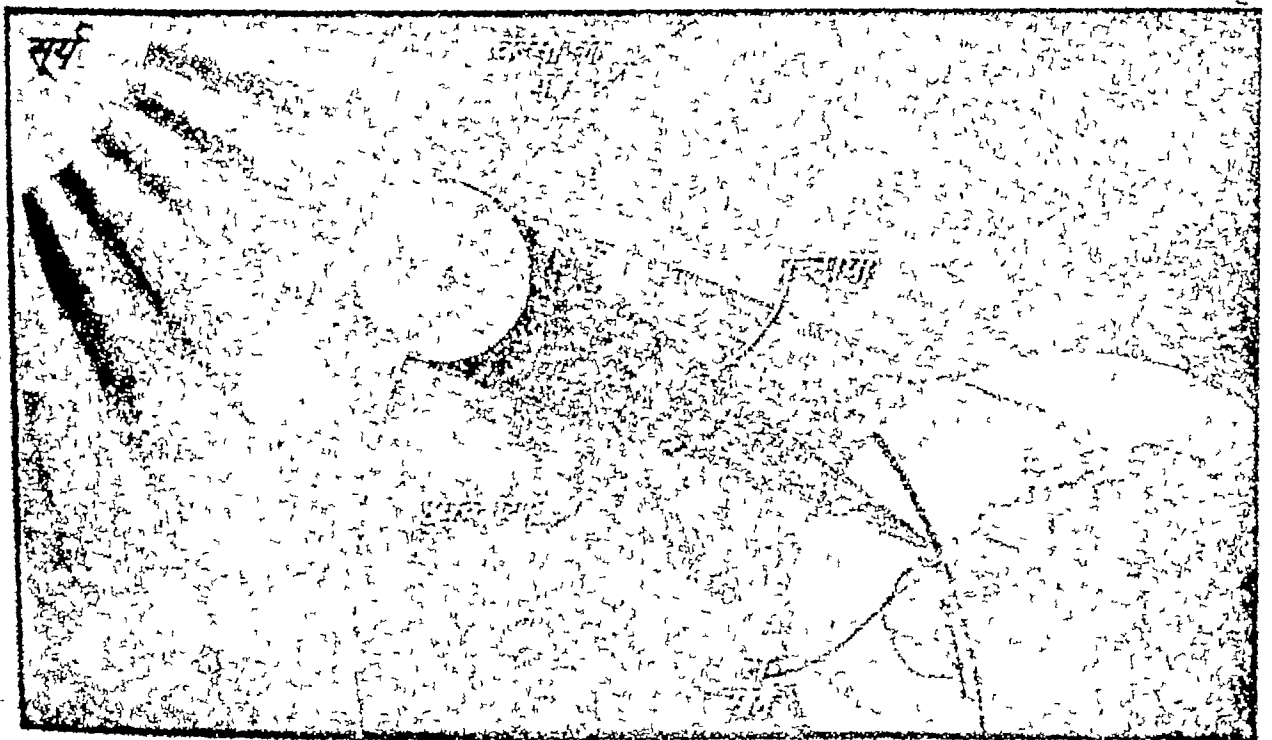
ग्रहण के समय चंद्रमा की प्रच्छाया और उपच्छाया तथा सर्व-सूर्यग्रहण का छाया-मार्ग

ग्रहण के समय सूर्य और पृथ्वी के बीच चंद्रमा के आ जाने से छाया दो प्रकार की बनती है—एक बहुत गहरी जो पृथ्वी पर पहुँचते-पहुँचते सूचिकाकार हो जाती है। इसे 'प्रच्छाया' कहते हैं। यह पृथ्वी के जिन भागों पर पड़ती है, वहाँ से सर्व-सूर्यग्रहण दिखलाई पड़ता है। दूसरी कम गहरी छाया 'उपच्छाया' कहलाती है। यह जहाँ-जहाँ पड़ती है, वहाँ से खंडग्रहण दिखलाई पड़ता है। 'प्रच्छाया' का मार्ग ही सर्व-सूर्यग्रहण का मार्ग है, जो ऊपर के चित्र में रेखा द्वारा दिखाया गया है।

के चलते रहने के कारण छाया भिन्न-भिन्न क्षणों में भिन्न-भिन्न स्थानों पर पड़ती है। परिणाम यह होता है कि छाया-मार्ग साधारणतः पृथ्वी की एक लंबी और केवल कुछ ही मील चौड़ी पट्टी पर दौड़ता हुआ निकल जाता है।* केवल उन्हीं को सर्व-सूर्य-ग्रहण दिखलाई पड़ता है, जो इस छाया-मार्ग में पड़ते हैं। दूसरों को खंड-सूर्यग्रहण दिखलाई पड़ता है। छाया-मार्ग से बहुत दूर पर किसी प्रकार का ग्रहण नहीं दिखलाई पड़ता।

ग्रहण के समय उग्रह होते हुए सूर्य का हीरे की अँगूठी के समान दिखाई पड़ना
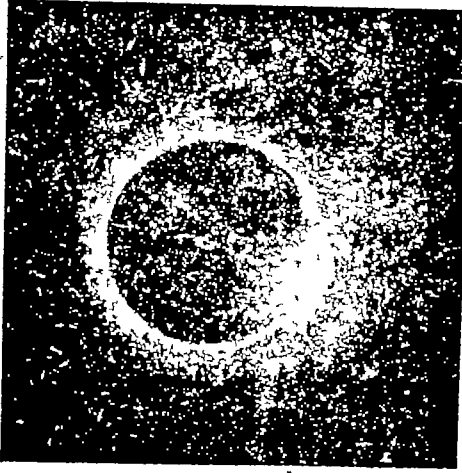
छाया का वेग भूमध्य-रेखा के पास एक हज़ार मील प्रति घंटे के लगभग होता है। दूसरे स्थानों में वेग कुछ अधिक होता है। सर्व-सूर्यग्रहण किसी एक स्थान में कुछ ही मिनटों तक दिखलाई पड़ता है। कभी भी साढ़े सात मिनट से अधिक समय के लिए सर्व-ग्रहण नहीं लग सकता। यदि पाँच या छः मिनट के लिए भी सर्व-ग्रहण लगे, तो ज्योतिषी इसे खूब लंबा सर्व-सूर्यग्रहण सम-

झेंगे और इसके लिए दूर तक जाने के लिए तैयार हो जायँगे। साधारण ग्रहण सर्व-ग्रहण के लगभग एक घंटे पहले आरंभ होता है और इसी प्रकार सर्व-ग्रहण के लगभग एक घंटे बाद समाप्त होता है। परन्तु साधारण ग्रहण से ज्योतिषीगण कुछ विशेष सीख नहीं पाते। ये सब बातें केवल कुछ मिनटों के सर्व-सूर्यग्रहण ही में सीख पाते हैं।
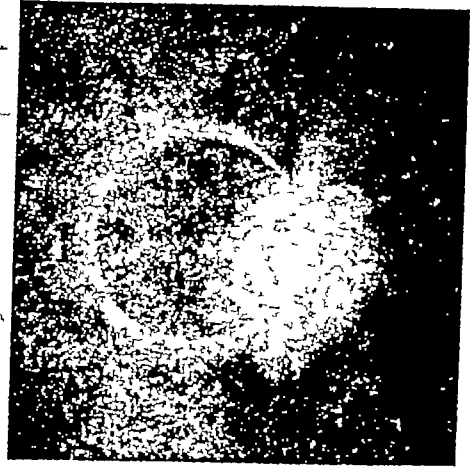
इन अवसरों पर ज्योतिषी क्या करते हैं, उन्हें क्या दिखलाई पड़ता है, उन्होंने क्या-क्या सीखा है, आदि बातें नीचे बतलाई जायँगी।

सूर्य के सर्व-ग्रास का एक फ़ोटो

यह फोटो मई १७, १८८२, को मिस्र में लिया गया था। चंद्रमा की आड़ से प्रज्वलित मणियों के रूप में सूर्य-बिंब झलक रहा है। ये मनकाएँ 'बेली-मनका' के नाम से मशहूर हैं; क्योंकि बेली-नामक व्यक्ति ने सर्वप्रथम ज्योतिषियों का ध्यान इनकी ओर आकर्षित किया था।

कोरी आँख से क्या दिखलाई पड़ता है

सर्व-सूर्यग्रहण अत्यंत मनोहर दृश्य है। जिसने कभी भी कोई सर्व-सूर्य-ग्रहण देखा है, वह उसे जन्म भर नहीं भूल सकता।

सर्व-ग्रास के लगभग दस मिनट पहले से अँधेरा मालूम होने लगता है। उस समय रोशनी थोड़ी और सो भी केवल सूर्य के किनारे से आती है, इसलिए इसका रंग कुछ असाधारण होता है। फलतः, आकाश और पृथ्वी

*कभी भी १८५ मील से अधिक चौड़ी छाया नहीं पड़ सकती। साधारणतः छाया की चौड़ाई इससे बहुत कम होती है।

दोनों विचित्र रंग के हो जाते हैं। तापक्रम घट जाता है और एकाएक ठंढक मालूम पड़ने लगती है। फूलों की पँखुड़ियाँ बंद होने लगती हैं, मानो रात्रि आ रही हो। चिमगादड़ अपने बसेरों से निकलकर इधर-उधर फड़फड़ाने लगते हैं, परंतु अन्य पक्षी घबराकर गिरते-भहराते अपने घोंसलों की ओर दौड़ते हैं या कहीं आड़ पाकर अपना सिर अपने पंख के नीचे दबाकर पड़ रहते हैं। प्रायः जानवर पंक्तिबद्ध होकर और सींग ऊपर उठाकर एक घेरे में खड़े हो जाते हैं, मानों किसी भयानक शत्रु से मुकाबला करना हो। मुर्गी के बच्चे दौड़कर अपनी माँ के पंख के नीचे छिप जाते हैं और कुत्ते दुम दबाकर अपने मालिक के पैर से लिपट जाते हैं। स्वयं मनुष्य भी, यद्यपि वह अँधेरा होने के कारण को जानता है—इतना ही नहीं, वह इस घटना के समय की गणना वर्षों पहले से कर लेता है—इस अशान्ति से बच नहीं सकता। उसके भी हृदय में एक प्रकार का भय उत्पन्न हो जाता है।
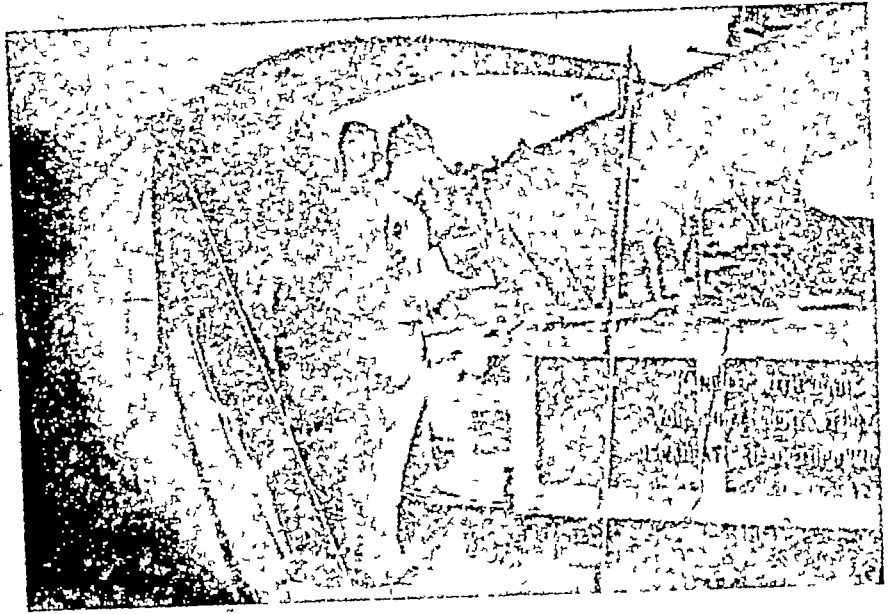
अपने कार्य पर मुस्तैद एक ग्रहण-पार्टी

यह १९३७ के सर्व-सूर्यग्रहण के अवसर पर प्रशान्त महासागर के बीच कैंटन द्वीप पर जानेवाले एक अमेरिकन ज्योतिषी-दल के प्रधान दूरदर्शक और उसके संचालकों का फ़ोटो है।

उपस्थित मिलता है। चन्द्र-मंडल, स्याही से भी काला, अधर में लटकता हुआ दिखलाई पड़ता है और इसके चारों ओर मोती के समान झलकता हुआ कोमल प्रकाश का मुकुट दृष्टिगत होता है। इस मुकुट की जड़

जहाँ दूरस्थ क्षितिज स्पष्ट दिखलाई देता रहता है, वहाँ चंद्रमा की छाया आँधी की तरह और अत्यंत डरावने वेग से आती हुई सी दिखलाई पड़ती है।

सूर्य अब क्षीण रेखा-सा प्रतीत होता है, परन्तु मिटने के पहले वह चमकीले मणियों के समान कई टुकड़ों में बँट जाता है। इनके मिटते ही एकाएक ऐसा अँधेरा हो जाता है कि मनुष्य चौंक पड़ता है। परन्तु क्षण भर बाद, आँखों की चकाचौंध मिट जाने पर पता चलता है कि बहुत अँधेरा नहीं है।
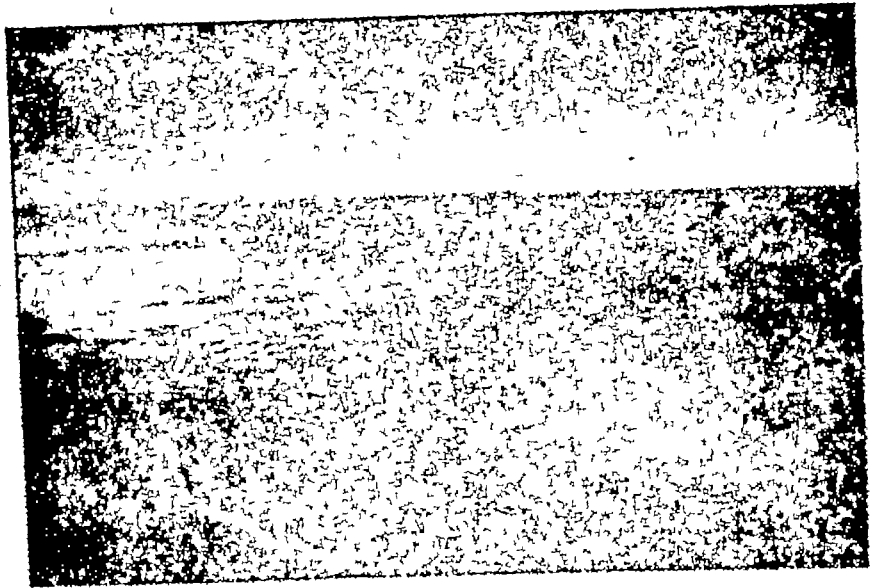
साथ ही अत्यंत सौंदर्य और रोमांचक दृश्य आँखों के सामने

सूर्य-ग्रास के समय भयावने वेग से पृथ्वी पर पड़ती आ रही चंद्रमा की छाया

यह अद्भुत फ़ोटो १९२८ के सर्वग्रास के समय २० हजार फ़ुट [illegible] ऊँचाई से हवाई जहाज़ से [illegible] लिया गया था। [illegible] क्षितिज पर [illegible] [illegible] अँधेरा आ गया है। [illegible] [illegible] [illegible] हैं।

के पास स्थान स्थान पर अत्यंत अनोखे आकारों की रक्त वर्ण ज्वालाओं की जिह्वाएँ काले चंद्र-मंडल के पीछे से लपकती हुई दिखलाई पड़ती हैं जिस "वर्ण-मंडल" से ये ज्वालाएँ लपकती हैं, वह भी अत्यंत दीप्तिमान और चंद्र-मंडल से सटा हुआ दिखलाई पड़ता है। इस समय आकाश में प्राय नक्षत्र भी दिखलाई देने लगते हैं।

सूर्य के फिर से निकलने के पहले उसके वायुमंडल का सबसे नीचे का भाग इस्पात के समान श्वेत वर्ण का चमकता हुआ दिखलाई पड़ता है। तब एकाएक चकाचौंध पैदा करने वाला प्रकाश मंडल निकल पड़ता है। सब जगह प्रकाश भर जाता और कॉरोना प्राय छिप जाता है। केवल एक-आध मिनट तक इसकी जड़ अँगूठी की भाँति दिखलाई पड़ती है।
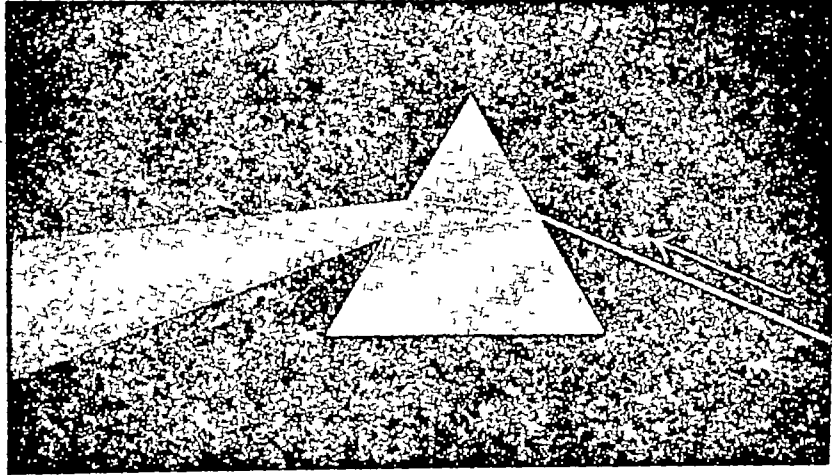
त्रिपार्श्व द्वारा रश्मि-विश्लेषण

तीन पहल के इस शीशे के टुकड़े त्रिपार्श्व (Prism) में से होकर जब प्रकाश निकलता है तो फैलकर वह दाहिनी ओर दिखाये गये सात रंगों की किरणों में विभाजित हो जाता है, जिसे 'वर्णपट' (Spectrum) कहते हैं। 'त्रिपार्श्व' के इस अद्भुत सामर्थ्य ने यह संभव कर दिया है कि हम किसी भी नक्षत्र से आनेवाले प्रकाश का विश्लेषण कर इस बात की जाँच कर सकें कि उस नक्षत्र पर कौन-कौन-से तत्त्व हैं या वहाँ कितना ताप है, क्योंकि प्रत्येक तत्त्व के तप्त वाष्प से निकले प्रकाश का 'वर्णपट' भिन्न होता है। नीचे ग्रहण के समय लिये गये सूर्य-प्रकाश के दो वर्णपटों के रश्मिचित्र दिये गये हैं। इन चित्रों की श्वेत या काली रेखाएँ सूर्य के वर्ण-मंडल में उपस्थित विभिन्न तत्त्वों का दिग्दर्शन करती हैं।

प्रकाश-प्रसरण* के कारण प्रकाश-मंडल का प्रथम भाग असली आकार की अपेक्षा बहुत बड़ा दिखलाई पड़ता है, इसीलिए सूर्य हीरे की अँगूठी के समान जान पड़ता है।

एक मिनट ही में कॉरोना आदि का लेश मात्र भी नहीं रह जाता।
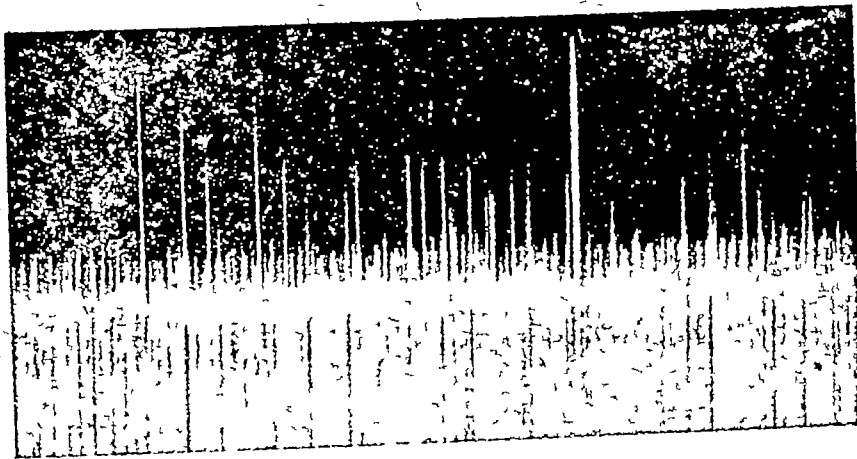
* बहुत चमकीली चीजें हमको अपने असली आकार से बड़ी दिखलाई पड़ती हैं। उदाहरणार्थ, चमकीले तारे अन्य तारों की अपेक्षा हमको बड़े दिखलाई पड़ते हैं, यद्यपि नाप में वे बराबर होते हैं। प्रकाश के इस प्रकार फैलने को 'प्रकाश-प्रसरण' कहते हैं।

ग्रहण की प्रगति

इस चित्र में एक ही प्लेट पर पांच-पाँच मिनट के बाद लिये सूर्य के २६ फ़ोटो हैं, जिनमें दिखाई दे रहा है कि किस तरह से ग्रहण लगकर सूर्य का उदय हुआ।

रिपोर्ट, उस स्थान तक पहुँचने और वहाँ रहने के सुभीते, तथा वहाँ सर्व-ग्रहण कितने समय तक लगा रहेगा आदि बातों पर विचार करके निश्चय किया जाता है कि किस-किस वेधशाला से ज्योतिषी कहाँ-कहाँ जायँगे। यथासभव प्रयत्न किया जाता है कि ज्योतिषियों के समूह भिन्न भिन्न स्थानों पर अपना डेरा डालें, ताकि एक स्थान पर बादलों से काम बिगड़ जाने पर दूसरे स्थानों में कुछ प्रत्यक्ष फल मिले। तब भी, कभी कभी ग्रहण-मार्ग का अधिकांश जल ही पर पड़ता है और एक ही दो टापू या निर्जन स्थान इसके भीतर पड़ते हैं। ऐसी दशा में लाचार होकर ज्योतिषियों को वहाँ ही जाना पड़ता है। एक बार ऐसा भी हुआ था कि एक ही बादल के टुकड़े से सब ज्योतिषियों का महीनों का कठिन परिश्रम मिट्टी हो गया!

इधर स्थान तय हुआ करता है, उधर ज्योतिषी लोग अपना कार्य-क्रम निश्चित करके अनेक प्रकार की तैयारी करते हैं। अनेक बार ग्रहण के अवसर पर उपयोग करने के लिए विशेष यंत्र बनाने पड़ते हैं। इन यंत्रों की पहले पूरी जाँच करके उनकी छोटी-से-छोटी त्रुटि भी मिटाई जाती है। ग्रहण के समय सफलता प्राप्त करने के लिए प्रयोगशाला और वेधशाला में महीनों नये-नये प्रयोग किये जाते हैं।

स्थान निश्चित हो जाने, सब सामान ठीक हो जाने, और रुपये-पैसे, पासपोर्ट रेल और जहाज़ इत्यादि यात्रा संबंधी सब बातों का प्रबंध हो जाने पर ज्योतिषी-सेना का अग्रभाग यंत्रों को लेकर कार्य-क्षेत्र में पहले पहुँचता है। आवश्यकतानुसार शिविर तैयार होते हैं, यंत्र आरोपित किये जाते हैं और उनकी पूरी जाँच की जाती है। इतने में शेष ज्योतिषी भी आ पहुँचते हैं।

किसी दूरदर्शक से कॉरोना और रक्त ज्वालाओं के कई एक बड़े फ़ोटोग्राफ़ लिये जायँगे, किसी से सूर्य के चारों ओर के आकाश का फ़ोटोग्राफ़ लिया जायगा, किसी से सूर्य के वायु-मंडल के भिन्न-भिन्न भागों का 'वर्णपट' (इसके संबंध में विशेष हाल इसी लेख में आगे देखिए) लिया जायगा, किसी से अन्य अनुसंधान होगा। कहीं-कहीं तापक्रम आदि नापने का प्रबंध किया जायगा। कोई ग्रहण का सिनेमा-चित्र लेगा।

अभी ग्रहण लगने को कई दिन हैं, परंतु अभी से सब क्रियाओं का पूर्वाभ्यास (रिहर्सल) जारी है। प्रतिदिन कई बार अभ्यास किया जाता है। छोटी-से-छोटी बात भी पहले से सोच ली जाती है, जिसमें समय पर कोई तरह की गड़बड़ी न होने पावे।

अंत में ग्रहण का दिन भी आ जाता है।

साधारण ग्रहण आरंभ होता है। सब सामान दुरुस्त है। लोग अपने अपने स्थान पर मुस्तैद हैं। धीरे-धीरे उत्सुक ज्योतिषियों को जान पड़ता है, मानो चींटी की चाल से भी धीरे-धीरे खिसककर चंद्रमा सूर्य को ढक चलता है। ग्रहण की इस ढिलाई से ज्योतिषियों को दम मारने की फ़ुरसत मिल जाती है; परंतु इतने पर भी सभी व्यग्रचित्त रहते हैं, विशेषकर सर्वग्रास के दो चार मिनट पूर्व जब प्रतीक्षा करने के सिवाय और कुछ करना नहीं रहता है।

जिस क्षण सर्व ग्रहण आरंभ होता है, इसी काम के लिए नियुक्त एक ज्योतिषी सूचना देता है और तुरंत सब अपने अपने पूर्व-निश्चित कार्यक्रम को पूरा करते हैं।

यह समझने के लिए कि ग्रहणों से ज्योतिप्रियों ने क्या सीखा है, रश्मि-विश्लेषण का थोड़ा ज्ञान आवश्यक है। जब किसी रेखाकार छेद से निकला श्वेत प्रकाश त्रिपार्श्व* (दे० पृ० ३८६ का चित्र; ऐसा शीशा झाड़-फानूस में लगता है) से होकर बाहर निकलता है, तब वह श्वेत रहने के बदले इंद्र-धनुष के समान कई रंगों में फैल जाता है, जिसे 'वर्ण पट' (Spectrum) कहते हैं। प्रसिद्ध गणितज्ञ और वैज्ञानिक न्यूटन ने पहलेपहल बतलाया कि श्वेत प्रकाश असंख्य रंगीन प्रकाशों से बना है और त्रिपार्श्व में से होकर आने पर श्वेत प्रकाश अपने विभिन्न अवयवों में विभक्त हो जाता है। इन अवयवों को साधारणतः सात समूहों में बाँटा जाता है, जिनके नाम इस प्रकार हैं— बैंगनी, नीला, आसमानी, हरा, पीला, नारंगी, और लाल। परंतु वर्णपट को इस प्रकार सात भागों में बाँटना मन-माना है। वस्तुतः वर्णपट की प्रत्येक रेखा एक भिन्न रंग की होती है। हाँ, दो समीपवाली रेखाओं के रंगों में अंतर अवश्य इतना सूक्ष्म होता है कि हम उसे शब्दों द्वारा सूचित नहीं कर सकते, परंतु उनमें अंतर होता है अवश्य।

वैज्ञानिकों का मत है कि प्रकाश किसी प्रकार की लहर है। श्वेत प्रकाश में छोटी-बड़ी कई नाप की लहरें होती
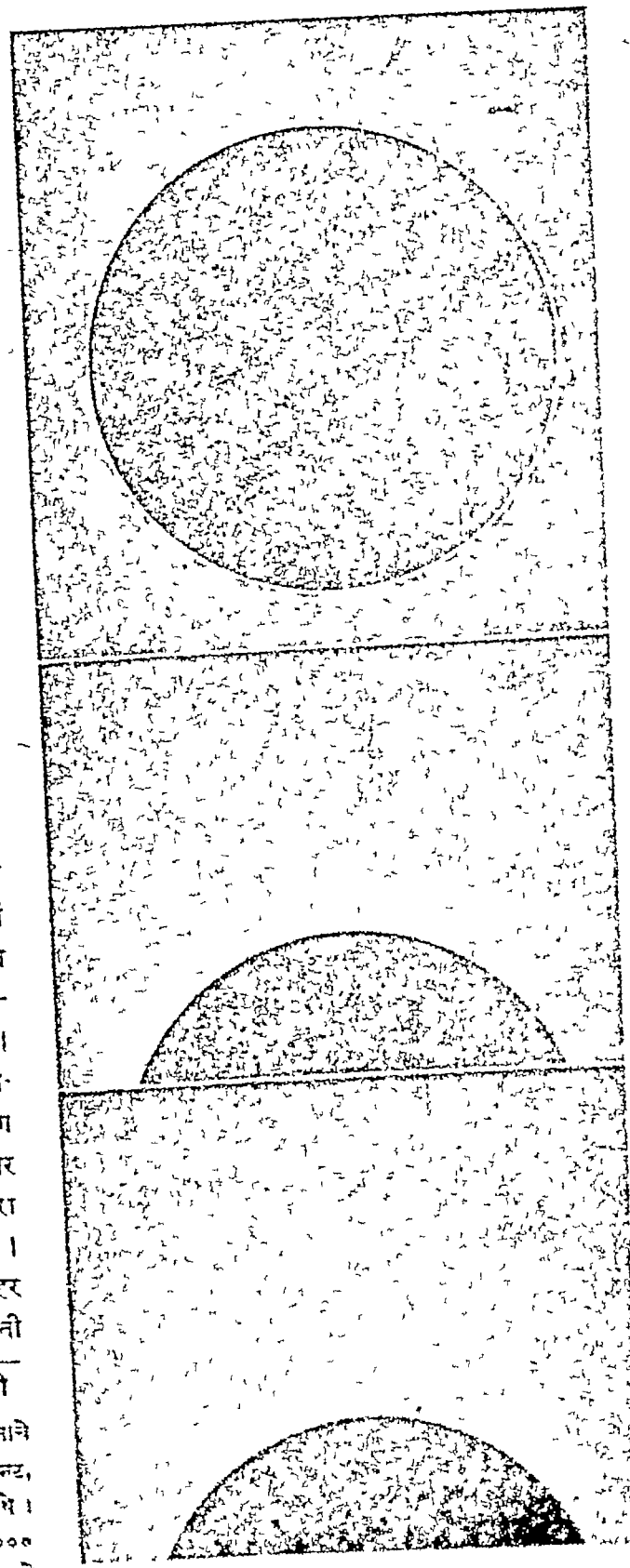
(दाहिनी ओर) एक ही उद्गारी ज्वाला के तीन फ़ोटो

ये फ़ोटो १९ नवंबर, १९२८, को क्रमशः (ऊपर से नीचे की ओर) ७ बजकर ४५ मिनट ५ सेकंड, ८ बजकर ५८ मिनट, और ९ बजकर ४ मिनट पर [illegible] द्वारा लिये गये थे। ऊपर के चित्र में ज्वाला सूर्य की सतह से २५८००० मील की ऊँचाई तक उठ गई है। लगभग १ घंटे बाद [illegible] ४५६००० मील की ऊँचाई पर पहुँची है। इसके कुछ ही मिनट बाद [illegible] मील की ऊँचाई पर पहुँची है। (फ़ोटो — [illegible] से प्राप्त।)
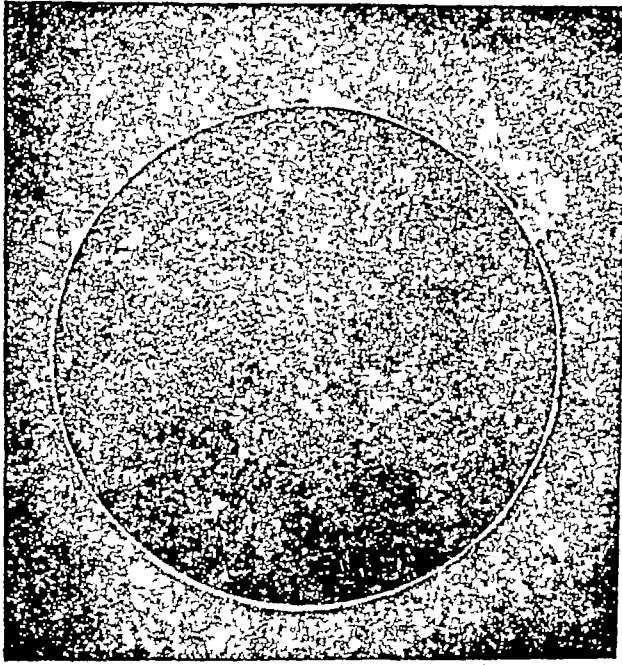
कैल्शियम सूर्योन्नत ज्वालाएँ, २९ मई, १९१९

यह फ़ोटो ६ बजकर ४ मिनट ४८ सैकंड पर कैल्शियम प्रकाश द्वारा लिया गया था। ['कोदईकैनाल वेधशाला' की कृपा से प्राप्त।]

हैं। यदि लहर की एक चोटी से दूसरी चोटी तक की दूरी को 'लहर-लंबाई' कहा जाय, तो हम कह सकते हैं कि श्वेत प्रकाश में असंख्य अवयव हैं और प्रत्येक अवयव की लहर-लंबाई भिन्न है। जब श्वेत प्रकाश त्रिपार्श्व से होकर निकलता है, तब प्रत्येक भिन्न लहर-लंबाई का प्रकाश एक भिन्न दिशा में चलता है और इस प्रकार श्वेत प्रकाश अपने अवयवों में बँट जाता है। इसीलिए, यद्यपि वर्णपट के विभिन्न रेखाओं के रंगों को शब्दों से सूचित करना असंभव है तो भी, किसी विशेष रेखा का उल्लेख उसकी लहर-लंबाई बतलाने से किया जा सकता है।

सौभाग्य की बात है कि प्रत्येक तत्व के तप्त वाष्प से निकले प्रकाश का वर्णपट विभिन्न होता है। अनेक तत्त्वों के मिश्रण रहने पर भी वर्णपट से इन तत्त्वों की पहचान करने में कोई कठिनाई नहीं पड़ती। इसलिए सूर्य से (या कहीं से भी) आये प्रकाश के वर्णपट को देखकर हम बतला सकते हैं कि वहाँ कौन कौन से तत्त्व हैं।

बिजली की रोशनी का, या किसी भी अत्यंत तप्त ठोस पदार्थ से निकली रोशनी का, वर्णपट 'अटूट' होता है। वह कहीं से टूटा नहीं रहता। उसमें कहीं काले भाग नहीं रहते। किसी तप्त गैस से निकले प्रकाश का वर्णपट जाय, तो उसमें केवल चमकती हुई रेखाएँ ही दिखलाई पड़ती हैं, शेष भाग काला रहता है। उदाहरणार्थ यदि हम किसी स्टोव की लौ में कुछ नमक छोड़ दें तो लौ, जो पहले नीली और प्रायः प्रकाशरहित रहती है, पीली और प्रकाशमय हो जाती है। यदि हम इस पीले प्रकाश का वर्णपट बनावें, तो हमें उसमें केवल दो प्रायः सटी हुई पीली रेखाएँ दिखलाई पड़ती हैं। नमक में सोडियम होता है और जब कभी प्रकाश सोडियम के गरम वाष्प से आता है, तब वर्णपट में ये दो पीली रेखाएँ ही दिखलाई पड़ती हैं।

यदि प्रकाश बिजली के बल्ब से या अन्य किसी अत्यन्त तप्त ठोस पदार्थ से चले और बीच में कसी तप्त गैस को पार करके निकले, तो रश्मि-चित्र में काली रेखाएँ दिखलाई पड़ती हैं (गैस का तापक्रम तप्त ठोस के तापक्रम से कम होना चाहिए)। उदाहरणार्थ, यदि बिजली की रोशनी नमक-पड़े स्टोव की लौ पार करके त्रिपार्श्व पर पड़े, तो वर्णपट में दो प्राय सटी हुई काली रेखाएँ ठीक उसी स्थान में दिखलाई पड़ती हैं जहाँ पहले दो चमकीली रेखाएँ दिखलाई पड़ती थीं।

जब कभी किसी वर्णपट में काली रेखाएँ दिखलाई पड़ती हैं, तो समझा जा सकता है कि प्रकाश किसी तप्त ठोस वस्तु से चलकर कुछ कम तप्त गैसों को पार करके आ रहा है।
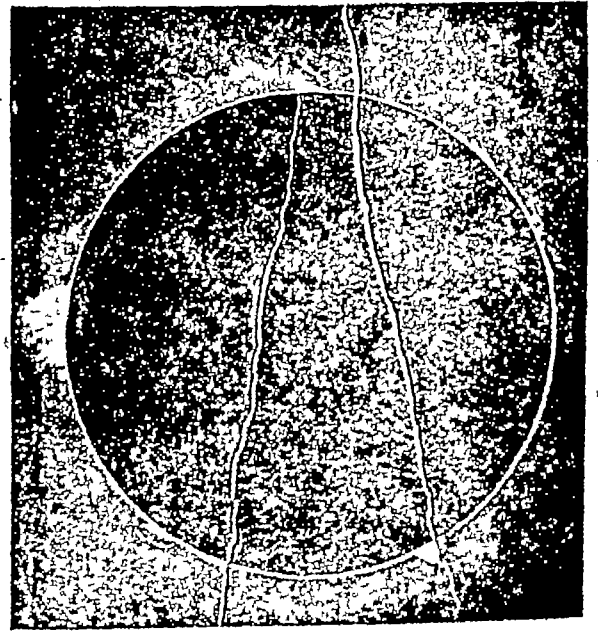
कैल्शियम सूर्योन्नत ज्वालाएँ, २ जून, १९२७

यह फ़ोटो ७ बजकर ४१ मिनट २८ सेकंड पर कैल्शियम-प्रकाश द्वारा रश्मि-चित्र-सौर-कैमेरे से लिया गया था ['कोदईकैनाल वेधशाला' की कृपा से प्राप्त।]

जर्मन वैज्ञानिक फ्राउनहोफर ने पहले-पहल देखा कि सूर्य के प्रकाश के वर्णपट में भी काली रेखाएँ हैं। इससे सिद्ध हुआ कि सूर्य का मध्य भाग ठोस है, या यदि गैस है तो इतना दबा हुआ है कि उसका प्रकाश तप्त ठोस की जाति का वर्णपट देता है। इसके चारों ओर तप्त गैसों की एक तह है, जिसे "पलटाऊ तह" कहते हैं, क्योंकि इसके कारण सोडियम आदि धातुओं की चमकीली रेखाएँ पलटकर काली हो जाती हैं। इस तह में क्या क्या वस्तुएँ हैं, यह हम वर्णपट की सूक्ष्म जाँच से निश्चयपूर्वक बतला सकते हैं।

१९२२ के सर्व-सूर्यग्रहण के समय कॉरोना

१९२२ में सूर्य-कलंक अपनी महत्तम अवस्था पर थे, इसलिए इस फ़ोटो में कॉरोना लगभग समान रूप से चारों ओर फैला दिखाई दे रहा है। नीचे के फ़ोटो से तुलना कीजिए।

वस्तुतः सूर्य में प्रायः वे सभी तत्त्व हैं, जो पृथ्वी पर हैं, और इसलिए संभवतः सूर्य की रासायनिक बनावट प्रायः वैसी ही होगी, जैसी पृथ्वी की। परन्तु भयानक गरमी के कारण अवश्य ही सूर्य पर यौगिक पदार्थ न होंगे। ऐसे पदार्थ टूटकर अपने मौलिक तत्त्वों में विभक्त हो गये होंगे।

जब सौर वर्णपट की पहले-पहल सूक्ष्म जाँच हुई, तो पता लगा कि उसमें अन्य तत्त्वों की रेखाओं के साथ ही एक समूह ऐसी रेखाओं का था, जो किसी ज्ञात पदार्थ की नहीं थी। इस पदार्थ का नाम वैज्ञानिकों ने 'हीलियम' रक्खा, जो ग्रीक शब्द हीलियस (= सूर्य) से बनाया गया। ध्यान देने की बात है कि हीलियम का अस्तित्व केवल उप-रोक्त सिद्धांतों के आधार पर टिका था। यदि सिद्धांत अशुद्ध होता, अथवा यदि एक ही धातु वर्णपट में कभी कोई और कभी कोई रेखाएँ उत्पन्न किया करती तथा वैज्ञानिकों को इसका पता न रहता, तो हीलियम की कल्पना कोरी कल्पना ही रहती। परंतु कुछ वर्षों के बाद पृथ्वी ही पर एक नवीन गैस का पता चला, जिसके वर्णपट में ठीक उन्हीं स्थानों में (अर्थात् ठीक उन्हीं लहर-लंबाइयों की) चमकीली रेखाएँ दिखाई पड़ती थीं, जहाँ सूर्य में हीलियम वाली काली रेखाएँ थीं। इतना काफ़ी हो गया कि सूर्य की [illegible] अवश्य ही हीलियम

१९३२ के सर्व सूर्यग्रहण के समय कॉरोना

[illegible]

सिद्धांतों का कैसा सुंदर समर्थन हुआ! अज्ञात रहने के बदले हीलियम अब ज़ेपलिन की जाति के हवाई जहाज़ों में भरी जाती है।

सूर्य की बनावट

उस साधारण सी वस्तु—त्रिपार्श्व—से हमने कितना अधिक सीखा है! इस त्रिपार्श्व तथा कुछ अन्य यंत्रों और गणित के आधार पर अब हम प्रायः निश्चय रूप से कह सकते हैं कि सूर्य की बनावट ऐसी है।

सूर्य का जो भाग हमको प्रतिदिन दिखलाई पड़ता है, वह अत्यंत गरम और दबी हुई गैसों से बना है। सूर्य के इस भाग को 'प्रकाश मंडल' या 'फोटोस्फ़ियर' कहते हैं। इसके भीतर देखने का कोई उपाय नहीं है, परंतु गणित के सहारे हम कई एक बातों का अनुमान कर सकते हैं। सूर्य के केंद्र पर दबाव, घनत्व और तापक्रम सभी बहुत अधिक होंगे। वहाँ प्रति वर्ग इंच पर २०,००,००,००,००० मन का दबाव होगा और तापक्रम ४,००,००,००० डिग्री सेंटीग्रेड होगा। बाहर से भीतर तक सर्वत्र गैस ही गैस होगी—कोई भी भाग ठोस नहीं होगा। तो भी भयानक दबाव के कारण सूर्य का मध्य भाग पानी की अपेक्षा लगभग २८ गुना भारी होगा। पृथ्वी पर सबसे भारी पदार्थ प्लैटिनम है, परंतु यह पानी की अपेक्षा केवल २१ गुना ही भारी है। इस प्रकार सूर्य का मध्य भाग प्लैटिनम से भी भारी—लगभग सवाई गुना भारी—है। पहले वैज्ञानिकों को विश्वास ही नहीं होता था कि कोई गैस इतनी भारी हो सकती है। सोचा जाता था कि जब गैस इतनी दब जायगी कि उसके सब परमाणु एक दूसरे को छू लेंगे, तब उसे अधिक भारी [illegible] असंभव होगा, चाहे दबाव कितना भी बढ़ाया जाय। [illegible]िक विज्ञान के अध्ययन से अब अनुमान किया जाता है कि परमाणु स्वयं ठोस नहीं हैं। प्रत्येक परमाणु के केंद्र में एक समूह 'धनाणुओं' का होता है और इसके चारों ओर एक या अधिक 'ऋणाणु' चक्कर लगाया करते हैं। वैज्ञानिकों का विश्वास है कि सूर्य के केंद्र पर प्रचंड ताप के कारण परमाणुओं में से ऋणाणु निकल गये होंगे। ऐसे टूटे हुए परमाणु भीषण दबाव के कारण दब-कर साधारण ठोस पदार्थों से भी भारी हो गये होंगे।

ये तो हुईं प्रकाश-मंडल के भीतर की बातें। स्वयं प्रकाश मंडल पर कलंक दिखलाई पड़ते हैं, जिनकी चर्चा पहले की जा चुकी है। प्रकाश-मंडल या फोटोस्फ़ियर देखने में ठीक गोल जान पड़ता है और इसका किनारा चिकना प्रतीत होता है, जिससे अनुमान होता है कि सूर्य पर गड्ढे नहीं हैं। परंतु सूर्य इतनी दूर है कि वहाँ के सौ-दो-सौ मील व्यास के गड्ढे हमको दिखलाई नहीं पड़ सकते!

सूर्योन्नत ज्वालाओं के आकार की पृथ्वी से तुलना

वर्त्तुलाकार काला भाग सूर्य के प्रकाश मंडल का एक भाग है, जिसमें से ज्वालाएँ लपलपाती हुई ऊपर उठ रही हैं। नीचे के काले भाग में सफेद गेंद के रूप में इसी अनुपात में पृथ्वी का आकार दिखाया गया है।

प्रकाश मंडल के ऊपर गैसों की एक तह है, जो प्रकाश-मंडल से कुछ कम गरम है। इसको 'पल्टाऊ तह' कहते हैं, क्योंकि इसी के कारण सौर-प्रकाश के वर्णपट में काली रेखाएँ उत्पन्न होती हैं। अनुमान किया जाता है कि पल्टाऊ तह केवल हज़ार पाँच सौ मील ही मोटी होगी।

पल्टाऊ तह के बाहर दस-पाँच हजार मील गहरी एक तह गैसों की है, जो सर्व-ग्रहण के समय चटक लाल रंग की झालर के सदृश दिखलाई पड़ती है। अपने चटक रंग के कारण यह "वर्ण-मंडल" कहलाती है। ग्रहण के समय इसकी ऊपरी सतह से लाल रंग की ज्वालाएँ लपकती हुई दिखलाई पड़ती हैं और एक विशेष यंत्र से इनका फोटोग्राफ़ बिना ग्रहण लगे भी खींचा जा सकता है। ये ज्वालाएँ 'सूर्योन्नत ज्वालाएँ' कहलाती हैं और विविध आकार की होती हैं। कुछ ज्वालाएँ शांत होती हैं और कई दिनों

सर्वग्रास के समय सूर्य के कोरोना और आसपास झलकती हुई रश्मि ज्वालाओं का दृश्य
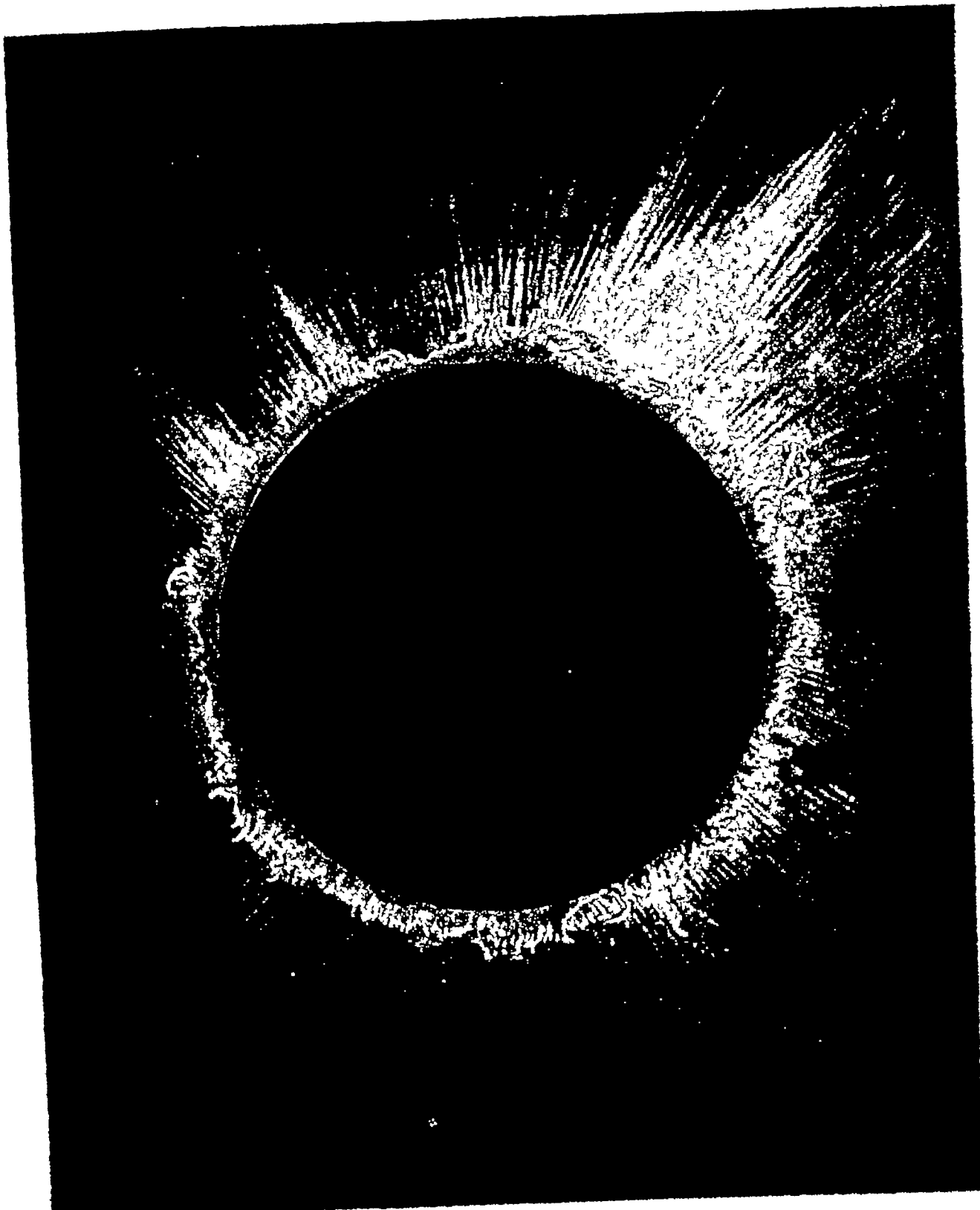
तक प्रायः एक-सी बनी रहती हैं। सौर वायु-मंडल में ये बादल के समान जान पड़ती होंगी। अन्य ज्वालाएँ 'उद्गारी ज्वालाएँ' कहलाती हैं और ये कलकों के आस-पास से उठती हैं। शांत ज्वालाओं की अपेक्षा ये बहुत अधिक चमकीली होती हैं और बड़े वेग से ऊपर उठती हैं। कभी कभी ये इतने वेग से उठती हैं कि घंटे डेढ़ घंटे में ये पाँच लाख मील ऊपर चली जाती हैं।

वर्ण-मंडल के बाहर सूर्य का कॉरोना या मुकुट है। यह अनियमित आकार का होता है और सूर्य के प्रकाश-मंडल से बीस-पचीस लाख मील ऊपर तक फैला हुआ देखा गया है।

बार बार सर्व ग्रहणों के समय फोटोग्राफ लेते रहने से इतना पता लगा है कि कॉरोना का स्वरूप भी ११ वर्षीय सूर्य-कलंक चक्र के साथ बदलता रहता है। कम कलंक के समय में सूर्य की मध्य रेखा के पास कॉरोना की रश्मियाँ लंबी और ध्रुवों के पास की रश्मियाँ छोटी होती हैं। अधिक कलंक के समय कॉरोना का आकार प्रायः गोल रहता है। अभी तक पता नहीं चल सका है कि क्यों ऐसा होता है।

कॉरोना का घनत्व अति सूक्ष्म होगा। १८४३ में एक पुच्छल-तारा कॉरोना को चीरता हुआ निकल गया। पुच्छल-तारे का वेग उस समय ३५० मील प्रति सैकंड था। इतने प्रचंड वेग से चलने पर भी कॉरोना के कारण पुच्छल-तारे को न कुछ रुकावट मालूम हुई और न उसको कोई क्षति ही पहुँची। एक प्रसिद्ध वैज्ञानिक का अनुमान है कि कॉरोना का घनत्व इतना कम है कि प्रत्येक पंद्रह घन गज़ में केवल एक सूक्ष्म कण होगा। वैज्ञानिक अभी तक यह नहीं जान पाये हैं कि इतना सूक्ष्म होते हुए भी कॉरोना किस प्रकार इतना अधिक चमक सकता है।

सर्व-ग्रहण में वर्णमंडल और कॉरोना से लगभग सतमी की चाँदनी इतना प्रकाश आता है।

अभी तक कॉरोना का फोटोग्राफ केवल सर्व-सूर्यग्रहण के समय ही खींचा जा सकता था, परंतु हाल में (मई १९३९ में) प्रोफेसर बरनर्ड लॉयट ने एक भाषण दिया है, जिसमें बिना ग्रहण के ही कॉरोना का फोटोग्राफ लेने

पिक-दु-माइदी वेधशाला

यह वेधशाला पिरीनीज़ पर्वतमाला के एक हिमाच्छादित शृंग पर स्थापित है। यहाँ का वायुमंडल इतना स्वच्छ है कि यहाँ से बिना ग्रहण के ही सूर्य के कॉरोना का फ़ोटो लिया जा सकता है। (सबसे ऊपर) पिक-दु-माइदी शिखर का दृश्य। यहाँ से चढ़ाई शुरू होती है। [illegible] शिखर की ओर जा रहा है। (बीच में) लगभग ९००० फ़ीट की ऊँचाई पर आरोही दल। (नीचे) पिक-दु-माइदी वेधशाला। (फ़ोटो—[illegible])।
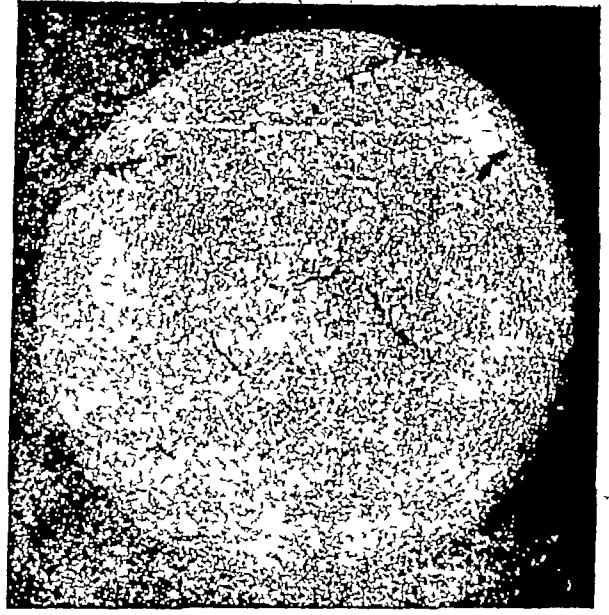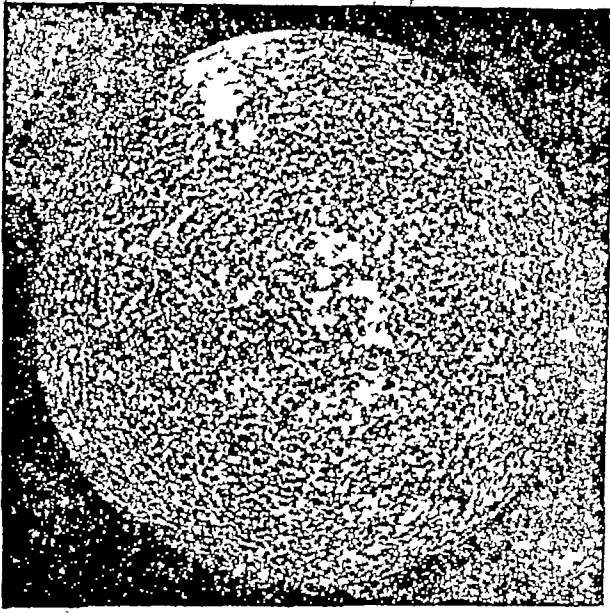
कैल्शियम के बादलों का दृश्य
यह कैल्शियम के प्रकाश से लिया गया सूर्य का फोटो है। ये बादल बड़े ही सुंदर दिखाई पड़ते हैं।

हाइड्रोजन के तप्त बादल और सूर्य-कलंकों के भँवर
यह फ़ोटो हाइड्रोजन के प्रकाश से लिया गया था। बीच के काले चिह्न सूर्य-कलंकों के भँवर हैं।

में सफलता प्राप्त करने की घोषणा की गई है। अत्यंत स्वच्छ लेंज़ो (Lenses) से और ख़ूब ऊँचे पहाड़ पर से फोटो लेने में सूर्य का प्रकाश इतना नहीं बिखरने पाता कि वह कॉरोना को दबा दे। इसलिए अब कॉरोना का फ़ोटोग्राफ़ प्रति दिन लिया जा सकेगा, जिससे उसके संबंध में ज्ञान-वृद्धि की पूरी आशा है।

हाइड्रोजन और कैल्शियम के बादल

ऊपर हम बतला चुके हैं कि प्रत्येक तत्त्व से उत्पन्न हुआ प्रकाश वर्णपट में पृथक्-पृथक् हो जाता है। अमेरिका के हेल और फ्रांस के डेलाएडर्स नामक [illegible]ज्ञानियों ने एक ऐसा यंत्र बनाया, जिससे वर्णपट की किसी भी वांछित रेखा से सूर्य का फ़ोटोग्राफ़ लिया जा सकता है। इस यंत्र द्वारा हाइड्रोजन के प्रकाश से लिये गये फोटो में यह स्पष्ट रूप से पता चलता है कि सूर्यबिंब पर हाइड्रोजन कहाँ-कहाँ और किस रूप में है। ऐसे चित्र बड़े सुंदर जान पड़ते हैं। इनमें हाइड्रोजन बादल के रूप में सर्वत्र फैली हुई देख पड़ती और सूर्य-कलंकों के पास भँवर सरीखा चक्कर खाती हुई जान पड़ती है। इसी प्रकार कैल्शियम के प्रकाश से लिये गये फोटोग्राफ़ों में कैल्शियम-वाष्प के बादल दिखलाई पड़ते हैं। ये भी बड़े सुन्दर जान पड़ते हैं।

एक रश्मि-विश्लेषक कैमेरा (Spectrograph)
आकाशीय पिण्डों के रश्मि-चित्र ऐसे ही यंत्र के द्वारा लिये जाते हैं। यह दूरदर्शक-यंत्र के मुँह पर लगा दिया जाता है।

गतिशीलता और शक्ति

विश्व का कण-कण गतिमान है और प्रत्येक कण मे शक्ति है। गति ही पर विश्व का विकास निर्भर है।

प्रायः हम देखते हैं कि कुछ चीजों में गति या हरकत है, तो कुछ चीजें स्थिर पड़ी रहती हैं। ससार की प्रत्येक वस्तु या तो गतिशील है या स्थिर। कमरे में बैठे हुए हम देखते हैं, घड़ी मे सेकंड की सुई टिक-टिक करती हुई बड़े वेग से भाग रही है। खिड़की से बाहर नज़र गई, तो आसमान मे बादल भागते हुए नज़र आये। फिर आफ़िस भी आप किसी-न-किसी सवारी में ही जाते हैं। सन्ध्या को मनोरञ्जन के लिए सिनेमा-भवन में गये, तो वहाँ भी चलती-फिरती तस्वीरें ही आपको परदे पर देखने को मिलती हैं। इन सभी चीजों मे हम गतिशीलता पाते हैं।

किन्तु संसार की सैकड़ों-हजारों वस्तुएँ स्थिर दशा में भी हमें मिलती हैं। मेज पर रक्खी हुई पुस्तक, कमरे की

गतिशीलता और स्थिरता सापेक्षिक शब्द हैं

[illegible] (Theory of Relativity) का यह मूल सिद्धान्त है।

कुर्सी, आपका मकान, एकदम स्थिर जान पड़ते हैं। पेड़ की पत्तियाँ हिलती हैं, किन्तु तना स्थिर रहता है; लट्ठे में लगी हुई पताका फरफराती है, किन्तु लट्ठा नहीं हिलता।

विभिन्न पदार्थों की हरकत से हम अच्छी तरह परिचित हैं—फिर भी गति की समस्या उतनी आसान नहीं है, जितनी यह जान पड़ती है। सड़क पर जिस समय आप टहलते हैं, निस्सन्देह आप अपनी गतिशीलता का अनुभव करते हैं, किन्तु जब मेलट्रेन में आप खर्राटे की नींद ले रहे हों, और सनसन करती हुई ट्रेन ५० मील की रफ़्तार से भागती जा रही हो, तब आप अपने को स्थिर मानेंगे या चलायमान? आपको मानना पड़ेगा कि आप अवश्य चलायमान थे, वरना रात भर में ही लखनऊ से बनारस कैसे पहुँच आते! मान लीजिए, आपकी गाड़ी के समानान्तर एक दूसरी ट्रेन भी उसी रफ़्तार से दौड़ रही है, जिस रफ़्तार से आपकी गाड़ी। अब इस दूसरी ट्रेन के मुक़ाबले में आपकी ट्रेन तो स्थिर ही कही जा सकती है।

सेंट्रीफ़ूगल शक्ति

परिक्रमा करते समय चीजों में एक शक्ति पैदा हो जाती है, जिससे वे अपनी वृत्ताकार परिधि से बाहर भाग जाना चाहती हैं। मेले में लगनेवाली चर्खी के घोड़े, कुर्सी आदि का घूमते समय बाहर की ओर तन जाना इसी 'सेंट्रीफ़ूगल' शक्ति का उदाहरण है।

स्थान-परिवर्त्तनीय गति

वस्तुओं की गति कई प्रकार की होती है। जब पानी में आप कूदते हैं, तो गतिमान होकर आप एक स्थान से दूसरे स्थान को चले जाते हैं। इस तरह की हरकत को 'स्थान-परिवर्त्तनीय गति' कहते हैं।
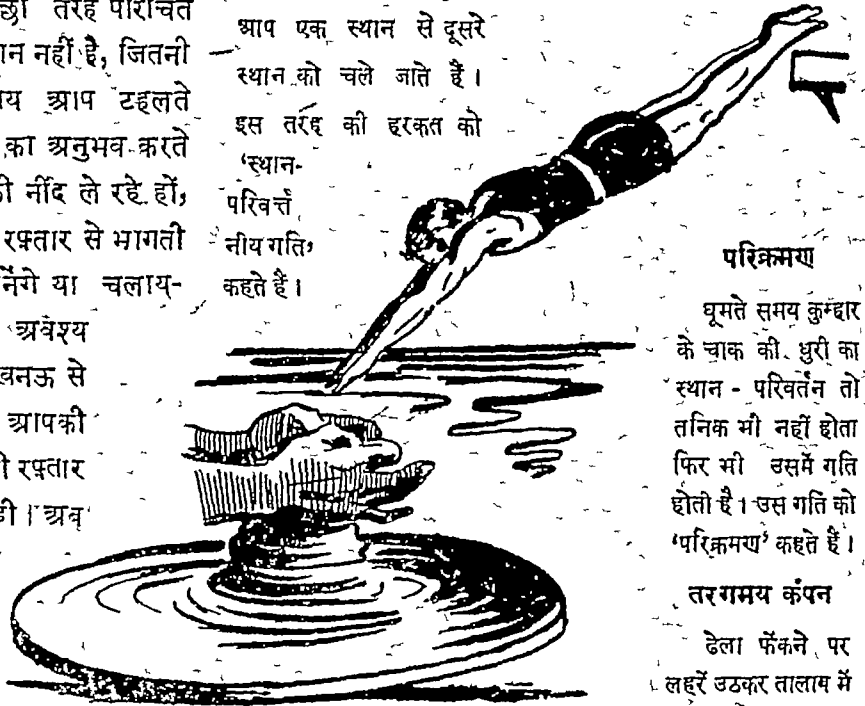
परिक्रमण

घूमते समय कुम्हार के चाक की धुरी का स्थान-परिवर्तन तो तनिक भी नहीं होता फिर भी उसमें गति होती है। उस गति को 'परिक्रमण' कहते हैं।

तरंगमय कंपन

ढेला फेंकने पर लहरें उठकर तालाब में हिलोरें पैदा कर देती हैं। वास्तव में इन लहरों से पानी का स्थान-परिवर्तन नहीं होता, वरन् लहरों का आंदोलन-मात्र आगे बढ़ता है। इस तरह की हरकत को 'तरंगमय कंपन' कहते हैं।

वक्र गति

फुटबाल को पैर से मारने पर वह सीधी रेखा में नहीं वरन् एक वक्र रेखा बनाता हुआ गिरता है। यह 'वक्र गति' का उदाहरण है।
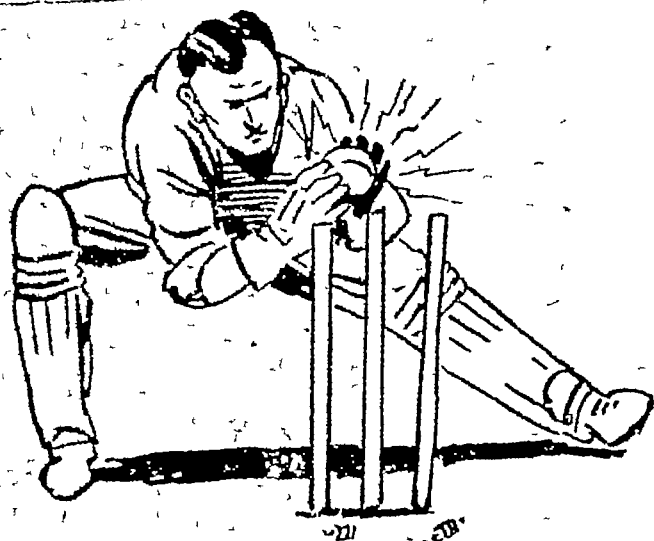
गति से शक्ति की उत्पत्ति

जब क्रिकेट का खिलाड़ी गेंद को मारता है, तो वह न सिर्फ़ गेंद में गति बल्कि एक शक्ति भी पैदा कर देता है, जिसका अनुभव सामने का खिलाड़ी गेंद को हाथ से रोकते समय करता है।

इस शक्ति को 'गतिज या काइनेटिक शक्ति' कहते हैं।

किन्तु रेल की लाइन के किनारे खड़ा हुआ व्यक्ति तो कहेगा कि दोनों ही ट्रेनें ५० मील की रफ़्तार से भागी जा रही हैं। डब्बे के अन्दर बैठे हुए व्यक्ति आपस में एक दूसरे के लिहाज़ से स्थिर हैं, किन्तु ज़मीन पर खड़े हुए लोगों की निगाह में तो वे ५० मील की रफ़्तार से सफ़र कर रहे हैं!

यही नहीं, कमरे में निश्चल बैठे हुए आप कहते हैं कि आप एकदम स्थिर हैं, किन्तु ज्योतिषी आपको बताता है कि ऐसी बात नहीं है। आपका मकान पृथ्वी के साथ सूर्य के चारों ओर १६ मील प्रति सैकण्ड की गति से परिक्रमा कर रहा है। अतः सूर्य के लिहाज़ से तो आप, आपका मकान, बल्कि समूची पृथ्वी चलायमान है।

इस तरह हम देखते हैं कि गतिशीलता तथा स्थिरता आपेक्षिक (relative) शब्द हैं। वस्तुओं की गति का नियमन किसी विशेष पदार्थ के लिहाज़ से करना होता है। बिना किसी विशेष वस्तु का हवाला दिये हुए हम नहीं कह सकते कि अमुक वस्तु स्थिर है या चलायमान। साधारण बोलचाल में चीज़ों के गति नियमन के लिए पृथ्वी का हवाला देते हैं, किन्तु [illegible] को गति निर्धारित करते समय सूर्य के लिहाज़ से हम इसकी गति आँकते हैं।

[illegible] और विस्तार से भी आगे बढ़ने पर हमें इसी आकाश गंगा को स्थिर मानकर अनन्त अन्तरिक्ष के नक्षत्रों

की गति निकालनी होती है। निरपेक्षित भाव से गति आप आँक ही नहीं सकते। इस युग के महान् गणितज्ञ आइन्स्टाइन के सापेक्षवाद का यह एक मूल सिद्धान्त है।

गति-नियमन की इस पेचीदगी के बावजूद भी आप गतिशीलता के अनेक पहलुओं से अच्छी तरह परिचित हैं। जब आप क्रिकेट के बल्ले को घुमाकर (अर्थात् उसमें एक विशेष गति उत्पन्न कर) गेंद को मारते हैं, तो गेंद चलायमान होकर तेज़ी से एक ओर दौड़ती है। उसमें गति तो उत्पन्न होती है, साथ ही एक शक्ति भी। क्रिकेट की इस तेज़ गेंद को जब आप हाथ से रोकते हैं, तो आप

स्थितिज या पोटेंशियल शक्ति

स्थिर अवस्था में भी प्रत्येक वस्तु में एक शक्ति होती है, जो उसे गतिमान होने से रोकती है। पहाड़ के ढाल पर छोटे-से पत्थर के अटकाव से रुके विशाल शिलाखण्ड में यही शक्ति निहित रहती है। यदि अटकाव का रोड़ा अलग कर दिया जाय, तो शिलाखण्ड की स्थितिज शक्ति तुरत गतिज शक्ति में परिणत हो जायगी और वह नीचे लुढ़कने लगेगा।

के हाथ झनझना उठते हैं। इसी तरह गति के कारण सभी वस्तुओं में प्रबल शक्ति का आविर्भाव हो जाता है। गति की बदौलत पैदा हुई इस शक्ति को 'गतिज या 'काइनेटिक शक्ति' (Kinetic Energy) कहते हैं।

गतिशीलता के कारण वस्तुओं में और भी अनेक नये गुणों का समावेश हो जाता है। एक मोटी ज़ंजीर को हाथ में लेकर तेज़ी के साथ घुमाइए तो ज़ंजीर तनकर एकदम कठोर हो जायगी—मानो वह लोहे का डण्डा हो। ज्योंही रफ़्तार कम हुई, वह फिर ढीली पड़ जाती है। पानी को बन्दूक़ में भरकर लोग साँप को मारते हैं। पानी तेज़ रफ़्तार के साथ बन्दूक़ से बाहर निकलता है, अतः इसमें बहुत ही ज्यादा काइनेटिक शक्ति का प्रादुर्भाव हो जाता है। इसी तरह अगर मोमबत्ती को नली में भरकर बन्दूक़ दागी जाय, तो लकड़ी के दरवाज़े को भी यह मोमबत्ती आसानी से भेद सकेगी, और स्वयं नाममात्र को भी न मुड़ेगी! गति के कारण मुलायम चीज़ें भी सख्त हो जाती हैं; पर गति कम होने पर वे चीज़ें फिर मुलायम पड़ जाती हैं।

रेल के इञ्जिन की शक्ति के पीछे भी भाप के अणु परमाणुओं की हरकत ही काम करती है। भाप के अणु तीव्र गति से सिलिण्डर के अन्दर पिस्टन से टकराते हैं। इन अणु-परमाणुओं की गतिज या काइनेटिक शक्ति के धक्के के कारण पिस्टन आगे-पीछे को हरकत करता है।

चीज़ों की हरकत या गति कई प्रकार की होती है। आपके हाथ से क़लम छूटकर सीधे जमीन पर आ गिरती है। कोट को खूँटी से उतारकर आप बक्स में रख देते हैं। दोनों ही दशाओं में चीजों के स्थान बदल दिये गये। हरकत के बाद ये चीज़ें पहले से भिन्न स्थान पर पहुंच गईं। इस तरह की हरकत को स्थान-परिवर्त्तनीय गति' कहते हैं। ऐसी हरकत का मार्ग सीधी रेखा भी हो सकता है और वक्र भी। जब आप ढेला फेंकते हैं, तो यहाँ भी स्थान-परिवर्त्तन होता है, किन्तु ढेला एक वक्र मार्ग का अनुसरण करता है।

जब कुम्हार का चाक घूमता है, तो घूमने में चाक की धुरी का स्थान परिवर्त्तन नहीं होता। इस प्रकार की गति को 'परिक्रमण' कहते हैं। पृथ्वी भी अपनी धुरी पर इसी तरह घूमती हुई सूर्य की परिक्रमा करती है। परिक्रमण में हरकत करनेवाली वस्तु एक ही मार्ग की पुनरावृत्ति करती रहती है। परिक्रमा करते समय चीज़ों के अन्दर एक 'सेन्ट्रीफूगल शक्ति' उत्पन्न हो जाती है। परिक्रमा करने की गति जितनी तेज हुई, उतनी ही प्रबल यह सेन्ट्रीफूगल शक्ति भी होती है। इस शक्ति के कारण वह वस्तु अपनी वृत्ताकार परिधि से बाहर भाग जाना चाहती है। कार्निवाल में चर्खी जब तेज रफ़्तार से घूमने लगती है, तो बैठनेवालों की कुर्सियाँ, घोड़े आदि बाहर की ओर इसी सेन्ट्रीफूगल शक्ति के कारण तन जाते हैं।

एक तीसरे प्रकार की हरकत भी हमें देखने को मिलती है। तालाब में ढेला फेंक दीजिए। जहाँ ढेला गिरेगा, वहाँ से लहरें उठकर सारे तालाब में हिलकोरें पैदा कर देंगी। यदि आप ग़ौर से देखें, तो पायेंगे कि इन लहरों के साथ
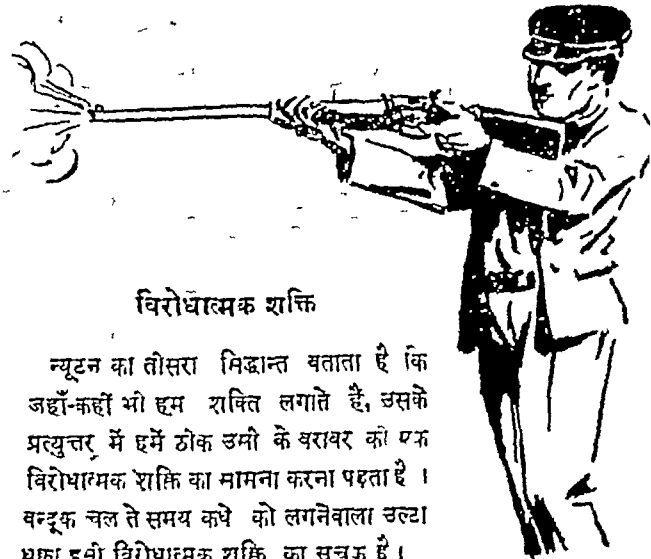
विरोधात्मक शक्ति

न्यूटन का तीसरा सिद्धान्त बताता है कि जहाँ-कहीं भी हम शक्ति लगाते हैं, उसके प्रत्युत्तर में हमें ठीक उसी के बराबर की एक विरोधात्मक शक्ति का सामना करना पड़ता है। बन्दूक चलते समय कंधे को लगनेवाला उल्टा झटका इसी विरोधात्मक शक्ति का सूचक है।

पानी स्वयं एक स्थान से दूसरे स्थान को नहीं जाता—पानी का स्थान-परिवर्त्तन नहीं होता, वरन् लहरों का आन्दोलन ही आगे को बढ़ता है। जिस समय लहरें आगे को बढ़ती हैं, पानी की सतह पर तैरता हुआ तिनका केवल नीचे-ऊपर हरकत करता है, लहरों के साथ वह स्वयं आगे नहीं बढ़ता। इस तरह की हरकत को 'तरंगमय कम्पन' कहते हैं। सितार के तार में भी हम इसी तरह का कम्पन उत्पन्न करके वाद्य संगीत का आनन्द उठाते हैं।

किसी प्रकार की भी हरकत क्यों न हो, उसके पीछे कोई-न-कोई शक्ति अवश्य होगी। हरकत न तो अपने आप उत्पन्न होती है और न अपने आप गायब। मेज़ पर से किताब इसलिए गिरती है कि उसे पृथ्वी अपनी ओर आकर्षित करती है और इस आकर्षण को रोकने के लिए कोई अन्य शक्ति इस पर काम नहीं करती रहती है। आप हाथ में थैला लटकाये हैं, थैला स्थिर है। क्योंकि यद्यपि पृथ्वी उसे नीचे की ओर खींच रही है, आप उसके खिलाफ़ अपनी मांसपेशियों की शक्ति लगा रहे हैं। जिस क्षण आप अपनी शक्ति बढ़ा देते हैं, थैले में हरकत होती है। आप उसे ऊपर को खींच लेते हैं। चीज़ों की गतिशीलता या स्थिरता दोनों ही उस पर काम करने वाली शक्तियों पर निर्भर हैं। अतः जब तक अन्य कोई शक्ति दखल न दे, संसार की हरएक वस्तु जिस दशा में है उसी दशा में पड़ी रहेगी। यदि उसमें हरकत है, तो उसी रफ़्तार से सीधी रेखा में वह चलती रहेगी, या यदि वह स्थिर है, तो जब तक कोई शक्ति उसे हिलाती-डुलाती नहीं, वह उसी स्थान पर निश्चल पड़ी रहेगी। न्यूटन ने इस सिद्धान्त की ओर सर्वप्रथम लोगों का ध्यान आकर्षित कराया था। यह

न्यूटन का गति-सम्बन्धी पहला सिद्धान्त कहलाता है। निस्सन्देह यह नियम बड़े महत्त्व का है। बड़ी-से-बड़ी चीज़ में भी यदि किसी नन्हीं शक्ति से हमने हरकत पैदा कर दी, तो वह चीज़ बगैर अपना रुख बदले उसी रफ़्तार से सीधी रेखा में अनन्त तक चलती रहेगी—यदि किसी अन्य शक्ति ने उसके साथ रोक-टोक या हस्तक्षेप न किया।

न्यूटन ने गति-सम्बन्धी दो और भी सिद्धान्तों का पता लगाया था। इनमें से एक सिद्धान्त कहता है कि जब हम किसी चीज़ में गति पैदा करते हैं, तो वह गति उसी शक्ति के अनुपात में होती है, जिसके कारण यह गति उत्पन्न हुई है। साथ ही इस हरकत का रुख भी वही होता है, जो इस शक्ति का। यदि शक्ति प्रबल हुई, तो उस चीज़ की रफ़्तार भी उतनी ही अधिक तेज़ होगी।

न्यूटन का तीसरा सिद्धान्त बताता है कि जहाँ-कहीं भी हम शक्ति लगाते हैं, उसके प्रत्युत्तर में हमें ठीक उसी के बराबर एक विरोधात्मक शक्ति का सामना करना पड़ता है। इसका रुख पहली शक्ति की ठीक उलटी दिशा में होता है। बन्दूक चलाते समय जिस समय गोली तेज़ी के साथ बाहर को निकलती है, उस समय वह बन्दूक को एक ज़बर्दस्त धक्का भी देती है। बन्दूक के धक्के से कितने ही नौसिखियों के कन्धे की हड्डियाँ टूट चुकी हैं। किश्ती पर से जब आप कूदते हैं, तो किश्ती भी आपके धक्के से पीछे को हट जाती है। कोई भारी फ़र्श पर खड़े होकर लदे हुए ठेले को धक्का देकर ढकेलने की कोशिश कीजिए। आप देखेंगे कि स्वयं आप ही पीछे की ओर खिसक रहे हैं; क्योंकि जब आप ठेले पर ज़ोर लगाते हैं, तो ठेले की ओर से भी प्रत्युत्तर में आपके ऊपर उसी के बराबर शक्ति काम करती है।

गति के सम्बन्ध में हमें तीन बातों

गति वर्द्धनीयता का एक उदाहरण

दौड़ते वक्त हम एकदम ही पूरी तेज़ी से नहीं दौड़ पड़ते, बल्कि धीरे-धीरे गति बढ़ाते-घटाते हैं। स्टेशन के प्लेटफ़ार्म में घुसने पर ड्राइवर का ब्रेक से इंजिन को धीमा करना इसी बात का उदाहरण है। यदि ऐसा न हो तो इंजन गति-शक्ति की उन्नति के कारण गाड़ी फ़ौरन उलट जायगी! (देखिए पृष्ठ ४०० का

का विशेष ध्यान रखना होता है पहले यह कि हरकत कितनी देर तक क़ायम रही; दूसरे इस दर्मियान में उस वस्तु ने कितना फ़ासला तय किया, और तीसरे उस वस्तु की गति क्या थी।

आम बोलचाल की भाषा में गति या रफ्तार से हमारा अभिप्राय यह होता है कि प्रति सैकंड या प्रति घण्टा वह वस्तु कितनी दूरी तय करती है। वह वस्तु किस दिशा में जाती है, इसका विचार गति निर्धारित करते समय हम नहीं किया करते। किन्तु विज्ञान की भाषा में चीज़ों की रफ्तार (velocity) के अतिरिक्त वे किस दिशा में जा रही हैं, इस बात का भी समावेश रहता है। रस्सी में बाँधकर पत्थर के टुकड़े को घुमाइये, तो पत्थर का टुकड़ा एक वृत्ताकार परिधि में एक ही ढंग से चक्कर लगायेगा। पर इसकी गति (velocity) निरन्तर बदलती रहेगी; क्योंकि उसका रुख भी रास्ते में बराबर बदल रहा है।

गति अपरिवर्त्तनशील और परिवर्त्तनशील दोनों ही प्रकार की हो सकती हैं। बैलगाड़ी सारे दिन २ मील प्रति घण्टा की रफ़्तार से सड़क पर चलती रहती है। यात्रा के अन्त तक उसकी गति में किसी प्रकार का अन्तर नहीं आता है। किन्तु रेलगाड़ी स्टेशन से छूटने पर शुरू में बहुत ही धीमी चाल से चलती है, फिर उसकी रफ्तार बढ़ने लगती है, और सिगनल तक पहुँचते-पहुँचते उसकी गति ४०-५० मील प्रति घण्टा हो जाती है। इसके उपरान्त कुछ दूर तक इसी रफ़्तार से वह जाती है। फिर दूसरे स्टेशन के समीप जब वह पहुंचती है, तो ड्राइवर ट्रेन की चाल धीमी कर देता है। यदि इस यात्रा में हम स्टॉप-वॉच (एक विशेष प्रकार की घड़ी) लेकर देखें कि जिस वक्त ट्रेन रवाना हुई, तब से दूसरे स्टेशन तक पहुंचने के वक्त तक हर-एक सैकंड में ट्रेन की क्या रफ़्तार रही, तो कदाचित् हम पायेंगे कि रवाना होने के १२ सैकंड के बाद ट्रेन की रफ़्तार ६ फीट रही, १६ सैकंड के बाद १४ फीट रही, २० सैकड के बाद २२ फीट। स्पष्ट है कि ट्रेन की चाल प्रति ४ सैकड में ८ फीट बढ़ रही थी, अर्थात् प्रति सैकड २ फ़ीट। रफ्तार के इस बढ़ने को हम 'गति-वर्द्धनीयता' कहते हैं। दूसरे शब्दों में गति-वर्द्धनीयता हमें बताती है कि किसी वस्तु की गति प्रति सैकंड कितनी बढ़ती या घटती है। वस्तुओं की गति शनैः-शनैः घट भी सकती है। ट्रेन भी स्टेशन के समीप आते-आते मीलों दूर से ही उतनी रफ़्तार कम करने लगती है। इस दशा में गति-वर्द्धनीयता ऋणात्मक माने रखती है—तु प्रति सैकंड ट्रेन की गति कितनी कम हो रही है।

जब चीज़ें ज़मीन पर ऊँचाई से गिरती हैं, तो पृथ्वी की आकर्षण शक्ति के कारण उस वस्तु में हरकत पैदा होती है। पहले सैकड के अन्त में उस चीज की रफ्तार ३२ फीट प्रति सैकंड होती है। दूसरे सैकंड के अंत में उसकी रफ्तार ६४ फ़ीट और तीसरे सैकंड के अन्त में ९६ फ़ीट प्रति सैकंड। इस तरह पृथ्वी के आकर्षण के कारण उत्पन्न हुई 'गति वर्द्धनीयता' ३२ फ़ीट प्रति सैकंड है। अर्थात् प्रति सैकंड उस वस्तु की गति ३२ फ़ीट प्रति सैकंड के हिसाब से बढ़ती है। इस तरह जब हम किसी चीज़ को आसमान में लम्बवत् ऊपर को फेंकते हैं, तो पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति उसे ऊपर जाने से रोकती है। 'गति-वर्द्धनीयता' इस हालत में ऋणात्मक है। फलस्वरूप वह वस्तु ज्यों-ज्यों ऊपर चढ़ती है, उसकी रफ्तार कम होती जाती है। यहाँ तक कि कुछ ऊँचाई पर पहुँचने पर उसकी गति एकदम शून्य हो जाती है। इसके उपरान्त वह वस्तु नीचे की ओर गिरने लगती है। पहले सैकंड के अन्त में ३२ फीट, दूसरे सैकंड के अन्त में ६४ फीट—इस तरह प्रति सैकड इसकी रफ्तार ३२ फीट प्रति सैकंड के हिसाब से बढ़ती है।

पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति सभी वस्तुओं के लिए समान नहीं है। पदार्थ की मात्रा के अनुसार यह शक्ति भी घटती-बढ़ती रहती है। न्यूटन का गति-सम्बन्धी द्वितीय सिद्धान्त हमें बताता है कि एक-सी हरकत पैदा करने के लिए भारी वस्तुओं में हलकी वस्तुओं की अपेक्षा अधिक शक्ति लगानी पड़ती है। पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति मानो इस सिद्धान्त से भली-भाँति परिचित है। अत. हरएक वस्तु के लिए फौरन् ही वह अपनी आकर्षण-शक्ति इस तरह सम-तुलित कर लेती है कि इस आकर्षण-शक्ति के फलस्वरूप जब उस वस्तु में हरकत पैदा हो, तो उसकी गति-वर्द्धनीयता हर सैकड में ३२ फ़ीट प्रति सैकंड ही हो। मानो पृथ्वी के अन्दर एक दानव छिपा हो, जो भिन्न-भिन्न वस्तुओं के लिए भिन्न मात्रा में आकर्षण-शक्ति का प्रयोग करता है और सो भी इस अन्दाज़ से कि जब ये वस्तुएँ अपने आप पृथ्वी पर गिरें, तो उन सबकी गति-वर्द्धनीयता एक-सी हो।

आपको यह सुनकर आश्चर्य होगा कि १६वीं शताब्दी तक लोग इस महान् सत्य से एकदम अपरिचित थे। अरस्तू तथा अन्य दार्शनिकों का विचार था कि समान ऊँचाई पर से गिराने पर हलकी चीज़ों में भारी चीज़ों की अपेक्षा कम हरकत पैदा होती है, अतः हलकी चीजें वज़नी चीज़ों की अपेक्षा देर में पृथ्वी पर पहुँच पाती हैं। उनका

यों समझना भी कुछ ऐसा था, जिसका समर्थन हमारे नित्य के अनुभव द्वारा होता जान पड़ता है। छत से गिराने पर काग़ज़ का टुकड़ा ज़मीन पर देर में पहुँचता है, किन्तु पत्थर का ढेला जल्दी। फिर इन प्राचीन दार्शनिकों की आलोचना करने का साहस उन दिनों किसे हो सकता था!

१७वीं शताब्दी के आरम्भ में इटली के तत्कालीन प्रमुख वैज्ञानिक गैलीलियो ने 'पीज़ा' के टेढ़े बुर्ज पर खड़े होकर इस नियम की जाँच की। उसने एक ही आकार की भिन्न-भिन्न गेंदें बनवाईं, कुछ भीतर से खोखली थीं और कुछ एकदम ठोस। अतः उनके वज़न में काफ़ी अन्तर था। उसने उन गेंदों को जब बुर्ज पर से गिराया, तो वे सब-की-सब साथ ही ज़मीन पर पहुँचीं। इस प्रकार गैलीलियो ने पहली बार एक ऐसे ग़लत सिद्धान्त से लोगों को छुटकारा दिलाया, जिसने हज़ारों वर्ष से लोगों को अत्यंत भ्रम में डाल रखा था।

इस सिलसिले में आप भी एक मनोरंजक प्रयोग कर सकते हैं। एक लम्बा-सा ट्यूब लीजिए और पम्प की सहायता से उसके भीतर की हवा निकाल डालिए—अब ट्यूब के भीतर वैकुअम या वायु-शून्यता पैदा हो जायगी। इस ट्यूब के अन्दर डैने का पंख और लोहे का टुकड़ा दोनों एक ही रफ़्तार से नीचे गिरेंगे। आपकी छत पर से जब एक पत्थर का टुकड़ा और उसके साथ ही साथ एक काग़ज़ का टुकड़ा नीचे को गिरता है, तो काग़ज़ की गति में वास्तव में हवा के कारण रुकावट पैदा होती है, अन्यथा यह भी पत्थर के टुकड़े की ही गति से नीचे पहुँचता।

पीज़ा की टेढ़ी मीनार पर से गैलीलियो का गति-संबंधी प्रयोग
एक ही आकार की भिन्न-भिन्न वज़न की गेंदें बुर्ज पर से गिराने पर एक साथ धरा को पहुँच गई हैं। (बाएँ और नीचे के चित्र में) गैलीलियो।

गति-संबंधी नियमों का महत्त्व हमारे लिए केवल इसीलिए नहीं है कि उनसे हमारी ज्ञान-वृद्धि होती है, बल्कि हमारे दैनिक जीवन में उनका अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान है। साधारण-से-साधारण क्रियाओं में भी हम इन नियमों का अनुसरण करते हैं। न्यूटन द्वारा इन नियमों के प्रतिपादन के बाद यंत्रों के निर्माण में उनका उपयोग करके वैज्ञानिकों ने उनसे चमत्कारिक लाभ उठाया है। गति और उससे उत्पन्न होनेवाली शक्ति से नाना विविध प्रकार के यंत्रों को चला लिये हैं। इस में विशेष स
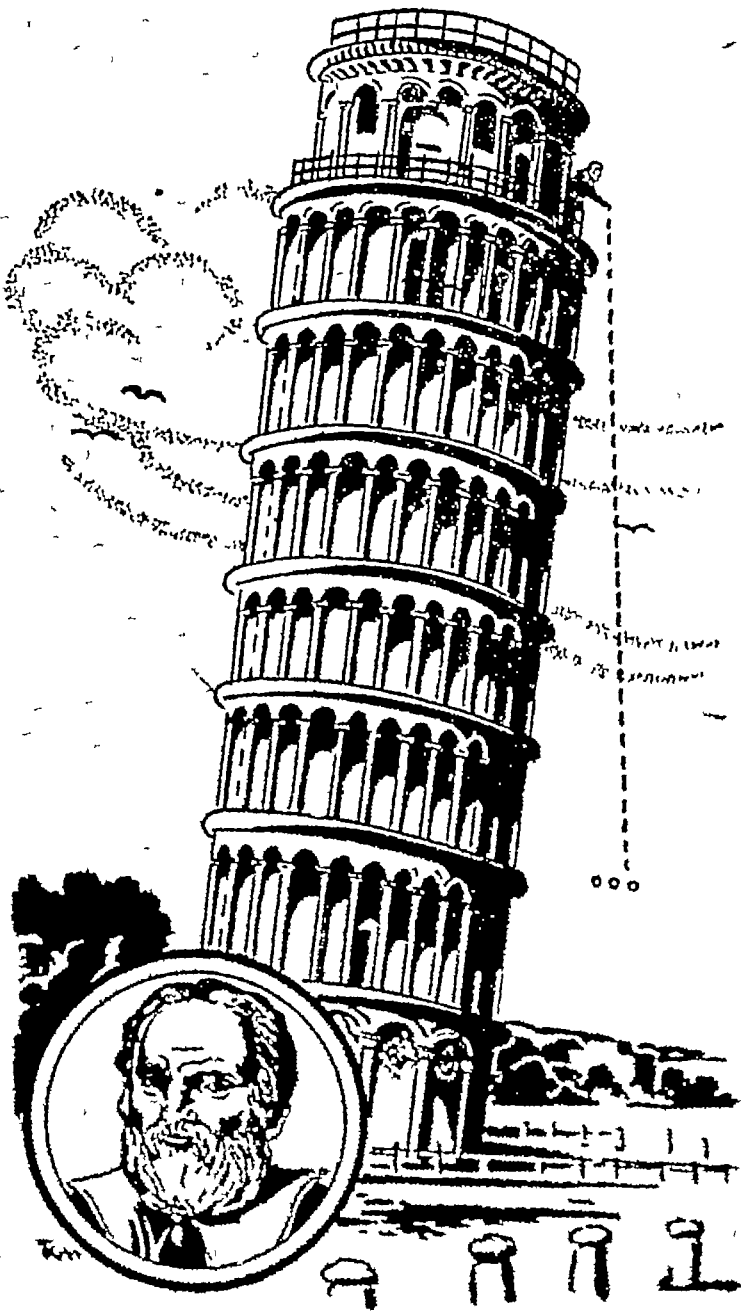
आगे के अध्यायों में बतायेंगे। यहाँ गति और शक्ति सबधी कुछ और महत्त्वपूर्ण बातों का वर्णन कर इस लेख को समाप्त करते हैं।

जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं, जब क्रिकेट का खिलाडी बल्ले से गेंद को मारता है और उसकी इस हरकत से गेंद दौड़ती हुई मैदान को पार करने लगती है, तब वास्तव में वह गेंद में गति उत्पन्न करने के लिए एक शक्ति का प्रयोग करता है। यह शक्ति क्या है, वैज्ञानिकों ने इसकी तरह-तरह की परिभाषाएँ दी हैं। हमारे विचार में इसका परिचय सबसे सरल रूप में यों कहकर दिया जा सकता है कि शक्ति पदार्थ या द्रव्य को गति देने की एक प्रवृत्ति है। यह शक्ति द्रव्य में न सिर्फ गति की अवस्था ही में बल्कि स्थिर अवस्था में भी मौजूद रहती है। शक्ति के इन दो रूपों का 'स्थितिज' और 'गतिज' शक्ति के नाम से हम ऊपर परिचय करा चुके हैं। यहाँ यह बतला देना आवश्यक है कि सृष्टि में अनेक प्रकार की शक्तियाँ हैं और भिन्न-भिन्न रूप में वे अपने आपको अभिव्यक्त करती रहती हैं; किन्तु एक गुण उन सबमें पाया जाता है; वह यह कि द्रव्य में किसी-न-किसी प्रकार की गति उत्पन्न करने की उन सबमें प्रवृत्ति होती है। गुरुत्वाकर्षण शक्ति, चुँबक शक्ति, विद्युत् शक्ति आदि सभी शक्तियों में यह विशेषता हम पाते हैं।

अब प्रश्न यह है कि इस तरह की शक्ति का नाप क्या है? अवश्य ही यदि उसका कोई नाप लिया जा सकता है, तो वह उस शक्ति द्वारा किसी नियत समय में उत्पन्न की हुई गति ही पर निर्भर होगा। इसके लिए हमें गतियुक्त पदार्थ के द्रव्यमान या जाड्य (mass) और उसकी रफ़्तार या वेग (velocity) इन दो बातों का नाप लेना होगा। इन दोनों के गुणा करने से उक्त पदार्थ में लग रही शक्ति का परिमाण हम जान सकते हैं। नियत समय में उत्पन्न गति की मात्रा को वैज्ञानिक भाषा में गति-शक्ति या 'मुमेण्टम' (momentum) कहते हैं। यह गति-शक्ति पदार्थों की गति के वेग और द्रव्यमान के अनुपात में कम-ज़्यादा होती है। उदाहरण के लिए ४० मील प्रति घंटे के वेग से चलनेवाली एक ऐसी रेलगाड़ी की गति-शक्ति, जिसमे ४० डब्बे हों और २ इंजिन जुते हों, उस रेलगाड़ी से दुगनी होगी, जो उसी वेग से चलती हो, परतु जिसमें केवल २० डब्बे हों और एक ही इंजिन जुता हो। इसी तरह एक व्यक्ति की शक्ति नाव को घुमा सकती है, पर जहाज़ को टस से मस नहीं कर सकती; यद्यपि दोनों दशाओं मे गति-शक्ति समान ही होगी।

इस "मुमेण्टम" की शक्ति अगाध हो सकती है। घाट पर पानी में पैर लटकाये यदि हम बैठे हों और एक मामूली तख्ता साधारण वेग से तैरता हुआ हमारे पैर से आकर टकराए, तो हमें कोई विशेष आघात नहीं पहुँचेगा, किन्तु यदि उसी गति से तैरता हुआ एक बडा बजड़ा हमारे पैरों से आकर टकराए तो हमारी हड्डियाँ चकनाचूर हो जायँगी। बिल्कुल धीमी चाल से तैरते हुए दो बर्फ के पहाड़ (Icebergs) टकराने पर किसी भी बड़े-से-बड़े जहाज़ को उसी तरह चकनाचूर कर सकते हैं, जैसे कि हम अपनी चुटकी से मूँगफली के छिलके को तोड़ दें। इसी तरह जब तीव्र गति से दौड़ती हुई दो रेलगाड़ियाँ टकराकर चूर चूर हो जाती हैं, तब भी उनके विनाश का कारण उनकी गति-शक्ति ही होती है। यदि १०० टन वज़न के दो रेल के इंजिन ६० मील प्रति घंटे की रफ़्तार से दौड़ते हुए इस तरह टकराएँ कि एक सैकंड के शतांश भाग में ही उन दोनों की गति रुक जाय तो उनकी टक्कर की गतिशक्ति ५२,८०० टन के लगभग होगी।

न सिर्फ़ जहाज, रेल आदि भारी चीज़ों बल्कि बहुत सूक्ष्म वस्तुओं में भी अति तीव्र वेग से गति करने पर प्रचण्ड गति-शक्ति उत्पन्न की जा सकती है। तूफान के समय आँधी की प्रचण्ड शक्ति इसका एक अच्छा उदाहरण है। प्रचण्ड वेग के कारण वायु के सूक्ष्म परमाणुओं में इतनी अधिक शक्ति पैदा हो जाती है कि वह बड़े बड़े पुलों तक को उखाड़ फेंक सकती है। भाप या अन्य किसी गैस के बल से चलनेवाले इंजिन में भी हम इसी तथ्य की पुनरावृत्ति देखते हैं। दवाब के कारण भाप या गैस के अत्यंत सूक्ष्म अणु-परमाणुओं में इतनी अधिक गति-शक्ति का उत्पादन हो जाता है कि वह सिलिंडर के भारी पिस्टन को धकेलकर बाहर निकाल देती है, जिससे बड़े बड़े जहाज़ या कलें चलने लगती हैं।

गति-शक्ति पर विचार करते समय इस बात को ध्यान में रखना ज़रूरी है कि यदि किसी भी पदार्थ की गति का वेग बदलता है, तो उसकी गति-शक्ति भी साथ ही-साथ उसी अनुपात में घटती बढ़ती है। हाँ, उस पदार्थ का द्रव्यमान (mass) निस्सदेह ज्यों-का-त्यों ही बना रहता है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं लगाना चाहिए कि द्रव्यमान से गति-शक्ति का कोई वास्ता नहीं है। वास्तव में, किसी भी गतिशील पदार्थ की गति शक्ति उसके द्रव्यमान पर उतनी ही निर्भर है, जितनी कि उसके गतिवेग पर।

जीवनप्रदायिनी ऑक्सिजन गैस

सृष्टि के बानवे मूल तत्त्वों में ऑक्सिजन तत्त्व न केवल सबसे अधिक व्यापक बल्कि सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण भी है – यह इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि वनस्पति और प्राणी सभी का जीवन मुख्यतः इसी पर निर्भर है। वास्तव में यदि हम इसे 'प्रकृति की प्राणवायु' कहकर अभिहित करें तो कोई अतिशयोक्ति न होगी।

रासायनिक दृष्टि से हमारा और अन्य सभी प्राणियों का जीवन ऑक्सीकरण की एक अविरत क्रिया है। आप अपने मुँह और नाक को बंद कर लीजिए—कुछ ही सेकंडों अथवा एक ही आध मिनट में आप मृत्यु की-सी यातना से घबड़ा उठेंगे। ऐसा क्यों होता है? इसीलिए कि आप हवा में मिश्रित जीवनप्रदायिनी ऑक्सिजन गैस से वंचित कर दिये गये। हवा में मुख्यतः दो गैसें, नाइट्रोजन और ऑक्सिजन, मिश्रित रहती हैं; वैसे तो कार्बन डाइऑक्साइड, जलवाष्प, हीलियम आदि विरल गैसें, हाइड्रोजन, धूलिकण आदि कई अन्य पदार्थ भी कुछ-न-कुछ परिमाण में मिश्रित रहते हैं। हवा में चार आयतनिक भाग नाइट्रोजन गैस के रहते हैं, तो एक आयतनिक भाग ऑक्सिजन गैस का। केवल हवा में ही नहीं, संसार में बहुत कम ऐसे प्राकृतिक पदार्थ हैं, जिनमें संयुक्त या असंयुक्त रूप में ऑक्सिजन तत्त्व न रहता हो। पानी के भार के नौ भागों में आठ भाग ऑक्सिजन के होते हैं।

लवोयज़िए (१७४३-१७९४)

इसके अतिरिक्त सारे प्राणियों तथा पेड़-पौधों के कलेवर में, और मिट्टी, पत्थर, बालू आदि भू-पदार्थों में ऑक्सिजन गैस बहुत बड़े परिमाण में रहती है। संसार के बानवे मूलतत्त्वों में सबसे अधिक व्यापक मूलतत्त्व ऑक्सिजन गैस ही है।

इतना व्यापक होते हुए भी मनुष्य ने इस मूलतत्त्व को सन् १७७४ ई० तक न पहचाना। इस समय के पहले मानव जाति में विचित्र धारणाएँ प्रचलित थीं। स्वयं वैज्ञानिक तक हवा के अवयवों तथा उनके गुणों से नितान्त अनभिज्ञ थे। आज हम जानते हैं कि जब विभिन्न मूलतत्त्व हवा में जलते हैं, तो ऑक्सिजन से संयुक्त होकर अपनी अपनी ऑक्साइडें बनाते हैं, किंतु उन दिनों जलने की क्रिया को कोई समझता ही न था। पाश्चात्य वैज्ञानिकों का तो यह विचार था कि जलने पर वस्तुओं से लौ के रूप में एक वस्तु निकलने लगती है, और इस वस्तु का नाम इन लोगों ने 'फ्लोजिस्टन' (या जलने-वाला पदार्थ) रखा। उन का यह विश्वास था कि फ्लोजिस्टन भी [illegible]

प्रीस्टली (१७३३-१८०४)
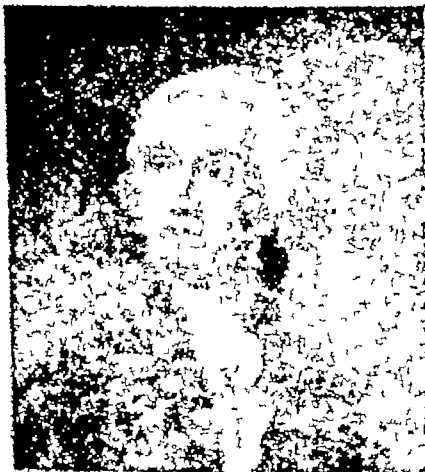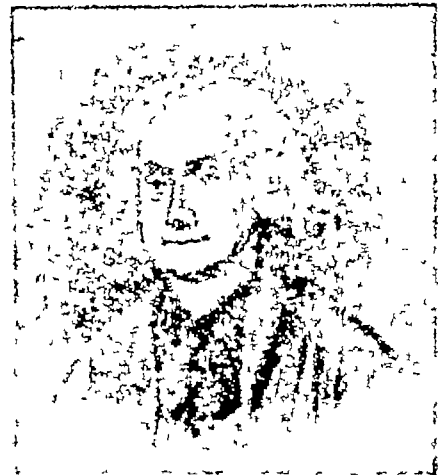
से इसलिए कम हो जाता है कि उनका फ्लोजिस्टन निकल जाता है । परंतु बाद में जब यह देखा गया कि सीसा सरीखी धातुएँ गर्म करने पर भार में बढ़ जाती हैं, तो फ्लोजिस्टनवादी रसायनशास्त्रियों ने इस का अर्थ यों समझाया कि ऐसी धातुओं में रहनेवाले फ्लोजिस्टन का भार ऋण (negative) होता है; अतः धातु में से ऋण फ्लोजिस्टन घटाने से बीज-गणित के सिद्धांत के अनुसार धन फ्लोजिस्टन हो जाता है, [यथा, धातु— (− फ्लोजिस्टन) = धातु + फ्लोजिस्टन = धातु की भस्म] ; अतएव भार बढ़ेगा ही !

आधुनिक विज्ञान के दृष्टिबिन्दु से यह धारणा कितनी उपहासास्पद है ; किन्तु उस समय मनुष्य के मस्तिष्क में यह कितनी गभीरतापूर्वक जड़ जमाये हुई थी ।

लवॉसियर और प्रीस्टली के ऑक्सिजन-संबंधी प्रारंभिक प्रयोग

(दाहिनी ओर) पारदिक ऑक्साइड को आतिशी शीशे द्वारा गर्म करके प्रीस्टली ने पहले पहल आक्सिजन तैयार की, लेकिन इस क्रिया को वह स्वय समझ न सका । (बाईं ओर) लवॉसियर एक अँगीठी में कई दिन तक पारा गर्म करता रहा । उसने यह दिखा दिया कि वह हवा के पाँचवें भाग (क्रियाशील हवा) से संयुक्त होकर भस्म में परिणत हो जाता है । प्रयोग के अंत में औंधे बरतन में हवा का आयतन पहले आयतन का ⅘ रह गया । लवॉसियर ने देखा कि बची हुई हवा में जलती हुई वस्तु डालने से वह तुरत बुझ जाती है और चूहा उसमें मर जाता है ।
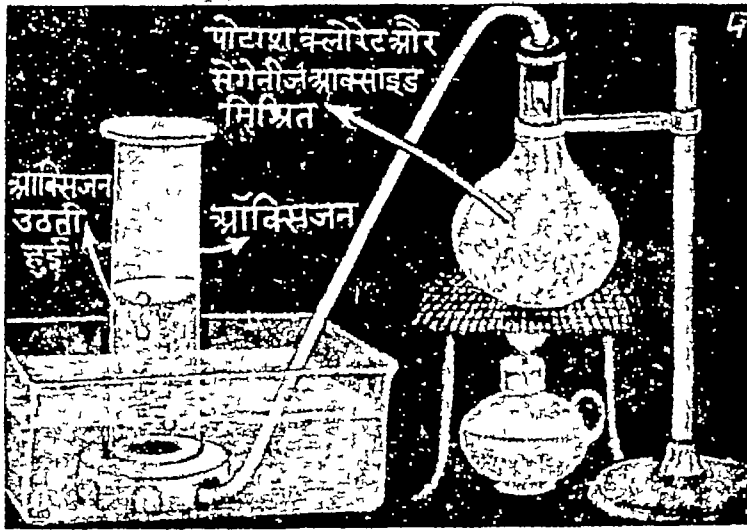
पोटैशियम क्लोरेट से ऑक्सिजन-उत्पादन [दे० पृ०.४०५]

सन् १७७४ में फ्रेंच रासायनिक लवॉसियर ने उस कार्य का आरंभ किया, जिससे सैकड़ों वर्षों से अड्डा जमाये हुए 'फ्लोजिस्टन' के भूत का भंडाफोड़ संभव हो सका । लवॉसियर ने जल या पारद से भरे हुए एक नाँद में रखे हुए एक शीशे के बरतन के भीतर थोड़ा-सा सीसा और फिर एक दूसरे प्रयोग में राँगा रक्खा, और इन धातुओं को एक ३३ इंच व्यास के आतिशी शीशे से गर्म किया । इन प्रयोगों में उसने देखा कि हवा का कुछ भाग या तो नष्ट हो जाता है, अथवा धातु उसे 'सोख' लेती है । इस शंका का समाधान करने के लिए उसने राँगा (टीन) को गर्म करके पहले भस्म में परिणत किया और फिर इस भस्म को गर्म करके हवा के उस शोषित भाग को निकालने का प्रयत्न किया, लेकिन सफल न हो सका । इसी वर्ष प्रीस्टली नामक अंग्रेज़ रासायनिक ने यह देखा कि पारे को गर्म करने से जो लाल भस्म बनती है, यदि उसे आतिशी शीशे द्वारा एक बंद बरतन में गर्म किया जाय, तो एक ऐसी 'हवा' निकलती है, जिसमें वस्तुएँ बड़ी शीघ्रता से जल उठती हैं । लेकिन प्रीस्टली अभी फ्लोजिस्टन के भूत से स्वतंत्र नहीं हुआ था । वह समझा कि इस क्रिया में भस्म हवा की फ्लोजिस्टन से मिलकर फिर धातु में परिवर्तित हो गई है । उसने इसीलिए पारे की भस्म से निकली हुई 'हवा' का नाम 'फ्लोजिस्टनरहित हवा' (dephlogisticated air) रक्खा । इसी वर्ष प्रीस्टली ने पेरिस

और मैङ्गनीज़ द्विआक्साइड के इस मिश्रण को 'ऑक्सिजन-मिश्रण' कहते हैं। कभी-कभी मैङ्गनीज़ द्विआक्साइड में कुछ अंश कार्बन का मिलवाँ रहता है, जिससे कार्बन के एकाएक जल उठने के कारण ऑक्सिजन-मिश्रण के विस्फुटित हो जाने का भय रहता है। इसलिए प्रयोग के पहले थोड़े से ऑक्सिजन-मिश्रण को परीक्षा-नली में गर्म करके परख लेना चाहिए। गैस तैयार करने के लिए थोड़ा-सा ऑक्सिजन मिश्रण कड़े शीशे की एक मज़बूत फ्लास्क में गर्म किया जाता है और ऑक्सिजन गैस को जारों में पानी नीचे हटाकर इकट्ठा कर लिया जाता है। गैस के बन चुकने पर पहिले निकास नली पानी से हटा ली जाती है, फिर ऑक्सिजन-मिश्रण को गर्म करना बंद किया जाता है, नहीं तो फ्लास्क की हवा के सिकुड़ने के कारण पानी के चढ़ जाने और फलतः विस्फोटन होने का भय रहता है। इस प्रकार, भरे हुए गैस-जारों में जब दीप-चमचियों द्वारा जलती हुई मोमबत्ती अथवा जलते हुए कोयले, गंधक, फ़ास्फोरस, मैग्नेशियम रिबन आदि के टुकड़े प्रविष्ट किये जाते हैं, तो ये वस्तुएँ और भी तेज़ी और उजाले के साथ जलने लगती हैं। (देखिए पृष्ठ ४०५ का चित्र)

ऑक्सिजन गैस पानी के वैद्युत्-विश्लेषण द्वारा भी बनाई जाती सकती है, लेकिन उसको अधिक परिमाण में तैयार करने के लिए सबसे सरल और सस्ती रीति यह है कि हवा को द्रवीभूत करके ऑक्सिजन उससे पृथक् कर ली जाय। हवा पर वायुमंडल के दवाव से लगभग २०० गुना दवाव डालकर वह एक सर्पिल नली से होकर ले जाई जाती है और फिर एक छोटे छिद्र द्वारा एक कोष्ठ में निकाल दी जाती है। ऐसा करने से उसका दवाव एकाएक घटता है और वह ठंढी हो जाती है। यह ठंढी हवा एक ऐसे चौड़े नल द्वारा ऊपर चढ़ती है, जिसके अंदर-ही-अंदर पहलेवाली पतली नली आती है और इस प्रकार पतली नली से आती हुई दवी हवा और भी ठंढी हो जाती ... होते रहने से हवा अधिकाधिक ठंढी होती रहती है, यहाँ तक कि वह द्रवीभूत होकर कोष्ठ में इकट्ठा होने लगती है। इस तरल वायु का ताप क्रम एक विशेष रीति द्वारा सावधानी से बढ़ाया जाता है, जिससे नाइट्रोजन गैस पृथक् हो जाती है और ऑक्सिजन द्रव रूप में रह जाती है। कारण, तरल नाइट्रोजन का क्वथनांक -१९४°C है और तरल ऑक्सिजन का -१८२°C; अतएव नाइट्रोजन नीचे तापक्रम पर उबलकर गैस में बदल जाती है और ऑक्सिजन द्रवरूप में शेष रह जाती है।

वायु के द्रवीकरण द्वारा ऑक्सिजन तैयार करने का यंत्र

अ—पतली सर्पिल नली का मुंह जिसमें दवी हवा प्रवेश कराई जाती है। यह नली चौड़ी नली ब के भीतर-ही-भीतर नीचे तक जाती है।
ब—बाहर की चौड़ी नली का मुंह जिसमें से होकर ठंढी हवा निकलती है।

ऑक्सिजन एक अदृश्य, गंधहीन, स्वादहीन गैस है। यह कुछ हद तक पानी में घुलती है। यदि पानी में ऑक्सिजन न घुले, तो अधिकतर जलचरों का जीवन ही असंभव हो जाय। ऑक्सिजन का अणुसूत्र O_2 है, अर्थात् साधारणतया आक्सिजन का अस्तित्व ऐसे कणों या अणुओं में होता है, जिनमें प्रत्येक में ऑक्सिजन के दो दो परमाणु संयुक्त रहते हैं।

हवा में ऑक्सिजन के साथ नाइट्रोजन का मिला रहना परमावश्यक है। यह नाइट्रोजन बड़ा ही महत्त्वपूर्ण कार्य करती है। यदि यह नाइट्रोजन हटा ली जाय और केवल ऑक्सिजन ही रह जाय, तो ज़रा-सी आँच दिखाते ही अधिकतर वस्तुएँ बड़े ज़ोर से जल उठें, यहाँ तक कि धातुएँ भी जलकर भस्म हो जायँ। यदि हवा में केवल ऑक्सिजन ही होती तो अँगीठी में केवल कोयला ही न जलता, वरन् स्वयं अँगीठी भी जलकर शीघ्र भस्म हो जाती। इस प्रकार सारे संसार में आग लगकर केवल उसका भस्मावशेष ही रह जाता। नाइट्रोजन अपने में दूसरी वस्तुओं को नहीं जलने देती और ऑक्सिजन को भी अत्याचार करने से रोकती रहती है। शुद्ध ऑक्सिजन हमारे फेफड़ों के लिए भी अति तीव्र प्रमाणित होती है। केवल ऑक्सिजन में ही हम देर तक साँस नहीं ले सकते हैं।

कुछ को छोड़कर संसार के सारे मूलतत्त्व ऑक्सिजन से संयुक्त होकर ऐसे यौगिकों में परिणत हो जाते हैं, जिन्हें हम ऑक्साइड कहते हैं। लकड़ी, रुई, तेल, मोम आदि

अप्रज्वलनशील वस्तुएँ

पत्थर, मिट्टी, ईंट, बालू आदि ये वस्तुएँ इसीलिए नहीं जल सकतीं कि ये दूसरी वस्तुओं के जलने से ही बनी हैं और इनमें जितनी ऑक्सिजन संयुक्त हो सकती थी संयुक्त हो चुकी है।

बहुत-से यौगिक भी ऑक्सिजन या हवा में जलते हैं। यह यौगिक प्रायः इसीलिए जलते हैं कि उनमें प्रज्वलनशील कार्बन और हाइड्रोजन की उपस्थिति रहती है। बहुत-से पदार्थ इसीलिए नहीं जलते कि वे दूसरी वस्तुओं के जलने से ही बने हैं और उनमें जितनी ऑक्सिजन संयुक्त हो सकती थी संयुक्त हो चुकी है। मिट्टी, बालू, ईंट, पत्थर आदि वस्तुएँ ऐसे पदार्थों के उदाहरण हैं। बहुधा वस्तुएँ तीव्र गति से जलती हैं और उनके जलने में ताप और ज्वाला दोनों की ही उत्पत्ति होती है। जलने की ऐसी क्रियाओं को 'तीव्रदहन' कहते हैं। लेकिन ऑक्सिजन से संयुक्त होने की अर्थात् ऑक्सीकरण की कुछ क्रियाएँ मंद गति से हुआ करती हैं और उनमें गर्मी के धीरे-धीरे निकलने के कारण ज्वालशिखा का उद्भवन नहीं होता। ऐसी क्रियाओं को 'मंददहन' कहते हैं। धातुओं में मोर्चा लगना मंददहन का एक उदाहरण है। यहाँ पर यह कह देना आवश्यक है कि यह दहन केवल ऑक्सिजन में ही नहीं, अन्य गैसों में भी हो सकता है; यथा मोमबत्ती, हाइड्रोजन आदि दहनशील पदार्थ क्लोरीन गैस में भी जलते हैं।

प्राणियों के जीवन का रहस्य भी ऑक्सीकरण संबंधी दहन में छिपा हुआ है। हमारे फेफड़ों में किस प्रकार ऑक्सीकरण होता है और हमें गर्मी और शक्ति किस प्रकार मिलती है, इसकी चर्चा हम अपने पहले ही लेख में कर चुके हैं। ताज़ी हवा हमारे लिए इसीलिए लाभदायक है कि इसमें ऑक्सिजन अधिक परिमाण में रहती है; हमारे कमरों में एक से अधिक दरवाजे अथवा खिड़कियाँ इसीलिए होना चाहिये कि ऑक्सिजन की कमी की पूर्ति होती रहे; हमें नाक के ऊपर से ओढ़कर इसीलिए नहीं सोना चाहिए कि इससे हमें पर्याप्त ऑक्सिजन उपलब्ध नहीं होती। अत्यधिक भीड़ में इसीलिए घबराहट होने
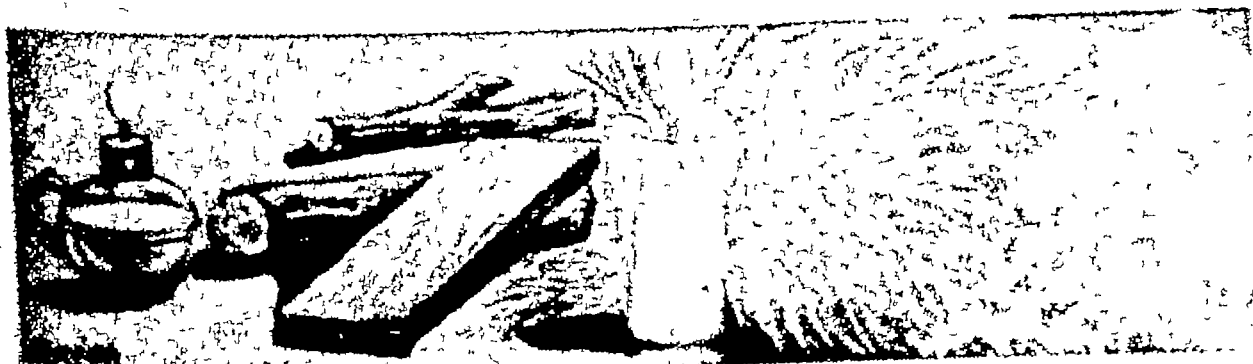
प्रज्वलनशील वस्तुएँ

तेल, लकड़ी, मोमबत्ती, घास, रुई आदि ये वस्तुएँ हवा में इसीलिए जल सकती हैं कि ये ऑक्सिजन से संयुक्त हो सकती हैं।

यदि हवा में केवल ऑक्सिजन होती तो क्या होता ?
हवा में मुख्यतः चार आयतनिक भाग नाइट्रोजन गैस के रहते हैं, तो एक आयतनिक भाग ऑक्सिजन गैस का। हवा में नाइट्रोजन का इस तरह मिला होना अत्यन्त आवश्यक है। यदि यह नाइट्रोजन हटा ली जाय और केवल ऑक्सिजन हवा में शेष रह जाय, तो ज़रा-सी आँच लगते ही अधिकतर वस्तुएं जलकर भस्म हो जायँगी। यदि हवा में ऑक्सिजन के साथ अधिकाश भाग नाइट्रोजन का न होना तो, जैसा कि ऊपर के चित्र में दिखाया गया है, न केवल अँगीठी में कोयला ही जलता, वरन् स्वयं अँगीठी भी जलकर भस्म हो जाती। इस तरह हम देखते हैं कि नाइट्रोजन ऑक्सिजन को अत्याचार करने से रोकती है।

लगते हैं कि वहाँ की हवा में ऑक्सिजन की कमी हो जाती है। बहुधा लोग जाड़े के दिनों में कमरे के अंदर जलती हुई अँगीठी रख देते हैं और कमरे को बिलकुल बंद करके सो जाते हैं। ऐसा करना तो आत्मघात करने का ही एक उपाय है। कारण, कोयले के जलने से कमरे की ऑक्सिजन गैस कार्बन द्विआक्साइड और कार्बन मोनॉक्साइड गैसों में परिणत हो जाती है। कार्बन मोनॉक्साइड ऐसी विषाक्त गैस है कि वह एक ओर तो प्राणी को निद्रित कर देती है और दूसरी ओर मृत्यु के मुँह में ढकेल देती है, फल यह होता है कि प्राणी न तो जग ही सकता है और न भाग ही सकता है। बहुधा पुराने पड़े हुए कुओं में पैठने से मनुष्य मरते देखे गये हैं। यह इसीलिए होता है कि मंद ऑक्सीकरण द्वारा कुओं में ऑक्सिजन समाप्त हो जाती है और विषाक्त अथवा दूषित गैसें उसमें रह जाती हैं, जो कुएँ के अंदर हवा के प्रवाह के न होने के कारण निकल भी नहीं पातीं। अतः ऐसे कुएँ में घुसने के पहले उसमें एक जलती हुई लालटेन लटकाना चाहिए, और यदि वह अंदर जाकर बुझ जाय, तो उसमें कदापि न पैठना चाहिए।

आजकल ऑक्सिजन गैस ऐसे व्यक्तियों को सुँघाने के काम में लाई जाती है, जिनका दम घुट गया हो। वायुमंडल के ऊपरी स्तरों में हवा बहुत पतली होती है, इसलिए पर्वत शिखरों पर चढ़नेवाले तथा उड़ाकू लोग अपने साथ ऑक्सिजन के थैले ले जाते हैं। समुद्र के पनडुब्बे भी पानी के अंदर साँस लेने के लिए ऑक्सिजन गैस का उपयोग करते हैं।

ऑक्सिजन का उपयोग

ऑक्सिजन हमारे जीवन के लिए एक आवश्यक तत्त्व है। आप अपने मुँह और नाक को बंद कर लीजिये—कुछ ही सैकंडों में आप घबड़ा उठेंगे। क्यों? इसीलिए कि आप हवा में मिली हुई ऑक्सिजन से वंचित कर दिये गये। जीवन के लिए ऑक्सिजन की इस उपयोगिता के ही कारण आज दिन हमारे दैनिक जीवन में ऑक्सिजन का अनेक प्रकार से उपयोग किया जाने लगा है। जहाँ भी साँस लेने के लिए हवा की कमी रहती है, वहाँ अब कृत्रिम रूप से साँस लेने के लिए ऑक्सिजन का प्रयोग किया जाता है। ऊपर के चित्र में एक उड़ाका थैलों में भरी ऑक्सिजन द्वारा कृत्रिम रूप से साँस लेने का एक यंत्र लगाकर हवाई जहाज पर चढ़ रहा है। यह जानी हुई बात है कि वायुमंडल के ऊपरी स्तरों में हवा पतली रहती है, इससे वहाँ साँस लेने में दिक्कत होती है। ऑक्सिजन-यंत्र के कारण ऐसे वातावरण में साँस लेना अब सुगम हो गया है।

(Microcosm and Macrocosm) दोनों दिशाओं में विश्व की इयत्ता और रहस्य को ढूंढनेवाले वैज्ञानिकों को भी अभी तक वह अन्तिम आधार-बिन्दु नहीं मिल सका है, जहाँ पहुँचकर यह कहा जा सके कि बस अब इससे आगे कुछ नहीं है।

आधुनिक विज्ञान ने अत्यन्त चमत्कारी यंत्रों के द्वारा विश्व की अनन्त कहानी को पढ़ने का प्रयास किया है। माउण्ट विल्सन पर जो १०० इंच व्यास के शीशेवाला दूरदर्शक यन्त्र है, वह वैज्ञानिकों का दूरतम जानेवाला नेत्र है। उस दिव्य चक्षु से विश्व के परदे के भीतर का जो दर्शन हमें प्राप्त हुआ है, वह मानव बुद्धि को तथाकथित सत्य से परे ले जाकर कल्पना की गोद में छोड़ देता है। गीता के शब्दों में ब्रह्माण्ड के विराट् 'ऐश्वर योग' को देखने की क्षमतावाले इस दिव्य चक्षु से जो दृश्य हमें साक्षात् होता है, वह महान् से भी महान् है। हमारे सामने बीस लाख नीहारिकाएँ या नक्षत्र-जगत् (Nebulæ or Island Universes) विस्तृत हैं। ये विश्व इतनी दूर हैं कि १,८६,००० मील प्रति क्षण की गति से चलने वाला प्रकाश वहाँ से ५ करोड़ वर्षों में हमारे समीप तक पहुँचता है। ऐसे प्रत्येक नक्षत्र-जगत् में अरबों नक्षत्र हैं, अथवा उन नीहारिकाओं में कोटानुकोटि नक्षत्रों के निर्माण की सामग्री विद्यमान है। परन्तु हमारे दूरदर्शक यत्र की फ़ोटोग्राहणी शक्ति से भी परे इस अनन्त ब्रह्माण्ड में शखोनुशख नक्षत्र-जगत एवं नीहारिकाओं का अस्तित्व और भी है। क्या मानव बुद्धि कभी उस सत्य का साथ दे सकती है? क्या केवल कल्पना ही वहाँ एकमात्र हमारा अवलम्ब नहीं रह जाती? मेटरलिंक के शब्दों में देश, काल, चैतन्य, अनन्तता और शाश्वतता केवल अगम्य रहस्य हैं।*

अनुभव की इस उच्च भूमिका में पहुँचकर ही 'एतावानस्य महिमा अतो ज्यायांश्च पूरुषः' का सच्चा अर्थ हमारी समझ में आ सकता है। उस सृष्टिकर्ता की इतनी विशाल महिमा है! ज्ञान सूर्य की पहली पौ फटने के साथ ही ऋग्वेद के मनीषियों के ये उद्गार हमारे सामने आते हैं—

सहस्रधा महिमानः सहस्रम्

[ऋ० १०।११४।८]

अर्थात् उस सृष्टिकर्ता की महिमाएँ अनन्त एवं अनन्त प्रकार की हैं। यदि मनुष्य की बुद्धि बलपूर्वक उस अनन्त को अपनी समझ के शिकंजे में कसने का आग्रह करे, तो अवश्य ही मानवी मस्तिष्क फटकर आकाश में उड़ जायगा। जनक के बहुदक्षिण यज्ञ में जिस समय कुतूहल से प्रेरित होकर गार्गी ने इस विश्व के सम्बन्ध में 'अतिप्रश्न' पूछे, उस समय याज्ञवल्क्य ने उसे चेतावनी देते हुए कहा—'हे गार्गि! अतिप्रश्न मत पूछो, कहीं तुम्हारी बुद्धि का आधार यह मस्तिष्क ही अपने स्थान से न हट जाय।' वस्तुतः मानव मस्तिष्क भी विल्सन पर्वत की चोटी के सौ इंची दूरवीक्षण-यत्र की भाँति एक यंत्र ही तो है। अनन्त आकाश के कुछ आवरणों को पार करके बीस लाख नीहारिकाओं के दर्शन कर लेने के बाद उस सौ इंची यंत्र की शक्ति थक जाती है, उसका 'मूर्धानपतन' होने लगता है। क्या विल्सन पर्वत के इस सौ इंची वैज्ञानिक 'जटायु' की असमर्थता में और राम के उदर में 'अनेक अडकटाहों' का दर्शन करके थक जानेवाले तुलसीदास के कागभुशुंडि में तत्त्व की दृष्टि से कोई अन्तर है? दोनों अपना अन्तिम अनुभव एक ही प्रकार से हमारे सामने रखते हैं—

'उदर माँझ सुनु अंडजराया।
देखेहुँ बहु ब्रह्माण्ड निकाया॥
एक-एक ब्रह्माण्ड महँ रहेउँ बरस सत एक।
यहि विधि मैं देखत फिरेउँ अंडकटाह अनेक॥

(रामायण)

वैज्ञानिकों के सुपरिचित 'कोटि-कोटि नक्षत्र' (millions and millions of stars*) और पुराणों के शतकोटि ब्रह्माण्ड-निकाय अन्ततोगत्वा एक ही हैं। अनादि और अनन्त संसाररूपी अश्वत्थ की इयत्ता का अनुभव दोनों को नहीं मिल सका। सापेक्षतावादी वैज्ञानिकों (Relativists) के मत में यह ब्रह्माण्ड सान्त है। इस सान्त विश्व का व्यास १४०

---

* '... unfathomable mysteries, such as life, being, infinity, eternity, time, space and, in general, if you look into the depths of things, nearly all that exists'

The Supreme Law, p 152.

* 'About 2,000,000 minor or island universes are seen to be hurtling bodily through the tenuity of space at speeds of the order of 100 miles a second, and probably there are many millions more beyond the range of our telescopes"

—*An Outline of the Universe by J. G Crowther, p. 23*
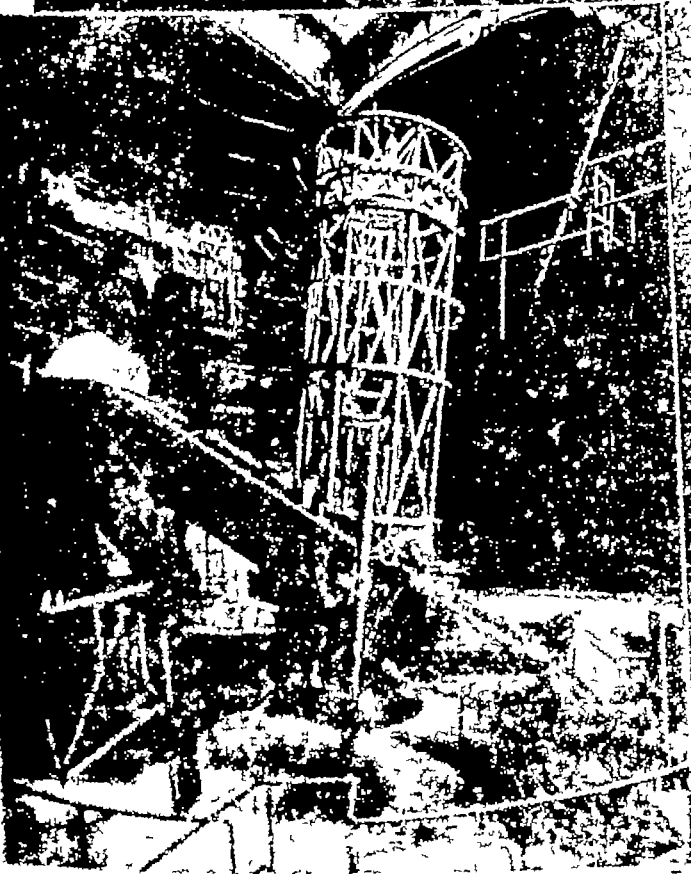
करोड़ प्रकाशवर्ष बताया जाता है। इसी से इसकी परिधि* की कल्पना हो सकती है। उन लोगों के मत में एक प्रकाश की रश्मि अपने नियत स्थान से चलकर ब्रह्माण्ड की परिक्रमा करती हुई फिर उसी स्थान पर लौट आती है। इससे यह ज्ञात होता है कि ब्रह्माण्ड सान्त है, अर्थात् आकाश पोलाकार है। परन्तु इस प्रकार के सान्त ब्रह्माण्ड की कल्पना भी विज्ञान का अन्तिम पड़ाव नहीं है। सापेक्षतावाद के प्रतिपादक आइन्स्टाइन के प्रमुख समर्थक वैज्ञानिक एडिंगटन ने अपने 'एक्सपेंडिंग यूनिवर्स' ग्रन्थ में यह प्रतिपादित किया है कि इस विश्व का पोला उदर नक्षत्र और नीहारिकाओं की प्रगति से गुब्बारे की तरह नित्यप्रति बढ़ रहा है। अनुमान किया जाता है कि १४० करोड़ प्रकाशवर्ष के समय में ब्रह्माण्ड का व्यासार्ध द्विगुणित हो जाता है। महाकवि तुलसी के शब्दों में 'नमशत कोटि अमित अवकाशा'† जिसका स्वरूप है, उस आकाश की अनन्तता के सम्बन्ध में विज्ञान की ये धारणाएँ उस अनन्तता के मौलिक स्वरूप में तिलमात्र भी परिवर्त्तन नहीं कर सकतीं। यदि एक सूक्ष्म परमाणु के केन्द्र का रहस्य हमारे बुद्धिवाद को चुनौती देने के लिए पर्याप्त है, ‡ तो विराट् आकाश को गणित के अंकों द्वारा बाँधने के प्रयास भी निष्फल हैं।

शेष और विष्णु

गणित के गुरुतर अंकों के भार से दबी हुई कातर मानवी बुद्धि को अनन्त का स्वरूप समझाने के लिए शेषशायी विष्णु की कल्पना अवश्य ही काव्यमय आनन्द से ओतप्रोत मालूम होगी। विष्णु शेष के आश्रय से योगनिद्रा में निमग्न रहते हैं, यह एक छोटा-सा सूत्र है। भारतीय शिल्प में शेषशायी विष्णु इसी का मूर्त रूप है। परन्तु विष्णु कौन हैं और शेष क्या है, इन प्रश्नों की मीमांसा बड़ी मनोहर है। निरञ्जन ब्रह्म का जो अंश सृष्टि में परिच्छिन्न या व्याप्त हो गया है, वही 'वेवेष्टि व्याप्नोति इति विष्णुः' इस परिभाषा के अनुसार विष्णुसंज्ञक है। विष्णु ब्रह्माण्ड का अधिपति तत्त्व है। वह विष्णु शेष के आश्रय से प्रतिष्ठित रहता है। सृष्टि की परिधि से बचा हुआ जो ब्रह्म का भाग है, वही 'शेष' है। कहा भी है:—

एतावानस्य महिमातो ज्यायांश्च पूरुषः।

अर्थात् पुरुष अपनी विश्वरूपी महिमा से बहुत बड़ा है। उसका वह शेष भाग अनन्त है। इसीलिए विष्णु का आधार 'शेष' पुराणों में अनन्त-संज्ञक कहा गया है। विष्णु उस अनन्त शेष की शय्या पर सोते हैं, यह एक काव्यमय कल्पना है। विज्ञान के शब्दों में हम कुछ-कुछ इस प्रकार कहेंगे कि सान्त विश्व आनन्द के आश्रय से प्रतिष्ठित है। विष्णु सान्त विश्व का प्रतीक है और शेष अनन्त का। विष्णु की नाभि (Navel or Central Point) से ही सृष्टि की बृंहण-प्रक्रिया का प्रथम अंकुर उत्पन्न होता है। सृष्टि के भीतर ही उसकी वृद्धि और लय के रहस्य अन्तर्हित हैं। विष्णु से व्यतिरिक्त शेष सहस्रसंज्ञक या अनन्त है। अनन्त की शिल्पगत कल्पना सीधी रेखा से नहीं हो सकती, उसके लिए कुंडलित रेखा ही उपयुक्त है। यही सर्पाकृति है। पुराणों की भाषा में अनन्त शेष के सहस्र मुख हैं; उन फणों के अनन्त विस्तार में हमारे इस ब्रह्माण्ड की तुलना ऐसी ही है, जैसे समस्त पृथ्वी की तुलना में एक छोटा रजकणः—

स्फारे यत्फणाचक्रे धरा शरावश्रिय वहति।

एक ओर पुराणों की यह भाषा है। दूसरी ओर अर्वाचीन विज्ञान ने मानों 'दो और दो चारवाली' तथ्यात्मक भाषा से उकताकर एक नवीन शैली का आश्रय लिया है। विद्वद्वर जेम्स जीन्स ने 'इआस' या 'ब्रह्माण्ड-विज्ञान के व्यापक पहलू' (Eos or Wider Aspects of Cosmogony) नामक अपनी पुस्तक में एक स्थान पर लिखा है कि हमारी इस पृथिवी का विस्तार विश्व की अपेक्षा से इतना ही है जितना कि अटलांटिक महासागर में भरे हुए असंख्य बालू के कणों की तुलना में एक बालुका-कण। अवश्य ही अनन्त के आँगन में विज्ञान और पुराण एक दूसरे से हाथ मिलाते हुए प्रतीत होते हैं।

---

* व्यास से परिधि लगभग तिगुनी होती है। १ अरब ४० करोड़ व्यास की परिधि ४ अरब ४० करोड़ हुई। प्रकाशवर्ष को छोड़कर यह संख्या लगभग उतनी ही है, जितनी हिन्दू गणना के अनुसार एक कल्प की आयु ४ अरब ३२ करोड़।

† उत्तरकाड के दोहा १३०—१३१। इस प्रकरण को शतकोटि उपनिषद् कहा जा सकता है।

‡ अणोरणीयान् महतोमहीयान्' कहकर श्रुतियों ने जिसकी अनतता की ओर सकेत किया है उस परम तत्त्व के दृश्यमानरूप विश्व की अनत महानता की झलक जहाँ हमें विज्ञान के दूरदर्शक यत्रों से मिल रही है, वहाँ सूक्ष्मदर्शक यत्र द्वारा उसकी अनत लघुता का भी आभास हमें मिलता है। वैज्ञानिकों का कथन है कि कोई चाहे आकाश के तारों की भी गणना कर ले किंतु वृक्ष की एक पत्ती में [illegible] कोश और उनमें जितने अणु-परमाणु होते हैं, उनकी गणना [illegible] कर सकता। इतनी अधिक उन कोशों की संख्या होती है।

पृथ्वी
की कहानी

आग्नेय चट्टानें

इस फोटो में दिखाई दे रही चट्टानें पृथ्वी के भीतर के पिघले हुए तप्त पदार्थ के जम जाने से बनी है। आरम्भ में ये चट्टानें पृथ्वी के चिप्पड़ में ही दबी थीं, किन्तु बाद में संतुलन क्रिया या अन्य भौगर्भिक क्रिया के फलस्वरूप पर्वतों के रूप में बाहर निकल आई हैं।

ठंढी होकर जमी हुई लावा

आजकल भी ज्वालामुखियों द्वारा पृथ्वी के गर्भ का जो तप्त पिघला पदार्थ लावा के रूप में बाहर निकलकर जम जाता है, वह कठोर होने पर आग्नेय चट्टानों के सदृश्य गुणवाला ही पाया गया है। ऊपर के फ़ोटो में ज्वालामुखी से निकली हुई लावा के जमने से बने हुए एक पर्वत का दृश्य है।

प्रस्तरीभूत चट्टानें

इस फ़ोटो में दिखाई दे रही चट्टानें खड़िया मिट्टी (Chalk) की चट्टानें हैं। ये चट्टानें किसी सुदूर अतीतकाल में जलाशय की तलहटी में जल के द्वारा लाई हुई बालू, मिट्टी, पत्थर आदि के कणों की तलछट तथा अति सूक्ष्म क्षारीय जलचरों के प्रस्तर विकल्पों के मिश्रण से बनी हैं। समुद्र के जल की सतह के ऊँचे नीचे हो जाने के कारण ही ये चट्टानें पर्वतरूप में ऊपर उठी दिखाई दे रही हैं।
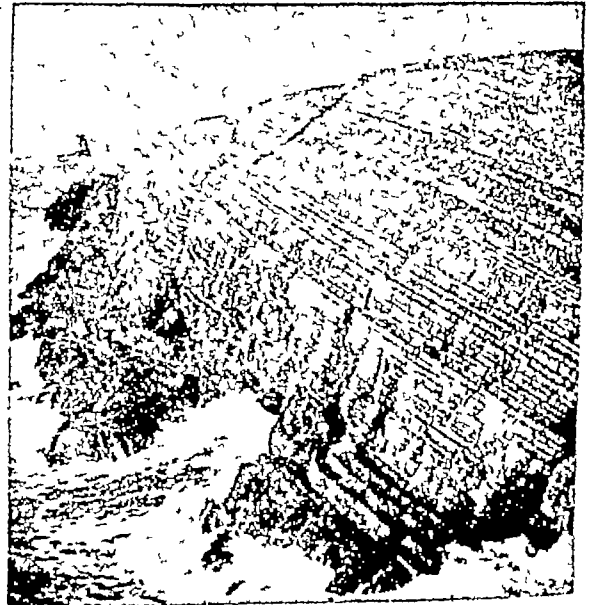
चट्टानों के स्तर या परतें

इस चित्र से आभास मिलता है कि पृथ्वी के चिप्पड़ को बनानेवाली चट्टानें किस प्रकार स्तरों या परतों के रूप में एक के ऊपर दूसरी फैली हैं। ऐसे स्तर प्रायः प्रस्तरीभूत चट्टानों के ही होते हैं।

पृथ्वी के चिप्पड़ को बनानेवाली आग्नेय और प्रस्तरीभूत चट्टानों के कुछ नमूने

भूपृष्ठ अथवा पृथ्वी का चिप्पड़ और उसकी रचना

पिछले अध्यायों में हम कह चुके हैं कि पृथ्वी के अध्ययन की पहली सीढ़ी उसके ऊपरी पृष्ठ अथवा चिप्पड़ का अध्ययन है। यह भूपृष्ठ जिस पदार्थ से बना है, भूविज्ञान की भाषा में उसे "चट्टान" कहकर पुकारा जाता है। इस अध्याय में इसी चिप्पड़ और उसको बनानेवाली चट्टानों का वर्णन प्रारंभ किया जा रहा है।

पृथ्वी के पृष्ठ को, जिस पर हम सब रहते हैं, भूपृष्ठ अथवा पृथ्वी का चिप्पड़ कहते हैं। ८००० मील व्यासवाली पृथ्वी के चिप्पड़ की गहराई ५० मील से अधिक नहीं है। पृथ्वी का चिप्पड़ पृथ्वी के शेष भाग पर नारंगी के छिलके के समान चढ़ा हुआ है और इसीलिए 'चिप्पड़' कहलाता है। पृथ्वी-पृष्ठ के भीतर क्या है, यह हम आगे के पृष्ठों में बताएँगे, परन्तु यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि भीतर के पदार्थ की अपेक्षा चिप्पड़ का घनत्व हल्का है। चिप्पड़ का घनत्व सम्पूर्ण पृथ्वी के घनत्व की अपेक्षा आधे के लगभग है।

चिप्पड़ जिस पदार्थ का बना है, उसे 'शिला' या 'चट्टान' कहते हैं। साधारणतः चट्टान पत्थर-जैसे कड़े या कठोर शिलाखण्डों को कहते हैं, परन्तु भूविज्ञान की भाषा में मिट्टी और बालू की तहों को भी चट्टान कहते हैं। चट्टान जिन पदार्थों की बनी है, उन्हें 'खनिज' के नाम से पुकारते हैं। एक या अनेक खनिजों के सम्मिश्रण से चट्टान की रचना होती है। अधिकतर चट्टानों में एक से अधिक खनिज सम्मिलित रहते हैं, परन्तु कभी-कभी केवल एक ही खनिज की चट्टान कहलाता है, जैसे 'चूने का पत्थर'।

चट्टानों की रासायनिक रचना निश्चित नहीं होती। चट्टानों में किसी भी अनुपात के मिश्रण से चट्टान बन [illegible] है। एक ही चट्टान के विभिन्न भागों में खनिजों के अनुपात में विभिन्नता हो जाती है। [illegible] खनिजों के [illegible] चट्टानों के मिश्रण में इतनी [illegible] नहीं [illegible] पाई [illegible] है। चट्टानों के गुण [illegible] के अनुपात पर निर्भर रहते हैं। खनिजों की रासायनिक रचना, आकृति और गुण सभी निश्चित रहते हैं। चट्टानों की रचना में जिन विशेष खनिजों की अधिकता पाई जाती है, उन्हें 'शिलानिर्माणकारी' खनिज कहते हैं।

चिप्पड़ की रचना में जो चट्टानें पाई जाती हैं, वे तीन श्रेणियों में विभक्त की गई हैं। चट्टानों का यह विभाजन उनकी उत्पत्ति के अनुसार किया गया है। इसका कारण यह है कि उनके गुण उत्पत्ति के ढंग पर निर्भर हैं। चट्टानों के ये तीन भेद 'आग्नेय', 'प्रस्तरीभूत' और 'रूपान्तरित' नाम से प्रसिद्ध हैं।

आग्नेय चट्टानें वे हैं, जो पृथ्वी के भीतर से अग्नि के समान तप्त द्रवित रूप में निकलकर पृथ्वी के ऊपर आकर ठण्डी और कठोर हो गई हैं। पृथ्वी के बचपन के दिनों में जब चिप्पड़ धीरे-धीरे बनना आरम्भ हुआ था और जमकर कठोर हो रहा था, उन दिनों यदि चिप्पड़ में कहीं भी किसी कारण से कोई रास्ता मिल जाता था, तो पृथ्वी के भीतर का द्रवित पदार्थ (जो अभी तक ठोस कठोर नहीं हो पाया था) बाहर की ओर चढ़ आता था और बह निकलता था। आजकल भी पृथ्वी के भीतर से जो तप्त द्रवित पदार्थ ज्वालामुखी के मुख से निकलता है, वह ठण्डा कठोर होने पर आग्नेय चट्टानों के रूप में परिवर्तित हो जाता है।

आग्नेय चट्टानें [illegible]

उसके खनिज स्फटिक (crystal) रूप धारण न कर पाये। परन्तु जो द्रवित पदार्थ पृथ्वी के बाहर न निकल पाया, वरन् चिप्पड़ के भीतर ही रुक गया (और आजकल चिप्पड़ के घिस जाने से बाहर निकल आया है), वह धीरे-धीरे और देर में ठंढा हुआ। इस प्रकार की चट्टानों के अवयव खनिजपूर्ण स्फटिक रूप में विकसित हो सके। इसीलिए ये चट्टानें अधिक कड़ी हैं। बिल्लौरी पत्थर की चट्टानें पृथ्वी के भीतर ठंढी हुई हैं और गन्धकादि की चट्टानें, जो मुलायम हैं, पृथ्वी के ऊपर।

इसमें तो कोई संदेह नहीं कि सबसे पहले पृथ्वी पर आग्नेय चट्टानें बनीं। इसीलिए ये 'आदि चट्टानें' भी कहलाती हैं। आगे हम देखेंगे कि शेष दोनों प्रकार की चट्टानें भी आग्नेय चट्टानों के ही पदार्थों से बनी हैं। चिप्पड़ की तह में सदैव आग्नेय चट्टानें ही मिलती हैं, ऊपर चाहे जैसी चट्टानें हों। पुराने पहाड़ों पर आग्नेय चट्टानें ही पाई जाती हैं।

'प्रस्तरीभूत' चट्टानें वे हैं, जो तह के ऊपर तह के रूप में जमकर बनी दिखाई देती हैं। ये चट्टानें जलाशय की तलहटी में जल के द्वारा लाई हुई बालू, मिट्टी, पत्थर आदि के कणों के जमने से बनी हैं। इन चट्टानों के बनने में लाखों वर्ष लगे होंगे। जिस स्थान में ये जमा हुई होंगी, वह किसी आन्तरिक घटना अथवा पृथ्वी के भीतर की संतुलन-क्रिया के कारण बाहर निकलकर पर्वत के आकार में दिखाई देने लगा है। पानी के नीचे जमनेवाली तहें और परत ऊपरी दबाव अथवा आन्तरिक ताप और दबाव के फलस्वरूप कठोर हो गई हैं।

प्रस्तरीभूत चट्टानो के टुकड़ों की यदि बहुत निकट से अथवा अभिवर्द्धक ताल द्वारा परीक्षा की जाय, तो मालूम होगा कि ये चट्टानें बालू, मिट्टी अथवा चूने के पत्थर के कणों से बनी हैं। इन चट्टानों के कण या तो बहुत ही सूक्ष्म और गोल-मटोल होंगे या कुछ-कुछ बड़े और टेढ़े-मेढ़े आकार के होंगे। इन शिलाओं का प्रस्तरित होना और छोटे-छोटे कणों से बना होना, दोनों ही बातें इस बात की द्योतक हैं कि इनकी उत्पत्ति किसी जलाशय की तह में हुई है। इनमें जिन खनिजों के कण पाये जाते हैं, वे वही हैं जो आग्नेय शिलाओं की रचना में पाये जाते हैं।

पुरानी आग्नेय शिलाओं को काट-काटकर नदियों और नालों ने अपना मार्ग बनाया है। जल के वेग से शिलाओं की यह छीलन उसके साथ बहती हुई, घिसती और रगड़ती हुई सागर-तल तक पहुँचती है। वहाँ पहुँचने पर शिलाओं के बड़े-बड़े ढोके महीन बालू और मिट्टी के रूप में बदल जाते हैं। सागर में जमा होनेवाली ये तहें कालान्तर में कठोर बनकर शिला बन जाती हैं।

यों तो प्रस्तरित शिलाएँ सीधी सीधी तहों में पाई जाती हैं, परन्तु कभी कभी पृथ्वी पर होनेवाली अदृश्य घटनाओं के फलस्वरूप इन शिलाओं पर दबाव पड़ता है और ये तुड़ मुड़ जाती हैं अथवा लहरदार बन जाती हैं। ऐसी तहों को हम पुटीकृत (Folded) कहते हैं। यदि हम चिप्पड़ की खड़ी काट करें, तो हमें चट्टानों की विभिन्न तहें दिखाई पड़ेंगी। रेल की पटरी के किनारे की चट्टानों के परिच्छेद (Section) में हमें कभी-कभी पुटीकृत तहें दिखाई पड़ती हैं।

चिप्पड़ की रचना में कहीं-कहीं प्रस्तरीभूत चट्टानों के ऊपर या बीच में आग्नेय चट्टानें पाई जाती हैं। प्रस्तरीभूत चट्टानो के बीच में या ऊपर पाई जानेवाली ये आग्नेय चट्टानें अन्य आग्नेय चट्टानों की भाँति आदि चट्टानें नहीं हैं, वरन ये प्रस्तरीभूत चट्टानों के बन चुकने पर पृथ्वी के भीतर से द्रवित रूप में निकलकर जम गई हैं।

प्रस्तरित होने के अतिरिक्त प्रस्तरीभूत चट्टानों की एक और विशेषता यह है कि स्थान-स्थान पर इन शिलाओं में क्षारीय जलचरों तथा वनस्पतियों के अगणित प्रस्तर-विकल्प या प्राचीन जीवों के शिलीभूत अवशेष (Fossil) मिलते हैं। ये अवशेष भी इस बात की पुष्टि करते हैं कि प्रस्तरित चट्टानों का जन्म जलाशय में हुआ है।

कुछ प्रस्तरित चट्टानें, जैसे एक प्रकार का चूने का पत्थर अथवा मूँगे की चट्टानें, तो बिलकुल सूक्ष्म जीवसमूहों के प्राणि-अवशेषों का ही सिकुड़ा हुआ पदार्थ है।

तीसरे प्रकार की चट्टानें, जिन्हें 'रूपान्तरित चट्टानें' कहते हैं, आग्नेय और प्रस्तरीभूत चट्टानों के ही परिवर्तित रूप हैं। स्थानान्तरित हुए बिना ही पृथ्वी की आन्तरिक गर्मी, दबाव अथवा अन्य उथल-पुथल के कारण, आग्नेय या प्रस्तरीभूत चट्टानों के रूप, गुण और आकृति में परिवर्तन होने से जो चट्टानें बनती हैं, वे पहले की चट्टानों से एकदम भिन्न होने के कारण 'रूपान्तरित' चट्टानें कहलाती हैं। प्रारम्भिक चट्टानों की अपेक्षा इन चट्टानों की कठोरता बहुत अधिक बढ़ जाती है। इन चट्टानों की कठोरता ही नहीं वरन् अवयव भी बदल जाते हैं, यहाँ तक कि प्रस्तरीभूत चट्टानों की रूपान्तरित रचना में पाये जानेवाले खनिज आग्नेय, चट्टानों के खनिजों से अधिक भिन्न नहीं होते। यहाँ यह कहना आवश्यक है कि चट्टानों के रूपान्तरित होने का प्रधान कारण ताप या गर्मी है।

निपड की रचना में ७५ प्रतिशत भाग प्रस्तरीभूत चट्टानों से ढका हुआ है। शेष २५ प्रतिशत में आग्नेय और रूपान्तरित चट्टानें हैं। यद्यपि स्थल पर ७५ प्रतिशत प्रस्तरीभूत चट्टानें हैं तथापि इनकी गहराई एक मील से अधिक नहीं है। इनके नीचे फिर आग्नेय चट्टानें ही मिलेंगी, क्योंकि ये ही आदि चट्टानें हैं, जिन पर पृथ्वी का चिपड बना है।

उपरोक्त चट्टानों के अतिरिक्त पृथ्वी के चिपड पर जो और पदार्थ पाया जाता है, उसे हम 'भूमि' कहते हैं। भूमि चिपड पर एक प्रकार का आवरण सा है, जो नीचे की चट्टानों (Bed Rock) पर चढ़ा है। भूमि-आवरण कहीं तो दो चार इन्च मोटा है और कहीं हज़ारों फीट। भूमि कहीं कहीं तो कंकड़, पत्थर और बालू के कणों से मिलकर बनी है और कहीं चिकनी मिट्टी, धूल और रेती से। भूमि की रचना चट्टानों की अपेक्षा बहुत कम कठोर है। भूगर्भशास्त्र की दृष्टि से यद्यपि भूमि का महत्त्व बहुत कम है तथापि हमारे जीवन में जितना महत्त्व भूमि का है, उतना और किसी चट्टान का नहीं है। भूमि से ही सारे खाद्य पदार्थों की उत्पत्ति होती है। चट्टानों के ही विभिन्न अंशों से भूमि की रचना होती है। आगे के अध्यायों में हम देखेंगे कि पृथ्वी के चिपड के घिसने में कौन शक्तियाँ कार्यान्वित हैं और किस प्रकार भूमि का जन्म होता है।

यहाँ पर हम इतना और बता देना चाहते हैं कि वैज्ञानिकों की गणना के अनुसार पृथ्वी के चिपड की रासायनिक रचना में जिन तत्त्वों का समावेश है, उनका प्रतिशत अनुपात निम्न तालिका के अनुसार है:—

ऑक्सिजन	४६.६८	सिलिकन	२७.६०
अल्युमिनियम	८.०५	लोहा	५.०३
केल्शियम	३.६३	सोडियम	२.७२
पोटेशियम	२.५६	मैगनीशियम	२.०७
कुल		९७.३४	

शेष में १.५५ प्रतिशत भाग में टाइटेनियम, फास्फोरस, कारबन, हाइड्रोजन, मैंगनीज, गन्धक, क्लोरीन और बेरियम नामक तत्त्व हैं। अवशेष ०.०९ प्रतिशत भाग सोना, चाँदी, जस्ता, ताँबा आदि तत्त्वों से मिलकर बना है। उपरोक्त सभी तत्त्व चिपड में रासायनिक यौगिक रूप में हैं, मूलतत्त्व के रूप में नहीं।

प्रसिद्ध प्रस्तरीभूत शिलाओं का एक नमूना। बीच में आग्नेय चट्टानें दिखाई दे रही हैं।
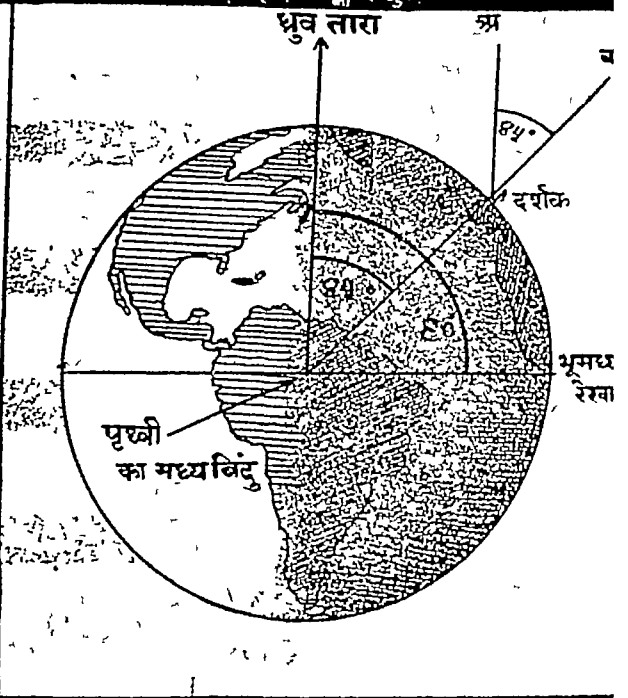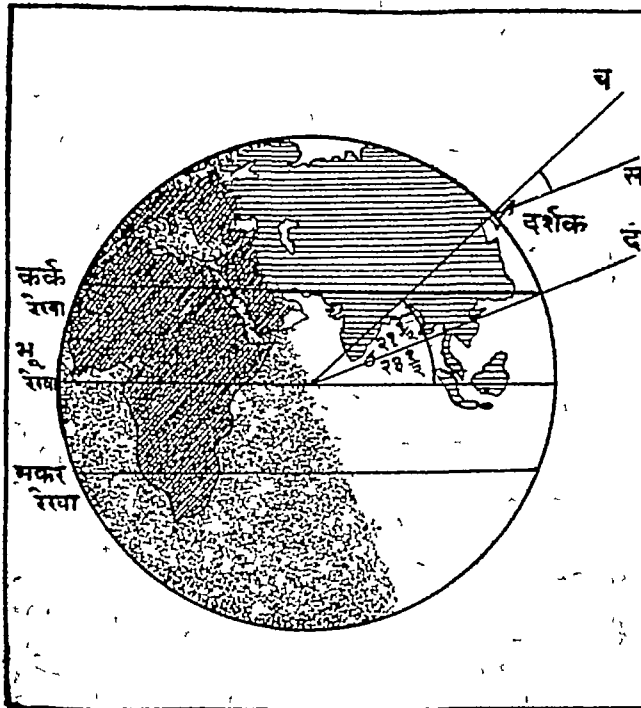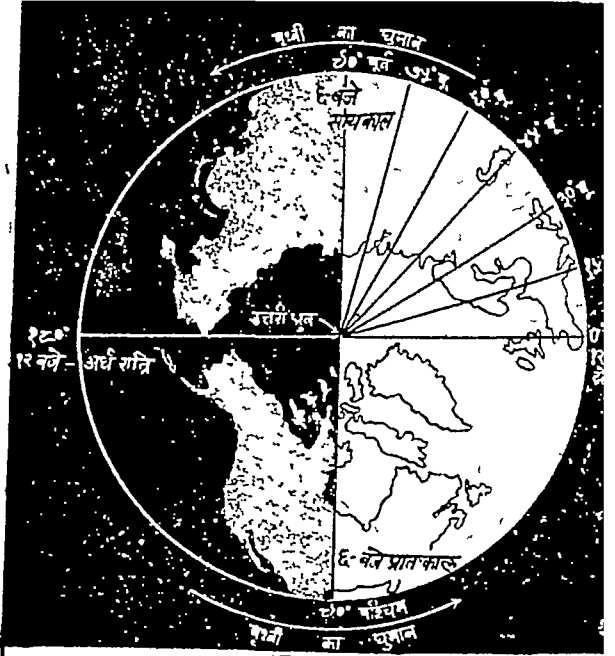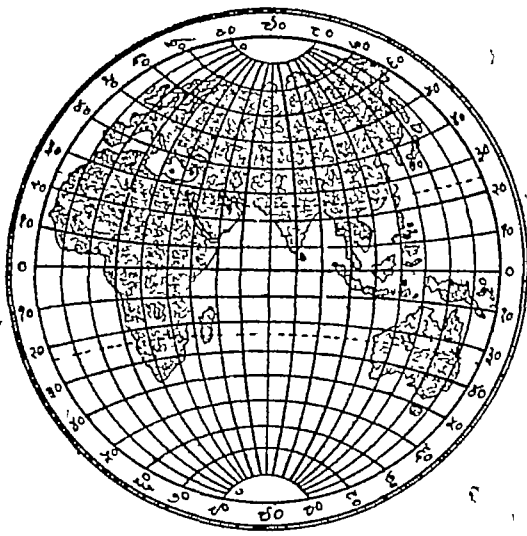
(ऊपर की पंक्ति में) बाईं ओर—समानान्तर आड़ी रेखाएँ 'अक्षांश' और असमानान्तर खड़ी रेखाएँ 'देशान्तर' हैं। दाहिनी ओर— पृथ्वी पश्चिम से पूर्व की ओर घूमती है, अतएव ०° देशान्तर के स्थानों में जब दिन के १२ बजेंगे, उस समय ९०° पूर्व देशान्तर पर शाम के ६, ९०° पश्चिम देशान्तर पर सुबह के ६ और १८०° देशान्तर पर रात के १२ बज रहे होंगे। (नीचे) दर्शक के ठीक सिर के ऊपर की दिशा का आकाशबिन्दु शिरोबिन्दु (Zenith) कहलाता है (चित्रों में ब)। इस बिन्दु से दर्शक तक खींची गई सीधी रेखा नीचे बढ़ाने पर पृथ्वी के मध्यबिन्दु तक पहुँचती है। (बाईं ओर) द दोपहर को कर्करेखा पर सूर्य के ठीक सिर पर होने की वास्तविक स्थिति और स दर्शक को अपनी जगह से दिखाई दे रहे सूर्य की स्थिति है। सेक्स्टेन्ट द्वारा दर्शक की शिरोबिन्दु-रेखा और सूर्य की स्थिति रेखा का कोण २१½° निकलता है। इसमें विषुवत् रेखा और कर्क रेखा के बीच के कोण का अंश २३½° जोड़ने से दर्शक को अपने स्थान का ठीक अक्षांश ४५° मिल जाता है। (दाहिनी ओर) इसी तरह रात को सूर्य के बदले ध्रुव तारे (या सदर्न क्रास) की स्थिति द्वारा अक्षांश जाना जा सकता है। अ दर्शक को अपने स्थान से दिखाई दे रही ध्रुव की स्थिति और ब उसका शिरोबिन्दु है। अ और ब के बीच का कोण ४५° है। इसको विषुवत् रेखा और ध्रुव के बीच के कोण ९०° में से घटाने पर दर्शक के स्थान का ठीक अक्षांश ४५° मिल जाता है।

को यदि ६० अंश उत्तरी और दक्षिणी अक्षांशवाले बिन्दुओं अर्थात् ध्रुव-प्रदेशों से रेखाओं द्वारा मिलाया जाय, तो धरातल पर ३६० रेखाएँ उत्तर-दक्षिण ध्रुवों को मिलाती हुई खिच जायँगी। ये रेखाएँ उत्तरी और दक्षिणी ध्रुवों पर तो एक बिन्दु में मिल जाती हैं; परन्तु विषुवत् रेखा पर सबसे अधिक अन्तर पर होती हैं। इन रेखाओं को 'देशान्तर रेखाएँ' कहते हैं। इन पर भी अंक डाल दिये गये हैं और किसी एक को शून्य मानकर अन्य रेखाओं के अंक पढ़े जाते हैं।

अक्षांश रेखा जिस तरह विषुवत् रेखा से उत्तर दक्षिण की स्थिति बताती हैं, उसी प्रकार देशान्तर रेखाएँ विषुवत् रेखा के किसी भी बिन्दु से किसी स्थान की पूर्वीय अथवा पश्चिमीय स्थिति बताती हैं। अक्षांश रेखाएँ धरातल पर पूर्ण वृत्त बनाती हैं। परन्तु अक्षांश रेखाओं के वृत्त, जैसे जैसे विषुवत् रेखा से उत्तर या दक्षिण को हम चलें, छोटे होते जाते हैं। ये वृत्त समानान्तर होते हैं। देशान्तर रेखाएँ सब बराबर होती हैं तथा वे अर्द्ध-वृत्त बनाती हैं। सब देशान्तर रेखाएँ लम्बाई में बराबर होती हैं, परन्तु समानान्तर नहीं होतीं। भूमध्य अथवा विषुवत् रेखा के पास उनके बीच सबसे बड़ा अन्तर होता है। उत्तर या दक्षिण की ओर यह अन्तर घटता जाता है। ध्रुवों के पास ये सब रेखाएँ एक बिन्दु में मिल जाती हैं। देशान्तर रेखाओं की संख्या ३६० है, परन्तु पृथ्वी के पूर्वीय तथा पश्चिमीय गोलार्द्धों में विभक्त होने के कारण प्रत्येक गोलार्द्ध में केवल १८० देशान्तर रेखाएँ होती हैं।

अक्षांश और देशान्तर रेखाओं की सहायता से किसी भी स्थान का पता ठीक-ठीक लगाया जा सकता है। किसी स्थान की केवल अक्षांश या केवल देशान्तर रेखा से उसका पता लगाना असम्भव होगा। यदि यह कहा जाय कि अमुक स्थान २५° उत्तरी अक्षांश पर है, तो उस स्थान का पता लगाना असम्भव है; क्योंकि २५° उत्तरी अक्षांश रेखा भूमध्य रेखा से २५° उत्तर की ओर पृथ्वी के चारों ओर फैली है। परन्तु यदि यह कहा जाय कि वह स्थान २५° उत्तर अक्षांश और ८०° पश्चिम देशान्तर पर है, तो उस स्थान को ढूँढने में तनिक भी कठिनाई न होगी। यह दोनों रेखाएँ जहाँ एक दूसरे को काटती हैं, वही अभीष्ट स्थान होगा।

अक्षांश और देशान्तर रेखाओं का महत्त्व सबसे अधिक समुद्र-यात्रा करनेवाले जलयानों के लिए है। अगर जलराशि यात्रा करते हुए नाविक अक्षांश और देशान्तर रेखाओं [illegible]ायता से यह पता लगा लेते हैं कि वे कहाँ पर हैं। इन रेखाओं की सहायता से वे किसी भी देश का सबसे सुगम और कम लम्बा मार्ग भी जान सकते हैं। किसी अज्ञात स्थान पर पहुँचने पर उसकी स्थिति अक्षांश और देशान्तर रेखाओं की सहायता से मालूम की जा सकती है; परंतु ऐसे स्थान की अक्षांश और देशान्तर रेखाएँ कैसे मालूम हो सकती हैं? आइए, इसकी भी युक्ति हम आपको बताएँ।

किसी स्थान का अक्षांश निश्चित करने के लिए उत्तरी गोलार्द्ध अथवा विषुवत् रेखा के उत्तरी प्रदेशों में ध्रुवतारे से बड़ी सहायता मिलती है। उत्तरी ध्रुव पर यह तारा क्षितिज रेखा से समकोण बनाता हुआ ठीक सिर के ऊपर दिखाई देता है। भूमध्य रेखा पर यह तारा क्षितिज पर दिखाई देता है। दक्षिणी गोलार्द्ध में यह तारा अदृश्य हो जाता है। इस प्रकार उत्तरी गोलार्द्ध में किसी स्थान पर ध्रुवतारा क्षितिज के साथ जितने अंश का कोण बनाता है, वही उस स्थान का अक्षांश होता है। ध्रुवतारे की स्थिति नापने के लिए 'सेक्सटेन्ट' (Sextant) नामक ऊँचाई तथा कोण नापने के यन्त्र की सहायता ली जाती है। यन्त्र के अभाव में कुछ अनुमान से भी काम लिया जा सकता है। जो स्थिति उत्तरी ध्रुव पर ध्रुवतारे की है, वही स्थिति दक्षिणी ध्रुव पर सदर्न क्रास (Southern Cross) नामक तारे की है। इसलिए दक्षिणी गोलार्द्ध में सदर्न क्रास नामक तारे की सहायता से अक्षांश का पता लगाया जा सकता है।

अक्षांश का पता सूर्य की सहायता से भी लगाया जा सकता है। २१ मार्च और २३ सितम्बर को दोपहर के समय सूर्य विषुवत् रेखा के ठीक ऊपर होता है, और ध्रुवों पर क्षितिज को छूता है। इसलिए इन दिनों सूर्य की ऊँचाई के कोण को ६० से घटाने से किसी भी स्थान का ठीक अक्षांश निकल सकता है। २१ जून को सूर्य की स्थिति दोपहर के समय २३.५° उत्तरी अक्षांश पर ठीक सिर के ऊपर होती है। इसलिए इस दिन सूर्य की ऊँचाई में २३.५° जोड़कर ६० से घटाने पर उत्तरी गोलार्द्ध के स्थानों का अक्षांश निकल आएगा। दक्षिणी गोलार्द्ध के किसी स्थान का अक्षांश निकालने के लिए इस दिन सूर्य की ऊँचाई के अंश में से पहले २३.५° घटाकर शेष को ६० से घटाना चाहिए। २२ दिसम्बर के दोपहर को सूर्य २३.५° दक्षिण अक्षांश पर ठीक सिर पर चमकता है, इसलिए इस दिन अक्षांश निकालने के लिए विपरीत क्रम रहता है। जहाजी पत्रांगों में ऐसी सारिणी दी जाती है, जिनमें पता लगाया जा सकता है कि किस तिथि को सूर्य

किस अक्षांश पर ठीक सिर पर रहता है। उत्तरी या दक्षिणी गोलार्द्ध के अनुसार उस अक्षांश के अंशों को अज्ञात स्थान के सूर्य की ऊँचाई के अंशों में जोड़ या घटाकर फल को ९० में से घटा देने पर उस स्थान का अक्षांश ज्ञात हो जायगा।

देशान्तर रेखाओं का पता लगाने के लिए सूर्य की स्थिति में सहायता ली जाती है। देशान्तर रेखा को 'मध्याह्न रेखा' भी कहते हैं, क्योंकि इस रेखा पर स्थित सभी स्थानों पर एक ही समय पर दोपहर होता है। पृथ्वी के घूमते रहने के कारण प्रत्येक देशान्तर रेखा बारी-बारी से सूर्य के ठीक सामने आ जाती है। परन्तु प्रत्येक भिन्न देशान्तर रेखा भिन्न समय पर सूर्य के सामने आती है। इसलिए उन पर सूर्योदय और दोपहर भिन्न-भिन्न समय पर होंगे। इस प्रकार भिन्न भिन्न देशान्तर पर प्रात और मध्याह्न का समय भिन्न हुआ। घड़ी का आविष्कार होने पर इस बात की आवश्यकता हुई कि किसी एक देशान्तर रेखा के समय के अनुसार सारे संसार की घड़ियों का समय रक्खा जाया करे। ऐसी मध्याह्न रेखा को 'आदि मध्याह्न रेखा' कहते हैं। प्रायः सारे संसार में लन्दन के ग्रीनिच नामक स्थान से गुज़रनेवाली रेखा ही 'आदि मध्याह्न रेखा' मान ली गई है और इसी के अनुसार सारे संसार भर की घड़ियों का समय मिलाया जाता है। इस रेखा को 'ग्रीनिच देशान्तर रेखा' (Greenwich Meridian) कहते हैं। इसका नाम ग्रीनिच की वेधशाला से पड़ा है। यह वेधशाला लन्दन के बाहरी भाग में बनी है।

पृथ्वी पर ३६० देशान्तर रेखाएँ खींची गई हैं। पृथ्वी अपना पूरा चक्कर २४ घंटे में लगा लेती है, इसलिए प्रत्येक देशान्तर रेखा को सूर्य के सामने आने में ४ मिनट लगते हैं। चूँकि पृथ्वी पश्चिम से पूर्व की ओर चलती है, इसलिए पूर्व की ओर के स्थानों में पहले सूर्य निकलता है। अर्थात् किसी पूर्वस्थित मध्याह्न रेखा पर उससे पश्चिमस्थित रेखा की अपेक्षा चार मिनट पहले सूर्य निकलेगा, और ४ मिनट पहले दोपहर तथा सूर्यास्त होगा। इसी प्रकार प्रत्येक १५ देशान्तर रेखाओं के पश्चात् उनके पूर्व या पश्चिमस्थित होने के अनुसार सूर्योदय, मध्याह्न आदि, अर्थात् १ घंटा पहले या पीछे होगा। किसी नये स्थान का देशान्तर जानने के लिए ग्रीनिच के समय की आवश्यकता होती है। बहुत-से जहाज ग्रीनिच का समय बतलानेवाली घड़ी क्रोनोमीटर (Chronometer) रखते हैं। सूर्य की सहायता से प्रत्येक स्थान का मध्याह्न जाना जा सकता है। स्थानीय मध्याह्न और ग्रीनिच के समय में जितने घंटे या मिनट का अन्तर हो, उन सबके मिनट बनाकर, मिनटों की संख्या को ४ से भाग देने पर देशान्तर निकल आयगा। यदि ग्रीनिच का समय पीछे है अर्थात् वहाँ अभी दिन के १२ नहीं बजे हैं, तो निकाला हुआ देशान्तर ग्रीनिच के पूर्व में होगा। यदि ग्रीनिच का समय आगे है, अर्थात् वहाँ की घड़ी में दिन के बारह बज चुके हैं, तो निकाला हुआ देशान्तर पश्चिम में होगा।

प्रत्येक देशान्तर का भिन्न समय होने से किसी देश में जितने ही देशान्तर होंगे, उतने समय होंगे। पर यदि भिन्न-भिन्न नगर अपने-अपने स्थानीय समय को ही प्रामाणिक मानने लगें, तब तो रेल आदि का कोई सार्वजनिक काम ही न हो सके। इसलिए देश की किसी मध्यवर्त्ती मध्याह्न रेखा का समय प्रामाणिक मान लिया जाता है। रेल, दफ़्तर, आदि देश के सभी विभागों में इसी मध्यवर्त्ती मध्याह्न रेखा के समय से काम लिया जाता है। भारत में मद्रास के समय को ही प्रामाणिक मानते हैं। सभी रेलवे स्टेशनों और नगरों की घड़ियों में मद्रास का समय रक्खा जाता है। केवल कलकत्ते में इस प्रामाणिक समय के साथ साथ स्थानीय समय का भी प्रयोग होता है। पर कनाडा आदि कुछ देशों का पूर्वी-पश्चिमी विस्तार इतना अधिक है कि उनके पूर्वी और पश्चिमी तट के स्थानीय समय में प्रायः ५ घंटे का अन्तर रहता है। ऐसे देशों में प्रामाणिक समय के कई कटिबन्ध मान लिये जाते हैं, जिससे स्थानीय समय और प्रामाणिक समय में कहीं भी आधे घंटे से अधिक अन्तर नहीं रहता है। एक महाशय ने सुविधा के लिए संसार को २४ भागों में बाँटा है। इसके अनुसार दो लगातार भागों में ठीक एक घंटे का अन्तर रहेगा। यदि सारे संसार में यही समय-विभाग मान लिया जाय, तो भिन्न-भिन्न भागों का समय जानने में बड़ी आसानी होगी।

जिस प्रकार किसी देश में स्थानीय समयों की गड़बड़ी मिटाने के लिए प्रामाणिक समय का मानना [illegible] होता है, उसी प्रकार भिन्न भिन्न [illegible] में [illegible] घड़ी को ठीक करने के लिए [illegible] का [illegible] भी [illegible] है। यदि १५ देशान्तर [illegible] का अन्तर [illegible] ३६० अंश को [illegible] २४ [illegible] का अन्तर हो जाता है। [illegible] इसलिए [illegible] १८० [illegible]

प्रति १५ देशान्तर की यात्रा में १ घंटा बढा लेता है। इसलिए पूरी परिक्रमा (३६० अंश) में उसका १ दिन बढ़ जायगा। इस गडबड़ी को दूर करने के लिए प्रायः १८०° देशान्तर रेखा अन्तर्राष्ट्रीय तिथि रेखा मान ली गई है। पश्चिम की ओर जानेवाले जहाज़ इसी रेखा तक अपना समय प्रति १५° देशान्तर में एक घंटा घटाते हैं। इस रेखा को पार करने पर वे एक तिथि बढ़ा लेते हैं। मान लो, उन्होंने २६ जून रविवार को यह रेखा पार की, तो इस रेखा की दूसरी ओर पहुंचते ही वे २७ जून सोमवार कर लेंगे। इसके विपरीत पूर्व की ओर आनेवाले जहाज़ १८०° देशान्तर को पार करते समय एक दिन घटा लेते हैं। अगर १८०° रेखा के पश्चिम से उन्होंने २७ जून सोमवार को प्रस्थान किया तो इस रेखा के पूर्व में वे २६ जून रविवार को पहुंचेंगे, मार्ग में उनको चाहे एक मिनट भी न लगा हो। इस रेखा को एक दिन में कई बार पार करनेवाले जहाज़ एक ही दिन में कई बार अपनी तारीख़ बदलते हैं। इस प्रकार बीच में तिथि बदल लेने से घर पहुंचने पर यात्रियों को वही तिथि मिलती है, जो उनके जहाज़ पर रहती है। पर उत्तर में एल्युशियन द्वीप के लोग राजनीतिक कारणों से वही तिथि रखना पसन्द करते हैं, जो एलास्का में रहती है। इसी प्रकार दक्षिण में फिजी और चैथम द्वीप भी न्यूजीलैंड का ही दिन रखना पसन्द करते हैं। इसलिए उत्तर और दक्षिण में अन्तर्राष्ट्रीय तिथि-रेखा कुछ टेढ़ी हो गई है, और १८०° देशान्तर से दूर भी हो गई है।

इस प्रकार अक्षांश और देशान्तर की सहायता से यात्री महासागरों और निर्जन वनों में भी अपनी ठीक-ठीक स्थिति निश्चित कर लेता है। स्थिति निश्चित करने का यह उपाय इतना सुगम सिद्ध हुआ कि जिन प्रदेशों में पैमायश न हो सकी, वहाँ अक्षांश और देशान्तर रेखाओं से राजनीतिक सीमा का भी काम लिया गया है। उदाहरण के लिए संयुक्त राष्ट्र अमेरिका और कनाडा के बीच में ४६ वीं उत्तरी अक्षांश बहुत दूर तक राजनीतिक सीमा बनाती है।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, अक्षांश रेखाएँ एक दूसरे के समानान्तर हैं। अतएव प्रति डिग्री अक्षांश के बीच का अन्तर हर जगह लगभग ६६ मील है। हाँ, [illegible]कि पृथ्वी बिल्कुल गोल नहीं है और ध्रुवों पर कुछ-कुछ [illegible] है, इसलिए कहीं-कहीं इस नाप में थोड़ा-बहुत [illegible] है। इसके विपरीत, देशान्तर रेखाएँ असमानान्तर रेखाएँ हैं, अतएव उनके बीच का अन्तर एकसाँ नहीं है। विषुवत् रेखा पर, जहाँ पर आकर देशान्तर रेखाओं के बीच का अंतर सबसे ज़्यादा हो गया है, इस अंतर की लंबाई प्रति डिग्री लगभग ६६ मील है। किन्तु ज्यों-ज्यों हम उत्तर या दक्षिण की ओर बढ़ें त्यों त्यों यह अंतर कम होता जाता है। ध्रुवों पर जाकर, जहाँ सब देशान्तर रेखाएँ मिलती हैं, वह अन्तर कुछ भी नहीं रह जाता। ध्रुवों और भूमध्य रेखा के बीच देशान्तर का प्रति डिग्री का अन्तर प्रति १० अक्षांश पर क्रमशः कितना कम होता जाता है, यह नीचे की तालिका में दिया जा रहा है:—

अक्षांश	देशान्तर का अंतर	सबसे बड़ा दिन		सबसे छोटा दिन	
डिग्री	मील	घ०	मि०	घं०	मि०
०	६६·२	१२	६	१२	६
१०	६८·१	१२	३८	११	३०
२०	६५·०	१३	१८	१०	५२
३०	६०·०	१४	०	१०	१०
४०	५३·१	१४	५८	६	१६
५०	४४·६	१६	१८	८	०
६०	३४·७	१८	४४	५	४४
७०	२३·७	२४	०	०	०
८०	१२·५	२४	०	०	०
६०	०	२४	०	०	०

यहाँ यह भी बता देना असंगत न होगा कि विषुवत् रेखा पर अक्षांश का एक अंश ६८·७ मील और ध्रुव-प्रदेशों में ६६·४ मील है। इसका कारण पृथ्वी का ध्रुवों पर चिपटा होना ही है।

अक्षांश और देशान्तर रेखाओं की यह योजना वास्तव में बड़ी चतुराई की योजना है। पृथ्वी के कई स्थानों का एक ही अक्षांश भले ही हो, और इसी तरह एक ही देशान्तर पर स्थित कई स्थान भी हमें मिल सकते हैं, किन्तु ऐसे दो स्थान आपको पृथ्वी पर कहीं भी नहीं मिल सकते जिनकी देशान्तर और अक्षांश दोनों एक हों। ऐसा स्थान जो भी होगा केवल एक ही होगा। अतएव पृथ्वी के किसी भी स्थान विशेष का ठीक अक्षांश और देशान्तर जान लेने पर निश्चित रूप से उस स्थान की स्थिति का निर्णय करने में किसी भी प्रकार की ग़लती होने की संभावना नहीं है। इस तरह हम देखते हैं कि भौगोलिक अध्ययन के लिए ये रेखाएँ कितनी अधिक महत्त्वपूर्ण हैं!

पड़ती है। इस यंत्र से हम छोटी वस्तुएँ बढ़ा कर देख सकते हैं। हम अपने शरीर के बालों को लट्ठे-जैसे, रेत के कणों को क्रिकेट की गेंद या कैथे सरीखे या इससे भी घटा बढ़ाकर देख सकते हैं। इस यंत्र से हमको जीवनमूल के बारे में बहुतेरी बातों का पता लगता है।

चित्र २—खुर्दबीन या अणुवीक्षण यंत्र

जिसके आविष्कार से विज्ञान को मानो दिव्य दृष्टि मिल गई है, जिससे अब अति सूक्ष्म जीव-सृष्टि का भी प्रत्यक्ष दर्शन करना सभव हो गया है। [फ़ोटो श्री० वि० शर्मा।]

जीवनमूल में प्रायः प्रतिशत ६० भाग पानी होता है और शेष में प्रत्यामिन (Protein) आदि। जीवन क्रियाओं के लिए पानी बड़ी ज़रूरी चीज़ है।

स्वाभाविक दशा में जीवनमूल रंगहीन, पारदर्शी (transparent), अर्धद्रव (semifluid), चिपचिपा और लसलसा होता है। इसमें मधुरीन (glycerine) का जैसा गाढ़ापन है। अत्यन्त शक्तिशाली खुर्दबीन से देखने पर यह दरदरा जान पड़ता है। इसमें सकोचन (contractibility), संसक्ति (cohesion), लचकीलापन (elasticity) और तनावपन होता है। इसका आसानी से थक्का (coagulation) हो जाता है। यह प्रतिक्रियाशील पदार्थ है, जो आमतौर पर २° श० से लेकर ३५° श० तक ताप में सजीव रहता है। कभी-कभी यह इससे अधिक या ताप में भी जिंदा रहता है। किसी-किसी स्थान में गंधक के चश्मों के पानी का ताप ३५° श० से कहीं अधिक होता है, लेकिन फिर भी उसमें अनेक कीटाणु रहते हैं।

विश्लेषण से पता चलता है कि जीवनमूल में कार्बन, हाइड्रोजन, ऑक्सिजन, गधक और प्रायः फास्फोरस होता है। आक्सिजन-हाइड्रोजन इसमें उसी मात्रा में होते हैं, जिसमें वे पानी में होते हैं।

चित्र ३—प्याज की जड़ के आड़े कत्तल का फोटो

। खुर्दबीन द्वारा परिवर्धित कर खींचा गया है। इसमें जो नन्हें नन्हें अनेक भाग दिखाई देते हैं, वही कोश हैं। [फ़ोटो—श्री० वि० मा० शर्मा।]

सभवतः जीवनमूल एक कलोदक्रम (colloidal system) है।

कलोदावस्था की वस्तुओं के यथार्थ महत्त्व को समझने के लिए हमको वास्तविक घुलन (true solution) और कलोद-वितरण (colloidal dispersion) के भेद का जानना आवश्यक है।

यदि हम पानी में थोड़ी-सी शक्कर या नमक डालकर हिला दें, तो ये चीज़ें पानी में मिल जायँगी और इनका घोल तैयार हो जायगा। नमक और शक्कर के कण अत्यन्त छोटे होते हैं और पानी में डालने से वे घुल-मिल जाते हैं। यह यथार्थ घोल है। अगर हम शक्कर या नमक के बजाय

शुद्ध बालू या रेत लें और इसको पानी में डालकर घोलना चाहें, तो सफल नहीं होंगे। बालू के कण पानी में घुलेंगे नहीं; हाँ, वे कुछ देर तक पानी में अवलम्बित रह सकते हैं। जितने ही छोटे बालू के कण होंगे, उतनी ही अधिक देर तक वे पानी में अवलम्बित रहेंगे। यदि हम इस गँदले पानी को थोड़ी देर के लिए एक ओर रख दें, तो बालू नीचे बैठ जायगी और पानी साफ हो जायगा। अब अगर हम रेत के बजाय अत्यन्त महीन पिसी चिकनी मिट्टी ले लें और उसको पानी में डालकर घोल तैयार करें, तो पानी बराबर गदला रहेगा और इसमें चिकनी मिट्टी के कुछ-न-कुछ कण बराबर अवलम्बित रहेंगे। यह कलोद वितरण है। वास्तव में न रेत ही पानी में घुलनशील है और न चिकनी मिट्टी ही, परन्तु रेत के कण बड़े होते हैं, इसलिए वे पानी में थोड़ी ही देर तक अवलम्बित रहते हैं, और चिकनी मिट्टी के कण छोटे, इसलिए वे बराबर अवलम्बित रह सकते हैं। अन्य वस्तुओं के भी ऐसे अवलम्ब घोल बन सकते हैं। कलोदावस्था को प्राप्त
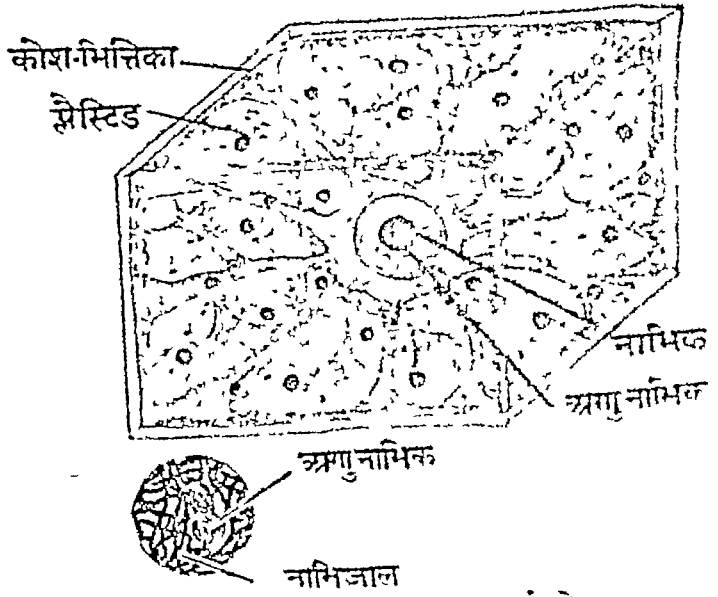
चित्र ४—जीवन की इकाई या आदर्श कोश

इस चित्र में कोश की रचना समझाई गई है। [illegible] गया है। [illegible] गये हैं। [चित्र [illegible]।]

वस्तुओं के कण बहुत छोटे होते हैं, [illegible]

पायसोद (Emulsoid) कहते हैं। इस दशा में एक द्रव पदार्थ दूसरे द्रव पदार्थ में अवलम्बित रहता है। पायसोद के कणों में विद्युत्संचार बहुत ही कम रहता है। कलोदों के विषय में आपको विशेष बातों का पता भौतिक रसायन से चलेगा; यहाँ पर केवल प्रसगवश कुछ साधारण बातों का उल्लेख किया गया है। कलोदों की प्रतिक्रिया से अनुमान होता है कि जीवनमूल की अनेक क्रियाएँ कदाचित् उसकी इसी अवस्था के कारण हैं; परन्तु जीवनमूल किस भाँति का कलोद है, हमको यथार्थ में पता नहीं।

कोश, नाभिक, अणुनाभिक और कोशमूल

प्राणियों के शरीर में जीवनमूल बहुत छोटी-छोटी अणुवीक्षणीय कोठरियों में बँटा रहता है (चि० ३)। खुर्दबीन से देखने से ये शहद की मक्खी या बर्रे के छत्ते के समान दिखाई देती हैं। इसलिए इनको कोश (cell) कहते हैं। वास्तव में कोश वर्गाकार संदूक-सरीखे होते हैं, जिनमें ऊपर-नीचे और चारों ओर घेरे होते हैं (चि० ४)।

सजीव जीवनमूल को हम प्याज के भीतरी पर्त के महीन छिल्के के कोशों में (चि० ५ अ) या किसी-किसी पानी में उगनेवाले पौधे के कोशों में, अथवा साइनोटिस (*Cyanotis*) या ट्रैडिशकैन्शिया (*Tradeshcantia*) के लिंगसूत्रों के रोमकोशों में (चित्र ५ ब) शक्तिशाली खुर्दबीन से देख सकते हैं। परन्तु जीवनमूल में इतनी अधिक पारदर्शिता होती है कि उसका आसानी से दिखाई देना कठिन है। इसलिए इसकी कोशभित्तिकाओं तथा कोश के अन्दर की दूसरी वस्तुओं को स्पष्ट करने के लिए घोलों को काम में लाते हैं। टिंक्चर आयोडीन में डुबोने से यह भूरे रंग [illegible] जाता है, इसलिए सरलता से दिखाई देता है। [illegible] से देखने से हमको कोश के बीचो-बीच जीवनमूल में एक गोल-गोल गाढ़ी वस्तु दिखाई देती है (चित्र ४-५)। इसे नाभिक (Nucleus) कहते हैं। नाभिक भी जीवनमूल ही है, लेकिन इसमें फास्फोरस का अंश अधिक होता है। नाभिक में अधिकांश भाग नाभिक-रस (nuclear sap) का होता है। इस रस में एक गाढी वस्तु का जाल होता है (चि० ४ अ)

प्रायः सभी नाभिक में एक अणुनाभिक (Nucleolus भी होता है (चि० ४)। यह अत्यंत छोटा और नाभिक से भी गाढ़ा होता है। नाभिक कोश का मुखिया है। कोश की सारी क्रियाएँ इसी के आज्ञानुसार होती हैं।

कोश के साधारण जीवनमूल को कोशमूल (Cyto plasm) कहते हैं।

कोशों में जीवनमूल स्थिर नहीं रहता, वरन् वह बराबर बहता रहता है। अक्सर हम इस घटना को देख नहीं पाते; परन्तु किसी-किसी पौधे के विशेष अंगों (जैसे ट्रैडिशकैन्शिया के लिंगसूत्र) में (चित्र ५ ब) हम इस क्रिया को अत्यंत शक्तिशाली खुर्दबीन से देख सकते हैं। कभी-कभी जीवन मूल के साथ कोश की अन्य वस्तुएँ भी घूमती रहती हैं। इस दशा में हम इस घटना को आसानी से देख सकते हैं (चि० ६ अ)।
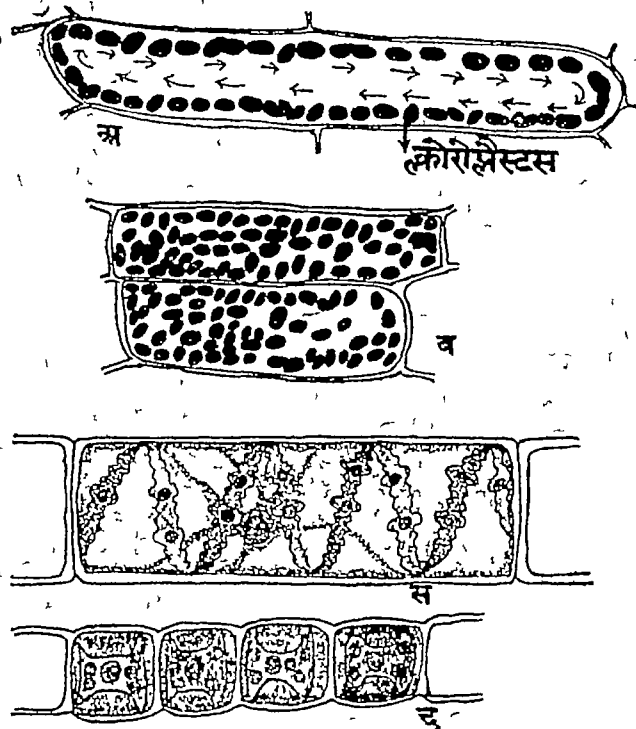
चित्र ६

अ हडिला के कोश में फिरते हुए क्लोरोप्लैस्ट्स। तीर के चिह्नों द्वारा एक क्लोरोप्लैस्ट के घूमने की दिशा समझाई गई है। ब—हड्लिा में भरे हुए क्लोरोप्लैस्ट्स। स द—स्पायरोगायरा और यूलोथ्रिक्स में लहरदार क्लोरोप्लैस्ट्स होते हैं। यूलोथ्रिक्स के क्लोरोप्लैस्ट्स घोड़े की काठी की शक्ल के होते हैं (दे० द)।

प्लैस्टिड्स

जीवनमूल और नाभिक के अलावा कोश में और भी अनेक वस्तुएँ होती हैं। इनमें प्लैस्टिड्स (Plastids) मुख्य हैं। ये भी एक प्रकार से जीवनमूल ही हैं। इनकी रचना पूर्ववर्ती प्लैस्टिड्स से होती है। प्लैस्टिड्स के कई भेद हैं। ये भेद इनके रंग के अनुसार माने गये हैं। सबसे अधिक महत्त्व के हरे रंग के प्लैस्टिड्स या क्लोरोप्लैस्ट्स (Chlroplasts) हैं (चि० ६)। ये पत्तियों और पेड़ के दूसरे हरे अंगों में होते हैं। इनमें पर्णहरित होता है, जिसके प्रभाव से कर्बोदेत-श्लेषण होता है।

में हम जहाँ तक निश्चत कर सकते हैं, **जीवों की उत्पत्ति जीवों से ही होती है। जीवनमूल ही जीवनमूल को बनाता है।** यह जीवनमूल निर्जीव वस्तुओं को परिवर्तित कर अपने समान सजीव बनाता है। यह जल, वायु, नमक जैसे पार्थिव पदार्थों से जीते-जागते जीवनमूल का संश्लेषण करता है। परन्तु हम इसका संश्लेषण नहीं कर सकते।

चित्र ८—कुंड की उत्पत्ति

प्रारंभ में कोश जीवनमूल से भरे रहते हैं (चित्र में **अ**)। क्रमशः उनमें नन्हें-नन्हें अनेक कुंड बन जाते हैं (चित्र में **ब**), जिनके बढ़ने और आपस में मिल जाने से (चित्र में **स**) एक कुंड बन जाता है (चित्र में **द**)। [चित्र लेखक द्वारा।]

कोश के अन्दर की अन्य वस्तुएँ—माड़ी, प्रोटीन, तेल और रवे आदि।

जीवनमूल, नाभिक, प्लैस्टिड्स के अलावा कोशों में और भी अनेक वस्तुएँ होती हैं। इनमें प्रोटीन या प्रत्यामिन (Protein), माड़ी (Starch), चर्बी और भाँति-भाँति के तेल मुख्य हैं। इनसे पेड़ों के अंग बढ़ते हैं। यही उनकी खूराक है। इन्हीं को वे आपत्-काल के लिए भी संग्रह कर रखते हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि प्रत्यामिन अत्यन्त प्रयोजनीय खाद्य पदार्थ हैं—हमारे और आपके ही लिए नहीं, वरन् सभी जीवों के लिए। इसी से उनके अंग बनते हैं। इससे उनको सामर्थ्य भी प्राप्त होता है। गोश्त, अंडा, दूध और दालों में इसकी मात्रा अधिक होती है। यह गेहूँ तथा मक्के आदि में भी होता है। पेड़ों के कोशों में यह वस्तु दानों के रूप में दिखाई देती है (चि० ७ अ-ब)। इसका संश्लेषण और उपभोग पेड़ों में किस प्रकार होता है, हम आगे चलकर वर्णन करेंगे।

प्रोटीन की भाँति माड़ी भी अत्यंत आवश्यक वस्तु है। जीवों के भोजन में इसका होना जरूरी है। उनको शक्ति इसी से मिलती है। शरीर में यह इंजिन के कोयले का काम करता है।

माड़ी का संश्लेषण पेड़ों में क्लोरोप्लैस्ट्स करते हैं। माड़ी पेड़ों के अंगों में दानों के रूप में होती है (चि० ७ स)। माड़ी के दाने प्रायः सभी पेड़ों में और उनके प्रत्येक अंग में होते हैं, परन्तु पत्ती, जड़ों, आलू जैसे तनों और फल व बीजों में यह अधिकता से होते हैं। आलू में लगभग १०० मन में २७ मन माड़ी होती है। और गेहूँ-ज्वार में इससे भी अधिक। कभी-कभी १०० मन गेहूँ या मक्का में ८५ मन तक माड़ी का भाग होता है।

चित्र ९—पपीता

इसमें पेपन नामक एनजाइम होता है, जो प्रोटीन को हजम करता है।

[फ़ोटो—श्री वि० स० शर्मा]

माड़ी के दानों के आकार और बनावट में बड़ा भेद होता है। आयोडीन के घोल में माड़ी के दाने बैंगनी या नीले हो जाते हैं। आप इसकी परीक्षा आलू और चावल, गेहूँ वग़ैरह से कर सकते हैं।

तेल और चर्बी भी परम प्रयोजनीय वस्तुएँ हैं। आर्थिक विचार से ये भी बड़े मतलब के द्रव्य हैं। ये भी खाद्य पदार्थों में से हैं। पेड़ों में ये प्रायः बीजों और फलों में होते हैं। सरसों, तिल्ली, मूँगफली, नारियल, पोस्ता, अलसी, गुल्लू आदि के तेलों को हम बराबर काम में लाते हैं। पेड़ों के कोशों में

यह रस जब तक पेड़ों में रहता है, साफ और पतला रहता है; परन्तु पेड़ से बाहर निकलते ही गँदला और गाढ़ा हो जाता है। इस रस का रंग अक्सर दूधिया होता है, लेकिन कभी-कभी पीला, लाल या नीला भी होता है। रस का रंग और गुण उसमें अनेक छोटे-छोटे अवलम्बित कणों के कारण होता है। रबर और अफ़ीम भी इन्हीं दूधिया रसों में से हैं। ऐसे रसों की विषैली अवस्था बहुधा इनमें अवलम्बित वस्तुओं के ही कारण होती है।

पेड़ों में इस प्रकार के रस उनके बड़े काम के होते हैं। रबर के पेड़ में यह रस इसलिए नहीं होते कि लोग इनके ट्यूब-टायर बनायें या जूते और बरसाती पहनकर घूमें। वास्तव में ये रस उन पेड़ों के बड़े प्रयोजन के हैं। ये लकड़ी काटनेवाले कीड़ों से उनकी रक्षा करते हैं और घाव को भरते हैं। लकड़ी काटनेवाले कीड़े जिस समय ऐसे पेड़ों में छेद करते हैं, पेड से तेजी के साथ दूध बह निकलता है। बाहर आने पर यह दूध जम जाता है और अक्सर कीड़े इसमें फँसकर अपनी जान से भी हाथ धो बैठते हैं। दूधवाले पेड़ बहुधा भूमध्य रेखा के निकटवर्त्ती देशों में अधिक होते हैं।

किसी किसी पेड़ का दूध बड़ा पौष्टिक होता है, परन्तु अधिकतर यह विषैला होता है। लंका में जिम्निमा लैक्टीफेरम (*Gymnema lactiferum*) नाम का वृक्ष है जिसके दूध को वहाँ के निवासी गाय-भैंस के दूध के समान वर्त्तते हैं। अमरीका में इसी भाँति का ग्लैक्टोडेंड्रन यूटिले (*Glactodendron utile*) नामक एक वृक्ष है, जिसका दूध भी इसी तरह काम में आता है। इस पेड़ को दुग्धवृक्ष कहते हैं।

चित्र १२—नाटेला
शैवाल जैसा एक जल का पौधा जिसका प्रत्येक पोर (internode) लंबान में एक कोश होता है।

... मज़े की बात ... सभी दूधवाले

चित्र १३—कपास की एक टहनी
इसके बिनौले पर उगी रुई (कपास) के रेशे एककोशीय हैं।
[फ़ोटो—श्री वि० शर्मा]

पेड़ों के रस स्वादिष्ट दूध-जैसे होते! थके-माँदे मुसाफ़िरों लिए कितना सुभीता हो जाता! जहाँ पहुँचते, दूध तैयार मिलता। परन्तु ऐसा नहीं है। इस प्रकार के पेड़ों का रस, जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, अक्सर ज़हरीला ही होता है। कितने ही पेड़ों के दूधरस प्राणघातक विष हैं। अफ़ीम जो पोस्ते के फल से निकलता है, इन्हीं में से है। कितने ही पेड़ों का रस बदन में लगते ही फफोले पड जाते हैं। थूहड़ का रस यदि आँख में पड़ जाय, तो बड़ा कष्ट मिलता है।

रवे (Crystals)

पेड़ों में अनेक प्रकार के रवे भी होते हैं। ये प्रायः काष्ठिकाम्ल (Oxalic acid) और कार्बोनिक एसिड के रवे होते हैं। कनेर की पत्ती और कोशों में (चि० ७ फ) ये सरलता से दिखाई देते हैं।

नागफनी की जाति के किसी-किसी पौधे में प्रायः काष्ठिकाम्ल की मात्रा इतनी अधिक होती है कि यदि कहीं यह अम्ल कोश में घुला रहता तो पेड़ जीवित न रह सकता। परन्तु ऐसा नहीं होता। पोटैशियम या कैल्शियम से मिलकर इस अम्ल के नमक बन जाते हैं, जो घुलनशील नहीं होते, इसलिए पेड़ों को हानि नहीं पहुँचाते।

रवों से मिलती-जुलती दूसरी अनेक उपोत्पादित वस्तुएँ

प्राप्त होती हैं, जैसे रूह, अम्ल, रवे, मोम आदि, और तीसरी वे जो अन्य वस्तुओं के विदारण से बनी हैं, जैसे गोंद।

आश्चर्य की बात है कि इन नन्हीं-नन्हीं अदृश्य कोठरियों के अन्दर कैसे-कैसे द्रव्य सचित रहते हैं! जीवनमूल के इन अति सूक्ष्म भागों में कैसी-कैसी लीलाएँ होती रहती हैं! किसी विद्वान् ने सच कहा है कि प्रत्येक कोश एक कीमियाघर है, जिसमें विश्लेषण से कहीं अधिक संश्लेषण होता है।

कोशभित्तिका

जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, पेड़ों के कोश घेरे के अन्दर होते हैं। ये घेरे प्रारम्भ में छिद्रोज के बने होते हैं, जो एक प्रकार का कर्बोदेत है और इस जाति की अन्य वस्तुओं की भाँति कार्बन, ऑक्सिजन और हाइड्रोजन से बनता है।

भित्तिकाएँ ही कोश का अवलम्ब हैं। यही पेड़ों का ढाँचा बनाती हैं, इसीलिए प्रायः ये बड़ी मज़बूत और मोटी होती हैं। शीशम, सागौन, नीम तथा अन्य पेड़ों की लकड़ी; छुहारे, बेर अथवा खजूर की गुठली; अखरोट, और बादाम के छिलके और नारियल के खोपड़े, जो इतने कठीले होते हैं, यथार्थ में कोशभित्तिकाएँ ही हैं। प्रारम्भ में ये भी कोमल थे और इनके कोश जीवनमूल से भरे थे। यह जीवनमूल कोशों की बाढ-वृद्धि में चुक गया है और इन कोशों की भित्तिकाएँ परिवर्तित हो कठीली हो गई हैं।

भित्तिकाओं का वह भाग, जिसे जीवन रस प्रारम्भ में बनाता है, मध्य प्राचीर (Middle-lamella) कहलाता है (चि० ११)। यही कोशों को आपस में जोड़े रहता है।

कोशों के भेद और आकार

कोश अनेक प्रकार के होते हैं। कोई छोटे, कोई बड़े, कोई गोल, चौकोर या अन्य भाँति के (चि० ३-८)। आप देख चुके हैं कि क्लैमाइडोमोनस में ये नाशपाती जैसे; प्याज़ के छिल्के में बहुकोण और ट्रेडिशकेन्शिया के लिंगसूत्रों के रोमों में गोल, तिकोने या आयताकार होते हैं। इनके और भी अनेक रूप हैं, जिनसे आप आगे चलकर परिचित होंगे। आम तौर पर सभी कोश अत्यन्त छोटे और अणुवीक्षणीय होते हैं। साधारण पत्ती में करोड़ों कोश होते हैं। आम तथा जामुन जैसे वृक्ष में कितने कोश होंगे, अनुमान करना असम्भव है।

ज्योतिषशास्त्र के विद्वान् पृथ्वी से सूर्य तथा अन्य अनेक ग्रहों की दूरी के विषय में ऐसी संख्याएँ बताते हैं कि उनकी कल्पना करना कठिन है। इस ग्रंथ के द्वितीय खण्ड में ज्योतिष स्तम्भ (आकाश की बातें) में आपने पढ़ा होगा कि यदि हम साठ मील प्रति घण्टे की गति से चलनेवाली रेलगाड़ी में बैठकर सूर्य तक बिना कहीं रुके लगातार यात्रा करें, तो हमको १७५ वर्ष से कम न लगेगा। इस समय में हम सवा नौ करोड़ मील की यात्रा कर चुकेंगे। आपको इस पर आश्चर्य अवश्य होता होगा; आश्चर्य की बात भी है। परन्तु इससे भी अधिक आश्चर्य आपको होगा, यदि आप किसी साधारण पेड़—आम, जामुन, सेब आदि—के कोशों की संख्या का अनुमान करना चाहें। इस सम्बन्ध में हम केवल इतना ही कह देना चाहते हैं कि यदि सूर्य तक यात्रा करनेवाला दीर्घजीवी साहसी पुरुष सेब-जैसे एक पेड़ के कोशों की गणना करने के अभिप्राय से उसे अपने साथ लेता जाय और यदि वह एक मिनट में एक कोश भी अलग करके फेंक सके, तो पूर्व इसके कि वह ऐसे पेड़ की दो पत्ती के भी कोश अलग कर बिखेर सके, उसकी दुर्गम यात्रा का अन्तिम दिन आ पहुँचेगा।

किसी-किसी पौधे के कोश इतने बड़े होते हैं कि बिना ख़ुर्दबीन की सहायता के भी देखे जा सकते हैं। नाइटेला (*Nitella*) (चि० १२), जो एक प्रकार का शैवालादि की भाँति का पौधा है, के कोश लगभग २ इंच लम्बे और इंच के पचीसवें भाग मोटे होते हैं। कपास या रुई के रेशे भी एककोशीय रोम हैं (चि० १३)।

विचार करने की बात है कि बड़े-से-बड़े और दृढ़-से-दृढ़ वृक्ष तथा बलिष्ठ-से बलिष्ठ पशु अथवा स्वयं मनुष्य भी कोशों ही के समूह हैं। सभी का जीवनारम्भ एक अणुवीक्षणीय मृदुल कोश से होता है। इसी से समय पाकर उनके विशाल कलेवर बनते हैं—इसी से उनके सारे अंगों का विकास होता है। इसी एक कोश से बढ़कर आम-जामुन दीर्घकाय वृक्ष हो जाते हैं। जिस समय इनका बीज प्रगाढ़ निद्रा छोड़ अंकुर रूप में बाहर हो प्रकाश में प्रथम बार निकलता है, वह कितना मुलायम होता है (चि० १४)! तनिक धक्का लगने से ही उसकी जीवन-लीला का अन्त हो सकता है। हल्के-से हल्के प्रहार से उसके टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं। आप चाहें तो उसे चुटकी से मसल दें। कोई भी जीव जन्तु कीड़ा-मकोड़ा बिना प्रयास ही उसका सर्वनाश कर सकता है। परन्तु यही अंकुर समय पाकर विशाल
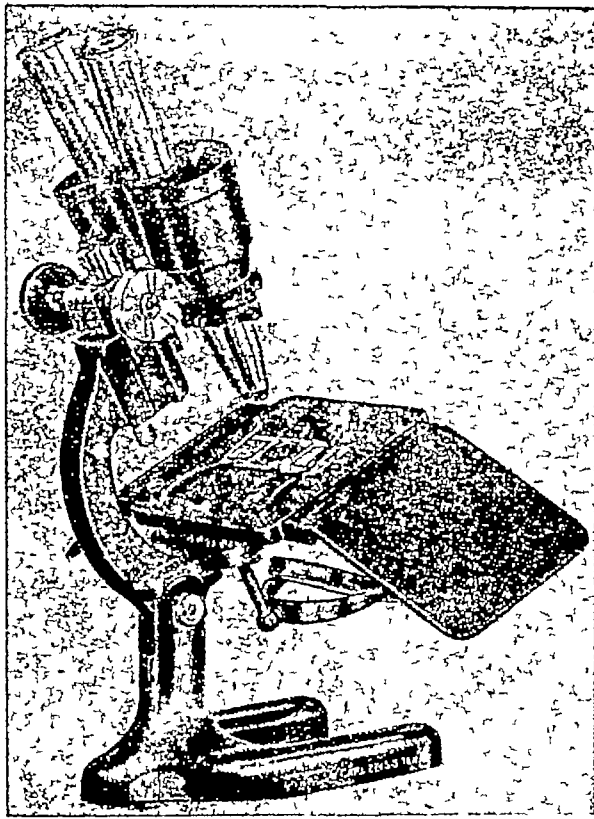
(दाहिनी ओर) ल्यूवनहॉक और उसका खुर्दबीन जो केवल एक आतिशी शीशे जैसा था, जिसे कि वह हाथ में लिए हुए है।

(बाईं ओर) आधुनिक सूक्ष्मदर्शक यंत्र जिससे वैज्ञानिकों को दिव्य दृष्टि प्राप्त हो गई है।

(दाहिनी ओर) महान् वैज्ञानिक लुई पाश्च्योर
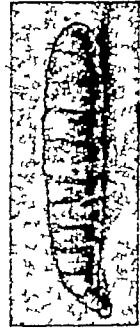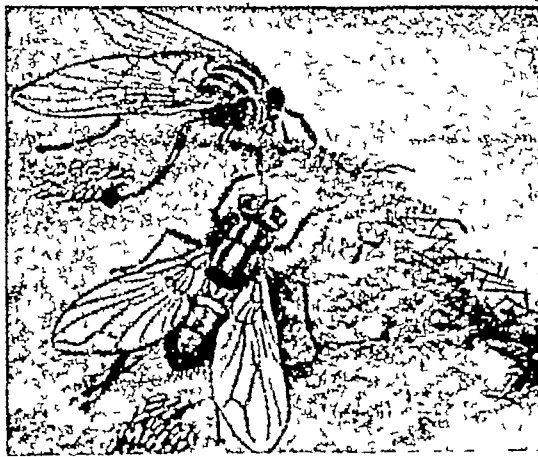
(बाईं ओर) घरेलू मक्खियाँ। (ऊपर) एक सूड़ी।

(नीचे बाईं ओर) ढककर रखा हुआ गोश्त, जिसमें मक्खियों से बचाव होने के कारण सूँड़ियाँ नहीं पड़ीं। (दाहिनी ओर) खुला रहने के कारण गोश्त में सूँड़ियाँ पड़ गई हैं, जो ऊपर के कोने में दिखाई गई हैं।
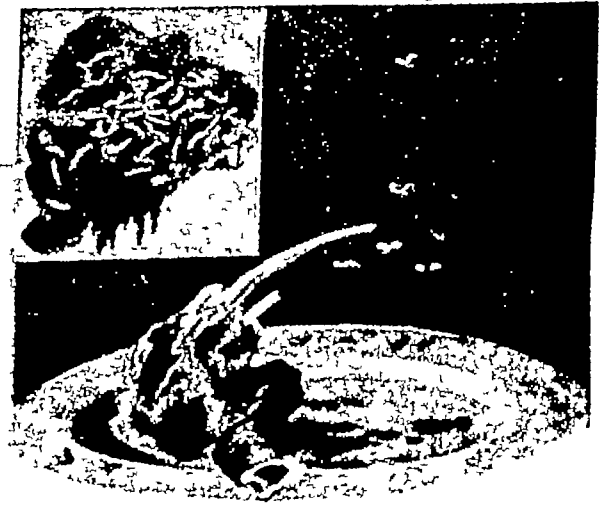
या उनमें स्वय ही पैदा होते या बन जाते हैं। उनके पास उस समय न आतशी शीशे थे, न सूक्ष्मदर्शक यन्त्र, जिनसे वे यह देख सकते कि सूँड़ियाँ सड़ते हुए मास से नहीं पैदा होतीं, बल्कि उन सूक्ष्म अडों से पैदा होती हैं, जो मक्खियाँ वहां दे देती हैं। न वे इन छोटे-छोटे जानवरों और कीड़ों के आँखों के लिए अदृश्य अंडों का ज्ञान प्राप्त कर पाए और न पेड़ों के उन बहुत से बीजों का ही पता लगा पाए थे, जो अनजान में ही मिट्टी में दबे रह जाते थे। अतः उनका यह दृढ़ विश्वास था कि जीव बहुत से प्राणियों में अचानक अपने आप अनैन्द्रिक पदार्थों से उत्पन्न हो सकता है। किन्तु अब सूक्ष्मदर्शक यन्त्र द्वारा कोई भी देख सकता है कि वास्तव में ऊपर बताये हुए जीवों में अंडे या बीज होते हैं और नये जीव उन्हीं से पैदा होते हैं। ये अडे और बीज इतने छोटे होते हैं कि मनुष्य को केवल आँख से वे नहीं दिखाई देते।

पुराने लोगों का विश्वास

यूनान देश का प्रसिद्ध प्रकृतिवादी अरस्तू (Aristotle), जो ४०० वर्ष ई० पू० अर्थात् अब से २३४० वर्ष पहले हुआ है, विश्वास करता था कि मेढक और उसकी तरह के काफ़ी ऊँची रचनावाले जीव भी दलदलों में एकाएक पैदा हो जाते हैं। इसी तरह रोम के नामी लेखक वर्जिल ने एक जगह शहद की मक्खियों को पैदा करने की विधि बतलाई है। इसी प्रकार कई शताब्दियों तक विद्वानों का यह मत रहा है कि बहुत-से जीव जैसे वे दिखाई देते हैं वैसे ही प्रकृति द्वारा गढ़े गये हैं और आप-से-आप ही वे पृथ्वी पर पैदा हो जाते हैं। यह बात उनको ऐसी स्पष्ट प्रतीत होती थी कि उनको इसके विषय में कभी भ्रम ही नहीं हुआ। यहाँ तक कि १७वीं शताब्दी के साहित्य में बहुत-से लेखों से विदित होता है कि गोबर से गुबरीले का पैदा होना, तितली-पंखफुट्टों का घास फूस या अन्य सड़े-गले पदार्थों से बन जाना, धरती से चूहों का उत्पन्न होना आदि बातों पर जो लोग सदेह करते थे, उनका अन्य लेखक मज़ाक उड़ाया करते थे।

तब से अब मनुष्य का ज्ञान बहुत बढ़ गया है। आजकल छोटे छोटे बालक बालिकाएँ, जो स्कूलों में प्रकृति के विषय में पढते हैं, अडों और इल्लों को पालकर स्वय ही तितली निकालते हैं। वे यह भी जानते हैं कि नन्हें-नन्हें मेढक के बच्चे, जो पहला पानी बरस जाने के बाद खेतों और बग़ीचों में कूदते दिखाई देने लगते हैं, बिल्कुल कीचड़ या [illegible]ी मिट्टी से उत्पन्न नहीं हुए हैं, बल्कि वे मछली-जैसे [illegible] में तैरनेवाले उन छोटे-छोटे दुमदार बच्चों से बदलकर बनते हैं जो अपनी माँ के दिये हुए अंडोंसे निकलते हैं। अडे से लेकर मेढक बनने तक की सारी अवस्थाएँ बड़ी आसानी से देखी जा सकती हैं। जीवन विज्ञान की शिक्षा देनेवाले लगभग सभी स्कूल और कालेजों के म्यूज़ियमों में ये अवस्थाएँ हर समय देखी जा सकती हैं। यह सब होते हुए भी कितने अन्य देशों के निवासी अब भी ऐसे हैं, जो यह समझते हैं कि जब पहले-पहल वर्षा होती है, तो उस वर्षा के साथ ही बीर-बहूटी भी या तो बरसती हैं या अकस्मात् पैदा हो जाती हैं; बरसात में रक्खे हुए आटे में सूँड़ियाँ आटे में ही सील से पैदा हो जाती हैं; नाबदानों में रुके हुए पानी में मिट्टी के सड़ने से ही सूँडे बन जाते हैं। इन लोगों का यह विश्वास उन प्राचीन लोगों की ही तरह केवल अज्ञानता के कारण है, जिनका कि विचार था कि तितली और अँखफुट्टे अंडे से नहीं पैदा होते, बल्कि वे स्वयं ही बन जाते हैं।

पुराने ज़माने में लोगों का यह स्वभाव था कि वे जो कुछ और लोगों से सुनते या पढते अथवा जिन बातों पर वे यक़ीन करते थे, उनकी जाँच किये बिना ही उन्हें सच मान लेते थे। उनमें वैज्ञानिक दृष्टिकोण का समावेश नहीं हुआ था और न उन्होंने विज्ञान का यह मुख्य पाठ ही सीखा था कि अपने विश्वासों और मतों को स्वय जाँच लेना चाहिए। इसलिए १७वी शताब्दी के मध्य तक किसी का ध्यान इस ओर नहीं गया कि इस बात की परीक्षा की जाय कि सड़े हुए गोश्त में क्या सचमुच ही अपने आप ही सूँड़ियाँ पैदा हो जाती हैं। पहले पहल इस बात की जाँच करने को इटली के रेडी (Redi) नामक प्रकृतिवादी और कवि का ध्यान गया। इसका पता लगाने के लिए उसने साधारण-सी परख निकाली। उसने गोश्त के टुकड़े कई अलग-अलग बर्त्तनों में रक्खे। कुछ को खुला रहने दिया और कुछ को ऐसे कपड़े या जाली से ढक दिया कि उनमें किसी प्रकार की भी मक्खियाँ न जा सकें। तब देखा गया कि सूँड़ियाँ केवल उन्हीं गोश्त के टुकड़ों में बनीं जो खुले रक्खे थे, जिन पर मक्खियों के बैठने के लिए कुछ रोक न थी। रेडी साहब ही ने पहलेपहल यह भी पता लगाया कि ये सूँड़ियाँ ही बढ़कर मक्खी बन जाती हैं। तब रेडी ने अधिक खोज की और अडे भी देख लिये। इससे उसको पूर्ण विश्वास हो गया कि मक्खियों के दिये हुए अंडों से ही सूँड़ियाँ निकलती हैं, वे सड़े गोश्त में से नहीं बनतीं, जैसा कि उस समय के लोगों का आम विश्वास था। रेडी के इस विषय-संबंधी प्रयोगों का पूर्ण विवरण सन्

हैं। जब अमीबा के खाने के लिए बैक्टीरिया उत्पन्न हो जाते हैं, तभी अमीबा का जन्म होता है; फिर उसके बाद उसको खानेवाले अन्य जीव बनते हैं, और तदनन्तर इन जीवों को खानेवाले 'रोटीफ़र' पैदा होते हैं।

पहले के लोगों में जिन्होंने सूक्ष्मदर्शक यन्त्र में शुद्ध जल, रुका हुआ जल, घास और पत्तों को भिगोया हुआ जल आदि देखा होगा, उनको भी सूक्ष्म जीवाणुओं का ऐसा ही दृश्य दिखाई दिया होगा। उन्होंने जब देखा कि साफ पानी में कुछ दिनों बाद बैक्टीरिया आदि सूक्ष्म जीव उत्पन्न हो जाते हैं, तब वे सोचने लगे कि ये कहाँ से आये? परन्तु इसका कारण उनकी समझ में नहीं आया और वे पुन. कहने लगे कि उनका जन्म अपने आप हो जाता है। जिस बात को वे पहले नन्हें-नन्हें जीव, कीड़ों या मकोड़ों में लागू समझते थे और बाद में जिसको ग़लत समझने लगे थे, उसे वे फिर उनसे भी बहुत छोटे जीवों पर, जो सूक्ष्मदर्शक यंत्र में ही देखे जा सकते थे, लागू करने लगे। पर थोड़े ही दिनों बाद उनका यह विश्वास भी ग़लत सिद्ध हो गया।

स्वयं-जनन में अविश्वास

१८ वीं शताब्दी के समाप्त होने के पूर्व सन् १७७५ ई० में स्पैलेनज़ानी नामक वैज्ञानिक ने दिखा दिया कि सूक्ष्मदर्शक से दिखाई देनेवाले छोटे जीवों का भी जन्म अपने आप नहीं होता। इसके बाद एक और प्रसिद्ध जीवन-विज्ञान-वेत्ता पास्च्योर ने प्रयोग द्वारा स्वयं-जनन की जॉच की। उन्होंने कुछ बर्त्तनों को इतना खौलाया कि उनमें किसी प्रकार के कीटाणुओं, अंडों, बच्चों आदि का जीवित रहना असम्भव हो गया और तब उनके अन्दर मांस तथा अन्य सड़नेवाली वस्तुओं को इस प्रकार बन्द कर दिया कि उनमें बाहर की दूषित वायु न जा सके। ऐसा करने पर उन वस्तुओं में बहुत दिनों तक किसी प्रकार के जीवाणु न बने और न वे वस्तुएँ सड़ीं ही। इसी प्रकार गर्म किये बर्तनों में स्वच्छ जल रख देने से न तो उसमें बैक्टीरिया ही बने, न कोई और जीव। उसमें फफूँदी भी नहीं आई। उन्होंने इस प्रकार के लगातार कई प्रयोग किये और सन् १८६६ में पक्के तौर पर साबित कर दिखाया कि घास-पात को भिगोनेवाले पानी में अथवा मास या फल आदि के सड़ने में जो जीव उत्पन्न हो जाते हैं, वे अपने आप नहीं पैदा होते। हवा के द्वारा उनके अंडे, स्पोर (Spores), या बीज सड़नेवाली चीज़ों में या शुद्ध पानी में पहुँच जाते हैं और भिगोये जानेवाली सूखी घास पर भी इनके स्पोर

सबसे निम्न कोटि के सूक्ष्म एक-कोशीय वनस्पति और जीव

ऊपर ग्लेओकेप्सा (Glœocap a) नामक अतिसूक्ष्म एककोशीय शैवाल (algæ), जो सबसे सूक्ष्म वनस्पतियों में से एक है। (दाहिनी ओर) जीव-जगत् का सबसे सूक्ष्म और निम्न कोटि का सदस्य प्रोटोज़ोआ (Protozoa)। ये दोनों इतने सूक्ष्म हैं कि बिना सूक्ष्मदर्शक के नंगी आँखों से नहीं दिखाई देते।
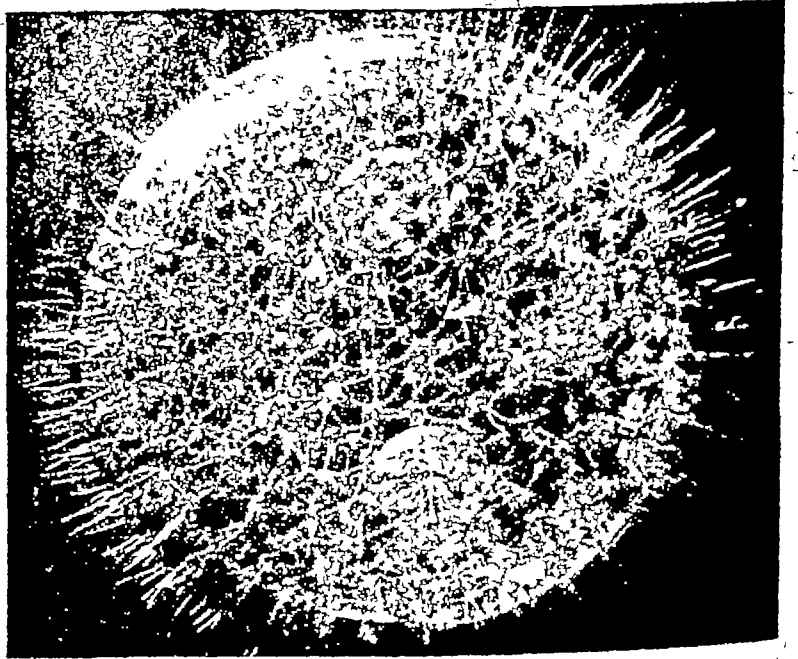
बनी रहती है। फलों तथा शर्बतों आदि के संरक्षण के लिए आजकल यही तरीक़ा काम में लाया जाता है। जितनी ही सावधानी से ये वस्तुएँ कीटाणु-रहित की जायँगी, उतने ही अधिक समय तक अच्छी बनी रहेंगीं। ऐसे प्रयोगों से स्पष्ट रूप से सिद्ध होता है कि यदि कीटाणु-विहीन की हुई खाद्य सामग्री में हम कीटाणु या उनके बीज का पहुँचना असम्भव कर दें, तो फिर नये कीटाणु कदापि उत्पन्न न हो सकेंगे। तब हमें इन सूक्ष्म जीवों में स्वयं-जनन होने का विचार त्यागना ही पड़ता है। सूक्ष्मदर्शक यन्त्र हमें नन्हीं चीज़ों को २००० या ३००० गुना तक बड़ा करके दिखाते हैं, लेकिन फिर भी दुनिया में ऐसे नन्हें जीवाणु हैं, जिन्हें हम सूक्ष्मदर्शक यन्त्र से भी नहीं देख पाते। हम सभी चेचक की बीमारी को जानते हैं और यह भी मानते हैं कि वह छूत की बीमारी है; किन्तु अभी तक काफ़ी जाँच होने पर भी कोई वैज्ञानिक या डाक्टर यह नहीं पता लगा सके हैं कि यह रोग किन कीटाणुओं के कारण होता है—यद्यपि यह सब मानते हैं कि उसका कोई विशेष कीटाणु अवश्य ही होगा। कदाचित् चेचक के कीटाणु इतने छोटे हैं कि अभी तक मनुष्य अधिक-से-अधिक प्रयत्न करने पर भी उनको देख नहीं सके हैं। वैज्ञानिक अध्ययन से यह बात मालूम हुई है कि हैज़े के जीवाणु ऋषीकेष के उत्तर में गंगा की असली धार में जीवित नहीं रह सकते। जान पड़ता है कि वहाँ के पानी में हैज़े के जीवाणुओं से भी छोटे जीवाणु हैं, जो उनको नष्ट कर देते हैं। कई अमरीकन तथा अन्य वैज्ञानिकों ने इन जीवाणुओं का पता लगाने की कोशिश की, परन्तु वे उसमें सफल न हुए, क्योंकि यदि कोई ऐसे जीव गंगा के उद्गम के निकटवाले जल में हैं तो वे इतने छोटे हैं कि महीन-से-महीन छन्नों में से वे निकल जाते हैं, फिर खुर्दबीन से दिखलाई देने की तो बात ही दूर रही। अतः जो कुछ हम ठीक रूप से कह सकते हैं यही है कि हम एक भी स्वयं-जनन का उदाहरण नहीं जानते और अभी तक हमें एक भी ऐसा पुराने जीवित या मृत जीव का नमूना नहीं मालूम है, जिसके विषय में हम यह समझ लें कि वह स्वयं पैदा हुआ होगा। तब भी हमें विश्वास करना ही पड़ता है कि अगर जीव को किसी अलौकिक शक्ति ने नहीं रचा, तो वह पहलेपहल किसी अनैन्द्रिक पदार्थ से स्वयं ही बना होगा। यह हमारी ही पृथ्वी पर पैदा हुआ या उसके बाहर, इस पर हम आगे वि[illegible]ंगे। यह तो निश्चित है कि पृथ्वी पर उसका [illegible]भव हुआ होगा, जब यहाँ पर जीवन मूल या प्रारम्भिक रूप के जीवों के रहने के योग्य अवस्था हो गई होगी। यहाँ पर हमें फिर अपनी लाचारी को मानना पड़ता है कि हम यह नहीं बतला सकते कि जीवन का विकास सबसे पहले कैसे हुआ।

क्या जीव पहलेपहल पृथ्वी पर किसी दूसरे आकाशपिण्ड से आया?

कुछ लोगों का विचार था कि हमारी पृथ्वी पर प्रथम जीव आकाश के किसी दूसरी दुनिया से ब्रह्माण्ड सम्बन्धी धूल या टूटनेवाले नक्षत्रों (उल्काओं) के उन टुकड़ों के साथ आया, जो बहुधा ग्रहों से टूटकर झड़ते रहते हैं। लेकिन यह बिल्कुल असम्भव जान पड़ता है, जब हम इस बात पर ध्यान देते हैं कि ग्रहों से झड़े हुए टुकड़े या धूल या टूटनेवाले तारे बड़ी ही तेज़ी से गिरते हैं और वायुमण्डल में से गुज़रने पर उनमें इतनी रगड़ लगती है कि वे गर्मी से दहकने लगते हैं। अगर कठोर गर्मी सहनेवाले बैक्टीरिया या उनसे भी सूक्ष्म जीव अथवा उनके बीज, जो बहुत तीव्र ताप भी सहन कर सकते हों (जैसा हम ऊपर के पैराग्राफ में कह आये हैं), उन आकाशीय ग्रहों या उल्काओं पर रहे भी हों, तब भी यह मानना बहुत कठिन है कि पृथ्वी तक की इतनी लम्बी यात्रा में और फिर इतनी तेज़ गर्मी में वे मर न गये होंगे। सूर्य-जैसे अन्य नक्षत्र अब भी इतने गर्म हैं कि उन पर किसी भी प्रकार के जीव जीवित नहीं रह सकते। हमारी पृथ्वी एक ग्रह-सम्प्रदाय की सदस्य है। इस प्रकार के और भी ग्रह-सम्प्रदाय इस विस्तृत ब्रह्माण्ड में हैं, परन्तु वे संख्या में बहुत कम हैं। उनमें भी ऐसे बहुत कम हैं, जिनका ताप ऐसा हो जिसमें जीवन सम्भव हो। नक्षत्रों के चारों ओर घूमनेवाले ग्रह यदि नक्षत्रों के बहुत ही निकट हैं, तो उनमें गर्मी के कारण जीवन असम्भव होगा और यदि अधिक दूर हैं, तो उनमें सर्दी के कारण जीवन असम्भव हो जायगा। इससे ज्ञात होता है कि जीवित पदार्थ विश्व के बहुत छोटे-से अंश में ही हो सकते हैं। सर जेम्स जीन साहब की गणना के अनुसार यह अंश समस्त विश्व के १००००००००० (एक अरब का एक अंश) भाग से भी कुछ कम ही है। सूर्य की वर्त्तमान स्थिति पृथ्वी के लिए बहुत ही उपयुक्त है। इससे न अधिक सर्दी मिलती है, न अधिक गर्मी। क्रमशः पृथ्वी और ठंडी होती जायगी और मुमकिन है कि कभी एक ऐसा समय आ जाय जब यहाँ जीवों का रहना असम्भव हो जाय और धीरे-धीरे करके कभी जीव इस संसार से विलीन हो जायँ। मंगल ग्रह पृथ्वी से सूर्य की अपेक्षा अधिक दूर है।

मिल सकता था। इसके बाद जब अन्य बड़े जीव बने तो वे फिर केवल वनस्पतियों पर ही निर्भर न रहे होंगे, वरन् दूसरे छोटे-छोटे जीवों को खाकर भी जीवन व्यतीत कर लेते होंगे, जैसा कि आपको आज नित्य ही दिखलाई पड़ता है। आरम्भ में जो थोड़े-से जन्तु बने, वे भी पेड़-पौधों की तरह सुस्त और बहुत कुछ स्थिर-से थे। कदाचित् इसी कारण उन्हें मल-मूत्र-विसर्जन की अधिक आवश्यकता न थी। गतिवान् प्राणियों को "चल" तथा गतिहीन प्राणियों को "अचल" कहते हैं। अतः चराचर शब्द से सम्पूर्ण जगत् का बोध होता है। आरम्भ में जीवन की दशा ऐसी थी, जिससे कि चल और अचल में भेद करना असम्भव सा रहा होगा। अनेक युगों तक सारी पृथ्वी जल से ढकी रही और उस आदि युग के चराचर जीव केवल बहनेवाली हरियाली या काई और एककोशीय अमीबा-जैसे प्राथमिक जीव ही रहे होंगे, जो सूक्ष्मदर्शक यन्त्र से ही देखे जा सकते हैं। परन्तु समय बीतने पर धरती धीरे-धीरे सिकुड़ती गई और समुद्र की तह कहीं ऊँची और कहीं नीची हो गई, तथा उसमें कहीं-कहीं चट्टानें भी बनने लगीं। धीरे-धीरे सूखी धरती निकल आई और किनारों पर रहनेवाले जल-जीवों में से कुछ को इस सूखी धरती पर रहने के योग्य बनना पड़ा। इसी प्रयास में बहुतेरे जीव नष्ट हो गये होंगे। जो दो-चार जीव उस भूमि पर रह सकने योग्य हो गये होंगे, उन्हीं से आगे चलकर अन्य थलचरों का विकास होता गया।

प्राथमिक जीव पृथ्वी पर कब हुए होंगे

पृथ्वी पर जीवन कैसे और कहाँ से आया, यह हम आपको बतला चुके हैं। अब, हम आपका ध्यान अपने लेख के शीर्षक के तीसरे प्रश्न (जीवन की उत्पत्ति कब हुई) की ओर ले जाना चाहते हैं। जैसा हम ऊपर कह आये हैं जिस समय ये आदि-जीव समुद्रों में बन रहे थे, उनकी तहों में घुला हुई मिट्टी-बालू इत्यादि बढ़ती

सिलूरीयन युग की प्रारंभिक चूने की चट्टानों में झींगे, केकड़े आदि जैसे त्रिखडी व अन्य क्षुद्र जीवों के प्रस्तर-विकल्प
(ऊपर के छोटे चित्र में) एक प्रस्तरीभूत त्रिखडी। (फ़ोटो—'जियालॉजिकल सर्वे')
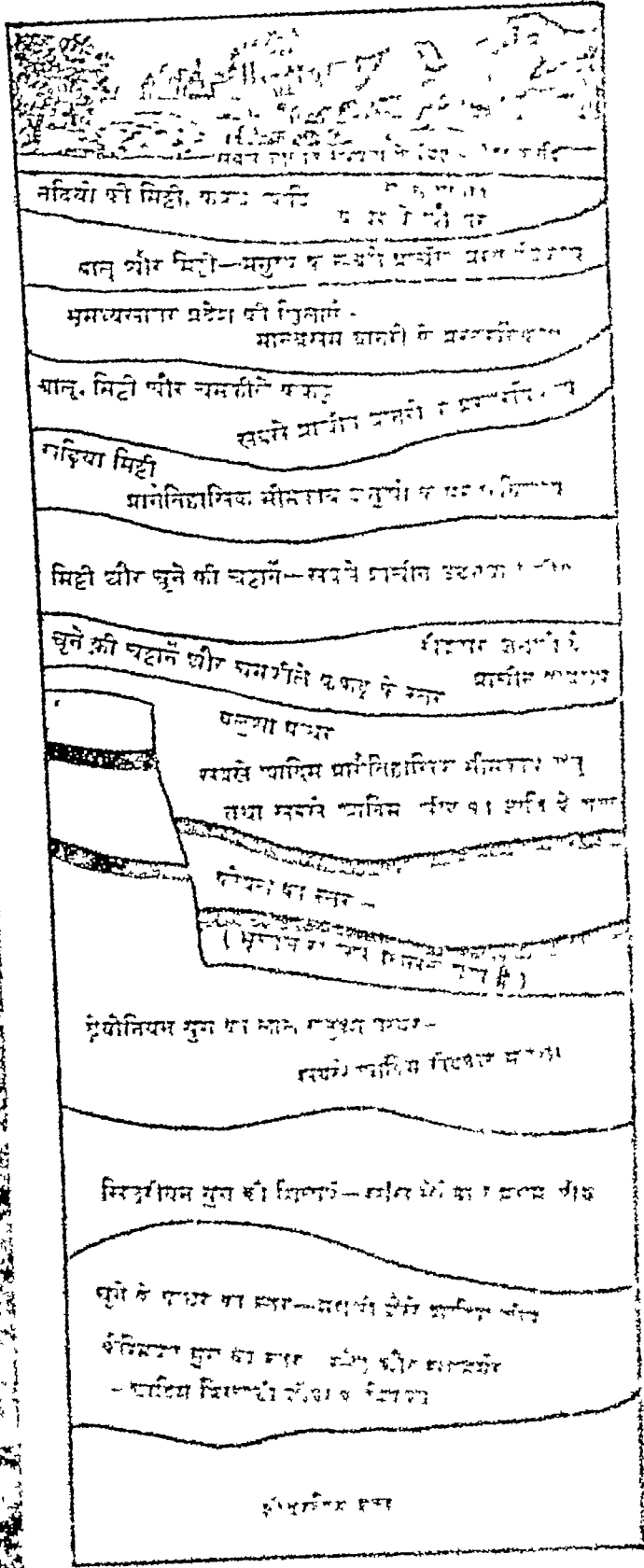
जाती रही होगी और जब नई सूखी धरती भूचालों के कारण ऊपर को उठती आती होगी, तो उसमें से भी मिट्टी, बालू, कंकड़ आदि वर्षा द्वारा बहकर आते होंगे। इन सबके समुद्र की तहों में जमने से चट्टानें बन गईं। इसी प्रकार जन्म-जन्मांतरों से एक के ऊपर दूसरी चट्टानें बनती चली आई हैं। इनकी बनावट को ध्यानपूर्वक देखने से विद्वान् लोग गणना करके इनकी आयु (अर्थात् उनके बनने के समय) का अनुमान कर सकते हैं। भूचालों से ज़मीन बहुत बार ऊपर की ओर उठ चुकी है। इस धरती तथा पहले के सागरों के सूख जाने के कारण बहुत-सी जल-मग्न चट्टानें ऊपर उठ आईं और हमारे स्थल का भाग बन गई हैं। इनको खोदने से मनुष्य ने इनकी बनावट की गहराई और मोटाई का पता भी लगा लिया है। इसका विस्तृत वर्णन क्रमशः आप 'पृथ्वी की रचना' शीर्षक स्तम्भ में पढ़ेंगे।

पृथ्वी की नोटबुक

इन चट्टानों की तहें ज्यों-ज्यों जमती जाती थीं या यों कहिए कि जब ये चट्टानें बन रही थीं, तब तत्कालीन जल में रहनेवाले पौधे और जीव मर जाने पर समुद्र की तलछट में दब जाते होंगे। इनमें से बहुतेरे गल और सड़कर लापता हो गये, परन्तु कुछ ऐसी जगह दब गए, जहाँ जल्दी ही चट्टान कठोर हो गई और वे उसमें सुरक्षित बने रहे। इस प्रकार गड़े हुए प्रारम्भिक पेड़-पौधों तथा जीव-जन्तुओं में से बहुतेरे सूक्ष्म प्राणी, जिनके शरीरों के अवयव कोमल थे तथा जिनकी रक्षा के निमित्त शंख, सीपी जैसे कवच, तथा (मछली के सिन्ने या मगर की ऊपरी कड़ी खाल की भाँति) कड़ी खाल न थीं, चट्टानों के बोझ और दबाव से चकनाचूर हो गये। किन्तु ऐसे जीव, जिनमें ऊपर कहे हुए कड़े भाग थे, चट्टानों में दब जाने पर जैसे-के-तैसे सुरक्षित बने रह गये और कहीं-कहीं पथरा गये। इस तरह उनके चिह्न चट्टानों में सदा के लिए अंकित हो गये हैं। इन्हीं को हम प्रस्तर-विकल्प कहते हैं।

पहले पहल मनुष्य ने अपनी आवश्यकताओं के लिए जब पत्थर काटे, तो उनमें ये चिह्न मिले। तब उसका ध्यान इनकी खोज की ओर आकर्षित हुआ। अब तो ऐसे बहुत-से प्रस्तर-विकल्प खोज लिये गये हैं, जिनसे हमें पता चलता है कि भिन्न-भिन्न युगों में बननेवाली भिन्न-भिन्न चट्टानों में किस प्रकार के जीव मिलते थे। प्रस्तर-विकल्पों से युक्त ये चट्टानों के पर्त्त प्रकृति की नोटबुक के [illegible] के पन्ने हैं, जिन पर प्रकृति ने उस समय के [illegible] वों के चिह्न अंकित कर दिये हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि पृथ्वी अपनी इन तहों में बीते हुए जीवों की एक डायरी बनाती गई। इस डायरी के पृष्ठों का कुछ हाल हम अपने अगले लेख में बतलायेंगे।

सबसे प्राचीन चट्टानों में हमें किसी प्रकार के भी जीव का चिह्न नहीं मिला है। इसीलिए इनको जीवन-विहीन चट्टान कहते हैं। इनके बाद की अत्यन्त प्राचीन तहयुक्त चट्टानों में, जो समुद्र की तह में तलछट बैठकर बननेवाली चट्टानों में सबसे पहली हैं, कुछ सबसे नीची श्रेणी के वनस्पति और जीवों के चिह्न मिले हैं, परन्तु वे बिल्कुल ही अस्पष्ट हैं। उनसे यह अवश्य कहा जा सकता है कि जिस समय ये चट्टानें बन रही थीं उसी समय या उसके भी पहले प्रारम्भिक जीव का विकास हुआ होगा। वैज्ञानिक यह मानते हैं कि इन चट्टानों की सर्वप्रथम तहें लगभग डेढ़ अरब वर्ष और सबसे पिछली ७० करोड़ वर्ष पुरानी हैं। इन चट्टानों से भी बाद की प्राथमिक युग की सबसे प्रारम्भिक चट्टानों में एक प्रकार के जीव के बहुत-से स्पष्ट प्रस्तर-विकल्प मिले हैं। ये जीव झींगे, केंकड़े, बिच्छू आदि जीवों के समूह से नाता रखते हैं। ये जीव काफी उन्नतिशील जीवों में से हैं। इन्हें हम त्रिखंडी जीव (Trilobites) कहते हैं। यदि जीवों की उत्पत्ति स्वयं-जनन द्वारा उपरोक्त वर्णित विधि से हुई है तो हम बेखटके यह मान सकते हैं कि जीवन-मूल के पृथ्वी पर पहले पहल प्रकट होने के समय से इन त्रिखंडी जीवों के बनने में उतना ही समय लगा होगा, जितना कि इन त्रिखंडी जीवों के आरम्भ से अब तक बीता है। अतः जीवन की प्रारम्भिक उत्पत्ति का समय हमें अब से डेढ़-दो अरब वर्ष पीछे ले जाता है। स्वर्गीय गौड़साहब ने 'विज्ञान हस्तामलक' में लिखा है कि "ऐसा जान पड़ता है कि जब समुद्र का जल गर्मी के पचपनवें दर्जे तक ठंढा हो गया, उस समय इस धरती पर पहले-पहल जीवन का उदय हुआ होगा। आज से इस घटना को हुए कितने वर्ष हुए यह कहना बहुत मुश्किल है। वैज्ञानिकों का मत इस विषय में एक नहीं है। परन्तु यह अन्दाज़ा किया जाता है कि जीवन का पहला उदय इस ब्रह्मांड में एक अरब वर्ष से भी पहले हो चुका होगा, और उस उदय से चराचर संसार के वर्त्तमान ढंग के विकास तक पहुँचने में और आदिम मनुष्यों तक की सृष्टि के होने में कई करोड़ वर्षों से लेकर लगभग १ अरब वर्षों तक का अन्तर पड़ा होगा। हिन्दुओं के मत के अनुसार भी जीवन का विकास २ अरब वर्ष पहले से शुरू हो चुका है।"
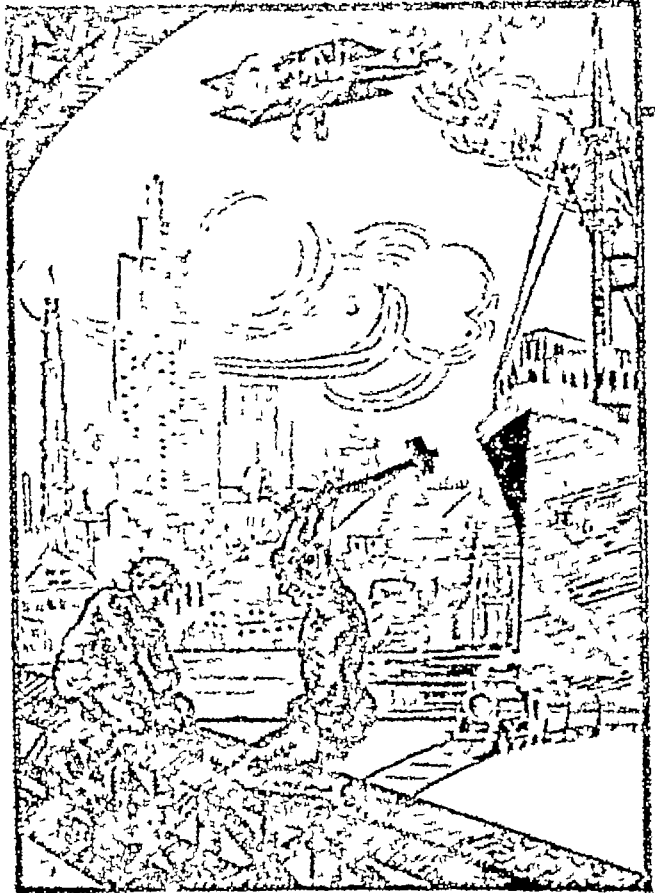
मनुष्य
की कहानी

इओएनथ्रॉपस डॉसनाई या पिल्टडाउन उप-मनुष्य के जीवन की एक झलक

[यह कल्पित चित्र प्रसिद्ध चित्रकार फ़ोरेस्टियर द्वारा बनाया गया है ।]

गई है, हमें अपने पूर्वजों का ब्योरेवार हाल मिल रहा है, किन्तु पृथ्वी पर जिस समय कोई भी ऐसा बुद्धिमान् मनुष्य न था जो अपने विचार कहकर या लिखकर अपनी सन्तान के लिए छोड़ जाता, उन दिनों की तथा उससे भी सहस्रों-लाखों वर्ष पहले का हाल जानना हमारे लिए किस प्रकार सम्भव है ! सौभाग्य से हाल ही में मनुष्य की बुद्धि ने धरती की कोख में एक और तरह से लिखे हुए इतिहास का पता लगाने का एक उपाय खोज निकाला है, जिससे कि आदि-मनुष्य तथा अन्य जानवरों के इतिहास के सदियों से खोये हुए अध्यायों के दो-चार पृष्ठों का पता उसे लग गया है। मनुष्य के प्राचीन पूर्वज अन्य जानवरों की तरह अपने अस्थि-पंजर तथा खोपड़ियाँ एवं उनके साथ ही साथ काँसे, पत्थर तथा चकमक पत्थर के हथियार अपनी रहने की गुफाओं, पास के दलदलों अथवा नदी की तहों में छोड़ मरे हैं। उनके ये निशान समय के प्रभाव से वहीं के वहीं दबकर धरती या चट्टानों के भीतर पहुँच गये और नष्ट होने से बच गये। यही लेखा है, जिसे वे पृथ्वी के गर्भ में दबा हुआ छोड़ गये हैं। मनुष्य का ध्यान इन आलेखों को पढ़ने और समझने की ओर कैसे आकर्षित हुआ, इसका हाल बड़ा रोचक है; परन्तु यहाँ उसके वर्णन के लिए स्थान नहीं है। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि उस ज़माने का हाल जानने के लिए हम इन्हीं बची-खुची वस्तुओं पर निर्भर हैं।

गुफाओं के प्रारम्भिक निवासी

प्रस्तर-विकल्प कैसे बने ?

इतिहासकारों के लिए यह अच्छा ही हुआ कि गुफाओं या कन्दराओं तथा जंगलों के निवासी इन मानवीय पूर्व-पुरुषों को आजकल की-सी सफाई पसन्द न थी। वे अपने रहने के गड्ढों और गुफाओं में झाड़-पोंछ नहीं करते थे। इसलिए अपने चूल्हे और खाना पकाने की जगह के आस-पास वे अपने भोजन का बचा-खुचा भाग—जैसे, खाये हुए जानवरों की हड्डियाँ—और बेकार औज़ार वहीं छोड़ गये। ये चीजें समय बीतने पर आस-पास की गर्द-धूल या वर्षा अथवा बाढ़ से बही हुई रेती और गुफाओं में ऊपर से गिरी हुई मिट्टी तथा चट्टानों के टुकड़ों से दब गईं। ज्यों-ज्यों उनके ऊपर पत्थर और मिट्टी की तहें जमती गईं, वे सतह के नीचे होती गईं। कहीं-कहीं ये गुफाएँ इसी प्रकार एक के ऊपर दूसरी तह [illegible] ऊँची भी होती गईं। यह भी समझ में आता है कि [illegible] में निवास करनेवाले आदि-मनुष्य अचानक तूफान, बाढ़ अथवा भूकम्प के आ जाने से जीवित ही जहाँ-के-तहाँ दब गये होंगे, अथवा वे उसी नदी में, जिसके तट पर वे रहते होंगे, डूब गये होंगे, या मृत्यु हो जाने पर नदी में फेंक दिये गये होंगे। इस तरह वहीं इनके अस्थि-पंजर दब गये और उनके सड़ने-गलने से पहले ही उन नदियों की तह पत्थर और चट्टान बनकर सूखी तथा ऊँची हो गई और इनके शव प्रस्तर-विकल्प बन गये। यह भी हो सकता है कि इन मनुष्यों ने अपने मुर्दे स्वयं ही गुफाओं में गाड़ दिये हों। याद रहे कि पृथ्वी की तहों में भूचालों तथा अन्य प्राकृतिक घटनाओं द्वारा बहुत-कुछ परिवर्त्तन हुआ है और अब भी होता रहता है। बहुत-से भाग जो, एक समय समुद्र में डूबे हुए या नदी और झीलों के नीचे छिपे हुए थे, अब उठकर ऊपर आ गये हैं। इसी तरह बहुत-से भाग, जो स्थल के ऊपर थे, दबकर नीचे चले गये। आप लोगों में से बहुतों ने देखा या सुना होगा कि पिछले बिहार के भूचाल में कितने ही स्थानों में भूमि फट गई और ऊँची-ऊँची अट्टालिकाएँ तक उनमें धराशायी हो गईं।

प्रस्तर-विकल्प की आयु कैसे जानी जाती है ?

इसी तरह ये गुफाएँ और ज़मीन की तहें इन दबे-दबाये स्मारक-चिह्नों समेत ज़मीन के अन्दर सैकड़ों फ़ीट नीचे घुस गईं। इनमें से बहुतेरी अभी तक वहीं हैं और कुछ फिर थोड़ी-बहुत ऊपर आ गई हैं। सौभाग्यवश दुनिया के भिन्न-भिन्न भागों में मनुष्य की जिज्ञासा ने अपने फावड़े द्वारा कहीं-कहीं इन दबे-दबाये चिह्नों को खोद निकाला है। प्राचीन मनुष्य-सम्बन्धी ऐसे जो-कुछ चिह्न हमें मिले हैं, उन्हीं से हमने उनका नया इतिहास गढ़ा है। उनकी खोपड़ियों और दूसरी हड्डियों से यह पता लगता है कि वे कैसे थे। उनके द्वारा बनाये हुए चकमक पत्थर तथा धातुओं के औज़ारों से उनकी रहन-सहन का थोड़ा-सा आभास हमें मिलता है। उनके द्वारा खाये गए जानवरों की हड्डियों के ढेर, जो उनके चूल्हों की राख में या उसके आस-पास मिलते हैं, उनके शिकार और आहार का पता देते हैं। इन्हीं जानवरों की हड्डियों, दाँतों और वृक्षों के अव-शेष भागों से यह भी जाना जाता है कि उस समय की जलवायु कैसी रही होगी। जिन चट्टानों और मिट्टी की तहों में ये स्मारक-चिह्न पाये गये हैं, उनकी तथा उनके ऊपर और नीचे की तहों की बनावट का मिलान करने से यह जाना जा सकता है कि उनमें से कौन एक दूसरे से नये और पुराने हैं और अन्दाज़ से उनकी क्या आयु है।

इसी तरह हम अन्दाज़ लगा सकते हैं कि ये मनुष्य या वानर, जिनके चिह्न पाये गये हैं, किस युग में पृथ्वी पर जीवित थे।

आदि मनुष्य के चिह्न अधिक क्यों नहीं पाये गये ?

इस प्रकार की जो मानव-सम्बन्धी सामग्री अभी तक मिली है, वह मात्रा में बहुत ही कम है। इसके कई कारण हैं। हमारे पूर्वज अपने समय के इन वानरों के समान शायद कभी भी बहुत अधिक संख्या में न थे। वे जंगली पशुओं, हाथी और प्राचीन ऊँट तथा घोड़ों के झुण्डों की तरह न थे, जो हर एक पीढ़ी में यदि लाखों नहीं तो हज़ारों की संख्या में मिलते रहे हैं। इन शाखाचारी मनुष्यों में से बहुतेरे पानी में डूब जाते होंगे या मगर उनको पानी में खींच ले जाते होंगे। अथवा वे झील, नदी या दलदल के तट पर रात आराम करते होंगे, जहाँ वे पानी पीने जाते रहे होंगे और इस तरह गड्ढे में अकस्मात् गिरकर दब जाते होंगे। यह सब होने पर भी हमको दो-चार को छोड़कर किसी के पुराने अस्थि-पिंजरों का पता नहीं लगा है, क्योंकि वे सब [illegible] समूहों में ही रहा करते थे। इसके विपरीत [illegible], आदि मानवीय वानर और इस मनुष्य कदाचित् कभी भी इस प्रकार से अधिक एक जगह इकट्ठे न रहते थे। वे अकेले या जोड़े में एक-दो बच्चों सहित इधर-उधर फिरते रहे होंगे और गुफाओं की तरह से अपनी ही जाति के अपने से निर्बल व्यक्तियों पर अपना अधिकार जमा लेते होंगे। [illegible] यह भी जानते हैं कि मनुष्य स्वभावतः [illegible] था, [illegible] भी [illegible] पड़ता है। [illegible] है कि [illegible] नहीं, [illegible] इसलिए [illegible] बहुत कम [illegible] होंगे कि पानी में [illegible] सकता, [illegible] [illegible] हो जाते। [illegible] [illegible] [illegible] के [illegible] हो गये होंगे।

से तह गल गये होंगे। जब तीसरा महायुग समाप्त हो रहा था और चतुर्थ (जो अभी तक चल रहा है) शुरू हो रहा था, तब ये लोग गुफाओं में रहने लगे। इस समय से उनके स्मारक चिह्न और अस्थि पंजर चट्टानों और पृथ्वी की तह में दबने लगे। अभी तक केवल थोड़े-से ही ऐसे चिह्न हमारी जानकारी में आए हैं, क्योंकि यह विद्या अभी केवल दो चार पीढ़ी ही पुरानी है तथा बहुत थोड़े आदमियों ने इसका अध्ययन किया है। बेलजियम, डेनमार्क, फ्रांस और इंगलिस्तान आदि योरप के पश्चिमी भागों में इस विषय की अच्छी खोज की गई है। पर अफ्रीका, एशिया, भारतवर्ष और पूर्वी द्वीपों के समूह में मनुष्य के ये चिह्न बहुत कम खोजे गये हैं। बहुत कुछ सम्भव है, इन देशों में उस समय के इतिहास को प्रकाशित करनेवाले अनेक भेद छिपे हुए हों। इसलिए हमें इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि अभी चट्टानों और गुफाओं में इन चिह्नों का पता लगाना बाकी है। शायद अभी आदि मनुष्य और उनके पुरखों की ऐसी और भी बहुत-सी धरोहरें आगे चलकर मिलें और भविष्य यह सिद्ध कर दे कि जो हाल हम मनुष्य के विषय में अभी तक जानते हैं, वह केवल उसके वास्तविक हाल का एक अणुमात्र है। हमको पूरा विश्वास है कि भविष्य के भूगर्भ-वेत्ता तथा प्रस्तरविज्ञान शास्त्री (Palæontologists) मनुष्य की प्राचीन कहानी हिन्दुओं, चीनियों, बेबीलोनियों, यूनानियों और मिस्रियों के पुराने-से पुराने इतिहास ही के आगे नहीं, वरन् डेनमार्क, फ्रांस, पूर्वी द्वीपसमूह आदि की गुफाओं के स्मारक चिह्नों के भी आगे की लाखों वर्ष पुरानी चट्टानों की तहों तक बड़ी अधिक शुद्धता के साथ पहुँचा सकेंगे।

आदि मनुष्य की जो कहानी हमें ज्ञात है वह अधूरी है और उसमें कल्पनाओं के लिए बहुत गुंजाइश है। इसीलिए जब कोई नयी खोपड़ी मिलती है, तब भी उस विषय के विद्वानों की एक राय नहीं हो पाती। जहाँ खोपड़ी की

सबसे पुराने उपमनुष्य की खोपड़ी

सबसे प्राचीन अवशिष्ट हड्डियाँ, जो आदि-मनुष्य या उप-मनुष्य की कही जा सकती हैं, एक अधूरी खोपड़ी, नीचे का जबड़ा और कुछ दाँत हैं, जिनके मिलने की सूचना अमरीका के कारनेगी इन्स्टीट्यूट(Carnegie Institute) ने सन् १६३६ के प्रारम्भ में दी थी। ये जावा में सोलो नदी के किनारे डाक्टर वॉन कूनिग्जवौल्ड को मिली थीं। कूनिग्ज़वौल्ड का विचार है कि ये हड्डियाँ अब तक ज्ञात सबसे पुराने मनुष्य की हैं और जावा ही में पाये गए खड़े होनेवाले मानवीय वानर **पिथेकैन्थ्रोपस इरेक्टस** (Pithecanthropus erectus) से भी (जिसका कि विवरण आगे लिखा है, और जो अभी तब सबसे प्राचीन माना जाता था) बहुत पुरानी हैं। कारनेगी इन्स्टीट्यूट के प्रधान डाक्टर मरियम का कथन है कि हाल की खोजों में यह खोज सबसे मुख्य है, क्योंकि अभी तक की पाई गई मनुष्य की प्रस्तर-विकल्र हड्डियों की आयु १२ हजार वर्ष से लेकर ५ लाख वर्ष से कुछ अधिक तक ही है। इन नई हड्डियों से साबित होता है कि पिथेकैन्थ्रोपस अपनी शारीरिक और मानसिक दशा में बड़े वानरों से काफी आगे बढ़ चुका था तथा यह भी ज्ञात होता है कि मनुष्य को अपने पैरों पर खड़े होते हुए व मस्तिष्क को काम में लाते हुए क़रीब १० लाख वर्ष लग गये हैं।

इससे भी अधिक प्राचीन एक और खोपड़ी है, जो हाल ही में पाई गई है और जिसका हाल सक्षेप मे 'हिन्दुस्तान स्टैण्डर्ड' नामक अखबार में इसी वर्ष (१६३६ में) जनवरी माह में छपा था। यह खोपड़ी डाक्टर राबर्ट ब्रूम को दक्षिणी अफ्रीका में थोड़े दिन पहले मिली थी। इसका नाम उन्होंने **पैरेनथ्रोपस** (Peranthropus) रक्खा था। अब इस खोपड़ी के अलावा उसकी बाजू की हड्डी, बाँह की ऊपरी हड्डी और पैर की उँगली की भी एक हड्डी मिली है। जैसा कि उनका पहले विचार था, ये क़रीब-क़रीब मनुष्य की-ही-सी हैं। पैर की उँगली की हड्डी से पता चलता है कि वह जीव खड़ा होकर चल भी सकता था। बाँह की हड्डियों से विदित होता है कि ये हड्डियाँ चलने-फिरने में शरीर को साधने का काम नहीं देती थीं। ये हड्डियाँ मनुष्य की तो नहीं मानी जातीं, लेकिन ऐसे मानवसम वानर की हैं, जो उस समय मनुष्य की तरह दो टाँगों पर चल सकता था। इसी प्रकार के एक और मानवीय वानर **प्लेसिएनथ्रोपस** (Plesianthropus) की भी कुछ और हड्डियाँ इन्हीं वैज्ञानिक को ट्रांसवाल में मिली हैं। इनका मत है कि यह भी दो टाँगों पर चल-फिर सकता था था। इसकी खोपड़ी के ढाल से पता लगता है कि इसका मस्तिष्क हाल में पाये हुए **पिथैकैन्थ्रोपस** के मस्तिष्क से थोड़ा ही छोटा है। उपर्युक्त खोजों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इन हड्डियों से हमको उस समय के विकास के ढर्रे की एक झलक मिलती है, जब प्राचीन जानवरों ने पूर्ण रूप से खड़ा होना सीखा ही था। और यह केवल मनुष्य की ही विशेषता थी।

पिथैकैन्थ्रोपस इरैक्टस या सबसे पहला खड़ा होकर चलनेवाला वानर-मनुष्य

सबसे प्राचीन और प्रसिद्ध बची-खुची हड्डियाँ, जिनकी गणना हम उपमनुष्य के अस्थि पंजरों में कर सकते हैं, जावा द्वीप में सोलो नदी के तट पर बसे हुए ट्रिनिल नगर के निकट सन् १८६१ या १८६२ में पाई गई थीं। इन हड्डियों में एक खोपड़ी की टोपी या ऊपरी भाग, दो-तीन दाढ़ें और एक जाँघ की हड्डी है, जो खोपड़ी से लगभग २० गज़ हटकर मिली थी। कुछ लोगों का यह कहना था कि यह जाँघ की हड्डी किसी और आदमी की है और दाढ़ें तथा खोपड़ी किसी और की; परन्तु अब काफी विवाद के बाद यह मान लिया गया है कि जाँघ की हड्डी भी उसी आदमी की है जिसकी कि दाढ़ें तथा खोपड़ी की हड्डी है। इसका माथा तंग और ढालू है तथा भीतर की जगह छोटी है। इससे जान पड़ता है कि उस जीव के माथा था ही नहीं और उसका सिर भौंहों तक बहुत ढालदार था। इसकी जाँघ की हड्डी या ऊर्वस्थि भी वर्तमान मनुष्य की-सी ही है, जिससे प्रकट होता है कि वह जीव सीधा चल फिर सकता था। हड्डी की लम्बाई से उस प्राणी की लम्बाई ५' ७" आँकी जाती है। दाँत बिल्कुल आदमियों के-से हैं। सन् १८६० मे ट्रिनिल नगर से २५ मील हटकर एक नीचे के जबड़े की हड्डी का टुकड़ा भी मिला था। उसमें अगली दूध-दाढ़ और आगे की कील का गड्ढा बना हुआ है। यह भी उसी खोपड़ीवाले जीव का भाग माना गया है। इस जबड़े के देखने से यह समझ में आता है कि इस जीव की ठोढ़ी बैठी हुई होगी तथा इसकी कील भी छोटी रही होगी। इसके जबड़े छोटे मनुष्य-जैसे रहे होंगे और इसका थूथन बन्दरों की अपेक्षा आगे कम निकला होगा, किन्तु उसकी भौं की हड्डी ऊपर को बहुत उभरी रही होगी जैसी कि गौरिल्ला और चिम्पान्ज़ी में होती है।

इन हड्डियों की खोज करनेवाले प्रोफ़ेसर डूबोय ने इस जीव का नाम **पिथैकैन्थ्रोपस इरैक्टस** रक्खा। हिन्दी में इसको 'खड़ा होनेवाला वानर-मनुष्य' कह सकते हैं। प्रो० डूबोय

की यह धारणा थी कि यह जीव मनुष्य और वन-मानुषों के बीच का जीव था। न वह मनुष्य में गिना जा सकता है और न पेड़ों पर रहनेवाले चिम्पाञ्जी जैसे वन-मानुषों में ही उसकी गणना हो सकती है। वह यदि बिल्कुल नहीं तो बहुत-कुछ हमारी ही तरह सीधे खड़े होकर चल-फिर सकता था। खोपड़ी के हिस्से को साँचे में ढालकर निपुण वैज्ञानिकों ने उसके मस्तिष्क की रचना का पता लगाने की कोशिश की है और उ-के रूप को निश्चित कर लिया है। इससे वे हिसाब लगाते हैं कि उसके मस्तिष्क का बोझ बड़े-से-बड़े मस्तिष्कवाले वन-मानुष गौरिल्ला और साधारण मनुष्यों में छोटे से-छोटे मस्तिष्क (जो आस्ट्रेलिया के असली निवासियों में मिलता है) के बोझ के बीच का है। इससे बहुत लोग यह प्रश्न कर सकते हैं कि गिब्बन-जैसे भारी वन-मानुष से भी अधिक बड़े मस्तिष्क की आवश्यकता इस हल्के शरीरवाले मानव को क्यों हुई? इसका कारण यही मालूम होता है कि वन मानुषों के मुक़ाबले में उसमें अधिक मानसिक शक्ति थी, तथा उसके मस्तिष्क में याद रखने, सुनने और बोलने के भागों की बनावट बहुत-कुछ मनुष्य से मिलती जुलती है। यह ठीक-ठीक कोई भी नहीं कह सकता कि वह जीव मनुष्य की ही तरह सोच सकता था या नहीं। इन सब बातों में विद्वानों का एक मत होना असम्भव है। यही कारण है कि कुछ लोग कहते हैं कि वह मानव सम वानर था, तो दूसरे लोग उसे नक़ली मनुष्य या उप-मनुष्य की पदवी देते हैं, और कुछ उसे असली मनुष्य का ही पूर्वज मानते हैं। सर, आर्थर कीथ, जो प्राचीन मनुष्यों के विषय के सबसे बड़े अधिकारी विद्वान् माने जाते हैं, लिखते हैं कि यह काल्पनिक जीव मस्तिष्क के अतिरिक्त अपने डील-डौल, चाल-ढाल और बहुत-से भागों की अंग-रचना में मनुष्य जैसा ही था। कुछ भी हो, यह निश्चय है कि इन पाये हुए अस्थि-पंजरों द्वारा दो [illegible]नेवाले लुप्त वानरों के आगे के मनुष्य के विकास की अवस्था का बहुत कुछ पता चलता है; किन्तु यह मानना न्यायसगत नहीं है कि जावा का **पिथैकैन्थ्रोपस** मनुष्य-जाति के पूर्वजों में से ही है। सब बातों पर विचार करते हुए यह मानना उचित प्रतीत होता है कि मानव-जाति के धड़ के नीचे की ओर से इसकी एक शाखा अलग फूट गई और वह मानव-वंश की पहली शाखा है।

इस मानवीय वानर की उपरोक्त वर्णित हड्डियाँ ४५ फीट मोटी चट्टानों की तह में पाई गई थीं। इनके साथ बीस तरह के स्तनपोषित जीव, जैसे मैमथ (हाथी-जैसे विशाल लुप्त जानवर), बड़े बालवाला गैंडा, भारी डीलवाला दरियाई घोड़ा, कटार जैसे दाँतवाला चीता, बारहसिंघा इत्यादि की हड्डियाँ भी पाई गई थीं। ये सब पशु अब नष्ट हो गये हैं और आजकल कहीं भी नहीं पाये जाते। प्रोफेसर डूबोय तथा कुछ अन्य वैज्ञानिकों का मत है कि ये प्रस्तर विकल्प और जिनमें ये पाये गये थे वे चट्टानें तीसरे महायुग के दूसरे काल (प्लायोसीन) के ऊपरी खंड की हैं। इनकी आयु लगभग ५ लाख वर्ष की है। किन्तु बहुत-से बाद के लेखकों का विचार है कि वे इसी युग के पहले काल (प्लायस्टोसीन) की निचली या बीच की तहों से सम्बन्ध रखती हैं। राबर्ट ब्रूम साहब का कहना है कि चाहे जो कुछ भी हो, ये तहें कम-से-कम १० लाख वर्ष पुरानी हैं और यह पथराई हुई खोपड़ी भी उसी ज़माने की है।

साइनैनथ्रोपस पिकेनैन्सिस की खोपड़ी का ऊपरी हिस्सा

यह पेपिंग नगर के यूनियन मेडिकल कालेज इस्टीट्यूट में प्रदर्शित है।

जावा में पाये हुए ये अवशेष भाग हॉलैण्ड के हार्लेम नगर के टाइलर अजायबघर में सुरक्षित हैं।

साइनैनथ्रोपस पिकेनैन्सिस (Sinanthropus pikenensis)

उप-मनुष्य की दूसरी सबसे पुरानी जाति के अवशेष सन् १९२१-१९३६ में चीन की पुरानी राजधानी पेकिंग के पास (जो अब पेपिंग कही जाती है) पाये गये थे। मनुष्य का ध्यान इस भाग में खोज करने के लिए किस प्रकार आकर्षित हुआ, इसका हाल भी बहुत ही मनोरंजक है। सन् १९०३ में जर्मनी

साथ चट्टान की पर्तों में पाये गये थे, जो तृतीय महायुग के सबसे हाल के काल की मानी जाती हैं। इनकी आयु लगभग ५ लाख वर्ष मानी गई है।

इन प्रस्तर विकल्पों का एक बहुत सुन्दर संग्रह पेपिंग नगर के यूनियन मेडिकल कॉलेज इन्स्टीट्यूट में प्रदर्शित है।

अब हमारी प्राचीन मनुष्यों की खोज हमको दो महाद्वीपों के पार अर्थात् पूर्वी एशिया से पश्चिमी योरप को ले जाती है, क्योंकि उपरोक्त वर्णित प्रस्तर विकल्पों के पश्चात् अन्य दो प्रकार के प्रस्तर विकल्प योरप के पश्चिमी देशों में ही पाये गये हैं—एक इंगलिस्तान में, दूसरा जर्मनी में। इन दोनों में से कौन अधिक पुराना है, यह बतलाना असम्भव-सा है। कुछ लोग इंगलिस्तानवाले प्रस्तर-विकल्प को अधिक पुराना बतलाते हैं और कुछ जर्मनीवाले को। हम यहाँ पहले इंगलिस्तान-वाले प्रस्तर-विकल्प का हाल लिखेंगे और उसके बाद जर्मनीवाले का।

(ऊपर) जर्मनी में प्राप्त हाइडेलबर्ग मानव का जबड़ा

(नीचे) उक्त जबड़े के साथ-साथ प्राप्त कुछ पत्थर के औज़ार जो हाथ में पकड़ने के लिए गढ़े गए थे।

इओएनथ्रोपस डॉसोनाई

दक्षिणी इंगलिस्तान के पिल्टडाउन नगर के मैदान में एक गड्ढे में, जहाँ सड़क बनाने के लिए कंकड़ खोदे जाते थे, सन् १९११-१९१३ में चार्ल्स डॉसन तथा अन्य व्यक्तियों को उपमनुष्य-जैसी एक खोपड़ी के कुछ टुकड़े मिले थे। इनमें ४ बड़े टुकड़े खोपड़ी के हैं, १ टुकड़ा नीचे के दाहिने जबड़े का है (जिसमें २ दाढ़ लगी हुई हैं), और एक कील-दन्त तथा नाक की हड्डियाँ भी मिली हैं। ये हड्डियाँ एक नये उपमनुष्य की समझी जाती हैं, जिसका नाम नर्‌्‌ेप डॉसोनाई (Eoanthropus d[illegible]) रक्खा गया है। इसी उपमनुष्य की एक और खोपड़ी के टुकड़े तथा एक निचला जबड़ा पिल्टडाउन से दो मील की दूरी पर मिले हैं।

खोपड़ी की ये हड्डियाँ वर्त्तमान जीवित मनुष्य की सब जातियों से मोटी हैं, परन्तु पेकिंग के आदमी से ये मिलती हैं। अन्य बातों में वे वर्त्तमान मनुष्य की खोपड़ी से समानता रखती हैं। सभी मानते हैं कि इस मनुष्य का माथा अपने पहले के सभी मनुष्यों से अधिक ऊँचा है, परन्तु फिर भी उसमें काफी ढाल है, और भौंहों की हड्डियाँ अधिक उठी हुई नहीं हैं, जैसी कि वर्त्तमान मनुष्य के कुछ कुलों में पाई जाती हैं। इस खोपड़ी के जो टुकड़े पाये गये हैं, वे ऐसे नहीं हैं कि जिन्हें मिलाकर उसके आकार का हम अन्दाज़ लगा सकें। उसके मस्तिष्क के रूप और डील के बारे में मतभेद है। सर आर्थर कीथ उसका मस्तिष्क पिथैकैन्थ्रोपस और वर्त्तमान मनुष्य के बीच का समझते हैं, किन्तु वुडवर्ड, स्मिथ, मैकग्रीगर और ब्रूम की यह राय है कि इसके मस्तिष्क की समाई १३०० C.C है, अर्थात् वर्त्तमान मनुष्य के औसत मस्तिष्क से थोड़ी ही कम है।

इसके नीचे के जबड़े की हड्डी में निकली हुई ठोडी नहीं है और कीलदन्त मनुष्य के दाँतों से अधिक बड़ा है। इसलिए इन बातों में यह मानव पेकिंगवाले आदमी की अपेक्षा वानरों से अधिक मिलता है। इसके जबड़े का पिछला भाग और दाढ़ें मनुष्य जैसी ही हैं। अतः इस अद्भुत जीव में आदमी और वानरों के लक्षण मिले हुए थे। इसका मस्तिष्क तो आदमियों की ही तरह था, लेकिन उसके जबड़े चिम्पाञ्ज़ी से मिलते-जुलते थे। यह अनुमान किया जाता है कि

के पूर्व ही बड़ा मस्तिष्क प्राप्त कर लिया था। यह बात बहुत असम्भव-सी मालूम होती है कि बाद में आनेवाले मनुष्य का जन्म इसी से हुआ है। पिल्टडाउन में मिली हुई ये हड्डियाँ दक्षिणी केन्सिङ्गटन के प्राकृतिक इतिहास के अजायबघर में रक्खी हुई हैं।

इन तीनों जातियों के उपमनुष्य, जिनका विस्तृत वर्णन हम ऊपर कर चुके हैं, आपस में थोड़ी-बहुत विभिन्नता रखते हुए भी कई साधारण बातों में एक-जैसे हैं। यह बात बहुत ध्यान देने योग्य है कि इन तीनों ही के बहुत-से गुण बन्दरों से मिलते हैं, परन्तु कुछ बातों में वे उन लक्षणों तक पहुँच गये हैं, जो वर्त्तमान मनुष्य के लक्षण कहे जा सकते हैं। जब कुम्हार कोई नई शक्ल का बर्त्तन बनाने का विचार करता है, तो पहले एक नमूना बनाता है। ठीक न बनने पर उसको बिगाड़कर फिर से कुछ और बदल कर बनाता है। फिर भी ठीक रूप का यदि नहीं बनता, तो उसे भी बिगाड़ डालता है। इसी प्रकार जब तक उसके मन की-सी शक्ल का बर्तन नहीं बन जाता, वह एक-के-बाद दूसरा बर्तन बनाता और बिगाड़ता रहता है। ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय प्रकृति भी कुम्हार की ही तरह वर्त्तमान मनुष्य को बनाने के लिए तरह-तरह के प्रयोग कर रही थी। उसने उपमनुष्य की कई जातियाँ एक दूसरे से थोड़ी-बहुत भिन्न करके बनाईं। उनमें से एक ने वर्त्तमान मनुष्य का रूप ले लिया और वह अब तक बनी हुई है। शेष सब जातियाँ लुप्त हो गईं।

इनके आगे चलकर जो प्रस्तर विकल्प मिले हैं, वे सब वर्त्तमान मनुष्य की-ही जाति में गिने जाते हैं; यद्यपि सबकी उपजातियाँ भिन्न-भिन्न हैं। इनमें से मुख्य दो का उल्लेख हम यहाँ संक्षेप मे आपके सामने उपस्थित कर रहे हैं।

पेलियेन थ्रोपस हाइडैलबर्जेन्सिस

१६०७ ई० में ऑटो शूटैन्सक साहब ने जर्मनी के हाइडैलबर्ग नामक स्थान से लगभग ६ मील की दूरी पर एक पूरा नीचे का जबड़ा पाया था, लेकिन उसमें एक पत्थर का टुकड़ा ऐसा चिपका हुआ था कि उसे छुड़ाने में बाईं ओर के कुछ दाँतों के टुकड़े पत्थर के साथ ही निकल गये। यह जबड़ा बहुत भारी है। इसका ऊपरी हिस्सा बहुत चौड़ा है, परन्तु इसमें भी ठोड़ी गायब है। पीछे की ओर जबड़े के दोनों बाजुओं के बीच का स्थान कीर्ण है, जिसके कारण वह अपनी जीभ सुविधापूर्वक हिला-डुला न सकता होगा। इससे यह समझ में आता है कि कदाचित् मनुष्य की तरह उसके बोलने में असमर्थ होने का यही कारण रहा हो। यह जबड़ा मनुष्य के जबड़े से चौड़ा, बड़ा और बिना ठोड़ी का है। फिर भी इसके दाँत केवल रूप में ही नहीं, वरन् डील में भी बिल्कुल वर्त्तमान मनुष्य-जैसे ही हैं। आजकल के ऑस्ट्रेलिया और टस्मानिया के कुछ असली निवासियों से भी उसके कील दन्त छोटे हैं। उसकी दाढ़ें भी आजकल की जातियों से बड़ी नहीं हैं। यह जबड़ा किसी भी कारण से बन-मानुष का नहीं कहा जा सकता। इसको बहुत से लोग दाँतों में सादृश्य होने के कारण ही विद्यमान मानव की एक नई जाति मानते हैं। **पेलियेन-थ्रोपस हाइडैलबर्जेन्सिस** (Palæonthropus heidelbergensis) के नाम से पुकारते हैं। लेकिन कुछ लेखक यह मत रखते हैं कि यह जबड़ा साइनैनथ्रोपस अथवा चीन में पाये गये मनुष्य और वर्त्तमान मानव-जाति होमो (Homo) के मध्य की जाति का नहीं है। इस-लिए इन लोगों ने इसे **होमो हाइडैलबर्जेन्सिस** का नाम दिया है।

यह जबड़ा २० वर्ष की खोज के बाद बालू के एक ढेर में ८२ फ़ीट की गहराई में दबा हुआ पाया गया था। उसी गड्ढे में इसके साथ गैंडे, हाथी, बिसन, मैमथ आदि जैसे अन्य जीवों की हड्डियाँ भी पाई गई थीं। इनसे यह कहा जा सकता है कि यह मनुष्य प्लायस्टोसीन के प्रारम्भिक समय में इस पृथ्वी पर मौजूद रहा होगा। इसकी आयु लगभग ४ लाख वर्ष कूती जाती है। इस जबड़े के साथ साथ बहुत कम गढ़े हुए या बिना गढ़े हुए ऐसे कुछ बड़े बड़े पत्थर के टुकड़े पाये गये हैं, जिन्हें देखकर यह जान पड़ता है कि उनसे हथियारों का काम लिया जाता होगा। चूँकि ऊपर लिखी हुई अन्य उपजातियों के साथ पाये हुये पत्थरों से पत्थरों के ये टुकड़े अधिक बड़े हैं, इसलिए यह कहा जाता है कि जर्मनी में पाये हुए इस मनुष्य का शरीर बड़ा तथा हाथ-पैर लम्बे रहे होंगे, जैसा कि उसके बड़े और चौड़े जबड़े से भी विदित होता है। जबड़े के अतिरिक्त इसके शरीर का और कोई अवयव अभी तक नहीं पाया गया है, इसलिए इसकी शक्ल-सूरत के विषय में अभी अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता।

यह जबड़ा हाइडैलबर्ग के जियोलोजिकल इन्स्टीट्यूट (Geological Institute) में रक्खा हुआ है।

आगे के लेख में हम आपको वर्त्तमान मनुष्य की होमो (Homo) जाति के पूर्वपुरुषों का हाल बतलायेंगे।

हरे भरे खेतों और फुलवाड़ियों अथवा नयनाभिराम प्रासादों की सैर सुलभ हो जायगी। निश्चय ही ऐसा कोई ज्ञान उन्हें नहीं होता है, बल्कि उनके शरीर की बनावट में ही कुछ इस तरह की शक्तियाँ निहित होती हैं, जो बिना पूर्व निश्चय के उन्हें कार्य करने की प्रेरणा देती हैं।

अब इन स्वाभाविक कार्यों की समस्या के साथ ही एक प्रश्न हमारे सामने और उपस्थित होता है। क्या इस प्रकार की स्वयभू प्रेरणा से होनेवाले प्रत्याचरण (Responses) निश्चित होते हैं या परिवर्त्तनशील ? क्या ये मशीन की क्रिया की तरह एक निश्चित गति और सीमा में ही बँधे हुए हैं या परिस्थितियों और वायुमंडल की विभिन्नता के अनुसार उनमें भी परिवर्त्तन सभव है या होता रहता है ? मनोविज्ञान के पंडितों में इस विषय पर गहरा मतभेद है, विशेषकर उन दो मुख्य मत के पोषकों में, जिनमें से एक निम्न कोटि के जीवों में बुद्धि का अभाव मानते हैं और दूसरे उसकी विद्यमानता स्वीकार करते हैं। हमारी राय उन विद्वानों के साथ है, जो स्वाभाविक प्रत्याचरणों को परिवर्त्तनशील मानते हैं।

उक्त स्वयंभू वृत्तियों के दो विशेष गुण होते हैं। एक तो यह कि अभ्यास या आदत के द्वारा वे कमज़ोर या दृढ़ अथवा परिवर्तित हो जाती हैं और दूसरा यह कि उनके बल की एक निश्चित अवधि होती है, जिसके बाद अनुभव की परिपक्वता तथा विभिन्न शारीरिक ग्रंथियों के विकास के साथ-साथ वे निर्बल हो जाती हैं, या उनका लोप हो जाता है।

पहले गुण का प्रभाव यह होता है कि जब कोई प्राणी स्वयंभू वृत्तियों के कारण कोई आचरण करता है और प्रायः बार-बार वैसा ही करता रहता है, तो अभ्यासवश उसका उस प्रकार के आचरण के प्रति अनुराग हो जाता है और उसे बदलने अथवा त्यागने में उसे पर्याप्त कष्ट का अनुभव होता है। चिड़ियों ही को लीजिए, वे जहाँ एक बार अपना घोंसला बनाती हैं, वहीं बार-बार बनाती रहती हैं। खरगोश के लिए कहा जाता है कि वे अपने बिल के एक विशेष कोने में ही मल का त्याग करते हैं। उसी प्रकार आदमी भी अपना निवासस्थान अथवा कार्य चुन कर उसका अभ्यस्त हो जाने पर उसे छोड़ने में कष्ट अनुभव करता है।

ऐसा भी होता है कि दो विपरीत वृत्तियों में जिसे विकास का अवसर पहले मिल जाता है, वह दूसरी को दबा लेती है। उदाहरण के लिए ऐसा एक छोटा बच्चा लीजिए जिसे दुनिया के भले बुरे का कोई ज्ञान नहीं है। वह किसी कुत्ते को पहली ही बार देखकर कुत्ते के आचरण के अनुसार उससे प्रेम भी करने लग सकता है और उससे भयभीत भी हो सकता है। प्रेम और भय दोनों विपरीत वृत्तियाँ हैं। यदि पहली ही बार किसी कारणवश बच्चे को कुत्ते का रौद्र रूप दीख पड़े, तो फिर बहुत दिनों के लिए कुत्ते की ओर से वह भयभीत रहने लगेगा इसके विपरीत कुत्ता अगर बच्चे को अपने साथ खेलने दे, मुँह पकड़ने दे, दुम नोचने दे, तो उसकी ओर बच्चे की रुचि अधिकाधिक बढ़ती जायगी।

दूसरे गुण के अनुसार स्वयभू वृत्तियों के विकास की एक निश्चित अवधि होती है और उस निश्चित अवधि के पश्चात् प्रायः वे वृत्तियाँ काम लायक नहीं रहतीं। यदि निश्चित अवधि के भीतर उनके विकास के साधन और अवसर प्राप्त हो गये तब तो ठीक, वरना उनके विकास का अवसर फिर कभी नहीं आता। उदाहरण के लिए पैदा होने के कुछ दिनों बाद तक यदि बच्चे को स्तन से दूध खींचने का अवसर न दिया जाय, तो फिर उसकी दूध खींच सकने की वृत्ति ही नष्ट हो जाती है।

मनुष्य तथा अन्य प्राणियों के आचरणों की तुलना करके यदि देखा जाय, तो मालूम होगा कि मनुष्य में ये स्वयंभू वृत्तियाँ बहुत ही कम विकसित हो पाई हैं। इसका कारण यह नहीं है कि मनुष्य में उक्त वृत्तियाँ अपनी पूरी मात्रा में विद्यमान नहीं हैं, बल्कि इसका कारण यह प्रतीत होता है कि मनुष्य में अन्य प्राणियों की अपेक्षा बुद्धि की मात्रा अधिक होती है, जिसके द्वारा उसकी स्वयभू वृत्तियाँ संशोधित अथवा परिमार्जित होती रहती हैं। उदाहरण के लिए, मछली को अपना भोजन जहाँ-कहीं भी मिलेगा, वह तुरत उसे मुँह में डालने को दौड़ेगी, फिर चाहे उसे मछुवे के जाल में ही क्यों न फँस जाना पड़े। परन्तु आदमी हर जगह खाना देखते ही टूट नहीं पड़ेगा, यद्यपि उसमें भी खाद्य पदार्थ को उदरस्थ करने की स्वयंभू वृत्ति का अभाव नहीं है। वह अवश्य ही शत्रु, मित्र, समय, असमय आदि का विचार करेगा। यहाँ केवल बुद्धि से वृत्ति का परिमार्जन हो गया है, अन्यथा दोनों में कोई अन्तर न होता।

मनोविज्ञानशास्त्र के कुछ पंडितों का मत है कि मनुष्य में स्वयभू वृत्तियाँ बिलकुल होती ही नहीं हैं, और इस विषय पर विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। किन्तु 'आचरणवादी मनोविज्ञान' (Behaviourist School of Psychology) ने इस मत के विरोधी मत को एक

भागना, जंगली जीवों का शिकार करना आदि बातें उनके स्वभाव-सी हो गई।

अनुकरण का प्रभाव बोली पर बहुत अधिक होता है। एक स्थान के निवासी प्रायः एक ही प्रकार का उच्चारण करते हैं। कहा जाता है कि जो लोग जन्म से गूँगे और बहरे होते हैं, वे यथार्थ में बहरे ही रहते हैं। उनके कंठ या जिह्वा आदि शब्दोच्चारक यंत्रों में कोई बुराई नहीं होती। परन्तु शब्द न सुन सकने के कारण वे उनका अनुकरण नहीं कर सकते और उनमें मूकता आ जाती है।

स्पर्धा, ईर्षा आदि भी अनुकरण ही से पैदा होती हैं। कोई आदमी कोई काम किसी तरह से करता है, उस काम को दूसरा आदमी भी उसी तरह से करने का प्रयत्न करे तो हम उसे अनुकरण कहते हैं। साधारण अनुकरण में यह इच्छा नहीं होती कि जो कुशलता पहले आदमी ने दिखाई, वही दूसरा भी दिखावे। परन्तु यह इच्छा जब क्रमशः बढ़ जाती है, तब उस प्रवृत्ति को स्पर्धा कहते हैं। स्पर्धा में आदमी को यह इच्छा रहती है कि जो काम अन्य लोग करते हैं, वही मैं भी करूँ और उसका परिणाम औरों के परिणाम से किसी तरह बुरा या कम न हो, वरन् जहाँ तक हो सके, उससे अधिक अच्छा ही हो। यही शक्ति जब खूब प्रबल हो जाती है, अर्थात् आदमी के मन में जब यह इच्छा पैदा होती है कि मेरा महत्त्व औरों के महत्त्व से अधिक हो जाय, तब उसे औरों की उन्नति अच्छी नहीं लगती और अपनी उन्नति न कर सकने पर वह औरों की अवनति चाहने लगता है। इसे ईर्षा कहते हैं।

सारांश यह कि स्पर्धा और ईर्षा भी अनुकरण के ही रूप हैं। जहाँ तक अपनी उन्नति करने की इच्छा रहे और उस उन्नति के लिए उचित साधन काम में लाये जायँ, वहाँ तक कोई हानि नहीं; किन्तु अपना महत्त्व बढ़ाने के लिए जब दूसरों की हानि सोची जाती है, तब वह कार्य बुरा कहा जाता है।

३ **स्वत्व**—अपनी संपत्ति, अपने वस्त्र, अपने घर और अपने कुटुम्ब के लिए मनुष्य का बड़ा पक्षपात होता है। जो वस्तु अपनी है, उसकी रक्षा के लिए लोग कुछ भी उठा नहीं रखते। त्यागी संन्यासियों की भी ममता अपने अपने दंड-कमंडल और कोपीन आदि पर होती है।

जन्म से दूसरे ही वर्ष से यह प्राकृतिक शक्ति पैदा होने लगती है और बच्चे की ममता अपनी चीज़ों पर अधिकाधिक होती जाती है। स्वत्व की जो स्वयंभू प्रवृत्ति है, वह मानव स्वभाव की उस असहायावस्था की देन है, जब जीवन अरक्षित तथा ख़तरों से भरा रहता था। बाद को विकास के क्रम में यही प्रवृत्ति 'स्वत्व की होड़' के रूप में आकर घोर सामाजिक वैषम्य का कारण हुई।

४. **विधायकता**—विचार करके देखने पर हमें ज्ञात होगा कि ८-१० वर्ष की अवस्था तक बच्चों का काम चीज़ के तोड़ने-फोड़ने और फिर उन्हें जोड़ने-जाड़ने के सिवा कुछ नहीं होता है। आप हजार उपाय करें कि बच्चा चुपचाप हो रहे और चीज़ न छुए, परन्तु वह न मानेगा। अवकाश पाकर चीज़ों को उठाएगा, छुएगा, खोलेगा, बन्द करेगा, बजावेगा, चाटेगा, फेंकेगा, तोड़ेगा, फिर बनाने की कोशिश करेगा, उन पर हाथ फेरेगा, चढ़ेगा, उन्हें अपने सिर पर रखेगा, नापेगा और न जाने क्या-क्या करेगा। इन सब कामों का मतलब क्या है? मतलब यही है कि बच्चा जिन चीज़ों के बीच रहता है, उनके संपूर्ण लक्षण और धर्म जानने, उनके आकार और वज़न आदि का अन्दाज़ा करने, उनकी बनावट से परिचित होने का यत्न करता है। लोक दृष्टि से बनाना और बिगाड़ना परस्पर विरुद्ध बातें हैं, परन्तु बच्चे के लिए उनका महत्त्व समान है, क्योंकि दोनों ही दशाओं में वस्तुओं के वर्त्तमान रूप में, कोई-न-कोई परिवर्त्तन ही किया जाता है।

अब प्रत्यक्ष है कि बच्चों को जितनी ही चीज़ों को छूने, हटाने, देखने, बनाने आदि का मौक़ा मिलेगा, उतनी ही चीज़ों का उन्हें पूरा परिचय प्राप्त होगा। जो ज्ञान उन्हें केवल पुस्तक द्वारा होगा, वह सदा कच्चा बना रहेगा। इसी कारण आधुनिक शिक्षा में यथार्थ वस्तुओं को सामने रखकर शिक्षा देने पर ज़ोर दिया जाता है।

इसी प्रवृत्ति से लाभ उठाने के लिए बड़े-बड़े स्कूलों में मिट्टी के खिलौने बनवाये जाते हैं। लकड़ी का काम सिखाया जाता है। काग़ज़ काटकर उनसे अनेक चीज़ों के नमूने तैयार कराये जाते हैं। कमरों और मैदान आदि बच्चों से नपवाकर उनके नक़्शे बनवाये जाते हैं। ये काम इसलिए कराये जाते हैं, जिससे बच्चों को अपने इर्द-गिर्द की वस्तुओं का यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो।

५. **भय**—यह एक अत्यंत प्रबल स्वयंभू वृत्ति है। इससे बड़े बड़े काम लिये जाते हैं। बहुतेरे बुरे आदमी केवल राजदण्ड ही के डर से नीति पर चलते हैं। बच्चे घर पर हौआ से डरकर माता-पिता की आज्ञा मानते हैं। स्कूल में दंड का भय रहता है, इसलिए लड़के सबक़ याद करते हैं।

६. **प्रेम**—यह प्रवृत्ति मनुष्य में बहुत ही ज़ोरदार है। इसके बारे में बड़े बड़े विवादास्पद प्रश्न मनोविज्ञान शास्त्रियों ने खड़े किये हैं, जिनका विस्तृत विवेचन हम आगे करेंगे।

विवाह के नियमों का ऐतिहासिक अध्ययन करने के लिए हम उस समय से आरम्भ करते हैं, जिसे 'मृगया का समय' (Hunter's Stage) कहते हैं। इस समय मनुष्य खेती इत्यादि से अनभिज्ञ थे और उनका आहार केवल पशुओं का मांस था। उनका न कोई घर था, और न कोई निश्चित टिकने का स्थान। जंगल-जंगल घूमना, आखेट करना और उदर-पालन करना ही इनके मुख्य कर्त्तव्य थे। ऐसे समय में विवाह के नियम क्या रहे होंगे, इसका जानना सरल नहीं। कुछ लेखकों का, जिनमें मैकलिनेन और मारगन भी सम्मिलित हैं, यह मत है कि प्राचीन काल में समाज पूर्णतया अविवेकी था; अर्थात् अपनी तथा पराई स्त्री का कोई भेद न था। एकव्रत की प्रथा समाज में अल्पकाल से प्रचलित मानी गई है और इसका कारण मनुष्य की शिक्षा व नैतिक उन्नति ही है।

इन विचारकों का यह तर्क मातृवंशी परिवारों की स्थिति पर निर्भर है। उनका कथन है कि इस प्रकार के परिवार अथवा स्त्रियों का पारिवारिक साम्राज्य पूर्वकाल में पाया जाता था। उन दिनों अविवेकता के प्रचलित होने का प्रमाण यह है कि उस समय किसी एक पुरुष का उस स्त्री से, जिसके साथ वह एक क्षण के लिए एक स्थान पर पत्नी-सदृश व्यवहार करता था, कोई चिरस्थायी सम्बन्ध नहीं रहता था और न कोई स्त्री ही किसी विशेष पुरुष को अपनी नवजात सन्तान का पिता बतला सकती थी; अतः पिता का ज्ञान न होने से माता ही बालक की पूर्ण रूप से रक्षक होती थी। इसलिए माता को शिशु पर पूर्ण अधिकार प्राप्त थे और वही बालक का शिशुकाल में निरीक्षण करती थी।

वेस्टरमार्क ने इस मत का खण्डन किया है और यह प्रमाणित किया है कि पूर्वकाल में समाज अधिकाश मे एकव्रत (Monogamous) था और अविवेकता बहुत कम थी। उनके प्रमाण ये हैं:—

(अ) उच्च श्रेणी के पशुओं में भी पति पत्नी के समागम के निश्चित नियम हैं और इनमें भी एकव्रत ही अधिकांश में प्रचलित है। उदाहरण के लिए वैज्ञानिकों का कथन है कि चिम्पान्जी और गोरिल्ला जाति के मानवसम बन्दर भी एकव्रत होते हैं।

(ब) अविवेकी समागम की प्रथा का प्रचलित होना इसलिए भी सम्भव नहीं हो सकता था कि ऐसा करने से शरीर-शास्त्र के अनुसार स्त्री वन्ध्या हो जाती है और इस प्रकार जाति की वृद्धि नहीं हो सकती।

(स) मनोविज्ञान के निरीक्षण से भी ज्ञात होता है कि अविवेकी समागम होना इसलिए असम्भव था कि पुरुष में अपनी स्त्री के साथ दुराचार करनेवाले परपुरुष के प्रति द्वेषभाव उत्पन्न होना बिलकुल स्वाभविक है। यह द्वेष का भाव अविवेकी समागम की प्रथा को सदैव रोकता रहता है।

(ड) एक अन्य लेखक डाऊ ने एक और कारण यह भी बतलाया है कि सन्तानोत्पत्ति के समय स्त्री को किसी बाहरी व्यक्ति की शारीरिक सहायता की आवश्यकता होती है और ऐसे समय में उसे अपने पति के अतिरिक्त किसी दूसरे से इस प्रकार की सहायता की सम्भावना नहीं हो सकती। इस दृष्टि से भी आरंभिक युग में अविवेकी समागम की प्रथा का होना कम संभव प्रतीत होता है।

तथापि हम निर्भीक होकर यह नहीं कह सकते कि केवल एकव्रत ही जनसाधारण का नियम था। देश तथा काल के अनुसार थोड़ा-थोड़ा अन्तर अवश्य हुआ होगा, जैसा कि वंश-संगठन के सबंध में हम पाते हैं। परन्तु मैकलिनेन और मारगन के मत का खण्डन करना ही पर्याप्त नहीं है; क्योंकि इस तरह किए गए खंडन के आधार पर मातृवंशी संस्था को हम एकदम भूल नहीं सकते। निश्चय ही मातृवंशी सस्थाएँ संसार के कुछ भागों में पाई जाती थीं और उनकी स्थिति पर प्रकाश डालना आवश्यक है। मातृवशी संस्था की स्थिति का कारण यह बतलाया गया है कि उस समय माता का अपनी सन्तान के पालन में अत्यावश्यक भाग था; बल्कि यों कहिये कि माता ही पर सतान का पालन-पोषण निर्भर था और इसी कारण माताएँ उनकी अधिष्ठात्री होती थीं। अब प्रश्न यह है कि पिता अपने उत्तरदायित्व से क्यों छुटकारा पा जाता था और बच्चों के पालन का पूर्ण भार माता ही पर कैसे रह जाता था? उस काल के इतिहास से ज्ञात होता है कि मनुष्य उस समय सन्तानोत्पत्ति तथा गर्भाधान के कारण तथा नियमों से अनभिज्ञ थे और संतानोत्पत्ति को वे किसी जादू एवं दैविक शक्ति की कृपा का फल समझते थे। अतः सन्तान के जन्म में पिता का उत्तरदायित्व नहीं समझा जाता था। इसीलिए पिता पर उस बालक के पालन-पोषण का भार भी नहीं होता था। दूसरा कारण यह भी था कि पिता शिकार के लिए सदैव इधर-उधर भटकता रहता था, इसलिए बच्चे की देख-रेख नहीं कर सकता था और इसका भार माता ही पर रह जाता था। इस प्रकार मातृवंशी संस्था की उत्पत्ति हुई। इस संस्था में उत्तराधिकार कन्याओं को प्राप्त होता था और वही पारिवारिक धन की स्वामिनी होती थीं। प्रत्येक कुल किसी एक स्त्रीवाचक गोत्र के नाम से प्रसिद्ध होता था। इस प्रकार उस समय

क्रमशः बहुपतित्व (Polyandry) की प्रथा का लोप हुआ और उसके स्थान पर एकव्रत नियम की दृढ़ स्थापना हुई। इस महत्त्वपूर्ण क्रान्ति के कई कारण हैं। मनुष्य की सभ्यता, स्त्रियों के व्यक्तित्व का विकास, व्यक्तिगत संपत्ति के भाव का प्रभुत्व, अनेक स्त्रियों के प्रति पुरुष के प्रेम तथा व्यवहार में असमानता और स्त्री-पुरुष के समान अधिकार के विचारों की पुष्टि इत्यादि इस महान् परिवर्त्तन के प्रमुख कारण हैं। वैसे तो किसी भी एक पुरुष की पत्नी बनने के लिए प्रत्येक स्त्री उपयुक्त है और इस विचार के अनुसार विवाह निश्चय करने में कोई असाधारणता होनी ही न चाहिए, परन्तु सम्पत्ति शारीरिक आकर्षण और प्रेम ने आदि काल से ही पुरुष व स्त्री का प्राकृतिक सम्बन्ध निश्चय करने में असाधारण बाधाएँ उपस्थित की हैं और यही अन्त में बहुपत्नित्व से एकव्रत स्थापित होने के कारण हुए हैं। स्त्री मोल लेने की प्रथा ने धनरहित पुरुषों को बहुपत्नित्व प्रथा का पालन करने में असमर्थ कर दिया और किसी एक पुरुष की स्त्रियों की संख्या अब उसके धन के हिसाब से सीमित हो गई। केवल बहुधनी पुरुष ही बहुविवाह कर सकते थे। अतएव अधिकांश साधारण सम्पत्तिवाले व निर्धन एक अथवा दो विवाह से ही सन्तुष्ट रहने लगे। आर्थिक परिस्थिति ने इस प्रकार एकव्रत होने के लिए पुरुष को बाध्य किया। इससे मिलता-जुलता एक और कारण यह भी था कि मोल लेने के व्यवहार में धनी-मानी पुरुषों की कन्याएँ बहुत धन देकर ही प्राप्त की जा सकती थीं, जिस प्रकार किसी वीर बाला के हरण में बड़े-बड़े योद्धाओं के बलि की आवश्यकता होती थी। सांसारिक नियम है कि दुर्लभ्य वस्तु का आदर अधिक होता है। इस प्रकार अनेक स्त्रियों में धनी पुरुष की कन्याएँ विशेष पद को प्राप्त होती थीं। राजपरिवारों में रानी व पटरानी की कथाएँ आपने प्रायः सुनी होंगी। कहीं-कहीं तो कन्या का पिता जामातृ को वचनबद्ध करा लेता था कि वह उसकी कन्या को सब स्त्रियों से उच्च पद देगा। स्त्री को पतिगृह में उच्च पद प्रदान करने में उसके विशेष गुण व शारीरिक सौन्दर्य का भी हाथ था। सौन्दर्यपूर्ण स्त्रियों के पुरुषों पर राज्य करने का इतिहास आदि काल से आज तक मिलता है। कैकेई का राजा दशरथ पर अद्वितीय प्रभाव, शकुन्तला का दुष्यन्त पर अधिकार, संयोगिता के रूप का पृथ्वीराज पर छाया हुआ जादू, नूरजहाँ का जहाँगीर पर प्रभुत्व आदि की कहानियों से मानव इतिहास परिपूर्ण है। विशेष प्रेम व आदर का परिणाम यह हुआ कि पुरुष उन सौभाग्य-स्त्रियों के सम्मुख अन्य स्त्रियों की बात ही न सोच सका। इस प्रकार बहुपत्नित्व प्रथा को भारी ठोकर लगी। कहीं कहीं यह भी प्रथा रही है कि पहली विवाहित स्त्री का पद अन्य स्त्रियों से ऊँचा माना जाता है। राज्याधिकारी सदैव प्रथम रानी के उदर से उत्पन्न पुत्र ही हुआ करता है। बहुपत्नित्व का एक कारण यह भी था कि अंधविश्वासवश समाज ने गर्भावस्था में पुरुष का स्त्री के निकट वास करना मना कर दिया था। सम्भवतः लोग गर्भाधान को किसी दैवी शक्ति अथवा जादू का फल समझते थे, अतः ऐसी दशा में पुरुष के सम्पर्क का निषेध था। स्त्री के बिछोह की इस अवस्था में पुरुष दूसरा विवाह कर लिया करते थे। इस विश्वास के दुर्बल हो जाने से पुरुष के पुनर्विवाह की इच्छा शिथिल पड़ गई। सभ्य समाज में बहु सन्तान की भी आवश्यकता नहीं रही। पुरुष की शक्ति व मान सन्तान की संख्या पर निर्भर नहीं रहे, इसलिए सन्तान वृद्धि के विचार से अनेक स्त्रियाँ रखने की आवश्यकता जाती रही। प्रेम का उज्ज्वल रूप प्रकाशित होने पर बहुपत्नित्व की हीन प्रथा का लोप होना निश्चय ही था। साथ-ही-साथ स्त्रियों में व्यक्तित्व (individualism) के विकास से एक नवीन जागृति पैदा हो गई। उन्होंने पुरुष के समान अधिकार प्राप्त करने की घोषणा की। इसका प्रभाव यह हुआ कि यदि स्त्री एक समय में अनेक पति नहीं रख सकती, तो पुरुष भी एक स्त्री के होते हुए अनेक पत्नियाँ नहीं कर सकता। इसी तरह के अधिकतर समानता के विचार समाज द्वारा स्वीकृत किये गये और इसके फलस्वरूप पाश्चात्य देशों में, जहाँ इसकी लहर पहले पहुँची थी, एकव्रत के नियम बन गये। ईसाई धर्म में केवल एक ही विवाह की अनुमति दी गई है। व्यक्तित्व के विकास के पूर्व ही व्यक्तिगत सम्पत्ति का भाव प्रबल हो चुका था और स्वाभिमानी स्त्रियाँ अपने पति पर केवल अपना ही व्यक्तिगत अधिकार समझती थीं जिसे वे किसी स्त्री से बाँटने को तैयार न थीं। इसके फलस्वरूप वेश्यागमन अथवा रखेली स्त्रियों के रखने की प्रथा प्रचलित हुई, क्योंकि पुरुष बहुगामी होते हुए भी खुले रूप से दूसरा विवाह नहीं कर सकता था और वेश्या व रखेली को पुरुष पर कोई समाज-रक्षित अधिकार प्राप्त नहीं था। इस प्रकार एकव्रत की प्रथा पुष्ट हुई और बहुपत्नित्व का विनाश हुआ। एकव्रत में स्त्री-पुरुष की मर्यादा बराबर है पर पूर्वीय देशों में स्त्री को अभी पूर्ण स्वतन्त्रता अथवा पुरुष के समान अधिकार प्राप्त नहीं हुए हैं, अतएव यहाँ वह अब भी पुरुष के अधीनस्थ होकर रहती है।

भूगर्भवेत्ताओं का कथन है कि पृथ्वी पर होने वाले भौगर्भिक परिवर्त्तनों के फलस्वरूप युग युग में धरातल की रूपरेखा बदलती रही है। आज से केवल ५० हजार वर्ष पूर्व ही, जब कि पृथ्वी पर निएण्डरथैल जाति के मानव विचरते थे, पूर्वी गोलार्द्ध के जल और स्थल भाग का समवत ऐसा ही रूप रहा होगा, जैसा इस नक्शे में दिखाया गया है। इस युग में भारत का दक्षिणी भाग उत्तरी भाग से बिल्कुल कटा हुआ था और गंगा-सिन्धु के मैदान में महासागर लहराता था।

आर्यों के आने के पहले ही इन्होंने हिन्दू-धर्म के प्रारंभिक रूप-रेखा की रचना की थी। वेदों में इनका उल्लेख मिलता है। ये धनवान् थे, सिक्कों का प्रयोग करते थे, सुन्दर नगरों में रहते थे, जिनकी रक्षा के लिए पत्थर और लौह के क़िले इन्होंने बनाये थे। इनका व्यापार जल-थल-मार्ग से होता था। अनुमान किया जाता है कि इन्हीं लोगों ने आर्यों का घोर विरोध किया था, और ये ही मोहनजोदड़ो की सभ्यता के निर्माता थे।

हमारे देश का सबसे प्राचीन भूभाग दक्षिण है। यहाँ पुराने पत्थर-युग की चीजें बहुतायत से पाई जाती हैं। मद्रास, गन्टूर, कड़ाग़ा जिलों में उस युग की चीज़ें प्रायः मिलती हैं। किन्तु नए पत्थर-युग के चिह्न सारे हिन्दुस्तान में बिखरे हुए मिलते हैं। पत्थर के छोटे-छोटे औज़ार मिर्ज़ापुर जिला, रीवाँ, बघेलखण्ड, छोटा नागपुर, आसाम और बर्मा आदि में मिले हैं। पत्थर के पालिशदार बड़े-बड़े औज़ार, उनके बनाने के साधन और कुम्हार के चाक से बनाये हुए मिट्टी के बरतन दक्षिण में, विशेषतया बिलारी ज़िले में, मिलते हैं। पत्थर की शिलाओं पर नक्काशी का काम और चित्र मिर्ज़ापुर, होशङ्गाबाद, सिंहनपुर एवं कैमूर की पहाड़ियों में पाये गये हैं। सिन्ध और दक्षिण में नये युग की कुछ क़ब्रें भी मिली हैं, जिनमें मिट्टी के बरतन आदि पाये जाते हैं।

पत्थर-युग के बाद दक्षिण में तो लोहे के और उत्तर मे ताँबे के युग का आरम्भ हुआ। यद्यपि इधर-उधर कभी-कभी कुछ काँसे की चीज़ें भी मिलती हैं, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि हमारे देश में कभी काँसे का युग हुआ ही नहीं। हुगली नदी से सिन्धुनद तक और हिमालय से कानपुर ज़िले तक ताँबे के युग के ताँबे के बने हुए हथियार मिलते हैं। किन्तु सबसे बड़ा ज़ख़ीरा मध्य भारत के गङ्गेरिया नामक गाँव में मिला है। पत्थर युग अथवा

भूगर्भवेत्ताओं का कथन है कि पृथ्वी पर होने वाले भौगर्भिक परिवर्तनों के फलस्वरूप युग युग में धरातल की रूपरेखा बदलती रही है। आज से केवल ५० हजार वर्ष पूर्व ही, जब कि पृथ्वी पर निएण्डरथैल जाति के मानव विचरते थे, पूर्वी गोलार्द्ध के जल और स्थल भाग का सम्भवतः ऐसा ही रूप रहा होगा, जैसा इस नक्शे में दिखाया गया है। इस युग में भारत का दक्षिणी भाग उत्तरी भाग से बिल्कुल कटा हुआ था और गंगा-सिन्धु के मैदान में महासागर लहराता था।

आर्यों के आने के पहले ही इन्होंने हिन्दू-धर्म के प्रारंभिक रूप-रेखा की रचना की थी। वेदों में इनका उल्लेख मिलता है। ये धनवान् थे, सिक्कों का प्रयोग करते थे, सुन्दर नगरों में रहते थे, जिनकी रक्षा के लिए पत्थर और लोह के क़िले इन्होंने बनाये थे। इनका व्यापार जल-थल-मार्ग से होता था। अनुमान किया जाता है कि इन्हीं लोगों ने आर्यों का घोर विरोध किया था, और ये ही मोहनजोदडो की सभ्यता के निर्माता थे।

हमारे देश का सबसे प्राचीन भूभाग दक्षिण है। यहाँ पुराने पत्थर-युग की चीजें बहुतायत से पाई जाती हैं। मद्रास, गन्टूर, कड़ापा जिलों में उस युग की चीज़ें प्रायः मिलती हैं। किन्तु नए पत्थर-युग के चिह्न सारे हिन्दुस्तान में बिखरे हुए मिलते हैं। पत्थर के छोटे छोटे औज़ार मिर्ज़ापुर जिला, रीवाँ, बुंदेलखण्ड, छोटा नागपुर, आसाम और बर्मा आदि में मिले हैं। पत्थर के पालिशदार बड़े-बड़े औजार, उनके बनाने के साधन और कुम्हार के चाक से बनाये हुए मिट्टी के बरतन दक्षिण में, विशेषतया बिलारी ज़िले में, मिलते हैं। पत्थर की शिलाओं पर नक्काशी का काम और चित्र मिर्ज़ापुर, होशङ्गाबाद, सिंहनपुर एवं कैमूर की पहाड़ियों में पाये गये हैं। सिन्ध और दक्षिण में नये युग की कुछ क़ब्रें भी मिली हैं, जिनमें मिट्टी के बरतन आदि पाये जाते हैं।

पत्थर-युग के बाद दक्षिण में तो लोहे के और उत्तर में ताँबे के युग का आरम्भ हुआ। यद्यपि इधर-उधर कभी-कभी कुछ काँसे की चीज़ें भी मिलती हैं, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि हमारे देश में कभी काँसे का युग हुआ ही नहीं। हुगली नदी से सिन्धुनद तक और, हिमालय से कानपुर ज़िले तक ताँबे के युग के ताँबे के बने हुए हथियार मिलते हैं। किन्तु सबसे बड़ा ज़ख़ीरा मध्य भारत के गङ्गेरिया नामक गाँव में मिला है। पत्थर युग अथवा

(ऊपर) बाईं ओर—मोहनजोदड़ो के ५००० वर्ष पूर्व के पक्की ईंटों के मकान, पानी के निकास के लिए पक्की ढकी नालियाँ बनी हैं। **दाहिनी ओर**—उसी युग का एक मिट्टी का बरतन। **(नीचे) बाईं ओर**—मोहनजोदड़ो का एक पक्का कुवाँ। **दाहिनी ओर**—दो प्राप्त मुद्राएँ। [कापीराइट—आर्कियालाजिकल सर्वे ऑफ़ इण्डिया।]

सिन्धुघाटी के श्रीसम्पन्न नगरों की सम्पत्ति कृषि और व्यापार के आधार पर थी। गेहूँ, जौ और रुई की खेती होती थी। नगरों का व्यापार अफ़गानिस्तान, तुर्किस्तान, ख़ुरासान, एलाम, मेसोपोटेमिया और शायद मिस्र से भी होता था। उनमें कताई और बुनाई का ख़ूब काम होता था। अमीर और ग़रीब सब कताई का काम करते थे। यहाँ से सूती कपड़ा बाहर भेजा जाता था। वहाँ के निवासियों को सम्भवतः लोहे का ज्ञान न था; क्योंकि सोने, चाँदी, ताँबे, काँसे और जस्ते के बने हुए ज़ेवर, सिक्के आदि मिलते हैं, किन्तु लोहे की बनी वहाँ कोई चीज़ नहीं मिली। हड्डी, हाथी-दाँत और सीप की बनी चीज़ें भी वहाँ मिलती हैं। इनके अलावा घरेलू चीज़ें, जैसे मटले, लोटे, तश्तरियाँ, प्याले, मटके, कुठले आदि भी मिले हैं।

मोहनजोदड़ो आदि के लोगों को कपड़ों और ज़ेवरों का बड़ा शौक़ था। उनमें सूती-ऊनी कपड़ों का चलन था। उस समय शायद सिले हुए कपड़ों का प्रयोग नहीं होता था। लोग प्रायः अपनी चादरें कंधों पर ओढ़ा करते थे। आदमी अपने बालों को या तो आज के आधुनिक फ़ैशन की तरह छोटा रखते थे, या बड़े [illegible] अथवा चोटी [illegible] थे। स्त्रियाँ बालों को [illegible] जूड़ा, इनके सिर पर लपेट होती थी। [illegible], किन्तु [illegible] कुछ-कुछ [illegible] थे। [illegible] अँगूठियाँ, कड़े और [illegible] हार आदि [illegible] करती। [illegible] आदि [illegible] और [illegible] में पहनती थी। [illegible] में नहीं थी। ये लोग मूर्तियाँ, चित्र और खिलौने भी बनाते थे। बन्दर, भालू, खरगोश, बाघ गैंडा और भैंसों की शक्ल के बने हुए खिलौने वहाँ मिलते हैं। खिलौनों के अलावा साधारण रङ्गीन चीज़ें, जैसे हाँडियाँ, घड़े, धूपदीपदान, बटखरे आदि भी मिले हैं। वहाँ के लोगों को शायद जुआ खेलने का भी शौक़ था, क्योंकि पाँसे भी पाये जाते हैं। वे लोग शायद कला के अधिक प्रेमी न थे, क्योंकि केवल मनोविनोद के लिए उन्होंने कला या कारीगरी का कोई प्रयत्न नहीं किया।

मोहनजोदड़ो में प्राप्त एक मानव-मूर्ति

वे लोग बैल, भैंसे, भेड़, हाथी, ऊँट, सुअर और शायद घोड़े और कुत्ते भी पालते थे। वे भेड़, बैल, सुअर, चिड़ियों, घड़ियाल, कछुओं आदि का मांस और अण्डे खाते थे। अनाजों के अलावा वे दाख भी खाते थे। उनके अन्य फलों और तरकारियों का ठीक पता अभी तक नहीं मिलता। सवारी और माल ले जाने के लिए इनके पास पहियोंवाली गाड़ियाँ और इक्के थे।

इन नगरों के लोग शायद युद्ध-प्रेमी न थे और न उनको आक्रमण का ही अधिक भय था। संभव है कि वे क़िले बनाते हों, किन्तु युद्ध में शरीर रक्षा के लिए न तो उनके पास ज़िरह-बख़्तर और न ढालें ही थीं। उन्हें तलवारों का भी उपयोग नहीं मालूम था। युद्ध आदि में वे तीर कमान, बर्छे, फरसे, छुरे, गदाओं और गोफनों से काम लेते थे।

सिन्धुघाटी के निवासी प्रायः मुर्दों को जला देते थे। जलाने के बाद मुर्दे की बची-खुची हड्डियों को चूर्ण करके या तो यहाँ इधर-उधर फेंक देते थे, या उनको

हाँडी आदि किसी बर्तन में रखकर कुछ दूसरी चीजों के साथ गाड़ देते थे। कभी-कभी वे मृतक को या उसके किसी अंश को गाड़ दिया करते थे। कभी वे मृतक को पशु-पक्षियों के आहार के लिए भी छोड़ दिया करते थे।

सिन्धुतटवालों में धर्म के भाव भी थे। वे लोग धरती को माता अथवा देवी या शक्ति समझकर नग्न रूप में उसकी मूर्तियाँ बनाकर पूजा करते थे। वे पशुओं से सेवित योगासनस्थ दो सींगधारी त्रिमुख, अथवा एक मुखवाले त्रिनेत्र देवता की भी पूजा करते थे। चतुर्भुज देवता का भी वे सम्भवतः पूजन करते थे। उनका एक देवता कार्योत्सर्ग आसन में खड़ा हुआ मिलता है, जिसकी कुछ समता भगवान् 'जिन' से मिलती है। उसके पास नन्दी की तरह एक बैल भी बना रहता था। वे लोग लिङ्ग और योनि के आकार की मूर्तियाँ भी पूजते थे। इन देवी और देवताओं के अतिरिक्त वे वृक्षों और उन पर रहनेवाली आत्माओं की भी पूजा करते थे। उस समय की एक मुद्रा मोहनजोदडो में मिली है, जिस पर पीपल का वृक्ष बना हुआ है। उस पर सात सहचारियों से सेवित वृक्ष की देवी है। उसके पास एक पशु अङ्कित है, जिसका कुछ अङ्ग तो बैल का-सा, कुछ बकरे का-सा और मुँह मनुष्य का-सा बना हुआ है। अन्य प्रकार के मनुष्य के-से मुखवाले बकरे, भेड़, बैल, हाथी, सींगवाले बाघों की मुद्राएँ भी मिलती हैं। स्वाभाविक आकार के पशुओं-पक्षियों की भी मुद्राएँ पाई जाती हैं। स्नान करना उनकी पूजन-विधि का एक अङ्ग था। उप-वर्णन से यह साफ़ जान पड़ता है कि उस समय पशु-पक्षियों, तथा देवी देवताओं की पूजा उनकी कल्पित अथवा वास्तविक मूर्ति बनाकर की जाती थी। इन देवताओं में शक्ति देवी और महादेव की पूजा अधिक प्रचलित थी, किन्तु विष्णु एवं अन्य देवताओं की भी कल्पना का आरम्भ हो गया था। इससे यह अनुमान किया जाता है कि आर्यों और हिन्दुओं के अनेक देवताओं, उनके पूज्य नागों, तथा पशु-पक्षियों का विकास वैदिक युग के पूर्व और आज से पाँच हज़ार वर्ष पहले ही होने लगा था। मूर्ति और लिङ्ग योनि की पूजा भी इस देश में वैदिक काल के पहले ही से प्रचलित है।
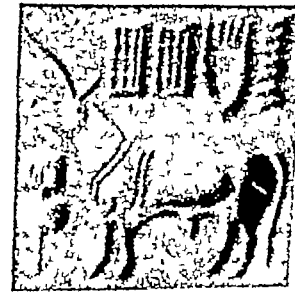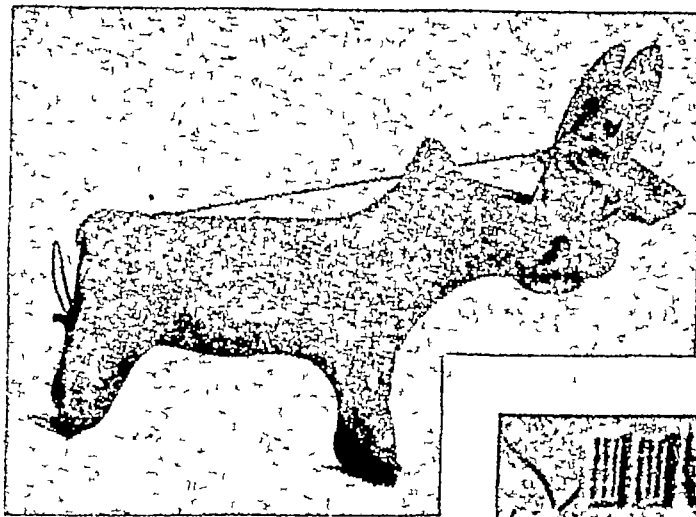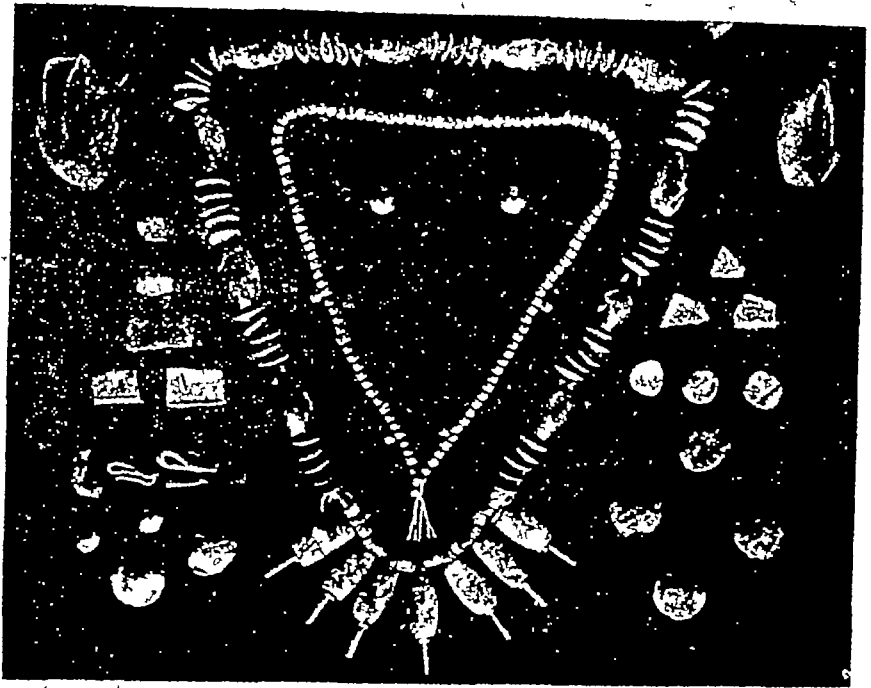
(ऊपर) मोहनजोदड़ो में मिले हुए कुछ आभूषण। (बाईं ओर) एक खिलौना। इसमें यह विशेषता है कि जब इसकी दुम खींची जाती है, तो इसका सिर नीचे झुक जाता है। (नीचे) एक मुद्रा (Seal)। [फ़ोटो—कॉपीराइट आर्कियालाजिकल सर्वे ऑफ़ इण्डिया।]
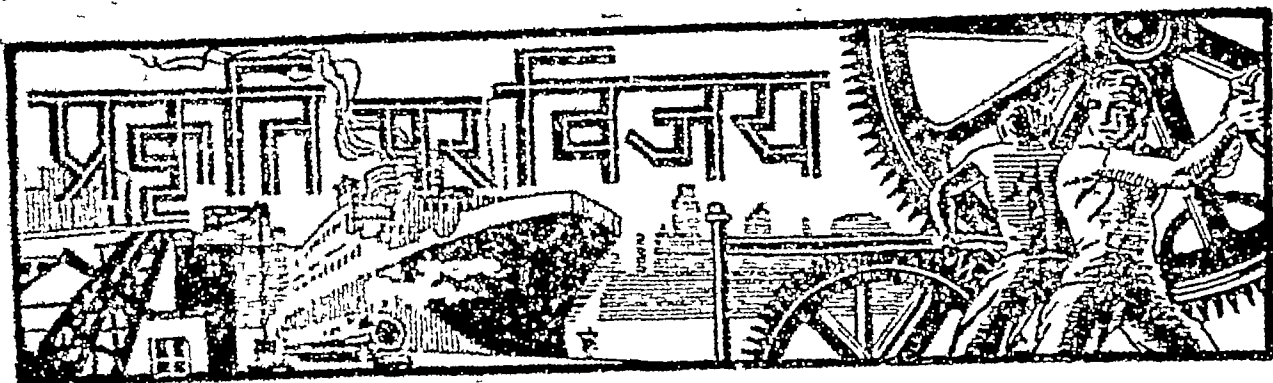
भाप की शक्ति के प्रयोग में क्रान्ति

टरबाइन इंजिन का आविर्भाव

यद्यपि भाप से हटकर मनुष्य आज तेल से उत्पन्न की गई गैस व बिजली की शक्ति की ओर बढ़ रहा है, फिर भी आज के इस यंत्र-युग की सभ्यता में भाप की शक्ति का ही सर्वोपरि हाथ है। हमारी रेलगाड़ियाँ और जहाज़, मिलें और बड़े-बड़े कारख़ाने—सभी तो भाप की अतुल शक्ति पर टिके हुए हैं। यहाँ तक कि स्वयं बिजली भी अधिकतर भाप ही की शक्ति से पैदा की जा रही है! इसका एक कारण भी है। गैस या बिजली अथवा अन्य किसी भी प्रकार की शक्ति के प्रयोग में अमित सुविधाएँ होने पर भी उनके उत्पादन की इतनी सुविधाएँ अभी हमारे पास नहीं हैं, जितनी भाप को उपजाने की। पानी की पृथ्वी पर कमी नहीं, और ईंधन में अब भी कोयला ही हमारे लिए सबसे सस्ता साबित हो रहा है। किन्तु खाली अधिक मात्रा में भाप उपजाने ही से तो आज दिन हमारा काम नहीं चल सकता। जहाँ छोटे-से इंजिन द्वारा अपरिमित शक्ति और गति पैदा करने की समस्या सामने आती है, वहाँ न्यूकामेन और वैट या स्टीफ़ेन्सन की परम्परा को लिये चला आ रहा पुराना भाप का इंजिन तेल से चलनेवाले इंजिनों के आगे फिसड्डी साबित होता है। अब तो पेट्रोल या बिजली से सामना है! तब फिर क्या यह अनिवार्य रूप से आवश्यक नहीं कि यदि मैदान में टिके रहना है, तो प्रचुर उत्पादन द्वारा नहीं वरन् प्रयोग के ढंग ही में क्रान्तिकारी परिवर्तन करके भाप की शक्ति की वृद्धि की जाय? यह बात सबसे पहले पार्सन्स नामक एक अंग्रेज़ के माथे में कौंधी और उसने भाप के इंजिनों का रूप बदलकर वैट और न्यूकामेन के सिद्धान्त ही को उलट दिया! किस तरह? आइए, इसकी मनोरंजक कहानी इस लेख में आपको सुनाएँ।

सन् १८९७ ई० के [illegible] मास की २७वीं तारीख— इंगलैंड में विक्टोरिया की हीरक जयंती की धूम है। आज स्पिटहेड में उन्हीं जहाज़ों का विराट् प्रदर्शन है। संसार भर के राष्ट्रों के प्रतिनिधि, ब्रिटिश जल-सेना के बड़े-बड़े अफ़सर और राजपरिवार के सभी सदस्य मौजूद हैं। तट के [illegible] पर [illegible] दर्शकों की उमड़ती हुई जन राशि किनारे से टकराती हुई सागर की अनंत जल-राशि से मानो होड़ ले रही है!

[illegible] तरह [illegible] खोजकर खड़े हो गये। [illegible] की ओर से निकले, धुआँ उगलते हुए, [illegible]-कार जहाज़! ऐसा मालूम होता था मानो भीतर-ही भीतर समुद्र में एक क़िला बाँध दिया गया है, और थोड़े-थोड़े फ़ासले पर पानी के ऊपर उठी उसकी लोहे की बुर्जें पास फटकने का साहस करनेवाले किसी भी दुस्साहसी को चुटकी बजाते ही गर्क़ कर डालने के लिए दाँत खोले खड़ी हैं!

किन्तु यह क्या? मुश्किल से सौ फ़ीट लंबी और नौ फ़ीट चौड़ी यह मामूली नाव छिपकली की तरह सरसराती हुई [illegible] से अजेय इन भीमकाय जहाज़ों के लौह दुर्ग में कहाँ से घुस पड़ी!! यहाँ तक तो प्रतिष्ठित व्यापारी जहाज़ों के भी आने की सख्त मुमानियत है!

किनारे पर एकत्रित भीड़ स्तब्ध हो,

के लिए मानो उसकी साँस ही रुक गई। जंगी अफसर भी हक्का-बक्का थे। फौजी अनुशासन भंग करने की यह ढिठाई! यह दुस्साहसी कौन है? एक तीव्रगामी टारपैडो-बोट को आज्ञा दी गई कि उसे पकड़कर बाहर करो!

नौका अब भी जहाज़ों के बीच की पंक्तियों में निर्द्वन्द्व होकर यहाँ से वहाँ सरसराती हुई चुहिया की तरह फुदक रही थी। टारपैडो-बोट भीषण वेग से उसकी ओर लपका, पर उसे बचाकर मानो खिलखिलाती हुई वह एक ओर को भाग चली।

बड़े अचरज की बात थी! जहाँ तक गति का संबंध था, यह टारपैडो-बोट नौ-सेना-विभाग की शान था—दौड़ में अब तक वह सबसे बाज़ी मार चुका था। फिर भी यह छोटी-सी नौका उसे यहाँ-से-वहाँ नचाते हुए मानो उसके साथ खिलवाड़ कर रही थी, वह उसे अपने पास तक नहीं फटकने देती थी! जब देखो तब वह उससे बाँसों आगे ही दिखाई देती। सब लोग हैरान थे! आख़िर इसमें ऐसा कौन-सा अद्भुत यंत्र लगा है कि तेज़-से तेज़ दौड़नेवाला टारपैडो-बोट भी इससे हार खा रहा है? मुश्किल से ४०-५० टन वज़न की यह नौका बड़े-से-बड़े जंगी जहाज़ के इंजिनों के लिए भी असंभव ३४ नॉट (Knot) अर्थात् क़रीब ३९ मील प्रति घंटे की गति से दौड़ लगा रही है! इस पर इसके चलते समय न जहाज़ों के दोहरी गतिवाले वाष्प-इंजिनों की कान फोड़नेवाली घरघराहट ही हो रही है, न यही कहा जा सकता है कि इसको चलानेवाला इंजिन भाप का इंजिन न होकर कोई और ही इंजिन हो, क्योंकि स्पष्ट है कि यह भी औरों ही की तरह कोयले का धुँवा उगल रही है!!

इस अयाचित प्रदर्शन से सभी लोगों को मनोरंजन के साथ-साथ यह उत्कंठा होने लगी कि देखें कब यह नाव हाथ आती है और इसके रहस्य का उद्घाटन होता है! टारपैडो-बोट को ख़ूब छकाने और थका डालने के बाद जब नौका स्वयं ही अपनी मर्ज़ी से किनारे आकर लगी, तो दुनिया को भाप की शक्ति के प्रयोग में एक युगान्तरकारी परिवर्त्तन की सूचना मिली। यह था भाप के एक नई जाति के इंजिन—टरबाइन इंजिन—का आविष्कार और इसके आविष्कारकर्त्ता थे चार्ल्स पार्सन्स, जो बाद में सर चार्ल्स पार्सन्स के नाम से मशहूर हुए। यों तो पार्सन्स के साधारण टरबाइन इंजिन इससे बहुत वर्ष पहले ही से बिजली पैदा करने में काम आने लगे थे, किन्तु यह किसी को स्वप्न में भी ख़याल न था कि इसका उपयोग जहाज़ों के चलाने में भी हो सकेगा। पार्सन्स ने महज़ प्रयोग के लिए केवल पौने पैंतालीस टन वज़न की एक नौका पर अपने इस नये ढंग के इंजिनों को लगाकर २००० अश्वबल की शक्ति उत्पन्न करने में सफलता पा ली थी, और जैसा कि ऊपर की घटना से विदित होता है, नौ-विद्या के इतिहास में तहलक़ा मचा दिया था! 'टरबाइन' के ही नाम पर पार्सन्स ने प्रयोग के लिए बनाई गई अपनी इस नौका का नाम 'टरबाइनिया' रक्खा था। 'टरबाइनिया' की क़रतूत ने ब्रिटिश नौ विभाग के कान खड़े कर दिये और तुरन्त ही आज्ञा दी गई कि बड़े जंगी जहाज़ों पर इसी तरह के नई जाति के इंजिन लगाये जायँ। जब ये जहाज़ तैयार हुए, तो उन्हें ३७ नॉट या लगभग ४३ मील प्रति घंटे की अभूतपूर्व प्रचण्ड गति से चलते हुए देखकर टरबाइन इंजिन की कार्यक्षमता से सभी प्रभावित हुए! तब तो जल्दी-जल्दी अनेक सुधार करके इस इंजिन को बड़ा-से-बड़ा जहाज़ चलाने के योग्य बना लिया गया।

डी लैवल द्वारा आविष्कृत टरबाइन का चक्र और उस पर कार्य करती हुई भाप

पार्सन्स के टरबाइन (दे० पृष्ठ ४७३-४७४ के चित्र) की रचना इससे विभिन्न प्रकार की होती है।

आज दिन संसार के सबसे बड़े जहाज़ 'क्वीन मेरी' में, जिसका वज़न लगभग ८० हज़ार टन है, इतने बड़े टरबाइन इंजिन लगे हैं कि उनसे २ लाख अश्वबल की शक्ति उत्पन्न होती है।

जैसा कि पिछले अंक में इसी स्तंभ के लेख में बताया जा चुका है, टरबाइन इंजिन का मूल सिद्धान्त वैट और न्यूकामेन के पुराने ढंग के रेसीप्रोकेटिङ्ग (या दोहरी गति

अब तक हमने भाप से चलनेवाले इंजिनों की ही चर्चा की है; किंतु इंजिन ही में भाप की शक्ति का उत्पादन करनेवाली यंत्र-प्रणाली का अंत नहीं हो जाता। इंजिन तो महज़ तैयार मिलनेवाली भाप की शक्ति का उपयोग करके गति उत्पन्न करने का एक साधन है—चाहे वह वैट के सिद्धान्त के अनुसार बनाया गया सामान्य भाप का इंजिन हो, चाहे पार्सन्स द्वारा आविष्कृत टरबाइन इंजिन। यह भाप इन इंजिनों को कहाँ से तैयार मिलती है? ये स्वयं तो इसे तैयार कर सकते नहीं। फिर, इतनी अधिक मात्रा में भाप पैदा करने और उसे जमा रखने के लिए ऐसी वैसी छोटी यंत्र-प्रणाली से भी तो काम नहीं चल सकता। आइए, देखें ये भाप उत्पन्न करनेवाले यंत्र क्या और कैसे हैं? किसी भाप से चलनेवाले बड़े कारखाने के इंजिनघर में चलिए। देखिए, सिर पर खड़ी आकाश से बातें करनेवाली यह ऊँची चिमनी कहाँ से आ रहे धुएँ को उगल रही है? इंजिन में से तो हम इस तरह का काला धुँआ निकलने का कोई कारण नहीं देखते, क्योंकि भाप का रंग ऐसा नहीं होता। अतएव ज़रूर यह और कहीं से आ रहा है। हाँ, वह देखिए उस छोटी-सी खिड़की से भीषण आग की लपटें उगलते हुए भट्ठे का एक हिस्सा दिखाई दे रहा है। उसी में कोयला भी झोंका जा रहा है। अब आप शायद समझ गये होंगे कि प्रत्येक भाप के इंजिन के साथ-साथ भाप के उत्पादन के लिए भी एक अलग यंत्र होता है, जिसमें से बनकर उत्तप्त भाप एक नली द्वारा इंजिनों में आती है। इस यंत्र को 'ब्वॉयलर' (Boiler) कहते हैं। रेल के इंजिन, सड़क बनानेवाले इंजिन, आदि में यह ब्वॉयलर इंजिन ही में लगा होता है, लेकिन बड़े-बड़े कारखानों या जहाज़ों के ब्वॉयलर अलग होते हैं। ब्वॉयलर वास्तव में भाप के इंजि[illegible] की जान है। पर्वतों, नदियों और मैदानों को लाँघते हुए दिन-रात दौड़ते रहनेवाली रेलगाड़ियों, हज़ारों यात्री और मनों सामान लादकर समुद्र की छाती को चीरते हुए एक महाद्वीप को दूसरे महाद्वीप से सम्बद्ध करनेवाले जहाज़ों, और तरह-तरह की वस्तुओं का उत्पादन करनेवाले कल-कारख़ानों के पीछे जो शक्ति काम करती है, उसका उत्पादन इसी ब्वॉयलर में होता है।

आरंभ से अब तक इंजिनों की तरह ब्वॉयलर का भी रूप निरन्तर बदलता रहा है। जेम्स वैट के आरंभिक ब्वॉयलर से आज के ब्वॉयलर में न सिर्फ आकार-प्रकार में ही परिवर्तन हो गया है, वरन् सिद्धान्त में भी बहुत-कुछ उलटफेर हो गया है। ब्वॉयलरों के विकास का इतिहास भी उतना ही रोचक है, जितना भाप के इंजिनों का; किन्तु इस लेख में इतना स्थान नहीं कि उसका पूरा ब्यौरा दिया सके। इसके आगे के लेख में हम विस्तृत रूप से ब्वॉयलरों की रचना, कार्य करने का ढंग, तथा उनके विभिन्न रूपों पर प्रकाश डालेंगे। ब्वॉयलर ही वह पात्र है, जिसमें पानी उबालकर भाप बनाई जाती है। उस भाप का जितना अधिक दबाव होगा, उतनी ही अधिक शक्ति उसमें उत्पन्न होगी। अतएव ब्वॉयलर के निर्माण में दो बातों का ख़ास महत्त्व है। प्रथम यह कि इस पात्र की दीवारें इतनी मजबूत हों कि कामचलाऊ से भी अधिक दबाव वे सहन कर सकें, ताकि कभी विस्फोट का ख़तरा न रहे। दूसरे, इसके लिए आवश्यक ईंधन के ख़र्च में भी अधिक से अधिक बचत हो सके। वर्षों के निरंतर सुधारों के बाद ब्वॉयलर का जो रूप आज दिन काम में लाया जाने लगा है, उसमें उपर्युक्त दोनों बातों में बहुत हद तक सफलता मिल चुकी है। आज का भाप का इंजिन १० साल पूर्व के भाप के इंजिन से चौगुना अधिक कार्यकर है। इसका अधिकांश श्रेय ब्वॉयलरों के सुधार ही को है।

२०,००० किलोवॉट बिजली की शक्ति उत्पन्न करनेवाले डॉयनमो को चलानेवाले एक पार्सन्स टरबाइन इंजिन का चक्र (खुला हुआ)

इस जाति के टरबाइन में भाप चक्र के बाएँ भाग में प्रवेश करती है, जहाँ उसे अधिक जगह मिलती है और जब उसका दबाव कम होने लगता है, तब वह दाहिनी ओर की लबी ब्लेडों या चक्रवत् थालियों को घुमाने लगती है, जहाँ जगह कम सँकरी होने की वजह से उसका दबाव बढ़ जाता है।

नहीं हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ ही में नेपोलियन की सेनाएँ, उस प्रसिद्ध विजेता के व्यक्तिगत नेतृत्व में, वैज्ञानिकों, प्रकृतितत्ववेत्ताओं, भूगोल-शास्त्रियों तथा इतिहासवेत्ताओं की टोली के साथ मिस्र की बालुकामयी भूमि पर एकत्रित हुईं। इस मण्डली की खोजों का ब्योरा इन सब विद्वानों के सम्मिलित प्रयास से तैयार की गई 'मिस्र का विवरण' (Description de l'Egypte) नामक ग्रंथ में सुन्दर नक़्शों तथा नक़्क़ाशी द्वारा तैयार किये गये अन्य चित्रों सहित प्रकाशित किया गया था और यह अमूल्य ग्रंथ फ्रांस के प्रथम सम्राट् (नेपोलियन) के गौरव का स्मरण करानेवाले चिरस्थायी स्मारकों में से एक है।

शैम्पोलियों (Champollion) द्वारा महीनों के कठिन अध्ययन के बाद किस तरह मिस्र की चित्रलिपि पढ़ी गई, इसकी कथा जगत्प्रसिद्ध है। पहले यह विश्वास किया जाता था कि ये चित्र संकेत जादू टोना-सम्बंधी गूढ़ार्थ द्योतक बेल-बूटे हैं। लेकिन प्रसिद्ध रोज़ेटा शिलालेख (Rosetta Stone) (जो अब ब्रिटिश म्यूज़ियम में है) के अन्वेषण ने चित्रलिपि के रहस्य को अन्तिम रूप से सुलझा दिया। यह पाषाण एक प्रकार की काली शिला की पतली चिपटी तख्ती है, जिसकी सतह पर तीन भाषाओं में लेख खुदे हैं। इनमें से एक भाषा यूनानी है। शैम्पोलियों ने अपनी आश्चर्य-जनक बुद्धि-विचक्षणता, तार्किक विवेचन तथा अत्यन्त परिश्रमयुक्त अनुसन्धान द्वारा इस प्रस्तरखण्ड के मिस्री और दिमौटिक संकेतों के प्रत्येक अक्षर का अर्थ ढूँढ निकाला। चित्र-लिपि का गूढ़ार्थ ज्ञात हो जाने के बाद मिस्र के इतिहास और पुरातन स्मारकों के विषय में हमारी जानकारी में उल्लेखनीय उन्नति हुई। अब प्राचीन मिस्र की भिन्न-भिन्न वंशावलियाँ लगभग संपूर्ण रूप से तिथिबद्ध कर ली गई हैं, और नाना प्रकार के खुदे हुए अथवा पैपिरस (एक प्रकार के काग़ज़) पर लिखित लेखों को पढ़ने में अब ऐसी कोई अड़चन नहीं पड़ती जो दूर न हो सकती हो।

सुप्रसिद्ध रोज़ेटा शिलालेख (Rosetta Stone)
जिसके रूप में पुरातत्ववेत्ताओं को प्राचीन मिस्र के रहस्यमय अतीत का बंद द्वार खोलने की जादूभरी कुंजी मिल गई है। यह पत्थर का टुकड़ा संसार की एक अनमोल निधि समझा जाता है और ब्रिटिश म्यूज़ियम में सुरक्षित है।

एक समय यह विश्वास किया जाता था कि चतुर्थ वंश के पिरामिड, जो कि ईसा से चार हज़ार वर्ष पूर्व के हैं, मिस्री स्थापत्यकला की सबसे आदिम अवस्था के नमूने हैं। परन्तु वर्तमान समय की खोजों ने इन तिथियों को बहुत अधिक पीछे ढकेल दिया है और अब साधारणतया यह मान लिया गया है कि पिरामिडों के निर्माण के युग से भी पहले मिस्र में इससे कहीं पुराना एक प्रागैतिहासिक युग था, जिसमें प्राचीन मिस्र की कलाओं की प्रथम किरणें फूटीं थीं। मिस्र के ऊपरी भाग की शिला-कन्दराओं तथा न्यूबिया के आरम्भिक शिलागृहों या 'डालमेनों' में उपर्युक्त प्रागैतिहासिक काल के अवशेष पाए जाते हैं। मिट्टी की प्रागैतिहासिक मूर्तियाँ, जिन पर गुदने के चिह्न हैं, तथा मिस्र के राजवंशों के युग से पहले के दो रंगों में रँगे बर्तन, जिनके पेंदे के भाग टेढ़ी-मेढ़ी रेखाओं के बीच पक्षी, नौकाओं एवं वन्य पशुओं के चित्रों से सुशोभित तथा गहरे लाल रंग से रँगे हुए हैं, प्रचुर राशि में पाये गये हैं और पुरातन मिस्री कला के प्रारम्भिक प्रयत्नों का हमें बोध कराते हैं।

दक्षिण की ओर से आनेवाले कुछ विदेशी विजेताओं के आगमन के पहले संभवतः नील नदी की घाटी के प्राचीन निवासी नंगे घूमते थे और और अपने शरीर पर उसी

(ऊपर) गिज़े के तीन महान् पिरामिड, जिनके संबंध में अरब इतिहासज्ञ अब्दुल लतीफ ने निम्न उद्गार प्रकट किये हैं—"सभी वस्तुएँ काल से भयभीत रहती हैं, किंतु पिरामिडों से स्वयं काल भी डरता है।" ये तीनों पिरामिड चतुर्थ वंश के समय में (लगभग ५ हज़ार वर्ष पूर्व) (दाहिनी ओर से बाईं ओर को) क्रमशः खूफू, ख़ेफरे और मैनकुरे द्वारा बनवाये गये थे।

(दाहिनी ओर) चतुर्थ वंश के समय (ई० पू० २८००) की एक प्रतिमा का शीर्ष-भाग। इन मूर्तियों पर चूने के मसाले का एक तरह का मुलम्मा या प्लास्टर (Stucco) चढ़ाया जाता था, जिसका कुछ भाग इस मूर्ति के चेहरे पर उखड़ गया है। लगभग साढ़े चार हज़ार वर्ष पूर्व की इस मूर्ति में कैसी सजीवता है! इसको देखते हुए इस बात को जानने में क्या कोई कठिनाई है कि बाद में आनेवाली ग्रीस की कला को कहाँ से प्रेरणा मिली थी।

तरह गुदने गुदाते और उन्हें रँगते थे, जिस तरह नये प्रस्तर-युग के योरप निवासी करते थे। वे अपनी भौंहों और पलकों की रेखाओं को एक प्रकार के सुगन्धित सुरमे के प्रयोग के द्वारा प्रसिद्ध गहरी बना लेते थे जैसा कि आजकल भी मिस्र तथा हमारे अपने देश में किया जाता है। उनमें से अधिकतर रौंदी हुई मिट्टी से बने झोपड़ों में रहते थे, जिनमें दरवाज़ों को छोड़कर खिड़की इत्यादि का पूरा अभाव था। केवल सम्पत्तिशाली लोग घर बना सकते थे, जिनकी छत में लगे हुए शहतीरों को सँभालने के लिए नीचे एक या दो खम्भे लगे होते थे। उनके घर के सामान में मिट्टी के भौंड़े बर्तन, चकमक पत्थर के चाकू, या छीलने के अन्य औज़ार, अनाज पीसने के लिए पत्थर की सिलनुमा चक्कियाँ, दो या तीन सन्दूक तथा आसन या इससे बुनी चटाइयाँ होती थीं। इतिहास के उषःकाल के बहुत पूर्व ही मिस्रवासियों ने इसके आक्रमणकारियों से धातुओं का प्रयोग सीख लिया था और पुराने ढंग के पत्थर आदि के औज़ार केवल उच्च श्रेणी के कुलीन लोग तथा पुरोहित-वर्ग ही बड़प्पन या प्रतिष्ठा के चिह्न-स्वरूप अथवा धार्मिक महत्त्व की वस्तु समझकर सुरक्षित रखते थे।
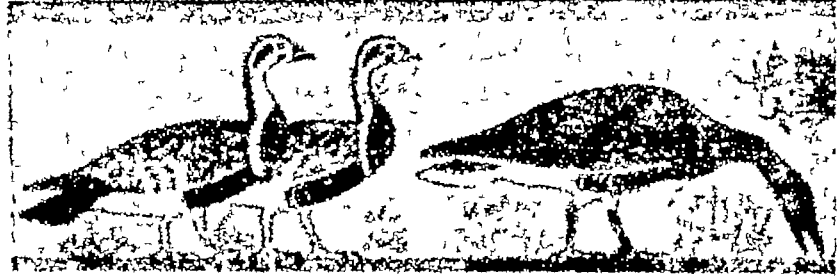
लगभग ५००० वर्ष पूर्व की मिस्री चित्रकला का एक नमूना

यह चतुर्थ राजवंश (लगभग २६०० ई० पू०) के समय की चूने के प्लास्टर पर की गई चित्रकारी का एक भाग है। इसमें मैदान में दाना चुगती हुई बत्तखें दिखाई गई हैं।

ऊपर जिसका उल्लेख किया गया है, दक्षिण से आने-वाले उन विदेशी आक्रमणकारियों ने ही मिस्र के नागरिक संगठन तथा सभ्यता की नींव डाली। इन लोगों ने पहले जनता को कई जातियों में विभक्त किया। इनके जो छोटे-छोटे दल बने, उनका पता अब भी उन प्रसिद्ध 'नोमों' (Nome) या शासन की दृष्टि से बनाये गये विभागों से चलता है, जो नील नदी के किनारे-किनारे फैले हुए थे। ये छोटी जातियाँ धीरे-धीरे क्रमशः सम्मिलित होकर ऊपरी और निचले मिस्र के दो राज्यों में विभक्त हो गईं, जो कि बाद में मेनीज़ नामक प्रथम फेरो (Pharaoh) या सम्राट् के अधीन मिलकर एक हो गये। परन्तु इतिहासकार बहुत दिनों तक यह विश्वास करते रहे कि मेनीज़ और उसके बाद के राजवंश संबंधी विवरण केवल भाटों के उर्वर मस्तिष्क की कल्पना ही की उपज या पौराणिक गढ़त-मात्र हैं। यह धारणा उस समय निर्मूल सिद्ध हुई, जब कि प्रसिद्ध मिस्रविद् डि मारगन ने नेगादा में मीनीज़ के शाही मक़बरे को खोज निकाला। इन मक़बरों में पाई जानेवाली वस्तुओं में सबसे मनोरंजक चीज़ें पत्थर की वे लम्बी तख्तियाँ हैं, जिनमें ओजमयी भाव-भंगियों में मनुष्यों और पशुओं के विभिन्न रूप चित्रित हैं, और जो बहुत-कुछ प्रारम्भिक कैल्डियन चित्रों के ढंग के हैं। पत्थर की इन लम्बी तख्तियों द्वारा, जो कि कला की दृष्टि से बड़ी महत्त्व रखती हैं, प्रारम्भिक आदि-वंशों के लोगों तथा उनके वस्त्राभूषणों के संबंध में हमें बहुत-सी बातें मालूम हुई हैं।

तीसरे वंश के काल में मृत्यु तथा अन्तिम संस्कार के सम्बन्ध में मिस्रवासियों की विभिन्न धारणाओं ने परिपुष्ट होकर रूढ़िगत आचार विचार का वह अपरिवर्तनशील स्वरूप धारण कर लिया था, जो कि रोमन-काल तक प्रचलित रहा। अब जीव-तत्त्व सीधे दूसरी दुनिया में चला जाय, इस उद्देश्य से शव का जलाया जाना बन्द हो गया था, और उसके बदले शरीर के अन्दर की अँतड़ियाँ आदि कुछ वस्तुएँ निकालकर एक गुप्त विधि द्वारा मसालों का प्रयोग करके भौतिक विनाश से उसकी रक्षा करना आवश्यक समझा जाने लगा था। मसाले लगाने के बाद इस सुरक्षित शव या मोमियाई (Mummy) को इसी के लिए ख़ास तौर से बनाये गये मृत व्यक्ति के आकार के एक ढाँचे (Mummy case) में बंदकर तथा उसे पत्थर के बने ताबूत में रखकर एक गुप्त कक्ष या कन्दरा में छिपा दिया जाता था। मृत व्यक्ति की प्रतिच्छवि अलग चित्रों या मूर्तियों में उतार ली जाती थी; ताकि यदि काल के प्रभाव से मृतक के शरीर का अवशेष धूल में मिल जाय, तो भी उसकी प्रतिकृति बच रहे।

जिन दिनों मेम्फिस मिस्र की राजधानी थी, मिस्री मक़बरे दो प्रकार के होते थे—(१) कुलीन घराने की समाधियाँ, जिन्हें 'मस्तबा' कहा जाता था, (२) शाही

मक़बरे जो पिरामिड के आकार के होते थे। 'मस्तबा' की बनावट कोठरी की तरह की होती थी, जिसकी भीतरी दीवालें मृत व्यक्ति के जीवन की घटनाओं को चित्रित करनेवाले चित्रों से भरी रहती थीं। इस कोठरी के अतिरिक्त एक और कमरा रहता था, जिसमें मृत व्यक्ति की मूर्ति रहती थी, ताकि उसके साथ उसका 'का' (Ka) अर्थात् लिङ्गशरीर रह सके। इस कोठरी के बहुत नीचे पत्थर की चट्टान को खोदकर बनाये गये एक कमरे में मृत व्यक्ति का सुरक्षित शव या मोमियाई रक्खी जाती थी। कभी-कभी मस्तबा के ऊपर से इस गुप्त कक्ष तक, जिसमें पत्थर का ताबूत रहता था, एक छड़ लगा दी जाती थी। यह गुप्त मार्ग सिरे तक बालू और पत्थर की कंकड़ी से भरा रहता था, ताकि मृत व्यक्ति की विश्रान्ति में कोई किसी प्रकार की वाधा न डाल सके। मेम्फिस की जनता में सब कोई निश्चित समाधि-स्थान या क़ब्रगाह में गाड़े जाते थे—इनमें निर्धन लोग तो मरुभूमि में एक मोमियाई के ऊपर दूसरी मोमियाई लादकर गाड़ दिये जाते थे, और कुलीन लोग अपने मस्तबा में तथा सम्राट् महाकाय पिरामिडों में समाधिस्थ होते थे।

पिरामिडों के सम्बन्ध में एक समय यह विश्वास किया जाता था कि वे ज्योतिष-संबंधी वेधशालाएँ हैं। कुछ लोगों की धारणा थी कि वे नील नदी की बाढ़ को रोकने के लिए बाँध का काम देते रहे होंगे। परन्तु आधुनिक अनुसन्धानों ने अकाट्य रूप से प्रमाणित कर दिया है कि वे वास्तव में राजाओं के समाधि स्तूप हैं, यद्यपि बहुतों के भीतर से उनकी मोमियाई निकाल ली गई है। पुराने ज़माने में कुछ पिरामिडों को दस्युओं ने उनके भीतर गड़े ख़ज़ानों के लालच में आकर लूट लिया था ; बाद में इसी लालच से अरबों ने दूसरे पिरामिडों की भी दुर्दशा कर डाली। सबसे प्रसिद्ध पिरामिड मेम्फिस (आजकल के गीज़े) में हैं, जो चिओप्स या ख़ूफ़ु, ख़ेफ़रें और मेनकुरे नामक प्राचीन सम्राटों द्वारा बनवाये गये थे। इनमें से अन्तिम सम्राट् द्वारा बनवाया हुआ पिरामिड आधुनिक अन्वेषकों को अक्षुण्ण रूप में मिला था, उसमें लकड़ी के ताबूत और पत्थर की सन्दूक़ के भीतर मोमियाई ज्यों-की-त्यों रखी हुई मिली है। मूल रूप में पिरामिडों पर बाहर की ओर एक तरह के रंग-बिरंगे चिकने कड़े पाषाण का एक सुन्दर आवरण चढ़ा हुआ था और उनकी चोटी पर के पत्थर पर उसी तरह का मुलम्मा चढ़ाया गया था जैसा कि उन चूड़ाओं (Pyramidions) पर लगा हुआ हम पाते हैं जो आगे चलकर सूचि-स्तम्भों (Obelisks) के सिरों पर बनाये जाने लगे थे। जिस कमरे में शव को दफ़नाया जाता था, उसमें प्रवेश करने का मार्ग बड़ी होशियारी के साथ एक के साथ दूसरे जोड़े गए विशाल पाषाण-खण्डों द्वारा बनाया जाता था, और कभी-कभी ये मार्ग मेहराबदार भी बनाये जाते थे। बहुत से बड़े-बड़े पत्थर इस तरह आड़ी शक्ल में रख दिये जाते थे कि वे छत के पर्वतमय भारी बोझ को सँभाले रहते थे।

मस्तबा और पिरामिड दोनों ही आरम्भिक राजवंशों के काल के विशिष्ट (characteristic) समाधि-भवन हैं और उनकी बनावट में एक विशेष रचना-प्रणाली का अनुसरण किया गया है। पहले पत्थर की सन्दूक़ के भीतर शव को रखकर उस पर समाधि बना दी जाती थी। इस क्रम के बाद एक बाहरी समाधि-कक्ष या 'का' (लिङ्गशरीर) का वासस्थान बनाया जाता था, जिसमें मृत व्यक्ति के आकार की मूर्ति गढ़कर रख दी जाती थी, जैसा कि मस्तबाओं में होता था। तदनन्तर देवताओं की श्रेणी में प्रतिष्ठित स्वर्गीय सम्राट् की पूजा के लिए मन्दिर का निर्माण होता था। यह राजमन्दिर पिरामिड से कुछ दूरी पर बनाया जाता था और पिरामिड से मन्दिर तक आने-जाने के लिए एक छोटा-सा मार्ग बना दिया जाता था।

स्फिंक्स की मूर्ति और पिरामिडों को प्राचीन मिस्र के शक्तिशाली सम्राटों के साम्राज्य के सबसे प्रमुख स्मारक होने का श्रेय प्राप्त है। आदि काल से ही स्फिंक्स की यह रहस्यमय मूर्ति ओर-छोर-विहीन रेणुप्रदेश में उदय होते हुए अंशुमाली के स्वर्णिम मण्डल को निर्निमेष नेत्रों से निहारती आई है और साथ ही वह देखती आई है काल की गति के साथ-साथ पृथ्वी के महाशक्तिशाली राष्ट्रों का क्रमिक उत्थान-पतन तथा अगणित मानव पीढ़ियों के झिलमिलाते हुए क्षण भगुर सुख दुःख की अनवरत लीला! काल के अनन्त प्रवाह में एक के बाद दूसरी न-जाने कितनी शताब्दियाँ विलुप्त हो गईं, किन्तु शाश्वतता का यह महाकाय प्रतीक स्फिंक्स अपने स्थान पर अविचल भाव से गम्भीर शान्त मुद्रा में स्थित धैर्यपूर्वक किसके *आगमन* की प्रतीक्षा कर रही है, कौन जानता है !!

आरम्भिक मिस्रविदों का विश्वास था कि स्फिंक्स की प्रतिमा उदीयमान सूर्य को उत्सर्ग की गयी है। किन्तु आजकल की खोजों के आधार पर यह अधिक सम्भव जान पड़ता है कि वह मिस्र के किसी आरम्भिक सम्राट् की मूर्ति है, सम्भवतः उस नृसिंह रूपी सम्राट् की, जिसके दर्शन हमें उस युग की स्लेट की तख़्तियों पर होते हैं। इस मूर्ति का कुछ भाग आस-पास के मैदान से निकली हुई चूने की एक बड़ी

(दाहिनी ओर) पाँचवें वंश (२६५० ई० पू०) के समय के एक लेखक या मुंशी की प्रसिद्ध प्रतिमा। यह चूने के पत्थर की बनाई गई है, और ऊपर रंग चढ़ाया गया है। इस मूर्त्ति में प्रदर्शित व्यक्ति की भाव-भंगी, उत्सुक मुद्रा आदि से मिस्री कलाकारों की प्रतिभा फूट-फूटकर प्रकाशित हो रही है। यह मूर्ति पेरिस के अजायबघर में सुरक्षित है।

(नीचे) पाँचवें वंश (लगभग २६५० ई० पू०) का एक उभरा हुआ भित्ति-चित्र। यह चूने के पत्थर में बना हुआ है। इस चित्र से तत्कालीन मिस्री जीवन की एक अच्छी झलक मिलती है। एक आदमी गधे का एक कान और एक पाँव पकड़े हुए है और दूसरा उसे पीछे से पीट रहा है। फिर भी, जैसा कि अनादिकाल से गधे की प्रकृति है, वह अपनी ढिठाई से बाज़ नहीं आ रहा है! देखिये, बिना टस से मस हुए ढीठ गधा किस तरह अपनी जगह पर अड़ा हुआ है!!
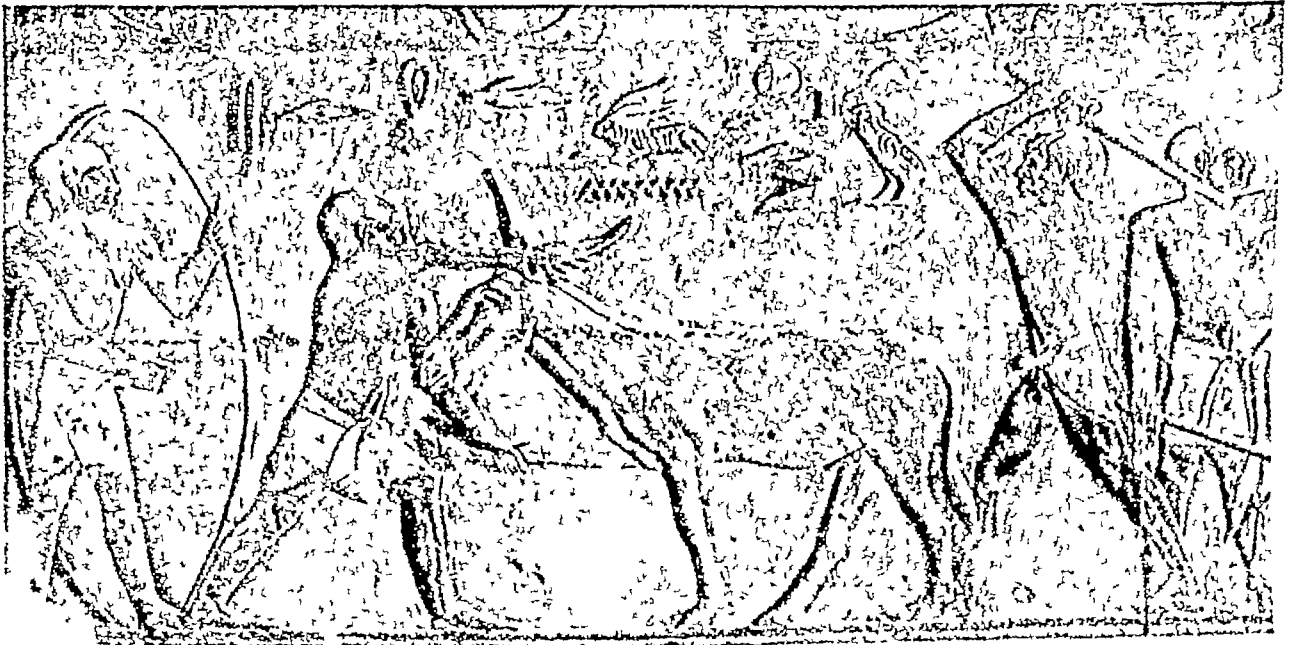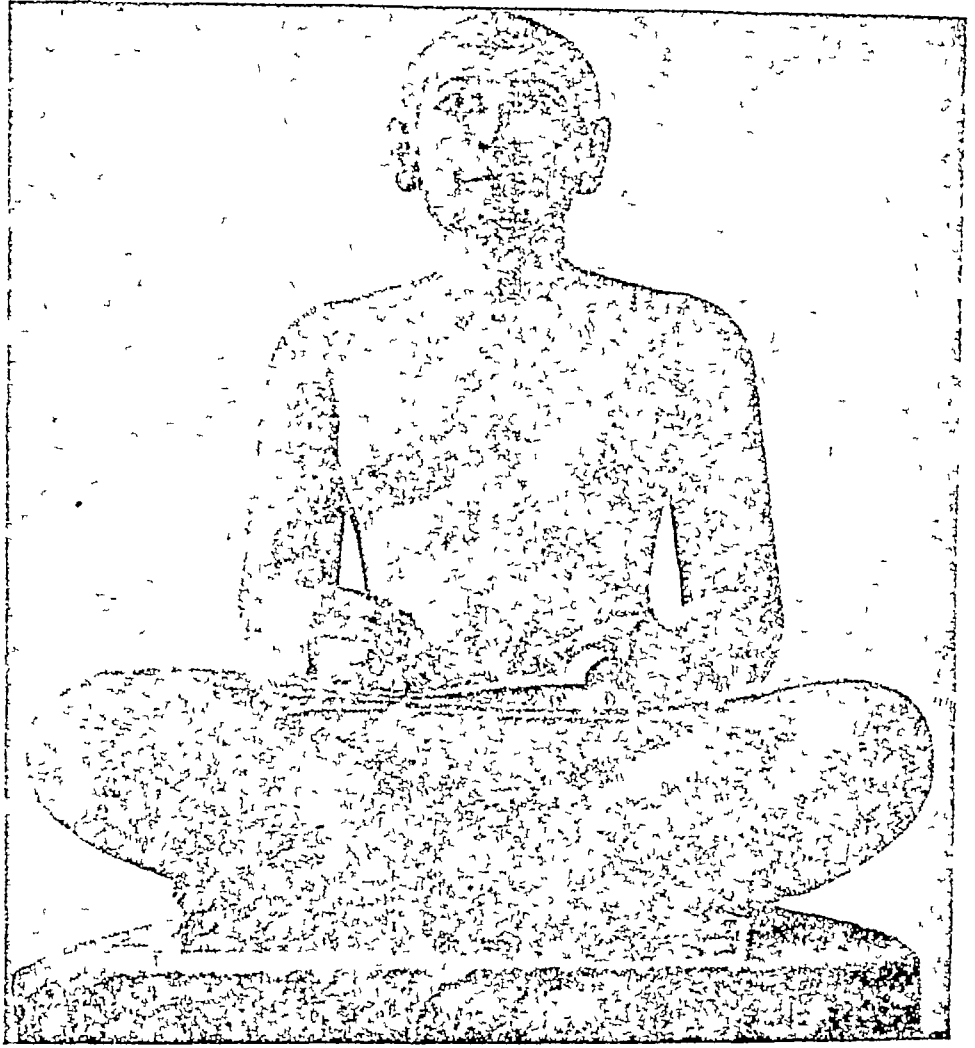
चट्टान से बनाया गया है और पत्थर की बड़ी-बड़ी शिलाओं द्वारा उसे पूरा किया गया है। एक समय मस्तक को छोड़कर मूर्ति का शेष भाग रेगिस्तान में उड़नेवाली बालू से ढक गया था, लेकिन हाल की खुदाइयों से समूची मूर्ति फिर सतह पर निकल आई है, जिससे मूर्ति के वक्षःस्थल पर एक रोमन मन्दिर की गढन भी साफ दिखलाई पड़ती है। पिरामिडों के पास ही पाये गये एक शिलालेख से पता चलता है कि सम्राट् चिओप्स महान् ने इस मूर्ति का जीर्णोद्धार कराया था। इससे मालूम होता है कि लोग उस पुराने युग में भी स्फिंक्स की मूर्ति को उच्च सम्मान की दृष्टि से देखते थे।

स्फिंक्स के अलावा पिरामिडों के आस-पास और भी अनेक देवालय पाये जाते हैं, जिनके सम्बन्ध में आजकल लोगों की यह धारणा है कि वे उत्तरकाल के राजवंशों द्वारा थीबी में बनवाये गये मन्दिरों के प्राक्रूप (Prototype) हैं। हम लोगों की तरह ही मिस्रवाले भी इस लोक के जीवन की अपेक्षा परलोक का अधिक विचार रखते थे और इस कारण उनके मन्दिर अधिकतर महान् मृतात्माओं (प्राचीन सम्राटों) की गाथाओं के चित्रों से ही भरे होते थे। मिस्र के बड़े देवालयों में साधारणतया एक बाहरी आँगन होता है, उसके बाद देवालय के अधिष्ठाता पुरोहित के लिए चौड़ा उपासनागृह होता है तथा सबसे भीतर एक गर्भ-मन्दिर होता है, जो परमपावन समझा जाता है और स्वयं देवता के लिए सुरक्षित रहता है। इस गर्भमंदिर या अन्तः कक्ष में केवल राजा के वास्तविक उत्तराधिकारियों को ही प्रवेश करने का अधिकार होता है।

आरम्भिक राजवंशों द्वारा निर्मित सभी मन्दिरों में हमें विशेष प्रकार के कमलनाल के आकार के स्तम्भ मिलते हैं, जिनके मुँडेरे कलियों के आकार के बनाये जाते थे। दूसरे प्रकार के स्तम्भ पैपिरस के पौधे या ताड़ के आकार के मिलते हैं और इन स्तम्भों का आधार (वह भाग जिस पर खंभा टिका होता है) सदैव बहुत छोटा होता था।

मस्तबाओं की दीवालों पर विविध रंगों की चित्रकारी या नक्काशी आदि द्वारा बनाये गये बहुतायत से पाये जानेवाले उभड़े हुए चित्रों से मिस्र के तत्कालीन जीवन और स्थापत्य-शैली पर बहुत-कुछ प्रकाश पड़ता है। वस्तुतः समाधि स्थानों की ये दीवालें ऐसी चित्रशाला या गैलरियों का काम देती हैं, जिनमें हम तत्कालीन मिस्रवासियों के सम्पूर्ण जीवन की विविध अवस्थाओं के दर्शन होते हैं। इस प्रकार इन भित्तिचित्रों से हमें पता चलता है कि किस तरह उस युग-विशेष में बड़ी-बड़ी मूर्त्तियाँ खड़ी की जातीं या एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाई जाती थीं; किस प्रकार समाज में ऊँची श्रेणी के लोग विविध प्रकार के मनोरंजनों में जीवन व्यतीत करते हुए नित्य सुरापानोत्सवों में रत रहते थे तथा साधारण वर्ग के किसान खेतों में परिश्रम करते और मछुए नील नदी में मछलियों का शिकार करते थे; क्योंकर अनाज पीसा जाता और भोजन पकाया जाता था; किस प्रकार लोग सम्बन्धियों की मृत्यु पर विलाप करते तथा मृतक-संस्कार का किस प्रकार का ढंग प्रचलित था; किस तरह वे अपने देवताओं की पूजा करते थे और मातृभूमि की रक्षा के लिए लड़ाई में क्योंकर शामिल होते थे। इसके अतिरिक्त समाधि-कक्षों में सर्वत्र महान् मृतात्माओं के चित्र, जिनमें कभी कभी स्थिर भावभंगीयुक्त अवस्था में साथ साथ बने हुए पति-पत्नी भी बनाये गये हैं, मिलते हैं, जिनका शान्त गम्भीर मुखमुद्रा देखते ही बनती है। यहाँ हमें सामान्य जीवन के सुख-दुःख और विकार के भाव से रहित ऐसे सुडौल शरीरवाले राजपुरुषों के दर्शन होते हैं, जिनकी प्रशान्त मुद्रा देखकर हम उस दैवी शासन के भाव की कुछ कल्पना कर सकते हैं, जिसका भार वे अपने ऊपर दैव द्वारा सौंपा गया समझते थे।

आरम्भिक वंशों के शासनकाल के मूर्त्तिकार जिस पूर्णता को पहुँचे हुए थे, उसे देखकर कोई आश्चर्यचकित हुए बिना नहीं रह सकता। उनकी अनेक मूर्त्तियाँ देखने में सुडौल और चित्रादर्श के व्यक्तित्व की परिचायक हैं और उनको देखकर कोई भी तुरत यह कह सकता है कि उनमें और आदर्श में कितनी अधिक समानता है।

आरम्भिक राजवंशों के काल की मूर्त्तियों के निर्माण में जिस सामग्री का उपयोग किया गया था, वह उत्तरकाल में व्यवहार में लाई जानेवाली सामग्री की तुलना में अपेक्षाकृत कोमल थी। इनमें से कुछ मूर्त्तियाँ लकड़ी को गढ़कर बनाई गई थीं और कुछ चूने के पत्थर को तराश कर, जो कि अधिकांश में ऊपर से रँग दी गई थीं, यद्यपि अधिकतर मूर्त्तियों पर से यह रंग बहुत दिन पहले उड़ चुका है। पिरामिडों और मस्तबों में जो उभड़े हुए चित्र मिले हैं, वे भी कई रंगों में चित्रित हैं और हमें मिस्रवासियों के तात्कालिक जीवन की रंगीनी और तड़कभड़क का भव्य परिचय देते हैं।

विद्वान् जिसेनियस (Gesenius) का कथन है कि सैमिटिक चित्र-वर्णमाला ही बाद की संशोधित वर्णमाला का आधार है। उदाहरणार्थ 'अलिफ़' का पूर्व रूप बैल के सिर का चित्र है, 'बेथ' का मूलरूप 'ख़ेमा' है, आदि। प्रोफ़ेसर ह्विटनी और अर्नेस्ट रेनॉन-जैसे प्रकाण्ड पण्डितों का कथन है कि फिनीशियन जाति ने मिस्री जाति से लेखन-कला को सीखा और संसार भर में फैलाया। कई शताब्दियों तक वर्णमाला की उत्पत्ति के बारे में कोई भी निश्चयात्मक बात स्थिर नहीं की जा सकी थी। परन्तु खोज करने से अब पता लग गया है कि सैमिटिक वर्णाक्षर किस प्रकार प्रादुर्भूत हुए। इसका श्रेय एक फ्रान्सीसी विद्वान् इमानुअल रूज़े महोदय को है। इनकी खोज का सिद्धान्त था कि सैमिटिक वर्णमाला का पूर्व रूप मिस्री चित्र वर्णमाला में न ढूँढ़कर चित्र-वर्णमाला की अनवरुद्ध लिपियों (Cursive Letters)में ढूँढ़ना चाहिए, जिनको जनता प्रतिदिन व्यवहार में लाती थी। चित्र-वर्णमाला तो केवल जातीय महान् कार्यों और धार्मिक व्यवस्थाओं के लिए ही व्यवहृत होती थी।

रूज़े महोदय की खोज का नतीजा यह है कि चित्र वर्णमाला का अनवरुद्ध लिपि-रूप प्राचीन हाएरेटिक लिपि थी, जिसका उत्पत्तिकाल हाइकसौज़ (Hyksos) के आक्रमण के पश्चात् आता है, जब सैमिटिक सेना ने दक्षिण मिस्र पर आधिपत्य जमाया था। लगभग छः शताब्दियों के अन्दर-अन्दर सैमिटिक वर्णमाला बढ़ी और पनपी।

रूज़े महोदय ने प्रचलित प्राचीनतम सैमिटिक वर्णाक्षरों से अपने अनुसंधान का कार्य प्रारम्भ किया। इनसे समानता स्थापित करने के लिए इस सूक्ष्मदर्शी विद्वान् ने हाइकसौज़ के मिस्र से बहिष्कृत होने के पूर्वकाल के हाएरेटिक अक्षरों को खोज निकाला। फिर प्रत्येक चिह्न (Symbol) की शुद्ध ध्वनियों को खोज निकाला। इसके लिए इन्होंने सीरिया प्रदेश के नगरों के नामों का व्यवहार किया, जिनका उल्लेख 'पैपिरस अनासतासी' में किया गया है। यह पैपिरस सीरिया में यात्रा-सम्बन्धी विवरण की एक पुस्तक है। इस विधि से रूज़े महोदय ने प्रत्येक सैमिटिक वर्णाक्षर के हाएरेटिक पूर्वरूप का पता लगाया। रूज़े के इस प्रयास का महान् फल तो यह हुआ कि इनकी खोज का पदानुसरण कर शुद्ध वैज्ञानिक रूप से भाषा-सम्बन्धी अनेक खोजें सम्भव हो गईं।

हाएरेटिक लिपि में लिखी हुई संसार की प्राचीनतम पुस्तक जो उपलब्ध हो सकी है, वह है पैपिरस प्रीस(Papyrıs Prisse)। यह थीबी (Thebes) में प्रीस नामक विद्वान् को बहुत खोज के अनन्तर मिली थी। सर्वप्रथम यह सन् १८४७ में प्रकाशित की गई। इसमें कुल मिलाकर अठारह पृष्ठ हैं। पहले दो पृष्ठ कुछ अस्पष्ट हैं और अन्तिम सोलह पृष्ठों में उपदेश लिखे हुए हैं। लिपि के वर्ण पूर्ण, सुगठित और सुन्दर हैं। जब सैमिटिक जाति की विजय-पताका मिस्र में फहराई, उस काल में यह हाएरेटिक लिपि साहित्यिक और व्यापारिक कार्यों के लिए व्यवहृत होती थी। उसी का सर्वोत्तम उदाहरण यह पैपिरस प्रीस है। इससे पहले के दो उदाहरण और उपलब्ध हैं। तीनों पैपिरस देखने से स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक वर्ण के लेखन की विधि प्रायः एक-सी ही है।

पपिरस प्रीस की दो सतरें

'हिन्दी विश्व-भारती' के पिछले (तृतीय) भाग में इसी स्तम्भ के पृष्ठ ३५१ पर दिये गये चित्र में तीसरे ख़ाने में फिनीशियन (सैमिटिक) अक्षर दिये गये हैं, जैसे कि वे मोआबाइट प्रस्तर पर खुदे हुए हैं। उसी चित्र के दूसरे ख़ाने में हाएरेटिक अक्षर दिये गये हैं। पहले ख़ाने में मिस्री हाएरोग्लाइफ़िक्स दिये हुए हैं। समस्त हाएरेटिक अक्षर एक या दो के अतिरिक्त पैपिरस प्रीस से लेकर दिये गये हैं। फिनीशियन (सैमिटिक) और हाएरेटिक रूपों का अध्ययन करते समय यह स्मरण रखना आवश्यक है कि पैपिरस प्रीस और मोआबाइट प्रस्तर के बीच का काल लगभग १३०० वर्ष का है। इसमें वर्णमाला के अक्षरों में परिवर्तन होना अनिवार्य था। आश्चर्य तो इस बात का है कि रूपान्तर इतना थोड़ा रहा, और अधिक न हो सका। विशेष अन्तर तो हाएरेटिक और हाएरोग्लाइफिक में दृष्टिगोचर होता है।

रूज़े महोदय ने बड़ी छानबीन के पश्चात् अपनी खोज के नतीजों को लिखा है। पूर्ण विवरण तो उनकी पुस्तक के अवलोकन से ही मिल सकता है, परन्तु यहाँ एक-दो उदाहरण देकर ही हम सन्तोष कर लेंगे।

फिनीशियन भाषा में अन्य भाषाओं की तरह 'र'

और 'ल' में विशेष अन्तर नहीं है। 'र' ध्वनि-का प्रतीक चित्रवर्णमाला में मुख है (दे० भाग ३ पृष्ठ १५१ का चित्र) और 'ल' का है शिकनी (दे० वही चित्र)। इसके हायरेटिक और सेमिटिक रूप भी (उसी चित्र में) इन संकेत चिह्नों के आगे दिये गये हैं। पैपरिस ग्रीस की गोलाई मोआबाइट प्रस्तर के कोण में परिवर्तित हो गई है। यह अन्तर लेखन-सामग्री के कारण है।

हायरोग्लाइफ़िक वर्णमाला में 'ब' का प्रतीक 'घर' है (दे० तीसरे भाग का पृष्ठ १५१ का चित्र)। इसके मोआबाइट प्रस्तर के रूप और हायरेटिक रूप में कोई विशेष अन्तर ही नहीं, प्रत्युत पूर्ण समानता दिखलाई पड़ती है।

'श' ध्वनि के लिए हायरोग्लाइफ़िक संकेत है 'जल-पूर्ण उद्यान' का चित्र (दे० उक्त चित्र)। इसके फिनीशियन रूप और हायरेटिक रूप में कितनी समानता है, स्पष्ट ही है। फ़िनीशियन वर्ण केवल अनावश्यक पुछल्ला हटाकर बना लिया गया है। पुछल्ला लेखक की अपनी कलात्मक भावना का प्रदर्शन भी हो सकता है।

इसी प्रकार अन्य वर्णों का अध्ययन कर हम निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि कम-से-कम १६ वर्णों की समानता तो पूर्ण सन्तोषप्रद है। अन्य वर्णों के लिए सन्देह की काफ़ी गुंजाइश है। यदि खोजकर और कुछ सामग्री मिल सकी, तो बहुत अंशों में ये संदेह भी मिट जायँगे।

एक बात यहाँ और स्पष्ट करना आवश्यक है। जिस अनुमान के सहारे रूज़े महोदय ने मिस्री और सेमिटिक वर्णों में समानता दिखलाने की चेष्टा की है, यद्यपि वह मैक्समूलर, लेनोर्मां, माहाफ़ी आदि जैसे भाषाविज्ञों को मान्य है, फिर भी बहुतों ने उस अनुमान को मिथ्या सिद्ध किया है।

मिथ्या सिद्ध करनेवालों में प्रो० लागार्द प्रमुख हैं। इन महोदय का कहना है कि जितनी ही सेमिटिक ध्वनियाँ सेमिटिक भाषा की विशेषताएँ हैं, और वे मिस्री वर्णमाला में कभी भी स्थान नहीं पा सकतीं। अतः सेमिटिक वर्णों की उत्पत्ति सेमाइट जाति के ही मस्तिष्क की उपज हो सकती है। परन्तु इसमें लागार्द महोदय यह भूल करते हैं कि जब एक जाति दूसरी जाति की वर्णमाला को अपनाती है, तो यह आवश्यक नहीं कि ध्वनियों में पूर्ण साम्य हो। [illegible] लिपि-कुशली ही हो सकती है। इसी ध्वनि को हम अन्य जातियों की वर्णमाला द्वारा स्पष्ट कर सकते हैं। इसी प्रकार के अन्य आक्षेप हैं, जिनका निराकरण थोड़ी-सी समझ के प्रयोग से हो सकता है।

सेमिटिक अक्षर सेमिटिक चित्र-लिपि से बने, यह सिद्ध करने के लिए हमारे पास कोई प्रमाण नहीं। न तो प्राचीन भाव-चित्र मिलते हैं, न प्राचीन स्मारक ही, जिन पर प्राचीन चित्र अभिलिखित हों। कुछ विद्वानों का कथन है कि सेमिटिक अक्षर हिट्टाइट चित्र-लिपि के परिवर्तित रूप हैं। परन्तु इस कथन की पुष्टि के लिए अभी तक कोई प्रमाण पेश नहीं किये गये हैं।

अतएव हमारे लिए रूज़े महोदय के सिद्धान्त को अपनाने के अतिरिक्त कोई दूसरा चारा नहीं है। लॉर्ड बीकन्सफील्ड के कथनानुसार सेमाइट जाति निश्चय ही एक महान् जाति है और निस्सन्देह वर्णमाला के आविष्कार का श्रेय उसी को प्राप्त है।

ध्वनि-चिह्नों अथवा प्रतीकों का सरलीकरण करने के महत्त्व के अतिरिक्त हम उस साहस की भूरि-भूरि प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकते, जिससे प्रेरित होकर मिस्री चित्र-लिपि के अनेक अनावश्यक उपादान दूर कर वर्णमाला का सहज रूप देखने को मिला। परन्तु अभी वर्णमाला पूर्णरूपेण विकसित नहीं हुई थी। पूर्णता तो अनेक शताब्दियाँ बीतने पर मिली। परन्तु इस पूर्णता का श्रेय आर्यों को मिला। आर्यों ने ही संसार को स्वर दिये।

सेमिटिक वर्णमाला का बड़ा कुटुम्ब है। उसमें फिनीशियन, हीब्रू, सीरियक, अरामियन, मोआबाइट और अरबी मुख्य हैं। इनके अक्षरों के रूप विभिन्न हैं, परन्तु इन सब की उत्पत्ति एक ही आदिम वर्णमाला से है। मोआबाइट प्रस्तर के अभिलेख पर सेमिटिक लिपि की समस्त विशेषताएँ—अक्षरों का क्रम, संख्या, नाम, शुद्ध स्वरों का पूर्ण अभाव, दाहिने से बाईं ओर को लिखना, आदि—देखने को मिलती हैं और यह पैपरिस ग्रीस के काल से लेकर अब तक ज्यों की त्यों बनी हैं। शुद्ध स्वरों का पूर्ण अभाव सर्वप्रधान विशेषता है। सेमिटिक वर्णमाला में जितनी भी ध्वनियाँ हैं, उनमें भी कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। [illegible] ध्वनि के लिए कोई प्रतीक नहीं। अक्षरों की संख्या उतनी ही है: न घटी है, न बढ़ी।

अक्षरों के रूप बहुत बदल गये हैं। उनका अधिकाधिक [illegible] लिपि की ओर ही झुकाव रहा है और [illegible] लिए अक्षरों में अन्तिम सीमा को पहुँच गये हैं [illegible] अभिलिखित अक्षरों में से ...

पूर्ण परिवर्तन देखने को मिलता है। ये आदिम चिह्न उनके परिवर्तित रूपों के साथ नीचे दिये जाते हैं :—

इन रूपों को पहचानने में कितनी कठिनाई है, यह स्पष्ट है। पढ़ने की कठिनाई को दूर करने के लिए नुक़्ते लगाये गये, जिससे कि ये ठीक-ठीक पढ़े जा सकें। अब ये इस प्रकार लिखे जाते हैं :—

लिखनेवाले को कितनी दिक़्क़त उठानी पड़ गई, यह लिखनेवाला ही जानता है। वास्तव में नुक़्तों के लगाने से अक्षर अथवा वर्ण ग़ायब हो गया और शब्दमात्र रह गया। अक्षर का कोई व्यक्तिगत अस्तित्व ही न रह गया।

'बे' 'नून' 'ये' 'ते' का नुक़्तों के अभाव में एक ही रूप है। प्राण-ध्वनि (Aspirate) 'ह' स्थिति के अनुसार चार प्रकार से लिखी जाती है और इसके चार रूप और भी हैं जिनको हम यहाँ महाप्राण कह सकते हैं।

अरबी की लिपि को पढ़ने से पहले उसको भाषा के रूप में जानना नितान्त आवश्यक है। इसके विरुद्ध आर्य भाषाओं में अक्षर की महत्ता उत्तरोत्तर बढ़ती ही गई है। प्रत्येक अक्षर स्पष्ट है और आदिम रूपरेखा उसकी ज्यों-की-त्यों बनी रही है। अंग्रेज़ी के अक्षरों O, Y, H, Q के आदिम रूप मोआबाइट अक्षरों के उन रूपों से मिलते-जुलते हैं, जो तीसरे अंक के लेख के ३५१ पृष्ठ के चित्रों में इन रोमन अक्षरों के सामने दिये हैं। अन्य अक्षरों में भी विभिन्नता विशेष नहीं है। जो भी परिवर्तन हुए हैं, वे आदिम रूप को और अधिक स्पष्ट करने के हेतु से ही। उदाहरणार्थ D के लिए हाएरेटिक संकेत का आधुनिक रूप कितना पुष्ट होकर निखरा है! उसी प्रकार P का हाएरेटिक आदिम रूप भी है। परिवर्तन कम-से-कम हैं और हैं अक्षर को एकदम भिन्न, सरल, सुस्पष्ट रूप देने के लिए। आर्य-वर्णमाला के अक्षर पढ़ने में सीधे हैं; सेमिटिक वर्णमाला के अक्षरों को लिखने के लिए कम समय की अपेक्षा है। टेलर महोदय के कथनानुसार "यदि सेमिटिक लिपि मनुष्य की खोपड़ी की हड्डी का ढाँचामात्र है, तो आर्य-लिपि एक जीवित मनुष्य का पूर्ण स्वस्थ मुख है, जिसमें हृदयगत भावनाओं, क्रोध की भभकती ज्वाला और मीठी मृदु मुसकान को व्यक्त करने की पूर्ण क्षमता है।" अस्तु।

सेमिटिक वर्णमाला की तीन प्रधान शाखाएँ थीं—फ़िनीशियन, जिससे ग्रीक (यूनानी) वर्णाक्षरों की उत्पत्ति हुई; अरामियन, जिससे ईरानी वर्णाक्षरों की उत्पत्ति हुई; और दक्षिणी सेमिटिक, जिससे कि देवनागरी अक्षरों की उत्पत्ति हुई।

सेमिटिक वर्णाक्षरों का प्रामाणिक इतिहास ईस्वी पूर्व नवीं शताब्दी से थोड़ा-बहुत मिलता है। उस समय से लेकर अब तक उसके वर्णमाला के रूपों के विकास का इतिहास कुछ तथ्यता के साथ तो पेश किया ही जा सकता है। इससे कुछ काल पूर्व यूनानी वर्णमाला का प्रादुर्भाव हो चुका था। इन्हीं यूनानी अक्षरों से सेमिटिक अक्षरों के पुराने रूपों का अनुमान कर लिया गया है। इसी प्रकार आदिम अरबी अक्षरों का भी काल निर्णय किया गया है।

अरामियन वर्ग के वर्णाक्षरों का साहित्य-निर्माण में बड़ा ज़बर्दस्त हाथ रहा है। हीब्रू, सीरिएक और अरबी इसी वर्ग में हैं। इस वर्ग की वर्णमाला की उत्पत्ति सीरिया प्रदेश में बतलाई जाती है। जब इससे लगभग तीन सौ वर्ष पूर्व फ़िनीशियन जाति की शक्ति का ह्रास हो चुका, तो अरामियन वर्ग की वर्णमालाओं ने फ़िनीशियन वर्णमाला का स्थान ग्रहण किया और शनैः-शनैः वह पूर्ण विकास को प्राप्त हुई। फ़िनीशियन वर्णमाला का तो आज अस्तित्व ही नहीं रहा है। हाँ, उसकी एक उत्तराधिकारिणी—आधुनिक सैमेरिटन—अवश्य बच रही है, जिसके बोलने-लिखनेवाले इने-गिने परिवार ही हैं। फ़िनीशियन वर्णमाला द्वारा कोई साहित्य का निर्माण नहीं हुआ। इसके द्वारा केवल थोड़े-से पत्थर अमर हो गये हैं। इन पत्थरों पर अभिलिखित लेखों से ही आज हम इसकी वर्णमाला का पता लगा सके हैं (देखो पृष्ठ ३५१)। सबसे प्राचीन पत्थर 'मोआबाइट प्रस्तर' के नाम से प्रसिद्ध है। इस पर मोआब के राजा मेशा द्वारा खुदवाये निम्न टूटे-फूटे वाक्य हैं—"मैं मोआब के राजा कामोशगाद का पुत्र मेशा हूँ। मैं दिबोनाइत हूँ। मेरे पिता ने मोआब में ३० वर्ष तक राज्य किया, और मैंने अपने पिता के पश्चात् राज्य किया। और मैंने मैदान में.... कामोश की स्मृत्यर्थ यह स्मारक निर्माण कराया। मुक्ति. . . क्योंकि उसने मेरी सब भयों से रक्षा की थी, और उसने मेरे शत्रुओं पर मेरी मनोकामना प्रकट

हीब्रू वर्णमाला			अरबी वर्णमाला	ग्रीक वर्णमाला		
ध्वनि-चिह्न	रूप	नाम		अर्थ	रूप	नाम
अ	א	अलिफ़	ا	बैल	α	अलफ़ा
ब	ב	बे (बेथ)	ب	गृह	β	बीटा
(ग) ज	ג	जीम	ج	ऊँट	γ	गामा
द	ד	दाल	د	द्वार	δ	डेल्टा
ह	ה	हे	ح	खिड़की	ε	एपसाइलॉं
व	ו	वाव	و	हुक	ϛ	वाउ
ज़	ז	ज़े	ز	अस्त्र	ζ	ज़ीटा
ख़	ח	ख़	خ	रोक	η	ईटा
त	ט	तोय	ط	सर्प	θ	थीटा
य	י	ये	ي	हाथ	ι	आइओटा
क	כ	काफ़	ك	हथेली	κ	काप्पा
ल	ל	लाम	ل	अंकुश	λ	लामडा
म	מ	मीम	م	जल	μ	म्यू
न	נ	नून	ن	मत्स्य	ν	न्यू
स	ס	सीन	س	मेख	ξ	क्सी
अ	ע	ऐन	ع	चक्षु	ο	ओमाइक्रॉं
प	פ	पे	ف	मुख	π	पाई
स	צ	स्वाद	ص	भाला	ϡ	सान
क़	ק	क़ाफ़	ق	गाँठ	ϙ	कोप्पा
र	ר	रे	ر	शिर	ρ	रहा
श	ש	शीन	ش	दाँत	σ	सिग्मा
त	ת	ते	ت	चिह्न	τ	ताउ

करने का मुझे अवसर दिया था....इजराइल के राजा ओमरी ने बहुत काल तक मोआब को सताया, क्योंकि कामोश उसके देश से क्रुद्ध था और उसके पश्चात् उसका पुत्र राजा हुआ और उसने भी कहा मैं मोआब को चैन न लेने दूँगा।"

इस प्रस्तर में छ सतरें हैं। जिस प्रस्तर पर यह खुदा है, वह बड़ा ही सख्त है। अक्षर सब स्पष्ट हैं। इससे निश्चित तिथि का पता लगता है। इस प्रस्तर की ऐतिहासिक महत्ता स्पष्ट है। यह प्रस्तर आजकल लूव्रे (पेरिस) में सुरक्षित है। लूव्रे में आने से पहले यह प्रस्तर ४१ इञ्च ऊँचा और २१ इंच चौड़ा था और इस पर ३४ सीधी सतरें थीं। फिर फ्रांस और जर्मनी दोनों ने इसको अपने कब्ज़े में करने की कोशिशें कीं। बहुत झगड़े हुए। अरब-निवासियों ने इस पर उसको तोड़ डाला और टुकड़े अपने-अपने घरों पर उठाकर ले गए। लगभग ४० टुकड़ों का पता लग सका है। जो टुकड़ा लूव्रे में सुरक्षित है, वह भाषाविज्ञों के बड़े ही काम का है। उसी का अनुवाद ऊपर दिया गया है।

जब सब वर्णमालाओं की जननी फ़िनीशियन लिपि फ़िनीशियन साम्राज्य और व्यापार के नष्ट होने पर प्रभावहीन हो गई, तो उसकी उत्तराधिकारिणी एशिया महाद्वीप में अरामियन लिपि हुई और योरप में ग्रीक। अरब के पठारों में जन्म लेने के कारण यह अरामियन कहलाई। अरामियन वर्णमाला के विस्तार का कारण मुख्यत. राजनीतिक था, और किसी हद तक व्यापारिक भी। टाइर (Tyre) की विजय के पश्चात् इस लिपि ने राज्याश्रय पाया। फ़ौज, कचहरी, दफ्तर सभी जगह यही लिखी जाने लगी। यरूशलीम में मन्दिर बनवाने के लिए जो आज्ञापत्र एज़रा को दिया गया था वह अरामियन भाषा में ही लिखा गया था। असीरियन और बैबिलोनियन इन दो साम्राज्यों के आश्रय में क्यूनीफार्म लिपि के पश्चात् यही लिपि खूब फली फूली। सिकंदर की विजयों के पश्चात् जब दुनिया का नक़्शा बदला, तब जहाँ-जहाँ ग्रीक वर्णमाला न पहुँच सकी, वहाँ-वहाँ अरामियन भाषा ही प्रचलित हुई। इसके प्रमाणस्वरूप अनेक सिक्के, भारत, मिस्र, फारस और अरब आदि देशों में मिले हैं।

लगभग ८०० वर्ष तक शक्ति सञ्चय करने के पश्चात् यह लिपि पदच्युत हुई और इसका स्थान अनेक (विशेषकर धार्मिक) कारणों से अन्य लिपियों ने ले लिया। अब सीरिएक, अरबी, हीब्रू, पारसी, मंगोलिअन आदि उपलिपियों ने अपना-अपना विस्तार आरम्भ किया। इस्लाम धर्म, यहूदी धर्म, ईसाई धर्म, पारसी धर्म आदि सब अपनी विशेष लिपियों को साथ लेकर बढ़े। चीन में मंगोलिअन वर्णमाला का प्रचार है; पारसी लिपि का बम्बई में, सीरिएक लेबनन, कास्पियन सागर के तटवर्ती प्रदेशों तथा भारत के मालाबार प्रदेश में प्रचलित है; और अरबी उत्तरी अफ्रीका में मोरोक्को से लेकर सुमात्रा द्वीप पर्य्यन्त जारी है और इसी के विभिन्न अपभ्रंशों का प्रयोग एशिया के अनेक देशों में हो रहा है।

अरामियन लिपि का महत्व केवल ऐतिहासिक है। इसने तीन साहित्यिक लिपियों को जन्म दिया—अरबी, हीब्रू और सीरिएक। यद्यपि उसका निजी अस्तित्व अब नहीं है, तदपि वर्णमाला के इतिहास में उसकी अमर छाप है।

आदिम सैमिटिक वर्णमाला की तीसरी शाखा दक्षिणी सैमिटिक के नाम से प्रचलित है। फिनीशियन शाखा से योरप की विभिन्न वर्णमालाओं का जन्म हुआ; दूसरी शाखा अरामियन से मध्य और पश्चिमी एशिया की वर्णमालाओं का जन्म हुआ और तीसरी से अबीसीनिया और भारत की वर्णमालाओं का विकास हुआ। तीसरी शाखा को 'ईथिओपिक' और 'जोकतानाइत' (Joktanite) भी कहते हैं।

अनेक वर्षों तक दक्षिणी सैमिटिक की केवल एक ही वर्णमाला का पता था—ईथिओपिक। इसमें अबीसीनिया-निवासी ईसाईयों की धार्मिक पुस्तकें लिखी हुई हैं। इसकी लिपि का इतिहास, इसमें क्या-क्या परिवर्तन क्यों और कैसे हुए, आदि सब अंधकार के गर्त में हैं, कोई कुछ नहीं कह सकता। यह सैमिटिक वर्ग की ही भाषा है यह सत्य है, क्योंकि इसकी वर्णमाला के कुल नाम सैमिटिक हैं। हाल ही में अदन के निकट कुछ सिक्के मिले हैं, जो कि साबियन लिपि में हैं। साबियन लिपि ईथिओपिक का पूर्वरूप है। उत्तरी सैमिटिक लिपि और साबियन लिपि में कोई साम्य नहीं है। लगभग १०० वर्ष पूर्व दमिश्क के निकट साफा में कुछ लेख मिले हैं। इनके अध्ययन से उत्तरी और दक्षिणी सैमिटिक लिपियों में साम्य स्थापित करनेवाली एक लिपि का पता चला है। इसको थामूदाइत (Thamudite) कहते हैं। इनसे पता लग जाता है कि किस प्रकार फ़िनीशियन वर्णमाला से ईथिओपिक वर्णमाला विकसित हुई। अगले लेख में यूरोपीय, ईरानी और भारतीय वर्णमालाओं पर प्रकाश डाला जायगा।

न्यू गिनी के पापुआन

सभ्यता की दृष्टि से वर्तमान मनुष्य की विभिन्न जातियों में सबसे निचली श्रेणी के लोगों—पिगमियों—से हम आपका परिचय पिछले प्रकरण में करा चुके हैं; आइए, अब अफ्रीका से एकदम सुदूर पूर्व की ओर बढ़कर प्रशान्त महासागर में स्थित न्यू गिनी द्वीप-समूह की सभ्यता से परे की दुनिया का अवलोकन करें। पहले मुख्य द्वीप—न्यू गिनी - के निवासी पापुआन को ही लें।

विकास की बिलकुल निम्न श्रेणी के मनुष्य पिगमियों को काबू में लाने या उन पर आधिपत्य जमाने-वाले लोगों में न्यू गिनी के पापुआनों की गिनती है। मानव जाति के विकास के सिलसिले में इनका स्थान ठीक पिगमियों के बाद की श्रेणी में है। जिस काल में न्यू गिनी एशिया महादेश से स्थल भाग द्वारा जुड़ा था, उसी समय न्यू गिनी में पापुआनों का पहले-पहल आगमन हुआ। वे आज भी प्रस्तर-काल में अवस्थित हैं। पिगमियों के साथ इनके खून का मिश्रण भी कुछ हद तक हुआ है।

पापुआनों की भी कई जातियाँ हैं और वे कई तरह की भाषाएँ बोलते हैं। इनकी कई भाषाएँ अब भी ऐसी हैं, जिन्हें सभ्य संसार का एक व्यक्ति भी नहीं समझ पाता। इनकी एक विशेषता यह भी है कि किसी भी अजनबी को देखते ही वे उसे मार डालने की कोशिश करते हैं; इसलिए इनके इलाके में शायद ही कभी कोई अन्वेषक प्रवेश करने का साहस करता है।

मोटे तौर से हम पापुआनों को दो भागों में बाँट सकते हैं—एक घने जंगलों के, दूसरे समुद्र-किनारे के आसपास रहनेवाले। इन दोनों में बहुत-सी बातों की समानता है, पर साथ ही [illegible] विभिन्नताएँ भी कम नहीं हैं।

[illegible]

रहता है। इस काम के लिए सिर्फ काठ के खंभों को एक-एक बालिश्त की दूरी पर गाड़ देना ही पर्याप्त समझा जाता है। पर इस प्रदेश में, जहाँ आजकल भी [illegible] के बने हथियार काम में लाये जाते हैं। ये दुर्ग बहुत हद तक अजेय साबित होते हैं।

घरों के आकार गोल होते हैं। वे बड़े नीचे और घासों के छप्परवाले होते हैं। पहाड़ की चोटियों पर निवास करने के कारण आग की आवश्यकता पड़ती है। इसलिए प्रायः हर घर में आग घर के बीच में जलाई जाती है। पापुआन योद्धा इसी आग के सामने पाँव पसारकर उसके चारों तरफ अपनी चटाइयों पर सो जाया करते हैं। घर के एक कोने में सूअरों के निचले जबड़े टँगे होते हैं; यही जानवरों की बलि देने का स्थान रहता है।

पापुआन अपना भोजन काठ के बने कठौतों जैसे पात्र में और पानी बाँस के चोंगों में रखते हैं। कभी-कभी वे [illegible] गिलास का भी काम देते हैं। इनके व्यवहार में आनेवाले कुल्हाड़े पत्थरों के होते हैं, और चाकू हड्डियों के बनाये जाते हैं।

हम लोगों के पैमाने से इन पापुआनों की शक्ल बदसूरत ही होगी। इनका कद नाटा, [illegible]

के चाकुओं से काटकर व्यवहार में लाते हैं। इनके सभी हथियार पत्थर के बने रहते हैं, जिन्हें ये साधारण पत्थर पर घिसकर तैयार कर लिया करते हैं। आग जलाने का काम दो लकड़ी के टुकड़ों को रगड़कर उनसे निकली चिन-गारी द्वारा होता है। इन्हीं बातों से हम पापुआनों की भौतिक सभ्यता का अन्दाज़ा बहुत हद तक लगा सकते हैं।

शायद शुरू-शुरू में हमारे पूर्वज भी इसी भाँति रहते रहे हों; पर फिर भी इन पापुआनों की कुछ ख़ास विशेषताएँ हैं, जो शायद हमारे पूर्वजों में नहीं रही होंगी। इनके समाज में विधवाओं के शोक मनाने की प्रथा अजीब और अपने ढंग की निराली है। विधवा औरतें बाल कटा लेती हैं, अपने सारे शरीर में कीचड़ चबोता करती हैं और एक जाली के भीतर अपने मृत पति की खोपड़ी लटकाये उसे हमेशा साथ-साथ लिये फिरती हैं।

इनकी दूसरी बड़ी विशेषता यह है कि इनके युवा सदस्यों को एक विशेष तरीक़े से अपनी बहादुरी साबित करना पड़ता है। ये अपने गले में लचकदार बेंत के टुकड़े बाँधे चलते हैं। उन टुकड़ों को भिगोकर नरम बनाये उसे मुँह की ओर से अपने पेट तक पहुँचाते हैं। उन्हें इससे अवश्य ही वमन करने की प्रवृत्ति होती है, पर वे ज़बर्दस्ती अपने को इससे रोक रखते हैं, जिसकी वजह से उनकी आँखें लाल हो उठती हैं। इस प्रकार आत्मयंत्रणा द्वारा ही वे यह साबित करते हैं कि वे कठिनाइयों को झेलने में समर्थ हैं और इसी शर्त को पूरा करने पर वे अपने समाज में लिये जाते हैं।

पापुआनों की श्रेणी की संसार की और जातियाँ अपने रोगों का आप ही किसी-न-किसी प्रकार इलाज कर लेती हैं, लेकिन ये इतने पिछड़े हुए हैं कि पुराने ढंग की औष-धियों का भी व्यवहार नहीं करते। इनके इलाक़े में प्राय सब लोगों के दाँत खराब रहते हैं; मुसकुरे की बीमारी प्रत्येक को रहती है, आँखों के रोग, पेट के घाव आदि भी सामान्य होते हैं; पर ये किसी प्रकार का भी उनका उप-चार नहीं जानते।

बाहरी संसार से इन्हें कोई वास्ता नहीं। ये ख़ुद अपने इलाक़े में खेती करते हैं। ये अधिकतर ऊख और पपीते उपजाते और उन्हीं पर अपना निर्वाह करते हैं। इनका प्रत्येक गाँव ही अपने आप अपनी आवश्यकताएँ पूरी कर लिया करता है। इसलिए न तो किसी तरह का व्यापार इनके यहाँ चलता है और न नयी प्रकार की आवश्यकताओं की कमी ही ये महसूस करते हैं।

सौदा करने के रिवाज़ से ये अब तक अपरिचित हैं। इसका अन्दाज़ इसी से लगाया जा सकता है कि ये अपनी कोई वस्तु एक बार विनिमय कर भी लेते हैं, तो फिर उस विनिमय को पलटने के लिए दस बार लौटकर आते हैं। इनके यहाँ यह आम बात है।

अपने जानवरों से इन्हें इतनी मुहब्बत रहती है कि ये उनकी भी मृत्यु पर शोक मनाते हैं। किसी पालतू सुअर के मरने पर संसार के किसी और भाग की स्त्रियाँ शायद ही कीचड़ चबोतकर शोक प्रकाश करती होंगी, पर पापुआनों के बीच यह आम रिवाज है। वे घरेलू जानवरों के मरने पर उनके लिए अपने सम्बन्धियों-जैसा ही शोक मनाती हैं।

पर इसका अर्थ यह कदापि नहीं लगाना चाहिए कि ख़ूँख़्वारी में पापुआन किसी क़दर कम हैं। लड़ना-झग-ड़ना, या मनुष्यों का खून करना इनके समाज में रोटी खाने-जैसी रोज़मर्रे की साधारण-सी बात है। इसीलिए ये लड़ते समय अपने साथ के दो-तीन बच्चों को भी अपनी पीठ पर बाँधकर ले जाते हैं, जिसमें जन्म से ही वे सख्ती बर्दाश्त कर सकें और आगे चलकर लड़ाई की कला में पूर्णतया प्रवीण साबित हों।

लड़ते समय ये इतने ख़ूँख़्वार बन जाते हैं कि अपने शत्रु के शरीर में बड़ी निर्दयतापूर्वक पत्थर के हथियार, कुल्हाड़े या तीर से गहरा घाव बना डालने में उन्हें किसी प्रकार की भी हिचक नहीं होती। कभी-कभी तो ये पूरे गाँव-के गाँव को पूर्ण तरह से जलाकर खाक बना देते हैं। एक गाँव के व्यक्ति का दूसरे गाँव के व्यक्ति से झगड़ा अक्सर ही दोनों पूरे गाँव के झगड़े का रूप ले लेता है। शत्रु को पराजित कर चुकने के बाद विजयी दल पहरा देता है, और उनकी औरतें विजितों की सम्पत्ति अपने साथ ले जाने के लिए बटोरती हैं। इनकी लड़ाइयों का ढंग लुक-छिपकर हमला करने और अँधेरे में छापा मारने के तरीक़े का है।

समुद्र-किनारे के प्रदेशों के पास रहनेवाले पापुआनों की रगों में विगमी ख़ून मिश्रित है। उनका क़द नाटा, पर चमड़े का रंग हल्का होता है। इनमें ख़ास बात यह होती है कि इनका पेट बहुत अधिक निकला रहता है। भीतरी प्रदेशों के पापुआनों के समान ही इनके भी लड़ाई आदि के ढंग हैं, पर इनकी विशेषता यह है कि ये भाले का भी व्यवहार करते हैं। इसका व्यवहार समुद्रतट पर रहनेवाले मेलानेशियनों से इन्होंने सीखा है। इनके मकान भी भिन्न तरीक़े के होते हैं, क्योंकि इन्हें लकड़ी थोड़ी दूर से ढोकर लाना

(दाईं ओर) न्यूगिनी के उत्तर-पूर्वी प्रदेश में पुरारी नदी के पूर्व की ओर फैले हुए पर्वतों की शृंखलाएँ। इस चित्र से आप इस प्रदेश के बीहड़पन का कुछ अनुमान कर सकते हैं।
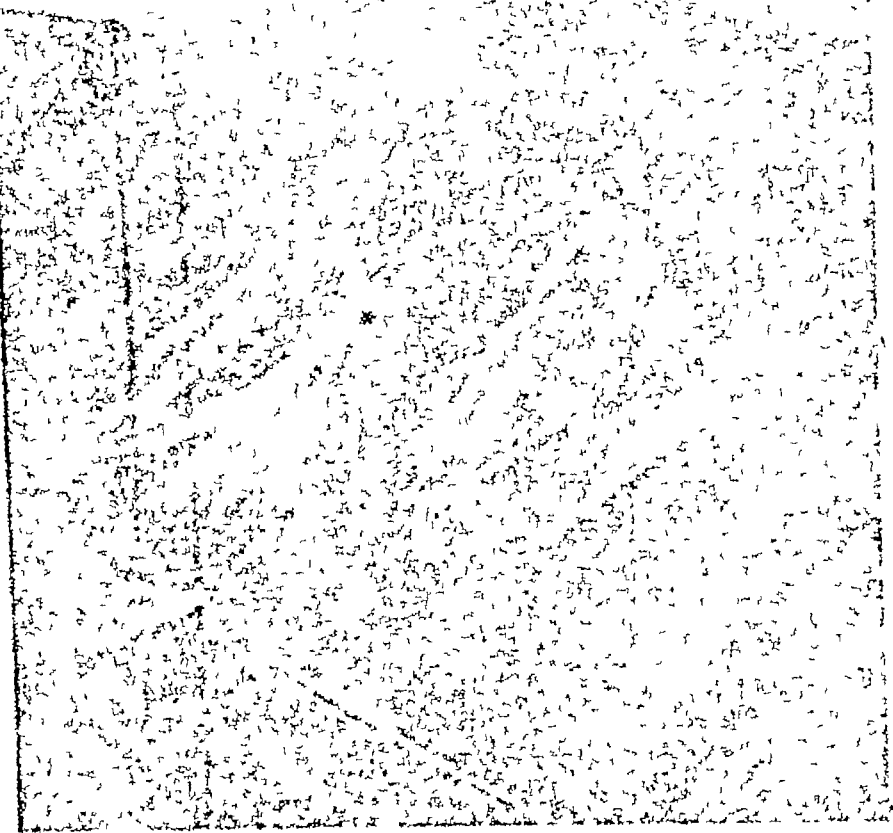
(नीचे) न्यूगिनी के [illegible] के कुछ पापुआन। ये लोग सिर पर एक विशेष प्रकार का शिरस्त्राण धारण किये रहते हैं।

(ऊपर) पुरारी नदी के ऊपरी प्रदेश में पापुआन लोगों की उन्नत कृषि के परिचायक ईख, बाँस, आदि के खेतों और बगीचों का दृश्य।

(बाईं ओर) पापुआनों में विधवा स्त्रियाँ इसी तरह अपने मृत पति की खोपड़ी जीवन-पर्यन्त गले में लटकती हुई एक जालीदार थैली में लिये फिरती हैं।

करने का कोई आदमी साहस करता होगा। इस भयानक जंगल का जीवन बहुत ही कठोर जीवन होता है। मानसून के समय यहाँ महीनों तक ख़ूब वर्षा होती रहती है। ऐसे भी मौक़े होते हैं, जब हफ़्तों झड़ी लगी रहती है। उस समय नदी-नाले विकराल रूप धारण कर लेते हैं। पेड़ों की जड़ें खुली जाती हैं और वे गिरने लगते हैं। इस मौक़े पर जंगल का स्वरूप और भी भयानक बन जाता है; साथ ही जीवन-निर्वाह की समस्या भी और विकट बन जाती है। लोगों का स्वभाव भी इसके अनुपात में ही कड़ुआ, रूखा, ख़ूँख़ार बन जाता है। जगल में उतनी उपज होती नहीं कि लोग कुछ बचाकर आगे के लिए जमा कर रख सकें; इस कारण जीवन की समस्या सदा ही विकट बनी रहती है। वर्षा-ऋतु में जिन वृक्षों की जड़ें मजबूत होती हैं, वहाँ जंगल के अन्य बहुतेरे जीव अपने बचाव के लिए आ इकट्ठा होते हैं और उन्हीं जीवों में से एक ये मनुष्य-देहधारी पापुआन भी होते हैं!

जिस प्रकार की भौगोलिक परिस्थिति में मनुष्य रहता है, वह उसे अपने ही जैसा बनने के लिए बाध्य करती है—यह सिद्धान्त पापुआनों के उदाहरण में अधिक सही उतरता है। हम इनमें प्रचलित मनुष्य-हत्या का ही उदाहरण लें। ये धर्म के नाम पर मनुष्य का सिर नहीं काटते; न मृत मनुष्य के जीव को अपने वश में करने के इरादे से, अथवा यह समझकर ही कि मारे गये आदमी की ताक़त उसका सिर काटनेवाले के भीतर चली आती है, ये नरहत्या करते हैं। ये अजनबी को देखते ही इसलिए मार डालते हैं, क्योंकि इन्हें खौफ रहता है कि वह उनका भोजन छीनने आया है। और नहीं तो अजनबी द्वारा उनके भोजन में बँटवारा होने का ही उन्हें ख़ौफ रहता है। इसलिए उसके प्रति किसी प्रकार का द्वेष या झगड़ा न होने पर भी वे उसकी जान ले लेते हैं। यह हत्या उनके लिए लड़ाई का एक मामूली दस्तूर है। उनके लिए यह आम बात है। इसका कारण यह है कि वह लड़ाई ही उनकी आजीविका, उनकी रोटी है। वह उनके जीवित रहने के संग्राम से संबंध रखती है।

बिना किसी परिवर्त्तन के हजारों वर्षों से ये पापुआन इसी भाँति न्यू गिनी में रहते चले आ रहे थे और आज भी रह रहे हैं। किन्तु इस शताब्दी के आरम्भ से उनके इलाक़े में कुछ हेर-फेर होना आरंभ हुआ है। इस परिवर्त्तन का उन पर भी थोड़ा बहुत असर पड़ा है। इस शताब्दी ...रंभ में सभ्य संसार ने देखा कि न्यू गिनी में सोने का भंडार है, अतएव सभ्य देशों के बहुतेरे जहाज उस टापू के किनारे लगने आरंभ हुए और साथ ही बहुत-सी बीमारियों का वहाँ प्रवेश हुआ। हैज़ा, प्लेग, महामारी आदि की तो बुनियाद पड़ी ही, साथ ही और भी कई तरह की नई समस्याएँ वहाँ आ उपस्थित हुईं। सोने के लोभ में संसार के 'सभ्य' गिने जानेवाले लोग कालों को जीवित रहने देने के पक्षपाती नहीं थे। पर सोने के भंडार को जमा कर बोरे में कसने के लिए आदमियों की आवश्यकता थी। आबहवा अनुकूल न होने के कारण न्यू गिनी में गोरे चमड़ेवाले शारीरिक परिश्रम करने के क़ाबिल साबित नहीं हुए, इसलिए आवश्यकता इस बात की हुई कि उस प्रदेश के काले लोगों से ही यह काम लिया जाय, और इसीलिए उन्हें जीवित छोड़ दिया जाय।

अतएव टापुओं के निवासियों का ख़याल कर वहाँ कई प्रकार के परिवर्त्तन किये गये। स्थानों को स्वास्थ्यकर बनाने की चेष्टा की गई, पर इसका नतीजा कुछ दूसरा ही निकला। बजाय इसके कि उसका लाभ उठाकर वहाँ के बाशिन्दों की आयु बढ़े, वे जल्दी-जल्दी ख़तम होने लगे! स्वास्थ्य से संबंध रखनेवाले जितने परिवर्त्तन हुए, उतनी ही अधिक तादाद में वहाँ के असली बाशिन्दे मरने लगे। जब वैज्ञानिकों ने इसका कारण ढूँढ निकाला तो उन्होंने देखा कि प्रकृति के उतने निकट और उतने प्राचीन तरीक़े से रहते-रहते इन लोगों का वहाँ एक विशेष प्रकार का स्वभाव बन गया है, इससे उनके शरीर के लिए वह वातावरण एक ख़ास तरह की सिफत बन गई है, जिसके आधार पर ही ये लोग ज़िन्दा रह सकते हैं। अति प्राचीन ढग से रहते-रहते इनमें अपने को परिवर्तित परिस्थिति में जीवित रख पाने का बूता जाता रहा है। इससे इनकी प्रगति में सबसे बड़ी रुकावट आ गई है, पर इसका कोई चारा नहीं।

पापुआनों को जीवित रहने देने के लिए जिस परिस्थिति, वायुमडल और जिस भौगोलिक परिस्थिति में वे रहते चले आये हैं, जिसके वे आदी बन चुके हैं, उसी को बनाये रखने की आवश्यकता थी। इस सिद्धान्त के आधार पर जब से न्यू गिनी में चेष्टाएँ आरंभ हुई हैं, तब से वहाँ के पापुआनों की जन-संख्या में कमी होना रुक गया है।

इन पापुआनों के उदाहरण में भी हम यह बात बहुत ही स्पष्ट रूप में देख रहे हैं कि जिस परिस्थिति विशेष में मनुष्य रहता चला आया है, उसके आधार पर ही उसका जीवन अवलम्बित रहता है और वही उसके जीवन की दिशा तथा उसके विकास का ढर्रा निर्धारित किया करती है।

(बाईं ओर) नये गायना के समीप मैलू-द्वीप के सामने की एक बस्ती के जंगली मचानदार घर।

(ऊपर) मैलू-द्वीपवासी जंगली जाति का एक मल्लाह।

टँकी हैं तो कहीं पतिंगों के हरे पर। इनके बीच-बीच में कहीं-कहीं मनुष्य के बालों के गुच्छे भी आप देख सकते हैं, जो टोप की पिछली कोर से शेर के अयाल की तरह कंधों पर लटक रहे हैं *। इसके अलावा गले में रंग-बिरंगे बालों की रस्सियों में गुँथी कौड़ियों की माला; पिण्डलियों और भुजाओं में कसी हुई बेंत की गोल-गोल चूड़ियाँ; इस कंधे से उस कंधे तक पड़ा हुआ लाल-पीले चँवरनुमा बालों और कौड़ियों की मालाओं से सज्जित भालू की खाल जैसा वस्त्र; और इन सबसे कहीं अधिक आश्चर्यजनक, पीछे की ओर ऊँचा-सा उठा हुआ लोमड़ी की बालदार दुम-जैसा एक कृत्रिम पुछल्ला भी है, जो शायद बाल आदि को ऐंठकर बनाया गया है ! ! इस विचित्र वेश को धारण किये, एक हाथ में भाला और दूसरे में एक कुल्हाड़ी-नुमा खाँडा लेकर जिसके साथ तुम्बी को काटकर बनाया गया एक कृत्रिम नर-मुण्ड भी लटक रहा है, कापालिक-जैसा कोई व्यक्ति एकाएक यदि आपके सामने आ खड़ा हो, तो शायद ही आप उसे इस दुनिया का जीव मानने को तैयार होंगे ! किन्तु यही आसाम की सीमा पर बसनेवाली नागा जाति के वीरों का सबसे प्रिय वेश है, जिसे वे केवल ख़ास-ख़ास उत्सव या लड़ाई के वक्त ही पहनते हैं।

आसाम प्रान्त की मनीपुर रियासत और उसके आस-पास की घाटियों में कई जातियों के रूप में फैले हुए ये नागा लोग संसार के सबसे विचित्र प्राणियों में से हैं। तादाद में ये कुल मिलाकर कुछ हज़ार ही होंगे (और दिनोंदिन इनकी संख्या कम ही होती जा रही है जैसा कि इसी स्तंभ के दूसरे लेख में बताया जा चुका है)। किन्तु फिर भी सारे सभ्य संसार को ये मानो चुनौती दे रहे हैं! जिस किसी को भी अपना सिर प्यारा होगा सभ्य दुनिया का वह व्यक्ति इन नागाओं के देश में जाने का साहस नहीं कर सकता! यों तो ब्रिटिश अधिकार होने के बाद से अब इन लोगों पर बहुत-कुछ बंदिशें लगा दी गई हैं, फिर भी नागाओं के देश में किसी अजनबी का सिर ख़तरे से ख़ाली नहीं। मौक़ा मिलते ही किसी भी मनुष्य का सिर काट लेने में इन लोगों को किसी तरह की भी हिचकिचाहट नहीं होती। वरन् कटे नर-मुण्ड को पाकर उल्टे ये एक विशेष प्रकार के उल्लास से फूल उठते हैं। इन लोगों की निगाह में यही सबसे बड़ी वीरता, तथा इस लोक और परलोक के सुख का परम साधन है। संसार में नागाओं की तरह और भी कई जंगली जातियाँ हैं, जो मनुष्य का सिर काट लेने को धार्मिक कृत्यों में शुमार करती हैं; किन्तु संभवतः नागा इस काम में सबसे आगे बढ़े हुए हैं—इन्होंने इसको मानो अपनी एक विशेष कला ही बना लिया है! इनमें जो व्यक्ति जितने अधिक नर-मुण्ड काट कर लाता है, उतनी अधिक उसकी प्रतिष्ठा होती है। कुछ नागा जातियों में तो अभी कुछ दिन पहले तक नर-मुण्ड

अंगामी जाति का एक नागा वीर

* ये प्रायः लड़ाई में मारे गये शत्रु के सिर से उखाड़े गये होते हैं।

काटकर लाये जानेवाले नरमुण्डों को प्रायः गाँव के पास के पेड़ों के खोखले तनों में छिपाकर रखते हैं। किसी-किसी कबीले में इन्हें उन विशाल रहस्यमय गढ़ी हुई शिलाओं या पत्थरों के ढेरों पर चढ़ाकर पाँच-चार दिन तक रखने का भी रिवाज़ रहा है, जो नागाओं के गाँव के आस-पास पाये जाते हैं, और जिन्हें ये लोग धार्मिक भाव के साथ पूजते हैं। अगर कोई सूरमा किसी शत्रु जाति की स्त्री या बालक का सिर काटकर लाता है तो यह उसकी बड़ी वीरता समझी जाती है, क्योंकि शत्रु के गाँव में घुसकर ऐसा करना आसान काम नहीं होता! किन्तु गुदना गुदी हुई उत्तरी इलाक़े की स्त्रियों की हत्या करते हुए लोग डरते हैं क्योंकि उस इलाक़े के लोग इसका भीषण बदला चुकाते हैं।

समय के प्रभाव और शासन के भय से मनुष्य का यह शिकार अब बहुत कम और सो भी लुक छिपकर ही होता है। फिर भी इस प्रथा का अंत नहीं हुआ है। वास्तव में, यह किसी पुरातन काल की प्रथा के जघन्य स्मारक के रूप में ही इन लोगों में अब तक बची रह गई है, वरना विकास की दृष्टि से नागा लोग अन्य कई जंगली जातियों से बहुत आगे बढ़े हुए हैं। कई नागा जातियाँ विकसित ढंग की खेती करती हैं, धातुओं से औज़ार वग़ैरह बना लेती हैं और सुंदर कपड़ा भी बुनकर तैयार करती हैं अंगामी और ताँगखेल जाति के नागा पहाड़ों के ढाल पर सीढ़ी-उतार खेत बनाकर आबपाशी द्वारा चावल की खेती करते हैं। कपास, बाजरा, मक्का, साबूदाना भी उपजाये जाते हैं। नागा लोग गाय-बैल, कुत्ते आदि पशु भी पालते हैं। कुत्तों को ये शिकार के लिए भी पालते हैं और आहार के लिए भी। ये लोग मछली का शिकार उन्हें नशीली चीज़ों द्वारा बेहोश करके या मारकर बड़े अजीब ढंग से करते हैं। साधारण करघों पर ये लोग बड़ा उम्दा कपड़ा बुन लेते हैं। इस काम में ताँगखेल जाति के नागा सबसे प्रवीण हैं। नागाओं की भाषा में 'ताँगखेल' के मानी ही 'कपड़ा बुननेवाला' या 'जुलाहा' होता है। रँगाई भी ये कर लेते हैं। इसके अलावा लोहारी, बढ़ईगीरी और बरतन बनाने का भी काम ये जानते हैं। भौतिक सभ्यता में बहुत-सी बातों में ये मेलानेशियन जातियों से मिलते-जुलते हैं। इनमें प्रत्येक उपजाति की अलग-अलग भाषा और उच्चारण है। इनकी ये बोलियाँ तिब्बती और बर्मी भाषाओं के कुटुंब से संबंधित हैं।

नागाओं की सामाजिक व्यवस्था भी विचित्र है। नागा जाति अंगामी, कोनयाँक, ताँगखेल, माओ, एओ, चाँग आदि कई उपजातियों में बँटी हुई है। ये सभी जातियाँ यद्यपि विभिन्न आदिम जातियों के मिश्रण से पैदा हुई हैं और रूप-रंग, आकार-प्रकार संस्कृति आदि में एक-दूसरे से बहुत असमानता रखती हैं, फिर भी इनमें बहुत-सी बातें सामान्य हैं, जिनसे अन्य पड़ोसी जतियों (जैसी कूकी, काचिन या कचारी), जो नागाओं में नहीं गिनी जातीं, और इनमें स्पष्ट विभेद देखा जा सकता है।

एक कोनयाँक नागा युवक अपने विचित्र ढंग के धनुप को साध रहा है।

नागाओं में क़बीले से बाहर शादी करने का ही रिवाज है। समा, चाँग आदि कुछ जातियों में बहुपतित्व (Polyandry) की भी प्रथा है। अन्य कई जंगली जातियों की तरह इनमें भी कहीं-कहीं गाँव के अविवाहित युवकों के सोने के लिए अलग शयन-कक्ष या सांप्रदायिक गृह होते हैं। तलाक़ भी प्रचलित है। इनमें स्त्रियाँ क़रीब-क़रीब नग्न रहती हैं। पर कुछ जातियों में गुप्तांगों को ढकने के लिए कमर पर एक उपवस्त्र पहन लेती हैं। इनमें गोदना गुदाने का भी रिवाज है। भ्रूणहत्या का भी इनमें रिवाज रहा है। नाचने-गाने के ये बड़े शौक़ीन हैं। वास्तव में इनकी सभ्यता में नर संहार की बीभत्स पशुतुल्य प्रवृत्ति के साथ-साथ मानवोचित अन्य गुणों का सम्मिश्रण देखकर मानव विकास के अद्भुत ढंग पर आश्चर्य होता है!

की नब्ज़ टटोली और रोग का निदान किया। उसने मानव को मानवता सिखाने का प्रण किया। उसने अपने जीवन के प्रथम ३० वर्षों में जिस मान का अभाव पाया, उस अभाव की सचाई का अनुभव किया। वह उसकी वास्तविकता की तह को पहुँच गया। उसने जीवन को समझा और उसकी रक्षा में अपने को बलिदान करने की सोच ली। तीन साल तक उसने अपने जीवन के उदाहरण द्वारा गैलिली, समरिया और यरूशलीम तथा इनके निकटवर्ती प्रदेशों की जनता को 'स्वर्ग का राज्य निकट है' यह सुखद समाचार सुनाया। जब स्वर्ग का नाम लिया जाता है, तो लोग आसमान की तरफ देखने लगते हैं! नरक की कल्पना पैरों के तले की ज़मीन पर ही होती है! ईसा का अर्थ ऐसे स्वर्ग और नरक से हर्गिज़ नहीं था। वह तो प्रत्येक मानव को सुखी देखने का इच्छुक था। तभी तो वह प्रायः दीन-हीन जनता के मध्य में घूमता था। जिनको उच्च कुलीन लोग छोटा, अछूत, नीच समझते थे, उनसे ही वह अधिक मिलता था और उन्हीं के यहाँ के निमन्त्रण स्वीकार करता था।

ईसा के जीवन की प्रधान घटना यहुन्ना से भेंट थी। यहुन्ना उन इने-गिने यहूदियों में से था, जो रोमन साम्राज्य के नष्ट होने और ईश्वरीय साम्राज्य की स्थापना के स्वप्न देखा करता था। यह महापुरुष जौर्डन नदी के तट पर रहता था, और जो भी उसके दर्शनार्थ आते, उनकी ज्ञान-पिपासा बुझाता तथ उनको अपने विचारानुकूल बनाने के लिए जौर्डन नदी के जल से बपतिस्मा (दीक्षा) देता था। बपतिस्मा केवल एक बाह्यानुष्ठान था।

बपतिस्मा पानेवालों से यहुन्ना कहता था—"प्रायश्चित्त करो, क्योंकि स्वर्ग का राज्य निकट है।" "ईश्वर अपना क्रोध प्रकट करनेवाले हैं"—जिसका अर्थ था, बड़ी कठिन परीक्षा होनेवाली है। ईसा की तरह यहुन्ना भी धनी पुजारियों और उच्च कुलीन यहूदियों के विरुद्ध था और जिस प्रकार निम्न कोटि के मनुष्य ईसा की बातों को आदर से सुनते थे, उसी प्रकार यहुन्ना की भी बातें सुनी जाती थीं। यद्यपि यहुन्ना का कार्य-क्षेत्र जूडिया था तदपि उसकी यशोगाथा ईसा के कानों में पड़ी। इस समय तक ईसा के भी अनेक भक्त हो गये थे। उनको साथ ले यहुन्ना की शिक्षा से लाभ उठाने के विचार से ईसा चल दिया। दोनों ही पूर्ण युवक थे। उनके अनेक विचार एक-से थे। दोनों में एक-दूसरे के प्रति श्रद्धा थी। कुछ दिनों तक ईसा ने यहुन्ना का पदानुसरण किया और बहुत दिनों तक समाज में प्रचलित बातों को माना भी, क्योंकि ईसा के विचार पूर्ण परिपक्व नहीं हो पाये थे। परन्तु उसने अपने मूल विचार पर कभी आघात नहीं होने दिया। बपतिस्मा का बहुत रिवाज हो चला था और इसीलिए ईसा ने भी उसे अपनाया। जौर्डन नदी के दोनों तटों पर बपतिस्मों की धूम मच गई। जनता बड़े चाव से ईसा के उपदेशों को सुनती थी।

यहुन्ना अधिकारी वर्ग की बुराई बहुत करता था। अधिकारी उससे चिढ़े हुए थे। और जब हिरोदिया ने अपने पति को छोड़कर, जिसके साथ उसकी मर्ज़ी के ख़िलाफ़ शादी कर दी गई थी, अन्तीपस (Antipas) के साथ नाजायज़ सम्बन्ध कर लिया, तो यहुन्ना ने उसके ख़िलाफ़ आवाज़ उठाई। अन्तीपस बहुत क्रुद्ध हुआ और उसने यहुन्ना को मचेरो (Machero) के क़िले में क़ैद करा दिया। अन्तीपस की इच्छा नहीं थी कि यहुन्ना का क़त्ल किया जाय; क्योंकि जनता के भड़कने का उसे भय था।

यहुन्ना के क़ैद होने के बहुत पीछे तक ईसा मृत्युसागर और जौर्डन नदी के निकटवर्ती प्रदेशों में उपदेश देता रहा। चालीस दिनों तक वह जूडिया के रेगिस्तान में रहा और उसने कठोर अनशन किया। यह जनश्रुति थी कि उस रेगिस्तान में भूतों और राक्षसों का डेरा था। जब ईसा वह रहा तो जनता ने नाना प्रकार की बातें कहनी प्रारम्भ कीं। शैतान के साथ ईसा का घोर संग्राम रहा। अनेक प्रलोभनों पर ईसा ने विजय प्राप्त की और अपने को मानवता के उद्धार के योग्य बनाया। यहाँ से ईसा गैलिली को लौट आया। यहुन्ना से भेंट होने और रेगिस्तान में ४० दिन की कठोर तपस्या के पश्चात् ईसा ने अपने को पहचाना। उसका व्यक्तित्व निखर आया। इतिहासज्ञों का कथन है कि यहुन्ना से भेंट होने के पहले ईसा के विचार कहीं अधिक अच्छे थे और यहुन्ना की भेंट के पश्चात् उनमें जो परिवर्तन हुए, वे उसको और नीचे घसीट लाये तथा उसकी उन्नति में बाधक हुए। यह भी कहा जाता है कि यदि यहुन्ना बन्दी न बनाया जाता, तो बाह्यानुष्ठानों के चक्कर में पड़कर ईसा ने अपने को खो दिया होता और वे विचार-रत्न जो ईसा ने संसार को दिये, इस रूप में कदापि न होते। यहुन्ना के बन्दी हो जाने पर ईसा का सहारा छूट गया और उसने अब अपने ऊपर निर्भर होना सीखा, वह यहुन्ना से भेंट होने का एक लाभ उसे अवश्य हुआ था। वह उपदेश करना सीख गया था और अधिकारपूर्वक प्रत्येक बात को कहने लगा था।

तायी के राज्य के लिए स्वीकृति थी और जनता की आवाज़ पर दफा १४४ लगाना था। इसीलिए आज के दिन तक नागरिकता के पूर्ण भाव से ईसाई नागरिक वञ्चित रहे हैं।

परन्तु एक बड़ा लाभ ईसा ने अवश्य पहुँचाया। राजनीति को तुच्छ समझकर, उससे विमुख होकर जब उसने 'स्वर्ग के राज्य' के लिए 'ख़मीर' फैलाना प्रारम्भ किया, तो उसने संसार को यह दिखा दिया कि मानवता नागरिकता के ऊपर है, उससे ऊँची है। बहुत से लोगों ने स्वर्ग के राज्य को निकट लाने के लिए बड़े-बड़े भूचालों की कल्पना की है। नये सिरे से सृष्टि के कार्य-संचालन की बात सोची है। ईसा ने भी ऐसा ही सोचा था। परन्तु यह उसकी भूल थी। विचारशील विद्यार्थी को इस से ईसा के विचारों की अपरिपक्वता ही समझनी चाहिये।

संसारी जीव परिवर्तन चाहते हैं और उसके साथ-साथ अमरत्व भी। ईसा ने यही मानवी इच्छा पूर्ण की। 'स्वर्ग का राज्य निकट है', इस सुखसम्वाद में उसने उपरोक्त दोनों अभिलाषाओं का सुन्दर समन्वय दिखाया।

ईसा का अपने शिष्य पीटर के पैर पखारना (चित्रकार—ब्राउन)

राज्य की बात तो ईसा ने इसलिए लोगों से कही कि वे 'राज्य' का अर्थ समझते थे, उससे परिचित थे। वास्तव में ईसा राज्य को हानिकर समझता था। प्रत्येक न्यायाधीश को वह आततायी समझता था। उसने उनसे लड़ने के लिए लोगों को उभारा, और यह भी कहा कि विरोध के फलस्वरूप तुम्हें कष्ट भी मिलेंगे। परन्तु सामूहिक रूप से हिंसात्मक प्रयोग करने की बात उसने कभी नहीं कही। "मन की पवित्रता द्वारा तुम विजय प्राप्त करो", यही ईसा का सदैव कथन रहा। "ईश्वर का राज्य केवल निष्पाप जनों द्वारा स्थापित किया जायगा", इस सम्बन्ध में ईसा ने कभी दो मत प्रकट नहीं किए। न विद्वान्, न पुरोहित, न धनी; किन्तु स्त्रियाँ, साधारण जन, विनयशील प्राणी, शिशु, यही स्वर्ग का राज्य स्थापन करने के पूर्ण अधिकारी हैं। ईसा के जीवन का यह स्वप्न था कि समाज में उथल पुथल मचा दी जाय, ऊँच-नीच की भावना मिटा दी जाय, अधिकारी वर्ग का शिर नीचा किया जाय। वह यह जानता था कि संसार उसकी नहीं सुनेगा और उसकी जान का ग्राहक हो जायगा। परन्तु इससे क्या? उसकी बात साधारण दीनजन तो सुनेंगे, और वे अपनी विनम्रता से विजयी होंगे, इसका उसे निश्चय था।

ईसा की संसार के लिए सबसे बड़ी देन थी, 'अपनी आत्मा की रक्षा करो।' आत्मा का अर्थ यहाँ व्यक्तित्व से लेना चाहिये। व्यक्ति वही, जो सत्य को समझता हो। सत्य का त्याग व्यक्तित्व का हनन है। इसके लिए कोई भी किस प्रकार तैयार हो सकता है! "ऐसे जीवन से क्या लाभ यदि सत्य के हनन से सम्पूर्ण विश्व भी मिलता हो?" और आत्मरक्षा का केवल एक ही उपाय है, वही जिसको एक किसान बीज बोते समय काम में लाता है। वह अच्छे बीज बोता है और ख़राब थोथे बीज फेंक देता है। 'संसार के प्रलोभनों के लिए जो अपने जीवन की रक्षा करेगा, वह उसको खो देगा', इस कथन में विकसित व्यक्तित्व के चरम विजय के बीज छिपे हैं।

उपरोक्त कथन से ही हम 'पाप क्या है?' समझ सकते हैं। जिससे सुख में बाधा पड़े वही पाप है। सुख का अर्थ है सत्य, आत्मसौन्दर्य, चरम ऐश्वर्य अथवा ईश्वरत्व।

ईसा ने ईश्वर को 'पिता' कहकर सम्बोधित किया है। ईश्वर ही, सत्य ही, तो वास्तव में जीवन का सुख है। जीवन में भलाई उसी के द्वारा सम्भव है। जो 'पिता' का केवल लौकिक अर्थ लगाते हैं, वे केवल खिल्ली उड़ाने के हेतु से। वास्तव में वे समझते नहीं। न समझना ही पाप है। जब ईसा ने अपने को 'ईश्वर का पुत्र' कहा, तो उसने

उसके भाइयों ने उसकी बात को सुना और न गैलिली झील के तटवर्ती नगरों के निवासियों ने ही। ईसा को बड़ा क्रोध आने लगा। वह जीवन से बेज़ार-सा हो गया। उसने कहा, "लोमड़ियों के लिए ज़मीन के अन्दर सूराख़ हैं, चिड़ियों के लिए घोसले हैं, पर मानव-पुत्र के लिए सिर रखने को भी कहीं स्थान नहीं है!"

विरोध सहन करने के लिए जिस धैर्य और शान्ति की अपेक्षा है, उसका ईसा में सर्वथा अभाव था। यहूदियों में एक विशेष दोष है कि वे तर्क में बड़ी ही कटुता पैदा कर देते हैं। उनके आपस के झगड़े बहुत ही कटुता लिये हुए होते हैं। फैरिसी वर्ग ने ईसा का घोर विरोध किया। फ़ैरिसी को बाह्याडम्बर बहुत प्रिय था; उनकी श्रद्धा में गर्व की मात्रा आवश्यकता से अधिक थी। उनका आचरण उपहासजनक होता था और जो उनका आदर भी करते थे उन्हें भी हँसी आए बिना न रहती थी। जनता ने फ़ैरिसी वर्ग के लोगों के लिए अनेक उपनाम रख छोड़े थे। 'निकूफी' वे फ़ैरिसी थे, जो गलियों में चलते समय पैरों को 'घसीटते' हुए और पत्थरों से ठोकर मारते हुए चलते थे; 'क़िज़ाई' वे फैरिसी थे, जो आँखें बन्द करके चलते थे, जिससे किसी स्त्री पर दृष्टि न पड़ जावे और दीवारों से इतना सिर टकराते थे कि उनका मस्तक सदैव रुधिर से लथ-पथ रहता था; 'मदिन्किया' वे फैरिसी थे, जिनकी कमर मुँगरी के बेंटे की तरह दोहरी हो गई थी; 'शिकमी' वे फ़ैरिसी थे, जो पीठ झुकाकर चलते थे, मानो हज़रत मूसा के नियमों का सारा बोझ उन्हीं के कन्धों पर रखा है; और 'रँगे सियार' वे फ़ैरिसी थे, जो महा पाखण्डी थे और बाह्याडम्बरों के पालन में तनिक भी त्रुटि नहीं करते थे।

ईसा को फैरिसी वर्ग से बड़ी चिढ़ थी; उसे दिखावा ज़रा भी पसन्द न था और फैरिसी वर्ग दिखावे को धर्म की पराकाष्ठा समझ बैठा था। ईसा सदैव छोटी जाति के विनयशील लोगों में ही उपदेश देता था और फ़ैरिसी जाति इसमें अपना अपमान समझती थी। फ़ैरिसी वर्ग अपने को बड़ा धर्मपरायण, निर्दोष और महान् पाण्डित्यपूर्ण समझता था। इसके विरुद्ध ईसा कहता था कि भयपूर्वक और काँपते हुए दिल से ईश्वर के राज्य की प्रतीक्षा करो। यहूदियों के मंदिरों में पाखण्ड सीमा को पार कर गया था। फल यह हुआ कि ईसा की फ़ैरिसी वर्ग से सदैव उलझन रही। एक बार मन्दिर से ईसा ने लेन-देन करने-वाले व्यापारियों को निकाल बाहर किया और पुरोहितों को ख़ूब खरी-खोटी सुनाई।

न ईसा न उसके अनुयायी फ़ैरिसी जाति की रूढ़िगत बातों की ज़रा भी परवाह करते थे। फ़ैरिसी ईसा को इस पर रोकते थे और उलाहना देते थे। ईसा को फ़ैरिसी वर्ग के दम्भ और प्रचण्ड गर्व से बैर था। एक बार ईसा ने कहा, "मैंने दो मनुष्यों को मन्दिर में पूजा के हेतु जाते देखा; उनमें से एक फ़ैरिसी था, दूसरा अछूत। फैरिसी ने इस प्रकार प्रार्थना करनी प्रारम्भ की, 'हे ईश्वर, मैं तुझे धन्यवाद देता हूँ कि मैं औरों की तरह रुपया ऐंठने-वाला, अन्यायी, या व्यभिचारी नहीं हूँ और न मैं इस अछूत-सा ही हूँ। मैं सप्ताह में दो बार उपवास करता हूँ और अपने धन का दसवाँ हिस्सा दान कर देता हूँ।' और अछूत ने दूर खड़े होकर बिना आसमान की ओर आँख उठाये हुए, छाती पीटते हुए कहा,—'हे ईश्वर, मुझ पापी पर दया कर।' मैं कहता हूँ कि अछूत फ़ैरिसी की अपेक्षा अधिक अच्छा था।"

ऐसी बातों का फल यह हुआ कि फैरिसी ईसा के ख़ून के प्यासे हो गए। ईसा आचार-विचार से ज़रा भी यहूदी न था। इसीसे ईसा की बातें फ़ैरिसी लोगों के दिलों पर बड़ी क़रारी चोट करती थीं। वे तिलमिला जाते थे। जो श्लेष, जो व्यंग, ईसा के शब्दों में होता था, उसे ईसा ही कह गया है। सुक़रात या मोलिअर या बर्नार्ड शा ने यदि चमड़ी को खरौंच दी है, तो ईसा ने प्राणों ही पर धावा बोला है। ईसा के वचनों में जो क्रोधाग्नि थी, उसने दिल को कबाब करके ही छोड़ा।

और यह भी स्वाभाविक था कि फैरिसी भी ईसा के प्राणों से क्या कम का सौदा करते! यदि ईसा गैलिली में ही रहता, तो उसको ज़रा भी आँच न आती। परन्तु उसने सोचा, यदि मेरा कार्यक्षेत्र गैलिली तक ही सीमित रहा, तो मैंने कुछ न किया। इसलिए उसने गैलिली से बाहर जूडिया में जाकर काम करने का निश्चय किया। उसकी यह इच्छा ही उसकी मौत का कारण हुई। ईसा के सम्बन्धियों ने भी उसे यरूशलीम जाने की सलाह दी। उन्होंने उससे कहा—"अपने शिष्यों को दिखा दे कि तू क्या कर सकता है। जो खेल खेलना है, खुलकर खेल!" ईसा ने उन पर सन्देह की दृष्टि फेंकी और जाने से इन्कार किया। किन्तु जब सब यात्री टैबर्नेकिल के उत्सव के लिए चल दिये, तो ईसा भी अकेला, बिना सूचना के, चल पड़ा। यह गैलिली से उसकी अन्तिम बार के लिए विदा थी। जब वह जूडिया में आया, तो उसके शिष्य उससे मिले। परन्तु कितना परिवर्तन हो गया था! ईसा ने अपने

उसके भाइयों ने उसकी बात को सुना और न गैलिली झील के तटवर्ती नगरों के निवासियों ने ही। ईसा को बड़ा क्रोध आने लगा। वह जीवन से बेज़ार-सा हो गया। उसने कहा, "लोमड़ियों के लिए ज़मीन के अन्दर सूराख़ हैं, चिड़ियों के लिए घोंसले हैं, पर मानव-पुत्र के लिए सिर रखने को भी कहीं स्थान नहीं है!"

विरोध सहन करने के लिए जिस धैर्य और शान्ति की अपेक्षा है, उसका ईसा में सर्वथा अभाव था। यहूदियों में एक विशेष दोष है कि वे तर्क में बड़ी ही कटुता पैदा कर देते हैं। उनके आपस के झगड़े बहुत ही कटुता लिये हुए होते हैं। फ़ैरिसी वर्ग ने ईसा का घोर विरोध किया। फ़ैरिसी को बाह्याडम्बर बहुत प्रिय था; उनकी श्रद्धा में गर्व की मात्रा आवश्यकता से अधिक थी। उनका आचरण उपहासजनक होता था और जो उनका आदर भी करते थे उन्हें भी हँसी आए बिना न रहती थी। जनता ने फ़ैरिसी वर्ग के लोगों के लिए अनेक उपनाम रख छोड़े थे। 'निकूफ़ी' वे फ़ैरिसी थे, जो गलियों में चलते समय पैरों को 'घसीटते' हुए और पत्थरों से ठोकर मारते हुए चलते थे; 'किज़ाई' वे फ़ैरिसी थे, जो आँखें बन्द करके चलते थे, जिससे किसी स्त्री पर दृष्टि न पड़ जावे और दीवारों से इतना सिर टकराते थे कि उनका मस्तक सदैव रुधिर से लथ-पथ रहता था; 'मदिन्क्रिया' वे फ़ैरिसी थे, जिनकी कमर मुँगरी के बेंटे की तरह दोहरी हो गई थी; 'शिकमी' वे फ़ैरिसी थे, जो पीठ झुकाकर चलते थे, मानो हज़रत मूसा के नियमों का सारा बोझ उन्हीं के कन्धों पर रखा है; और 'रँगे सियार' वे फ़ैरिसी थे, जो महा पाखण्डी थे और बाह्याडम्बरों के पालन में तनिक भी त्रुटि नहीं करते थे।

ईसा को फ़ैरिसी वर्ग से बड़ी चिढ़ थी; उसे दिखावा जरा भी पसन्द न था और फ़ैरिसी वर्ग दिखावे को धर्म की पराकाष्ठा समझ बैठा था। ईसा सदैव छोटी जाति के विनयशील लोगों में ही उपदेश देता था और फ़ैरिसी जाति इसमें अपना अपमान समझती थी। फ़ैरिसी वर्ग अपने को बड़ा धर्मपरायण, निर्दोष और महान् पाण्डित्यपूर्ण समझता था। इसके विरुद्ध ईसा कहता था कि भयपूर्वक और काँपते हुए दिल से ईश्वर के राज्य की प्रतीक्षा करो। यहूदियों के मंदिरों में पाखण्ड सीमा को पार कर गया था। फल यह हुआ कि ईसा की फ़ैरिसी वर्ग से सदैव उलझन रही। एक बार मन्दिर से ईसा ने लेन-देन करने-वाले व्यापारियों को निकाल बाहर किया और पुरोहितों को ख़ूब खरी-खोटी सुनाई।

न ईसा न उसके अनुयायी फ़ैरिसी जाति की रूढ़िगत बातों की ज़रा भी परवाह करते थे। फ़ैरिसी ईसा को इस पर रोकते थे और उलाहना देते थे। ईसा को फ़ैरिसी वर्ग के दम्भ और प्रचण्ड गर्व से बैर था। एक बार ईसा ने कहा, "मैंने दो मनुष्यों को मन्दिर में पूजा के हेतु जाते देखा; उनमें से एक फ़ैरिसी था, दूसरा अछूत। फ़ैरिसी ने इस प्रकार प्रार्थना करनी प्रारम्भ की, 'हे ईश्वर, मैं तुझे धन्यवाद देता हूँ कि मैं औरों की तरह रुपया ऐंठने-वाला, अन्यायी, या व्यभिचारी नहीं हूँ और न मैं इस अछूत-सा ही हूँ। मैं सप्ताह में दो बार उपवास करता हूँ और अपने धन का दसवाँ हिस्सा दान कर देता हूँ।' और अछूत ने दूर खड़े होकर बिना आसमान की ओर आँख उठाये हुए, छाती पीटते हुए कहा,—'हे ईश्वर, मुझ पापी पर दया कर।' मैं कहता हूँ कि अछूत फ़ैरिसी की अपेक्षा अधिक अच्छा था।"

ऐसी बातों का फल यह हुआ कि फ़ैरिसी ईसा के ख़ून के प्यासे हो गए। ईसा आचार-विचार से ज़रा भी यहूदी न था। इसीसे ईसा की बातें फ़ैरिसी लोगों के दिलों पर बड़ी करारी चोट करती थीं। वे तिलमिला जाते थे। जो श्लेष, जो व्यंग, ईसा के शब्दों में होता था, उसे ईसा ही कह गया है। सुक़रात या मोलिअर या बर्नार्ड शा ने यदि चमड़ी को खरौंच दी है, तो ईसा ने प्राणों ही पर धावा बोला है। ईसा के वचनों में जो क्रोधाग्नि थी, उसने दिल को कबाब करके ही छोड़ा।

और यह भी स्वाभाविक था कि फ़ैरिसी भी ईसा के प्राणों से क्या कम का सौदा करते। यदि ईसा गैलिली में ही रहता, तो उसको ज़रा भी आँच न आती। परन्तु उसने सोचा, यदि मेरा कार्यक्षेत्र गैलिली तक ही सीमित रहा, तो मैंने कुछ न किया। इसलिए उसने गैलिली से बाहर जूडिया में जाकर काम करने का निश्चय किया। उसकी यह इच्छा ही उसकी मौत का कारण हुई। ईसा के सम्बन्धियों ने भी उसे यरूशलीम जाने की सलाह दी। उन्होंने उससे कहा—"अपने शिष्यों को दिखा दे कि तू क्या कर सकता है। जो खेल खेलना है, खुलकर खेल!" ईसा ने उन पर सन्देह की दृष्टि फेंकी और जाने से इन्कार किया। किन्तु जब सब यात्री टैबर्नेकिल के उत्सव के लिए चल दिये, तो ईसा भी अकेला, बिना सूचना के, चल पड़ा। यह गैलिली से उसकी अन्तिम बार के लिए विदा थी। जब वह जूडिया में आया, तो उसके शिष्य उससे मिले। परन्तु कितना परिवर्तन हो गया था! ईसा ने अपने

को अपरिचित-सा अनुभव किया। उसने अपने को विरोध की दीवार से सिर टकराते हुए पाया। कुलीन यहूदियों (Pharisees) ने उसका यहाँ भी पीछा किया। यहाँ उसने देखा कि उसकी बातों का जनता पर लेशमात्र भी प्रभाव नहीं पड़ रहा है। उसके शिष्यों के प्रति तिरस्कार की भावना बहुत प्रबल थी। गैलिली के निवासी होने के कारण वे दुरदुराये जाते थे। ईसा ने इस बात का अनुभव किया कि कोलाहलपूर्ण नगर सच्चे धार्मिक विचारों के लिए उपयुक्त स्थान नहीं। एक दिन उसके शिष्यों ने मन्दिर की सुन्दर इमारतों की ओर, सुन्दर-सुन्दर वस्तुओं की ओर, जो दीवारों पर टँगी हुई थीं, ईसा का ध्यान आकर्षित किया। ईसा ने कहा—"तुम इन इमारतों की ओर देखते हो? इनकी एक-एक ईंट का भी पता नहीं रहेगा।" ईसा ने किसी भी वस्तु की ओर देखने से इन्कार कर दिया। उसने कहा, "देखना ही चाहते हो, तो इस ग़रीब विधवा की ओर देखो। इसने दान के सन्दूकचे में जो पाई डाली है, वही उसका सर्वस्व था। धनिकों के दान से इसके दान का अधिक महत्त्व है।"

ईसा का क्रूस से अवतरण
(चित्रकार—रैफ़ेल)

ऐसी बात मन्दिर के पुरोहितों को बहुत बुरी लगी। ईसा ने यहाँ अपने जीवन में बहुत कटुता का अनुभव किया। दिल को शान्ति देने के लिए वह बेथनी में, जो यरूशलीम से डेढ़ घण्टे की यात्रा का मार्ग था, चला जाता था। यहाँ एक बहुत ही सुखी, सुन्दर परिवार था, जिसमें दो बहिनें—मार्था और मैरी—और उनका एक भाई लैज़ेरस रहते थे। यहाँ आकर ईसा अपने दुःखों को भूल जाता था।

यह बात नहीं थी कि यरूशलीम की जनता में ऐसे व्यक्तियों का अभाव हो, जो ईसा की बातें पसन्द न करते हों। परन्तु लोग बहुत डरपोक थे। सामाजिक बहिष्कार का भय बहुत प्रबल था। यही नहीं, जो व्यक्ति यहूदी के आचार-विचार न रखता था, उसका सर्वस्व उससे छीन लिया जाता था।

ईसा के उपदेश के बीज यहाँ पथरीली ज़मीन पर पड़े। कुलीन यहूदी (Pharisees) इस प्रयत्न में भी संलग्न रहते थे कि अधिकारीवर्ग को ईसा के विरोध में भड़का दें। पर ईसा को उनकी चालें मालूम थीं और वह अपनी बुद्धिमत्ता से उनको परास्त कर देता था।

एक दिन आवेश में आकर ईसा ने कह ही डाला—"हाथों से बनाए हुए इस मन्दिर को मैं नष्ट कर दूँगा, और बिना हाथों के तीन दिन के अन्दर दूसरा मन्दिर बना दूँगा।" इसका अर्थ लोगों ने बहुत लगाया, पर समझ न सके। ईसा का यह कथन उस अपराध-पत्र पर उद्धृत किया गया था, जिसको सुनाकर उसे क्रूस पर लटकाया गया। पुरोहितों ने ईसा के इस कथन को बहुत बुरा माना। उत्तर में कुलीन यहूदियों या फ़ैरीसियों ने ईसा पर पत्थर बरसाये। यह कार्य उनका मूसा के नियम के आदेशानुसार था—"यदि कोई तुम्हें सनातन धर्म से विचलित करे, तो उसकी बग़ैर सुने उसे पत्थर मारो।" उन्होंने ईसा को पाग़ल करार दिया और वे उसके प्राण लेने को उतारू हो गए।

ईसा ने हेमन्त और शिशिर यरूशलीम में ही बिताए। दीवाली का उत्सव भी उसने वहाँ मनाया। फिर इसके पश्चात् वह जौर्डन के तट पर पर्यटनार्थ गया और जैरीको में उसने ज़ाकियस के यहाँ आतिथ्य स्वीकार किया। ज़ाकियस पापी था। ईसा जानता था कि उसका पापी के घर में जाना कुलीन यहूदियों को खटकेगा। ज़ाकियस ईसा के उपदेश सुनकर अनुयायी बन गया और उसने अपना आधा धन दीनों-अपाहिजों को दान कर दिया। जिस-जिस से उसने अन्याय द्वारा धन लिया

था, उसको चौगुना धन वापिस कर दिया। ईसा को यहाँ बहुत प्रसन्नता प्राप्त हुई। इसके बाद ही उसने कुलीन यहूदियों पर प्रभाव डालने की इच्छा से एक मृतक को जीवन-दान दिया। समझदार व्यक्ति ईसा के इस कार्य को अत्यन्त गर्हित ही मानेंगे। ईसा के अनुयायियों का ईसा पर अटल विश्वास था। अपने धर्म को जनता की दृष्टि में ऊँचा दिखाने की नीयत से उन्होंने लाज़ेरस को मृतक से पुनर्जीवित होने की घोषणा कराई। यह एक कमज़ोरी थी, जिसके प्रलोभन में कभी-कभी पड़ जाना पड़ता है। ईसा के अनुयायी भी इसके अपवाद नहीं थे। ऐसा करने का एक कारण और भी था। कुलीन यहूदियों को एक मुँहतोड़ उत्तर देना था, उनको सदा के लिए निरुत्तर कर देना था। कुलीन यहूदियों ने सभा की और उसमें उन्होंने यह सप्रश्न रक्खा, "क्या ईसा और यहूदी धर्म एक साथ रह सकते हैं?" और इसका उत्तर था, धर्म के रक्षार्थ एक मनुष्य का बलिदान आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है।

काइआफ़ा (Kaiapha) ने, जो यरूशलीम का प्रधान पुरोहित था, भयभीत होकर अपना आदेश सुना दिया। कुलीन यहूदियों को भय था कि कहीं उनके मन्दिर की आमदनी कम न हो जाय। ईसा को बन्दी करने का आज्ञापत्र निकाल दिया गया। परन्तु ईसा एफ्रन (Ephron) चला गया था। पासोवर (Passover) का उत्सव निकट था। विचार था कि ईसा इस उत्सव पर अवश्य यरूशलीम आयगा और तभी वह बन्दी कर लिया जायगा। उत्सव से छः दिन पहले ईसा ने बैथनी में प्रवेश किया और लाज़ेरस के यहाँ एक दावत का आयोजन किया गया। छिपे-छिपे यह भी आकांक्षा थी कि वे ईसा की ऐसी ख़ातिरदारी करें, जिसका प्रभाव जनता पर भी पड़े। मैरी ने इस अवसर पर एक इत्रदान फोड़ दिया और इत्र को ईसा के चरणों पर उँडेल दिया और चरणों को अपने लम्बे-लम्बे बालों से पोंछा। घर भर में सुगन्ध-ही-सुगन्ध फैल गई। जूडास को यह अपव्यय भला न लगा। दूसरे दिन ईसा बैथनी से यरूशलीम के लिए रवाना हो गया। सड़क के एक मोड़ पर से उसने यरूशलीम की शोभा को सराहा। गैलिली-निवासियों ने इस अवसर पर ईसा के लिए यरूशलीम में विजय-प्रवेश का भी आयोजन किया। उन्होंने एक गर्दभ को सुन्दर वस्त्रों से सजाया और ईसा को उस पर बिठाया। अनेकों ने अपने सुन्दर वस्त्रों को सड़क पर बिछा दिया और वृक्षों की हरी-हरी शाखाओं से सड़क की शोभा को और भी बढ़ा दिया। जनता में से अनेकों ने उसको 'यहूदियों का राजा' कहकर पुकारा। इस पर कुछ कुलीन यहूदियों ने बुरा माना और ईसा से कहा कि वह अपने अनुयायियों को ऐसा कहने से मना करे। ईसा ने उत्तर में कहा, "यदि ये चुप हो जायँगे, तो सड़क का एक-एक रोड़ा पुकार उठेगा।" इस उत्सव पर यरूशलीम में बड़ी भारी भीड़ थी। आगन्तुकों में बहुत उत्साह रहा। इसके बाद वह फिर बैथनी चला गया।

इस विजय-प्रवेश से यहूदियों में बहुत जोश फैला। वे क्रोध से अधीर हो उठे। काइआफ़ा के घर पर फिर सभा हुई और निश्चय हुआ कि ईसा को बन्दी बनाया जाय। काम गुपचुप होकर किया जाय। पुरोहितों के गुमाश्तों ने ईसा के शिष्यों में से जूडास को फोड़ लिया।

बन्दी बनाये जाने से पहले ईसा ने अपने सब शिष्यों के साथ ब्यालू किया और उस अवसर पर अपने शिष्यों से गम्भीरतापूर्वक कहा—"तुममें से एक मेरे साथ दग़ा करेगा।" सब शिष्य एक दूसरे का मुँह ताकने लगे। उनकी समझ में न आया कि किस की ओर इशारा था। जूडास भी उपस्थित था। उसने साहस करके पूछा—"प्रभु, क्या आपका सन्देह मुझ पर है?"

ईसा के शिष्यों को ऐसा लगा, मानों कोई बड़ी भारी आफ़त आनेवाली है। जूडास को वह स्थान मालूम था, जहाँ ईसा प्रार्थना किया करता था। उसने पुरोहितों से कह दिया—"जिसका मैं चुम्बन लूँ उसी को तुम अपना बन्दी समझ लेना।" थोड़े-से रुपयों के प्रलोभन में पड़कर जूडास ने अपने को सदैव के लिए घृणा का पात्र बना लिया। जब पुरोहित जूडास को लेकर ईसा के पास पहुँचे, ईसा के सब शिष्य भाग खड़े हुए और ईसा बिना किसी आपत्ति के बन्दी बना लिया गया।

पाइलेट ने बाध्य होकर ईसा को पुरोहितों के सुपुर्द कर दिया। ईसा क्रूस पर चढ़ा दिया गया। क्रूस पर चढ़े हुए ईसा के मुख से ये अमर शब्द निकले थे—"परम-पिता, इनको क्षमा कर। ये नहीं समझते कि क्या कर रहे हैं!" उसके साथ दो प्राणियों को और सूली मिली। दफ़नाने के तीसरे दिन ईसा की क़ब्र सूनी मिली। कहते हैं, वह पुनर्जीवित हो गया था।

ईसा भी एक मनुष्य था, जैसे हम और आप हैं। परन्तु हम में और ईसा में एक महान् अन्तर था। वह अपने को जानता और समझता था और हम ऐसा न समझते हैं, न जानते हैं। काश कि हम भी उसकी तरह अपने को समझ पाते।

क्रिस्टॉफ़र कोलम्बस और नई दुनिया की खोज

साहसपूर्ण खोज की एक ओजपूर्ण कहानी

लगभग साढ़े चार सौ वर्ष पहले की बात है। उस समय, जब प्रायः अन्य सभी देश या तो अज्ञान के अंधकार में डूबे हुए जंगली जीवन व्यतीत कर रहे थे, या अपनी ही आंतरिक व्यथाओं अथवा विलासिता के कारण संसार की सुध बुध खो बैठे थे, योरप के दूरदर्शी निवासी समुद्रयात्रा, अन्वेषण, व्यापार, धर्मप्रचार, उपनिवेशन और साम्राज्य स्थापना के महत्त्व को खूब पहचान चुके थे। अपनी महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति करने के लिए उन्होंने आवश्यक साधनों को भी आविष्कृत कर लिया था। तेरहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में मार्को पोलो की एशिया और सुदूर पूर्व की स्थल-यात्राओं ने, तथा पंद्रहवीं शताब्दी में राजकुमार हेनरी के अफ्रीका-संबंधी अन्वेषणों और बर्थलोमियु डियाज़ के अफ्रीका के चारों के ओर के जल-भ्रमणों ने योरप-निवासियों का ध्यान संसार की ओर जागृत कर दिया था। लेकिन योरपवालों का यह संसार अभी वास्तविक संसार से कहीं भिन्न था। वे समझते थे कि सारा भूतल तीन बड़े-बड़े स्थल-खंडों—योरप, अफ्रीका और एशिया—और अनेक अन्य छोटे-छोटे द्वीपों से ही बना हुआ है।

३ अगस्त, सन् १९४२, के दिन स्पेन के एक छोटे से बंदरगाह पैलॉस में एक व्यक्ति अपनी सामुद्रिक यात्रा के प्रबंध में व्यस्त था। वह व्यक्ति अपने पार्थिव जीवन के पूरे ५६ वर्ष व्यतीत कर चुका था, लेकिन तब भी नवयुवकों को भी लज्जित कर देनेवाले उत्साह एवं महत्त्वाकांक्षा से वह स्फुरित हो रहा था। लंबा शरीर, सुंदर व्यक्तित्व, चौड़ा मस्तक, विचारशील नेत्र, और मुख पर एक अदम्य संकल्प! तीन छोटे छोटे पुराने जलयान—'सांता मेरिया', 'पिन्ता' और 'नाइना'—उसकी यात्रा के लिए तैयार किये जा चुके थे। इनमें केवल सांता मेरिया में ही डेक लगे हुए थे, शेष दोनों अगले और पिछले भागों को छोड़कर खुले हुए थे। जो दर्शक इस यात्रा के साहसमय उद्देश्य से परिचित नहीं थे, उन्हें यह प्रतीत होता था कि ये नौकाएँ कदाचित् महाद्वीपों के किनारे-किनारे मछलियों के शिकार के लिए अथवा पड़ोस के देशों से व्यापार करने के लिए जानेवाली हैं। किंतु, जो उस व्यक्ति की प्रतिज्ञा से परिचित थे, वे यही समझते थे कि यह स्वयं भी डूबने और अपने साथियों को भी ले डूबने का प्रबंध कर रहा है!

क्रिस्टॉफ़र कोलंबस (१४४६—१५०६)

इस व्यक्ति का नाम था क्रिस्टॉफ़र कोलम्बस। इसका जन्म स्थान इटली का जिनोआ नगर था। उसके माता-पिता जुलाहे थे, किंतु चौदह वर्ष की अवस्था में ही उसे नाविक बनने का शौक़ पैदा हुआ और उसने मल्लाही की नौकरी कर ली। जब वह लगभग ३० वर्ष का प्रौढ़ अनुभवी व्यक्ति हुआ, तो उसने अपनी सबसे पहली जल-यात्रा भूमध्य-सागर के एजियन समुद्र में स्थित 'किओस' नामक टापू तक की। इस द्वीप में कुछ दिन रहने के पश्चात् उसने सुदूर पुर्तगाल, आइसलैंड तक

कीं और इस तरह सामुद्रिक यात्राओं में उसका शौक़ और साहस बढ़ता ही गया। लगभग ३३ वर्ष की अवस्था में वह पुर्तगाल आया और वहाँ उसने प्रसिद्ध नाविक राजकुमार हेनरी के एक कप्तान की एक लड़की से विवाह कर लिया। इस प्रकार उस कप्तान का बहुत-सा यात्रा-सम्बन्धी साहित्य उसके हाथ लगा, जिसका उसने ध्यानपूर्वक अध्ययन किया। मार्को पोलो की यात्रा-संबधी पुस्तक भी उसने पढ़ी और उसका समय भूगोल के अध्ययन और अनुभवी नाविकों से बातचीत करने में ही व्यतीत होने लगा। उसे विश्वास हो गया कि पृथ्वी गोल है, सारा भूखंड योरप, एशिया, अफ्रीका तथा अन्य छोटे-छोटे द्वीपों से ही बना है, और इन महाद्वीपों में एशिया सबसे बड़ा और बहुत दूर तक विस्तृत है। इस समय तक सभी यात्रियों ने पूर्व की ही ओर यात्रा की थी, लेकिन अटलांटिक महासागर में पश्चिम की ओर आगे बढ़ने का साहस अभी तक किसी ने न किया था। कोलम्बस ने सोचा कि यदि पृथ्वी गोल है और एशिया बहुत दूर पूर्व की ओर फैला हुआ है, तो अटलांटिक महासागर में पश्चिम की ओर यात्रा करने से भी एशिया मिल जाना चाहिए। उसने, स्पष्टतः, ऐसा अनुमान इसलिए किया था कि वह पृथ्वी को अपने वास्तविक आकार से बहुत छोटा समझता था और एशिया को बहुत बड़ा। उसकी धारणाएँ कुछ अन्य बातों से और भी दृढ़ हो गई थीं। उसने सुन रक्खा था कि मदीरा और एज़ोर द्वीपों के पास कुछ ऐसे वृक्षों तथा वृहदाकार बेंतों के तने बहकर आये हैं, जो एक अनजान देश के ही हो सकते हैं। इसके अलावा मनुष्यों द्वारा गढ़े हुए कुछ लकड़ी के टुकड़े भी अटलांटिक की धाराओं में बहते हुए पाये गये, और एक द्वीप के किनारे दो ऐसे मनुष्यों के शव आकर लगे, जो न योरप के हो सकते थे और न अफ्रीका के—उनके शरीर तथा मुख की आकृति योरप तथा अफ्रीका-निवासियों से सर्वथा भिन्न थी। इन समाचारों ने कोलम्बस की धारणाओं को और भी पुष्ट कर दिया और वह अटलांटिक महासागर में पश्चिम की ओर जलयात्रा करने के लिए उतावला हो उठा।

लेकिन, एक मामूली-सा व्यक्ति बिना पर्याप्त साधनों के इतनी बड़ी तथा साहसपूर्ण यात्रा कैसे कर सकता था? उसे जहाज़ों, सौ से अधिक मल्लाहों, खाने-पीने की सामग्री, धन तथा राज्य के संरक्षण की आवश्यकता थी। यह सब साधन कैसे जुटाए जायँ? कोलम्बस के समक्ष यह प्रश्न उपस्थित हुआ। उसने सबसे पहले पुर्तगाल के राजा जॉन द्वितीय के सामने अपना उद्देश्य प्रकट किया। बादशाह ने एक भूगोल-परिषद् के पास यह मामला विचारार्थ भेज दिया, लेकिन परिषद् कोलम्बस के विचारों से सहमत न हो सकी। तथापि बादशाह को कोलम्बस की धारणा कुछ जँच-सी गई और उसने कोलम्बस से छिपाकर एक गुप्त यात्रा की योजना की, किंतु यह यात्रा सफल न हो सकी। जब कोलम्बस को इस बात का पता चला, तो वह बड़ा ही व्यथित हुआ और उसने पुर्त्तगाल छोड़ देने का ही निश्चय कर लिया। सन् १४८४ में उसने चुपचाप लिस्बन छोड दिया और वह स्पेन आ गया। लगभग दो वर्ष स्पेन में रहने के बाद उसने अपना यात्रा-संबंधी प्रार्थनापत्र रानी आइसाबेला के पास भेजा। लेकिन उस समय राजा फर्डीनैंड और रानी आइसाबेला दोनों ही मूर लोगों को दक्षिण स्पेन से निकाल बाहर करने में जुटे हुए थे और उनसे युद्ध हो रहा था, अतएव कोलम्बस के प्रार्थनापत्र पर उचित ध्यान न दिया जा सका। लगभग छ वर्ष तक वह संरक्षण और सहायता की खोज में इधर-उधर भटकता रहा, लेकिन हर जगह उसे निराश होना पड़ा। उसने इंगलैंड के बादशाह सप्तम हेनरी को भी लिखा, लेकिन वहाँ से भी उसके प्रस्ताव अस्वीकृत होकर लौटे। इस बीच में उसके उत्साह को बनाये रखनेवाले कुछ नाविक और कुछ अन्य प्रभावशाली व्यक्ति ही थे, जिनसे उसने प्रगाढ़ मित्रता स्थापित कर ली थी। निदान जनवरी, सन् १४९२, में मूरों का प्रधान नगर ग्रेनाडा स्पेन के हाथों में आ गया और मूर लोग पराजित हुए। रानी आइसाबेला को अवकाश मिलने पर उसका ध्यान फिर कोलम्बस के उद्देश्यों की ओर आकर्षित किया गया और उसने कोलम्बस को सहायता देने के लिए निश्चय कर लिया। आइसाबेला और कोलम्बस में यात्रा-संबंधी समझौता हो गया, जिसके अनुसार रानी ने कोलम्बस की सारी आवश्यकताओं को पूरा करने का वचन दिया। साथ-ही-साथ उसे एड्मिरल की उपाधि दे दी गई और नवान्वेषित देशों के वायसराय का पद और उन देशों से प्राप्त धन का दशांश भी देने का वादा कर दिया गया। सबसे बड़ी कठिनाई कोलम्बस को साथियों के ढूँढ़ने में हुई। यहाँ तक कि जेल में पड़े-पड़े सड़नेवाले दंडित अपराधियों को इस शर्त पर छोड़ देने का वादा किया गया कि वे कोलम्बस के साथ चले जायँ, लेकिन वे भी राज़ी न हुए। बड़ी कठिनाइयों के बाद धन अथवा धमकी देकर १२० व्यक्ति इकट्ठे किये जा सके। 'साता मेरिया' नामक जहाज़ का प्रधान नाविक स्वयं कोलम्बस बना, 'पिन्ता' का मार्टिन

पिंज़न, और 'नाइना' का मार्टिन पिंज़न का भाई यानेज़ पिंज़न। पिंज़न-बन्धु पैलॉस के प्रसिद्ध नाविक थे। साता मेरिया १०० टन का जहाज़ था, पिन्ता ५० टन का और नाइना केवल ४० टन का था। बारह महीनों के लिए खाने पीने की सामग्री भर ली गई, और ३ अगस्त, १४९२, को ये नौकाएँ अज्ञात की ओर चल पड़ीं।

अनुकूल हवा के झकोरों ने तीनों जहाज़ों को कनारी द्वीपों तक पहुँचा दिया। पिन्ता का पतवार इस छोटी-सी यात्रा में ही टूट गया था। वह एक जगह से चूने भी लग गई थी और पानी अंदर आने लगा था। कोलम्बस ने इन द्वीपों में भरसक प्रयत्न किया कि वह पिन्ता को किसी दूसरी नौका से बदल ले, लेकिन उसका यत्न निष्फल हुआ। लगभग तीन सप्ताह वहाँ रुककर अंत में कोलम्बस ने पिन्ता को सँभाला।

अब तक जहाज़ कनारी द्वीपों के ही आस-पास तक प्रायः आया-जाया करते थे, उसके आगे पश्चिम की ओर क्या है, यह कोई भी नहीं जानता था। अब कोलम्बस अटलांटिक की अपरिचित तरंगों का भेदन करते हुए आगे बढ़ा। उसकी आशाएँ ही उसका निर्दिष्ट स्थान थीं, और सत्य और कर्म में अटल विश्वास ही उसे उनकी ओर खींचे लिये जा रहा था। कुछ ही देर में कनारी द्वीप दृष्टि से ओझल हो गये, लेकिन अब टेनरिफ़ द्वीप के अग्निपर्वत की गगनचुंबी ज्वालशिखा दीखने लगी थी। उसे देखकर कोलम्बस के भीरु हृदय और अस्थिर-चित्त साथी भयभीत हो गये। उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ, मानों उस अनजान देश में प्रवेश करते ही कोई वृहदाकार राक्षस आग उगलता हुआ उन्हें हड़प जाने के लिए उनकी ओर चल पड़ा हो! मल्लाह सहमकर शिथिल पड़ गये। कोलम्बस ने तीनों जलपोतों में जा-जाकर उन्हें समझाया कि ज्वालामुखी पर्वत क्या होता है और उसके मुख से आग क्यों निकलती है। इस प्रकार उसने उन्हें धैर्य दिया। कुछ ही देर में ज्वालशिखा भी क्षितिज से मिल गई और धीरे-धीरे उसमें विलीन हो गई। यह ज्वालशिखा ही उनकी दुनिया का अंतिम चिह्न थी, अतएव उसके अंतर्धान होते ही मल्लाह फिर भयत्रस्त और खिन्न हो गये। उन्हें ऐसा जान पड़ा, मानों वे किसी दूसरी ही दुनिया में प्रेतों की भाँति विचरण कर रहे हों। 'क्या हम अपने वास्तविक जीवनमय जगत् में जीते-जागते फिर लौट सकेंगे?' इस विचार ने मल्लाहों के हृदय को कँपा दिया। कोलम्बस ने उन्हें धैर्य दिया—'देखो, हम ऐसे देशों की ओर अग्रसर हो रहे हैं, जहाँ सुवर्ण के ढेर लगे हुए हैं, जिनके समुद्रतटों पर मोती बिखरे पड़े हैं, जिनके पर्वत बहुमूल्य रत्नों से झलमला रहे हैं, और जिनकी भूमि क़ीमती मसालों के पौधों से आच्छादित है। ऐसे ही देशों में कुछ ही समय बाद हमारे जलयान लगेंगे। वहाँ हम अपने देश का झंडा फहराएँगे।'

कोलंबस की यात्रा के पूर्व ज्ञात भूभाग।
वे भाग जो ज्ञात थे श्वेत रंग में दिखाये गये हैं।

मल्लाहों की आँखें एक सुखमय आशा से चमक उठीं, उन की नसों में एक नवीन शक्ति का संचार होने लगा। नावें अधिक तेजी से खेई जाने लगीं। वे योरप से सैकड़ों मील दूर पहुँच चुकी थी, लेकिन कोलम्बस इस दूरी के रहस्य को कभी न खोलता और यही कह दिया करता कि नावें योरप से कुछ ही दूरी पर हैं आगे बढ़ने में उत्तरपूर्वीय ट्रेड हवाएँ पूरी मदद दे रही थीं।

कुछ दूर और आगे बढ़कर (कनारी द्वीपों से लगभग ६०० मील की दूरी पर) कोलम्बस ने देखा कि उसकी मार्ग-प्रदर्शनी चुंबक की सुई इधर-उधर डोलने लग गई है। कोलम्बस स्वयं घबड़ा उठा, 'आख़िर, इसका कारण क्या हो सकता है? क्या वह ऐसे संसार में आ गया है, जहाँ चुम्बकीय सिद्धांत लागू नहीं होता?' लेकिन मल्लाहों को सांत्वना देने के लिए उसने चट एक बात बना ली—'संसार के इस भाग में कुछ नये नक्षत्रों के प्रभाव से सुई में यह विकार उत्पन्न हो गया है।'

दूसरे ही दिन (१८ सितम्बर को) ज... एक बगुला जाति का पक्षी और एक अन्य ५

दिखाई दिये। उन्हें देखकर सारे यात्री प्रसन्न हो गये। 'अवश्य ही आगे कुछ दूर पर स्थल होगा, नहीं तो ये पक्षी कहाँ से आ सकते थे ?' कुछ ही दूर आगे कुछ ऐसे वृक्ष तैरते हुए दिखाई दिये, जो स्थल के ही हो सकते थे, और कुछ अन्य पक्षी भी आकाश के एक ओर से दूसरी ओर उड़ते हुए चले गये। सारे यात्री आनंद से पुलकित हो उठे। नीला आकाश, टिमटिमाते हुए नक्षत्र, सुगंधित वायु और क्रीड़ा-मग्न जलचर उनके चित्त को लुभाने लगे। ''केवल नाइटिंगेल की ही कमी है,'' कोलम्बस बोल उठा।

लेकिन यह आनंद अस्थायी और आशाएँ स्वप्नमात्र प्रमाणित हुईं। दिन पर दिन बीतने लगे, लेकिन भूमि का कहीं पता न था। उत्तरपूर्वीय ट्रेड हवाएँ तीव्र गति से बह रही थीं और उन नौकाओं को न जाने कहाँ घसीटे लिये जा रही थीं। जब इतनी दूर आने पर भी कोलम्बस द्वारा प्रतिज्ञात देश न मिल सका, तो इन हवाओं के प्रतिकूल फिर अपने देश में पहुँचना तो असंभव ही हो जायगा !' बहुत-से मल्लाह कोलम्बस को पागल, सनकी, हठी आदि कहकर बड़बड़ाने लग गये—'एक मनुष्य के पागलपन के कारण १२० मनुष्य भूख और प्यास से तड़प-तड़प कर जान दे दें, यह कहाँ का न्याय है ?' मल्लाहों में विद्रोह बढ़ने लगा। लेकिन, उसी दिन संध्या समय पक्षियों का एक दल कलरव करता हुआ आकाश को पार कर गया। इनमें एक गोरैया भी थी, जो मनुष्य के घरों में ही अपना घोंसला बनाती है। 'अवश्य ही स्थल समीप होगा', नाविकों ने फिर सोचा। इसके साथ-ही साथ उन्होंने देखा कि सागर की नीलिमा एक हरीतिमा में परिणत होती जा रही है और सागरतल सामुद्रिक घास से अधिकाधिक आच्छादित होता चला जा रहा है। यह भी यात्रियों को स्थल के निकट होने का ही चिह्न जान पड़ा। किंतु आगे चलकर यह घास इतनी घनी हो गई कि बजरों का उसमें होकर निकलना भी कठिन हो गया। 'क्या यहीं पर उलझकर हमें अपने प्राण दे देना होगा'—कोलम्बस के कातर मल्लाह फिर बड़बड़ाने लगे। कोलम्बस स्वयं चकित था, लेकिन उसने अपने साथियों को समझाकर शांत किया। वास्तव में यह घास सागर की ही थी।

सारगोसा सागर को पार करने पर, जब घास से छुटकारा मिला, तो मल्लाहों की सहायक उत्तरपूर्वीय ट्रेड हवाएँ एकाएक बंद हो गईं। विषुवत् रेखा के सामीप्य के कारण हवाओं का शांत कटिबंध आ पहुँचा था, लेकिन स्थल का कोई चिह्न अवशेष न रह गया था। मल्लाहों में फिर बड़बड़ाहट शुरू हुई, 'बग़ैर हवाओं के कैसे किधर चला जाय ?' इतने में ही एक वृहदाकार ह्वेल समुद्र में उतराती हुई दृष्टिगोचर हुई। कोलम्बस के भीरु साथी फिर घबड़ा गए। उनका धैर्य अब प्रायः समाप्त हो चुका था और उसका स्थान कोलम्बस के प्रति उनके क्रोध ने ले लिया था।

'हम लोग इसकी बात नहीं मान सकते', एक बोला।

'मारो, फेंक दो इसे समुद्र में', कई चिल्ला उठे।

कोलम्बस सब सुन रहा था। धैर्यपूर्वक उसने सारे अपमान को सहा। व्यथित वह अवश्य था, लेकिन उसकी आशाएँ अब भी भंग न हुई थीं। 'स्थल तो मिलेगा ही', उसने नम्रतापूर्वक अपने साथियों को समझाया।

दिन अस्त होते-होते पिन्ता का कमांडर पिंजन चिल्ला उठा 'धरती, धरती !' मल्लाहों में हर्ष और खलबली मच गई और ईश्वर को धन्यवाद दिया जाने लगा। लेकिन दूसरे दिन सवेरा होने पर कोहरे के साथ-ही साथ पिंजन के दृष्टिभ्रम का भी लोप हो गया—स्थल का कहीं पता न था। असंतोष फिर बढ़ चला,—'न कहीं द्वीप और न देश, न सोना और न हीरा ! हम लोगों की बलि व्यर्थ ही दी जा रही है। धोखेबाज़, पापी, देशद्रोही कोलम्बस !' बहुत-से लोग बड़बड़ाने और फिर चिल्लाने लगे ; यहाँ तक कि कोलम्बस को मार डालने तक पर उतारू हो गए। किसी को समझाकर, किसी की खुशामद कर, किसी को डाटकर और किसी को धमकी देकर कोलम्बस ने अपने साथियों को कुछ शांत किया। 'ईश्वर के नाम पर मुझे तुम तीन दिन और दो। यदि इस बीच हम किनारे न लगें, तो तुम जो मन में आए करना', कोलम्बस ने कहा।

दूसरे दिन सूर्योदय के समय कुछ ताज़े उखड़े हुए पेड़, कुछ कुल्हाड़ी तथा अन्य यंत्रों से कटे हुए लकड़ी के टुकड़े एक अम्लान पुष्पों से लदी हुई डाली, तथा एक घोंसला जिसमें मादा चिड़िया अब भी बैठी हुई अपने अंडों को से रही थी, एक एक करके समुद्र की लहरों में बहते हुए पाए गए। दूसरे दिन (यानी ११ अक्टोबर, १४९२, को) निशीथ के अंधकार में निद्राहीन कोलम्बस की खोजती हुई तीव्र दृष्टि सहसा क्षितिज पर अग्निशिखा के एक क्षणिक प्रकाश पर पड़ी। उसने धीरे से अपने कुछ विश्वासपात्र साथियों से उस ओर इशारा करते हुए कहा—'कुछ देखा आपने ?' फिर एक प्रकाश दृष्टिगोचर हुआ और एक क्षण में अंतर्धान हो गया। प्रकाश था अवश्य, सबकी आँखों को धोका न हो सकता था ; लेकिन सब चुप रहे—कहीं यह भी धोका ही न सिद्ध हो। इतने में 'पिंता' ने, जो आगे-आगे खेती

हुई चली जा रही थी, एक बंदूक दागा। 'भूमि-भूमि' की आवाज़ गूंज उठी, हर्ष से कोलाहल मच गया।

कोलम्बस उस वेदना में तप चुका था और अब भी तप रहा था, जिससे महान् सत्यों का जन्म होता है। यही सत्य, जो कि अब तक आशाओं के रूप में था, मनुष्य के समक्ष अब प्रत्यक्ष होने जा रहा था। भाँति-भाँति की अपरिचित सुगंधियाँ स्थल की ओर से आकर यात्रियों को आनंदित करने लगीं। १२ अक्टोबर की पौ फटने पर सागर-तरंगों से परिवेष्टित एक द्वीप का आकार दृष्टिगोचर होने लगा। और आगे बढ़ने पर किनारे की पीली बालू स्पष्टतः दिखाई पड़ने लगी। फिर हरी-भरी भूमि दृष्टिगोचर हुई और आगे पहाड़ियों के ढालों पर लगे हुए सुंदर विशाल वृक्ष और पहाड़ियों के शिखर दिखाई देने लगे। बीच-बीच में लकड़ी और पत्तों के बने घर उनमें से उठाता हुआ धुआँ, और फिर निकट पहुँचने पर नग्न अथवा अर्द्धनग्न पुरुष, स्त्रियाँ और बच्चे भी दिखाई देने लगे।

कोलबस का धैर्य अब टूटा। उसके नेत्रों से आँसू बह चले थे। वह व्यग्र हो उठा उस 'कुमारी' धरती पर पैर रखने, उस पर ईसाई धर्म और स्पेन का झंडा गाड़ देने के लिए। उसने सम्राट्-द्वारा प्रदत्त एड्मिरल और वायसराय के पद के अनुसार अपनी शाही पोशाक पहनली और तट की ओर बढ़ा। भूमि पर उतरते ही उसने घुटने टेके, धरती को चूमा और घास में अपना मुँह गड़ाकर फूट-फूटकर रोने लगा। ईश्वर को उसने भूरि-भूरि धन्यवाद दिए और ईसा के नाम पर उसने उस द्वीप का नाम 'सैन सल्वाडार' रख दिया।

कोलम्बस के साथी एक ओर हर्ष से उन्मत्त हो रहे थे, तो दूसरी ओर लज्जा से गड़े जा रहे थे। अभी दो ही दिन पहले उन्होंने अपने एड्मिरल को मार डालने, उसे समुद्र में फेंक देने तक का प्रायः निश्चय कर लिया था। पश्चात्ताप, क्षमायाचना और सम्मान के भावों से विचलित होकर वे उसके चरणों पर गिर पड़े।

उस द्वीप के नग्न ताम्रवर्ण निवासी यह सारा दृश्य देखकर भयभीत हो रहे थे। न उन्होंने ऐसी नौकाएँ देखी थीं, न ऐसे मनुष्य और न ऐसे चमकते हुए वस्त्र ही। उन्हें ऐसा मालूम पड़ा, मानो ये मनुष्य स्वर्गलोक से उतरकर पृथ्वी पर आये हों! पूजा और उपासना के भाव से आकर्षित होकर वे धीरे-धीरे सन्निकट आ गये। हाय रे

कोलंबस का यात्रा मार्ग और मुख्य नौका सांता मेरिया
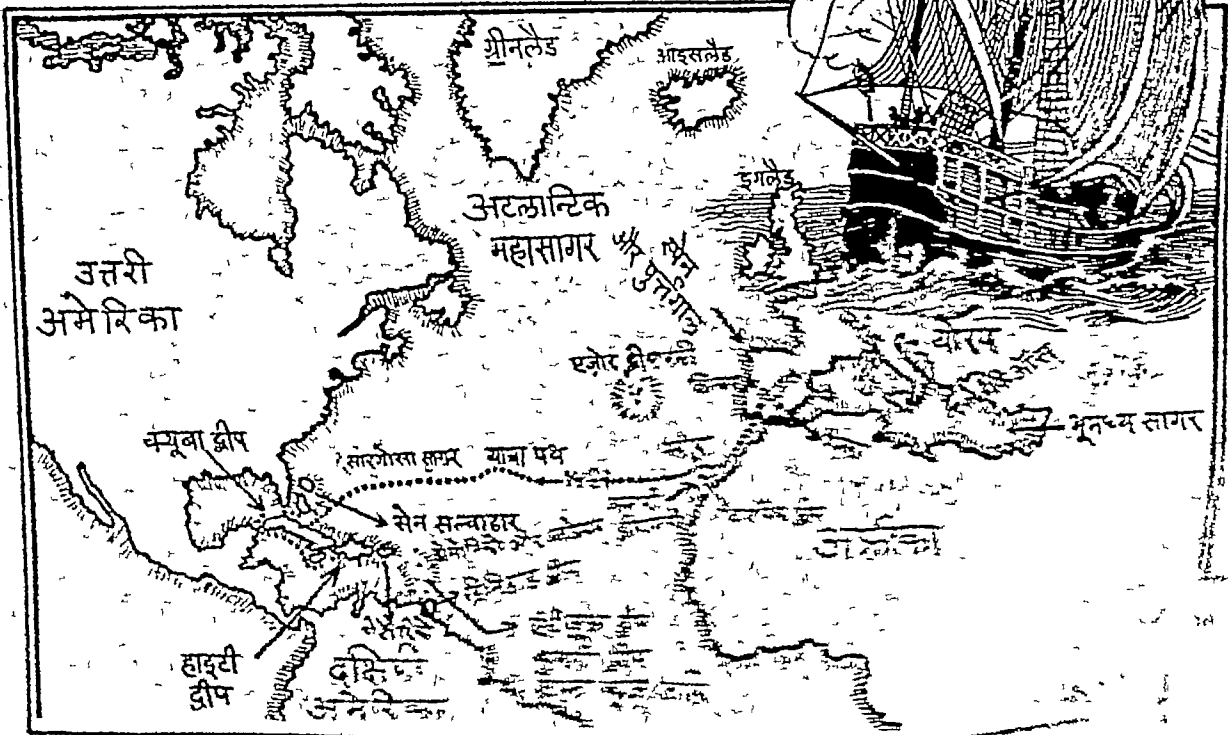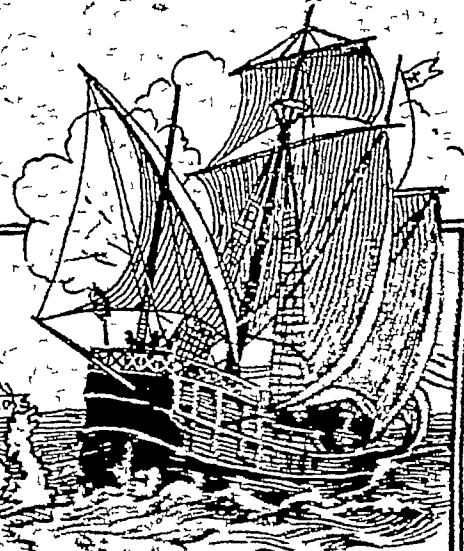
मूलनिवासी! तुम उस समय यह न समझ सके कि वे देवता न थे, तुम्हीं को जीवन-संग्राम में पराजित करने के लिए आये हुए ये तुम्हारे ही बंधु—मनुष्य ही—थे!

कोलम्बस समझता था कि वह एशिया के पूर्वीय द्वीपों में से एक में आ पहुँचा है। इसलिए उसने इन मूलनिवासियों को 'इंडियन' कहकर पुकारा। यद्यपि कोलम्बस का विचार ग़लत था तथापि बचे-खुचे मूलनिवासी इसी नाम से अब तक पुकारे जाते हैं।

सैन सैल्वेडर से चलकर सुवर्ण की खोज में घूमता हुआ कोलम्बस क्यूबा नामक द्वीप में पहुँचा। इस द्वीप को उसने जापान समझा। वहाँ उसने तम्बाकू और उसकी उपयोगिता से पहले-पहल परिचय प्राप्त किया। क्यूबा के किनारे-किनारे घूमते हुए और उसके प्राकृतिक सौन्दर्य की सराहना करते हुए वह दूसरे द्वीप 'हाइटी' में जा पहुँचा। इस द्वीप का नाम उसने 'हिस्पेनिओला' रक्खा। इस द्वीप के किनारे कोलम्बस का जहाज़ सांता मेरिया पानी में बैठ गया। अतएव उसने अपने ४४ साथियों को उस द्वीप में छोड़ दिया। सांता मेरिया से जो कुछ लकड़ी निकल सकी, उससे उसने उन मनुष्यों के रहने के लिए एक क़िला बनवा दिया। ४ जनवरी, सन् १४९३, को वह अन्य साथियों को लेकर स्पेन की ओर लौट चला। छोड़े हुए साथियों को उसने आश्वासन दिया कि वह शीघ्र ही लौटेगा और तब तक वे इस द्वीप के विषय में जितना ज्ञान प्राप्त कर सकें करें। बड़ी कठिनाइयों के बाद १३ मार्च को वह पैलॉस फिर पहुँच सका। अपने विजय चिह्नों को प्रदर्शित करने के लिए वह अपने साथ अन्वेषित प्रदेशों के कुछ विचित्र तोते, अन्य बहुतेरी वस्तुएँ तथा कुछ मूलनिवासी लाया था। प्रजा और राजा की ओर से उसका ख़ूब धूमधाम से स्वागत किया गया।

इसके पश्चात् कोलम्बस ने तीन यात्राएँ और कीं और इनमें उसने क्रमश: डोमिनिका, ग्वाडेलूप, ऐंटिगुआ, सांता क्रूज़, कुमारी (वर्जिन) द्वीपावली, पोर्टोरिको, जमैका, ट्रिनिडाड आदि अनेकानेक द्वीपों तथा दक्षिण अमेरिका की प्रधान भूमि का अन्वेषण किया। परन्तु कोलम्बस इनको एशिया के पूर्वीय द्वीपसमूह ही समझता रहा। कई वर्षों बाद कुछ अन्य यात्रियों ने, जिनमें एक अमेरिगो विस्पुकी था, अपने अन्वेषणों द्वारा यह सिद्ध किया कि जिसे कोलम्बस एशिया समझ रहा था, वह एशिया नहीं, किंतु अब तक के अज्ञात दो महान् महाद्वीप उत्तरी और दक्षिण अमेरिका हैं। इन महाद्वीपों का नाम अमेरिका कदाचित् 'अमेरिगो' के नाम पर ही पड़ा। कोलम्बस ने, वास्तव में, एक नई दुनिया को ढूढ़ निकाला था, और पृथ्वी का वह अर्द्धगोल, जिसमें अमेरिकाएँ स्थित हैं, अब भी नई दुनिया के नाम से पुकारा जाता है।

अपनी दूसरी यात्रा में कोलम्बस बहुत-से जहाज़ और १५०० मनुष्य ले गया था, इस आशा से कि वह उपनिवेशों की स्थापना करेगा। जब घूमता हुआ वह फिर हिस्पेनिओला पहुँचा तो उसने देखा कि वह लकड़ी का क़िला, जो उसने वहाँ अपनी पहली यात्रा में बनाया था, नष्टभ्रष्ट पड़ा है और उन छोड़े हुए ४४ मनुष्यों में से किसी का पता नहीं। वे कदाचित् आपस में ही अथवा मूलनिवासियों से लड़कर मर-खप चुके थे। तथापि उसने फिर अपने साथियों को उपनिवेशित करने की योजना की। किंतु जलवायु अनुकूल न होने के कारण उसके मनुष्यों में घोर असंतोष फैल गया। वे कोलम्बस के व्यवहार से भी संतुष्ट न थे, अतएव स्पेन की राजसभा में उसकी शिकायतों पर शिकायतें पहुँचने लगीं और उसे लौटना पड़ा। तीसरी यात्रा में कोलम्बस के विरुद्ध इतनी शिकायतें हुईं कि वह गिरफ़्तार कर लिया गया और हथकड़ियाँ पहनाकर स्पेन वापस लाया गया। रास्ते में जहाज़ के कप्तान ने उसकी हथकड़ियों को खोल देने के लिए कहा, किंतु कोलम्बस राजी न हुआ। उसने कहा—"मैं उन्हें तब तक पहने रहूगा, जब तक स्वयं राजा और रानी, जिनकी आज्ञा से मैं क़ैद हुआ हूँ, उन्हें न खुलवाएँ। यह हथकड़ियाँ मुझे राज्य के प्रति अपनी सेवाओं के पुरस्कार में मिली हैं, अतएव इस पुरस्कार के स्मारकस्वरूप मैं इन्हें सदैव अपने पास रक्खूँगा। ये मुझे इतनी प्यारी हैं कि मैं चाहता हूँ कि मेरे मरने पर ये मेरे ही शव के साथ गाड़ दी जायँ।" रानी आइसावेला ने, जो कोलम्बस को बहुत चाहती थी, जब सारी कहानी सुनी, तो उसकी आँखों से आँसू बहने लगे। उसने बहुत दुःख प्रकट किया और कोलम्बस के अपमान की पूर्ति यथासाध्य धन एवं सम्मान द्वारा की। कोलम्बस जब अपनी चौथी और अंतिम यात्रा से लौटा, वैसे ही उसकी संरक्षिका रानी आइसावेला का देहांत हो गया। जीवन के अंतिम वर्षों में निर्धनता और रोग के कारण उसने बड़ा कष्ट सहा और २० मई, सन् १५०६, को उसकी मृत्यु हो गई। जो कुछ भी हो, वह अपने जीवन में ऐसा कार्य कर गया, जिससे संसार के इतिहास में उसका नाम सदैव स्वर्णाक्षरों में अंकित रहेगा; उसकी कथा जब तक पृथ्वी पर मनुष्य हैं, कही जायगी।

विश्व की कहानी
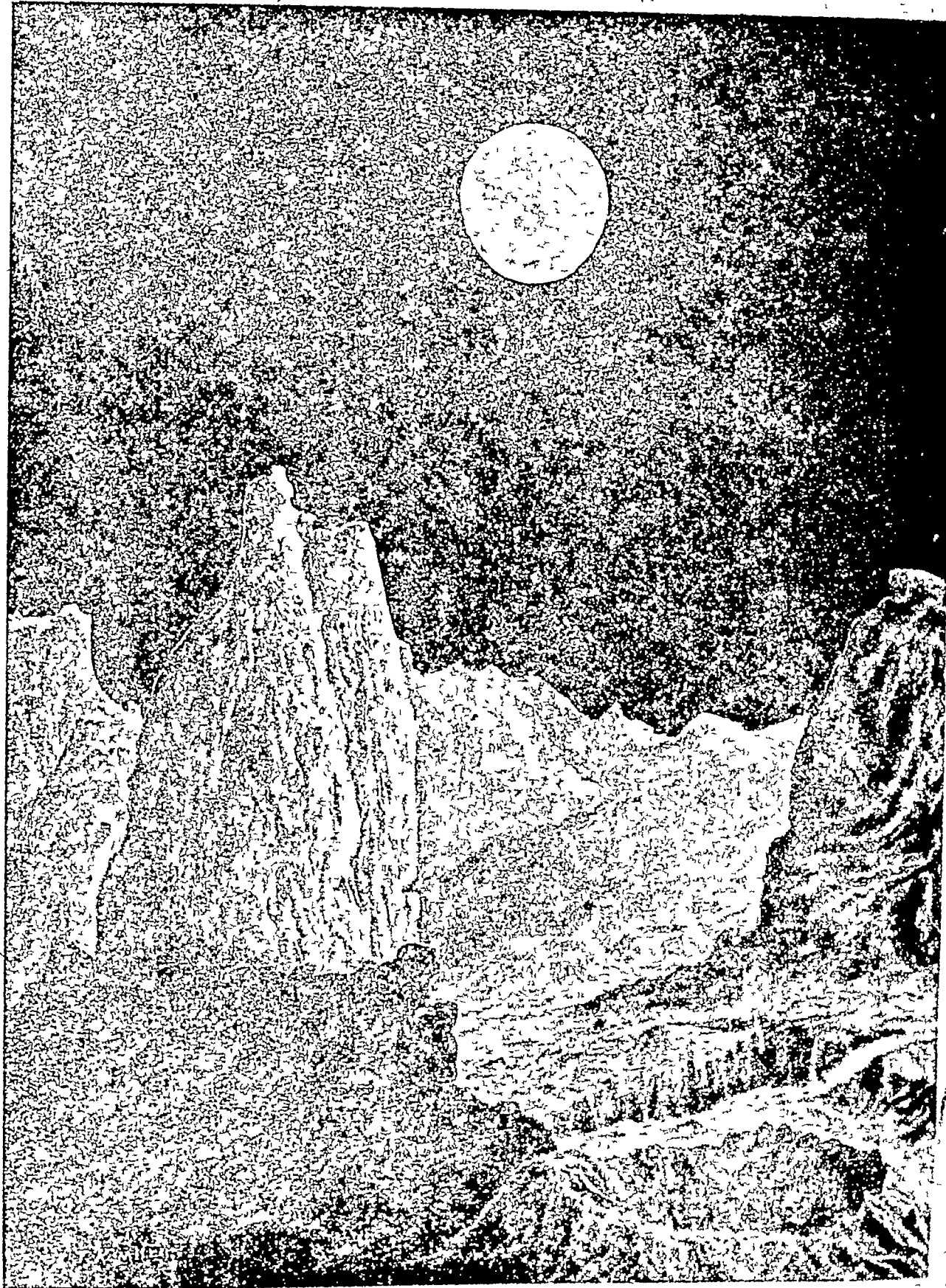
चन्द्रलोक के दृश्य की एक कल्पना

चंद्रमा पर ऐसे ही पर्वत, दरारें और ज्वालामुख फैले होंगे। पृथ्वी वहाँ से आकाश में ऐसे ही प्रकाशित पिण्ड के रूप में दिखाई देती होगी।

प्रशांत चंद्रमा

आकाशीय पिंडों में सूर्य के बाद हमारा ध्यान सबसे पहले चंद्रमा की ओर आकर्षित होता है, क्योंकि सूर्य के बाद वही हमें सबसे बड़ा और प्रकाशमय दिखाई देता है। आइए, इस लेख में देखें कि आधुनिक विज्ञान हमारे इस अद्भुत पड़ोसी के संबंध में क्या-क्या बातें बताता है।

जब से मनुष्य ने होश सँभाला है, तभी से वह आश्चर्य करता रहा है कि चंद्रमा क्या है। इसके अनुपम सौंदर्य से, शीतल प्रकाश से, वह आरंभ से ही इस पर मुग्ध हो गया था। कवियों ने अनेक प्रकार से चंद्रमा का गुण गाया है, परंतु ज्योतिषियों के लिए यह सदा ही पहेली-सा रहा है। क्यों यह घटता-बढ़ता है और क्यों इसमें कभी-कभी ग्रहण लगता है, इसका पता तो आज से दो हज़ार वर्ष के पहलेवाले ज्योतिषियों को भी लग गया था, परंतु इसमें जो काले-काले धब्बे दिखलाई पड़ते हैं, वे क्या हैं इसका पता तब तक भी न चला, जब तक दूरदर्शक यंत्र का आविष्कार नहीं हुआ। चंद्रमा की गति के संबंध में तो अभी तक भी खोज हो रही है। आज के ज्योतिषी भी ठीक-ठीक नहीं बतला पाते कि किस क्षण ग्रहण लगेगा—कुछ सेकंड का अंतर रह ही जाता है। अभी तक भी पक्का पता नहीं है कि चंद्रमा के पहाड़ों और ज्वालामुखों की उत्पत्ति कैसे हुई।

चंद्रमा की दूरी और आकार की तुलना

परंतु आधुनिक दूरदर्शक और गणित की सहायता से चंद्रमा के बारे में हम बहुत सी बातें निश्चित रूप से जानते हैं। हमें ठीक पता है कि चंद्रमा की दूरी, नाप, तौल आदि क्या हैं; वहाँ के पहाड़ों और गड्ढों की क्या आकृति है; वहाँ का तापक्रम, वायुमंडल आदि कैसा है। इन सब बातों में अब कोई दुविधा नहीं है।

दूरी आदि

समस्त आकाशीय पिंडों में से चंद्रमा ही हमारे सबसे निकट है। इसकी औसत दूरी ढाई लाख मील से कुछ कम है। आधुनिक हवाई जहाज़ों का वेग ३०० मील प्रति घंटा से भी अधिक होता है। यदि ऐसा जहाज़ शून्य में भी चल सकता, तो हम चंद्रमा तक महीने भर में पहुँच सकते। कुछ वैज्ञानिक ऐसे जहाज़ों को बनाने में लगे

हैं, जिनके चलने के लिए हवा की आवश्यकता न रहेगी। उनमें बारूद जलाया जायगा और जिस शक्ति के कारण आतिशबाज़ी की चरखी नाचती है, या बाण (Rocket) ऊपर भागता है, उसी शक्ति से सचालित होकर ये जहाज़ भी चंद्रमा या अन्य ग्रहों तक जा सकेंगे। अभी तक तो ऐसा जहाज़ वैज्ञानिकों का स्वप्न-मात्र है, परंतु यदि किसी दिन १००० मील प्रति घंटे के वेगवाला यह जहाज़ बन गया तो हम चंद्रमा पर केवल दस दिन में ही पहुँच जायँगे।

नाप में भी चंद्रमा अपेक्षाकृत बहुत छोटा है। इसका व्यास लगभग २१६० मील है। उनचास चंद्रमाओं को पिघलाकर एक गोला बनाने पर कहीं पृथ्वी के बराबर पिंड बन सकेगा। पृथ्वी के पत्थरों की अपेक्षा चंद्रमा के पत्थर हलके हैं। औसत अनुपात पाँच और तीन का है। इस प्रकार नाप के हिसाब से चंद्रमा को पृथ्वी की अपेक्षा जितना हलका होना चाहिए, वस्तुतः उससे वह कहीं अधिक हलका है। एक्यासी चंद्रमाओं को मिलाने पर ही पृथ्वी के समान भारी पिंड बन सकेगा। इसलिए वहाँ की गुरुत्वाकर्षण-शक्ति यहाँ की अपेक्षा बहुत कम होगी। जो वस्तु यहाँ तौल में एक मन जान पड़ती है, वह वहाँ पौने सात सेर की ही जान पड़ेगी।

सूर्य द्वारा प्रकाशित चंद्रमा का भाग पृथ्वी के मुक़ाबले में उसकी निरंतर बदलती स्थिति के कारण न्यूनाधिक मात्रा में दिखाई पड़ता है। इसी से चंद्रमा में कलाएँ होती हैं। इस चित्र में भीतरी चक्र में चंद्रमा के प्रकाशित भाग का वास्तविक रूप और बाहरी चक्र में उसी का पृथ्वी से दिखाई पड़नेवाला रूप दिखाया गया है।

चंद्रमा की पीठ किसी ने नहीं देखी है

पाठशाला में सभी ने पढ़ा होगा कि चंद्रमा स्वयं नहीं चमकता। इसके जिस भाग पर सूर्य का प्रकाश पड़ता है, वही हमको दिखलाई पड़ता है। यही कारण है कि चंद्रमा में कलाएँ दिखलाई पड़ती हैं, क्योंकि सूर्य का प्रकाश चंद्रमा के केवल आधे भाग को ही एक बार में प्रकाशित कर सकता है। जब हम पूरे प्रकाशित भाग को देखते हैं, तब पूर्णिमा होती है। जब अप्रकाशित भाग ही हमारी ओर रहता है, तब अमावस्या होती है। इसी प्रकार प्रकाशित और अप्रकाशित भागों के न्यूनाधिक मात्रा में दिखलाई पड़ने पर द्वितीया आदि कलाएँ दिखाई देती हैं।

परंतु बहुत कम लोगों ने ही इस पर ध्यान दिया होगा कि हम लोग चंद्रमा की पीठ नहीं देख पाते। चंद्रमा इस प्रकार घूमता है कि इसका एक ही भाग सदा हमारी ओर रहता है। चंद्रमा के उस ओर क्या होगा, इसका केवल अनुमान ही हम कर सकते हैं; परंतु कोई कारण नहीं ज्ञात है, जिससे कल्पना की जाय कि चंद्रमा की पीठ उसके मुख से किसी विशेष बात में भिन्न होगी। चंद्रमा पृथ्वी-प्रदक्षिणा करने में सदा एक ही वेग से नहीं चलता। यह कभी औसत से मंद वेग से और कभी तीव्र वेग से चलता है। इसके कारण चंद्रमा का कभी दाहिनी ओर का भाग, कभी बाईं ओर का भाग, हमें कुछ अधिक दिखलाई पड़ जाता है। इसी प्रकार चंद्रमा के घूमने का अक्ष उसके मार्ग के धरातल से समकोण नहीं बनाता। इसका परिणाम यह होता है कि कभी हमें चंद्रमा का उत्तरी भाग और कभी दक्षिणी भाग कुछ अधिक दिखलाई पड़ जाता है। इस प्रकार कुल मिलाकर चंद्रमा की पूरी सतह का ५९ प्रतिशत भाग कभी-न-कभी हमको दिखलाई पड़ जाता है।

दूरदर्शक से क्या दिखलाई पड़ता है?

गैलीलियो ने जब अपने नवीन दूरदर्शक से चंद्रमा को देखा, तो उसे तुरंत पता चल गया कि चंद्रमा में पहाड़ और गड्ढे हैं। परंतु उसे काले-काले सपाट भाग भी दिखलाई पड़े, जिनका वास्तविक स्वरूप वह न जान सका। उसने समझा कि ये समुद्र हैं और उसी हिसाब से उनका

चंद्रमा का एक फोटो (जनवरी ११, १९३८)

यह कैलिफ़ोर्निया के माउंट हैमिल्टन नामक स्थान पर स्थित प्रसिद्ध लिक वेधशाला द्वारा ३६ इंची शीशेवाले दूरदर्शक से लिया गया एक फ़ोटो है। यह शुक्ल पक्ष की एकादशी के चंद्रमा का चित्र है। दूरदर्शकों के कैमेरा में चंद्रमा का उल्टा चित्र आता है, अर्थात् उत्तरी ध्रुव नीचे और दक्षिणी ध्रुव ऊपर दिखाई देता है। यहाँ भी चित्र इसी ढंग से दिया गया है। स्थान-स्थान पर दिखाई दे रहे गोल-गोल गड्ढे ही चंद्रमा के ज्वालामुख हैं, जिनके मुख का व्यास सैकड़ों मील है। [फ़ोटो – 'लिक वेधशाला' की कृपा से प्राप्त।]
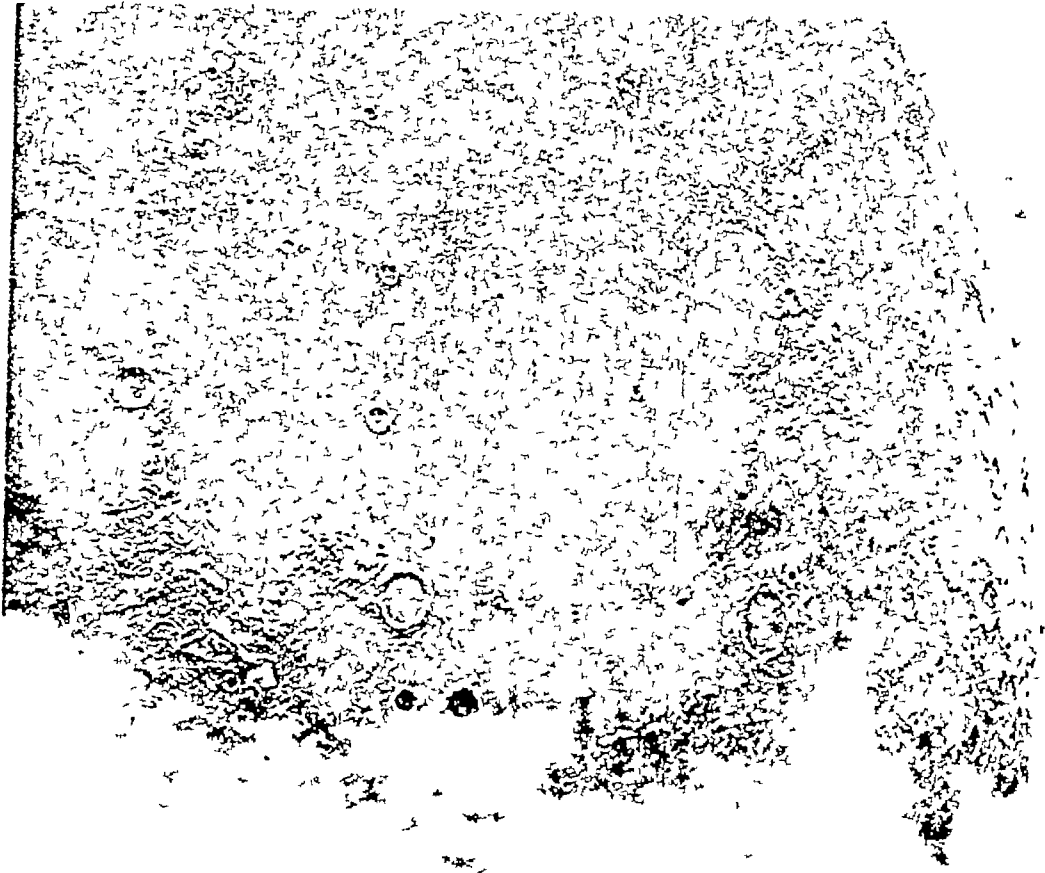
चंद्रमा—उत्तरी भाग का एक अंश (१५ सितंबर, १९१९)
(दोनों फोटो—'माउण्ट विल्सन वेधशाला' की कृपा से प्राप्त)
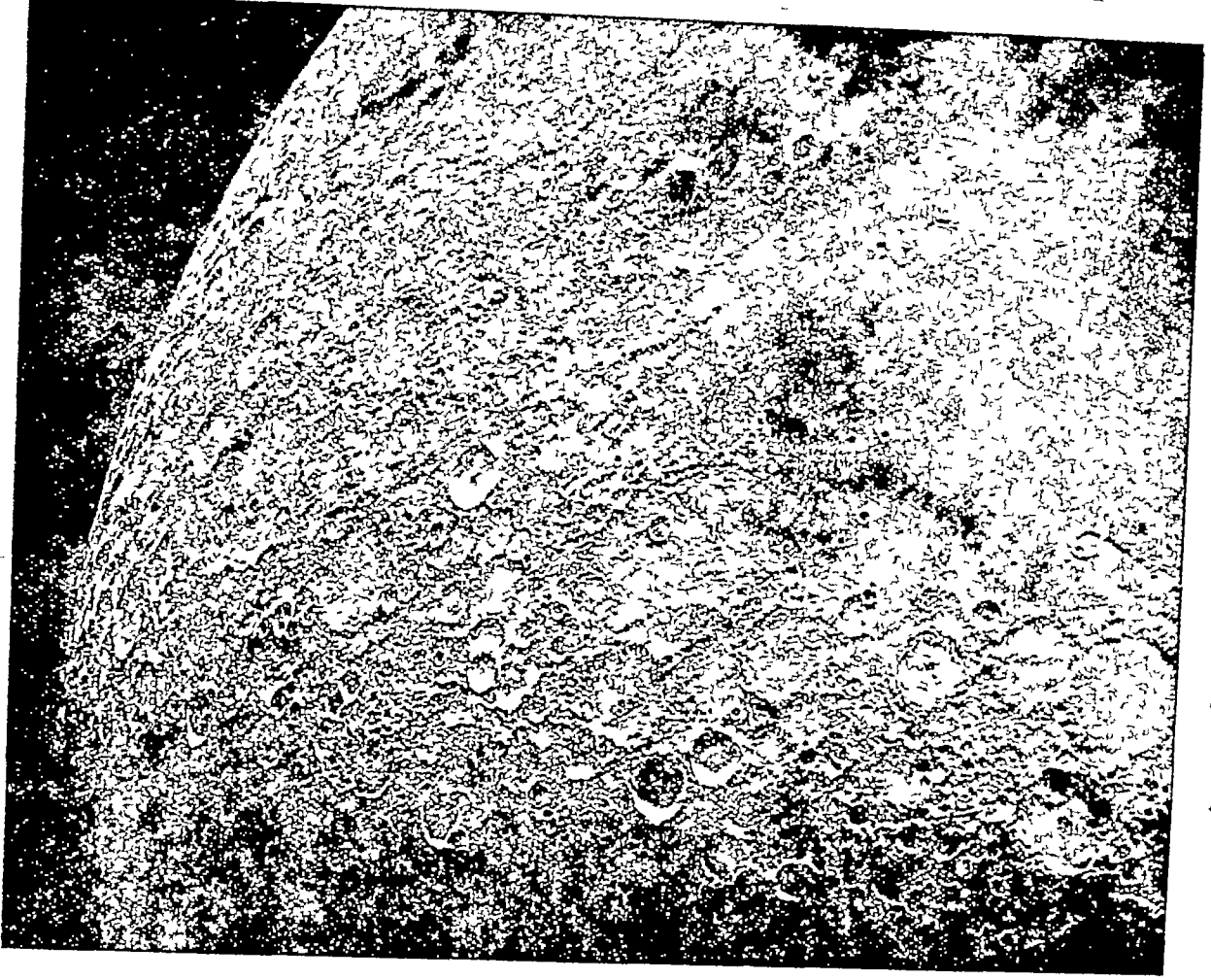
चंद्रमा—दक्षिणी भाग का एक अंश (१५ सितंबर, १९१९)

नाम भी रक्खा गया। ये काले भाग ही हमको कोरी आँख से चंद्र-कलंक के रूप में दिखलाई पड़ते हैं। परन्तु यद्यपि इनका नाम अब भी शांति-सागर, वर्षा-सागर, रस-सागर आदि पड़ा रह गया है, तो भी यह बात पक्की है कि ये समुद्र नहीं हैं। बड़े दूरदर्शकों से देखने पर इनमें कहीं-कहीं गड्ढे, कहीं-कहीं पहाड़ियाँ दिखलाई पड़ती हैं। इससे स्पष्ट है कि अवश्य ही ये बड़े-बड़े मैदान हैं। इसका निश्चय बड़े यंत्रों से लिये गये फोटोग्राफों को देखकर आप स्वयं कर सकते हैं।

यदि हम चंद्रमा पर पहुँच पाते तो हमें कैसा दृश्य दिखाई देता ?

यह चित्र केवल कल्पना के आधार पर बनाया गया है किन्तु अनुमान किया जाता है कि चंद्रमा की वीरान सतह पर ऐसे ही ऊबड़ खाबड़ पर्वत और भयावने ज्वालामुख फैले होंगे।

इन काले 'समुद्रों' को कोरी आँख से देखना हो तो सुबह या शाम को चंद्रमा को ध्यान से देखना चाहिए। ये तब बहुत ही स्पष्ट दिखलाई पड़ेंगे। नक़शे से तुलना करने पर तब आप प्रत्येक का नाम भी जान जायँगे।

दूरदर्शक से देखने पर चंद्रमा में चार तरह की चीज़ें दिखलाई पड़ती हैं—(१) 'मैदान', जिनको गैलीलियो ने समुद्र समझा था और जिनकी चर्चा ऊपर की गई है; (२) 'ज्वालामुख', जो पृथ्वी के ज्वालामुखी पहाड़ों के सदृश दिखलाई पड़ते हैं; (३) 'पहाड़', जो पृथ्वी के पहाड़ों के ही समान हैं; (४) 'दरार', जो पहाड़ या मैदानों के फट जाने से बनी हैं; और (५) 'चमकीली धारियाँ', जो कुछ ज्वालामुखों से निकलती हैं और मीलों लंबी होती हैं।

चन्द्रमा के छोटे आकार को देखते हुए वहाँ के पर्वतों की ऊँचाई अपेक्षाकृत बहुत अधिक है

(बाईं ओर के दो पर्वत पृथ्वी के और दाहिनी ओर के तीन पर्वत चंद्रमा के हैं।)
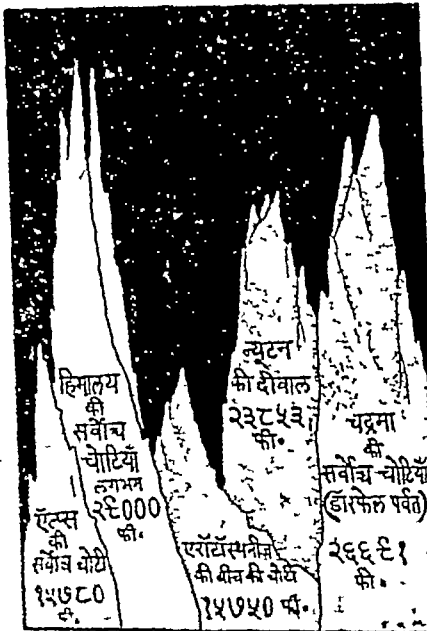
कोरी आँखों से देखने पर काले मैदान ही ध्यान को पहले आकर्षित करते हैं, परन्तु दूरदर्शक से देखने पर चंद्रमा के ज्वालामुख ही चद्रमा की विशेषता जान पड़ते हैं। प्रायः सर्वत्र ही ये छिटके हुए दिखलाई पड़ते हैं और ठीक चेचक के दाग़ की तरह गड्ढे जान पड़ते हैं। हाँ, यह अवश्य है कि ये छोटे-बड़े सभी नाप के दिखलाई पड़ते हैं। कुछ तो इतने छोटे हैं कि वे बड़े दूरदर्शक से भी मुश्किल से दिखलाई पड़ते हैं और कुछ इतने बड़े कि उनका व्यास १०० मील से भी अधिक होगा! इनकी आकृति फोटोग्राफों में भी स्पष्ट दिखलाई पड़ती है। ये थाली के आकार के होते हैं; यद्यपि अक्सर ये ठीक-ठीक गोल नहीं भी होते। बीच में मैदान-सा होता है और चारों ओर ऊबड़-खा ड़ दीवाल, जिसकी ऊँचाई फीट तक हो सकती है। बहुत-से ज्वाल बीच में एक चोटी भी दिखलाई पड़ती है

चन्द्रमा का नक़्शा

इस नक़्शे में सिरे की ओर चंद्रमा का दक्षिणी भाग और नीचे की ओर उत्तरी भाग है। इसका कारण यह है कि दूरदर्शक में प्रत्येक वस्तु उलटी दिखाई देती है।

से ज्वालामुखों में ऐसी चोटियाँ नहीं भी हैं, या उनका लेशमात्र ही है।

छोटे-बड़े सब मिलाकर ज्वालामुखों की संख्या ३०,००० से अधिक है।

चंद्रमा के पहाड़ रूप में पृथ्वी के ही पहाड़ों के समान हैं; परंतु चंद्रमा के छोटे आकार को ध्यान में रखते हुए यहाँ के पहाड़ों की ऊँचाई अपेक्षाकृत बहुत अधिक है। उदाहरणतः, वहाँ की सबसे ऊँची चोटी २७,००० फ़ीट ऊँची है, जो हिमालय के उच्चतम शिखर की ऊँचाई से ज़रा-सी ही कम है। चंद्रमा की सबसे बड़ी पर्वतमाला, जिसे 'अपेनाइन्स' नाम दिया गया है, चार सौ मील लम्बी है।

दरारों में से कई एक तो सैकड़ों मील लंबी हैं और पहाड़ और मैदान को चीरती निकल गई हैं। भिन्न भिन्न दिशाओं से धूप पड़ने पर इनके पार्श्वों की परछाइयाँ

शुक्ल पक्ष की अष्टमी का चंद्रमा

यह हमारे ही देश की कोदईकैनाल वेधशाला द्वारा लिया गया चंद्रमा का एक फ़ोटो है। प्रकाशित और अप्रकाशित भाग की संधि पर चेचक के दाग जैसे ज्वालामुखों के गड्ढे कितने सुंदर दिखाई दे रहे हैं! (फ़ोटो—कोदईकैनाल वेधशाला, दक्षिण भारत, की कृपा से प्राप्त।)

स्पष्ट बतलाती हैं कि ये दरार ही हैं, जो वहाँ की भूमि फट जाने के कारण बन गई हैं।

चमकीली धारियाँ अन्य बातों में तो दरारों की तरह ही हैं, परंतु उन्हें न गड्ढे कह सकते हैं और न उभरे हुए टीले। वे पास की ज़मीन से न ऊँची हैं और न नीची, क्योंकि उनकी परछाहीं नहीं पड़ती। इनकी उत्पत्ति अभी तक ठीक-ठीक नहीं मालूम है, परंतु कुछ ज्योतिषियों का मत है कि ये अत्यन्त प्राचीन काल में बनी होंगी, जब चंद्रमा का भीतरी भाग पिघली हुई दशा में था। उस समय ऊपर के कड़े भाग में दरारें फटी होंगी, जिनमें पिघला पदार्थ आकर जम गया होगा। संभवतः यह पदार्थ कुछ हलके रंग का रहा होगा, इसी से ये धारियाँ स्पष्ट रूप से अब भी दिखलाई पड़ती हैं। 'टाइको' नाम के ज्वालामुख से जो धारियाँ निकलती हैं, वे बहुत लंबी और स्पष्ट हैं। इनकी चौड़ाई आठ दस मील है। पूर्णिमा के लगभग ये धारियाँ बहुत अच्छी तरह दिखलाई पड़ती हैं।

नामकरण

चंद्रमा के पहाड़, पहाड़ियों, इत्यादि का नाम विचित्र ढंग से रक्खा गया है। गैलीलियो की बात सच्ची मानकर पुराने ज्योतिषियों ने काले मैदानों का नाम शांतिसागर, वर्षासागर, प्रशांतसागर, रससागर, संकटसागर, अमृतसागर आदि रख दिया। चंद्रमा के दस पर्वत-श्रेणियों में से अधिकांश के वे ही नाम रक्खे गये हैं, जो पृथ्वी के पर्वतों के हैं, जैसे अपेनाइन्स, ऐल्प्स, कॉकेशस इत्यादि। दो-चार पर्वतों को संसार के प्रसिद्ध ज्योतिषियों या गणितज्ञों का नाम दे दिया गया है, जैसे लाइबनिज़, डैलबर्ट, इत्यादि। ज्वालामुखों को प्राचीन और मध्य-कालीन ज्योतिषियों और दार्शनिकों का नाम दे दिया गया है, जैसे प्लेटो, आर्किमिदीज़, टाइको, कॉपर-निकस, केपलर, इत्यादि। सैकड़ों छोटे छोटे ज्वालामुखों को आधुनिक ज्योतिषियों का नाम दिया गया है। मालूम नहीं कि भविष्य के ज्योतिषियों को कहाँ स्थान मिलेगा।

चंद्रमा के नक़शे की सहायता से चंद्रमा के पहाड़-पहाड़ियों को पहचानने की चेष्टा करते समय ध्यान रखना चाहिए कि अधिकांश नक़शे सुविधा के लिए उलटे बनाये जाते हैं, क्योंकि ज्योतिषियों के दूरदर्शकों में चीज़ें उलटी दिखलाई पड़ती हैं। इस प्रकार नक़शे में चंद्रमा का दक्षिण भाग ऊपर रहता है। (आकाश में चंद्र-बिंब का वह बिंदु, जो ध्रुव के निकटतम रहता है, चंद्रमा का उत्तर बिंदु गिना जाता है।)

दूरदर्शक से देखने पर चंद्रमा अत्यंत सुंदर जान पड़ता है, विशेषकर द्वितीया, तृतीया या चतुर्थी का चंद्रमा। इसका वह भाग जो प्रकाशित और अप्रकाशित भाग की संधि पर रहता है, विशेष रूप से सुंदर जान पड़ता है; क्योंकि वहाँ प्रकाश तिरछी दिशा से आकर पड़ता है और इसलिए परछाइयाँ लंबी पड़ती हैं—ठीक उसी तरह जैसे संध्या समय या प्रातःकाल पृथ्वी पर। यदि कभी दूरदर्शक

से चंद्रमा को देखने का अवसर प्राप्त हो, तो अवश्य एक बार देखना चाहिए। वह सौंदर्य, जो दूरदर्शक में दिखलाई पड़ता है, चित्रों में आ ही नहीं सकता। दूरदर्शक में प्रकाशमय भाग अत्यन्त चमकीले, और छायावाले भाग कालिख से भी काले जान पड़ते हैं। इससे दृश्य बहुत ही सुंदर लगता है। साथ ही सब ब्योरे अत्यन्त तीक्ष्ण रूप से स्पष्ट दिखलाई पड़ते हैं। ज्वालामुखों की दीवारें और पहाड़ की चोटियाँ करकराती और कोरदार दिखलाई पड़ती हैं; और इस बात पर ध्यान देने से कि किधर से प्रकाश आ रहा है और किधर परछाहीं पड़ रही है, पहाड़ आदि स्पष्ट रूप से उभरे हुए और ज्वालामुख स्पष्ट गड्ढे-से जान पड़ते हैं। बहुत छोटे-से दूरदर्शक से भी ये बातें देखी जा सकती हैं।

चंद्रमा का वायुमंडल

अनुमान किया जाता है कि चद्रमा पर वायु या जल होगा ही नहीं; यदि होगा भी तो इतनी कम मात्रा में कि उसे नहीं के बराबर समझना चाहिए। इसका पता इस बात से चलता है कि जब चंद्रमा चलते-चलते आकाश में किसी तारे को ढक लेता है तो तारा एकाएक छिप जाता है। यदि वहाँ वायुमंडल होता तो तारे का प्रकाश धीरे-धीरे कम होता। वह पहले लाल और फीका पड़ जाता और तब मिटता। इसके अतिरिक्त वहाँ की परछाइयाँ अत्यत तीक्ष्ण और काली जान पड़ती हैं। यदि वहाँ वायुमडल होता तो प्रकाश के बिखरने के कारण परछाइयाँ मद पड़ जातीं। फिर अत्यत सूक्ष्म यत्रों से नापने पर पता चला है कि धूप में तपने पर वहाँ के पत्थरों का तापक्रम खौलते पानी से भी अधिक हो जाता है। धूप के हटने के एक घंटे के भीतर ही यह अत्यत ठंढा हो जाता है। रात्रि के मध्य में तो वहाँ इतनी ठंढक पड़ती होगी, जिसकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते। वहाँ का ताप-क्रम–१०० डिगरी सेंटीग्रेड हो जाता है। यह सब भी वहाँ वायुमंडल के न रहने का परिणाम है। हमारा वायुमंडल हमको कंबल की तरह बचाता है। यह धूप की प्रचडता को कम कर देता है और सूर्यास्त होने पर पृथ्वी की गरमी को बाहर नहीं जाने देता। परंतु चंद्रमा में वायुमंडल के न रहने से धूप अत्यंत प्रचंड होती होगी और फिर रात को बड़ी भयानक सरदी पड़ती होगी।

अनुमान किया जाता है कि चंद्रमा के कम आकर्षण के कारण वहाँ का वायुमंडल वहाँ पर टिका न रह सका होगा। प्रत्येक गैस में फैल जाने का स्वभाव होता है, क्योंकि गैस के कण एक-दूसरे से टकर खाया करते हैं और बराबर चलते रहते हैं। इसलिए या तो गैस किसी
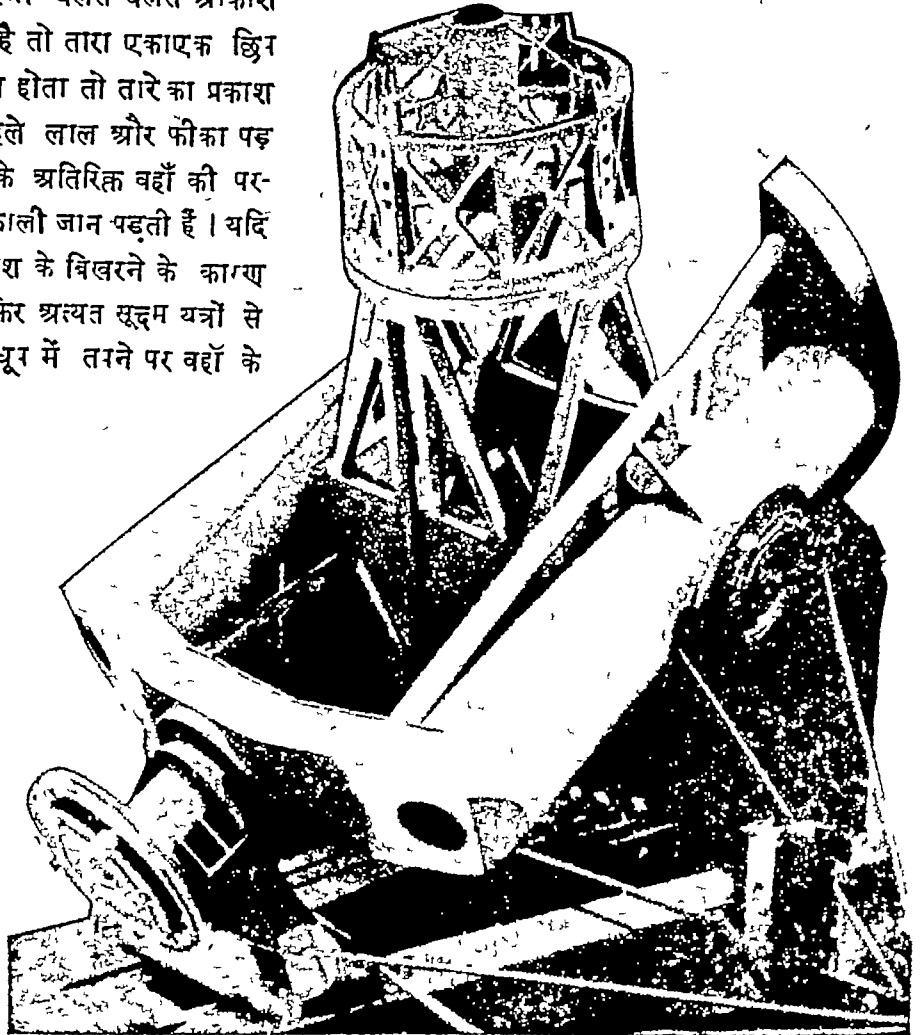
२०० इंच व्यास का संसार का सबसे बड़ा दूरदर्शक

जो अभी अमेरिका में तैयार हो रहा है। आशा की जाती है कि इस दिव्य चक्षु द्वारा ज्योतिषीगण अन्य आकाशीय पिण्डों के साथ-साथ चद्रमा के भी विशेष रहस्यों का उद्घाटन कर सकने में समर्थ होंगे। इससे चंद्रमा इतना स्पष्ट और बड़ा दिखाई देगा मानो वह पृथ्वी से केवल २५ मील की दूर पर ही स्थित हो!

चंद्रमा का उत्तरी मध्य भाग

यह फ़ोटो 'माउण्ट विल्सन वेधशाला' के १०० इंच व्यासवाले दूरदर्शक से १५ सितंबर, १९१९, को लिया गया था। कहीं-कहीं दिखाई दे रहे गोल-गोल-से गड्ढे-जैसे भाग ज्वालामुख हैं। [फ़ोटो—'माउण्ट विल्सन वेधशाला' की कृपा से प्राप्त।]
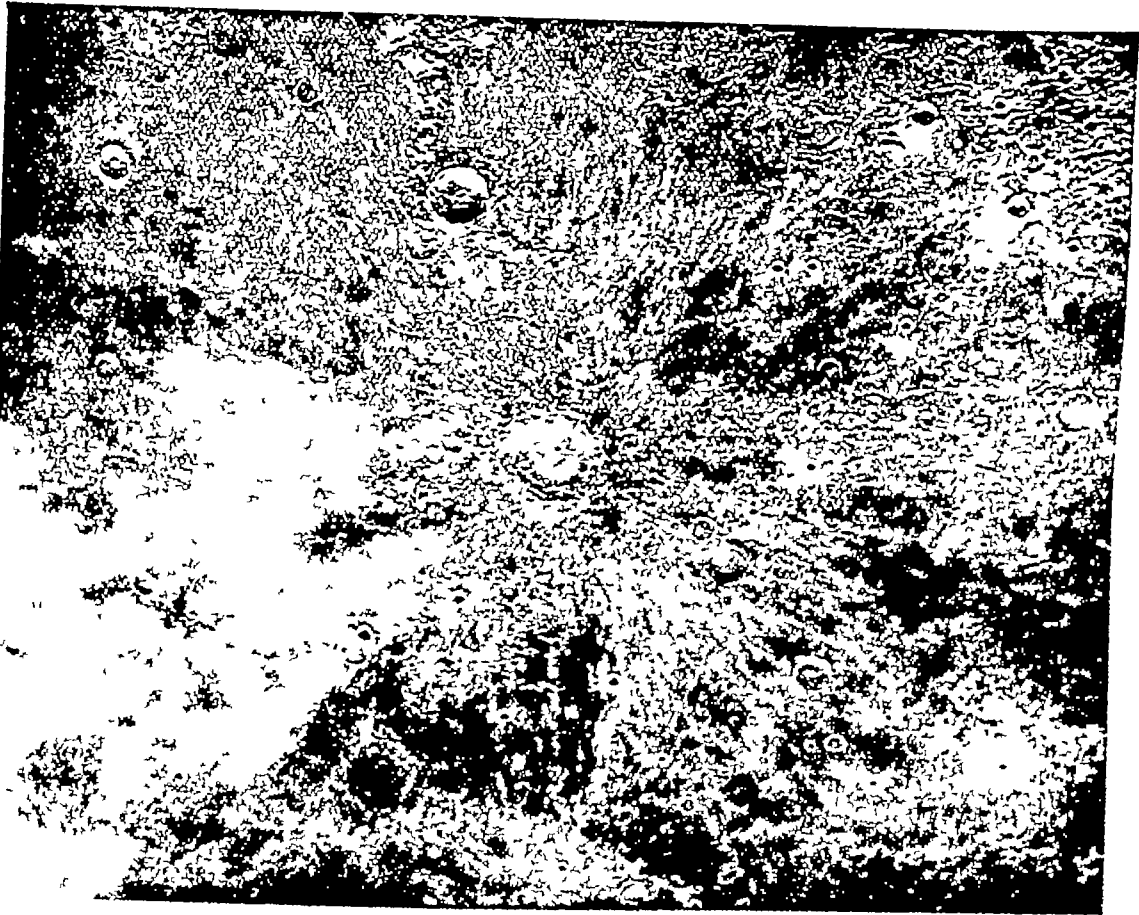
चंद्रमा—कॉपरनिकस के आसपास का प्रदेश (१५ सितंबर, १९१९)

यह भी माउण्ट विल्सन के १०० इंच वाले दूरदर्शक से लिया गया चित्र है।

[फोटो—'माउण्ट विल्सन वेधशाला' की कृपा से प्राप्त ।]

चंद्रमा—टाइको ज्वालामुख के आसपास का प्रदेश (२८ अक्टोबर, १९३७)

(फोटो—'लिक वेधशाला, कैलीफोर्निया', की कृपा से प्राप्त ।)

बंद बरतन में रक्खा रहे या इस पर किसी पिंड का पर्याप्त आकर्षण रहे, नहीं तो धीरे-धीरे गैस के परमाणु शून्य में विलीन हो जाएँगे।

क्या चंद्रलोक में पानी है ?

एक प्रसिद्ध आधुनिक ज्योतिषी का मत है कि अब भी चंद्रमा में कहीं-कहीं इतना पानी है कि वहाँ काई या इसी प्रकार की कोई अन्य वनस्पति उग सके, क्योंकि बहुत ध्यान से चंद्रमा को बड़े दूरदर्शक से देखते रहने पर कहीं-कहीं रंग बदलता-सा जान पड़ता है। इस ज्योतिषी का कहना है कि इन स्थानों में वहाँ कुछ वनस्पतियाँ उत्पन्न होती हैं और १४ दिन के भीतर ही वे पनपती हैं, बढ़ती हैं, और मर जाती हैं। सूर्य की गर्मी पाने पर ये क्रियाएँ आरंभ होती हैं। सूर्यास्त होने पर, जब सब पानी जम जाता होगा, ये पौधे मर जाते होंगे। ये सब बातें इतनी सूक्ष्म हैं कि ठीक-ठीक पता नहीं चलता कि सच्ची बात क्या है। अन्य ज्योतिषियों का मत है कि रंग बदलने का भ्रम केवल भिन्न भिन्न दिशाओं से प्रकाश के पड़ने के कारण होता है।

इस समय एक २०० इंच व्यास का विशाल दूरदर्शक अमेरिका में बन रहा है। (देखिए पृष्ठ ५२६ का चित्र) इससे चंद्रमा इतना स्पष्ट और परिवर्द्धित दिखलाई पड़ेगा जैसे वह केवल २५ मील की दूरी पर ही हो। संभव है, जब भविष्य में इस प्रकार के अत्यंत बलवान् यंत्रों से सूक्ष्म रूप से चंद्रमा की जाँच की जायगी, तो बहुत-कुछ निश्चित रूप से पता चल सकेगा कि असल में बात क्या है।

ज्वालामुखों की उत्पत्ति

चंद्रमा के गोलाकार गड्ढों को 'ज्वालामुख' नाम इसलिए दे दिया गया है कि वे देखने में बहुत-कुछ ज्वालामुखी पहाड़ों के सदृश होते हैं। परंतु क्या इनका सम्बन्ध कभी ज्वालामुखी पर्वतों से रहा है ? इस समय तो अवश्य ही चंद्रमा में कोई ज्वालामुखी पहाड़ नहीं है। जब से चंद्रमा के अच्छे नक़्शे बनना संभव हुआ है, तब से वहाँ पर किसी भी प्रकार का परिवर्तन होते नहीं देखा गया है।

कुछ ज्योतिषियों का सिद्धांत है कि ये ज्वालामुख उस सुदूर भूतकाल में बने होंगे, जब चंद्रमा आज जैसा ठंढा नहीं था। उस समय चंद्रमा का केवल बाहरी खोल ठंढा हो पाया था। भीतरी भाग पिघला ही था। तब चंद्रमा में वास्तविक ज्वालामुखी पहाड़ थे। ज्यों-ज्यों ऊपरी खोल ठंढक के कारण सिकुड़ता गया, त्यों-त्यों भीतर का पिघला भाग ऊपर निकल पड़ा। कम आकर्षण-शक्ति के कारण वहाँ पिघला पदार्थ बहुत ऊँचे तक पहुँच सका। इसी से वहाँ ऊँचे-ऊँचे पहाड़ बन गये। पीछे थोड़ा-बहुत पिघला पदार्थ और निकला। इसी से ज्वालामुख बने। बाद में किसी किसी छेद में से कुछ पिघला पदार्थ और निकला। इनसे ज्वालामुखों के भीतर की चोटियाँ बन गईं।

परंतु कुछ ज्योतिषियों का अनुमान है कि ज्वालामुख उल्काओं के कारण बने हैं। पृथ्वी पर जब उल्कापिण्ड गिरता है तो हवा के कारण उसका वेग बहुत कम हो जाता है और वह बहुत-कुछ जल भी जाता है। परंतु चंद्रमा पर वायुमंडल के न रहने के कारण उल्काएँ भयानक वेग से आघात करती होंगी और इस प्रकार वहाँ ये ज्वालामुख बन गये होंगे। इस सिद्धांत में कई एक कठिनाइयाँ भी हैं, जैसे यह कि क्यों कहीं-कहीं ज्वालामुख एक पंक्ति में हैं

चंद्रमा का गुरुत्वाकर्षण

पृथ्वी पर मनुष्य ऊँचाई में ६ फ़ीट ८ इंच और लंबान में २६ फ़ीट २ इंच तक कूदने में सफल हुआ है। किन्तु चंद्रमा पर गुरुत्वाकर्षण शक्ति का खिंचाव इतना कम है कि यदि वहाँ हम पहुँचा दिये जायँ तो समवतः ऊँचाई में ४० फ़ीट और लंबान में १५७ फ़ीट तक कूद लेंगे।

चंद्रमा—कॉपरनिकस के आसपास का प्रदेश (१९ सितंबर, १९१६)

यह भी माउण्ट विल्सन के १०० इंच वाले दूरदर्शक से लिया गया चित्र है।

[फोटो—'माउण्ट विल्सन वेधशाला' की कृपा से प्राप्त।]

चंद्रमा—टाइको ज्वालामुख के आसपास का प्रदेश (२८ अक्टोबर, १९३७)

(फोटो—'लिक वेधशाला, केलीफोर्निया', की कृपा से प्राप्त।)

बंद बरतन में रक्खा रहे या इस पर किसी पिंड का पर्याप्त आकर्षण रहे, नहीं तो धीरे-धीरे गैस के परमाणु शून्य में विलीन हो जाएँगे।

क्या चंद्रलोक में पानी है?

एक प्रसिद्ध आधुनिक ज्योतिषी का मत है कि अब भी चंद्रमा में कहीं-कहीं इतना पानी है कि वहाँ काई या इसी प्रकार की कोई अन्य वनस्पति उग सके, क्योंकि बहुत ध्यान से चंद्रमा को बड़े दूरदर्शक से देखते रहने पर कहीं-कहीं रंग बदलता-सा जान पड़ता है। इस ज्योतिषी का कहना है कि इन स्थानों में वहाँ कुछ वनस्पतियाँ उत्पन्न होती हैं और १४ दिन के भीतर ही वे पनपती हैं, बढ़ती हैं, और मर जाती हैं। सूर्य की गर्मी पाने पर ये क्रियाएँ आरंभ होती हैं। सूर्यास्त होने पर, जब सब पानी जम जाता होगा, ये पौधे मर जाते होंगे। ये सब बातें इतनी सूक्ष्म हैं कि ठीक-ठीक पता नहीं चलता कि सच्ची बात क्या है। अन्य ज्योतिषियों का मत है कि रंग बदलने का भ्रम केवल भिन्न भिन्न दिशाओं से प्रकाश के पड़ने के कारण होता है।

इस समय एक २०० इंच व्यास का विशाल दूरदर्शक अमेरिका में बन रहा है। (देखिए पृष्ठ ५२६ का चित्र) इससे चंद्रमा इतना स्पष्ट और परिवर्द्धित दिखलाई पड़ेगा जैसे वह केवल २५ मील की दूरी पर ही हो। संभव है, जब भविष्य में इस प्रकार के अत्यंत बलवान् यंत्रों से सूक्ष्म रूप से चंद्रमा की जाँच की जायगी, तो बहुत-कुछ निश्चित रूप से पता चल सकेगा कि असल में बात क्या है।

ज्वालामुखों की उत्पत्ति

चंद्रमा के गोलाकार गड्ढों को 'ज्वालामुख' नाम इसलिए दे दिया गया है कि वे देखने में बहुत-कुछ ज्वालामुखी पहाड़ों के सदृश होते हैं। परंतु क्या इनका सम्बन्ध कभी ज्वालामुखी पर्वतों से रहा है? इस समय तो अवश्य ही चंद्रमा में कोई ज्वालामुखी पहाड़ नहीं हैं। जब से चंद्रमा के अच्छे नक़्शे बनना संभव हुआ है, तब से वहाँ पर किसी भी प्रकार का परिवर्तन होते नहीं देखा गया है।

कुछ ज्योतिषियों का सिद्धांत है कि ये ज्वालामुख उस सुदूर भूतकाल में बने होंगे, जब चंद्रमा आज जैसा ठंढा नहीं था। उस समय चंद्रमा का केवल बाहरी खोल ठंढा हो पाया था। भीतरी भाग पिघला ही था। तब चंद्रमा में वास्तविक ज्वालामुखी पहाड़ थे। ज्यों-ज्यों ऊपरी खोल ठंढक के कारण सिकुड़ता गया, त्यों-त्यों भीतर का पिघला भाग ऊपर निकल पड़ा। कम आकर्षण-शक्ति के कारण वहाँ पिघला पदार्थ बहुत ऊँचे तक पहुँच सका। इसी से वहाँ ऊँचे-ऊँचे पहाड़ बन गये। पीछे थोड़ा-बहुत पिघला पदार्थ और निकला। इसी से ज्वालामुख बने। बाद में किसी किसी छेद में से कुछ पिघला पदार्थ और निकला। इनसे ज्वालामुखों के भीतर की चोटियाँ बन गईं।

परंतु कुछ ज्योतिषियों का अनुमान है कि ज्वालामुख उल्काओं के कारण बने हैं। पृथ्वी पर जब उल्कापिण्ड गिरता है तो हवा के कारण उसका वेग बहुत कम हो जाता है और वह बहुत-कुछ जल भी जाता है। परंतु चंद्रमा पर वायुमंडल के न रहने के कारण उल्काएँ भयानक वेग से आघात करती होंगी और इस प्रकार वहाँ ये ज्वालामुख बन गये होंगे। इस सिद्धांत में कई एक कठिनाइयाँ भी हैं, जैसे यह कि क्यों कहीं-कहीं ज्वालामुख एक पंक्ति में हैं

चंद्रमा का गुरुत्वाकर्षण

पृथ्वी पर मनुष्य ऊँचाई में ६ फ़ीट ८ इंच और लंबान में २६ फ़ीट २ इंच तक कूदने में सफल हुआ है। किन्तु चंद्रमा पर गुरुत्वाकर्षण शक्ति का खिंचाव इतना कम है कि यदि वहाँ हम पहुँचा दिये जायँ तो संभवतः ऊँचाई में ४० फ़ीट और लंबान में १५७ फ़ीट तक कूद लेंगे।

या अब क्यों नहीं नवीन ज्वालामुख बनते; परंतु इतना तो मानना पड़ेगा कि गाढ़े कीचड़ में ढेला फेंकने से या लोहे की चादर पर गोली मारने से जो गड्ढे बनते हैं, वे ठीक वैसी ही आकृति के होते हैं, जैसे चंद्रमा के ज्वालामुख।

चंद्रमा की सैर

हम चंद्रमा के बारे में आज दिन कई बातें इतनी अच्छी तरह से जानते हैं कि वहाँ के दृश्य की हम बहुत-कुछ सच्ची कल्पना कर सकते हैं। मान लीजिए कि बारूद से चलनेवाला वह हवाई जहाज़ या रॉकेट, जिसकी चर्चा पहले की गई थी, बन चुका है और हमें चंद्रमा पर पहुँचा देने के लिए तैयार है। खाने-पीने के सामान और गरम कपड़े के अतिरिक्त हमें अपने साथ गोताखोरों की तरह की वायु के लिए अभेद्य पोशाक और काफी आक्सिजन भी ले चलना होगा, जिसमें हम वहाँ साँस ले सकें और हवा के दबाव के अभाव में हमारी नसें फट न जायँ। इस पोशाक को हमें यहीं पहन लेना चाहिए, अन्यथा पृथ्वी से कुछ ही मीलों दूर निकलने पर वायु की कमी के कारण हम बेहोश हो जायँगे।

हमारा जहाज़ अब चंद्रयात्रा के लिए रवाना होता है। चंद्रमा हमें अब उत्तरोत्तर बड़ा दिखलाई पड़ रहा है। आज पाँचवाँ दिन है, चंद्रमा हमको दुगुना बड़ा दिखलाई पड़ रहा है। और यह क्या है? पृथ्वी! यह तो अति बृहत् चंद्रमा-सरीखी दिखलाई पड़ रही है। इसमें कलाएँ भी दिखलाई पड़ रही हैं। यह तो चंद्रमा से तेरह गुनी बड़ी जान पड़ती है। कैसा अनुपम दृश्य है! सूर्य अत्यन्त प्रचंड जान पड़ता है, परंतु आकाश इतना स्वच्छ है कि किसी भी वस्तु से सूर्य को आँखों के ओझल करते ही इसका रंगीन और अत्यन्त सुंदर मुकुट—कॉरोना—भी हमें दिखलाई पड़ रहा है। आकाश में तारे भी दिखलाई पड़ रहे हैं।

आज दसवाँ दिन है। हम चंद्रमा के पास पहुँच गये हैं। इसकी हम प्रदक्षिणा कर रहे हैं। पहाड़ बेतरह भयकर जान पड़ रहे हैं। ज़मीन बड़ी ऊबड़-खाबड़ है, पत्थर बड़े कोरदार हैं। जगह-जगह भयंकर दरारें हैं, जिनमें पड़ते ही हमारा जहाज़ पाताल पहुँच जायगा। लो, हमने पूरा चक्कर लगा लिया! यह काला मैदान फिर आ गया। यहाँ उतरने की सुविधा जान पड़ती है। हम उतर रहे हैं। परमेश्वर को धन्यवाद! हम सकुशल उतर तो सके!

इस मैदान में भी एक टीला दिखलाई पड़ रहा है। चलें, देखें कैसा है। परंतु यह क्या? हम लड़खड़ा क्यों रहे हैं? हमारे साथी मित्र इतनी लंबी छलाँगें कैसे मार रहे हैं! हिरन भी तो कभी इतनी छलाँगें नहीं मार सकता! अच्छा, यहाँ आकर्षण इतना कम जो है! हम भी खूब उछल सकते हैं। पृथ्वी पर हम मुश्किल से पाँच-छः फ़ीट ऊँचा उछल पाते थे। यहाँ तो हम ऊँचाई में ४० फ़ीट और लंबान में १५७ फ़ीट तक कूद सकते हैं!

मेरे मित्र गूँगे हो गये क्या? या हम ही बहरे हो गये? वे स्पष्ट रूप से मुझे बुलाते हुए जान पड़ते थे, परंतु उनकी बोली मुझे न सुनाई पड़ी! अब दूसरे साथी का ध्यान आकर्षित करने के लिए वह ताली बजा रहे हैं, परंतु कोई शब्द क्यों नहीं हो रहा है? अच्छा, अब समझ में आया, यहाँ वायु नहीं है। शब्द कहाँ से उत्पन्न हो! शब्द तो वायु की तरंगों के कारण उत्पन्न होता और आगे बढ़ता है। यहाँ तो शून्य ही शून्य है!!

धूप से कुछ ही मिनटों में हमारी पोशाक इतनी गरम हो गई कि हम जले जा रहे हैं। चलें, छाँह में बैठें।

हम बड़ी कठिनाई से एक ज्वालामुख के भीतर पहुँच पाये हैं। कैसा अनुपम दृश्य है! चारों ओर बीहड़ दीवारें हैं। एक ओर तेज़ धूप पड़ रही है। पत्थर धूप में चमक रहे हैं। दूसरी ओर दीवार की छाया पड़ रही है—एकदम काली! वहाँ खड़े होने से आकाश के तारे दिखलाई पड़ते हैं। साये में आते ही सरदी के मारे कँपकँपी लग रही है!

हम ज्वालामुख के बाहर किसी प्रकार निकल आ सके हैं। अब एक पहाड़ के पास खड़े हैं। कैसा आश्चर्यजनक दृश्य है! ऊँची-ऊँची, करकराती और पैनी चोटियाँ हैं। परंतु कहीं भी बर्फ़ या जल का नाम नहीं है।

आज ग्रहण का दिन है। सर्व सूर्यग्रहण है। पृथ्वी तो सूर्य से तेरह गुनी बड़ी दिखाई दे रही है। ग्रहण कई घंटे तक रहेगा। ग्रहण आरंभ हो गया है। परन्तु पूर्ण अंधकार नहीं हुआ है। रोशनी लाल हो गई है। पृथ्वी के चारों ओर लाल प्रकाश-मंडल अत्यंत सुंदर दिखलाई पड़ रहा है। यह लाल मंडल पृथ्वी का वायुमंडल है। इसीसे मुड़कर और बिखरकर प्रकाश लाल हो गया है और इसी के कारण यहाँ पूर्ण अंधकार नहीं होने पाया है।

लो, ग्रहण समाप्त हो गया! अब धूप और छाया फिर पूर्ववत् पड़ रही है।

सुंदर होते हुए भी कैसा भयंकर दृश्य है! न कहीं जल है, न कहीं वायु। न कहीं पशु हैं, न कहीं पक्षी। तृण तक नहीं है। एक शब्द भी नहीं सुनाई पड़ता। चंद्रलोक पूर्णतया प्रशांत है!
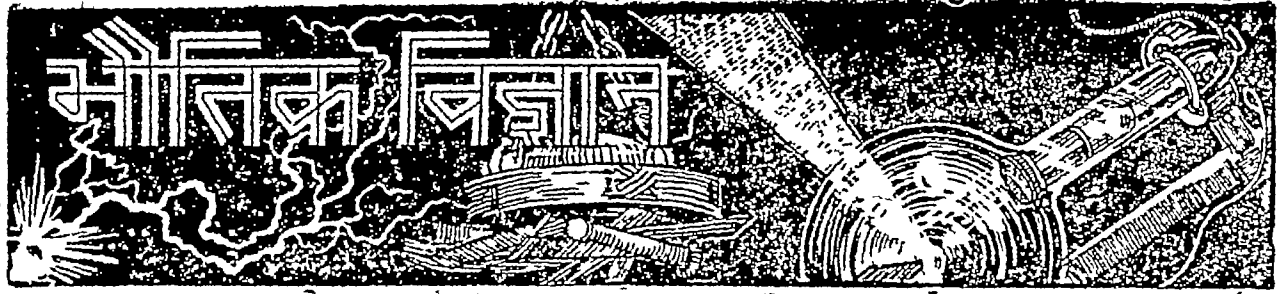
लीवर और पुली—यांत्रिक शक्ति की पहली सीढ़ी

पिछले प्रकरण में हम देख चुके हैं कि गति और शक्ति का घनिष्ठ संबंध है। इस शक्ति का यांत्रिक गति उत्पन्न करने में जब प्रयोग किया जाता है तो एक विशेष सिद्धान्त का अनुसरण किया जाता है। यह 'लीवर' का सिद्धान्त है, जिसका उपयोग हमारे साधारण से साधारण काम से लेकर बड़े-बड़े यंत्रों के संचालन में होता है।

हम अपने रोज़मर्रा के काम में यंत्रों का प्रयोग करते हैं। सभ्यता के आलोक के साथ मनुष्य ने तरह-तरह के औजारों और यंत्रों से काम लेना सीखा। किसान खेत खोदने के लिए फावड़े का प्रयोग करता है। और गोदाम में कपड़े की गाँठों को लोहे के डण्डे की मदद से एक स्थान से दूसरे स्थान को हटाते हैं। फावड़ा और लोहे का डण्डा ये दोनों यंत्र ही हैं। हमारे दैनिक व्यवहार में काम आनेवाली इन चीज़ों पर हमारा ध्यान बहुत कम जाता है। यंत्र शब्द का प्रयोग साधारणतः हम कारखानों के विशालकाय इंजिनों, खराद की कलों तथा बोझा उठानेवाले क्रेन के लिए करते हैं। किन्तु विज्ञान की भाषा में तो प्रत्येक शब्द के नियत अर्थ हुआ करते हैं। यंत्र शब्द से उन तमाम हथियारों या मशीनों का बोध होता है, जिनकी सहायता से एक बिन्दु पर हम शक्ति लगाकर दूसरे बिन्दु पर उस शक्ति का असर पैदा कर सकें। यंत्र की यह परिभाषा कितनी व्यापक है, इसका अन्दाज़ आपको इस बात से लग सकता है कि एक और बुद्धि को चकरा देनेवाली छापे की कलें यंत्र में शामिल हैं, तो दूसरी ओर साधारण लाठी भी, जिसके एक सिरे पर गठरी लटकाकर उसे अपने कन्धे पर रखकर देहाती चलता है, एक प्रकार की मशीन या यंत्र ही है।

मनुष्य तथा अन्य जीवधारियों में अन्तर भी यही है कि मनुष्य ने अपने हाथ-पाँव के अतिरिक्त मशीनों से भी काम लेना सीखा। इस तरह उसने अपनी शक्ति बेहद बढ़ा ली, किन्तु पशुओं की कार्यक्षमता उनकी शारीरिक शक्ति तक ही सीमित रही।

निस्सन्देह आज जिस ओर हम नज़र डालते हैं, हमें तरह-तरह के यंत्र दिखाई देते हैं, किन्तु यंत्रों का विकास हज़ारों वर्ष की लम्बी अवधि में क्रमशः हुआ है। प्राचीन काल में जब लोगों ने पहले पहल अपने लिए घर बनाना सीखा, तभी संसार की सर्वप्रथम मशीन का भी जन्म हुआ। वह मशीन थी लकड़ी का सीधा-सा डंडा, लकड़ी के भारी कुन्दे को एक स्थान से दूसरे स्थान को सरकाने के लिए डण्डे को ज़मीन पर टेक देते, और उससे कुन्दे को धकेलते। संसार की इस सर्वप्रथम मशीन को 'लीवर' के नाम से पुकारते हैं।
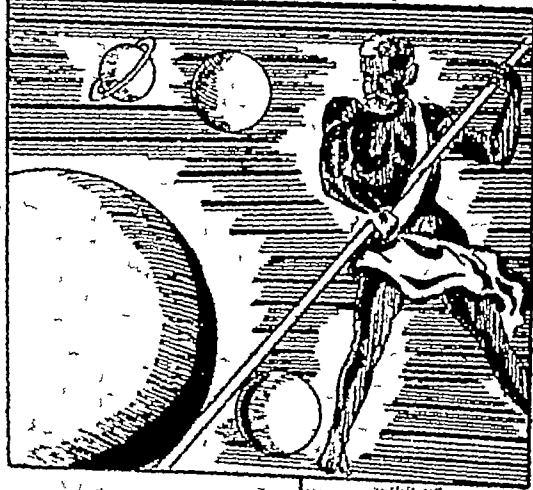
लीवर की महान् शक्ति

(ऊपर) एक डण्डे द्वारा पृथ्वी को घुमा देने की यूनानी दार्शनिक आर्किमिदीज़ की कल्पना (दे० पृ० ५३२ का मैटर)। (दाहिनी ओर) मनुष्य द्वारा लीवर का सबसे प्रथम प्रयोग।

लीवर मशीन का निम्न सिद्धान्त है। लीवर को किसी

विभिन्न जाति के लीवर और दैनिक जीवन में उनका प्रयोग

सख्त चीज़ पर रखते हैं, फिर उसका अगला सिरा बोझ में टिका देते हैं। अब ख़ाली सिरे पर ज़ोर लगाने से बोझ भी लीवर की मदद से उठ जाता है। अर्थात् लीवर की परिभाषा हम यों कर सकते हैं कि यह एक सख्त डण्डा है जो किसी ख़ास बिन्दु पर इस तरह टिका हुआ है कि वह उस बिन्दु के दोनों ओर घूम सकता है। इस बिन्दु को 'फल्क्रम' कहते हैं, और डण्डे के वे भाग, जो 'फल्क्रम' के दोनों ओर हैं, लीवर की 'भुजाएँ' कहलाती हैं।

लीवर के भिन्न भिन्न रूप हमें देखने को मिलते हैं। आपको जानकर आश्चर्य होगा कि आपके ताले की कुंजी, क़ैंची, सरौता, कुदाल सभी लीवरों के ही परिष्कृत रूप हैं। इन औज़ारों के एक सिरे पर हम ज़ोर लगाते हैं और दूसरी जगह पर उनका असर पहुँचता है। साधारण तराज़ू भी एक प्रकार का लीवर ही है। इसका फल्क्रम डण्डी के बीच में रहता है। डण्डी के दोनों सिरों पर जब बराबर वज़न रहता है तो डण्डी किसी ओर नहीं झुकती। एक सिरे पर का वज़न दूसरे सिरे पर के वज़न को सँभालता है। किन्तु आदिम मनुष्य लीवर की एक और ख़ूबी से भी वाक़िफ़ थे। यही गुण लीवर की उपयोगिता का प्रधान कारण भी है। उन लोगों ने देखा कि यदि लीवर की भुजाएँ लम्बाई में छोटी-बड़ी रक्खी जायँ तो लीवर का समतुलन क़ायम रखने के लिए हमें छोटी भुजा के सिरे पर अधिक शक्ति लगानी पड़ती है और बड़ी भुजा के सिरे पर कम शक्ति।

पार्क के अन्दर लड़कों के झूलने के लिए लकड़ी के झूले बने रहते हैं। इन झूलों में लकड़ी की शहतीर के बीच में एक कीली लगी रहती है। शहतीर इसी कीली पर नीचे-ऊपर झूलती है। एक ही उम्र के लड़के शहतीर के दोनों ओर कीली से बराबर दूरी पर बैठकर झूला झूलते हैं। किन्तु यदि एक लड़के का वज़न दूसरे लड़के से अधिक हुआ तो बड़ा लड़का शहतीर के फल्क्रम के समीप बैठता है और छोटा लड़का दूर। इस तरह वे दोनों झूले का समतुलन क़ायम रख सकते हैं।

लीवर का यह सिद्धान्त बड़े महत्त्व का है। लीवर की एक भुजा को लम्बी और दूसरी को छोटी रखकर बहुत भारी वज़न को भी थोड़ी-सी शक्ति लगाकर अपनी जगह से हटाया जा सकता है। भुजा जितनी लम्बी होगी, उतनी कम शक्ति हमें बोझा हटाने के लिए लगानी पड़ेगी। यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिक आर्कमिटीज़ ने एक बार यहाँ तक कह डाला था कि मुझे ख़ूब लम्बा लीवर दीजिए, और एक मजबूत टेक, जिस पर मैं लीवर की टेक रखूँ। बस, मैं

पृथ्वी को इस लीवर से डिगा दूंगा (दे० पृ० ५३१ का चित्र)।

लीवर की भुजा और उस पर लगाने के लिए अपेक्षित शक्ति, इन दोनों के परस्पर का सम्बन्ध निम्नलिखित नियम के अधीन है। यदि फल्क्रम के एक ओर की शक्ति और उसकी फल्क्रम से नापी गई दूरी का गुणनफल दूसरी ओर की शक्ति और उसकी फल्क्रम से नापी गई दूरी के गुणनफल के बराबर है तो लीवर संतुलित रहेगा।

साधारणतः लीवर का फल्क्रम बीच में रहता है और शक्ति तथा बोझ इस फल्क्रम के दोनों ओर रहते हैं। किन्तु फल्क्रम कभी-कभी लीवर के एकदम किनारे पर रहता है, और शक्ति तथा बोझ दोनों फल्क्रम के एक ही ओर रहते हैं। यह द्वितीय प्रकार का लीवर है। ऐसे लीवर में यदि बोझ फल्क्रम के नज़दीक हुआ और शक्ति दूर, तो कम शक्ति से भी भारी बोझ उठाया जा सकता है। किन्तु सदैव ऐसा नहीं होता। कभी-कभी शक्ति फल्क्रम के नज़दीक रहती है, और बोझ दूर। यह तीसरे क़िस्म का लीवर है। ऐसी दशा में हमें थोड़ा बोझ उठाने के लिए अधिक ज़ोर लगाना पड़ता है। किन्तु हर दशा में लीवर पर लगाई गई शक्ति और उसके फल्क्रम की दूरी का गुणनफल बोझ और उसके फल्क्रम की दूरी के गुणनफल के बराबर होता है। लीवर की लम्बी भुजा के छोर पर नन्हीं-सी शक्ति भी लगाने पर फल्क्रम के दूसरी ओर छोटी भुजा के छोर पर कई गुना अधिक शक्ति उत्पन्न होती है।

जिस समय किश्ती पर आप डाँड़ चलाते हैं आपका डाँड़ द्वितीय प्रकार के लीवर का काम देता है। डाँड़ का जो सिरा पानी में रहता है, वह लीवर का फल्क्रम है। नाव का बोझ डाँड़ के छल्ले पर है तथा आपका ज़ोर डाँड़ की मुठिया पर पड़ता है। चूँकि आप जिस जगह अपना जोर लगाते हैं वह फल्क्रम से छल्ले की अपेक्षा अधिक दूर है, अतः कम ज़ोर लगाकर ही आप नौका के भारी बोझ को पानी की सतह पर खींच लेते हैं।

किसी बड़े फाटक को खोलने के लिए यदि आप उसके कब्ज़े के पास खड़े होकर फाटक में धक्का दें, तो आपको बहुत ज़ोर लगाना पड़ेगा। यह फाटक यहाँ तीसरे क़िस्म के लीवर का काम दे रहा है। फाटक का गुरुत्वकेन्द्र, जहाँ उसका वज़न काम कर रहा है, कब्ज़े (फल्क्रम) से ज्यादा दूर है और आप जहाँ ज़ोर लगा रहे हैं वह कम दूर।

लीवर का ही परिष्कृत रूप पहियेवाली गड़ारी है। कुएँ

(दाहिनी ओर) दैनिक जीवन में पुली के सिद्धान्त का प्रयोग
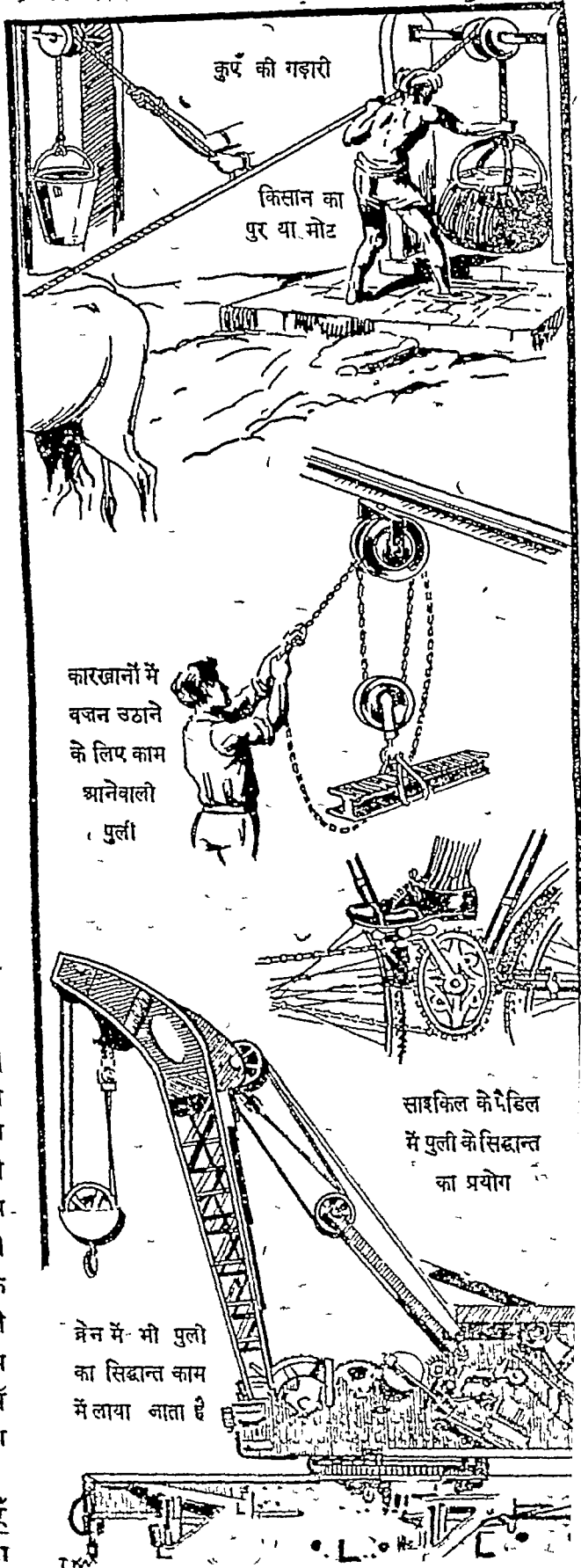
से पानी खींचने के लिए इस गड़ारी का प्रयोग करते हैं। एक वेलन के ऊपर रस्सी लपटी रहती है और इस वेलन के एक सिरे पर एक बड़ी-सी पहिया रहती है, जिसमें दस्ता भी लगा रहता है। पहिये के घुमाने से वह वेलन भी घूमता है और ज्यों ज्यों वेलन घूमता है, रस्सी इसमें लिपटती जाती और बाल्टी ऊपर को उठती है। इस मशीन में भी लीवर का ही सिद्धान्त लागू है।

बाल्टी का वज़न और वेलन के अर्द्धव्यास का गुणनफल आपकी शक्ति और पहिये के अर्द्धव्यास के गुणनफल के बराबर होना है। इस प्रकार यदि पहिये का अर्द्धव्यास वेलन के अर्द्धव्यास से ५ गुना अधिक हुआ, तो आप जितनी शक्ति हैन्डिल पर लगायेंगे, उससे ५ गुने भारी वज़न को वेलन द्वारा ऊपर खींच सकेंगे। जाँच के लिए आप बड़े पहिये के किनारे पर एक सेर का वज़न लटका दीजिये, और वेलन की रस्सी में ५ सेर का। ये दोनों वज़न आपकी गड़ारी और वेलन को समतुलित रक्खेंगे।

हमारी सायकिल के पैडिल के पीछे भी यही गड़ारीवाला सिद्धान्त काम करता है। पैडिल पर जितना ज़ोर हम अपने पैरों द्वारा लगाते हैं, उससे अधिक ज़ोर जंज़ीर पर पड़ता है, क्योंकि पैडिल की लम्बाई जंज़ीरवाले पहिये के अर्द्धव्यास से अधिक होती है। मवेशियों के लिए चारा काटने की मशीन में भी हैन्डिलवाले पहिये का व्यास बहुत बड़ा होता है, ताकि हैन्डिल घुमाने पर उसकी धुरी के पास के भाग पर ज़ोर अधिक पड़े। निस्संदेह गड़ारी और वेलनयुक्त मशीन की ईजाद के पीछे प्राचीनकाल के लोगों ने काफी दिमाग़ लगाया होगा, क्योंकि साधारण लीवर का काम तो एक मजबूत डण्डे से भी लिया जा सकता है, किन्तु गड़ारी और वेलन के लिए तो एक विशेष यंत्र का निर्माण करना पड़ता है।

गड़ारी के सदृश ही एक दूसरी मशीन पुली है। पुली का प्रयोग अक्सर कारख़ानों के क्रेन नामक यंत्र में होता है। इसकी सहायता से सैकड़ों मन का बोझा एक बच्चा भी उठा सकता है। पुली का सबसे सादा रूप हमें देहातों के पुर में देखने को मिलता है। पुली के ऊपर से होकर रस्सी गुज़रती है। सुविधानुसार आदमी या बैल रस्सी को खींचते हैं और पुली के ऊपर से होकर उनका ज़ोर कुएँ में लटकते हुए डोल पर पड़ता है। इस एक स्थिर पुली की मशीन में आपको बोझे के बराबर ही ज़ोर लगाना पड़ता है, किन्तु इतना लाभ आपको अवश्य होता है कि आप मनमानी दिशा में अपना ज़ोर लगा सकते हैं।

हम जानते हैं, यदि दो समानान्तर शक्तियाँ एक ही दिशा में काम करती हैं तो उनका असर उनके योग के बराबर होता है। यदि एक पुली के गले में रस्सी पहनाकर उसे हम लटका दें और उसकी धुरी में १० सेर का वज़न लटकायें तो पुली को सँभालनेवाली पुली के ऊपर की दोनों रस्सियों में प्रत्येक पर ५ सेर का बोझ पड़ेगा। इस तरह एक पुली की मदद से हम शक्ति से दूना बोझ सँभाल सकते हैं। यह पुली किसी ख़ास जगह बँधी नहीं रहती, अतएव इसे गतिशील पुली कहते हैं। इस गतिशील पुली को सँभालनेवाली रस्सी का एक सिरा तो ऊपर किसी शहतीर में बँधा रहता है और दूसरा एक स्थिर पुली (जो उसी शहतीर में जड़ी रहती है) के ऊपर से गुज़रता है। गतिशील पुली भार को आधा कर देती है।

पुली हमारे लिए यह सुविधा प्रदान करती है कि बोझे को ऊपर खींचने के लिए हम अपना ज़ोर बजाय ऊपर की दिशा में लगाने के नीचे की दिशा में लगा सकते हैं।

गतिशील पुली की संख्या बढ़ाकर हम थोड़ी शक्ति से भारी-से-भारी बोझ भी उठा सकते हैं। दो-तीन आदमी आठ-दस पुली की सहायता से गर्डर और शहतीरों को उठाकर ऊँची छतों तक पहुँचा सकते हैं। बड़े शहरों में प्रायः राजगीर वज़न उठाने के लिए पुली को काम में लाते हैं। दो पुली का ब्लाक ऊपर शहतीर में लगा देते हैं और मज़बूत तार द्वारा उसी तरह की दो पुली का ब्लाक नीचे लटकाते हैं। इस नीचेवाले ब्लाक की धुरी में बोझ को फँसा देते हैं। चूँकि नीचेवाली पुली में से होकर ऊपर को तार चार बार गया है, अतः बोझ का वज़न भी इन चारों तार पर बराबर बराबर बँट जायगा। अतः इस मशीन द्वारा मज़दूर अपनी शक्ति से चौगुना भारी वज़न उठा सकता है। किन्तु यहाँ एक और बात पर ध्यान देना है। यदि तार के आख़िरी सिरे को आप अपनी ओर चार इंच खींचेंगे, तो चूँकि तार के चार हिस्से हैं, प्रत्येक हिस्सा केवल एक ही इंच ऊपर को खिंचेगा। अर्थात् नीचेवाली पुली और उससे लटकता हुआ बोझा दोनों केवल १ इंच ऊपर को खिसकेंगे। यही कारण है कि हम देखते हैं कि मिस्त्री तार को ख़ूब तेज़ी से खींच रहा है, किन्तु बोझा धीरे-धीरे चींटी की चाल से ऊपर को खिसकता है।

क्रेन, जो विशालकाय इंजिनों को भी उठा लेता है, बहुत-सी पुली का इस्तेमाल करता है। जिस समय क्रेन का इंजिन चालू होता है, पुली का तार बड़ी तेज़ी के साथ एक वेलन पर लिपटता जाता है, किन्तु नीचे लटकता हुआ बोझा बहुत ही धीरे-धीरे ऊपर को चढ़ता है।

जीवन का महान् माध्यम—पानी

सृष्टि में जल या पानी का एक विशिष्ट स्थान है; क्योंकि प्रधानतया जल ही के द्वारा जीवन का विकास संभव हुआ है। आइए, इस अत्यंत महत्त्वपूर्ण तत्त्व के विषय में कुछ रासायनिक बातें इस लेख में बताएँ।

प्रकृति में पानी

ऐसा अनुमान किया जाता है कि जिस समय पृथ्वी सौर महापिंड से पृथक् हुई, उस समय एक कल्पनातीत महाताप के कारण उसके सारे मूलतत्त्व गैसीय दशा में आकाश में फैले थे। इन मूलतत्त्वों में हाइड्रोजन और ऑक्सिजन भी थे। उस भीषण दाह में हाइड्रोजन और ऑक्सिजन के परमाणु इतने अधिक वेग से स्फुरित हो रहे थे कि उन्हें परस्पर रासायनिक संबंध जोड़ने का अवकाश ही न था। लाखों वर्षों तक धीरे-धीरे ठंडा होने के पश्चात् इन दो मूलतत्त्वों का संयोग संभव हो सका। हाइड्रोजन के दो-दो परमाणु ऑक्सिजन के एक एक परमाणु से संयुक्त होकर भाप में परिणत हो गये। फिर लाखों वर्षों बाद यह भाप बादलों में परिणत हो सकी। यह बादल जब पहले बरसे होंगे, तो इनकी बूँदें धधकती हुई पृथ्वी के तल तक पहुँचने के पहले ही वाष्पीभूत होकर उड़ गई होंगी। करोड़ों-अरबों वर्षों तक ठंडा होने के बाद यह संभव हो सका कि पानी भाप से जलरूप में घनीभूत होकर पृथ्वीतल के गड्ढों में भर सके। जल से भरे हुए यही गड्ढे आजकल महासागर के नाम से पुकारे जाते हैं। इनकी अधिक-से-अधिक गहराई केवल ५ मील है, लेकिन इनका पानी आज पृथ्वीतल के लगभग दो तिहाई भाग को ढके हुए है। जब पृथ्वी पृष्ठ तथा उस पर फैले हुए पानी का तापक्रम काफी नीचा हो गया, तो जीवन की उत्पत्ति का आरंभ हुआ। इस जीवन का जन्म पानी में ही और उसी के द्वारा संभव हो सका, और तब से निरंतर वनस्पति और जंतु दोनों ही प्रकार के जीवन के विकास में पानी ने ही प्रधान माध्यम का कार्य किया है। जिन रासायनिक क्रियाओं द्वारा जीवों के कलेवर का निर्माण होता है, वे पानी की ही उपस्थिति में संभव हैं; अन्यथा नहीं। इसी से अनुमान किया जा सकता है कि जीवन के अस्तित्व के लिए पानी का महत्त्व कितना अधिक है। यदि हमें कई सप्ताह तक भोजन न मिले तो जीवित रहना संभव है, लेकिन पानी के बिना हम दो-एक दिन से अधिक नहीं रह सकते। इसी प्रकार यदि कोई पेड़ कुछ ही समय के लिए पानी से बिलकुल वंचित कर दिया जाय, तो वह मुरझाकर निर्जीव हो जायगा। इस दृष्टि से पानी का दूसरा नाम 'जीवन' बहुत ही सार्थक है।

पृथ्वी पर पानी प्रचुर परिमाण में व्याप्त है। उसके सबसे बड़े पार्थिव भांडार पृथ्वी के महासागर हैं। जिस समय पानी धरातल पर टिक सका होगा, उसी समय जहाँ-जहाँ उसकी पहुँच हुई होगी, वहाँ के घुलनशील पदार्थ उसमें घुल गये होंगे। समुद्र-जल के खारी होने का यही कारण है। उसके भार के सौ भागों में प्रायः साढ़े तीन भाग घुले हुए लवणों के होते हैं। इन ३·५ भाग लवणों में भिन्न-भिन्न लवणों की मात्रा इस प्रकार होती है—

सोडियम क्लोराइड (साधारण नमक)	२·७०
मैग्नेशियम क्लोराइड	·३६
मैग्नेशियम सल्फेट	·२२
कैल्शियम सल्फेट	·१४
पोटैशियम क्लोराइड	·०७
मैग्नेशियम ब्रोमाइड, कैल्शियम बाइकार्बोनेट, आयडाइड, आदि अन्य लवण	सूक्ष्मांशों में।

इन्हीं महासागरों के महान् भांडार से सारे धरातल पर निरंतर जल का वितरण हुआ करता है। जल-पृष्ठ से पानी

सूर्य द्वारा गर्म होकर वाष्पीभूत होता रहता है। जलवाष्प हवा से हलकी होती है और समुद्रतल के निकट की हवा भी गर्म होकर हलकी हो जाती है; अतः वाष्पमय गर्म वायु ऊपर उठती रहती है। जब यह वाष्प वातावरण के ठंडे स्तरों में पहुँचती है तो घनीभूत होकर बादलों में बदल जाती है। ये वाष्प और बादल वायुधाराओं द्वारा पृथ्वी के विभिन्न भागों के ऊपर पहुँचते हैं, और वहाँ वर्षा, तुषार अथवा हिम के रूप में भूमि पर उतर आते हैं। जो पानी इस प्रकार भूमि पर उतरता है, वह प्रकृति का सबसे शुद्ध जल होता है। क्योंकि वाष्पीकरण में केवल जल ही जल हवा में मिश्रित होता रहता है और उसके लवणादि जलाशय में ही रह जाते हैं। वर्षा का जल वास्तव में प्रकृति द्वारा स्रवित (distilled) किया हुआ जल होता है। फिर भी इस जल में वायु और वायुजन्य अथवा वायु में रहनेवाले पदार्थ घुले या मिले रहते हैं। इसी कारण वर्षाजल में सूक्ष्मांशों में ऑक्सिजन, नाइट्रोजन कार्बन डिऑक्साइड, अमोनिआ, अमोनिअम नाइट्रेट, धूलिकण आदि अशुद्ध करनेवाली वस्तुएँ मिलती हैं। कुछ वृष्टि हो जाने के बाद वातावरण धुल जाता है और वर्षाजल अधिक शुद्ध आने लगता है।

इस प्रकार जल अथवा हिम-वर्षा द्वारा जो पानी भूमि पर उतरता है, वह या तो उसमें शोषित हो जाता है, अथवा ढाल की ओर बह जाता है, अथवा फिर वाष्पीभूत हो जाता है। शोषण होने पर जब जल भूमि के अंदर उतरता है तो उसमें मिले हुए जीव-पदार्थ छनकर पृथक् हो जाते हैं, परन्तु मार्ग में पड़नेवाले घुलनशील खनिज लवणों तथा कार्बन डिऑक्साइड गैस को वह घोलता हुआ चला जाता है। इन लवणों में मुख्यतः सोडियम क्लोराइड (साधारण नमक) तथा कैल्शियम और मैग्नेशियम के बाइकार्बोनेट, क्लोराइड और सल्फेट होते हैं। छिद्रमय भूमि से उतरकर यह पानी छिद्रहीन स्तरों पर इकट्ठा होता है और वहाँ से बहुधा ऊपर की ओर मार्ग मिल जाने के कारण धरातल पर स्रोत-रूप में निकल पड़ता है। कभी-कभी स्रोत-जल में ऐसे पदार्थ घुल जाते हैं, जो उसे स्वास्थ्यकारी अथवा रोगनाशक बना देते हैं। ऐसे जल को खनिज जल कहते हैं और वह औषध की भाँति मनुष्य द्वारा प्रयुक्त होता है। दवाओं की दूकान में इस प्रकार के अनेक खनिज जल बिका करते हैं। स्रोतों और कुओं में अंतर यही होता है कि स्रोत नैसर्गिक होते हैं और कुएँ मनुष्य निर्मित। यदि कुओं के पानी में लवण अत्यधिक मात्रा में घुल जाते हैं तो वह खारी और पीने के अयोग्य हो जाता है।

बर्फ़ के पिघलने से बना हुआ, सोतों से आया हुआ तथा वर्षा का पानी इकट्ठा होकर नदियों के रूप में बहता है। नदियों के पानी में भी लवण घुले रहते हैं। ये लवण या तो सोतों के पानी से आते हैं, अथवा जिन-जिन स्थानों में बहकर उसका पानी आता या जाता है वहाँ के घुलनशील लवण उसमें घुलकर मिल जाते हैं। इसके अलावा नदियों के पानी में जीव पदार्थ, मिट्टी या बालू के कण और स्थान-स्थान में गंदे नालों द्वारा लाया हुआ मैल भी मिला रहता है। यह नदियाँ बहुधा एक-दूसरे से मिलती हुई फिर महासागर में मिल जाती हैं। संसार की सारी नदियाँ प्रतिवर्ष सागर को ६५२४ घनमील पानी भेंट करती हैं। इस प्रकार महासागरों से आया हुआ पानी फिर महासागरों में लौट जाता है। जल के वितरण का यह चक्र प्रकृति में निरंतर चला करता है। इस वितरण द्वारा पानी पृथ्वी पर प्रत्येक स्थान में वाष्प, जल अथवा हिम के रूप में व्याप्त रहता है।
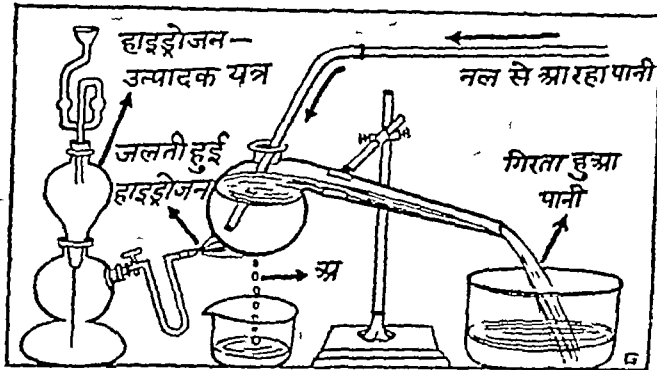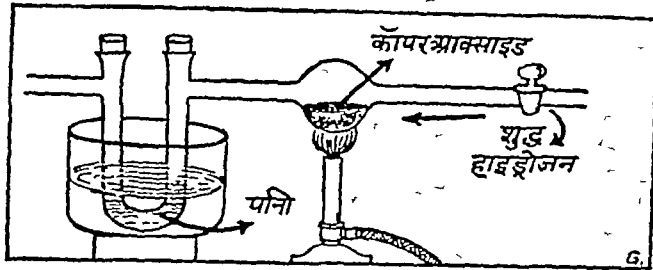
हाइड्रोजन और ऑक्सिजन के संयोग से पानी बनाने की प्रयोगशाला की दो विधियाँ

विशेष विवरण के लिए देखिए पृष्ठ ५३७ का मैटर

केवल निर्जीव प्रकृति में ही नहीं, सजीव जगत् में भी पानी प्रचुर परिमाण में व्याप्त रहता है। मानव-शरीर में

अवस्था के अनुसार ६० से ८० प्रतिशत तक पानी रहता है। वृद्धावस्था में जीवनोत्पादक रासायनिक क्रियाओं के शिथिल पड़ जाने के कारण पानी कम हो जाता है, लेकिन शिशु के बढ़ते हुए शरीर में पानी अधिक (लगभग ८० प्रतिशत तक) होता है। जब व्याकरण अथवा निष्कासन के कारण हमारे शरीर में पानी की कमी हो जाती है और उसमें होनेवाली रासायनिक क्रियाओं के स्वाभाविक संचालन में बाधा पड़ने लगती है तो हमें प्यास लगती है और हम पानी पीकर इस कमी को पूरा कर लेते हैं।

हमारे शरीर में पानी का एक महत्वपूर्ण कार्य यह भी है कि वह शरीर के उच्छिष्ट पदार्थों को घोलकर या उनसे मिलकर स्वेद अथवा मल-मूत्र के रूप में बाहर निकाल दे। इन उच्छिष्ट पदार्थों के शरीर में बने रहने से नाना प्रकार के रोग पैदा हो सकते हैं। प्यास रहने पर भी पानी न पीना मानो रोग को निमंत्रण देना है। विभिन्न प्राणियों के शरीर में पानी प्रचुर किन्तु विभिन्न परिमाणों में रहता है। बैल के शरीर में लगभग ४६ प्रतिशत, भेड़ में ४२ प्रतिशत, पक्षियों में ७५ प्रतिशत और मछलियों में ८० प्रतिशत पानी होता है। वनस्पतियों के कलेवर में पानी की मात्रा ६० से ६८ प्रतिशत तक होती है। साधारण हरी पत्तियों में ६० से ८० प्रतिशत, आलू और प्रायः सभी ताजे फलों में ८५ से ९५ प्रतिशत और जल के पौधों में ६८ प्रतिशत तक पानी रहता है; यहाँ तक कि लकड़ी तक में भी ५० प्रतिशत पानी होता है।
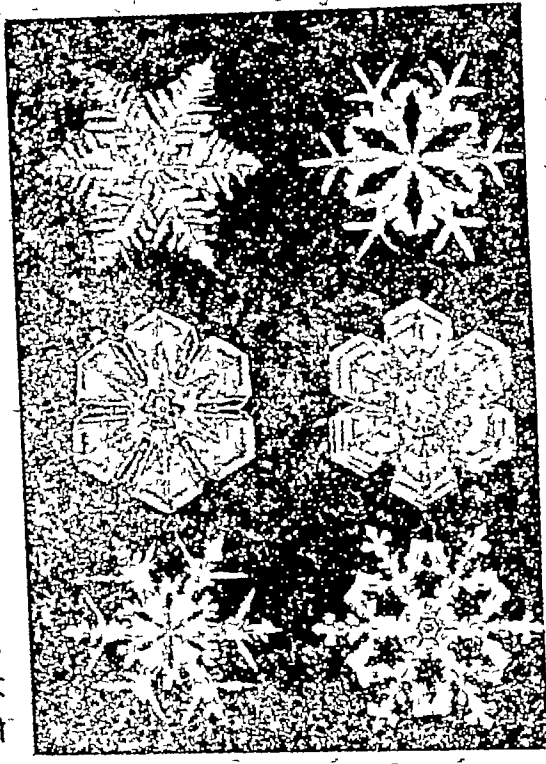
वर्फ़ के सूक्ष्म कणों की कलापूर्ण रचना

सूक्ष्मदर्शक यंत्र से देखने पर बर्फ के कण ऐसे ही विविध कलापूर्ण आकारों के दिखाई देते हैं और प्रकृति की अद्भुत लीला की एक झलकी हमें दिखाते हैं। एक बात गौर करने की यह है कि ये सब षट्कोण ही होते हैं।

संयुक्त रूप में पानी अनेक जीवजन्य कार्बनिक यौगिकों (जैसे मैदा, शक्कर आदि में) और कुछ लवणों में (जैसे तूतिया, फिटकरी आदि के रवों में) रहता है। इन वस्तुओं को गर्म करने से यह पानी निकल पड़ता है।

मनुष्य और पानी

मनुष्य को पानी रासायनिक रीति से तैयार करने की आवश्यकता नहीं पड़ती है, उसके लिए वह प्रचुर परिमाण में प्रकृति में उपस्थित रहता है। फिर भी यह प्रदर्शित करने के लिए कि पानी हाइड्रोजन और ऑक्सिजन के संयोग से बनता है, मनुष्य ने उसको मूलतत्त्वों से निर्मित करने की कई रासायनिक विधियाँ निकाली हैं। इनमें से दो रीतियाँ इस प्रकार हैं—

हाइड्रोजन उत्पादक किप अपरेटस की निकास-नली को शुष्क कैल्शियम क्लोराइड से भरी हुई एक U-नली (यू नली) से रबरनली द्वारा संबंधित कर दीजिये। फिर U नली के दूसरी ओर से उसी प्रकार एक बिंदुपातक नली (जेट) जोड़ दीजिये। कैल्शियम क्लोराइड, जलशोषक होने के कारण, गैस को शुष्क कर देने का काम करता है। थोड़ी देर तक इन नलियों से होकर गैस को प्रवाहित होने दीजिए, जिससे शुद्ध वायुमुक्त गैस निकलने लगे। वायु-मिश्रित होने पर अपरेटस के अंदर भयंकर विस्फोटन हो सकता है और टूटे हुए शीशे के टुकड़ों द्वारा प्रयोगकर्त्ता को गहरी चोट लग सकती है। इस शुद्ध गैस को जेट पर जला दीजिए और उसकी शिखा को एक ऐसे पात्र के ठंडे तल पर फेंकिए, जिसमें से होकर ठंडा पानी निरंतर बह रहा हो (दे० पृ० ५३६ का चित्र)। हाइड्रोजन जलने से हवा की ऑक्सिजन से संयुक्त होकर भाप में परिणत हो जाती है और यह भाप ठंडे तल पर घनीभूत हो जाती है। नीचे रक्खे हुए एक पात्र में इस प्रकार बना हुआ पानी टपकने लगता है।

दूसरे प्रयोग में हाइड्रोजन गैस एक बल्ब नली में तप्त ताम्रिक ऑक्साइड के ऊपर से प्रवाहित की जाती है। हाइड्रोजन ताम्रिक ऑक्साइड की ऑक्सिजन से संयुक्त हो भाप में परिणत हो जाती है और ऑक्साइड का रूप ताम्र में अल्पीकरण हो जाता है। इस [illegible] हुई भाप, ठंडे पानी में डूबी हुई एक U [illegible]

करने पर घनीभूत और उसमें जलरूप में इकट्ठा हो जाती है।

मनुष्य अपने उपयोग के लिए पानी प्रायः कुओं, सोतों अथवा नदियों से लिया करता है। प्रत्येक सभ्य मनुष्य सामान्यतः एक दिन में २५ गैलन पानी ख़र्च करता है, और वह इसे प्रायः पीने, नहाने और धोने के काम में लाता है। जिस पानी में लवण अत्यधिक परिमाण में घुले रहते हैं, उसे मनुष्य नहीं पी सकता। भाग्यवश प्रायः सभी स्थानों में मनुष्य को 'मीठा' पानी उपलब्ध रहता है। नदियों और अधिकतर सोतों, झरनों और कुओं का पानी मीठा होता है; लेकिन यह मीठा पानी भी तब तक निर्भय होकर नहीं पिया जा सकता, जब तक वह रोग-कीटाणुओं और सड़ते हुए जीव-पदार्थों से सर्वथा मुक्त न हो। पानी मोती झाला (टाइफ़ॉयड), विसूचिका (कॉलरा) संग्रहणी (डायरिया), पेचिश आदि भयंकर रोगों के कीटाणुओं का वाहक होता है और ये कीटाणु उसमें उपस्थित जीवपदार्थों पर ही बसर करते हैं। अतएव इन दोनों हानिकारक वस्तुओं से पीने के पानी का नितांत मुक्त होना आवश्यक है। गहरे कुओं में पानी दूर तक बालू से छनकर पहुँचता है, अतः वह प्रायः निर्मल और पेय होता है। अधिक गहराई से निकलनेवाले सोतों का पानी भी इसी कारण शुद्ध होता है। लेकिन उथले अथवा उपयोगहीन कुओं का पानी अथवा उन कुओं का पानी, जिनके आसपास कच्ची गंदी नालियाँ बहा करती हैं, बहुधा जीवपदार्थों से मिला रहता है और स्वास्थ्य के लिए हानिकारक होता है। बँधा हुआ पानी अथवा गंदे नाले से मिला हुआ नदियों का पानी भी इस दृष्टि से दूषित होता है। इन अशुद्धताओं से पानी को मुक्त करने का एक सीधा-सादा उपाय यह है कि पानी छानकर उबाल लिया जाय। उबला पानी, घुली हुई हवा तथा कार्बन द्विऑक्साइड के निकल जाने के कारण, स्वाद में फीका हो जाता है, किंतु यदि उसे मिट्टी के घड़ों में भरकर एक दिन तक रक्खा रहने दिया जाय, तो उसमें हवा फिर घुस जाती है और स्वाद लौट आता है। उबाले हुए पानी को ठंढा करके एक पात्र से दूसरे पात्र में बार-बार उड़ेलने से हवा कम समय में ही घुल जाती है। यात्रा आदि में अथवा ऐसे स्थान में जहाँ पानी को उबालने की सुविधा नहीं है पानी का शोधन टिंक्चर आयडीन द्वारा बहुत सरलता से हो सकता है। यदि लोटे भर पानी में टिंक्चर आयडीन की कुछ बूँदें छोड़कर उसे १५-२० मि० तक रख दिया जाय, तो सभी हानिकारक कीटाणु नष्ट हो जायँगे और पानी पीने योग्य हो जायगा कुछ घरेलू वैज्ञानिक रीतियों द्वारा छानने से भी पानी शुद्ध हो जाता है। इनमें एक रीति यह है कि चार पाँच मिट्टी के घड़े ऊपर-नीचे रख दिये जाते हैं। सबसे नीचेवाले घड़े को छोड़कर और सभी घड़ों के पेंदों में सूराख कर लिया जाता है। सबसे ऊपर वाले घड़े से छननेवाला पानी टपकता है। दूसरे घड़े में कोयला, तीसरे में बालू और चौथे में कंकड़ रहते हैं। इनसे छनकर पानी सबसे नीचेवाले घड़े में इकट्ठा होता रहता है। इस रीति से भी अधिक विश्वसनीय 'पैस्टर-चैम्बरलैंड' प्रणाली है, जिसके अनुसार पानी खुरदुरे चीनी मिट्टी के सिलिंडरों में से होकर छनता है और उसके अशुद्ध पदार्थ तथा हानिकारक कीटाणु दूर हो जाते हैं। हैज़े के दिनों में पोटैशियम परमैंगनेट नामक पदार्थ भी कीटाणुओं को नष्ट करने के लिए प्रयुक्त होता है। कुओं में बहुधा यही पदार्थ डाला

(दाहिनी ओर) बिना शुद्ध किये हुए बँधे पानी के एक अंश का परिवर्द्धित फ़ोटो। कोरी आँख से ऐसा पानी हमें साफ दिखाई देता है, पर वास्तव में उसकी एक ही बूँद में हज़ारों ऐसे कीटाणु तैरते रहते हैं जैसे इस फ़ोटो में श्वेत धब्बों के रूप में दिखाई पड़ रहे हैं। (बाईं ओर) लवण द्वारा शुद्ध किये गए पानी के अंश का सूक्ष्मदर्शक द्वारा लिया गया चित्र। इसमें कीटाणुओं का अभाव है।

जाता है। बड़े बड़े नगरों में पानी प्रायः नल द्वारा मिलता है। यह पानी पम्पों द्वारा बहुधा नदियों से लिया जाता है और फिर वैज्ञानिक रीतियों से सावधानी के साथ शुद्ध करके नगर-निवासियों के लिए भेजा जाता है। इसे शुद्ध करने के लिए पहले उसमें अलुमीनियम के लवणों का कुछ घोल मिला दिया जाता है। इस घोल से मिलकर पानी एक ऐसे जलाशय में पहुँचता है, जहाँ पर्दे लगे होने के कारण, वह स्थिर हो जाता है। अलुमीनियम के लवण पानी में लटकते हुए मिट्टी आदि के कणों को नीचे बैठा देते हैं और इनके साथ साथ अधिकतर रोग-कीटाणु भी पृथक् हो जाते हैं। यह पानी फिर एक ऐसे जलाशय में ले जाया जाता है, जहाँ वह बालू तथा कंकड़ों के स्तरों में से छनकर नीचे पहुँचता है और उसकी बची खुची अशुद्धताएँ तथा कुछ और कीटाणु भी अलग हो जाते हैं। जो रोग-कीटाणु बच रहते हैं, वे क्लोरीन अथवा ओज़ोन नामक गैसों अथवा 'अल्ट्रा-वायलेट' प्रकाश द्वारा नष्ट कर दिये जाते हैं। फिर यह पानी नलों द्वारा घर-घर पहुँचा दिया जाता है (दे० पृष्ठ ५४० ५४१ के चित्र)।

मनुष्य को बहुधा ऐसे जल की आवश्यकता होती है, जो बिल्कुल शुद्ध हो अर्थात् जिसमें कोई भी वस्तु घुली अथवा मिली हुई न रहे। ऐसा जल पानी को स्रवित करके या भपके से (दे० इसी पृष्ठ का चित्र) टपकाकर बनाया जाता है और इस जल का उपयोग प्रायः बिजली की बैटरियों में, दवाएँ बनाने में तथा रासायनिक प्रयोगशालाओं में होता है। स्रवित जल तैयार करने के लिए पानी एक ताँबे के बर्त्तन में उबाला जाता है। इस प्रकार बनी हुई भाप एक सर्पिल नली में प्रवाहित की जाती है। यह नली एक ऐसे पानी के बर्त्तन में डूबी रहती है, जिसमें निरंतर ठंडा पानी आता रहता है और गर्म बाहर निकलता रहता है। इस प्रकार सारी भाप घनीभूत हो जाती है और पात्रों में जल-रूप में इकट्ठा हो जाती है। अल्प परिमाण में प्रयोग-शालाओं में यह स्रवण-क्रिया लीबिग के घनीकरण यंत्र (Condenser) द्वारा की जा सकती है। इसमें भाप एक ऐसी नली में प्रवाहित होती है, जिसके आस-पास एक अधिक चौड़ी शीशे की नली रहती है। इस चौड़ी नली में पानी रबर नली द्वारा नल से आकर नीचे से चढ़ता है और ऊपर से निकलकर परनाली में चला जाता है। इस प्रकार भाप निरंतर ठंढी होती रहने से जलरूप में परिणत होती रहती है। द्रवों को स्रवित करने की कुछ पुराने ढंग की रीतियाँ भी प्रायः इत्र के कारखानों में देखने में आती हैं। इनमें एक डेगची में पानी उबालकर भाप सुतली से कसी हुई बाँस की पोंगियों द्वारा ठंडे पानी में डूबे हुए भभकों में ले जाई जाती है। यह ठंडा पानी थोड़ी ही देर में गर्म हो जाता है, और उसे बार-बार उलीचकर ठंडा पानी भरने की मेहनत करना पड़ती है। इनमें हवा की साँसें बंद करने का काम चिकनी मिट्टी से लिया जाता है। स्रवण में शुद्ध पानी भाप के रूप में होकर अलग हो जाता है, और लवण अशुद्ध पानी में ही रह जाते हैं।

स्रवण-यंत्र या पानी शुद्ध करने का भपका

चित्र में बंद भागों को काटकर उनका भीतरी दृश्य दिखाया गया है।

पानी में घुले हुए कैल्शियम और मैग्नेशियम के लवण हमारे कुछ अन्य दैनिक व्यवहारों में भी बाधा डालते हैं। हम जब खारी पानी में नहाने अथवा कपड़ा धोने का प्रयत्न करते हैं तो देखते हैं कि साबुन बहुत ज़्यादा ख़र्च हो जाता है। जब ऐसे पानी के साथ हम अपने बालों में साबुन लगाते हैं तो पहले वे एक चिकटे पदार्थ-से बँध से जाते हैं, फिर अधिक साबुन लगाने पर साफ़ होते हैं; अथवा जब हम ऐसे पानी में साबुन को रगड़ते हैं तो पहले बहुत-सा साबुन एक दूसरे पदार्थ में बदल कर तलछट के रूप में नीचे बैठ जाता है, और फिर

उठना शुरू होता है। इस पानी को, जिसमें साबुन का इस प्रकार से अपव्यय होता है, 'कठोर' पानी कहते हैं। जिस पानी में झाग शीघ्र ही उठ आता है, उसे 'कोमल' कहते हैं। साबुन से नहाने धोने के लिए कोमल जल ही उपयुक्त है, कठोर नहीं। पानी में कैल्शियम और मैग्नेशियम के मुख्यतः बाइकार्बोनेट, क्लोराइड और सल्फेट नामक लवण घुले रहते हैं। साबुन प्रायः सोडियम स्टियरेट, सोडियम पामिटेट और सोडियम ओलिएट, इन तीन यौगिकों का मिश्रण होता है। जब इन यौगिकों और कैल्शियम व मैग्नेशियम के लवणों का पानी में संसर्ग होता है, तो अणु-भागों के विनिमय द्वारा कैल्शियम व मैग्नेशियम के स्टियरेट, पामिटेट तथा ओलिएट, और सोडियम के बाइकार्बोनेट, क्लोराइड तथा सल्फेट बन जाते हैं। इस बात को अधिक स्पष्ट करने के लिए इनमें से एक समीकरण के रूप में नीचे व्यक्त की जाती है—

सोडियम स्टियरेट (साबुन का एक अंश) + मैग्नेशियम क्लोराइड (पानी में घुला एक लवण)	=	(सोडियम क्लोराइड जो घुलनशील होने के कारण अधःक्षेपित नहीं होता) + मैग्नेशियम स्टियरेट (जो अघुलनशील होने के कारण तलछट के रूप में पृथक् हो जाता है)
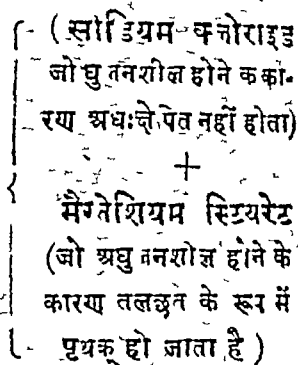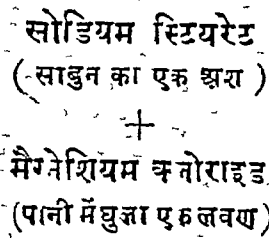
कैल्शियम व मैग्नेशियम के स्टियरेट आदि, अघुलनशील होने के कारण, झाग में परिणत नहीं हो सकते; अतएव साबुन का इस प्रकार अपव्यय हो जाता है। कैल्शियम और मैग्नेशियम के इस प्रकार पृथक् हो जाने के बाद स्वयं साबुन ही पानी में घुलने लगता है और
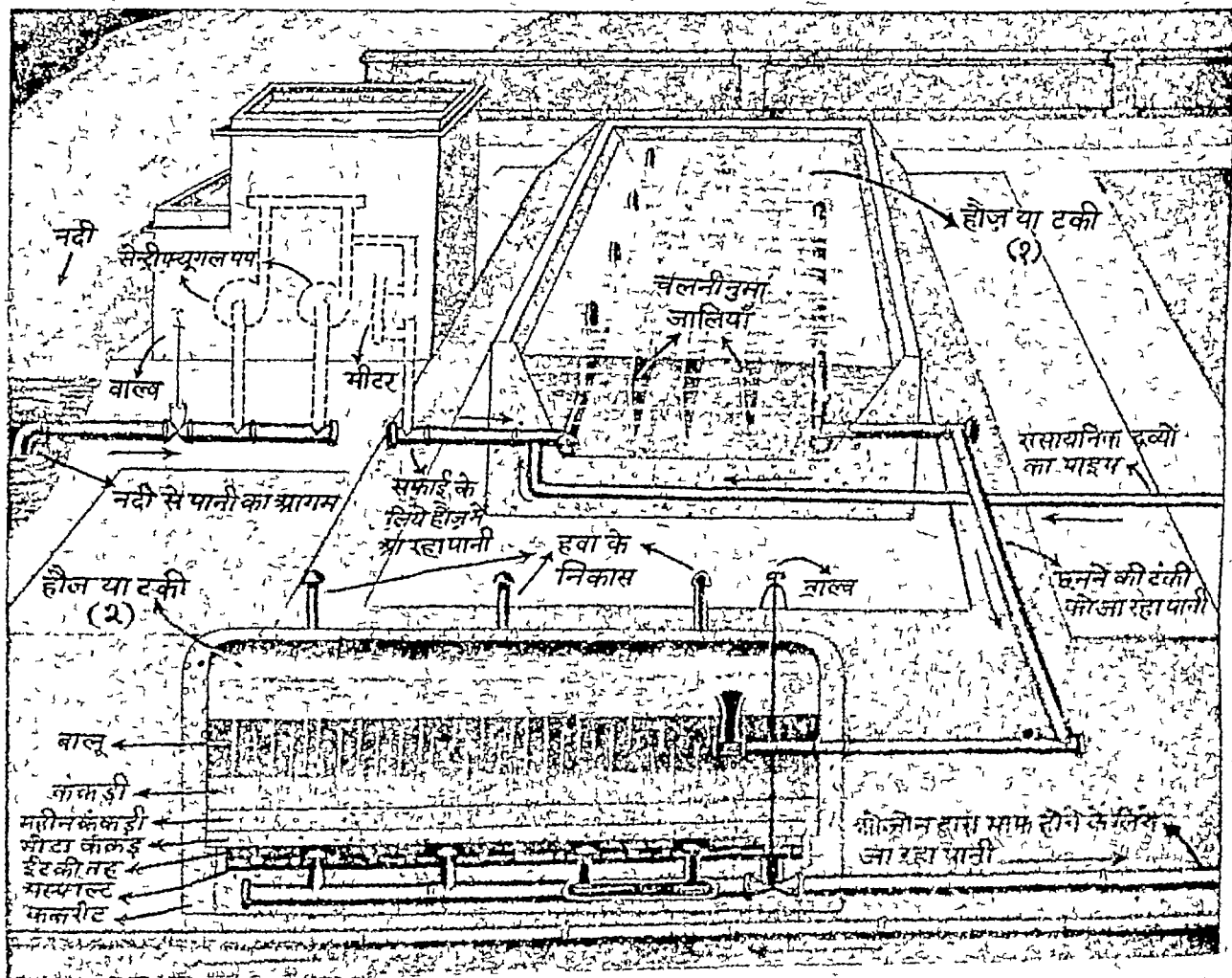
हमारे नगरों को पानी पहुँचानेवाली यंत्र-प्रणाली—(१)
आज दिन हमारे सभी बड़े शहरों में पानी इसी तरह कल द्वारा जलाशयों से ऊँचा चढ़ाया जाकर नलों द्वारा घर-घर पहुँचाया जाता है।

झाग उठने लगता है। सोडियम के लवणों की साबुन पर कोई रासायनिक क्रिया नहीं होती, अतएव वे झाग उठने में कोई विघ्न नहीं डालते। हाँ, जिस पानी में साधारण नमक (सोडियम क्लोराइड) अत्यधिक परिमाण में घुला रहता है, उसमें साबुन घुल नहीं सकता, इसलिए ऐसा नमकयुक्त पानी भी कठोर हो जाता है।

जिन स्थानों में कोमल जल अप्राप्य रहता है, वहाँ कठोर जल से कोमल जल बना लेने की आवश्यकता पड़ती है। कठोरता का कुछ अंश, अर्थात् बाइकार्बोनेट लवण, पानी को केवल उबाल देने से ही विच्छेदित हो जाता है, और अघुलनशील कार्बोनेटों में बदलकर नीचे बैठ जाता है। जिस बर्तन में पानी उबाला गया हो, उसके पेंदे में बहुधा एक श्वेत पदार्थ जमा हुआ पाया जाता है। यह अधिकतर कैल्शियम कार्बोनेट और कुछ मैग्नेशियम कार्बोनेट का मिश्रण होता है। जल की ऐसी कठोरता को, जो केवल उबाल देने से ही दूर हो जाती है, 'अस्थिर कठोरता' कहते हैं। पानी में आवश्यक परिमाण में चूना मिला देने से भी इस प्रकार की कठोरता कार्बोनेट के रूप में निकल जाती है। लेकिन चूना आवश्यकता से अधिक मिला देने से पानी नहाने योग्य नहीं रहता और फिर कठोर हो जाता है, क्योंकि वह कैल्शियम का ही यौगिक होता है। पानी की उस कठोरता को जो उबलने से नहीं दूर होती, 'स्थिर कठोरता' कहते हैं। यह कैल्शियम और मैग्नेशियम के क्लोराइडों और सल्फेटों के कारण होती है। पानी की दोनों प्रकारों की कठोरता को दूर करने का एक अत्यन्त सरल उपाय यह है कि पानी को पहले इतना गर्म करे कि उसमें उबाल आ जाय, और फिर इस उबलते पानी में कुछ (आवश्यक परिमाण में धोनेवाला
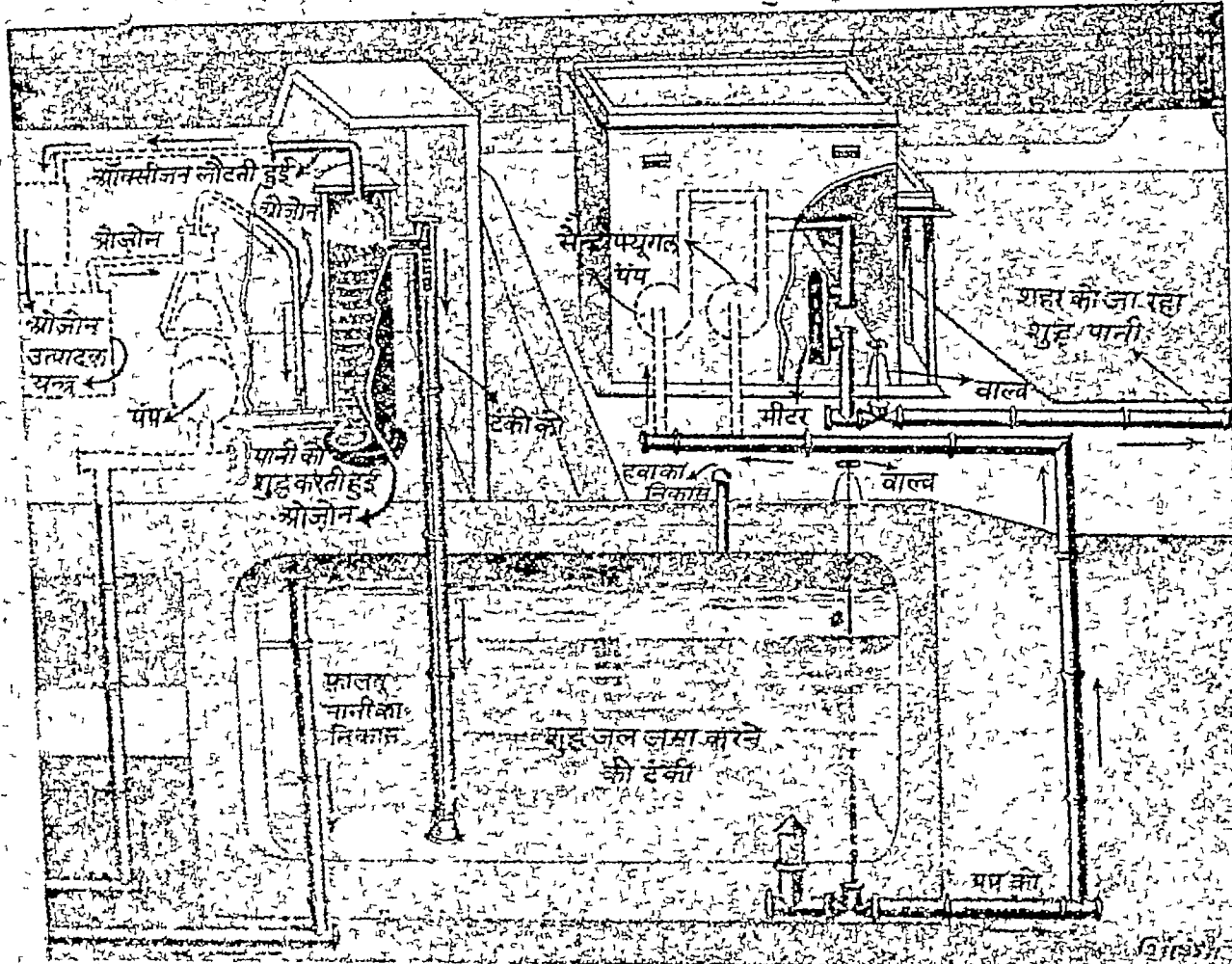
हमारे नगरों को पानी पहुँचानेवाली यंत्र-प्रणाली—(२)

यह चित्र पिछले पृष्ठ के चित्र का ही परिशिष्ट भाग है। दोनों चित्र मिलाकर देखिए।

सोडा छोड़कर एक-आध मिनट तक उसे उबलने देने के बाद उसे उतार ले और ठंडा होने दे। ऐसा करने से सारा कैल्शियम और मैग्नेशियम कार्बोनेटों के रूप में नीचे जम जायगा। अंत में इस पानी को निथार अथवा छानकर काम में लावें। दोनों प्रकार की कठोरताएँ सोडियम परमुटाइट नामक पदार्थ द्वारा भी दूर की जाती हैं। बाज़ारों में मिलने वाले घरेलू 'वाटर-साफ़नर' (कठोरता-निवारक) यंत्रों में पानी इसी वस्तु से होकर टपकाया जाता है। इसके संसर्ग से विनिमयात्मक क्रिया द्वारा अघुलनशील कैल्शियम और मैग्नेशियम परमुटाइट बन जाते हैं और पानी कोमल हो जाता है। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, पानी को स्रवित करने से केवल कठोरता ही नहीं अन्य अशुद्धताएँ भी उससे अलग हो जाती हैं, किंतु इसमें ईंधन का बहुत ख़र्च हो जाने से वह महँगा पड़ता है। यदि पानी को कोमल बनाने के लिए अन्य सस्ते साधन उपलब्ध न हों तो एक मामूली साबुन को लेकर पानी में इतना रगड़े कि सारी कठोरता तलछट के रूप में दूर हो जाय और झाग उठना शुरू हो जाय। इस पानी को थोड़ी देर तक रक्खा रहने देने से सारा तलछट नीचे बैठ जायगा। इसमें से ऊपर से स्वच्छ पानी को निथार ले और उसके साथ अच्छा साबुन लगाकर शिर आदि धोवे।

कठोर जल ब्वॉयलर के लिए भी अनुपयोगी और हानिकारक होता है। ऐसा पानी उबालने से अंदर के पृष्ठ पर लवणों की एक कड़ी तह जम जाती है। यह तह ताप की बुरी सचालक होती है, इसलिए पानी उबालने में अधिक ईंधन ख़र्च होने लगता है। इस तह के अधिक मोटे हो जाने पर उसे खुरच डालना आवश्यक हो जाता है। यह तह कितना विघ्न डालती है, इसका अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि तह के चौथाई इँच मोटी हो जाने पर ड्यूढ़ा ईंधन ख़र्च होने लगता है। इसके अतिरिक्त इस तह के कारण ब्वायलर के पृष्ठ को भी क्षति पहुँचती है, और वह घिसने अथवा कटने लगता है। अतः ब्वॉयलर में हमेशा कोमल जल ही प्रयुक्त किया जाता है।

पानी की कठोरता ठीक-ठीक नापने के लिए रासायनिक रीतियों से यह निकाला जाता है कि पानी के भार के एक लाख भागों में जितनी कठोरता है, वह रासायनिक दृष्टि कैल्शियम कार्बोनेट के भार के कितने भागों के बराबर है। यदि पानी के एक लाख भागों में कैल्शियम कार्बोनेट के लगभग ५ भाग या उससे कम हुए, तो पानी कोमल समझा जाता है और यदि वह भाग संख्या १५ से अधिक हुई, तो वह कठोर समझा जाता है। इस भाग-संख्या को कठोरता की डिग्री कहते हैं। यदि कठोरता की डिग्री ५ और १५ के बीच में हुई तो पानी साधारणतया कोमल या साधारणतया कठोर होता है।

पानी के गुण और उसके संबंध में कुछ जानने योग्य बातें

पानी पतली तहों में रंगहीन किंतु गहरा होने पर नीलिमा लिए हुए दिखाई देता है। पानी में अनेकानेक वस्तुएँ सरलता से घुल जाती हैं। इसीलिए प्रकृति में सर्वथा शुद्ध जल अप्राप्य रहता है। केवल ठोस और द्रव ही नहीं, बहुत-सी गैसें भी पानी में घुलनशील होती हैं। संसार की कोई भी ज्ञात वस्तु पानी में सर्वथा अघुलनशील तो होती ही नहीं। पत्थर, शीशा, सोना आदि वस्तुएँ भी अति सूक्ष्म परिमाणों में पानी में घुलती हैं—ऐसे सूक्ष्म परिमाणों में जिनका निर्धारण हम साधारण रीतियों से नहीं कर सकते। जैसा हम बतला चुके हैं, हवा भी कुछ हद तक पानी में घुलती है। जब हम पानी गर्म करते हैं तो हमें पात्र के भीतरी तल पर लगे हुए अथवा उस पर उठते हुए पानी के छोटे-छोटे बुलबुले दिखाई देते हैं। इसका कारण यह है कि तापक्रम ऊँचा होने पर हवा पानी में घुली हुई नहीं रह सकती, इसलिए वह बुलबुलों के रूप में निकल पड़ती है। पानी में घुली हुई इसी हवा की आक्सिजन मछलियों तथा अन्य जलचरों को जीवन प्रदान करती है। यदि स्रवित, अथवा उबालकर ठंडे किए हुए, पानी में अर्थात् ऐसे पानी में जिससे हवा निकाल दी गई हो, हम मछलियाँ डाल दें, तो उनका दम घुट जायगा और वे मरकर उतराने लगेंगी।

४° C पर पानी का घनत्व इकाई माना गया है, और सारे ठोस और द्रव पदार्थों के घनत्व की तुलना इसी से की जाती है। ४° C के ऊपर अथवा नीचे पानी का घनत्व कुछ-कुछ कम होने लगता है, यानी वह हलका होने लगता है। जब पानी बर्फ़ में जमता है तो उसका घनत्व और भी कम (लगभग ०.९१७) हो जाता है। यही कारण है कि बर्फ़ पानी पर तैरती है। पानी के घनत्व संबंधी परिवर्तनों के इस प्राकृतिक नियम ने जीवन के विकास में महान् सहायता दी है। यदि बर्फ़ पानी से भारी होती तो आज दिन सारे समुद्र नीचे से प्रायः ऊपर तक जमे हुए होते और उसमें आज की तरह जलचरों का

जीवन अथवा जलयानों का परिचालन असंभव होता।

पानी 0°C (३२°F) पर जमता और १००°C (२१२°F) पर उबलता है। जब हवा में मिली हुई जल-वाष्प तुषार में परिणत होती है तो इन तुषार-कणों को सूक्ष्मदर्शक यंत्र द्वारा देखने से विभिन्न प्रकार के षट्कोण-रूपी कण दिखाई देते हैं। ये अद्भुत आकार तुषार के स्फटिकों के होते हैं और इतने सुन्दर होते हैं कि इन्हें देखकर आश्चर्य होता है (दे० पृष्ठ ५३७ का चित्र)।

तापक्रम में उतनी ही वृद्धि के लिए उतना ही पानी हाइड्रोजन को छोड़ अन्य सभी वस्तुओं से अधिक गर्मी लेता है। इस प्रकार पानी में ताप को ग्रहण करने की सामर्थ्य प्रायः सबसे अधिक होती है और वह अन्य पदार्थों से अधिक धीरे-धीरे गर्म और ठंडा होता है। यही कारण है कि महासागर ग्रीष्म में धीरे-धीरे गर्मी लेते हैं, और उसे जाड़े में धीरे-धीरे निकालते हैं। इसलिए महासागर वायुमंडल के तापक्रमों में अधिक विषमता नहीं होने देते। कोई देश जितना ही समुद्र के निकट होता है, उसका जलवायु उतना सम होता है। यदि पानी में यह गुण न होता तो जल वायु की विषमता के कारण पृथ्वी पर जीवन बहुत कठिन हो जाता। पानी गर्मी और बिजली का खराब सचालक है। लेकिन जब उसमें तेज़ाब, खार अथवा लवण घुल जाते हैं तो वह बिजली का अच्छा सचालक हो जाता है।

जैसा बतलाया जा चुका है, पानी का एक अणु हाइड्रोजन के दो परमाणुओं और ऑक्सिजन के एक परमाणु के संयोग से बना है। पानी का अणु सूत्र इसीलिए H_2O लिखा जाता है। यह सूत्र इतना सरल है कि कोरे 'कलाविद्' भी कभी-कभी वैज्ञानिक आवेश में पानी को H_2O पुकारते देखे जाते हैं। हमारे बहुत-से पाठकों को यह जानकर आश्चर्य होगा कि एक सहस्र करोड़, करोड़, करोड़ (१०००,०००००००,००००००० ,०००००००) जलाणुओं के एकत्रित होने पर पानी का एक बूंद बनता है! प्रसिद्ध वैज्ञानिक लॉर्ड केल्विन का कथन है कि यदि पानी का एक बूंद फैलाकर पृथ्वी के आकार में अभिवर्द्धित कर दिया जाय तो उसके अणुओं का आकार एक खेलने की गोली या अधिक-से-अधिक क्रिकेट के गेंद के बराबर होगा। ये अणु बंदूक की गोली से भी अधिक वेग से, अर्थात् २० मील प्रति मिनट से भी अधिक गति से, चलायमान रहते हैं और एक सेकंड में करोड़ों बार अन्य अणुओं से टक्कर खाकर अपनी गति की दिशा बदलते रहते हैं। इस स्फुरण में जो अणु जल-पृष्ठ से हवा की ओर चले जाते हैं, वे वाष्परूप में उड़ जाते हैं। वाष्पीकरण इसी प्रकार होता है। कुछ अणु हवा से जल में भी आ मिलते हैं, लेकिन इनकी संख्या पानी से निकलने वाले अणुओं की संख्या से प्रायः कम होती है। हवा जितनी ही अधिक शुष्क होती है, पानी का वाष्पीकरण उतनी ही अधिक शीघ्रता से होता है। जब हवा जलवाष्प से संतृप्त होती है तो जितने अणु पानी से हवा में जा मिलते हैं, उतने ही हवा से पानी में चले आते हैं और वाष्पीकरण प्रत्यक्षतः नहीं होता। वर्षा में वस्तुएँ इसीलिए जल्दी नहीं सूखतीं कि वायु जलवाष्प से लदी रहती है। पानी को गर्म करने पर अणुओं की चंचलता और भी बढ़ जाती है, इसीलिए वे अधिक जगह घेर लेते हैं और पानी का आयतन बढ़ जाता है और वह हलका हो जाता है। साथ-ही-साथ गति बढ़ जाने से वाष्पीकरण की क्रिया भी अधिक शीघ्रता से होने लगती है। और ज्यादा गर्म करने पर अणु इतनी अधिक जगह घेरते हैं कि द्रव उबलकर गैस-रूप में परिणत हो जाता है। भाप का एक अणु जल के एक अणु से लगभग १६५० गुनी अधिक जगह घे... अर्थात् जल का एक आयतन भाप के लग...

जब पानी बर्फ़ के रूप में जमता है तो वह हलका हो जाता है। यही कारण है कि बर्फ़ पानी पर तैरती है। इस जल-संबंधी प्राकृतिक नियम ने जीवन के विकास में महान् सहायता दी है। यदि बर्फ़ पानी से भारी होती तो आज दिन सारे समुद्र नीचे से प्राय: ऊपर तक जमे हुए होते और उसमें जलचरों का जीवन अथवा जलयानों का परिचालन असंभव होता।

आय नों में फैल जाता है। पानी के इन भौतिक गुणों से अन्य द्रवों के भौतिक गुणों का भी अनुमान हो सकता है।

पानी की अनेक वस्तुओं के साथ रासायनिक प्रतिक्रियाएँ होती हैं। इनमें से कुछ हम अपने दैनिक जीवन में भी देखा करते हैं। सीमेण्ट प्लास्टर का कड़ा होना पानी के संयोग से ही संभव है। बहुधा जादूगर लोग पानी में आग लगाने का तमाशा दिखाया करते हैं और दर्शक पानी को जलता हुआ देखकर दाँतों तले उँगली लगाने लगते हैं। किंतु बात यह होती है कि नामधारी जादूगर एक पात्र में पानी लेकर उसमें कुछ पेट्रोल छोड़ देता है, जो हलका होने के कारण पानी के तल पर फैल जाता है। अब जादूगर किसी रीति से, जैसे पैसे में लगाकर, कुछ पोटाशियम धातु उस पानी में छोड़ देता है। पोटाशियम सोडियम से ही मिलती-जुलती एक धातु होती है, जिसकी पानी पर क्रिया सोडियम से भी अधिक तीव्र होती है, और उसमें इतने ताप का उद्भवन होता है कि निकलती हुई हाइड्रोजन जल उठती है। इसीलिए इसे पानी में छोड़ते ही पानी में भक से आग लग जाती है, और दर्शक बेचारे आश्चर्य से तालियाँ पीटने लगते हैं। पानी की कुछ अन्य धातुओं पर क्रियाओं का वर्णन हम हाइड्रोजन संबंधी लेख में कर चुके हैं।

खाने अथवा पोतने का सूखा चूना (कैल्शियम ऑक्साइड) जब हम पानी में छोड़ते हैं, तो कैल्शियम ऑक्साइड से पानी संयुक्त हो जाता है, और बुझा चूना (कैल्शियम हाइड्रॉक्साइड) बन जाता है। इस रासायनिक क्रिया में इतने अधिक ताप का उत्पादन होता है कि ...एप उबलने तक लगता है। कुछ देर के बाद अघुलित कैल्शियम हाइड्रॉक्साइड नीचे बैठ जाता है, और निर्मल चूने का पानी, अर्थात् कैल्शियम हाइड्रॉक्साइड का घोल ऊपर रह जाता है। इस चूने के पानी में क्षारीय गुण होते हैं। धातुओं की कई अन्य ऑक्साइडें भी पानी से संयुक्त होकर क्षारों (खारों) का उत्पादन करती हैं।

अधातुओं (कार्बन, गंधक, नाइट्रोजन आदि) की कुछ ऑक्साइडें पानी में घुलकर और उसमें संयुक्त होकर अम्लों का उत्पादन करती हैं, जैसे पानी में कार्बन द्विऑक्साइड गैस कुछ हद तक घुलकर उसमें एक बहुत ही मंद अम्ल (कार्बोनिक अम्ल) उत्पन्न करती है। कार्बन द्विऑक्साइड-युक्त पानी प्रकृति में बड़े-बड़े परिवर्त्तन किया करता है। जब यह पानी कैल्शियम तथा मैग्नेशियम कार्बोनेटों से युक्त स्तरों अथवा चट्टानों के संसर्ग में आता है, तो ये पदार्थ उसमें धीरे धीरे घुलने लगते हैं। इस प्रतिक्रिया में कार्बोनेट कार्बन द्वि-ऑक्साइड और पानी से संयुक्त होकर घुलनशील बाइकार्बोनेटों में परिणत हो जाते हैं। जब इस प्रकार का बाइकार्बोनेटयुक्त पानी कभी-कभी गुफाओं की छतों से टपकता है तो वाष्पीकरण और विच्छेदन के कारण उससे पानी और कार्बन द्विऑक्साइड निकल जाते हैं, और ठोस कार्बोनेट छत पर या उस स्थान पर, जहाँ पानी टपककर गिरता है, धीरे-धीरे जमने लगते हैं। इस क्रिया के दीर्घकाल तक होते रहने से ये कार्बोनेट पाषाणीय स्तंभों के रूप में छत से लटकने और फर्श से उठने लगते हैं। लटकते हुए स्तंभों को स्टेलेक्टाइट (stalactite) और उठते हुओं को स्टेलेग्माइट (stalagmite) कहते हैं।

गुफाओं में जल की प्रतिक्रिया से बने हुए पाषाणीय स्तंभों—स्टेलेक्टाइट और स्टेलग्माइट का अद्भुत दृश्य

विराट् और वामन

अर्थात् विश्व के विशाल व्यापक रूप तथा सूक्ष्म अणु रूप का विवेचन

सूक्ष्मतया देखने पर यह विश्व हमें दो तरह का दिखाई पड़ता है, एक महत् रूप में दूसरा अणु रूप में। जो अलख निरंजन तत्त्व है वह महत् और अणु दोनों से परे है इसलिए उसे 'महतो महीयान्' और 'अणोरणीयान्' ये दोनों विशेषण दिये जाते हैं। परन्तु जिस संसार के साथ हमारा व्यावहारिक परिचय है, उसमें एक ओर तो विशाल व्यापक या विराट् रूप दिखाई पड़ता है, दूसरी ओर अति सूक्ष्म अणु रूप के दर्शन होते हैं। अनन्त के वर्णन में विश्व के विराट् रूप को लक्ष्य करके यह बताया गया है कि विज्ञान के अर्वाचीन साधन विराट् की थाह लेने में असमर्थ हैं। सौ इंची दूरबीक्षण यंत्र से जो रहस्य भरा चमत्कार हमें दिखाई पड़ा है, उससे हम आश्चर्य से स्तब्ध रह जाते हैं। पर यह अनुमान किया जाता है कि बीस लाख नीहारिकाओं को दर्शन पथ में खींच लानेवाले इस 'वैज्ञानिक चक्षु' से जितना आकाश-प्रदेश हमें दिखाई देता है, विश्व का निखिल आकाश उससे भी एक अरब गुना बड़ा है। यदि हमें कोई ऐसा दिव्य चक्षु मिल सके, जिसके द्वारा हमें इस महाकाश के दर्शन भी होने लगें तो नीहारिका और नक्षत्रों की संख्या बीस लाख से भी अरबों गुना अधिक पहुँचेगी।*

महत् से दृष्टि हटाकर जब हम अणु की शरण में जाते हैं, तब और भी आश्चर्यजनक रहस्य सामने आता है। विज्ञान हमें बताता है कि जगत् ९२ मूलभूत पदार्थों से बना हुआ है। प्रत्येक पदार्थ की सूक्ष्म रचना का आधार परमाणु है। अथवा यों कहें कि परमाणु की ईंटों को जोड़कर पदार्थ का विशाल भवन निष्पन्न होता है। परमाणु की आन्तरिक रचना कुछ-कुछ सौरमण्डल से मिलती जुलती है। परमाणु के मध्य में एक धनविद्युत् का बिन्दु है, जिसे केन्द्र (nucleus) कहते हैं। इसका व्यास एक इंच के दस लाखवें भाग का भी दस लाखवाँ भाग बताया जाता है। परमाणु के जीवन का सार इसी केन्द्र या हृदय-भाग में बसता है। इस केन्द्र के चारों ओर अनेक सूक्ष्मातिसूक्ष्म विद्युत्कण चक्कर काटते रहते हैं, जिन्हें ऋणविद्युत्प्रधान होने के कारण 'इलेक्ट्रन' कहा जाता है। ऋणात्मक विद्युत्कण परमाणु का बुभुक्षित भाग है। ये केन्द्र से मिलने के लिए उत्कंठित रहते हैं। वैज्ञानिकों का अनुभव है कि केन्द्र (nucleus) के भीतर भी और कई प्रकार के विद्युत्कण संगृहीत हैं, जिनके वास्तविक स्वरूप की जाँच-पड़ताल अभी तक जारी है। इन सबके समाहार का एकत्र स्वरूप हमारा परमाणु है।

यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे

विराट् और अणु दोनों के अध्ययन से एक फल वैज्ञानिकों के हाथ लगा है। वह यह है कि विराट् सृष्टि में जो नियम कार्य करते हैं, वे ही नियम अणु-परिमाणात्मक तत्त्वों के मूल में भी निहित हैं।*

*"Dr. Hubbles estimates that about two million such nebulæ are visible in the great 100 inch telescope at Mount Wilson, and that the whole universe is about a thousand million time as big as the part of the space which is visible in this telescope. Let us now multiply 1000 million by 2 million, and the product by 1000 million. The answer ($2\times10^{?}$) gives some indication of the probable number of stars in the universe; the same number of grains of sand spread over England would make a layer hundreds of yards in depth."—*Eos* by J. Jeans, 21.

*"Thus the distinguishing characteristic of the laws which govern the most minute process in nature, is transmitted directly into the large scale phenomena of astronomy and governs the distribution of the huge masses of the stars. *The infinitely great is never very far from the infinitely small in science.*"—*Eos*, 31

क्या विश्वविजयी विज्ञान का यह सत्य भारतीय दार्शनिकों के 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' से मिलता हुआ नहीं है? विज्ञान की आँख से 'महतोमहीयान्' और 'अणोरणीयान्' के भीतर छिपी हुई एकता को हम पहचानने में समर्थ हो सके हैं। भारतीय दर्शनकारों ने भी तत्त्वदर्शन के उषाकाल में ही 'पिण्ड' और 'ब्रह्माण्ड' की एकविधता को ढूँढ निकाला था। इसी सत्य की मूल-भित्ति पर यहाँ के ज्ञान का विशाल भवन निर्मित हुआ है। जिस अतिमानवी सरलता से उन्होंने इस प्रचण्ड सत्य को शब्दों में पिरो दिया है, वह आज तक विश्वसाहित्य में अद्वितीय है। 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' के सूत्र को भारतीय दर्शन की बारहखड़ी ही कहना चाहिए। सृष्टि-स्थिति-विनाश के जो नियम पिण्ड में दृष्टिगोचर होते हैं, उन्हीं का साम्राज्य ब्रह्माण्ड में है। हमारे सामने के सुवासित पुष्प में अथवा बुँदकीदार परोंवाली नन्हीं-सी तितली में जरा-जन्म और मृत्यु के जो पाश फैले हैं, उन्हीं के ताने-बाने में क्या सारा संसार समाया हुआ नहीं है? पिण्ड और ब्रह्माण्ड की एकता नितान्त अखंड है। जो इसे देख लेता है, उसी का देखना सच्चा है, वही ज्ञानी है।

वामन और विष्णु

वैदिक परिभाषा में पिण्ड और ब्रह्माण्ड की एकता को वामन और विष्णु की कल्पना के द्वारा प्रकट किया है। शतपथ ब्राह्मण में कहा है—

वामनो हि वष्णुरास। श० १। २। ५। ५

अथवा

स हि वैष्णवो यद्वामनः। श० ५। २। ५। ४

अर्थात् जो विष्णु है, वही वामन है। जो पहले देखने में वामन या बौना जान पड़ता था, वही पीछे से वैष्णव या विराट् रूप में प्रकट हुआ। वामन और विष्णु दोनों एक ही केन्द्र में गुँथे हुए हैं। वही केन्द्र अणिमा है, वही विस्तार पाकर भूमा बन जाता है। केन्द्र और उसकी परिधि में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं है। केन्द्र अनिर्वचनीय रहता है। उसमें कोई परिमाण नहीं है, परिमाण के विस्तार से केन्द्र ही भूमा या परिधि बनता जाता है। परिधि रूप से केन्द्र के फैलाव की कोई सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती। वामन ही 'शरीर' के विस्तार से विष्णु बनता है। पुराणों के मनीषी लेखकों ने अपनी काव्यमय कल्पना के द्वारा वामन-वैष्णव के वैज्ञानिक सम्बन्ध को प्रकट करने के लिए वामनवेषधारी विष्णु के त्रिविक्रम अवतार का व्याख्यान रूप से वर्णन किया है। जिस मूर्त्ति को पहले सबने वामन या अल्प समझा था, उसने ही देश में देह का विस्तार करके विष्णु-रूप में तीन पैरों से त्रिलोकी को नाप लिया। ऋग्वेद में इस वैज्ञानिक नियम की ओर संकेत किया गया है—

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्।
समूढमस्य पांसुरे।—ऋ० १। २२। १७

सब कुछ विष्णु के तीन चरणों में नाप लिया गया है। मानवी जीवन भी इन्हीं तीन चरणों की नाप में समाया हुआ है। बाल्य, यौवन और जरा ये ही मनुष्य रूपी विष्णु के तीन पैर हैं। यज्ञ की परिभाषा में आयु के इन विभागों को प्रातःसवन, माध्यन्दिनसवन और सायंसवन कहा जाता है। मनुष्य का जीवन संवत्सर की प्रतिमा है। उसकी आयु के तीन भाग वसन्त, ग्रीष्म और शरद् ऋतु के समान हैं। वसन्त ऋतु प्रथम काल है, यही ब्रह्मचर्य काल है। इसमें देहेन्द्रियों के पोषक रसों के कण शरीर में बसने लगते हैं, इसी से यह समय आयु का वसन्तकाल है। यौवन ग्रीष्म ऋतु है। ग्रीष्म ताप के द्वारा रसकणों को विशेष आग्रह के साथ ग्रहण करता है या अपने में खींचता है। यही प्रवृत्ति यौवन की है। शरद्काल में रस शुष्क या शीर्ण होता है। आयु के तृतीय सवन में मनुष्य-देह भी परिहाणि की ओर अग्रसर होता है। सृष्टि के यच्चयावत्पदार्थ आदि-मध्य अन्त के इन्हीं तीन चरणों में परिच्छिन्न हैं, कुछ भी इस विष्णु के त्रिविक्रम से बाहर नहीं है।

विष्णु प्रारम्भ में वामन बनकर आता है। वामन-रूपी शिशु में भावी विष्णुत्व के बीज छिपे रहते हैं। मानवी अभिलाषाएँ वामन से विराट् रूप धारण कर लेती हैं। वासनाएँ छोटे अंकुर के रूप में मनुष्य के मन में जन्म लेती हैं, हम उनके वशीभूत हो जाते हैं, पीछे उनका विराट् रूप प्रकट होता है। यद्यपि मनुष्य की भोगशक्ति वामन या परिमित ही बनी रहती है, परन्तु वासनाओं का विराट् रूप वश में नहीं आता। वासनाओं के द्वारा हम त्रिलोकी को अपने विषय-सुख की परिधि में बाँध लेना चाहते हैं। सहस्र संवत्सर तक विषयों का उपभोग करने के बाद ययाति ने जो अपना अनुभव व्यक्त किया था, वह मनुष्य की विराट् वासनाओं को लक्ष्य करके ही घटित होता है—

यत्पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
एकस्यापि न पर्याप्तं तदित्यतितृषं त्यजेत्॥

वामन-रूपी वैश्वानराग्नि शीघ्र ही तृप्त हो सकती है, पर विराट् वासना अक्षय उपभोग चाहती है। यही वामन

और विष्णु का समन्वय है। शरीर से हम सब वामन हैं, पर मन से विष्णु बने हुए हैं। काल-रूपी विष्णु का वामन रूप एक क्षण है। आदि-मध्य-अन्त ये उसके तीन चरण हैं। गीता में कहा है:—

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना॥

अर्थात् भूतों का आदि अव्यक्त है, उनका अंत भी अव्यक्त है। केवल मध्य भाग ही व्यक्त या दृष्टिगोचर है। यही इस सृष्टि का नियम है। इसके आदि-अन्त का साक्षी कोई नहीं है, देवता भी इसके बाद जन्मे हैं—

अर्वाग् देवा अस्य विसर्जनेन
(नासदीय सूक्त)

इसका जो मध्य भाग है, वही हमारे दृष्टिपथ में आता है, वही ज्ञान का विषय बनता है। ऋग्वेद में विष्णु के बीच के चरण के लिए कहा है—

समूढमस्य पांसुरे

अर्थात् यह चरण ऐसे व्यक्त हैं, जैसे धूलि में छुपा हो। इसी व्यक्त भाग में सब कुछ निगनित है।

भारतीय साहित्य में विराट् रूप

विष्णु के विराट् रूप की कल्पना आर्य गाथाशास्त्र की एक अपूर्व विशेषता है। पुरुषसूक्त में उसका उपक्रम है—

ततो विराडजायत विराजो अधि पूरुषः।
सजातो अत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथो पुरः॥ ५॥

× × ×

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत।
श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत॥१३॥
नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत।
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकाँ अकल्पयन्॥१४॥

—ऋ० १०।६०

अर्थात् समस्त विश्व एक ही पुरुष के यज्ञांगों से निर्मित हुआ है। इसी विराट् विश्व के भीतर वह पुरुष ओत-प्रोत है। चन्द्र-सूर्य-वायु-अग्नि-अन्तरिक्ष-द्यौ-पृथिवी-दिशाएँ और अन्य लोक, सब पुरुष के अंगों के उपादान से रचे गये हैं।

पुरुष-शरीर के अनादि-अनन्त यज्ञ के द्वारा सृष्टि-विकास की कल्पना आर्यों की अन्य शाखाओं में भी मिलती है। स्कैंडिनेविया प्रदेश की उत्तराखंडवर्ती आर्य जातियों में भी यह विश्वास प्रचलित था कि अग्नि और जल के पारस्परिक संघर्ष से जो देव उत्पन्न हुआ, उसी के विविध अंगों से पृथिवी, आकाश, समुद्र आदि की रचना हुई। प्रसिद्ध अंग्रेज़ लेखक कारलाइल (Carlyle) ने संक्षेप में उसका वर्णन यों किया है—

"सृष्टि की उत्पत्ति संबंधी उनकी आदिम पौराणिक गाथाओं ही पर विचार कीजिए। जब देवगण 'तप्त वायु' एवं तुषार तथा अग्नि के संघर्ष से उपजी हुई अव्यवस्था से उत्पन्न दैत्य यमेर को मार चुके तो उन्होंने उसके अवशेषों से एक नई दुनिया की रचना करने का निश्चय किया। उसके रक्त से सागर का निर्माण हुआ; मांस से भूमि बनी और अस्थियों से पर्वतों की शिलाएँ बनाई गईं; उसके भौंहों से देवताओं के निवासस्थान 'असगार्ड' की रचना हुई; उसकी खोपड़ी ही अनन्तव्यापी नीलाकाश बन गया, तथा बादलों की रचना उसके मस्तिष्क के द्रव्य से की गई। कैसा विराट अतिदानवीय कृत्य रहा होगा वह!" आदि, आदि।*

आर्य परम्पराओं का कोश भारतीय साहित्य विराट् सम्बन्धी ऐसे उद्दाम वर्णनों से भरा पड़ा है। अथर्ववेद में विराज गौ या प्रकृति का जो वर्णन मिलता है, सचमुच वह हमारे कवियों का आदि शिक्षक है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने उसी परम्परा में दीक्षित होकर लिखा था—

बिस्वरूप रघुबंसमनि, करहु बचन बिस्वासु।
लोककल्पना बेद कर, अंग अंग प्रति जासु॥

पद पाताल, सीस अजधामा;
अपर लोक अँग-अँग बिस्रामा।
भृकुटि-बिलास भयंकर काला;
नयन दिवाकर, कच घन-माला।
जासु घ्रान अस्विनीकुमारा;
निसि अरु दिवस निमेष अपारा।

---

* Consider only their primary myths of the Creation. The Gods having got the Giant Ymer slain, a Giant made by 'warm wind' and much confused work out of the conflict of Frost and Fire determined on constructing a world with him. His blood made the sea; his flesh was the land, the rocks his bones; of his eyebrows they formed Asgard their God's dwelling; his skull was the great blue vault of Immensity, and the brains of it became the Clouds. What a Hyper-Brobdignagian business! Untamed thought, great, giantlike, enormous;—to be tamed in due time into the compact greatness, not giantlike but godlike, and stronger than gianthood, of the Shakespeares, and Goethes!
—*On Heroes and Hero-worship*, Lecture I

स्रवन दिसा दस वेद बखानी ;
मारुत स्वास निगम निज बानी ।
अधर लोभ, जम दसन कराला ;
माया हास, बाहु दिगपाला ।
आनन अनल, अम्बुपति जीहा ;
उतपति पालन प्रलय समीहा ।
रोमराजि अष्टादस भारा ;
अस्थि सैल, सरिता नस-जारा ।
उदर-उदधि अधगोजातना ;
जगमय प्रभु, का बहु कलपना ।

अर्थात् ब्रह्मलोक जिसका मस्तक, पाताल पैर, काल भौं, सूर्य नेत्र, मेघमाला केशकलाप, अहोरात्र असंख्य निमेष, दिशाएँ श्रोत्र, वायु स्वास, वेद वाणी, मृत्यु कराल दाढ़ें, माया हँसी, अग्नि मुख, पर्वत अस्थियाँ और सरिताएँ नाड़ी-जाल हैं, ऐसा प्रभु विश्व में सर्वत्र रमा हुआ है। उसके विषय में बहुत कल्पना क्या की जाय, क्योंकि कल्पनाएँ वाणी का विकार या विलासमात्र हैं। परन्तु क्रान्तदर्शी साहित्यिकों ने जान बूझ कर जो इस प्रकार विराट् के वर्णन का प्रयास किया है, इसे उनका स्वभाव ही समझना चाहिए—

त्रिभुवन प्रभु विराटमय दीसा ;
बहु-मुख-कर-पग-लोचन-सीसा ॥

विराट् दर्शन का फल

सत्य की खोज करते हुए मनुष्य के लिए विराट् रूप का दर्शन अत्यन्त आवश्यक है, और इस दृष्टिकोण के विकसित हो जाने का निश्चित फल उसके जीवन पर पड़ता है। अपने हृदय की क्षुद्रता पर विजय पाने के लिए हमारा दृष्टिकोण व्यापक बनना चाहिए। प्रत्येक वस्तु या कर्म को अलग-अलग देखने की प्रवृत्ति से मानवी अहंकार, शंका और अश्रद्धा का जन्म होता है। समस्त पदार्थों में व्यापक नियमों को देखकर मनुष्य विश्व की पहेली के अर्थ को समझने लगता है। उसके लिए सृष्टि एक उन्मत्त नृत्य की भाँति न रहकर नियमित प्रक्रिया के रूप में उपस्थित होती है। उस प्रक्रिया का प्रत्येक अंश चेतन ज्ञानमय शक्ति से नियंत्रित प्रतीत होता है। मनुष्य सृष्टि के भार से स्वयं कातर नहीं होता, वह उसे सत्य से धारण की हुई देखता है। विश्व और विश्व-नियन्ता के सम्बन्ध का साक्षात्कार विराट् का दर्शन है। विराट् दर्शन 'कृत्स्न' का दर्शन है।

भारतीय ऋषियों ने इस दृष्टिकोण को मानवी जीवन के सान्निध्य में लाने का यत्न किया है। आयु के अन्तिम दो आश्रम इसी दृष्टिकोण के विकास का फल हैं। वनस्थ तपस्वी और संन्यासी के लिए स्वार्थमय क्षुद्रता का लोप हो जाता है। वह आत्मा को सब भूतों में और सब भूतों को आत्मा में देखता है। वह मानवमात्र को अपने परिवार का अंग समझने का अभ्यास बढ़ाता है, और अन्त में प्राणिमात्र को, पशु-पक्षी और लता-वनस्पति आदि को भी, एक ही चैतन्य से ओत-प्रोत देखता है। विश्व का कल्याण ही उसका अभीष्ट रह जाता है।

भारतीय वाङ्मय के रचयिताओं के मन पर विराट् दर्शन की छाप पड़ी थी। वे किसी एक शास्त्र को औरों से व्यपेत या पृथक् नहीं देखते। सब शास्त्र मनुष्य-जीवन के साथ सम्बन्ध रखते हैं, अतएव सबका आदिमूल एक ज्ञानमय वेद है और सबका फल मोक्ष है। हमारे इतिहास युद्ध के वर्णन न रहकर मोक्ष धर्म-निरूपण के शास्त्र बन गये हैं; हमारे उत्तम काव्यों का फल भी आलंकारिकों के शब्दों में 'सद्यः परनिर्वृत्ति' (तुरन्त परमानन्द की प्राप्ति) निर्धारित हुआ है। एतद्देशीय शास्त्रों और विद्याओं के वर्गीकरण (Classification of Sciences) में भी यही एकसूत्रता दृष्टिगोचर होती है। 'विश्व की रूपरेखा'* के लेखक ने यह विचार प्रकट किया है कि 'पिछले चार सौ वर्षों में व्यापक दृष्टि को छोड़कर लोग विशेष की ओर बढ़ते रहे, अतएव सार्वलौकिक दर्शन उनके लिए दुर्लभ बन गया। अब हमें पुनः विश्व या 'सर्वलोक' को देखने की आदत सीखनी होगी।' तभी हमारे विचारों में प्रौढ़ स्थिरता उत्पन्न होगी। नैमिषारण्य के सूत मानो सभी शास्त्रों का मानव-जीवन के साथ सम्बन्ध स्थापित करने की प्रतिज्ञा करके बैठे थे। उनके दर्शन का मूलमन्त्र यह था—

गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि ।
नहि मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हि किञ्चित् । (शान्तिपर्व २९९।२०)

अर्थात् 'यह रहस्य-ज्ञान तुम्हें बताता हूँ कि मनुष्य से श्रेष्ठ यहाँ कुछ भी नहीं है।'

* During the last four hundred years there has been a reaction from the general to the particular ... when the organization of society is changing rapidly comprehensive notions of the Universe are difficult to form .. People have now to relearn the habit of trying to see Universe.' —'*An Outline of the Universe*', by J. G. Crowther, Preface

पृथ्वी
की कहानी

(ऊपर बाईं तथा दाहिनी ओर)

पृथ्वीपिण्ड की रचना

बाईं ओर के कल्पित चित्र में परत काट काटकर विभिन्न स्तरें और उनकी गहराई (मीलों में) दिखाई गई है। दाहिनी ओर उसी गोले की एक फाँक दिखाकर उन्हीं परतों को और स्पष्ट किया गया है, जिसका खुलासा नीचे दिया जा रहा है:—क—पृथ्वी का वायुमंडल; ख—पृथ्वी का ऊपरी चिप्पड़ या खोल जो 'ग्रेनाइट' नामक आग्नेय पत्थर का बना है; ग—'बेसाल्ट' नामक आग्नेय चट्टानों की स्तर; घ—अति-आग्नेय चट्टानों की परत, च—सिलिकन-मैग्नेशियम की स्तर; छ—लौहमिश्रित सिलिकन की परतें, जो क्रमशः बदलती गई हैं; ज—लौह निकल के तप्त पदार्थ द्वारा निर्मित पृथ्वी का मध्य पिण्ड।
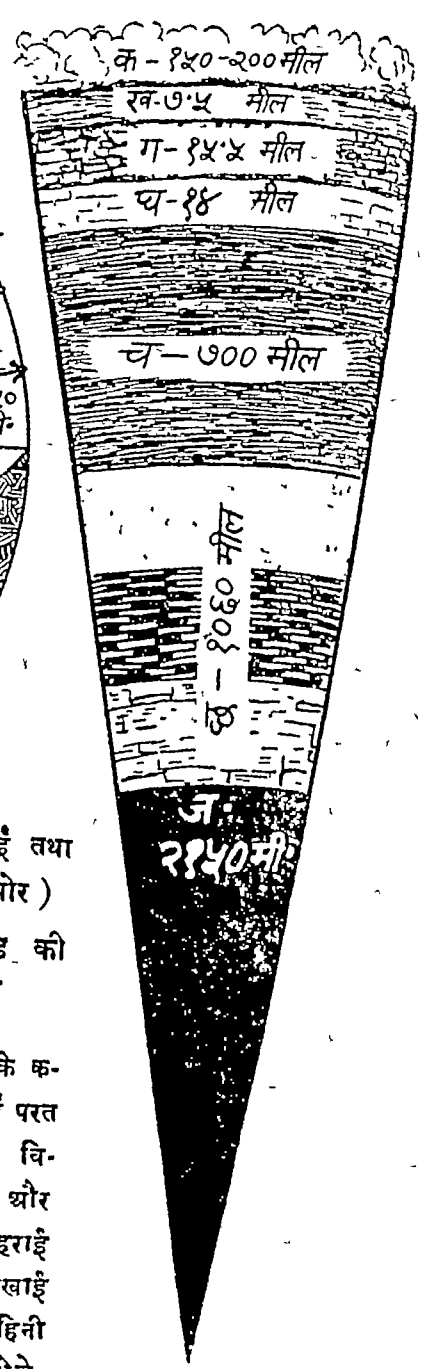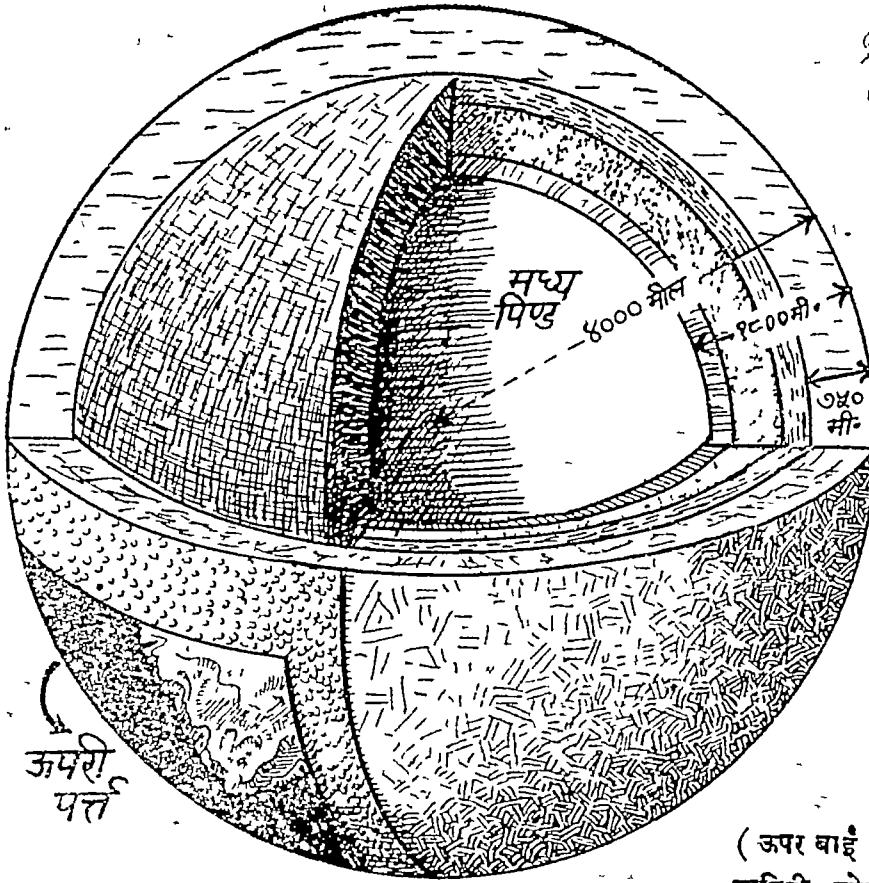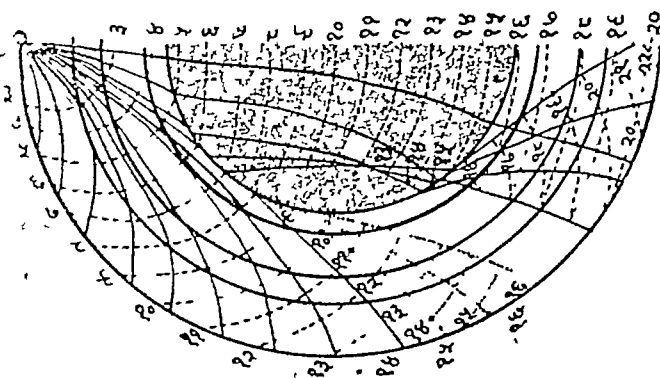
पृथ्वी का मध्यपिण्ड लौह-निर्मित है

इस बात का अनुमान वैज्ञानिक यों करते हैं कि भूकंप की लहरें एक निश्चित गहराई पर पहुँचकर सीधे न जाकर मुड़ जाती हैं, मानो पृथ्वी के आंतरिक पिण्ड के कठोर पदार्थ में प्रवेश करना उनकी शक्ति के बाहर हो। ऊपर के चित्र में यह दर्शाया गया है कि किस प्रकार एक विशेष केन्द्र से उठकर तरंगें चारों ओर व्यवस्थित रूप से फैलती हैं, परंतु एक विशेष गहराई पर पहुँचने पर वे अनोखे ढंग से मुड़ जाती हैं और इस कारण धरातल से मध्यपिण्ड तक का एक विशेष भाग अछूता छूट जाता है, जहाँ से कि ये तरंगें नहीं निकलतीं। गणित द्वारा हिसाब लगाने पर यह पाया गया है कि इसका कारण सिवा इसके कुछ भी नहीं हो सकता कि पृथ्वी का मध्यपिण्ड ऐसी धातु का है जो लोहे से भी कठोर है।

भूगर्भ की झाँकी

पृथ्वी का सबसे रहस्यमय भाग उसका गर्भभाग है, जो अभी तक मनुष्य के लिए अज्ञात है। पृथ्वी के अंतराल की रचना अथवा वहाँ की लीलाओं के संबंध में आधुनिक विज्ञान अनुमान द्वारा क्या-क्या बातें निश्चय कर पाया है, आइए इनका ब्योरा इस लेख में पढ़ें।

पृथ्वी-सम्बन्धी मनुष्य की आदि जिज्ञासा की एक पहेली यह भी थी कि पृथ्वी के भीतर क्या है? यदि पृथ्वी के केन्द्र तक एक छेद कर सकना सम्भव होता, अथवा एक्स किरण-सदृश कोई ऐसा साधन होता, जो हमें पृथ्वी के गर्भ की झाँकी दिखा सकता, तो क्या-क्या भेद खुलते? ऐसे साधन न होते भी मनुष्य ने भूगर्भ के रहस्यों का कैसे और कहाँ तक उद्घाटन किया है, इसी का हाल आप इस अध्याय में पढ़ेंगे।

पृथ्वी की आन्तरिक रचना का ज्ञान प्राप्त करने में हमें जितनी सहायता उन सन्देशों से मिलती है, जो समय-समय पर पृथ्वी के गर्भ से आते रहते हैं, उतनी और किसी बात से नहीं। भूकम्प, ज्वालामुखी का उद्गार, गीसर (गर्म पानी के प्राकृतिक फौवारे), पृथ्वी के चिप्पड़ का नीचे-ऊपर उठना, आदि घटनाएँ पृथ्वी के गर्भ में होनेवाली अदृश्य घटनाओं के सन्देश हैं, जो हमें भूतात्त्विक भाषा में मिलते हैं। हम किस प्रकार उन संदेशों को पढ़ें, यह हमारी योग्यता और ज्ञान पर निर्भर है। इसमें संदेह नहीं कि कल्पना और अनुमान के बिना इन संदेशों को पढ़ने की चेष्टा करना व्यर्थ है। वास्तव में भूगर्भ-सम्बन्धी सभी सिद्धान्त और धारणाएँ अप्रत्यक्ष प्रमाणों पर अवलम्बित हैं, क्योंकि प्रत्यक्ष रूप से पृथ्वी के गर्भ का हाल देखना असम्भव है।

पृथ्वी ठोस है या पोली?

वैज्ञानिकों ने इस सम्बन्ध में तरह-तरह की अटकलें लगाई हैं, जिनका हाल हम इसी खण्ड में पहले बता चुके हैं। इन सबमें प्रमुख महत्त्व का सिद्धान्त स्वीडेन के वैज्ञानिक अरीनिउस का है, जिसके अनुसार पृथ्वी के गर्भ में धातुओं का ख़जाना भरा है। अरबी और फारसी सभ्यतावाले संभवतः इसी को 'कारूँ का ख़जाना' कहते हैं।

सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक न्यूटन ने यह सिद्ध किया था कि सम्पूर्ण पृथ्वी का भार पृथ्वी के समान आकार के जलपिंड की अपेक्षा पाँच या छः गुना है, जबकि पृथ्वी के चिप्पड़ के पदार्थ का भार उसके बराबर के जलपिंड की अपेक्षा केवल ढाई गुना है। न्यूटन के हिसाब से पृथ्वी का भार उसके वर्तमान भार से आधा होता, यदि सम्पूर्ण पृथ्वी उसी पदार्थ की बनी होती जिससे उसका चिप्पड़ बना है!

१७७४ ई० में पृथ्वी को तौला गया—तराजू रखकर नहीं वरन् वैज्ञानिक सिद्धान्तों के द्वारा। ये सिद्धान्त गुरुत्वाकर्षण शक्ति पर अवलम्बित हैं। इनके अनुसार सम्पूर्ण पृथ्वी का घनत्व ५.५ और चिप्पड का २.७ सिद्ध हुआ। इससे यह निष्कर्ष निकाला गया कि भूगर्भ का पदार्थ चिप्पड के पदार्थ की अपेक्षा कहीं अधिक भारी है। भूगर्भ के पदार्थ के भारी होने के दो कारण बताये जाते हैं। एक के अनुसार, भूगर्भ का पदार्थ चिप्पड़ के पदार्थ से रचना में भिन्न नहीं है। केवल अन्तर इतना है कि भीतर का पदार्थ बाहर के पदार्थ के बोझ और दबाव से अधिक सघन है और इस कारण ठोस है और चिप्पड़ के पदार्थ से भारी है।

लाप्लास ने गणना की थी कि पृथ्वी के केन्द्रीय पिण्ड का घनत्व दबाव के कारण जल की अपेक्षा पौने ग्यारह गुना होना चाहिए। इस मत की पुष्टि शिलिटर नामक विद्वान् ने भी की है, जिसका कथन है कि बाहरवाले पदार्थ का

दबाव केन्द्रीय पिण्ड के पदार्थ को अधिक घना करने के लिए पर्याप्त है।

दूसरे सिद्धान्त के अनुसार पृथ्वी का पिण्ड कई पर्तों से मिलकर बना है। केन्द्रीय पिण्ड जिस पदार्थ से बना है, वह चिप्पड़ के पदार्थ की अपेक्षा न केवल भारी है, वरन् रचना में भी भिन्न है। चिप्पड़ का पदार्थ हलके पत्थरों और चट्टानों का बना है। इस हलके पदार्थ की गहराई १०० मील से अधिक नहीं है। इस पर्त से नीचेवाले पर्त की रचना बराबर एक सी है और इसका पदार्थ भारी है। इसका घनत्व ६ है। इस सिद्धान्त के अनुसार एक और अनुमान भी निर्धारित किया जा सकता है। वह यह कि चिप्पड़ के पदार्थ से केन्द्र तक का पदार्थ धीरे-धीरे भार में बराबर बढ़ता गया है। यहाँ तक कि ठीक केन्द्र के पदार्थ का घनत्व ९ या १० के लगभग है। ऊपर के दोनों ही सिद्धान्तों के अनुसार पृथ्वीपिण्ड का औसत घनत्व ५.५२ ही निकलता है।

ऊपर की दोनों ही धारणाओं के अनुसार यह सिद्ध हो जाता है कि पृथ्वी भीतर से पोली नहीं है वरन् ठोस है, और भीतर का पदार्थ छिलके या चिप्पड़ के पदार्थ की अपेक्षा कहीं भारी है। अब प्रश्न यह उठता है कि भीतर के पदार्थ का भारी होना क्या बाहर के विशाल पिण्ड के बोझ और दबाव पर निर्भर है अथवा क्या पृथ्वी के भीतर के पदार्थ का अधिक घनत्व भारी धातुओं के केन्द्र की ओर घनीभूत होने के कारण है? इस समस्या को हल करनेवाले कुछ विद्वानों का विचार है कि चिप्पड़ के पदार्थ का दबाव और बोझा ही पृथ्वी के भीतर से भारी होने का कारण है।

भूगर्भ पर बाह्य पृष्ठ का भार

पृष्ठ से एक मील नीचे की चट्टानों पर प्रति वर्ग फुट १२६०० मन का बोझ लदा है। ज्यों-ज्यों हम अधिक गहराई में पहुँचते जायँगे, यह बोझा बढ़ता ही जायगा। बढ़ने की चाल प्रति मील के पश्चात् ऊपर की संख्या से भी अधिक होती जायगी। क्योंकि नीचे की चट्टानें दबाव और बोझे के कारण और अधिक घनी होती जायँगी और इस कारण प्रति वर्ग फुट इनका भार भी ऊपर की हलकी चट्टानों की अपेक्षा अधिक होगा। यहाँ तक कि पृथ्वी के केन्द्र के पदार्थ पर प्रति वर्ग फुट लगभग ६०००००००० या ८००००००० मन बोझ लदा होगा! इतने विशाल बोझे के दबाव से अवश्य ही भूगर्भ का पदार्थ संकुचित होगा, इसमें संशय करने की कोई गुंजाइश नहीं। परन्तु इतने बोझ के दबाव से चट्टानें कितनी सकुचित हो सकती हैं, इस बात को जान सकना मनुष्य के लिए अभी तक संभव नहीं हो सका है। क्योंकि किसी भी प्रयोगशाला में मनुष्य अभी तक इतना अधिक दबाव उत्पन्न करने में सफल नहीं हो सका है, जितना पृथ्वी के केन्द्र पर होने का अनुमान किया जाता है। प्रश्न यह है कि क्या चिप्पड की साधारण चट्टानें इतने अधिक बोझे के दबाव से इतनी अधिक सकुचित हो सकती हैं कि उनका घनत्व ऊपर की चट्टानों की अपेक्षा दूना हो जाय? मनुष्य के प्रयोगों से तो यह बात असम्भव सिद्ध हुई ही है, अन्य कारणों तथा दलीलों से भी इसकी सत्यता में संशय होता है।

इस सम्बन्ध में भूचाल की तरंगों की गति की नाप-जोख से विशेष सहायता मिली है। सीसमोग्राफ (seismograph) (इसका विशेष हाल हम आगे बतायेंगे) नामक यन्त्र से यह मालूम हो जाता है कि भूचाल की कँप-कँपी की सूचनाएँ उस यन्त्र तक कब और किस वेग से पहुँचीं। गति, वेग और समय जान लेने से यह जाना जा सकता है कि भूचाल किस केन्द्र से प्रारम्भ हुआ अर्थात् वह घटना कहाँ घटी है, जिसने भूचाल उत्पन्न किया। जिस स्थान पर भूचाल उत्पन्न करनेवाली घटना घटित होती है, उस स्थान से भूपृष्ठ को विचलित करनेवाली तरगें उसी प्रकार उठती हैं, जैसे शांत जल में पत्थर डालने से तरगें उठती हैं। जल में जैसे एक बार खलबली हो जाने पर लगातार तरगें आती रहती हैं, फिर धीरे-धीरे उनका वेग कम होता जाता है, और अन्त में वे विलीन हो जाती हैं, उसी प्रकार भूचाल की तरगें बड़े वेग से आती हैं, फिर धीरे-धीरे कम होती हुई विलीन हो जाती हैं।

इन्हीं तरगों की गति और वेग ने भूगर्भ की बनावट पर प्रामाणिक प्रकाश डाला है। सीसमोग्राफ पर अंकित भूचाल-तरंगों के चित्रों से यह निष्कर्ष निकाला गया है कि पृथ्वी के ठोसपन और लचीलेपन के कारण भूचाल की कँपकँपी पृथ्वी के भीतर बड़े तीव्र वेग से दौड़ती है। सीसम ग्राफ यन्त्र पर पहले इसी कँपकँपी का वेग अंकित होता है। इसके साथ-ही-साथ भूचाल की तरगें पृथ्वी पृष्ठ के ऊपर भी चलती हैं, परन्तु इनका वेग अभ्यन्तर की तरंगों से बहुत कम होता है और इसलिए ये अभ्यन्तर की तरंगों के अंकित होने के उपरान्त अंकित होती हैं।

हमारे लिए पृथ्वी के भीतर से होकर आनेवाली तरंगें ही अधिक महत्त्व की हैं, क्योंकि इन्हीं तरंगों के अध्ययन और अनुसन्धान से हमें पृथ्वी के गर्भ का हाल मालूम

होता है। वैज्ञानिकों ने इन तरंगों की निम्नलिखित कुछ महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ ज्ञात की हैं—

पृथ्वी के भीतर इन तरंगों की चाल गहराई के साथ-साथ बराबर बढ़ती जाती है। १८०० मील की गहराई तक तो तरंगों की गति तीव्रता से बढ़ती है, परन्तु उसके पश्चात् उनका वेग बढ़ने के स्थान पर एकदम कम होना आरम्भ हो जाता है। यहाँ तक कि ४००० मील व्यासवाले केन्द्रीय पिण्ड के भीतर होकर जाना इन तरंगों के लिए असम्भव हो जाता है, और तरंगें वहाँ से मुड़कर बाहर निकल आती हैं। इस सम्बन्ध में एक और ध्यान देने योग्य बात यह है कि तरंगों की गति के बढ़ने का वेग ऊपर से ७५० मील की गहराई तक तीव्रता से बढ़ता है और ७५० से १८०० मील तक बढ़ता तो है परन्तु उसकी तीव्रता कम हो जाती है। इस प्रकार पृथ्वी के चिप्पड़ से होकर आनेवाली तरंगों की गति और उसके भीतर होकर आनेवाली तरंगों की गतियों में भी महान् अन्तर है।

भूचाल की इन तरंगों के वेग से वैज्ञानिकों ने जो निष्कर्ष निकाला है, वह इस प्रकार है—

(१) पृथ्वी के चिप्पड़ की गहराई अधिक-से-अधिक १०० मील है और यह पृथ्वी का सबसे हल्का पदार्थ है।

(२) चिप्पड़ के नीचे का पदार्थ केन्द्र की ओर शनैः-शनैः भारी और सघन होता जाता है। केन्द्र के निकट-वाला पदार्थ चिप्पड़ के निकटवाले पदार्थ की अपेक्षा अधिक सघन और भारी है।

(३) ७५० से १८०० मील की गहराई तक का पदार्थ ऊपर से ७५० मील तक की गहराई के पदार्थ से बनावट में सर्वथा भिन्न है। (यदि ये पदार्थ भिन्न न होते, तो भूचाल-तरंगों की बढ़ने की गति निरन्तर बढ़ती जाती। पर वास्तव में यह बढ़ती नहीं वरन् कम हो जाती है।)

(४) १८०० मील की गहराई के उपरान्त पृथ्वी का पिण्ड ऊपर के तीनों प्रकार के पदार्थों से भिन्न है और अधिकांश वैज्ञानिकों के मतानुसार यह धातुओं का बना है।

इस प्रकार पृथ्वी की बनावट के विषय में वैज्ञानिकों ने जो धारणा बनाई है, उसके अनुसार पृथ्वी के केन्द्र में लगभग ४००० मील व्यास का धातुओं का गोला है, जिसके ऊपर १०५० मील मोटाई का चट्टानों का वेष्ठन चढ़ा है। इस वेष्ठन के ऊपर दूसरा वेष्ठन कुछ हल्की चट्टानों का लगभग ६५० मील मोटा है और इसके ऊपर १०० मील मोटा पृष्ठ या चिप्पड़ चढ़ा है। इस धारणा के अनुसार पृथ्वी के भीतर कहीं भी पिघला हुआ द्रव पदार्थ नहीं है। सारी पृथ्वी ठोस पदार्थों से भरी पड़ी है।

केन्द्रीय पिण्ड के बारे में वैज्ञानिकों का विश्वास है कि वह लोहा और निकिल-जैसी भारी धातुओं से विरचित है। उल्का-पिण्डों की बनावट में दो प्रकार के पदार्थ पाये जाते हैं—एक तो लोहा और निकिल-सरीखी धातुएँ और दूसरे चट्टानों के पदार्थ। पृथ्वी भी उल्का पिण्डों के समान सूर्य से ही अलग हुई है (देखिये इसी स्तंभ का दूसरा अध्याय)। इसलिए इसमें भी यही धातुएँ पाई जाने की आशा की जा सकती है। इसी सिद्धान्त पर केन्द्रीय पिण्ड के सम्बन्ध में यह धारणा की जाती है कि वह लोहा और निकिल धातुओं से बना हुआ है और उसका औसत घनत्व ८ के लगभग है।

पृथ्वी की बनावट के विषय में हमने बताया कि उसके ऊपर का पदार्थ हल्का है और भीतर का भारी। यह बात हमारी उस धारणा की पुष्टि करती है जो हमने पृथ्वी के बचपन के सम्बन्ध में बना रक्खी है। वह धारणा यह है कि पृथ्वी का पदार्थ एक दिन अवश्य द्रवित अवस्था में था। उस समय इसकी अवस्था किसी भट्टी में पिघले हुए धातुओं की भाँति थी। पिघले हुए पदार्थ में इस धातु का अंश भारी होने के कारण नीचे बैठ जाता है और गन्धक और आक्सीजन-युक्त पदार्थ (sulphides and oxides) उसके ऊपर आ जाता है (क्योंकि भारी होते हुए भी ये पदार्थ धातु की अपेक्षा हल्के होते हैं)। इसके ऊपर मैले की पपड़ी जम जाती है, क्योंकि यह सबसे हल्का पदार्थ होता है। धातु शोधित करने की भट्टी के समान ही हमारी पृथ्वी का पदार्थ भी धीरे धीरे ठण्डा होता हुआ इस प्रकार जमा कि केन्द्रीय ४००० मील व्यास और ८ घनत्ववाले धातुपिण्ड के ऊपर १०५० मील मोटा पर्त आक्साइड और सलफाइड (आक्सीजन और गन्धकयुक्त) चट्टानों का बन गया। इस पदार्थ का घनत्व ५.६ के लगभग है। उपरोक्त धारणा बनने का कारण यह भी है कि उल्कापिंडों में भी ये अवयव पाये जाते हैं। इन्हीं पदार्थों के कारण ७५० मील की गहराई के उपरान्त भूचाल-तरंगों की गति की तीव्रता का वेग बढ़ते बढ़ते कम होने लगता है।

चिप्पड़ की बनावट के विषय में भूचाल-तरंगों की चाल से यह प्रतीत होता है कि भूपृष्ठ से ७५० मील की गहराई तक बराबर चट्टानों का वेष्ठन चढ़ा है। इस भाग का घनत्व ४ के लगभग है। इसके ऊपर १० मील मोटा पर्त उन चट्टानों का चढ़ा है, जिनसे हम साधारण परिचित हैं और जिनसे विशाल भूखण्डों (महाद्वीपों) की रचना हुई है।

अभ्यन्तर उत्तप्त है या शान्त ?

अभी तक हमने अभ्यन्तर की बनावट की ओर ध्यान दिया है। भूगर्भ उत्तप्त है अथवा शीतल, इस बात का उत्तर हमें नहीं मिला। गहरी खानों के अन्दर जब हम जाने लगते हैं, तो हमको ऊपर की अपेक्षा अधिक गर्मी प्रतीत होती है। ज्यों-ज्यों हम गहराई में उतरते जाते हैं, गर्मी भी बढ़ती जाती है। साधारणतः प्रति ५० फुट की गहराई के पश्चात् एक अंश फाहरनहाइट तापक्रम बढ़ जाता है। कहीं-कहीं गर्मी इससे भी अधिक तीव्रतापूर्वक बढ़ती है और कहीं पर इससे कम। परन्तु यह सत्य है कि अधिक गहरी खानों का तापक्रम भूपृष्ठ के ताप की अपेक्षा कहीं ज्यादा होता है। यहाँ तक कि मनुष्यों का वहाँ काम करना भी दुष्कर हो जाता है।

उपरोक्त अनुभव से यही प्रतीत होता है कि पृथ्वी के भीतर की चट्टानें अवश्य ही उष्ण अवस्था में हैं। वैज्ञानिकों का विश्वास है कि चट्टानों की गर्मी का कारण चट्टानों में यूरेनियम और थेरियम नामक तत्त्वों का पाया जाना है। ये तत्त्व रश्मिशक्ति वाले (Radio-active) तत्त्व कहलाते हैं। इनके निरन्तर विकरण और विच्छेद की क्रिया से गर्मी उत्पन्न होती है। चट्टानें ताप की अच्छी चालक नहीं हैं। इसलिए यह गर्मी फैल नहीं पाती और यदि भूगर्भ के किसी भाग में यूरेनियम आदि की अधिकता हुई, तो उस स्थान पर इतनी अधिक गर्मी उत्पन्न हो सकती है कि चट्टानों को पिघला दे।

ऊपर हमने बताया है कि ज्यों-ज्यों हम पृथ्वी के केन्द्र की ओर जायँगे, त्यों-त्यों गर्मी अधिक होती जायगी। इस हिसाब से केन्द्र पर पहुँचते-पहुँचते अभ्यन्तर का ताप २५०००० अंश होना चाहिये। इतने भयंकर ताप में कोई भी पदार्थ बिना पिघले रह नहीं सकता। तब क्या पृथ्वी के भीतर का पदार्थ द्रवित और पिघली हुई दशा में है? जब हम केन्द्र के ऊपर पड़नेवाले असाधारण दबाव का ध्यान करते हैं, तब हमारी समझ में आ जाता है कि इतनी उष्णता होते हुए भी भयंकर दबाव के कारण यह सम्भव नहीं है कि धातुएँ पिघली हुई दशा में रह सकें।

ज्वालामुखी पर्वतों के द्वारा जो पिघला हुआ लावा तथा अन्य पदार्थ भूगर्भ से आता है, उसे देखकर हमें यह अनुमान करना पड़ता है कि यह पदार्थ पृथ्वी के भीतर भी पिघली हुई अवस्था में रहा होगा, हमारा यह अनुमान करना सत्य नहीं है। इसका कारण हम ऊपर बता चुके हैं। पृथ्वी के भीतर सन्तुलन या अन्य किसी कारण से जब किसी स्थान पर दबाव कम हो जाता है, तो यूरेनियम आदि के विकरण से उत्पन्न गर्मी चट्टानों को पिघलाकर बाहर की ओर ढकेलती है। चिप्पड़ का पर्त यदि उस स्थान पर कमज़ोर होता है, तो अन्दर का पिघला हुआ पदार्थ चिप्पड़ तोड़कर ज्वालामुखी के उद्गार के रूप में बह निकलता है।

आभ्यन्तरिक समतुलन से चिप्पड़ का नीचे-ऊपर उठना

हम तीसरे अध्याय में बता चुके हैं कि समतुलन के कारण पृथ्वी के भीतर उथल पुथल होती रहती है, जिसके कारण पृथ्वी के ऊपर के पृष्ठ पर बहुत प्रभाव पड़ता है। जैसे-जैसे किसी उच्च प्रदेश की धरती घिसकर काँप (debris) के रूप में किसी निचले प्रदेश में इकट्ठी होती है, वैसे-वैसे काँप के नीचे की ज़मीन बोझ से दबती जाती है। ऊँचा प्रदेश अथवा पहाड़ घिसता जाता है। काँप से दबे प्रदेश का बोझा भीतर के पदार्थ को हलके पहाड़ के नीचे जाने को दबाता है और यह सघन पदार्थ दबाव के कारण द्रव की भाँति बहकर पर्वत के नीचे जाकर उसको ऊँचा उठाये रखने की चेष्टा करता है। पर ऊपर की घिसी हुई मिट्टी की अपेक्षा नीचे का पदार्थ अधिक भारी होता है, इसलिए पर्वतीय प्रदेश लगातार नीचे होते रहते हैं और अन्त में समतल मैदान बन जाते हैं। इस प्रकार भूगर्भ के कारण पृथ्वी के ऊपर की रूपरेखा पर भी प्रभाव पड़ता है।

पृथ्वी के गर्भ के विषय में अनुसन्धान करना मनोरंजक होते हुए भी बड़ी कठिन समस्या है। हम पहले ही कह चुके हैं कि अभी तक इस विषय में जो कुछ जाना गया है, वह अप्रत्यक्ष प्रमाणों पर ही अधिकतर अवलम्बित है। यह नहीं कहा जा सकता कि जो आज हम कर रहे हैं, वह ध्रुव सत्य है। बहुत सम्भव है कि हमें अपने विचार एक-दम से बदलने पड़ें। इसके लिए हमें सदैव तैयार रहना चाहिए। परन्तु इसका अर्थ यह भी नहीं है कि आज जो हमारी धारणाएँ हैं, वे कोरी कपोल-कल्पित हैं। मनुष्य आज जितना जान पाया है और उससे उसने जो निष्कर्ष निकाला है, वह अधिकांश में सत्य है और यदि पूर्ण सत्य नहीं तो सत्य के निकट तो अवश्य है। जिज्ञासा से प्रेरित हो-कर आज दिन मनुष्य जिस मंज़िल तक पहुँच पाया है, वह उसकी आख़िरी मंज़िल नहीं है। फिर भी आज की इस मंज़िल का महत्व कम नहीं है, क्योंकि इस पर पहुँचने पर ही आगे बढ़ना उसके लिए सम्भव हो पाया है।

नक़शे द्वारा भौगोलिक परिस्थितियों का अध्ययन—(१)

घर बैठे भूगोल का अध्ययन करने के लिए सर्वोत्तम साधन पृथ्वी के विभिन्न भागों के विभिन्न प्रकार के नक़शे हैं। ये नक़शे क्या और कैसे होते हैं, तथा किस तरह बनाये जाते हैं, इनका ब्योरा इस और आगे के लेख में आपको मालूम होगा।

धरातल के किसी भाग का भौगोलिक ज्ञान प्राप्त करने का सर्वोत्तम साधन है उस प्रदेश की यात्रा करना और उसके ऊँचे-नीचे प्रदेशों, नदियों और घाटियों, झीलों और समुद्र-तटों आदि का स्वयं अपनी आँखों से देखकर अध्ययन करना। उस प्रदेश में जाकर उसके जंगलों और मैदानों में घूमकर, नगरों और देहातों तथा कारख़ानों और खानों में काम करनेवालों को देखकर, यह पता लगाया जा सकता है कि देश कैसा है और उसमें कैसे लोग बसते हैं, तथा उनका रहन-सहन कैसा है। यात्रा करने के लिए हमारे पास अनेकों साधन उपस्थित हैं, पैरों चलकर अथवा गाड़ी, बाइसिकिल, मोटर, रेल आदि सवारियों में बैठकर अथवा वायुयानों द्वारा उड़कर यात्रा की जा सकती है। इन्हीं साधनों की सहायता से मनुष्य ने धरातल के विषय में बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त किया है। जिन प्रदेशों में इन साधनों के होते हुए भी वह पहुँचने में असमर्थ रहा है, वहाँ पहुँचने के लिए नित्य प्रयत्न किया करता है। इस प्रकार यात्रा करनेवाले जिन प्रदेशों की यात्रा करते हैं, उनके सम्बन्ध में अपने निजी अनुभव तथा वहाँ के निवासियों की प्रकृति, रहन-सहन आदि को पुस्तकों के रूप में प्रकाशित करते हैं। प्रत्येक मनुष्य यात्रा करने में समर्थ नहीं है। इसीलिए हममें से अधिकांश धरातल का भौगोलिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए इन यात्रियों की अनुभव और ज्ञानपूर्ण बातों को उनकी पुस्तकों में पढ़कर ही सन्तोष कर लेते हैं।

पाठशालाओं में काम में आनेवाला पृथ्वी का गोला या ग्लोब

भौगोलिक परिस्थितियों का अध्ययन मानचित्र या नक़शों द्वारा भी किया जा सकता है। नक़शा धरातल के किसी भाग का ऐसा चित्र है, जिसमें उस भाग संबंधी सभी भौगोलिक बातों का ज्ञान प्राप्त हो सकता है। नक़शों में प्रत्येक स्थान के सम्बन्ध में संकेतों द्वारा पर्याप्त बातों का दर्शन होता है। नक़शों में जिन संकेतों का प्रयोग किया जाता है, भूगोल का अध्ययन करनेवालों को उन्हें जान लेना परम आवश्यक है। साथ ही हमें यह भी सीख लेना चाहिये कि भौगोलिक चित्र या नक़शे कैसे बनाये जाते हैं।

नक़शे में सभी भौगोलिक बातें संकेत और चिह्नों द्वारा अंकित रहती हैं। नक़शे के एक किनारे एक तालिका बना दी जाती है। इस तालिका में प्रत्येक चिह्न या संकेत के अर्थ दिये जाते हैं। परन्तु नक़शे में बहुत सी बातें ऐसी होती हैं, जिनको साधारणतः बिना चि[illegible] या संकेतों के समझा[illegible] जल और स्थल, झीलें आदि [illegible]

साधारणतः बिना चिह्न के ही लग जाता है। कुछ नक़्शों में स्थल की नीचाई-ऊँचाई दिखाने के लिए उन्हें एक ही प्रकार के रंग से हलका और गहरा रंग देते हैं। पृथ्वी के इस प्रकार के नक़्शों से हम बड़ी आसानी से पता लगा सकते हैं कि धरातल पर कहाँ ऊँची पर्वत श्रेणियाँ हैं, कहाँ पर समतल मैदान हैं, और कहाँ पठार हैं। इस प्रकार के नक़्शों से ही पता चलता है कि समुद्र कहाँ पर कितना गहरा है। प्रत्येक विभिन्न गहराई के लिए (एक प्रकार के रंग की) विभिन्न गहराई का नक़्शे में प्रयोग किया जाता है। समुद्र की विभिन्न गहराइयों को दिखानेवाले नक़्शों को "चार्ट" (Chart) कहते हैं। चार्ट में गहराई के साथ-ही-साथ समुद्र की लहरों का रुख़ भी दर्शाया जाता है। इनमें बन्दरगाहों, टापुओं तथा प्रकाश-स्तम्भों आदि की स्थिति का भी ज्ञान कराया जाता है। पृथ्वी के लगभग सभी समुद्रतटों तथा समुद्र मार्गों के चार्ट बना लिए गये हैं। इन चार्टों की सहायता से जहाज़ चलानेवाले सदैव अपने मार्ग में आनेवाली बाधाओं से सचेत रहते हैं और दुर्घटनाओं से बचते हैं।

हमारी पृथ्वी गोल है, इसलिए इसका सच्चा नक़्शा गोले के रूप में ही बनाया जा सकता है। ऐसे गोले को, जिस पर पृथ्वी के धरातल का नक़्शा बनाया जाता है, ग्लोब (Globe) कहते हैं। (दे० पृष्ठ ५५५ का चित्र)। इस गोले के धरातल पर सब भौगोलिक परिस्थितियाँ उसी प्रकार अंकित की जाती हैं, जैसे पृथ्वी के धरातल पर हैं।

कुछ नक़्शे ऐसे होते हैं, जिन पर प्रदेशों की ऊँचाई-नीचाई का ज्ञान इस प्रकार अंकित किया जाता है कि हम अपने हाथ से छूकर साथ ही आँख से देखकर भी यह बता सकते हैं कि कहाँ पर ऊँचे-ऊँचे पर्वत हैं, कहाँ गहरी घाटियाँ हैं, कहाँ-कहाँ नदियाँ बहती हैं और कहाँ मैदान हैं। इस प्रकार के नक़्शे 'रिलीफ़' (Relief maps) कहलाते हैं। रिलीफ नक़्शे अधिकतर मिट्टी या गोंद से चिपकाये काग़ज़ों से बनाये जाते हैं।

कुछ नक़्शे ऐसे होते हैं, जिनमें विभिन्न देशों का विस्तार और उनकी सीमाएँ बनी होती हैं। ऐसे नक़्शों को राजनीतिक' नक़्शे कहते हैं, क्योंकि इनमें धरातल में राजनीतिक विभाग होते हैं। इसी प्रकार विभिन्न प्रकार के नक़्शों में विभिन्न प्रकार की बातें दर्शायी जाती हैं। किसी नक़्शे में वर्षा का वर्णन होता है, अर्थात् कहाँ पर कम और कहाँ पर अधिक वर्षा होती है। किसी में धरातल के ठण्डे और गर्म प्रदेशों का विस्तार दिखाया जाता है, और किसी में हवाओं के वेग आदि का वर्णन होता है।

कुछ नक़्शों में धरातल पर होनेवाली वनस्पतियों का हाल रहता है, यानी कहाँ पर घने वन हैं, कहाँ पर उपजाऊ देश और कहाँ पर निरुपजाऊ प्रदेश हैं; कहाँ पर गेहूँ उत्पन्न होता है, कहाँ पर चावल, और कहाँ पर कपास या तिलहन की पैदावार होती है। इसी प्रकार ऐसे नक़्शे बनाये जाते हैं, जिनमें धरातल के विभिन्न स्थलों की आबादी का हाल अंकित होता है। इनमें दिखाया जाता है कि किस स्थल में कौन जाति के मनुष्य बसते हैं और किस प्रदेश की आबादी सबसे घनी है तथा किसकी सबसे कम। कुछ नक़्शों में खनिज पदार्थों की उपज का हाल अंकित रहता है। इन नक़्शों से यह मालूम होता है कि किस प्रदेश में कौन-सा खनिज निकलता है; कहाँ से लोहा निकलता है, कहाँ से कोयला। इस प्रकार नक़्शों के अध्ययन से हम एक निगाह में इतनी अधिक बातें ज्ञात कर लेते हैं, जो हम या तो अनेकों पुस्तकें पढ़कर जान पाते या लम्बी-लम्बी यात्राओं के पश्चात्।

ऊपर हमने जिन नक़्शों के विषय में कहा है, उनके अलावा एक प्रकार के नक़्शे और भी देखने में आते हैं। इन नक़्शों में किसी प्रदेश की आकार-रेखाएँ खिंची होती हैं। आकार-रेखाएँ (contour lines) वे रेखाएँ हैं जो एक प्रदेश के समान ऊँचाईवाले स्थानों को जोड़ती हुई मानी जाती हैं। ऊँचाई का आधार समुद्रतल माना जाता है। समान ऊँचाईवाली रेखाओं द्वारा पृथ्वी की ऊँचाई दिखलाना बड़ा सुगम है। आकार-रेखाओं के नक़्शे को देखने से किसी स्थल की पहाड़ियों, घाटियों, ढालू पठारों आदि का बोध हो जाता है।

नक़्शे के द्वारा पृथ्वी के बड़े भाग को छोटे से स्थान में दिखाया जाता है। किसी वस्तु अथवा प्रदेश के असली आकार और नक़्शे में दिखाये गये आकार में जो अनुपात होता है, वह पैमाना कहलाता है। यदि किसी नक़्शे में पाँच मील की लम्बाई पाँच इंच से दिखाई गई है, तो उस नक़्शे का पैमाना १ इंच प्रति मील हुआ। नक़्शे में दिये हुए प्रदेश का वास्तविक आकार जानने के लिए हमको सबसे पहले नक़्शे का पैमाना देखना चाहिये। नगर, प्रान्त आदि पृथ्वी के छोटे भागों के नक़्शे बड़े पैमानों पर बनाये जाते हैं, पर महाद्वीप आदि बड़े भागों के नक़्शे छोटे पैमानों पर ही बनाना सुगम होता है।

भारतवर्ष का सबसे बड़ा नक़्शा प्रति मील एक इंच के पैमाने पर बना है। फ़ौजी विभाग के कुछ विशेष नक़्शे

प्रति मील तीन इंच के पैमाने पर भी बनाये गये हैं। छोटे पैमानों के नक़्शों में केवल मुख्य-मुख्य बातें ही दिखाई जाती हैं। परन्तु बड़े पैमाने के नक़्शों में छोटे-छोटे स्थान जैसे कुएँ, बाग़ आदि भी दिखाये जा सकते हैं।

किसी देश की लम्बाई चौड़ाई दिखलानेवाला पैमाना क्षितिज के समानान्तर होता है। उसे हम धरातलीय पैमाना भी कह सकते हैं। परन्तु पहाड़ आदि की ऊँचाई दिखाने के लिए धरातलीय पैमाने से काम नहीं चल सकता। पहाड़ों की ऊँचाई दिखाने का सबसे सुगम उपाय आकार रेखाओंवाला नक़्शा है। भिन्न-भिन्न ऊँचाई दिखाने के लिए भिन्न-भिन्न रंगों का प्रयोग करने से धरातलीय पैमाने पर बनाये गये नक़्शों में भी ऊँचाई का ज्ञान हो सकता है। कुछ धरातलीय पैमाने के नक़्शों में भिन्न-भिन्न स्थानों की ऊँचाई उनके सामने ही लिख दी जाती है। पर समुच्च या आकार-रेखाओं द्वारा ऊँचाई-निचाई प्रदर्शित करना सर्वोत्तम माना जाता है।

समुच्च रेखाएँ जितनी दूरी के बाद स्थित होती हैं, उसे धरांश (Vertical Interval) कहते हैं। जहाँ ढाल सपाट होता है, वहाँ ये रेखाएँ पास-पास होती हैं। पर क्रमश: रेखाओं से न केवल ठीक-ठीक ढाल का ज्ञान होता है, वरन् उनसे पहाड़ी, घाटी आदि पृथ्वी के अंगों की स्थिति का ठीक-ठीक पता चल जाता है। दो समुच्च रेखाओं के बीच में जो अन्तर हो, उसको ढाल के क्रम से भाग देने से ढाल का अंश निकल आता है।

थियोडोलाइट यंत्र

नक़्शा बनाने में दिशा का ज्ञान होना बहुत ही आवश्यक है। एक स्थान से दूसरा स्थान किस दिशा में है, यह बात नक़्शे में ठीक उसी प्रकार अंकित होना चाहिए जैसी वास्तव में है। इसलिए दिशा का ठीक-ठीक पता होना चाहिए। दिशाएँ जानने के लिए सूर्य की सहायता ली जाती है। रात में ध्रुवतारे की सहायता से दिशाओं का ज्ञान किया जाता है। कुतुबनुमा नामक यंत्र की सहायता से भी दिशा जानी जाती है।

पृथ्वी के भागों का नक़्शा बनाने के लिए धरातल की नाप करनी पड़ती है। नाप-जोख करने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक भाग में जाकर अपने हाथ से नाप-जोख की जाय। इसके लिए थियोडोलाइट (Theodolito) नामक यंत्र की सहायता ली जाती है। इस यंत्र के द्वारा किसी एक ही स्थान से दूर-दूर तक नाप की जा सकती है। पहले किसी ऊँचे स्थान को चुन लिया जाता है और वहाँ से इस यंत्र के द्वारा जितने स्थान दिखाई देते हैं, उनके कोण नाप लिये जाते हैं। इन कोणों के द्वारा पृथ्वी के बहुत बड़े भागों की नाप कर ली जाती है। इस रीति को ट्रैन्गुलेशन (Triangulation) कहते हैं।

हम ऊपर कह आये हैं कि पृथ्वी गोलाकार है। इसलिए इसका सच्चा चित्र ग्लोब ही है। पर जब चौकोर काग़ज़ पर पृथ्वी का चित्र अर्थात् नक़्शा खींचा जाता है, तब अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं। गोले का सच्चा चित्र चौकोर काग़ज़ पर बन ही नहीं सकता। फिर भी काम चलाने के लिए किसी-न-किसी प्रकार पृथ्वी के गोले का आकार चौकोर काग़ज़ पर बनाया ही जाता है।

काग़ज़ पर पृथ्वी का नक़्शा बनाने में सबसे पहले अक्षांश-देशान्तर रेखाओं का जाल इस प्रकार से बनाया जाता है कि वह ग्लोब पर बने हुए अक्षांश और देशान्तर रेखाओं के जाल से मिलता-जुलता रहे। इस जाल के बनाने के ढंग को प्रोजेक्शन (Projection) अथवा फैलाव कहते हैं। प्रोजेक्शन के द्वारा गोलाकार ग्लोब चिपटे काग़ज़ पर फैलाया जाता है। ग्लोब पर बने हुए अक्षांश और देशान्तर रेखाओं के जाल के देखने से मालूम होता है कि अक्षांश और देशान्तर रेखाएँ एक-दूसरे से नियत दूरी पर खिंची हुई हैं और वे एक-दूसरे को समकोण बनाती हुई काटती हैं। सब देशान्तर रेखाएँ ध्रुव विन्दु पर मिल जाती हैं। कोई भी प्रोजेक्शन ऐसा नहीं है, जिसके द्वारा चिपटे काग़ज़ पर बनाये हुए जाल में ऊपर बताये ग्लोब की सभी बातें आ जायँ। इनमें से प्रत्येक बात दिखाने के लि अलग-अलग प्रोजेक्शन है। अब तक लगभग २० प्रकार के प्रोजेक्शन बन चुके हैं। प्रोजेक्शन द्वारा गोले को नक़्शे में प्रदर्शित करने के लिए जितने ढंग हैं, उनमें से कुछ का वर्णन हम आगे के अध्याय में करेंगे।

चित्र १
फ्लैमाइडोमोनस
कोश-विभाजन क्रिया द्वारा इस एककोशीय शैवाल में भी एक कोश से अनेक कोश उत्पन्न होते हैं; परन्तु ये सब स्वतंत्र रहते हैं।

चित्र ३
क्लैडोफोरा
यह स्पाइरोगायरा की भाँति का एक शैवाल है। इसके भी सारे कोश एक ही भाँति के होते हैं; परंतु इसमें अनेक शाखाएँ होती हैं
(फ़ोटो—वि० सा० शर्मा)
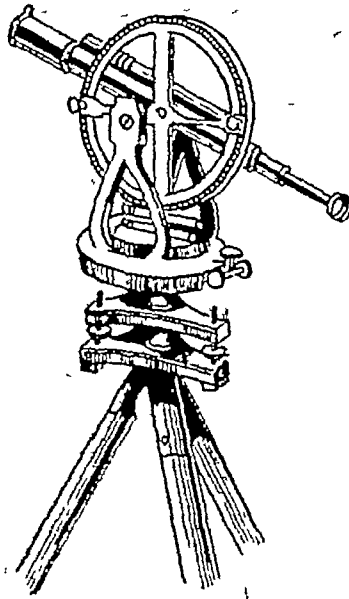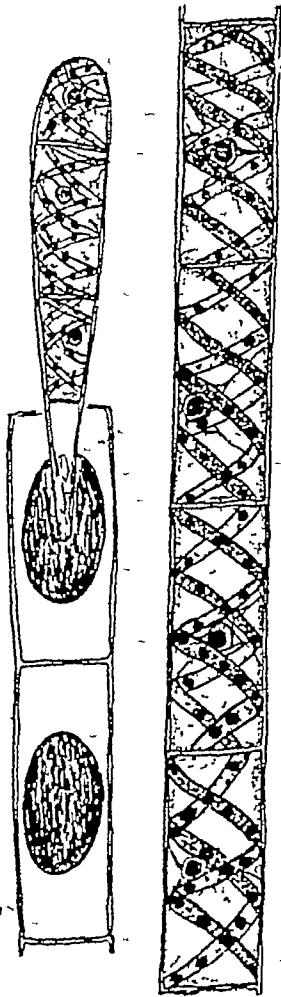
चित्र २
स्पाइरोगायरा
प्रारम्भ में यह भी एककोशीय होता है। क्रमशः विभाजन द्वारा इसमें एक-से अनेक कोश उत्पन्न होते हैं, परन्तु ये सारे एक ही भाँति के होते है। इस बाल जैसे महीन शैवाल में शाखा-प्रशाखाएँ नहीं होती।

(दाहिनी ओर) चित्र ४
माइक्रोटोम
यह महीन कत्तल काटने की एक मशीन है। इस चित्र में इस मशीन के द्वारा प्याज़ की जड़ के सिलसिलेवार कत्तल काटे जा रहे हैं। इस सूत से भी महीन जड़ के इस मशीन द्वारा कई सौ सिलसिलेवार कत्तल तैयार किये जा सकते हैं। चि० ७ में दिया फ़ोटो एक इसी प्रकार तैयार किये कत्तल से लिया गया है।
(फ़ोटो—वि० सा० शर्मा)
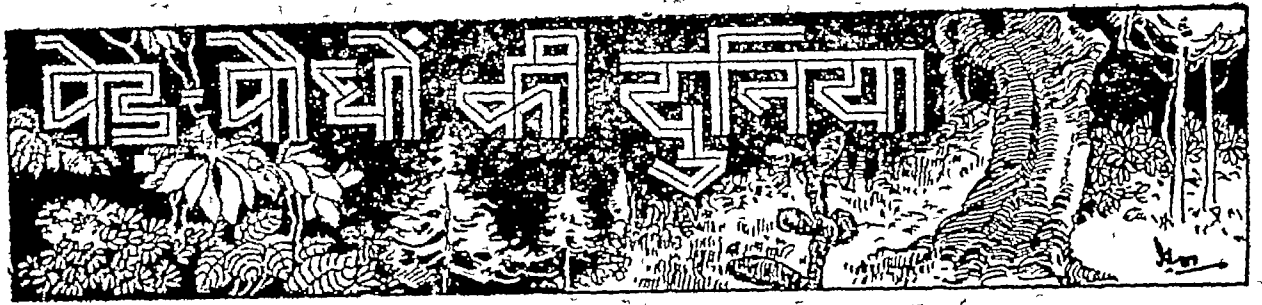
कोश की कुछ और बातें

कोश-वृद्धि, कोश-परिवर्त्तन तथा तन्तु-रचना

जैसा आप देख चुके हैं, संसार के सभी जीव कोश और कोश द्वारा उपार्जित वस्तुओं के बने हैं। इनके सारे काम काज इन्हीं कोशों में होते हैं। एककोशीय कीटाणु (*Bacteria*) और क्लैमाइडोमोनस (चि० १) से लेकर उच्च-से उच्च कोटि के जीव तथा स्वयं मनुष्य तक की सारी जीवन-लीलाएँ इन्हीं अणुवीक्षणीय कोशों की क्रियाएँ हैं। खान पान, रहन-सहन, बाढ़ वृद्धि सारी बातें इन्हीं कोशों की करामात हैं। एककोशीय जीवों में ये सारे रहस्य एक ही कोश द्वारा होते हैं। हम ऐसे जीवों की तुलना सभ्यता के विकास के पूर्व के मनुष्यों से कर सकते हैं, जो आज से हज़ारों वर्ष पहले जंगलों मे विचरते और सभी काम स्वयं अपने हाथों करते थे। उस समय न कोई हाट थी न बाज़ार, न काश्तकार या बनिये, जहाँ से उन्हें गेहूँ, चना, चावल अथवा अन्य चीज़ें मोल मिलती। उन्हें उदर-पूर्त्ति के लिए सारी वस्तुएँ इधर उधर से इकट्ठा करना पड़ती थीं। उन्हें अंग ढकने का भी प्रबन्ध स्वयं ही करना पड़ता था। न जुलाहे थे, न बज़ाज़, न मिल या कारखाने, जहाँ से उनको कपड़े मोल मिल जाते। लोगों को, भोजन की भाँति, कपड़े के लिए भी ख़ुद ही इन्तज़ाम करना पड़ता था। यही नहीं, उन्हें अपने रहने के लिए घर भी स्वयं बनाने पड़ते थे। उस समय कोई ठेकेदार या कारीगर थोड़े ही थे जो आज्ञा पाते ही लोगों की इच्छानुसार कोठी या महल बनाकर खड़े कर देते। उन्हें ख़ुद ही कंकड़-पत्थर, लकड़ी-कुल्हाड़ी, घास फूस, सभी कोल-काँटे जुटाने पड़ते थे और अपने हाथों ही झोपड़ी तैयार करनी पड़ती थी, तब कहीं जाकर रहने का ठिकाना लगता था। परन्तु फिर भी बेचारे चैन से नहीं सो पाते थे, क्योंकि उनकी जान-माल की हिफ़ाज़त के लिए कोई चौकीदार, तिलंगे या सिपाही नहीं थे। इसका भी प्रबन्ध उन्हें ख़ुद ही करना पड़ता था। समय पड़ते ही कमर बाँध बरछी, भाले अथवा तीर-कमान ले चोर, लुटेरों और दुश्मनों से अपनी रक्षा भी करनी पड़ती थी। कैसी कठिनाई का समय रहा होगा! इस प्रकार सारे काम अपने आप करने में बड़ी ही अड़चन पड़ती रही होगी। यदि आज कहीं हमें इस प्रकार करना पड़े, तो कैसी मुसीबत आयेगी! परन्तु हमारे सभ्य समाज में ऐसा नहीं है। हमारे प्रत्येक काम के लिए आज अलग-अलग प्रबन्ध है। एक ओर किसान हैं, जो रात दिन खेतों में जुटे रहते हैं और भाँति-भाँति के अनाज, शाक-भाजी, फूल-फल तैयार करते हैं। इनसे मोल लेकर दुकानदार और बनिये औरों के हाथ बेचते हैं। हमें ये चीज़ें सुभीते से बाज़ार से मिल जाती हैं। कपड़े के लिए जुलाहे और मिलें हैं। भाँति-भाँति का कपड़ा तैयार होता है, जो हमें सुगमता से अपने इच्छानुसार मिल जाता है। इसी प्रकार सैकड़ों राज और कारीगर हैं, जो हुक्म पाते ही हमारी इच्छानुसार महल और इमारतें बनाकर खड़ी कर देते हैं, जिनमें हम मौज के साथ निर्भय रहते हैं, क्योंकि हमारी रक्षा के लिए पुलिस और पल्टन हैं। अब हमारे प्रत्येक काम के लिए अलग-अलग प्रबन्ध हैं। अनेक प्रकार के व्यापार और धन्धे चल पड़े हैं। परन्तु इस तरह अलग-अलग प्रबन्ध होने के कारण भाँति-भाँति के औज़ार और जुदा-जुदा सामान की भी ज़रूरत हुई। थवई को एक प्रकार के औज़ार चाहिए, तो बढ़ई और लोहार को दूसरी भाँति के। शकर की मिलों में एक प्रकार की वस्तुओं की माँग है, तो तेल और इत्र के कारख़ानों में दूसरी चीज़ों की ज़रूरत है। पल्टन और पुलिस में अस्त्र-शस्त्र चलाने में निपुण योद्धा चाहिए, तो मिलों और कारख़ानों में कुशल

चित्र ५—परोक्ष कोश-विभाजन

चित्र ६— प्रत्यक्ष कोश-विभाजन
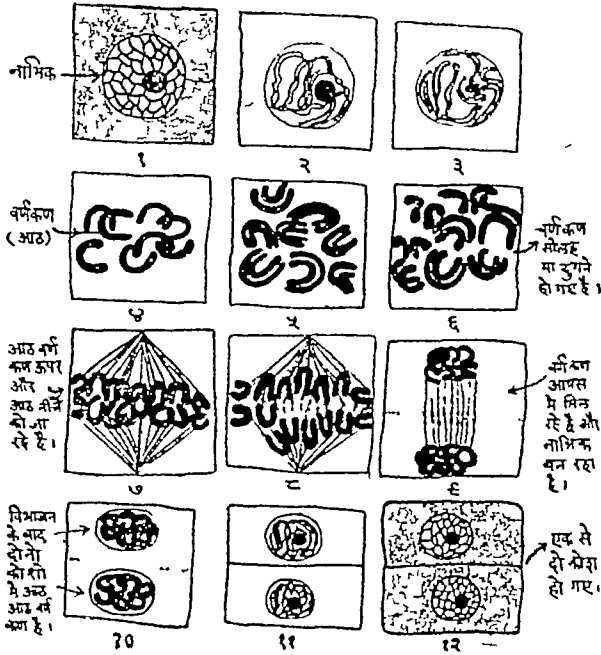
इञ्जीनियर और चतुर कारीगर। सारांश यह कि पेशे या व्यवसाय के अनुसार भाँति-भाँति के औज़ारों और वस्तुओं की आवश्यकता हुई और साथ-ही-साथ लोगों के रहन-सहन और चाल-ढाल में भी अनेक परिवर्त्तन हो गए।

हमारे सभ्य समाज की भाँति ऊँचे दरजे के पेड़ों में भी, जैसा कि आप "पौधे के अंग विधान" परिच्छेद में देख चुके हैं, अलग-अलग काम के लिए अलग-अलग प्रबन्ध हैं। इनके प्रत्येक काम के लिए विशेष अंग हैं। परन्तु जैसे हमें भिन्न-भिन्न व्यवसाय में तरह-तरह के औज़ार और अनेक प्रकार के सामान चाहिएँ, पेड़ों में भी काम-काज के अनुसार भाँति-भाँति के प्रबन्ध की आवश्यकता है। सारे काम काज एक ही कोश अथवा एक ही प्रकार के अनेक कोश से मनमाने नहीं हो सकते। अस्तु, पौधों में दो प्रधान गुणों का होना आवश्यक है। प्रथम, एक कोश से अनेक कोश का उत्पन्न होना, जिससे प्रत्येक काम के लिए अलग-अलग कोश हो जाएँ; और दूसरे, कोशों में परिवर्त्तन हो अनेक प्रकार के कोश बन जाएँ, जिससे प्रत्येक काम के लिए आवश्यकतानुसार सुभीता हो जाय। पेड़ों में ये दोनों ही क्रियाएँ बड़े महत्व की हैं और हम इस अध्याय में इन्हीं का विचार करेंगे।

एक कोश से अनेक कोश की रचना—कोश विभाजन

प्रत्येक जीव की रामकहानी एक कोश में ही आरम्भ होती है। बूटे-झाड़ वृक्ष लता, पशु-पक्षी जितने भी प्राणी हैं सारे ही प्रारम्भ में एककोशीय होते हैं। इसी से समय पाकर अनेक कोश हो जाते हैं, जिनमें परिवर्त्तन से उनके अनेक अंग उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार एक अणुवीक्षणीय वस्तु से बढ़कर विशाल-से विशाल वृक्ष बन जाते हैं।
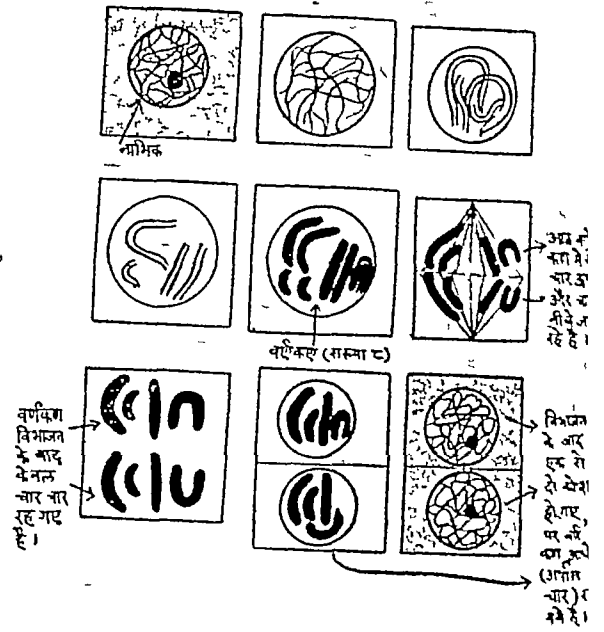
किसी पौधे की बाढ़ केवल उसके पूर्ववर्त्ती कोशों के बड़ा हो जाने से नहीं होती, वरन् उनकी संख्या के अधिक हो जाने से। जिस समय आम, जामुन या अन्य पेड़ बढ़ते हैं, उनके कोश विभाजित होने लगते हैं। एक कोश से दो, दो से चार, चार से आठ और आठ से अनेक कोश हो जाते हैं और इस प्रकार एक नन्हें-से अंकुर से बढ़कर बड़े-बड़े वृक्ष हो जाते हैं। एककोशीय जीवों में भी विभाजन द्वारा एक कोश से अनेक कोश हो जाते हैं, परन्तु अन्तर केवल इतना है कि इनमें प्रत्येक कोश अलग होकर स्वतंत्र जीव हो जाता है (दे० चि० १)। इसका पितृपिण्ड से कोई लगाव नहीं रहता। वह अलग होकर अपनी जीवन-लीला आरम्भ करता है।

स्पाइरोगायरा (दे० चि० २), क्लैडोफोरा (*Cladophora*) (दे० चि० ३), यूलोथ्रिक्स (*Ulothrix*) अथवा और भी बहुत-से बूटे हैं, जिनमें यद्यपि पौधे के कोश विभाजित हो अनेक कोश हो जाते हैं, फिर भी ये सारे-के-सारे एक ही भाँति के रहते हैं और इसलिए अनेक कोश होने पर भी ऐसे पौधों में अलग-अलग काम-काज के लिए अलग-अलग उपयुक्त सुभीता नहीं होता।

जीवधारियों में कोश-विभाजन-क्रिया बड़े गुरुत्व की है। इसके चार प्रधान भेद हैं। इनमें से परोक्ष (Indirect) कोष-विभाजन मुख्य है। पहले हम इसी पर विचार करेंगे। इसी क्रिया द्वारा स्पाइरोगायरा-जैसे पौधे में एक-से अनेक कोश उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार यूलोथ्रिक्स के कोशों की वृद्धि होती है। वास्तव में पेड़ों में प्रायः सभी अंग इसी भाँति पैदा होते और बढ़ते हैं।

कोष-विभाजन को भली प्रकार समझने के लिए हमको कोश की सजीव वस्तुओं को अच्छी तरह जानना चाहिए। आप देख चुके हैं कि प्रायः सभी कोश अणुवीक्षणीय होते हैं। जिस अंग के कोश विभाजित हो रहे हों, उसके हमको माइक्रोटोम नामक मशीन द्वारा सिलसिलेवार अत्यन्त महीन कत्तल तैयार करने पड़ते हैं (दे० चि० ४), और इनकी अत्यंत शक्तिशाली खुर्दबीन से जाँच करनी पड़ती है।

चित्र ७—सूत से महीन प्याज की कत्तल का खुर्दबीन से खींचा गया फ़ोटो जहाँ चिह्न दिया गया है, वहाँ कोश विभाजित हो रहा है।

(फ़ोटो—श्री० वि० मा० शर्मा)
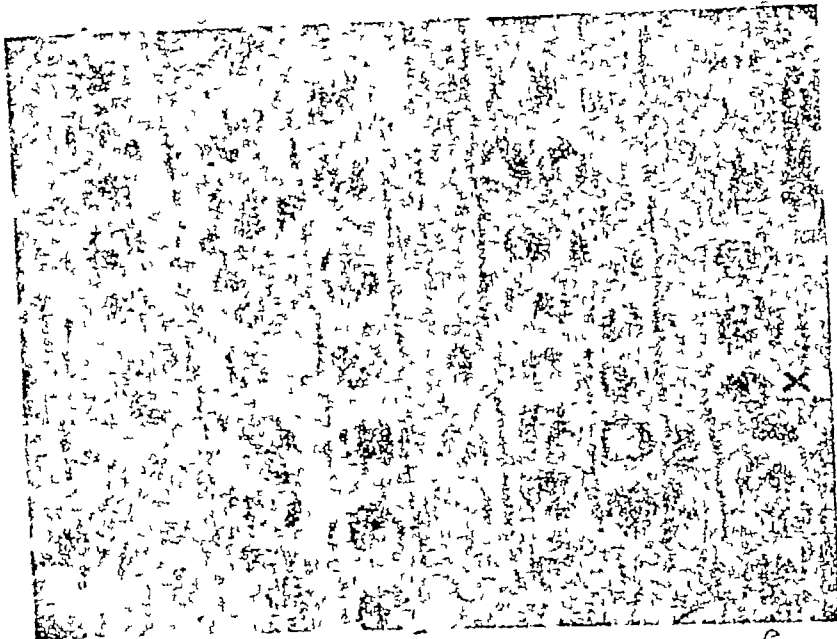
जैसा आप पहले भी देख चुके हैं, प्रत्येक सजीव कोश में भित्तिकाओं से परिवेष्ठित कोशमूल होता है, जिसके बीचोबीच नाभिक रहता है (दे० चि० ५—नं० १)। शुरू में नाभिक में ही परिवर्त्तन आरम्भ होते हैं। कोश का यही अंग अगुवा होता है। क्रमशः नाभिक कुछ बड़ा होने लगता है और नाभिक जाल कुछ मोटा हो लिपट-लिपटाकर और भी पेंचदार हो जाता है (दे० चित्र० ५—नं० २)। इस समय नाभिक-जाल रंगों से सरलता से रँगा भी जा सकता है। अब अणुनाभिक विलीन हो जाता है। अन्त में नाभिकजाल के अलग-अलग कई टुकड़े हो जाते हैं। इन टुकड़ों को वर्ण-कण (Chromosomes) कहते हैं (चि० ५—नं० ४)। प्रत्येक जीव में इनकी संख्या निश्चित होती है। बाकला (*Vicia faba*) के प्रत्येक कोश में १२ वर्ण-कण होते हैं। इसकी पत्ती, जड़, कली आदि सभी अंगों के कोशों में इनकी यही संख्या होती है। इनकी आकृति और रचना भी निश्चित होती है। जिस भाँति के ये एक कोश मे होते हैं, उसी भाँति के दूसरे में। इनका जो रूप और बनावट बाकले की पत्ती के कोशों में होता है, वही उसकी गाँठ और पंखुडी के कोशों में।

जो बात बाकले के लिए है, वही दूसरे पौधों के लिए भी। सारे ही जीवों में वर्ण-कण की संख्या निश्चित है और कोश विभाजन के समय नाभिक-जाल टूटकर इसी संख्या में बँट जाता है। यह बात बड़े ही महत्त्व की है। लोगों का विश्वास है कि इन्हीं वर्ण-कण द्वारा माता-पिता के गुण संतानों में पहुंचते हैं।

क्रमशः नाभिक-जाल के टुकड़े और भी मोटे, परन्तु छोटे होने लगते हैं। अन्त में ये U या V की शक्ल के हो जाते हैं। अब ये कोश के बीचोबीच आ डटते हैं और धीरे धीरे इनकी आड़ी-आड़ी दो फाँकें हो जाती हैं (दे० चि० ५—नं० ५-६)। इस प्रकार वर्ण-कण की संख्या दुगनी हो जाती है। इस समय तक नाभिक-झिल्ली भी ग़ायब हो जाती है। इसके पश्चात् प्रत्येक वर्ण-कण का अर्द्धभाग, जो अब सभी बातों में पूर्व वर्ण-कण के समान होता है, कोश के एक सिरे की ओर, और उसका दूसरा भाग दूसरे सिरे की ओर खिसकने लगता है (चि० ५—नं० ७-८)। इस समय कोश में अत्यन्त महीन डोरे दिखाई देते हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि वर्ण-कण इन्हीं डोरों के सहारे जा रहे हों। अन्त में वर्ण-कण कोश के दोनों ध्रुवों पर पहुंच जाते हैं (चि० ५—नं० ९)। इसी बीच में

कोश के मध्य में जीवन-मूल के कुछ अत्यन्त छोटे-छोटे कण-से इकट्ठे होने लगते हैं (चि० ५—नं० ६-१०)। धीरे-धीरे ये और भी स्पष्ट हो जाते हैं और अन्त में इसी स्थान पर अति पतली आदि-भित्तिका बन जाती है। (चि० ५—नं० ६-११)। अब वर्ण-कण आपस मे फिर लिपट-लिपटा जाते हैं

क ख ग
काष्ठनलिका काष्ठकोश
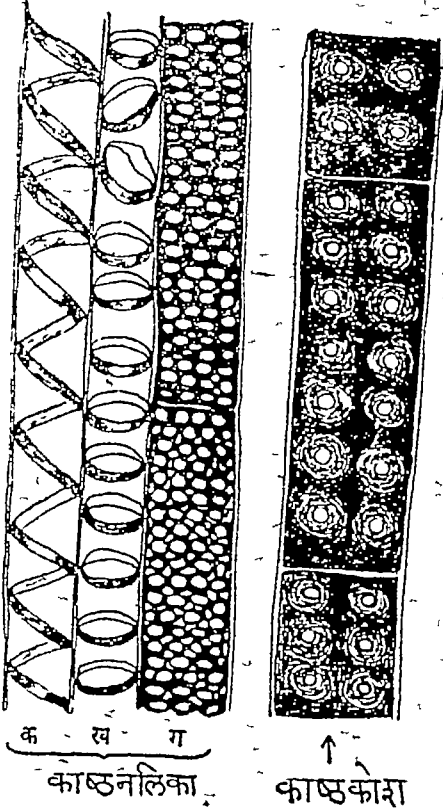
चित्र ८ (गर्तमय)

और इस प्रकार क—पेंचदार, ख—चूड़ीदार, ग—गर्तमय नाभिक बन जाता है, जिसके इर्द-गिर्द नाभिक-झिल्ली होती है। नाभिक में अब अणु नाभिक भी बन जाता है और इस भाँति कोश के दो सिरों पर दो नाभिक हो जाते हैं। आदि-भित्तिका के स्थान पर अब छिद्रोज-भित्तिका हो जाती है और इस प्रकार एक कोश से दो कोश हो जाते हैं (दे० चि० ५—नं० १२)। अब ये दोनों ही प्रत्येक बात में पूर्ण विकसित कोश हो जाते हैं। दोनों ही में जीवनमूल होता है। दोनों ही में नाभिक, कोश-रस और कोश की अन्य वस्तुएँ होती हैं। इस भाँति एक कोश से दो, दो से चार, चार से आठ और अंत में असंख्य कोश पैदा हो जाते हैं।

स्मरण रखने की बात है कि यद्यपि एक कोश से अनेक कोश हो गये, फिर भी इनके रूप और आकार प्रारंभ में वही रहते हैं, जो उस कोश के थे जिससे ये उत्पन्न हुए। इनमें वर्ण-कणों का भी रूप और आकार वही है, जो इनके जन्मदाता कोश में था। इनमें नाभिक, अणुनाभिक अथवा कोश की अन्य वस्तुएँ भी वही हैं, जो उस कोश में थीं, जिसके विभाजन से ये उत्पन्न हुए। यथार्थ में इन कोशों के गुण और कर्त्तव्य उत्पन्न होने के समय वही रहते हैं, जो उस कोश के थे जिससे इनका जन्म हुआ।

कोश-विभाजन की दूसरी रीति प्रत्यक्ष (Direct) कोश-विभाजन है। परोक्ष कोश-विभाजन की भाँति यह भी विचित्र क्रिया है। इसकी प्रधान विशेषता यह है कि जो कोश इस भाँति उत्पन्न होते हैं, उनमें वर्णकण की संख्या आधी रह जाती है (दे० चि० ६)। इस रीति से केवल पेड़ों की जननेंद्रियों में ही विभाजन होता है। इस क्रिया द्वारा पेड़ों के रजोबिन्दु और परागकण बनते हैं। इसी प्रकार पर्णांग और उनके भाई-बन्धुओं तथा ब्रायोफाइट्स के रेणु उत्पन्न होते हैं।

वर्ण-कण का इस प्रकार बँटकर आधे रह जाना भी महत्त्वहीन नहीं है। आप आगे चलकर देखेंगे कि जब गर्भाधान होता है तो नर और मादा अंशों का सम्मेलन होता है। इस क्रिया में दोनों पैतृक नाभिकों का मिलन होता है और इस प्रकार माता और पिता के वर्ण-कण के सम्मेलन से सन्तान के नाभिक की रचना होती है। इसलिए यदि वर्ण-कण सम्मेलन के पहले आधे न रह गये होते, तो वे अब दूने हो जाते और इस भाँति सन्तान में अब इनकी संख्या दूनी हो जाती। आगे चलकर जब इन सन्तानों के फिर बीज उत्पन्न होते तो उनमें वर्ण-कण की संख्या चौगुनी हो जाती। इस प्रकार ज्यों ज्यों नस्ल पुरानी होती जाती, वर्ण-कण की संख्या बढ़ती ही जाती। परन्तु ऐसा नहीं होता, क्योंकि प्रत्यक्ष कोश-विभाजन द्वारा वर्ण-कण की संख्या सदैव समान बनी रहती है।
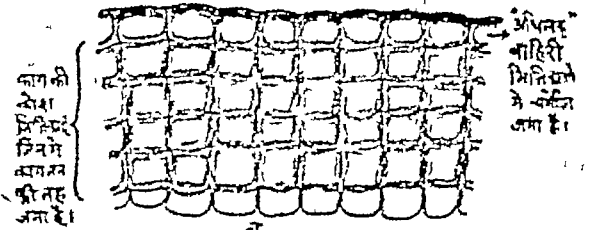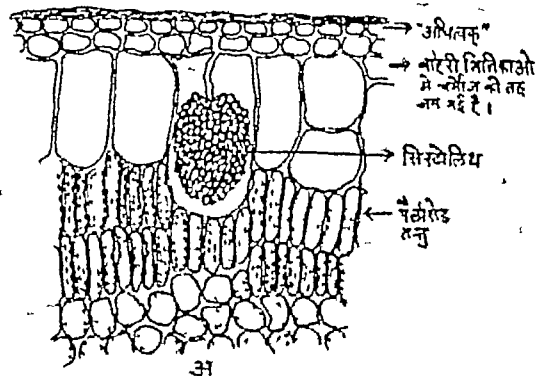
चित्र—९ (अ बरगद की पत्ती के आड़े कटाव का चित्र है)

कोश-विभाजन के और भी कुछ भेद हैं, जिनसे आप आगे चलकर परिचित होंगे।

कोश-सम्मेलन (Cell-fusion)

ऊपर जो दोनों क्रियाएँ वर्णन की गई हैं, इनके द्वारा जीवों में कोशों की संख्या बढ़ती है। कभी-कभी कुछ कोश आपस में सम्मिलित होकर नलिकाएँ बनाते हैं। इस प्रकार पेड़ों की काष्ठ (Xylem) और दुग्ध (Lactiferous) नलिकाएँ बनती हैं। इन दोनों का हम आगे चलकर उल्लेख करेंगे।

कोशों में परिवर्त्तन—एक प्रकार के कोश से अनेक प्रकार के कोश कैसे बनते हैं ?

जैसा आप देख चुके हैं, विभाजन द्वारा एक से अनेक कोश हो जाते हैं और इस प्रकार क्लेमाइडोमोनस-जैसे न्यून कोटि के जीवों में जो क्रियाएँ एक कोश द्वारा होती हैं, उनके लिए अब अनेक कोश हो जाते हैं; परंतु यदि ये सारे कोश एक-से रहें, जैसा कि क्लैडोफोरा (चि० ३) या स्पाइरोगायरा (चि० २) जैसे पौधों में होता है, तो पेड़ों के सारे प्रश्न हल नहीं हो सकेंगे और उच्च कोटि के पौधों में भाँति भाँति के काम-काज के लिए अलग-अलग सुभीता भी नहीं हो सकेगा। जैसे हमारे सभ्य समाज में व्यवसाय और पेशे के अनुसार रहन-सहन आदि में अन्तर पड़ता है—तरह तरह की चीज़ें बनाने के लिए जुदा-जुदा सामान हमें चाहिए— उसी प्रकार पौधों में भाँति-भाँति के काम-काज अलग अलग करने के लिए इनके कोशों में परिवर्तन होना आवश्यक है।

चित्र १०—हरजुरी
इस पौधे की भित्तिकाओं में सिलिका होती है। इसलिए यह दृढ़ और खुरदरा होता है। [फ़ोटो—वि० सा० शर्मा।]

आप देख चुके हैं कि प्रारम्भ में सारे कोश एक समान होते हैं। इनकी बनावट और आकृति एक ही भाँति की होती है (दे० चि० ७)। उच्च कोटि के पेड़ों में अंकुर के बाहर निकलते ही पेड़ के सामने अनेक समस्याएँ उपस्थित हो जाती हैं। उसे तरह-तरह के कामों के लिए अलग-अलग व्यवस्था करनी होती है। उसकी पत्तियों को भोजन तैयार करना पड़ता है, इसलिए इनके कोशों में इस काम के लिए कोई-न-कोई विशेषता होनी चाहिए। इनको आँधी और तूफ़ान भी सहन करने पड़ते हैं, इसलिए इसका भी प्रबन्ध होना चाहिए। पेड़ के तने को शाखों और दूसरे अंगों को धारण करना पड़ता है और कभी-कभी उसे हज़ारों मन का बोझ उठाना पड़ता है। कितने ही आँधी और तूफ़ान आएँ, फिर भी उसे इस बोझ को बराबर धारण किये रहना होता है। इसलिए तने में इसकी सामर्थ्य होना चाहिए। जड़ों को खाद्य पदार्थों के संग्रह के साथ-साथ पेड़ को रोपण भी करना होता है; कितनी ही प्रचंड वायु चले अथवा प्रबल धाराओं का सामना हो, उन्हें बराबर पेड़ को स्थान पर क़ायम रखना पड़ता है। जड़ों को इन दुर्घटनाओं को सहन करने का प्रबन्ध करना पड़ता है। इसलिए पेड़ की आवश्यकतानुसार कोशों में भाँति-भाँति के परिवर्त्तन हो नाना प्रकार के तन्तुओं की रचना हुई, जिनके संयोग से उनके अंग बने।

कोश-भित्तिकाओं में परिवर्त्तन

जैसे-जैसे कोश पुराने होकर बढ़ते हैं, उनकी सूरत-शक्ल में अनेक परिवर्त्तन हो जाते हैं। जैसा आप देख चुके हैं, ज्यों-ज्यों कोश पुराने होते हैं, जीवनमूल सारे कोश को भर नहीं सकता और इस प्रकार कोश में नन्हें-नन्हें अनेक कुंड पड़ जाते हैं, जिनके सम्मेलन से मुख्य कुंड बन जाता है। कोश की बाढ़ के कारण कोश-भित्तिकाओं पर खिंचाव पड़ता है और जैसे-जैसे ये बढ़ती हैं, वैसे ही यदि इनमें दूसरी

चित्र ११

वस्तुओं की तह जमकर दृढ न हो जातीं, तो तनी हुई रबर की झिल्ली की भाँति ये पतली हो जातीं। परंतु साधारण कोशों में दृढ करनेवाली वस्तुएँ इतनी शीघ्रता से दीवालों में जमती हैं कि उनके बाद के साथ भित्तिकाएँ और भी मज़बूत व मोटी होती जाती हैं।
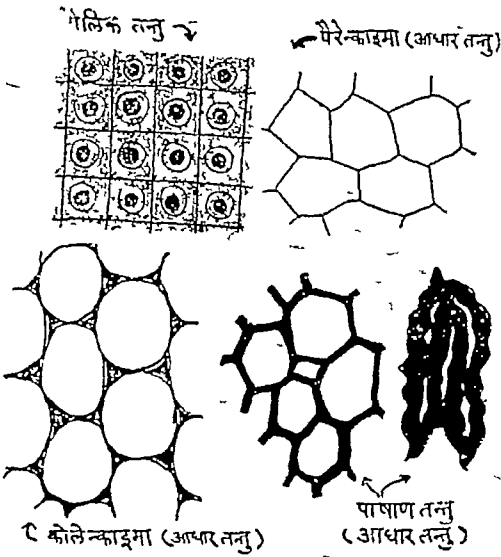
काष्ठकर (Lignin)

कोश-भित्तिकाओं को दृढ करनेवाली वस्तुओं में सबसे प्रथम स्थान काष्ठकर (Lignin) का है। पेड़ों की लकड़ी का कठीलापन और मज़बूती इसी वस्तु के कारण हैं। आम, नीम, बबूल, शीशम, सागौन, देवदार, आबनूस आदि की लकड़ी की दृढ़ता इसी काष्ठकर की बदौलत है। कोश में काष्ठकर का निर्माण जीवनमूल द्वारा होता है। जिस समय यह वस्तु बनने लगती है, इसकी तह सारी भित्तिका पर समान रूप से नहीं जम जाती, बल्कि किसी स्थान पर वह रहती है और किसी पर नहीं रहती। सबसे पहले काष्ठकर चूड़ियों या छल्लों के रूप में भित्तिकाओं पर जमता है। क्रमशः ज्यों-ज्यों कोश पुराने होते हैं, ये चूड़ियाँ निकटवर्ती होती जाती हैं और इस प्रकार काष्ठकर की तह जालीदार हो जाती है। अन्त में जाली इतनी घनी हो जाती है कि कुछ अत्यन्त नन्हें-नन्हें स्थानों को छोड़कर सारी कोश भित्तिका पर काष्ठकर की तह जम जाती है और भित्तिकाएँ गर्तमय (Pitted) हो जाती हैं (दे० चि० ८)। वह स्थान, जिन पर काष्ठकर नहीं जमता, गड्ढे-सरीखे दिखाई देते हैं (चि० ८)। पास-पास की भित्तिकाओं में ये गड्ढे आमने-सामने होते हैं और इसलिए ऐसे स्थानों में होकर रस एक कोश से दूसरे कोश में सुगमता से आ-जा सकते हैं। प्रायः इन गड्ढों के बीच में अत्यन्त महीन छेद भी होते हैं, जिनमें होकर जीवनमूल रेशे एक कोश से होकर दूसरे कोश में पहुँचते हैं और इस प्रकार सारे कोशों का जीवनमूल आपस में मिला रहता है। इस अनोखी क्रिया द्वारा कोश-भित्तिकाओं के मोटे और दृढ़ हो जाने पर भी कोश के अन्दर वस्तुओं का आना-जाना बंद नहीं होता।

कागजन (Subrin)

दूसरी रासायनिक वस्तु जिसकी तह प्रायः कोश-भित्तिकाओं में जमा हो जाती है, कागकर या कागजन (Subrin) है (दे० चि० ६ ब)। इसके जम जाने से भी कोश-भित्तिकाओं के गुणों में परिवर्तन हो जाते हैं। ऐसे कोश यद्यपि कठीले नहीं होते, परन्तु वे दृढ़ और चिमड़े होते हैं।

कागजन में होकर जल प्रवेश नहीं कर सकता और इस वस्तु की यह विशेषता पेड़ों के लिए परम उपयोगी है; क्योंकि जिन अंगों से जल-त्याग का भय रहता है, वहाँ पर इसके जम जाने से फिर हानि होने की सम्भावना नहीं रहती। जिस समय पेड़ों में गौण वृद्धि (secondary growth) होने लगती है, तने और शाखों की छाल तनाव के कारण फट जाती है। इस प्रकार जल-त्याग से पेड़ को हानि पहुँचने का भय रहता है, परन्तु काग के निर्माण से यह भय जाता रहता है। साधारण काग एक प्रकार के शाहबलूत के पेड़ से उत्पन्न होती है।

चित्र १२ जड़ की एक कत्तल × चिह्न द्वारा विभाजित होनेवाले कोश दिखा ये गये हैं। ये क्रमशः ज्यों-ज्यों पुराने होते हैं, इनमें परिवर्तन हो विविध भाँति के तन्तु बन जाते हैं।
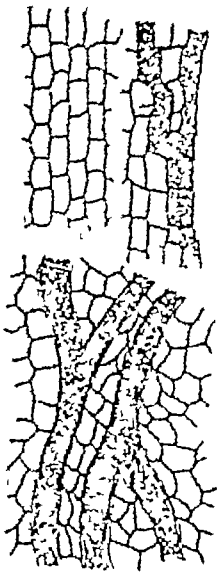
चित्र—१३
दुग्धनलिका

चर्मोज (Cutin)

तीसरी वस्तु जिसके जमा होने से कोश भित्तिकाओं के गुण में परिवर्तन हो जाते हैं, चर्मोज है (चि० ६ अ-ब)। यह वस्तु प्रायः अधित्वक् के कोशों की सबसे बाहरी पर्त में जमा होती है। यह भी कार्ग की भाँति जल के लिए अप्रवेशनीय है और इसलिए जल-त्याग को रोकती है। यह कोशों को जल से गीला होने से भी बचाती है। अधिकतर यह पदार्थ पत्तियों की बाहरी तह में जमा होता है।

इन वस्तुओं के अलावा और भी ऐसी अनेक वस्तुएँ हैं, जिनसे कोश भित्तिकाओं के रासायनिक और भौतिक गुणों में परिवर्त्तन होते हैं। सिलिका (Silica) इसी प्रकार की वस्तु है। इस वस्तु की तह अधिकतर घास और बेत की कोश भित्तिकाओं में जमा होती है। हरजुरी (*Equisetum*) (चि० १०) में भी यह बाहरी कोशों की बाहरी दीवालों में जमा होती है। सिलिका पौधों को मज़बूत करती है। कभी-कभी रवे भी कोश-भित्तिकाओं में जमा हो जाते हैं। सिस्टोलिथ (Cystolith) एक प्रकार के रवों का समूह है, जो बरगद-जाति के वृक्षों की पत्तियों के बाहरी पर्त्तों पर जमा होता है (चि० ६ अ)। खुर्दबीन से देखने पर यह अंगूर के गुच्छे-सरीखा दिखाई देता है। इस गुच्छे में डंठल काष्ठोज का होता है और अंगूर-सरीखे दाने खनिज रवे हैं।

चित्र १४—एक तरह का थूहड़
इसके दूध में मांडी के दाने होते हैं। (फो०—वि० शर्मा)

कोशों की बाद-वृद्धि और उनके भाँति-भाँति के परिवर्त्तन से अनेक प्रकार के कोश बन जाते हैं। इन कोशों के कार्य-क्रम अनेक भाँति के हो जाते हैं और इस प्रकार अनेक कोशसमूह या तन्तु (Tissue) हो जाते हैं, जिनके मेल-जोल से विविध भाँति के तन्तु-संस्थान(Tissue systems) बन जाते हैं; और इस प्रकार पौधों के प्रत्येक अंग में कई पर्त्त हो जाते हैं, जिनकी रचना भाँति-भाँति की होती है (दे० चि० ११, १६)। इसकी परीक्षा हम गन्ना, कद्दू की बेल या अन्य किसी साधारण पौधे की जाँच से कर सकते हैं। इनमें अनेक प्रकार के तन्तु मिलेंगे। इनके रेशे-रेशे में भाँति-भाँति की चित्रकारी दिखाई देती है, लेकिन प्रत्येक तन्तु के कोश एक ही भाँति के होते हैं। इनकी आकृति समान होती है और इनके कार्य और कर्त्तव्य भी एक-से होते हैं।

साधारण प्रकार से तन्तु-संस्थान के चार मुख्य भेद हैं—मौलिक (Meristematic); आधार (Fundamental), रक्षक (Protective) और प्रवाहक (Conducting) तन्तु संस्थान।

मौलिक तन्तु-संस्थान—इस तन्तु के कोश सदैव प्रारम्भिक अवस्था में रहते हैं। इनमें विभाजन-सामर्थ्य भी बराबर बना रहता है (दे० चि० ७, ११)। यह पेड़ के बढ़नेवाले भागों में होते हैं और इन्हीं से कोशों की
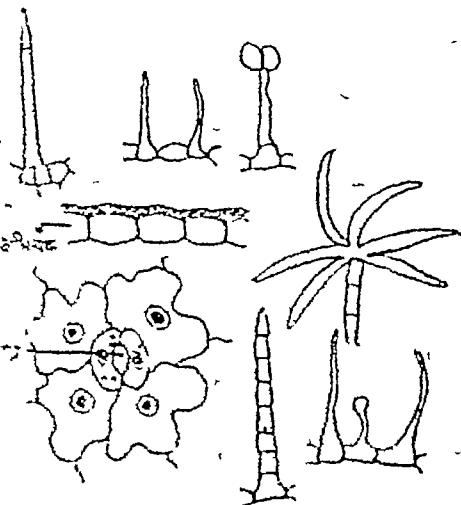
चित्र १५
रंध्र और अनेक प्रकार के रोम अधित्वक् में ही परिवर्त्तन से उत्पन्न होते हैं।
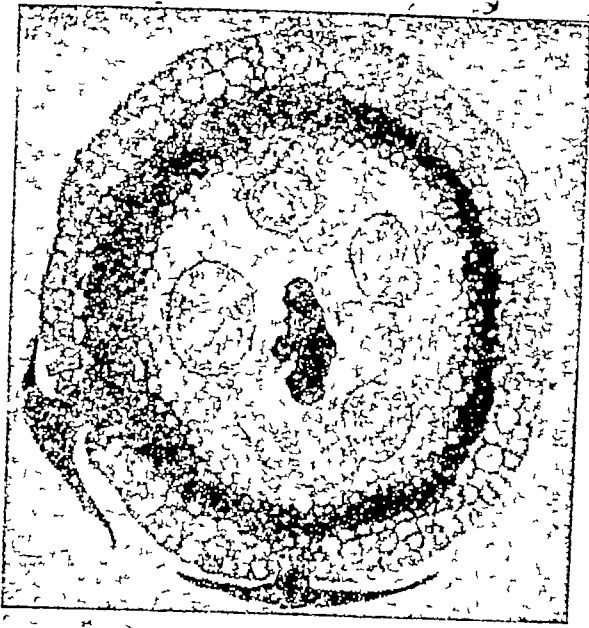
चि० १६—निफ़ोबोलस पर्णाङ्ग के मूलस्कंध का अणुवीक्षणीय चित्र—भाँति-भाँति के कोश और तन्तु मौलिक तन्तु में परिवर्त्तन ही से उत्पन्न हुए हैं। बाहिरी परिधि पर बाईं ओर तथा ऊपर दो स्केल दिखाई दे रही हैं। (फ़ो०—लेखक द्वारा)

संख्या बढ़ती रहती है। मौलिक तन्तु के कोश छोटे होते हैं। उनकी भित्तिकाएँ कोमल और छिद्रोज की होती हैं और इनमें जीवनमूल और कोशों की अपेक्षा अधिक होता है। उनमें कुंड भी प्रायः नहीं होते और यदि होते हैं, तो अत्यंत छोटे होते हैं (दे० चि० ७, ११)। इन कोशों का नाभिक भी बड़ा होता है। यथार्थ में ऐसे ही तन्तुओं में परिवर्त्तन से अन्य तन्तु बनते हैं (दे० चि० १२)।

आधार-तन्तु—पौधे के अंगों के कोमल भाग प्रायः इन्हीं तन्तुओं से बनते हैं। शाखों और जड़ों के वल्क (Cortex) और हीर (Pith), पत्तियों के अधित्वक् (Epidermis) और नसों को छोड़ अन्य भाग और फलों के अधिकांश भाग ऐसे ही तन्तुओं के बने होते हैं। बहुधा इस प्रकार के तन्तुओं की कोशभित्तिकाएँ कोमल होती हैं और इन कोशों में कुंड भी बड़े होते हैं। ऐसे कोशों में जीवनमूल-जैसी वस्तुएँ बहुत समय तक सजीव रहती हैं। इन तन्तुओं के कई भेद हैं और इनके कर्तव्य भी अनेक हैं (दे० चि० ११)। पत्तियों में इन्हीं में से एक भाँति का तन्तु होता है, जिसे पैलीसेड (Palisade) तन्तु कहते हैं (दे० चि० ६ अ)। इसके कोशों में क्लोरोप्लैस्ट्स (Chloroplasts) होते हैं, जिनके द्वारा कर्बोदेत-संश्लेषण होता है। तनों और शाखों में एक प्रकार का है, जिसे पाषाणतन्तु (Sclerenchyma) कहते हैं (दे० चि० ११)। इसके कोष काष्ठकर की तह जम जाने के कारण अत्यन्त दृढ़ होते हैं और इस प्रकार यह तन्तु पेड़ों को मज़बूत करता है। वृक्षों के दुग्ध-तन्तु भी इसी समूह के हैं। दुग्ध-तन्तु ख़ास ख़ास जाति के ही वृक्षों में होते हैं। इन तन्तुओं में विशेष भाँति की नलिकाएँ होती हैं, जिनमें दूधिया रस भरा रहता है। दुग्ध-नलिकाओं के दो मुख्य भेद हैं। एक प्रकार की नलिकाएँ कोशों के आपस में सम्मेलन से बनती हैं (चि० ११)। वे कोश, जिनसे ये नलिकाएँ बनती हैं, कोई विशेष तरतीब में नहीं होते और न इनकी तरतीबवार शाखा-प्रशाखा ही होती हैं। ये नलिकाएँ प्रायः आपस में मिल-जुल जाती हैं और इस प्रकार एक जाल-सा बन जाता है। दुग्ध-नलिकाओं के बनने की दूसरी रीति यह है कि वे कोश जिनसे ऐसी नलिकाएँ बनती हैं, विभाजन द्वारा बढ़ते रहते हैं, परन्तु उनमें आड़ी कोश भित्तिकाएँ नहीं बनतीं और इस प्रकार एक लम्बा सयुक्त कोश (Cœnocyte) बन जाता है।

दोनों ही प्रकार की दुग्ध-नलिकाओं की कोश-भित्तिकाएँ कुछ मोटी होती हैं, परन्तु वे छिद्रोज ही की होती हैं। जीवनमूल और नाभिक भी इनमें सजीवावस्था में होते हैं। इस जाति के कुछ वृक्षों के सम्बन्ध में आप पिछले परिच्छेद में पढ़ चुके हैं। आप देख चुके हैं कि किसी पेड़ का दूध गहरा दूधिया, किसी का पीला, किसी का गुलाबी और किसी का पानी-सरीखा होता है। इस रस में
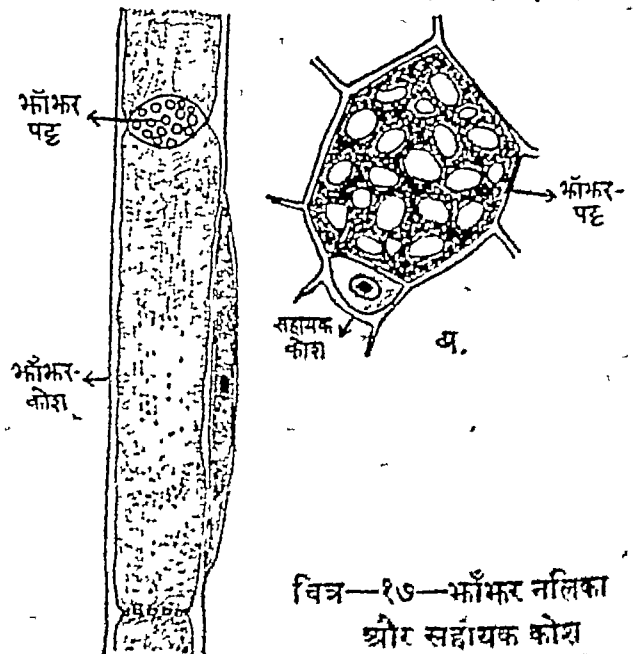
चित्र—१७—झाँझर नलिका और सहायक कोश
अ—फ्लोयम तंतु आड़े कचान के रूप में।
ब—बेड़े कचान के रूप में।

तुछ वस्तुएँ घुली और कुछ अवलम्बित रहती हैं। ये प्रायः मलोत्सर्जित वस्तुएँ (excretion products) होती हैं। अफ़ीम, ग्यटापार्चा, रबर, खालिन, लोबान और अनेक भाँति के गोंद इसी तरह उत्पन्न होते हैं। कभी-कभी ऐसी नलिकाओं में पौष्टिक पदार्थ भी होते हैं, जो नोषजनीय (nitrogenous) या अनोषजनीय (non-nitrogenous) होते हैं। थूहड़ (दे० चि० १४) के दूध में माड़ी के दाने भी होते हैं। इससे स्पष्ट है कि दुग्ध-नलिकाएँ किसी सीमा तक खाद्य पदार्थों के संचालन और उनके भंडार का भी काम देती हैं।

रक्षक तन्तु—पौधे के सभी कोमल अंगों में बाहर की ओर रक्षक तन्तु की एक पर्त होती है, जिसे अधित्वक् (Epidermis) कहते हैं (दे० चि० ६, १५)। अधित्वक् की बाहरी भित्तिकाओं में चर्मोज होता है, जिससे जल-त्याग का भय नहीं होता। बहुधा पौधों में अधित्वक् इकहरी होती है और इसके कोश सजीव होते हैं। इनमें जीवनमूल और नाभिक भी रहता है। कभी-कभी इन कोशों में परिवर्तन भी होते हैं। जड़ों के सिरे की मूल टोपी जो जड़ के कोमल अंग की रक्षा करती है, अधित्वक् से ही बनती है (चि० १२)। बरगद (चि० ६ अ) और रबर के जैसे पेड़ों में अधित्वक् के कई पर्त होते हैं।

पत्तियों तथा पेड़ के अन्य वायुवर्त्ती अंगों में अनेक सूक्ष्म छिद्र होते हैं, जिन्हें रंध्र (Stomata) कहते हैं। प्रत्येक रंध्र में दो रक्षक कोश (guard cells) होते हैं (दे० चि० १५)। रंध्र का खुलना या बन्द होना इन्हीं कोशों के अधीन रहता है। परिस्थिति के अनुसार ये कोश आपस में जुट जाते हैं या अलग-अलग हो जाते हैं और इस प्रकार रंध्र खुलते-मुँदते रहते हैं।

अधित्वक् के कोशों में परिवर्त्तन से कभी कभी अनेक भाँति के रोम बन जाते हैं। (दे० चि० १५)। बहुधा पत्तियों पर वर्त्तमान रोम इसी भाँति के होते हैं। गुलाब, बैंगन, भटकटइया आदि के काँटे भी इन्हीं में से हैं। पहाड़ों पर उगनेवाली बिच्छू बूटी (*Urtica*) के काँटे भी इसी प्रकार के हैं। पर्णाङ्ग की पत्तियों पर उगे घने रोम और उनकी मूलस्कंध (Rhizome) पर ढाल जैसी स्केल (Scale) (चि० १६) भी अधित्वक् से ही उत्पन्न होती हैं। ये सभी रक्षक तन्तु में हैं। जड़ों और शाखों के पुराने अंगों में अधित्वक् के स्थान पर काग उत्पन्न हो जाता है। इसके कई पर्त होते हैं और इनमें कागकर की तह जमा हो जाती है।

प्रवाहक तन्तु—पौधों में खाद्य रसों के संचार का काम ऐसे कोशों द्वारा होता है जो बहाव के सिधान में बहुत लम्बे होते हैं और जिनकी आकृति भी असाधारण होती है। इस तन्तुसमूह में काष्ठ (Wood or Xylem) (दे० चि० ८) और फ्लोयम (Phloem) (दे० चि० १७) हैं। इन दोनों ही के आकार, आकृति तथा कर्त्तव्य में बड़ा अन्तर है, परन्तु अन्य तन्तु की भाँति ये भी मौलिक तन्तु से उत्पन्न होते हैं। काष्ठ के प्रधान अंग काष्ठ-कोश और काष्ठ-नलिका (Vessels) हैं (दे० चि० ८)। इन दोनों ही की कोश भित्तिकाएँ मोटी और कठीली होती हैं और दोनों ही का जीवनमूल भी बाद समाप्त होने के पश्चात् ही समाप्त हो जाता है। दोनों ही में काष्ठकर की पर्त दृढ़ होने की क्रिया में छल्लेदार, चूड़ीदार अथवा गर्त्तमय या अन्य भाँति की हो जाती है (दे० चि० ८)। इनमें अन्तर केवल यही है कि काष्ठ-कोश एककोशीय होता है, और वह एक कोश में परिवर्त्तन से ही बनता है, परन्तु काष्ठ-नलिका एक सिधान के अनेक कोशों के सम्मेलन से बनती है। इन कोशों की आड़ी भित्तिकाएँ क्षीण होकर गल जाती हैं और इस प्रकार इंच-दो इंच से लेकर कई गज़ लम्बी नलियाँ बन जाती हैं। इस भाँति की नलिकाएँ केवल गुप्तबीजी पेड़ों में ही होती हैं, शेष नलिकायुक्त पौधों में केवल काष्ठ-कोश ही होते हैं। काष्ठ-कोश और काष्ठ-नलिकाओं में ही होकर जड़ द्वारा संचित रस पत्तियों में पहुँचते हैं और इसलिए पेड़ का सारा नलिकाक्रम आपस में मिला रहता है। जड़ के सिरे से, जहाँ से नलिकाएँ शुरू होती हैं, चोटी की ऊँची से-ऊँची
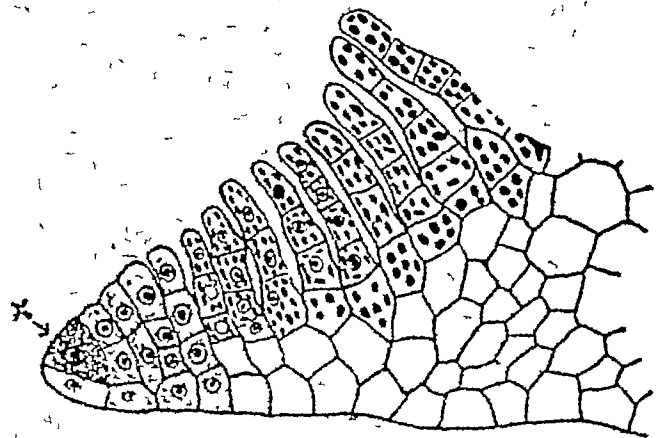
चित्र १८

एक साधारण लिवरवर्ट 'रिक्सिया' का चित्र। इस चित्र से इस जाति के पौधों की आंतरिक रचना का पता चलता है। सारे कोश × चिह्नवाले कोश के विभाजन से उत्पन्न होते हैं। यद्यपि कोश अनेक होते हैं पर सरचना सरल होती है, तंतुविभेद

पत्ती तक की नलिकाओं का आपस में सबंध रहता है। भित्तिकाओं के काष्ठ द्वारा दृढ़ और मोटा होने के कारण पेड़ के अंग मजबूत भी हो जाते हैं और इस प्रकार ये तन्तु जड़ों द्वारा संचित रसों को पेड के अन्य अंगों में पहुँचाने के साथ-साथ उन्हें सुदृढ़ भी बनाते हैं।

फ्लोयम में होकर संयोगित खाद्य पदार्थों का संचार होता है। इस तन्तु में दो प्रकार की रचना होती है। झाँझर नलिका (Sieve tubes) और सहायक कोश (Companion cell)। झाँझर-नलिकाएँ एक सिधान के एक कतार में वर्त्तमान कोशों से बनती हैं। इन कोशों की आड़ी दीवालें विशेष भाँति से मोटी और परिवर्त्तित हो जाती हैं। इनमें अत्यन्त महीन गड्ढे होते हैं, इसलिए इन्हें झाँझर-पट्ट (Sieve plate) कहते हैं (दे० चि० १७)। कभी-कभी ऐसे गड्ढे पार्श्विक भित्तिकाओं में भी होते हैं। गड्ढों के कारण निकटवर्त्ती झाँझर नलिकाओं का आपस में संसर्ग रहता है। झाँझर-नलिकाओं के कोश नाज़ुक और लम्बे होते हैं। इनमें कोशमूल होता है, परन्तु नाभिक जज्ब हो जाता है। जीवनमूल के अतिरिक्त इनमें एक अंडसित भाँति की और भी वस्तु रहती है। इनमें नन्हें-नन्हें माडी के दाने भी रहते हैं। झाँझर-नलिकाओं के साथ-साथ गुप्तबीज पौधों में सहायक कोश भी होते हैं। सहायक कोश की भित्तिकाएँ कोमल होती हैं और इनमें जीवनमूल और नाभिक दोनों ही होते हैं। काष्ठ-नलिका और झाँझर-नलिका आदर्श रूप से गुप्त बीज पौधों में ही होती हैं।

इस परिच्छेद में हमने पेड की आन्तरिक अवस्था पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है। ऐसा तन्तु विधान जिसका ऊपर उल्लेख किया गया है, केवल ऊँची कोटि के पेड़ों में ही होता है। शैवालादि, छत्राक, लाइकेन अथवा लिवरवर्ट्स (दे० चि० १८) आदि न्यून श्रेणी के पौधों की रचना अत्यन्त सरल होती है। इन पौधों में तन्तु-विभेद बहुत कम होता है। इनके कोश भी सारे एक-सरीखे होते हैं। इन पौधों के कोशों की भित्तिकाएँ भी पतली ही होती हैं (दे० चि० १–३, १८)।

उच्च कोटि के पौधों की रचना और उनके कार्यक्रम के प्रबन्ध पर विचार करने से अब आपको विश्वास हो गया होगा कि ये अद्भुत और असाधारण जीव हैं। इसमें रत्ती मात्र भी सन्देह नहीं कि इनकी बनावट तथा कार्य-प्रणाली की कितनी ही बातें हैं, जिनमें ये मनुष्य को छोड़ किसी भी अन्य जीव से कम नहीं। प्रत्येक पौधे की तुलना हम एक सुन्दर जीते-जागते नगर से कर सकते हैं, जिसमें प्रति क्षण कितनी ही नई इमारतें बनतीं और पुरानी गिरती रहती हैं; जिसमें कितनी ही लम्बी-चौड़ी सड़कें, तंग रास्ते और गली-कूचे हैं। जहाँ अलग अलग काम के लिए अलग-अलग प्रबन्ध हैं। एक ओर अनेक कारख़ाने हैं, जहाँ मनों निशास्ता बन रहा है; दूसरी तरफ़ कितनी ही डेरियाँ हैं, जहाँ घड़ों दूध जमा है। किसी ओर सैकड़ों शक्कर के कारख़ाने हैं, जहाँ गुड़, मिश्री आदि तैयार हो रहे हैं। कहीं पर कीमियाघर हैं, जहाँ अनेक प्रकार के रवे बन रहे हैं। कहीं पर इत्र और तेल के कारख़ाने हैं, जहाँ भाँति-भाँति के सुगंधित द्रव्य बनाये जा रहे हैं। किसी ओर रँगरेजों और रँगसाज़ों की दूकाने हैं, जहाँ कितने ही भाँति के रंग और वार्निश तैयार हो रहे हैं। कितने ही चितेरे और चित्रकार एक ओर बैठे अपने काम में मस्त हैं। कितने ही चरखे और करघे चल रहे हैं। हम इन नन्हें नन्हें कारीगरों को काम में संलग्न पाते हैं। अपनी-अपनी धुन में सभी मग्न हैं। कितनी ही क्रियाएँ हैं, जिन्हें हम खुर्दबीन से देख भी सकते हैं, यद्यपि यह कोई नहीं समझ पाता कि अनेक विचित्र परिणाम किस प्रकार होते हैं। इस अवस्था में हमारा वैज्ञानिक गर्व चूर्ण हो जाता है। हम एक ऐसी दुनिया में जा पहुँचते हैं, जहाँ की परिस्थिति का हमें अधूरा ज्ञान है। हम शक्तिशाली-से-शक्तिशाली खुर्दबीन उठाते हैं और इसके सहारे रातोदिन परिश्रम कर पता लगाने का प्रयत्न करते हैं; परन्तु फिर भी रहस्य गुप्त ही बना रहता है। जो वस्तुएँ तैयार हो रही हैं, हमसे छिपी नहीं। हमारे सामने ढेर-के ढेर लग रहे हैं। हम इन्ही आँखों से उन्हें बनते देखते हैं। यही नहीं, हम कितनी ही घटनाओं के कारणों का भी पता लगा लेते हैं; परन्तु फिर भी इन सबकी ओट में वह रहस्य है, जिसे **'जीवन'** कहते हैं, जिसके भेद का हमको कुछ पता नहीं। इसका रहस्य हमसे परे है। यहीं पर हमको हताश हो हार माननी पड़ती है। ज्यों ज्यों हम इन सूक्ष्म, सजीव, पारदर्शी, आकृतिहीन जीवनमूल के कणों को गतिवान् देखते हैं—उन्हें नाज़ुक रेशे बढ़ाते या मंद-मंद गति से कोशों में हिलते-डुलते देखते हैं—हम विस्मय में हो आश्चर्य से प्रश्न करते हैं कि यह कैसे होता है? परन्तु हमारे प्रश्न का कुछ उत्तर नहीं मिलता। सूक्ष्म कोश अपने काम की धुन में मस्त हैं। हमारा प्रश्न ज्यों-का-त्यों रह जाता है। हमें निराश होकर स्वीकार करना पड़ता है कि प्रकृति की कुछ लीलाओं का रहस्य आज भी, जब मनुष्य को अपनी वैज्ञानिक उन्नति का इतना गर्व है, हमसे परे है। सम्भव है, यह सदा ही हमसे छिपा रहे।

जीवधारियों का पृथ्वी पर क्रमानुसार प्रवेश

पिछले लेख में पृथ्वी की उस विचित्र नोटबुक या डायरी का हमने उल्लेख किया था, जिसके पन्नों पर उसने स्वयं अपना इतिहास लिख रक्खा है। आइये, इस लेख में उस अद्भुत आत्मकथा को उलट-पलट कर देखें कि पृथ्वी पर जीवन का विकास किस क्रम से हुआ।

भूतकाल के प्राणियों का पता हमें कैसे चलता है ?

पिछले लेख में आप पढ़ चुके हैं कि पृथ्वी पर पहले-पहल जीव का उदय कब और कैसे हुआ। उस लेख में अथवा "पृथ्वी पर होनेवाली निरंतर घटनाएँ और उनका भूतत्विक प्रभाव" शीर्षक वाले लेख में बतलाया जा चुका है कि पृथ्वी का रूप निरन्तर होनेवाली घटनाओं द्वारा किस प्रकार बदलता जा रहा है। पृथ्वी पर जब आदि वनस्पति अथवा जीव का जन्म हुआ, उस समय भी उसके धरातल का घिसना और कटना जारी था, तथा उपर्युक्त वर्णित लेख में लिखी हुई घटनाएँ उस पर घटित होने लग गई थीं। वर्षा आँधी, भूकम्प, नदी का बहना तथा अन्य घटनाओं का प्रभाव पृथ्वी की रचना पर पड़ने लगा था। इसके फलस्वरूप पृथ्वी के तत्कालीन चिप्पड़ का विनाश और उसके स्थान पर नई तह का निर्माण होने लगा था। जल तथा वायु द्वारा बड़े-बड़े गगनचुम्बी पर्वतों के कट-कट कर सागरों और महासागरों की तहों में जमा होने से समुद्र की तह में नई शिलाओं का निर्माण भी होने लगा था। तत्कालीन आदि जीव मरते तो रहे ही होंगे। उनमें से कुछ ऐसे जीव, जिनकी खाल या अंग कड़े थे, मरने के बाद क्रमशः बननेवाली इन नई चट्टानों की तहों में दबकर सुरक्षित रहे। उनमें से बहुतेरे तो पत्थरों के दबाव से नष्ट हो गये होंगे, परन्तु कुछ वे सब प्रस्तर विकल्प बनकर अभी तक विद्यमान हैं। इस तरह समय समय पर बननेवाली शिलाओं की पर्तों में उस समय के जीवों के प्रस्तर-विकल्प बनते गये, जिससे पृथ्वी की यह अद्भुत डायरी या नोट-बुक तैयार हो गई, जिसके अध्ययन के द्वारा हम भूतकाल के जानवरों का पता लगाने में समर्थ हो सके हैं। इस नोटबुक के पृष्ठों का विस्तीर्ण विवरण तथा प्रस्तर-विकल्पों की खोज का मनोरंजक इतिहास हम आगे चलकर लिखेंगे। यहाँ हम केवल संक्षेप में इस नोट-बुक के अनुसार वर्तमान काल के विविध पशु-समूहों के विकास-क्रम का उल्लेख करेंगे, अर्थात् इन समूहों में से कौन किसके बाद अवतीर्ण हुआ।

आदि-जीव कैसे थे ?

जीवन की उत्पत्ति के विषय में तो जो कुछ भी कहा जा सकता है उसे हम पहले ही लिख चुके हैं, किन्तु हम यह निश्चित रूप से न तो जानते ही हैं और न शायद कभी जान ही सकेंगे कि आदि-जीव कौन थे। उनके बारे में जो कुछ उचित रूप से कहा जा सकता है वह यही है कि वे बहुत ही सूक्ष्म अदृश्य रोगाणुओं तथा सड़ानेवाले कीटाणुओं की भाँति के अत्यन्त सूक्ष्म जीव रहे होंगे। यदि हम जीवन के उस उदय-काल में किसी देखनेवाले के अस्तित्व की कल्पना भी कर सकें तो हमारी ही तरह उस कल्पित व्यक्ति के लिए भी बैक्टीरिया-जैसे उन नन्हें आदि प्राणियों को बिना यंत्रों की सहायता से देख सकना असंभव ही होता। सर आर्थर टामसन के अनुसार यह भी निश्चित-सा है कि सबसे आदिम जीव न तो निश्चित रूप से वनस्पति ही कहे जा सकते थे, न पशु ही। उनमें दोनों के ही सूक्ष्म लक्षण रहे होंगे। वे जीवन की इन दोनों पंक्तियों के बीच डाँवाडोल हो रहे थे। वे पानी तथा उसमें घुले हुए नमकों और कार्बनद्वयोषिद को ही भोजन के रूप में ग्रहण करके, अत्यन्त साधारण रूप से जीवन-निर्वाह करते हुए, अपने ऐन्द्रिक पदार्थों को इन साधारण वस्तुओं से ही लेते थे। अतः वे जानवरों की अपेक्षा वन-

अधिक समीप रहे होंगे। ऐसे ही जीवों से, जिन्हें हम न वनस्पति कह सकते हैं और न पशु ही, एक बढ़ते हुए अंकुर की दो शाखाओं की तरह दो प्रकार के जीव निकले—एक वास्तविक जीव-जन्तु और दूसरे वास्तविक पेड़-पौधे। अथवा यों कहिये कि वनस्पति और प्राणियों की दो अलग-अलग प्रवाहित होनेवाली धाराएँ अपनी प्रारम्भिक अवस्था में एक ही झील या नदी से निकलीं। यही कारण है कि अब भी सबसे नीची श्रेणी के जीवित जानवर और पौधों में कोई विशेष अन्तर नहीं है। उनमें से कुछ ऐसे हैं, जिन्हें वनस्पति-शास्त्र वेत्ता पेड़ मानते हैं; किन्तु जन्तु-शास्त्र-वेत्ता उनकी गणना जानवरों की दुनिया में करते हैं। यह निश्चय है कि वास्तविक जन्तुओं और पौधों दोनों ही के आरम्भिक रूप एक ही कोश के बने थे। बहुकोशीय शरीर-वाले जीव बाद में जन्मे होंगे। ये एककोशीय जीव अपने वर्त्तमान प्रतिनिधियों के समान स्वाभाविक मृत्यु से अवश्य मुक्त रहे होंगे, क्योंकि जब एककोशीय जीवाणु बढ़कर अपने निश्चित आकार को प्राप्त कर लेता है तो वह विभाजित होकर दो छोटे छोटे जीवाणुओं में बदल जाता है। ये दोनों बढ़कर जब पूरे डील पर पहुँचते हैं तो वे भी उसी प्रकार दो के चार व्यक्ति बन जाते हैं। इसी तरह उनकी नई सन्तान उत्पन्न होती जाती है और उनकी नस्ल क़ायम रहती है। उनमें मृत्यु तभी होती है, जब उन्हें कोई अन्य जीव खा ले, या जिसमें वे रहते हैं वह पानी ही सूख जाय।

जीवधारी जब एककोशीय से बहुकोशीय हो गये तो उनमें कुछ विशेषताएँ भी आती गईं। धीरे-धीरे उनके शरीर बड़े होने लगे। उनके कोश अलग-अलग समूहों में बँट गये, और प्रत्येक समूह के अलग-अलग कार्य भी निश्चित हो गये। सबसे निकृष्ट श्रेणी के जन्तुओं के विवरण में आप आगे चलकर देखेंगे कि कुछ एककोशीय जीव ऐसे भी हैं, जिनमें विभाजन होने पर जो नये कोश बनते हैं वे एक दूसरे से बिल्कुल अलग न होकर चार, आठ या इससे भी अधिक संख्या में समूहों में एकत्र होकर एक दूसरे से मिले रहते हैं। वहाँ आप यह भी पढ़ेंगे कि कुछ जीव ऐसे होते हैं जिनमें ये विभाजित कोश केवल सटे हुए ही नहीं होते, वरन् उनमें आपस में अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध हो जाता है। यह हम आजकल भी तालाबों में मिलने-वाले वौलवौक्स नामक गोलाकार जीव में (जो वनस्पति और प्राणी दोनों ही में गिना जा सकता है) देखते हैं। सरसों के दाने के बराबर खोखले रबड़ की गेंद जैसे इस जन्तु में कई सौ कोश होते हैं। यह जीव अब तक पौधों और जानवरों की दुनिया के बीच में विवाद का विषय है। इनमें से अधिकांश तो एक ही सदृश होते हैं और एक लाक्षणिक एककोशीय जीव की भाँति खाते, बढ़ते और विभाजित होकर एक से दो हो जाते हैं, किन्तु दो-चार उनसे छोटे और भिन्न होते हैं, तथा नया वौलवौक्स या दूसरा वौलवौक्स इन्हीं के द्वारा बन सकता है। बड़े कोश खाना-पीना प्राप्त करते हैं, तथा कम संख्या में पाये जानेवाले छोटे कोश सन्तानोत्पादन करके अपनी नई बस्तियाँ बसाते हैं, जो पुनः बढ़कर पहले-सी सहस्र-कोशी गोलाकार जीव का रूप ग्रहण कर लेती हैं। इस जीव के कोशों में इन दोनों कार्यों के अतिरिक्त अन्य कोई कार्य नहीं बँटा है।

साधारण जीवों में तन्तु और अंग कैसे बने?

इससे ऊँची श्रेणी के जीव वे हैं, जिन्हें हम स्पज (समुद्र-सोख) कहते हैं। ये बहुत तरह के होते हैं, परन्तु इनका सबसे परिचित उदाहरण वह है, जो बाज़ारों में साफ़ करके स्पंज के नाम से बिकता है। यह एक नर्म और सूराख़ों से भरा हुआ रुई का-सा पदार्थ होता है। पानी में रखने से अपने सूराख़ों द्वारा पानी खींचकर यह फूल जाता है और निचोड़ने से इसमें से पानी निकल जाता है। कदाचित् इसी कारण उसको समुद्रसोख कहते हैं। यह स्पंज कीड़ों का मृत-शरीर है। यह बालकों के स्लेट पोंछने के लिए, शरीर को धोने के लिए व अस्पतालों या निरीक्षणशालाओं में घावों से ख़ून को सुखाने के काम में आता है। इस प्रकार के जीवों में शरीर के ऊपरी पर्त्त में एक प्रकार के कोश होते हैं और वे एक ही प्रकार का कार्य भी करते हैं, किन्तु भीतरी तहों के कोश दूसरी तरह के होते हैं और उनके कर्त्तव्य भी भिन्न होते हैं। इनके अतिरिक्त कोशों के अन्य समूह भी होते हैं, जिनमें से कुछ उनके नर्म शरीरों को सहारा देने की वस्तुएँ बनाते हैं, और कुछ सन्तानोत्पादन का भार अपने ऊपर ले लेते हैं। इसलिए इनमें वौलवौक्स के कोशों की अपेक्षा कार्यों का विभाजन अधिक बढ़ा-चढ़ा है, यद्यपि इनके शरीर में अभी कोश अलग-अलग अंगों में नहीं बँटे हैं। यह बात इनसे उच्च श्रेणी के जीवों के समूहों में पाई जाती है, जिनको हम कोलेन्टरेट्स (Cœlenterates) या चुभनेवाले जीव कहते हैं। ये सब नर्म शरीरवाले, छोटे या बड़े होते हैं तथा अधिकतर सागरों में ही निवास करते हैं; परन्तु कुछ नदी और तालाबों में भी दिखलाई पड़ते हैं जैसे हाइड्रा (Hydra), जो हमारे देश की सभी बड़ी झीलों या नदियों के पौधों पर रहते हैं। जीवों के इतिहास में सबसे पहले इसी समूह के जीवों में हम
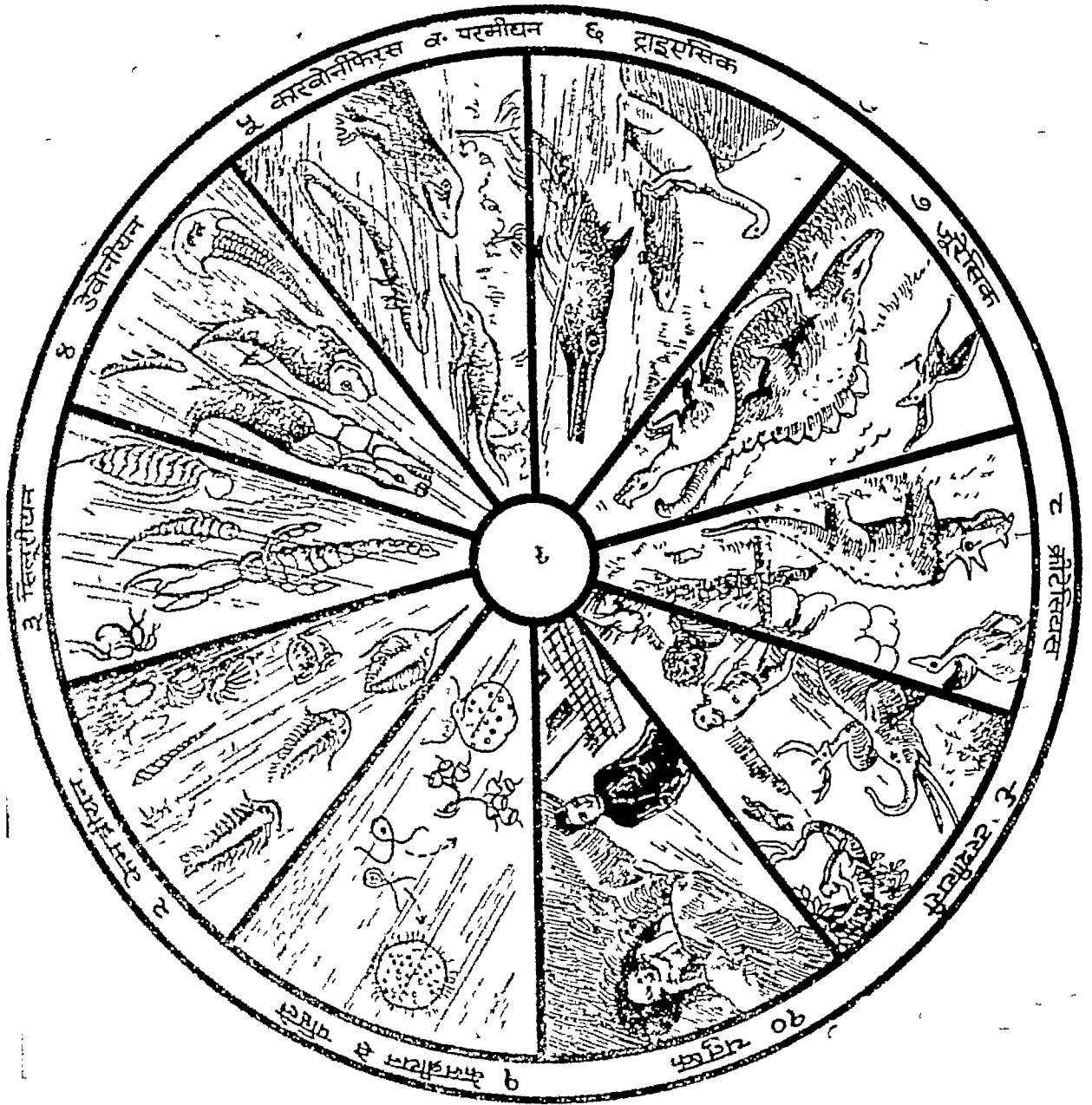
पृथ्वी पर जीवधारियों के क्रमानुसार प्रवेश का चक्र

१—आदि सूक्ष्म जीव जिनसे दो शाखाएँ फूटीं—एक ओर वॉलवॉक्स जैसे जीव और दूसरी ओर एक स्थान में टिककर रहनेवाले एककोशीय और बहुकोशी जीव; २—आदिम झिल्ली, घोंघे, आदि; ३—बड़े झींगे जैसे समुद्री बिच्छू और केकड़े आदि; ४—आदिम आवरणयुक्त मछलियाँ, जिनमें प्रथम रीढ़ का आविर्भाव हुआ; ५—प्रथम जलस्थलचर जन्तु, जिनमें पहले-पहल हाथ-पैर निकले; ६—जलचर और स्थलचर उरंगम, जिनके आने पर जीव जल से स्थल पर आया; ७—भीमकाय छिपकली आदि उरंगम तथा उड़नेवाले जंतु; ८—प्रथम स्तनपोषित जीव; ९—वानर, हाथी आदि वास्तविक स्तनपोषितों का प्रवेश, १०—आदि और वर्तमान मानव

यह आप देखते हैं कि नाना प्रकार के समूहों के विविध कोश तन्तु बन गये हैं, और यही तन्तु अलग-अलग साधारण अंगों के रूप में दर्शित हैं। इसमें सन्देह नहीं है कि ये तन्तु और अंग बहुत ही साधारण हैं, इसलिए इनके कर्तव्य भी उतने कठिन नहीं हैं जितने ऊँची श्रेणी के जीवों के होते हैं। उनमें पाचन क्रिया के तन्तु, अंगरक्षा करने के तन्तु, इन्द्रिय-ज्ञान तथा बोध के तन्तु और उत्पादन तन्तु अलग-अलग पाये जाते हैं; किन्तु इन पानी के चुमने-

वाले जीवों के शरीर ऐसे सरल हैं कि उनके दाहिने-बायें या आगे-पीछे (सिर-पूँछ) में कोई स्पष्ट भेद नहीं जान पड़ता। उनमें भोजन करने और मल-मूत्र त्यागने के लिए एक ही मार्ग होता है। हमारी तरह उनमें न तो मस्तिष्क है, न हृदय, न कान; फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि वे अपना जीवन हमसे अच्छी तरह नहीं बिताते।

इनसे भी आगे चलकर और भी ऊँची श्रेणी के जीवों में ज्यों-ज्यों कोशों की संख्या बढ़ती गई त्यों-त्यों नियुक्त कर्त्तव्यों को करने के लिए उनमें अलग-अलग कोश विभाजित होते गये, तथा ज्यों-ज्यों ये तन्तु और अंग सरल से मिश्रित होते गये त्यों-त्यों उन जानवरों के शरीर अधिक जटिल होते चले गये। यही कारण है कि आज हम पृथ्वी पर सहस्रों प्रकार के भिन्न-भिन्न रूप के साधारण से-साधारण तथा जटिल-से जटिल जीव देखते हैं।

जीवधारियों में मृत्यु और सन्तानोत्पादन

आपको कदाचित् यह आश्चर्यजनक बात सुनकर अचम्भा हो कि इन एककोशीय जीवों में मृत्यु कभी होती ही नहीं। परन्तु वास्तविक बात यही है कि स्वाभाविक रूप से उनका शरीर कभी विनष्ट नहीं होता, बल्कि जब कभी उन पर कोई आपत्ति आ जाती है तभी वे मरते हैं। अब आप कहेंगे कि जब ये जीव हमारी ही तरह भोजन करते और बढ़ते हैं, साथ ही मरते भी नहीं हैं, तो फिर इतने छोटे ही क्यों बने रहते हैं जो हमें आँख से दिखलाई भी नहीं देते? इसका कारण यह है कि जब ये एककोशीय जीव खा पीकर छोटे से बड़े होते हैं तो उनके शरीर बेअन्दाज़ बढ़ते नहीं चले जाते, वरन् जब वे अपनी जाति के निश्चित डील पर पहुँच जाते हैं तो उनका सारा शरीर विभाजित होकर एक जीव से दो संतानों के रूप में बँट जाता है। लेकिन जब जीवधारियों के शरीर एककोशीय से बहुकोशीय और बनावट में पेचीदा होने लगे तो उनके शरीर में थकान और घिसाव आने लगा और इन अवगुणों से छुटकारा पाने का कोई भी उपाय न रहा। ऐसा होने पर जीवधारी वृद्ध होने लगे और जब उनके मार्मिक अंग आगे कार्य करने में असमर्थ हो गये तो वे मरने लगे। यही बात हम अपनी बनाई हुई हर प्रकार की कलों या यंत्रों में भी देखते हैं। उनकी रचना जितनी ही साधारण होती है उतने ही अधिक समय तक वे काम देती हैं, और बिगड़ जाने पर उतनी ही सरलता से ठीक हो जाती हैं; पर वे जितनी ही पेचीदा होती हैं उतनी ही जल्दी बिगड़ जाती हैं, और उनका बनाना भी उतना ही कठिन हो जाता है। बहुत ही पेचीदा कलें तो प्रायः बिगड़ जाने पर फिर कभी बन ही नहीं पातीं।

जब जीवधारियों ने पेचीदा शरीर धारण किये और उनकी स्वाभाविक मृत्यु होने लगी तो उनके लिए अपने विकास की दूसरी सीढ़ी पर चढ़ना आवश्यक हो गया, अर्थात् उनमें कुछ कोश सन्तानोत्पादन के लिए ही नियुक्त हो गये। इसमें सन्देह नहीं कि साधारण रीति से सारे शरीर के एक से दो सन्तान बनने या एक शरीर से दो-चार छोटे भाग या कलियाँ फूटकर उतनी ही सन्तान पैदा होने से कहीं अधिक अल्पव्ययी रीति एक जीव से बहुत-से बच्चे पैदा करना है। ऐसा प्रतीत होता है कि शायद सन्तानोत्पादन की यही रीति सब बहुकोशी जीवों ने ग्रहण की। इसमें और भी लाभ हैं, उदाहरणार्थ माँ-बाप के शरीर पर साधारण जोखम आ जाने से उनकी भावी सन्तान पर उसका कोई प्रभाव इस रीति में नहीं पड़ता। इस तरह अन्त में बीज-कोशों में भी भिन्नता आ गई। वे दो प्रकार के हो गये, जिससे स्त्री और पुरुष के रूप बने और नये जीव के बनने के लिए इन दोनों प्रकार के बीज-कोशों का एक दूसरे से मिलना आवश्यक हो गया। इसलिए प्रत्येक संतान की उत्पत्ति दो प्राणियों—माता और पिता—के ऊपर निर्भर हो गई। हम आगे चलकर देखेंगे कि यह उनकी उन्नति के मार्ग में एक बहुत ही विशेष बात हुई, जिसने कि उन्हें प्रगतिशील परिवर्त्तन और अधिक जटिल रचनाएँ पैदा करने के योग्य बना दिया। इसी प्रकार जीवों के सरल से जटिल बनने की कहानी आगे बढ़ती चली गई। इस छोटे-से लेख में एककोशीय जीवों से हाथी और ह्वेल-जैसे विशालकाय तथा जटिल एवं मनुष्य-जैसे विकसित जीवों के क्रम का विस्तारपूर्वक वर्णन करना सम्भव नहीं है। इसलिए यहाँ पृथ्वी पर एक के बाद दूसरे जीव के प्रवेश का सिर्फ़ खाका ही खींचा गया है, उनका विशेष वर्णन आगे किया जायगा।

एक के बाद दूसरे पृष्ठवंशी का आगमन

सबसे पहले प्राणियों में पीठ या रीढ़ की हड्डी न थी, अर्थात् वे प्राणिवर्ग के अपृष्ठवंशी (बिना रीढ़वाले) समूह के थे। एककोशीय आदि प्राणियों *(Protozoa)* के बाद साधारण बहुछिद्रान्वेषी जल सोखनेवाले स्पंजों *(Porifera)* का आगमन हुआ। तदुपरान्त हाइड्रा-जैसे खोखले शरीरवाले जीव, विविध नाज़ुक लसलसी मछलियाँ (Jelly-fishes), फूल-रूपी समुद्री एनीमोन, समुद्री सनोवर और मूँगेवाले कीड़े आदि जीव आये, जिनका एक विशेष लक्षण यह है कि वे कुछ-कुछ सितारों की शक्ल के होते हैं। इन सब जीवों के बहुतेरे नमूने प्राय-

मिक युग के सर्वप्रथम अर्थात् कैम्ब्रियन (Cambrian) काल की चट्टानों में पाये गये हैं। इनके साथ ही एक और प्रकार के जीव के भी बहुत-से चिह्न मिले हैं, जिनकी रचना उन सबसे भिन्न है। ये विचित्र रूपवाले त्रिखंडी (*Trilobites*) जीव अब नहीं मिलते हैं, किन्तु उनके प्रस्तर-विकल्पों से विदित होता है कि वे काफी उन्नति-प्राप्त प्राणी थे। जन्तुशास्त्रज्ञों का विचार है कि ये त्रिखंडी प्राणी उस झुंड के हैं जिसमें केकड़े और झींगे सम्मिलित हैं। कुछ लोग उन्हें बिच्छूवाले झुंड में गिनते हैं। इनके शरीर का अगला भाग ढाल की तरह के ऐसे कड़े गिलाफ़ से ढका हुआ रहता था जिसमें लम्बे सींग निकले रहते थे। इनके शरीर में बहुत-से वृत्त या फाँकें होती थीं, जो एक-दूसरे से जुटी हुई होती थीं। इन जोड़दार जीव-धारियों में मुँह या पेटवाले धरातल पर कई टाँगें होती थीं, जिनसे कि ये समुद्र की बालुकामय भूमि पर स्वतं-त्रता से चल-फिर सकते थे। इनमें से कोई-कोई तो बहुत बड़े, क़रीब १ फ़ुट लम्बे, होते थे और बाक़ी उससे काफी छोटे होते थे। इनमें के कुछ लाक्षणिक जीवों के चित्र इसी लेख के साथ दिये गये हैं। सहस्रों वर्ष तक यह त्रिखंडी-वंश जीवित रहा, परन्तु इनमें कुछ दोष आ जाने से ये सभी मर गये और आजकल उनका एक भी प्रतिनिधि बाक़ी नहीं है।

इसके बाद केंचुए-जैसे गंडेदार शरीरवाले कृमियों का जन्म हुआ। इनके भी पीछे कंटक चर्मी (*Echinoderms*) अथवा काँटेदार खालवाले जीवधारी की उत्पत्ति हुई, जिनके शरीर पर नुकीली नोकें निकली होती हैं। इन जीवों में से मुख्य ये हैं—सितारा मछली, समुद्री खीरे, तथा क्रीनोइड (*Crinoids*) या प्रस्तर-कमल, जिनकी फूलों की सी मनमोहक कंघीदार शाखाएँ सागर की तरंगों पर लहराते हुए बहुत ही सुन्दर लगती हैं। अन्य प्राणियों में एक और झुंड के जन्तुओं की चर्चा करना हम आवश्यक समझते हैं। इस झुंड में घोंघे, सीपी, शंख आदि

(१) (२) (३)
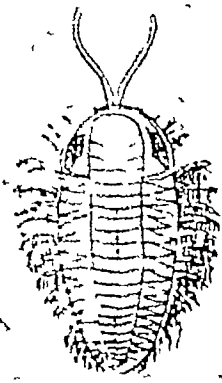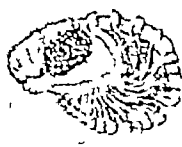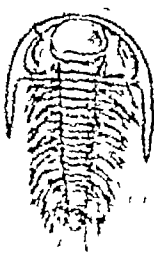
झींगा तथा बिच्छू जैसे आदि त्रिखंडी जीवों के जीवावशेष

ये अपने शरीर के प्रत्येक जोड़ में तीन खंड होने के कारण त्रिखंडी (*Trilobites*) कहे जाते हैं। १—कैम्ब्रियन काल के एक ऐसे जीव का चित्र। उस समय इनके नेत्र न होते थे। २—सिलूरियन काल में इनके नेत्र थे और अपनी रक्षा के लिए ये लपटकर दोहरे हो जाते थे। ३—डेवोनियन काल का एक त्रिखंडी जीव। इसमें नेत्र और टाँगें इत्यादि दिखाई गई हैं।

की गणना की जाती है। इनमें से कुछ जीव नौटीलस (*Nautilus*) की तरह बहुत ही सुकुमार होते थे। कुछ नर्म शरीरवाले, गुदगुदे थे। कुछ हमारे परिचित शंखों और घोंघों की तरह पेचदार, लम्बे छिलकों में सुरक्षित रहते थे। एक दूसरे प्रकार के जीव और थे, जिनकी लचीली भुजाओं पर अपने शिकार को पकड़ने के लिए चिपटनेवाले कुंडल होते थे। ये सब कैम्ब्रियन के बाद आनेवाले सिलूरियन (Silurian) नामक युग की चट्टानों की तहों में बहुतायत से पाये जाते हैं। इसी कारण सिलूरियन काल की चट्टानों में कैम्ब्रियन काल की अपेक्षा अधिक जीव पाये जाते हैं।

इन दोनों कालों में पाये जानेवाले त्रिखंडी जीवों में एक बहुत ही मनोरंजक भेद है। कैम्ब्रियन कालवाले त्रिखंडियों में आँखों के कोई चिह्न नहीं जान पड़ते। इससे जान पड़ता है कि वे नेत्रहीन ही रहे होंगे। सिलूरियन में मिलनेवाले नमूनों में स्पष्ट नेत्र हैं। इसका क्या कारण है? कहा जाता है कि शायद पहले काल में त्रिखंडी जीव गहरे अँधेरे पानी में ही रहते रहे होंगे, किन्तु यही अधिक सम्भव प्रतीत होता है कि उस समय पृथ्वी के घनघोर भाप से घिरी हुई होने के कारण सूर्य का प्रकाश समुद्र की सतह तक बहुत कम पहुँचता रहा होगा। इसलिए पानी की ऊपरी तहों में भी काफी अँधेरा रहा होगा। इसीलिए इन जीवों को नेत्रों की आवश्यकता न थी। किन्तु सिलूरियन काल में वायुमंडल में भाप की कमी हो जाने से धरती पर अधिक प्रकाश पहुँचने लगा था। इसलिए अब इन जीवों में नेत्रों की आवश्यकता हुई। एक और मनोरंजक बात इन्हीं प्राणियों के विषय में यह है कि सिलूरियन के त्रिखंडी अपने को लपेट लेते थे, जिससे उनके नीचे के नर्म भाग पीठ के कड़े तथा दृढ़ गिलाफ से ढक जाते और रक्षित रहते थे। यह स्वभाव कैम्ब्रियन के त्रिखंडियों में न था। यह नई आदत इस कारण हुई कि उन्हें उन बड़ी भुजावाले घोंघा-

नीची श्रेणी के कुछ सामान्य अपृष्ठवंशी (Invertebrates)
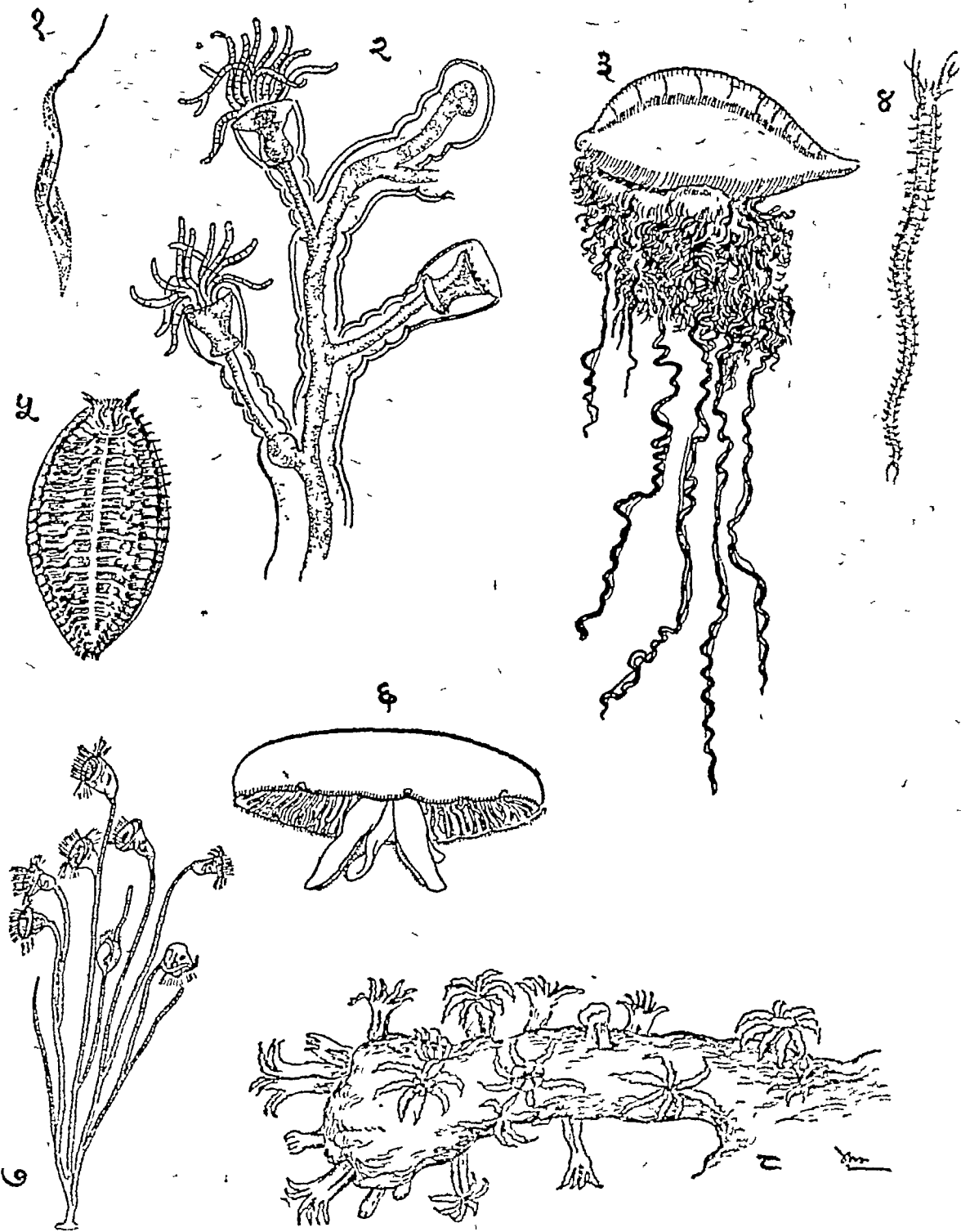
१—तंदाज्वर उत्पन्न करनेवाला एककोशीय कृमि ट्राइपैनोसोम। २—मूँगावंश का एक समुद्री जीव 'ओबीलिया' जो पौधों जैसी शाखाएँ फैलाकर बढ़ता और समुद्री चीजों में लगा रहता है। इसमें और नं० ८ के चित्र में फूल की पँखुड़ियों-जैसे अंग इन जीवों के मुख के चारों ओर की सूँड़ें हैं। ३—मूँगावंश का एक तैरनेवाला समुद्री जीव जिसे 'पुर्तगीज़ रणपोत' कहते हैं। ४—केंचुए-जैसा एक जीव 'नीरिस' जो समुद्र में तैरता और बालू में जीवन व्यतीत करता है। ५—नीरिस की जाति का एक अन्य जीव जिसे 'समुद्री चूहा' कहते हैं। इस पर कड़े रोएँ होते हैं, जिनमें से अँधेरे में रंगबिरंगी रोशनी निकलती है। ६—'जेली फ़िश' जिसका शरीर बहुत नर्म होता है और जो समुद्र की ऊपरी तह में तैरा करती है। इसमें चार भुजाएँ होती हैं और छाते की डंडी की तरह बीच में मुँह होता है। ७—एक प्रकार के एककोशीय समुद्री जीव जो एक स्थान विशेष में उपनिवेश बना कर रहते हैं। ८—मूँगा। इसी का लाल ढंठल काटकर पालिश करके मूँगा के नाम से बाज़ारों में बिकता है।
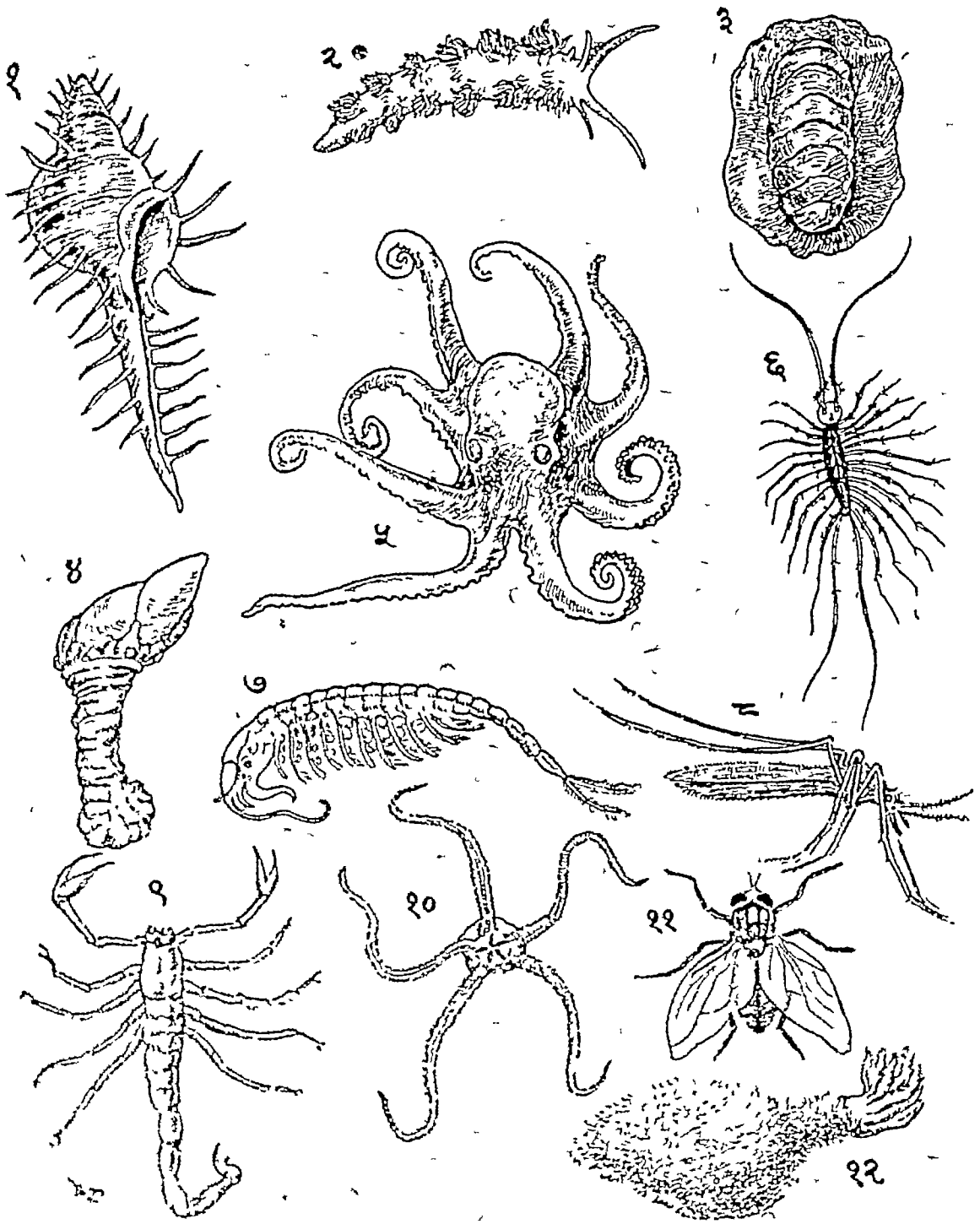
उच्च श्रेणी के कुछ सामान्य अपृष्ठवंशी

१—शंख (यह ऊपर का आवरण है। इसके भीतर जानवर का मांसल भाग रहता है।); २—समुद्री घोंघा या 'स्लग'; ३—'काइटन'—घोंघावंश का एक जीव जो चट्टानों पर चिपटा रहता है; ४—'बेलेनस' नामक जीव जो अपने डंठल द्वारा जहाजों के पेंदों, चट्टानों तथा अन्य समुद्री वस्तुओं में चिपटा रहता है; ५—'आक्टोपस' या अष्टबाहु जो अपनी दृढ़ भुजाओं द्वारा सीपी आदि को खोलकर उनके भीतर के जीव को खा जाता है। यह जीव बहुत बड़ा होता है, इस चित्र में बहुत छोटे आकार में दिखाया गया है। इसके चंगुल में फँसकर आदमी भी जान नहीं बचा सकता; ६—कनखजूरा; ७—छोटा झींगा; ८ मच्छड़; ९—बिच्छू; १०—एक प्रकार की सितारा मछली; ११—घरेलू मक्खी; १२—'समुद्री खीरा' नामक जलजीव।

शत्रुओं से, जो सिलूरियन काल में ही उत्पन्न हुए, अपने को बचाना पड़ता था। इससे ज्ञात होता है कि उनका शान्तिमय समय सिलूरियन युग में समाप्त हो गया था और उस प्रारम्भिक काल में ही भोजन और जीवन के लिए आपस में संग्राम शुरू हो गया था। इसका यथेष्ट प्रमाण मिलता है कि आरंभिक सिलूरियन काल में त्रिखंडी प्राणी केवल सागरों के ही वासी थे, किन्तु आगे चलकर वे अन्य खारी पानी के जलाशयों में भी रहने लगे। और भी कुछ समय बाद वे मीठे पानी में भी जीवित रह सकने के आदी हो गये। इनके बाद जोड़दार टाँगोंवाले जीव, जैसे बिच्छू, भींगे, मकड़ी आदि, पृथ्वी पर विकसित हुए।

जीवधारियों का जल से थल पर विकसित होना

सिलूरियन काल की ही चट्टानों में सर्वप्रथम रीढ़ की हड्डीवाले जानवरों के कुछ चिह्न मिले हैं, परन्तु उनके काफ़ी प्रस्तर-विकल्प-बाद के डेवोनियन (Devonian) काल में पाये गये हैं। ये सबसे पहले पृष्ठवशी एक अनोखे मछलियों जैसे जीव थे, जिनके शरीर कठोर भारी कवचों से मढ़े हुए थे। वे आज की मछलियों की तरह लचीले न थे, और न इनकी तरह के हिलने-डुलनेवाले डैने ही उनमें थे। वे समुद्र की तह में सुस्ती से पड़े रहनेवाले जीव रहे होंगे। यद्यपि वे कुरूप थे, किन्तु उनमें बड़ी बड़ी सम्भावनाएँ निहित थीं। समय आने पर उनसे अनेकों प्रकार की जातियाँ और उपजातियाँ बनीं, जो एक दूसरे से डील, आकार और स्वभाव में बहुत भिन्न थीं, तथा जो पृथ्वी पर प्रारम्भिक युग में विद्यमान थीं।

ये सब घटनाएँ पानी में ही हो रही थीं, क्योंकि उस समय जीवधारियों का सबसे प्राचीन आदर्श घर सागर ही था। अब तक सागरों में अत्यन्त प्राचीन जानवरों के नमूने विद्यमान हैं। वास्तव में आज भी यदि कोई समुद्र-तट पर खड़े होकर यह सोचे कि वह वहाँ पृथ्वी की शैशवावस्था की ही हवा खा रहा है तो उसका यह विचार अनुचित न होगा, क्योंकि उसको वहाँ वही महान् शक्तियाँ क्रियाशील दिखलाई देंगी जो अनेक युग बीत जाने पर भी बाह्य रूप में आज भी ज्यों की त्यों ही बनी हैं। तटों की ओर दौड़ती हुई तरंगें, दूर को उर्मों में लेता हुआ गम्भीर सागर, असीम नीलाकाश तथा उमड़ते-घुमड़ते बादल सब वैसे ही हैं जैसे कि सृष्टि के आदि में थे, और उस समय से अब तक प्रायः वैसे ही रहे हैं। अत्यन्त प्राचीन काल में भी सारी पृथ्वी जलमग्न न थी। उस पर आज-जैसे सागर-तट मौजूद थे, जो उस समय के जीवों के रहने के लिए उचित स्थान बन गये। ये जीव अवश्य ही तट की बालू और निकटवर्ती चट्टानों या पत्थरों की शरण लेते रहे होंगे।

परन्तु उस दूर के युग में स्थल की अवस्था समुद्री किनारों की अवस्था से बहुत भिन्न रही होगी। उन दिनों सारे स्थल पर एक भी वृक्ष या पौधा नजर न आता था, न कोई कीट पतिंगा ही वहाँ भुनभुनाता था। वहाँ की निर्जनता को अपने सुरीले गान से भंग करनेवाली कलकंठी चिड़ियाँ उस समय कहीं भी न थीं। न कोई ऐसे पशु ही थे, जो जल में दौड़कर घुस जाते या किनारों पर घूम-घूमकर चरते हुए नज़र आते। उस समय की वनस्पति कदाचित् काई की तरह शिलाओं और किनारों पर चिपटी रहती होगी। समय बीतने पर सिलूरियन और डेवोनियन कालों में ज्यों-ज्यों वनस्पतियों को तेज़ी से उगाने के लिए आवश्यक खनिज पदार्थों से भरी हुई पृथ्वी सूखती गई, त्यों-त्यों ये आरम्भिक वनस्पतियाँ भी शीघ्रता से पृथ्वी पर फैलने लगीं। जब आगे का युग आया तो पेड़ों ने पृथ्वी के विस्तृत प्रदेशों को ढाँक लिया। ज्यों-ज्यों ये भारी भड़कम पेड़ सूखते गये, वे उन्हीं दलदलों में गिरते रहे, जहाँ वे लगे हुए थे। धीरे धीरे उनके ऊपर पत्तों के ढेर और बही हुई मिट्टी की तहें जमती गईं। इस प्रकार जंगल के जंगल पृथ्वी के नीचे दब जाने के कारण वह उपयोगी चमकदार वस्तु बन गई जिसको हम पत्थर का कोयला कहते हैं। इसी से वह काल कार्बोनीफेरस (Carboniferous) काल कहलाता है। इस काल के पाषाणों की तहों में उन्नत दशा को पहुँचे हुए पेड़ों के चिह्न पाये जाते थे। इन पेड़ों में अधिकतर नाना प्रकार के ताड़, खजूर और ऊँचे-ऊँचे फ़र्न थे।

इस तरह जब पृथ्वी पर दलदलों में घने जंगल उग आये तो जल-वासी जीवों के बहुत-से दलों ने पहले दलदलों में और फिर सूखी धरती और पानी के किनारों पर रहने की कोशिश की होगी। इन प्रयत्नशील पृष्ठवशी और अपृष्ठवशी दोनों प्रकार के ही जीवों की शारीरिक रचना ऐसी परिवर्तित हो गई जिसके कारण वे और उनकी सन्तान सूखी भूमि पर रह सकने के योग्य हो गये होंगे। बहुतेरे, जो अपने को परिवर्तित करने में निष्फल रहे मर-कर नष्ट हो गये। इस तरह जीव-जन्तु अपने असली घर सागर को तजकर झीलों और तालाबों में रहने लगे; फिर ज्यों ज्यों ये सूखते गये, वे दलदलों या नम किनारों में बसने लगे, और अन्त में उन्होंने स्थल पर विजय पाई। अतः कार्बोनीफ़ेरस काल के वनों में कीट-पतिंगों की भयकर वृद्धि हुई। नाना प्रकार के पतिंगे तथा अन्य कीड़े-

मकोड़े, जैसे बिच्छू, मकड़ी, कनखजूरा, झिंगुर (झिल्ली घोड़ी) आदि, उन दिनों घने और ऊँचे वृक्षों में छिपे रहते थे। बड़ी-बड़ी भमीरियाँ, जो पर फैलाने पर ३० इंच लम्बी हो जाती थीं, हवा में उड़ती फिरती थीं। झाड़ियों में दैत्याकार तिलचट्टे, बड़े-बड़े बिच्छू और कौतरें रेंगते फिरते थे।

जलथलचर जीव और आदि-पृष्ठवंशियों का उद्भव

ऐसी ही दशा में दलदलों में रहनेवाली कुछ मछलियों में सम्भवतः गलफड़ों की जगह हवा में साँस लेने के लिए फेफड़े बन गये, जैसा कि हम वर्त्तमान फेफड़े-वाली मछलियों में देखते हैं, जो सिर्फ़ दक्षिणी अमरीका की अमेज़न नदी, अफ्रीका की नील नदी तथा आस्ट्रेलिया की क्वीन्सलैण्ड नदी में ही पाई जाती हैं। इन्हीं में से किसी से मेढक जैसे जलथलचर जीव या मंडूक समुदाय के जीव बने होंगे। ये विचित्र रेंगनेवाले जन्तु आज-कल के समन्दर या न्यूट (Newt) की तरह पहले-पहल पानी के बाहर देर तक जीवित न रह सकते होंगे, किन्तु बाद में वे थल पर रहने में सफल हो गये होंगे। कोमल चिकनी खाल के कारण उनके लिए पानी से बहुत दूर रहना तब भी वैसा ही असम्भव रहा होगा जैसा कि आज दिन है। इन सब बाधाओं के होते हुए भी इन प्रारम्भिक मंडूकों से कई प्रकार के बड़े भारी डील-डौलवाले दैत्याकार जंतु उत्पन्न हुए, जो प्राइमरी (Primary) और ट्रायेसिक (Triassic) काल में खूब फले-फूले और उनमें से बहुत-से कदाचित् अपने भारी शरीर के ही कारण नष्ट हो गये। ये मंडूक-समुदाय के जीव स्टेगोकिफ़ेलन (Stegocephalans) या लेब्रिन्थोडोन्स (Labyrinthodons) कहलाते हैं। उनके जबड़े भारी थे, किन्तु उनकी टाँगें और पैर उनके मुक़ाबले में बहुत निर्बल थे। वे मांसाहारी थे। उनमें से कोई-कोई ६ अथवा ८ फ़ीट लम्बे होते थे। उनमें से एक मैस्टोडोंसोरस (Mastodonsaurus) नामक जीव की खोपड़ी एक गज़ से भी अधिक लंबी होती थी। अत ये अवश्य ही आलसी प्राणी रहे होंगे।

छिपकिली, मगर तथा सर्प-जैसे पेट के बल रेंगनेवाले उरंगम श्रेणी के जीव अभी तक देखने में न आये थे। वास्तविक उरंगम श्रेणी के जीवों के प्रस्तर-विकल्प पहले-पहल हमें प्रारम्भिक युग के अन्तिम भाग परमियन (Permian) काल में मिलते हैं। आगे के माध्यमिक युग के तीनों काल—ट्रायेसिक, जूरेसिक, क्रिटेशियस—में उरंगमों की खूब बढ़ती हुई। परमियन युग में ये और बहुत नाटे थे; वे अधिक बड़े आकार के न होते थे। विशेषतर उनकी दो कक्षाओं का पता चला है। इनमें से एक से छिपकिली और मगर की तरह के जन्तुओं का विकास हुआ। यह बहुत दिलचस्प बात है कि इन पुराने रेंगनेवालों की एक उपजाति सहस्त्रों वर्ष की अवधि की विपत्तियों का सामना करने के बाद अभी तक जीवित है और आजकल भी न्यूज़ीलैंड के द्वीपों में पाई जाती है। यह स्फ़ैनोडन (Sphenodon) या टूआटारा छिपकिली के नाम से पुकारी जाती है। इसमें अभी तक पाया जानेवाला एक पुराना लक्षण यह है कि उसमें एक तीसरा नेत्र भी होता है। स्पष्ट है कि जब पेट के बल रेंगनेवाले प्राणियों ने एक बार पृथ्वी पर अपना अधिकार जमा लिया, तो वे रूप की विचित्रता और शरीर की रचना के ढंग में सभी जीवों से आगे बढ़ गये। बड़े-बड़े अद्भुत रूप के उरंगम, लम्बी गर्दनवाले प्लायोसोरस (Pleiosaurus), कछुए-जैसे चपटे शरीर तथा भारी भड़कम अंगोंवाले सूस की शक्ल के इकथियोसोरस (Ichthyosaurus) के साथ सागरों में भरे पड़े थे। ये निराले जीव ४० फ़ीट तक लम्बे होते थे। उनके हाथ-पैरों में बहुत से जोड़ और हड्डियाँ होती थीं, जिनसे कि वे तैरने में डाँड़ का काम लेते थे। उनकी पूँछों पर मछलियों की तरह कटे हुए डैने और पीठ पर भी पीछे को उठा हुआ एक पख होता था। इससे आप समझ सकेंगे कि वे समुद्र में जीवन-निर्वाह करने के लिए बहुत योग्य थे। इन दोनों प्रकार के विशाल उरंगमों के दाँतों से पता चलता है कि वे बड़े ही ज़बरदस्त पेटू शिकारी थे। इनकी मादाओं के प्रस्तर-विकल्पों से ज्ञात होता है कि इकथियोसोरस अपने अन्य समुदाय-वालों की तरह अंडे न देते थे, बल्कि उनके बच्चे पैदा होते थे। इनके अतिरिक्त और भी बहुत-सी क़िस्मों के उनकी तरह के जानवर सागरों और नदियों के तटों पर रहते थे। बड़े-बड़े मगर-जैसी शक्ल के तथा भिन्न-भिन्न डीलों के तीक्ष्ण दाँतोंवाले वे भीमकाय जंतु दृढ़ जबड़ों को खोले हुए तेज़ी से मछलियों के पीछे झपटते रहे होंगे।

उरंगमों का थल और वायु पर विजयी होना

जब सागरों, नदियों व झीलों में ऊपर बतलाये हुए तथा और भी अनेक उरंगम भरे पड़े थे, तब थल पर भी भाँति-भाँति के रूप विद्यमान थे और उनमें से कुछ हवा में भी उड़ने लगे थे। इन थलचर जीवों में सबसे विख्यात भयंकर दिये अथवा डायनोसोर्स (Dinosaurs) हैं, जिनमें से कुछ बहुत बड़े-बड़े आकारों को प्राप्त करते थे। एटलान्टोसोरस (Atlantosaurus) और ब्रोन्टोसोरस (Brontosaurus)

६० फीट से अधिक लंबे और १५ फीट ऊँचे हुआ करते थे और हाल में अफ्रीक़ा में पाया गया जाइगैन्टोसोरस (Gigantosaurus) क़रीब-क़रीब १०० फ़ीट लम्बा है। ये बड़े शरीरवाले तो ज़रूर थे, लेकिन बहुत ही काहिल तथा तुलनात्मक दृष्टि से हानिरहित और शाकाहारी थे (जैसा कि उनके दाँतों से प्रकट होता है)। उनकी खोपड़ी और मस्तिष्क उनके शेष शरीर की अपेक्षा अधिक छोटे थे। अतः वे अवश्य ही बुद्धिहीन रहे होंगे। वे गर्म देशों के उथले समुद्रों और दलदली जगहों में विचरते तथा उन स्थानों में कसरत से पैदा होनेवाले नर्म और रसीले पौधे खाकर जीवन निर्वाह करते थे।

सबसे पहले हवा पर विजयी होनेवाले उरंगमों में से टेरोडेक्टाइल हैं। ये गौरैया चिड़िया से लेकर चील या उससे भी अधिक बड़े होते थे। उनकी हड्डियाँ खोखली और चिड़ियों की हड्डियों की तरह हवा से भरी होती थीं, लेकिन उनके डैने वर्त्तमान पक्षियों से बिलकुल निराले थे। उनमें पर न होते थे। हाथ की सबसे बाहरी उँगली उनमें बहुत लम्बी थी और उससे एक झिल्ली हाथ और शरीर तक फैली हुई थी, जैसे कि चमगादड़ के डैने होते हैं। पिछले पैरों में भी कुछ उँगलियों के बीच में झिल्लियाँ होती थीं। ये क्रूर जंतु उन आदि वनों के वृक्षों पर उड़ते हुए या अपने चंगुलों द्वारा चट्टानों या पेड़ों के धड़ों पर चिपटे हुए अवश्य ही डरावने प्रतीत होते रहे होंगे।

लाखों वर्ष तक डायनोसोर्स जीवित रहे, किन्तु एक समय ये भद्दे दैत्य बिल्कुल ही ग़ायब हो गये। परिवर्त्तनशील जल-वायु और भोजन देनेवाले दलदलों का सूखते जाना
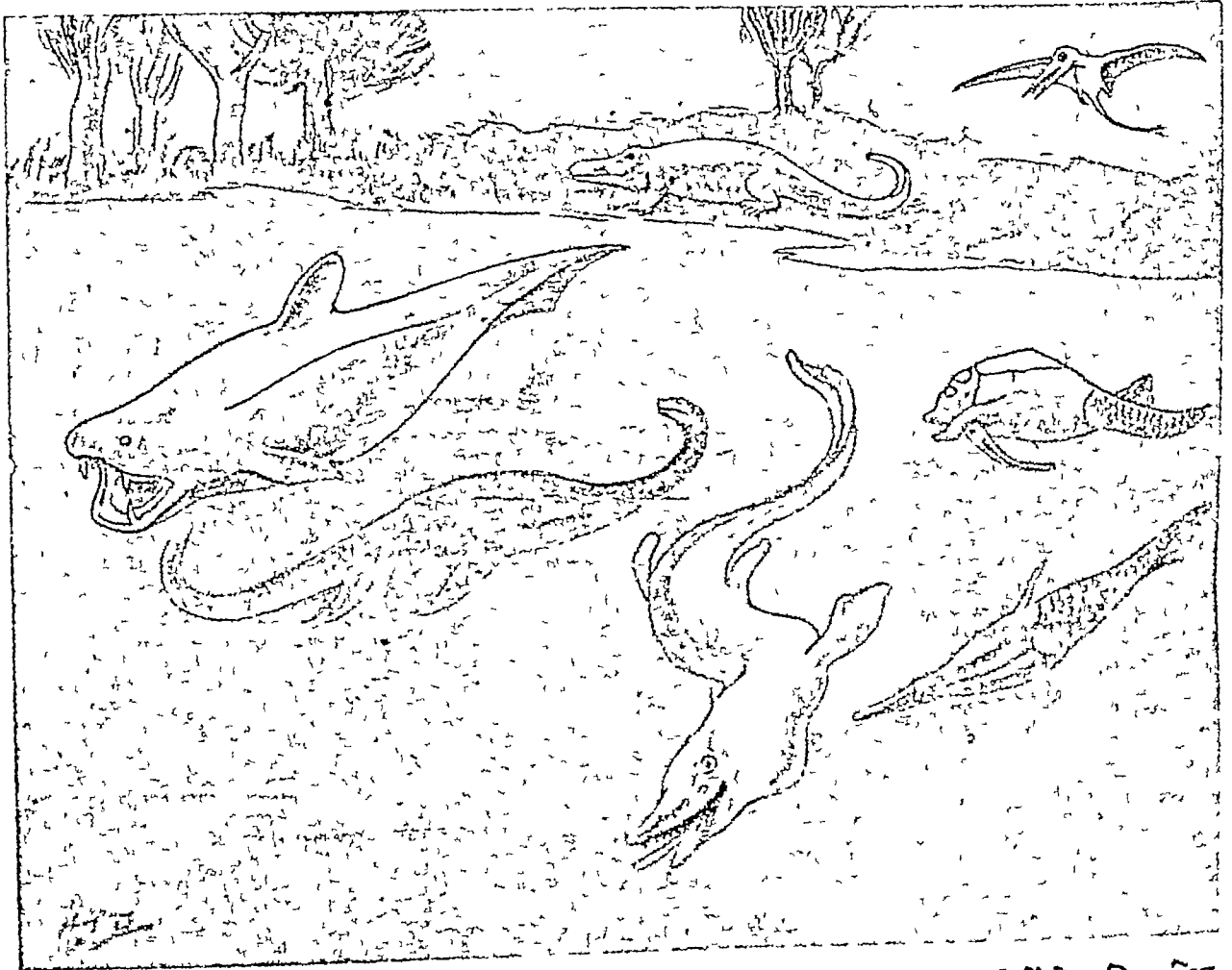
प्रस्तर विकलों के आधार पर बनाये हुए लुप्त जलचर, जलथलचर और उरंगम-पक्षी जीवों के कल्पित चित्र।
(दाहिनी ओर पानी में) दो प्रकार की आदिम मछलियाँ, जिनके आगे के हिस्से में पीठ पर कड़ा ढालनुमा डैना का
आवरण होता था। (बीच में) क्रिटेशियस युग का एक समुद्री मगर (Mosasaur); (बाईं ओर पानी में) नीचे—
प्लायोसोरस नामक उरगम, ऊपर—शार्क-जमी प्राचीन मछली। (किनारे पर) एक भीमकाय स्थलजलचर, (उड़ता
हुआ) टेरोसारस नामक उरंगम-पक्षी।

ही उनके नष्ट होने के कारण हुए। उनकी जगह अन्य जीवों ने ले ली, जिनमें अधिक गर्म रक्त प्रवाहित होता था, और जिनके शरीर रोओं या पर से ढके थे। उड़नेवाले उरंगमों के साथ पाये गये जूरेसिक काल के सबसे मनोरंजक प्रस्तर-विकल्प एक अनोखी प्रारंभिक चिड़िया आरकियोप्टेरिक्स (Archoeopteryx) के हैं। यही है अब तक जानी गई सबसे

(बाईं ओर नीचे) शुतुर्मुर्ग की तरह तेज दौड़नेवाले दो डायनोसोर; (बीच में नीचे की ओर उड़ते हुए) आदिम आरकियोप्टेरिक्स; (ऊपर आकाश में उड़ते हुए तथा वृक्षों पर लटकते हुए) प्राचीन उरंगम-पक्षी टेरोडेक्टाइल

पहली चिड़िया। यह प्रस्तरीभूत चिड़िया क़रीब-क़रीब कबूतर के बराबर बड़ी है और इसमें उरंगमों तथा पक्षियों के लक्षणों का अनोखा मिश्रण है। यह न तो बिल्कुल चिड़िया ही कही जा सकती है, न लाक्षणिक उरंगम ही; बल्कि यह इन दोनों के बीच की कड़ी या पुल है। अगर यह खोज न हुई होती तो शायद किसी को भी न मालूम हो पाता कि चिड़ियों और उरंगमों में इतना निकट का सम्बन्ध है। यदि आप उसके चित्र को ध्यानपूर्वक देखेंगे तो स्वयं ही जान लेंगे कि यह जीव इतना प्रसिद्ध क्यों हो गया है। उसकी लम्बी पूँछ गडेदार और छिपकिली की तरह है, वह वर्तमान चिड़ियों की दुम जैसी नहीं है। साथ ही उसके डैनों पर लम्बे पर भी हैं, जो उरंगमों में नहीं होते। हँसली की हड्डी का उसमें अभाव है, जो और चिड़ियों में होती है। इससे विदित होता है कि वह एक मामूली उड़नेवाला पक्षी था। पर उड़ने के अतिरिक्त वह चिड़िया रेंग भी सकती थी।

क्रिटेसियस काल के बाद पक्षियों की संख्या में असीम वृद्धि हुई, और वे स्तन-पोषितों के साथ साथ जन्तु-जगत् में अपना आवश्यक भाग लेने लगे।

आरकियौप्टरिक्स-जैसे और भी पक्षी तथा उरंगम के बीच के प्राणियों के प्रस्तर-विकल्प मिले हैं। इन्हीं-जैसे जन्तुओं से धीरे-धीरे बदलकर असली पक्षी बने और आगे चलकर अनेकों प्रकार की वर्त्तमान चिड़ियों के समूह बन गये। जब उरंगमों में से कुछ जीव चिड़ियों के लक्षण और रूप धारण कर रहे थे, उसी समय एक और समूह के उरंगम शेष से अलग होकर एक-दूसरे प्रकार के जीव बनने की चेष्टा करने लगे। इन नये जीवों का मुख्य लक्षण उनके शरीरों पर नर्म रोएँदार या बालवाली खाल का होना है। यही स्तनपोषितों के पूर्वज हुए। पहले पहल ये छोटे थे, जैसा कि उनके जबड़े और दाँतों से प्रकट होता है। ये ट्रायेसिक काल की चट्टानों की तहों में मिले हैं। पर आगे आनेवाले कालों में इनकी भी वृद्धि हुई और वे अपने परदार साथियों के साथ-साथ सारे जन्तु-जगत् के नेता अथवा अगुवा बन गये। इनके विषय में हम विस्तारपूर्वक किसी आगे के लेख में लिखेंगे; यहाँ यही कहना पर्याप्त है कि पृष्ठवंशियों के दोनों ही समूह, अर्थात् पक्षी और स्तनपोषित, अन्य सभी से अधिक गर्म रक्तवाले जीवधारी हैं। इसलिए शेष सब पृष्ठवंशी ठंडे रक्तवाले और ये गर्म रक्तवाले कहे जाते हैं। पक्षी और स्तनपोषित दोनों ही यूसीन (Eocene)काल में साथ-साथ खूब फूले-फले, किन्तु आगे चल स्तनपोषित जीव पक्षियों से आगे निकल गये। उनकी सैकड़ों ही उपजातियों के प्रस्तर-विकल्प संसार भर में मिले हैं, जिससे स्पष्ट होता है कि आगे चलकर उनके अनगिनती नमूने बन गये। ये नमूने एक-दूसरे से आकार-प्रकार, डील-डौल और स्वभाव में बहुत भिन्न थे।

प्रारम्भिक स्तनपोषित वर्त्तमान आस्ट्रेलिया में पाये जानेवाले एकछिद्री जीवों(Monotremes)की भाँति छोटे थे, और उनके बच्चे अंडों से उत्पन्न होते थे। इन एकछिद्री जीवों की रचना एक रहस्यपूर्ण समस्या है। ये प्राणी स्तनपोषित समुदाय में सबसे नीची श्रेणी के जीव हैं। उनमें अभी तक उरंगमों और पक्षियों के कुछ जातीय लक्षण मिलते हैं। युग पर युग व्यतीत हो गये, न जाने कितने उरंगम पक्षी बन गये, और कितने ही लुप्त हो गये तथा कितने ही ऊँची श्रेणी के स्तनपोषित हो गये; किंतु ये एक छिद्री जीव लकीर-के-फ़क़ीर ही बने रह गये। इनके उपरान्त थैलीवाले जन्तु अथवा 'मारसूपियल' बने, जिन्होंने विकास के मार्ग पर एकछिद्री जीवों से अधिक उन्नति की। आजकल थैलीवाले जीव विशेषतया आस्ट्रेलिया और उसके निकटवर्त्ती द्वीपों में तथा दक्षिणी अमरीका ही में पाये जाते हैं, किन्तु वे पहले युगों में सभी महाद्वीपों में विद्यमान थे। यह बात उनके प्रस्तर-विकल्पों से प्रकट होती है। वे अंडे तो नहीं देते, किन्तु उनके बच्चे क्षुद्र और अपूर्ण अवस्था में जन्म लेते हैं, और अपनी माताओं के पेट पर की थैली में, या जिनके थैली नहीं होती उनमें पेट के बालों में छिपे स्तनों से, लटकते रहते हैं। जब उनके अंगों की पूरी वृद्धि हो जाती है, तब वे माताओं की थैली या स्तनों को छोड़कर पृथ्वी पर कूद फाँद करने लगते हैं। इनसे भी आगे चलकर अन्य स्तनपोषित समुदाय के प्राणियों का जन्म हुआ। कुछ शेर और बिल्ली की भाँति मांसभक्षी हुए; अन्य भेड़ और बकरी जैसे शाक-पात चरनेवाले बने; कुछ गाय, बैल और घोड़े की तरह घास खानेवाले हो गये; और कुछ बानर आदि की तरह फलों पर निर्वाह करने लगे। अन्त में लगभग दस लाख वर्ष पूर्व असंख्य रूपधारी पशुओं के झुंड में सबसे पहला वन-मानुष प्रकट हुआ, जो थोड़ा-बहुत हमारी तरह दो पैरों पर खड़ा हो सकता था तथा जिसमें सब जन्तुओं से उत्तम बुद्धि थी। इसी के कारण उसने बड़ी उन्नति की और एक मंज़िल आगे चलकर चौथे युग के आदि तथा तृतीय युग के अन्त में मनुष्य-जैसा एक जीव निकला। उससे ही विकसित होकर २५-३० हज़ार वर्ष के हेर-फेर से वर्त्तमान मनुष्य ने इस धरती पर पदार्पण किया, जो सारे जन्तुओं को वश में करके पृथ्वी का राजा बन गया।

मनुष्य की कहानी
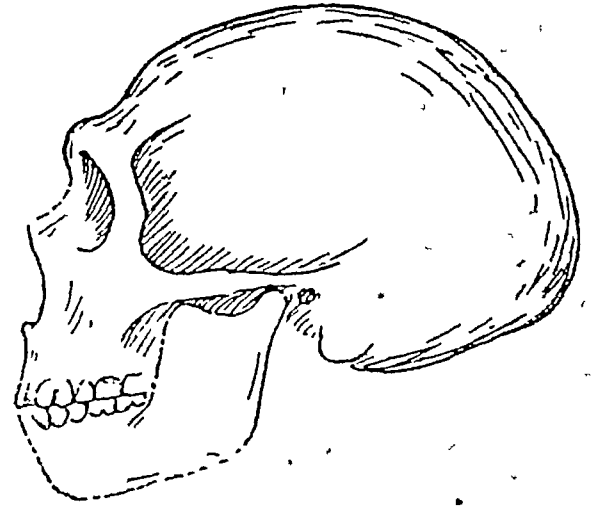
नीएनडरथल मानव

नीएनडरथल मानव की खोपड़ी

बाईं ओर का कल्पित चित्र दाहिनी ओर की खोपड़ी के आधार पर बनाया गया है। इससे हम अनुमान कर सकते हैं कि हमारा यह पूर्वज जीवित अवस्था में कैसा दिखता रहा होगा। ऊपर दिखाई गई खोपड़ी योरप के जिब्राल्टर नामक स्थान में पाई गई थी, इसीलिए वह 'जिब्राल्टर वाली खोपड़ी' के नाम से मशहूर हो गई है।
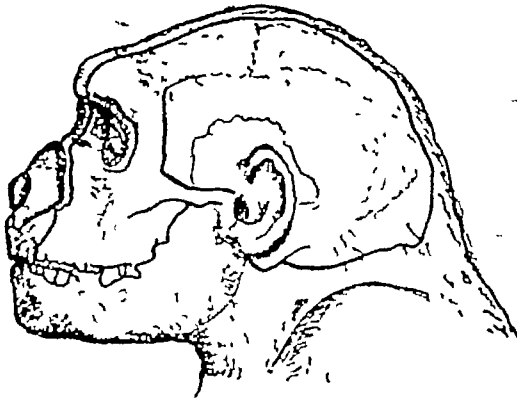
र्‌होडेशिया का मानव
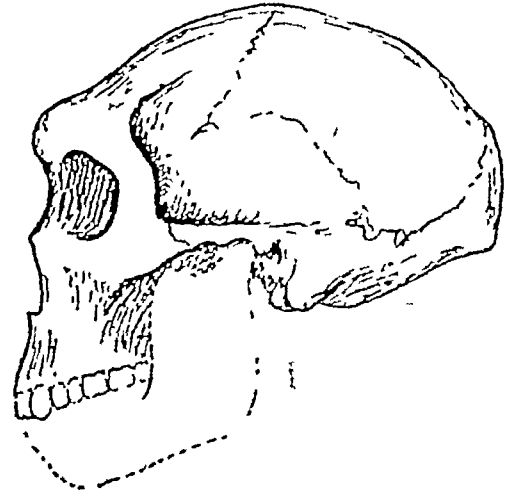
र्‌होडेशिया में प्राप्त खोपड़ी

नीएन्डरथल मनुष्य के चित्र की भाँति र्‌होडेशिया के इस मानव का भी बाईं ओर दिया गया कल्पित चित्र दाहिनी ओर दिखाई गई खोपड़ी के आधार पर बनाया गया है। र्‌होडेशिया के इस मानव तथा नीएनडरथल मानव की खोपड़ियों में यद्यपि कई बातों में थोड़ी-बहुत समानता है, किन्तु (जैसा कि लेख में विस्तृत रूप से बताया गया है) यह निश्चित है कि नीएनडरथल मानव के विशेष लक्षण इसमें नहीं थे।

हमारे अत्यन्त प्राचीन पूर्वज—(२)

पिछले लेख में हम अपने प्राचीन पूर्वजों की कहानी वर्तमान मनुष्य-जाति के आरम्भिक काल तक पहुँचा चुके हैं। अब होमो-जाति की पहली उपजातियों की मनोरंजक कथा आपके सामने आ रही है। इसे पढ़कर आपका अवश्य ही मनोरंजन होगा।

होमो नीएनडरथलैनसिस

सन् १८४८ ई० में, एक सैनिक अफ़सर को जिब्राल्टर नगर (जो स्पेन देश के दक्खिन में एटलांटिक और भूमध्य सागर के बीच में अँगरेजों का ज़बरदस्त फौजी स्थान है) के निकट एक बहुत-कुछ सुरक्षित खोपड़ी मिली थी। केवल उसका नीचे का जबड़ा खो गया था। इस खोपड़ी में (देखिए सामने के पृष्ठ का चित्र) आँखों के गड्ढे काफी बड़े हैं और नाक के सूराख भी आजकल की मानवीय खोपड़ियों से बहुत चौड़े और अधिक बड़े हैं। भौं की हड्डी भी मध्य दर्जे की उभरी हुई है। चेहरे का भाग भौं से मुँह तक लँबछौना है। खोपड़ी की हड्डियाँ मोटी और उसके भीतर की समाई १३०० या १४०० C. C. है। यह खोपड़ी कई साल तक किसी प्राचीन मनुष्य-जाति की समझी जाती थी; किन्तु उसके मिलने के दस वर्ष पीछे जब जर्मनी में डूसल्डर्फ नदी की एक सहायक नदी की नीएनडरथल नामक घाटी में और हड्डियाँ पाई गईं, तब पता चला कि जिब्राल्टरवाली खोपड़ी और ये हड्डियाँ एक ही जाति के मनुष्य की हैं, जो मौजूदा जाति के मनुष्यों से अन्य मानवीय प्रस्तर-चिह्नों की अपेक्षा अधिक समानता रखती हैं। इसलिए ये वर्तमान मानव-जाति "होमो" में ही सम्मिलित की जाती हैं और उनको होमो नीएनडरथलैनसिस (*Homo neanderthalensis*) कहा जाता है। उस समय से अब तक बहुत सी खोपड़ियाँ और अस्थि-पंजर फ्रांस, बेलजियम, स्पेन, जर्मनी, आस्ट्रिया आदि देशों में पाये गये हैं। थोड़े ही महीने पहले इसी उपजाति के एक छः वर्ष के बच्चे की खोपड़ी एशियाई रूस के उज़बेकिस्तान प्रान्त में पाई गई है। इससे पता चलता है कि यह उपजाति योरप में ही नहीं वरन् एशिया में भी फैली हुई थी। सबसे पूर्ण अस्थियाँ, जो इस आदमी की मिली हैं, फ्रांस देश में पाई गई हैं। इस मनुष्य की खोपड़ी पहलेवाले सब पूर्वजों की खोपड़ियों से बड़ी है, और इसके मस्तिष्क की समाई १६३० C.C. है।

नीएनडरथल मनुष्य के कल्पित चित्र (दे० ५८२ और ५८५ पृष्ठ) को देखकर आप स्वयं ही समझ सकते हैं कि वर्तमान मनुष्य और उसमें क्या-क्या भेद हैं। उनकी खोपड़ी बहुत बड़ी परन्तु चपटी थी, चेहरा आगे को निकला हुआ था, ठोढ़ी पीछे को दबी हुई और भौंहें ऊपर को उभरी हुई थीं। उनकी टाँगें छोटी और मज़बूत, हाथ-पैर बड़े, सिर रीढ़ की हड्डी पर एक अनोखे रूप से आगे को लटका हुआ-सा और कमर कुछ-कुछ वानरों-जैसी झुकी हुई थी। उनकी भुजाएँ बहुत लम्बी न थीं, और चलने फिरने में घुटने आगे को मुड़े रहते थे। सब बातों का विचार करते हुए कहा जा सकता है कि वे छोटे और गठीले जीव थे और उनकी ऊँचाई ५ फुट १ इंच से ५ फ़ुट ४ इंच तक मानी जाती है। हमारी बहुत-सी मुख्य विशेषताएँ उनमें मिलती थीं।

सर आर्थर कीथ का कहना है कि नीएनडरथल मनुष्य की रचना के विस्तार में से वन-मानुषों के बहुत से लक्षण मिलते हैं, लेकिन वह उनके कारण न वन-मानुषों में गिना जा सकता है, न हमारी जाति से पृथक् ही माना जा सकता है। वह योरप की गुफाओं के मुहानों में या चट्टानों तथा पहाड़ों के लटकते भागों के नीचे निवास करता था। वह आग जलाना जानता था और चकमक पत्थर को काट-छाँटकर अपने काम के योग्य शस्त्र बना लेता था। उनमें लकड़ी के हत्थे भी लगा लेना उसे आता था। उस समय बहुत-से बड़े-बड़े स्तनपायी जीव भी धरती पर विद्यमान थे। ये बड़े बालवाले गैंडे, मैमथ, भालू और लकड़बग्घे-

जैसे भयंकर जीव हमारे इस पूर्वज को हर समय चीर-फाड़कर खाने को तैयार थे। किंतु वह गढ़े-गढ़ाये पत्थरों, पेड़ों से तोड़े हुए डंडों और हड्डी या पत्थर के भालों द्वारा उनसे अपनी रक्षा करता तथा इन्हीं हथियारों से अपने भोजन के लिए हिरन, भेड़, बकरी, बिसन आदि पशुओं को मारकर अपना जीवन निर्वाह करता था। इसमें सन्देह नहीं कि हमारे इन पूर्वजों का जीवन बड़ा कठिन रहा होगा। उस समय योरप की जलवायु अब से कहीं अधिक ठंडी थी और ये लोग केवल गुफाओं और चट्टानों में ही सरदी और वर्षा से रक्षा पाते थे। वे गर्म वस्त्र तो क्या, कैसे भी वसन से शरीर ढकना न जानते थे। हाँ, यह सम्भव है कि वे अपने मारे हुए जानवरों की खाल ओढ़कर अपनी रक्षा करते हों। पर गर्मी भर तो वे अवश्य ही बिल्कुल नंगे रहते थे। इससे हम यह समझ सकते हैं कि शीतकाल में उनका जीवित रहना बड़ा कठिन हो जाता होगा। आज दिन भी कहीं-कहीं ऐसी जगली नस्लों के लोग पृथ्वी पर बाक़ी हैं जो क़रीब-क़रीब नंगे रहते हैं। दक्षिणी अमरीका और उत्तरी ध्रुव म अब भी ऐसे लोग हैं जो ठंडी-से-ठंडी ऋतु में भी नंगे रहकर केवल खाल के एक छोटे टुकड़े से ही अपने शरीर को हवा, शीत या वर्षा से बचाते हैं। कहीं कहीं पृथ्वी पर ऐसे भी असभ्य मनुष्य अभी मौजूद हैं जो अपने उन नीएनडरथल पूर्वजों की ही तरह आज भी पत्थर, हड्डी और लकड़ी के औज़ारों का प्राचीन रीति से प्रयोग कर अपना जीवन चलाते हैं।

यह भी निश्चय है कि नीएनडरथल लोग अपने मुर्दों को गाड़ दिया करते थे और गाड़ते समय शव के साथ थोड़ी सी भोजन-सामग्री तथा मृत मनुष्य की एक-आध प्रिय वस्तुएँ भी रख दिया करते थे। यही कारण है कि इन लोगों के बहुत-से अस्थि पंजर हमें आसानी से भिन्न-भिन्न देशों में प्राप्त हुए हैं, जिनसे पता लगता है कि यह उपजाति सारे योरप, तथा पश्चिमी एशिया के पैलेस्टाइन-जैसे कुछ भागों में फैली हुई थी। इन्हीं से बहुत मिलती-जुलती एक उपजाति या इसी उपजाति की एक भिन्न शाखा अफ्रीका के महाद्वीप में भी फैली हुई थी, जिसकी खोपड़ी रहोडेसिया में पाई गई है।

अब सवाल यह उठता है कि ये नीएनडरथल लोग, जो सारे योरप और निकट के अन्य देशों में भी फैल चुके थे, सब-के-सब एकाएक कैसे लुप्त हो गये! यह वास्तव में एक रहस्य है, जिसको विद्वान् अभी तक ठीक से नहीं सुलझा सके हैं। यह तो निश्चित है कि ये लोग पृथ्वी पर लगभग दो लाख वर्ष तक रहे, और यह भी सिद्ध हो चुका है कि अन्तिम हिम-प्रलय के समय ये अवश्य सारे योरप महाद्वीप में फैले हुए थे। उनके अवशेष गुफाओं तथा नीची समतल भूमि में बर्फ़ से बहाई हुई मिट्टी और पत्थरों से दबे-दबाये हुए मिले हैं। कहा जाता है कि यह हिम-प्रलय अब से दो लाख चालीस हज़ार वर्ष पहले योरप में शुरू हुआ था। किंतु इसके पहले कि अपने इन पूर्वजों का अधिक हाल आपको बताएँ, हम आपको यह बताना उचित समझते हैं कि हिम प्रलय का अर्थ क्या है। योरप और उत्तरी तथा मध्य एशिया का जलवायु आजकल ऐसा है कि वहाँ जीवधारी सरलतापूर्वक जीवित रह सकते हैं, परन्तु उत्तरी अमरीका तथा ध्रुव-प्रदेशों में जैसी सरदी आजकल है, उससे भी अधिक ठंढक इन देशों में कई बार हो चुकी है। जब ऐसे शीतकाल योरप और उत्तरी एशिया में आये थे, तब वहाँ की धरती पर पहाड़ों से बहा हुआ बर्फ़ जम गया था, और जाड़े के मारे समुद्रों का जल भी जम गया था। ये देश इस अत्यन्त ठंडी दशा में लाखों वर्ष रहे, और फिर धीरे-धीरे अपनी असली अवस्था में आ गये। पृथ्वी से बर्फ़ गलकर बह गया और समुद्रों में भी जल नज़र आने लगा। अति शीत दूर हो जाने पर आबहवा फिर गर्म हो गई। ऐसे महान् ठंढक के फैलने को ही हिम प्रलय कहा गया है। यह ज़रूरी नहीं कि जब ये हिम-प्रलय के काल पृथ्वी के मुख्य भागों पर आये हों, तब वहाँ एकदम प्रलय ही हो गया हो। भूगर्भ-वेत्ता कहते हैं कि हिम-प्रलय जब आने लगता है तब वह धीरे-धीरे फैलता है, और लाखों वर्ष तक उसका सिलसिला लगा रहता है और जैसे धीरे-धीरे उसका प्रवेश होता है, वैसे ही धीरे-धीरे उसकी समाप्ति भी होती है। यहाँ यही लिखना पर्याप्त होगा कि उप-मनुष्य के आरम्भ से अब तक इस तरह के कम-से-कम तीन हिम-प्रलय योरप में हो चुके हैं।

जब योरप में अन्तिम हिम-प्रलय का ज़ोर हो रहा था, तब बर्फ़ीले प्रदेशों में रहनेवाले बारहसिंघे-जैसे जीव भी अधिक ठंड न सह सकने के कारण योरप के कम ठंडे दक्षिणी देश, जैसे स्पेन इत्यादि, में चले आये थे। बहुत-से नीएनडरथल मनुष्य भी उसी हिम-प्रलय में कड़ी सरदी और बर्फ़ से भूमि ढक जाने के कारण रहन-सहन में कठिनाई होने से मर गये होंगे। जो कुछ बचे वे योरप के दक्षिणी देशों में ही रहे होंगे। जब योरप में हिम-प्रलय का प्रभाव कम होने लगा, और गर्मी का संचार फिर हुआ, तो एशिया से मनुष्य की एक और उप जाति के आकर सारे योरप में फैलने का पता लगता है। इस नई उपजाति ने बचे-खुचे

नीएनडरथल मनुष्यों को या तो मार डाला, या अपने में मिला लिया, क्योंकि इंगलैण्ड, आयरलैण्ड आदि देशों के निवासियों में अब भी उनके से कुछ गुण मिलते हैं। इस एशियावाली नई उपजाति के मनुष्य योरप के पुराने रहने वाले नीएनडरथल लोगों से डील-डौल में लम्बे, हृष्ट पुष्ट तथा बुद्धिमान् थे। इनको हम वर्तमान मनुष्य जाति में ही गिनते हैं और होमो सेपियेन्स (Homo Sapiens) के नाम से पुकारते हैं। यह वर्तमान नस्लों और वंशों से भिन्न थे, और आम तौर से हम इनको क्रोमैगनन (Cro Magnon) कहते हैं।

होमो रहोडेशियेन्सिस

सन् १९२१ में दक्षिणी अफ्रीका में रहोडेशिया की एक गुफा में एक पूर्ण मनुष्य की खोपड़ी मिली है, जिसमें नीचे का जबड़ा नहीं है। इस खोपड़ी में भौं की हड्डी वर्तमान मनुष्य की अपेक्षा अधिक उभरी हुई, चेहरा बड़ा, तथा माथा नीचे की ओर दबा हुआ है। फ्रांस में पाये हुए नीएनडरथल मनुष्य की खोपड़ी से इस खोपड़ी में बड़ा छेद (Foramen magnum जिसके पास खोपड़ी गर्दन से मिलती है) अधिक आगे को बढ़ा हुआ है, जिससे मैकनी साहब यह परिणाम निकालते हैं कि रहोडेशिया का मनुष्य नीएनडरथल मनुष्य से ज्यादा सीधा खड़ा हो सकता होगा; किन्तु ब्रूम साहब का मत है कि खोपड़ी के अगले भाग के आकार से यही नतीजा निकलता है कि यह अफ्रीकावाला आदमी भी बहुत कुछ कमर झुकाकर चलता रहा होगा। इसके दाँत क़रीब-क़रीब बिल्कुल वर्तमान मानव जाति जैसे ही हैं। इसकी खोपड़ी की समाई लगभग १२८० C.C. है (जो साधारण नीएनडरथल मनुष्य की खोपड़ी से बहुत कम है)। यह क़रीब-क़रीब जिब्राल्टरवाली खोपड़ी के ही बराबर है। इसके अतिरिक्त कई और भी बात हैं, जिनके कारण ब्रूम साहब कहते हैं कि रहोडेशियन मनुष्य नीएनडरथल मनुष्य से भी नीचे का है, तथा यह (रहोडेशियन) मनुष्य जिब्राल्टरवाले मानव से अधिक मिलता-जुलता है। स्मिथ साहब और पाईक्राफ्ट की राय है कि रहोडेशिया का आदमी वर्त्तमान मनुष्य और नीएनडरथल मनुष्य के बीच का है। चाहे रहोडेशियन आदमी होमो जाति का ही सदस्य माना जाय या उससे भिन्न जाति (सीफेनथ्रोपस) में सम्मिलित किया जाय, यह कहना उचित है कि उसमें नीएनडरथल मनुष्य के लक्षण मिलते हुए भी उनके विशेष लक्षण उसमें नहीं पाये जाते। उसके ऊपरी जबड़े और दोनों जबड़ों के मिलने के स्थान की सतह से विदित होता है कि उसका जबड़ा हाइडेलबर्गवाले जबड़े से भी अधिक भारी रहा होगा और उसकी वन-मानुष जैसी उठी हुई भौंहों से कहा जा सकता है कि यह जीव क़रीब-क़रीब मनुष्य-सा रहा होगा, जिसका मुँह बन्दरों का-सा रहा होगा। वास्तविक मनुष्य के बच्चे तो उन्हें देखकर ज़रूर ही डर जाते होंगे। यह सम्भव है कि वास्तविक मानव-काल तक ये प्राणी जीवित रहे हों और दक्षिणी अफ्रीका में कुछ समय तक उनके साथी रहे हों।

नीएनडरथल मानव के जीवन की एक झाँकी

यह चित्र निस्संदेह कल्पित है; किन्तु आशा की जाती है कि हमारे ये जंगली पूर्वज इसी तरह पर्वतों की गुफाओं के मुहानों पर घूमते रहे होंगे तथा अपनी रक्षा एवं शिकार के लिए वैसे ही भद्दे हथियार काम में लाते रहे होंगे जैसे इनमें से एक के हाथ में दिखाया गया है।

होमो सोलोएन्सिस

सन् १९३१ में हालैंड देश के एक भूगर्भवेत्ता ने जावा में मनुष्य की एक नई उपजाति की खोपड़ी उस स्थान से ६ मील हटकर, जहाँ ४० वर्ष पहले पिथैकैनथ्रोपस इरेक्टस की खोपड़ी पाई गई थी, सोलो नदी के किनारे ही पाई है। यह खोपड़ी वैसे तो सब तरह से अच्छी है, परन्तु इसमें चेहरे की हड्डियाँ और जबड़े नहीं हैं। भौं की हड्डियाँ बहुत बड़ी हैं, माथा दबा हुआ है और उसके मस्तिष्क की समाई जावा या पेकिंग के मनुष्यों (जिनका वर्णन पहले कर चुके हैं) की ही तरह है; परन्तु

कारण वह ऊँचे दर्जे की समझी जाती है। सर आर्थर कीथ विचार करते हैं कि यह खोपड़ी होमो जाति की सबसे प्राचीन उपजाति की है और वे इसे नीएनडरथल और रूहोडेशियावाली उपजाति से भी नीचा स्थान देते हैं। उनका कहना है कि पुरानी दुनिया के इस भाग में मनुष्य का विकास इस क्रम से हुआ—(१) पिथैकेनथ्रोपस, (२) साइनैनथ्रोपस, (३) होमो सोलोएन्सिस (*Homo soloensis*), (४) आस्ट्रेलिया के जीवित आदिम मनुष्य। किन्तु ब्रूम साहब उसको होमो जाति से भिन्न जावनथ्रोपस (Javanthropus) जाति में रखते हैं और वह इसको साइनैनथ्रोपस और रूहोडेशियैन्सिस के बीच का समझते हैं। मेरी समझ में लीकी साहब की राय, जो उन्होंने "आदम के पूर्वज" (Adam's Ancestors) नामक पुस्तक में प्रकट की है, उचित जान पड़ती है। जब तक कि इस खोपड़ी और उसके साथ के पाये गये अन्य जानवरों के शेष भागों का ठीक-ठीक पूरा हाल न मालूम हो, तब तक निश्चित रूप से इसके विषय में यह नहीं कहा जा सकता कि उसका ठीक-ठीक स्थान क्या है। इस खोपड़ी की जो तस्वीरें "इलस्ट्रेटेड लंदन न्यूज़" नामक पत्र में छपी हैं, उनके देखने से ज्ञात होता है कि सम्भव है यह खोपड़ी मनुष्य की जीवित उपजाति होमो सेपियन्स का ही एक रूप हो।

इस खोपड़ी के साथ अन्य पशुओं के जो प्रस्तर-विकल्प पाये गये हैं, उनसे जान पड़ता है कि यह प्लायस्टोसीन काल के मध्य या ऊपरी तहों के समय की है।

दक्षिणी अफ्रीका में एक और बहुत प्राचीन बोसकौप नामक नस्ल के प्रस्तर-विकल्प मिले हैं, जो बिल्कुल वहाँ के वर्त्तमान मनुष्य की नस्ल—बुशमैन—से मिलते-जुलते हैं। इसी प्रकार ग्रिमाल्डी आदि और भी कुछ नस्लों की हड्डियाँ अन्य देशों में पाई गई हैं, जिनका वर्णन हम यहाँ करना उचित नहीं समझते।

होमो सेपियेन्स की क्रोमैगनन जाति

नीएनडरथल मनुष्य के प्रस्तर विकल्पों के पश्चात् योरप में जो खोपड़ियाँ और हड्डियाँ गुफाओं और धरती की तहों में दबी पाई गई हैं, वे उससे एक अधिक लम्बी समझदार और हर प्रकार से मानुषिक उपजाति की हैं, यह हम ऊपर बतला चुके हैं। यह निश्चय है कि ये लोग वर्त्तमान मनुष्य की ही उपजाति के थे। इनकी बहुत-सी पूर्ण हड्डियाँ योरप के कई देशों में मिली हैं, जिनसे उनकी रहन-सहन का पूरा पता चलता है। पहले हम आपको थोड़ा-सा हाल इन में से कुछ मुख्य हड्डियों का बतलावेंगे तब उनके विषय के भिन्न भिन्न विचारों पर दृष्टिपात करेंगे।
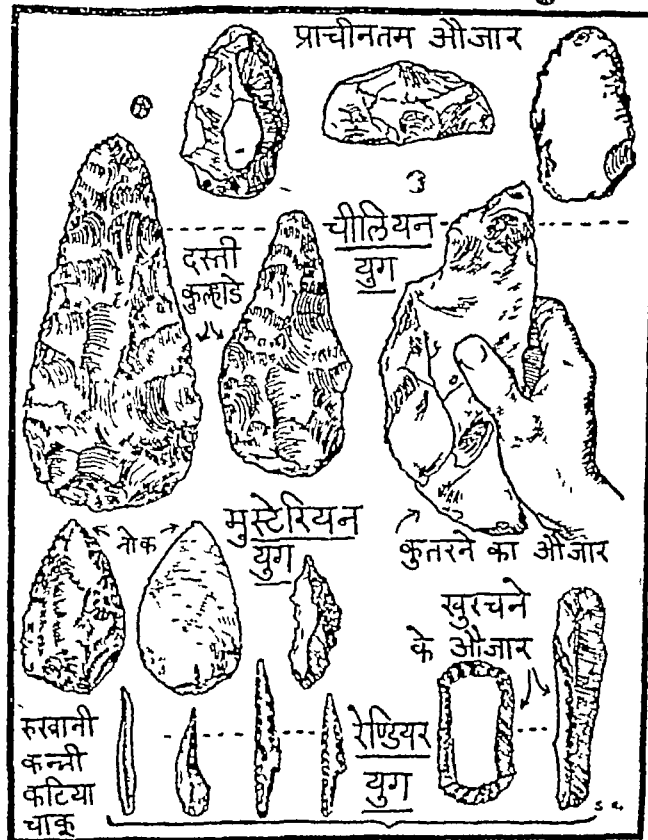
आदिम मनुष्य के अबतक मिले हुए कुछ सबसे प्राचीन पत्थर के औज़ार और हथियार

चीलियन और मुस्टेरियन युग के औज़ार नीएनडरथल मनुष्यों के और रेण्डियर युग के औज़ार क्रोमैगनन अर्थात् असली मनुष्य के हैं। सबसे ऊपर की पंक्ति में एक ही औज़ार के तीन भिन्न-भिन्न पहलू के चित्र हैं। यह या तो नीएनडरथलों का या उनसे भी पूर्व के अर्द्ध-मानवों का है।

वेल्स में पैवीलैण्ड (Paviland) की गुफा में सन् १८२३ ई० में एक ठठरी खोदी गई थी, जो गेरू में रँगी हुई थी। ये हड्डियाँ उस समय प्राचीन मनुष्य की न समझी गईं, जैसे कि नीएनडरथल की जिब्राल्टर में पाई हुई खोपड़ी; किन्तु जब लगभग ४५ वर्ष पीछे फ्रांस और इटली में इसी प्रकार की और हड्डियाँ मिलीं और वे क्रोमैगनन जाति की समझी गईं तब यह ठठरी भी उसी नस्ल की मानी गई। जब यह हड्डी वेल्स में पाई गई थी, तब उस स्त्री को मानकर उस हड्डीवाले प्राणी को 'पैवीलैण्ड की लाल स्त्री' का नाम धर दिया गया। बाद को निश्चय किया गया कि
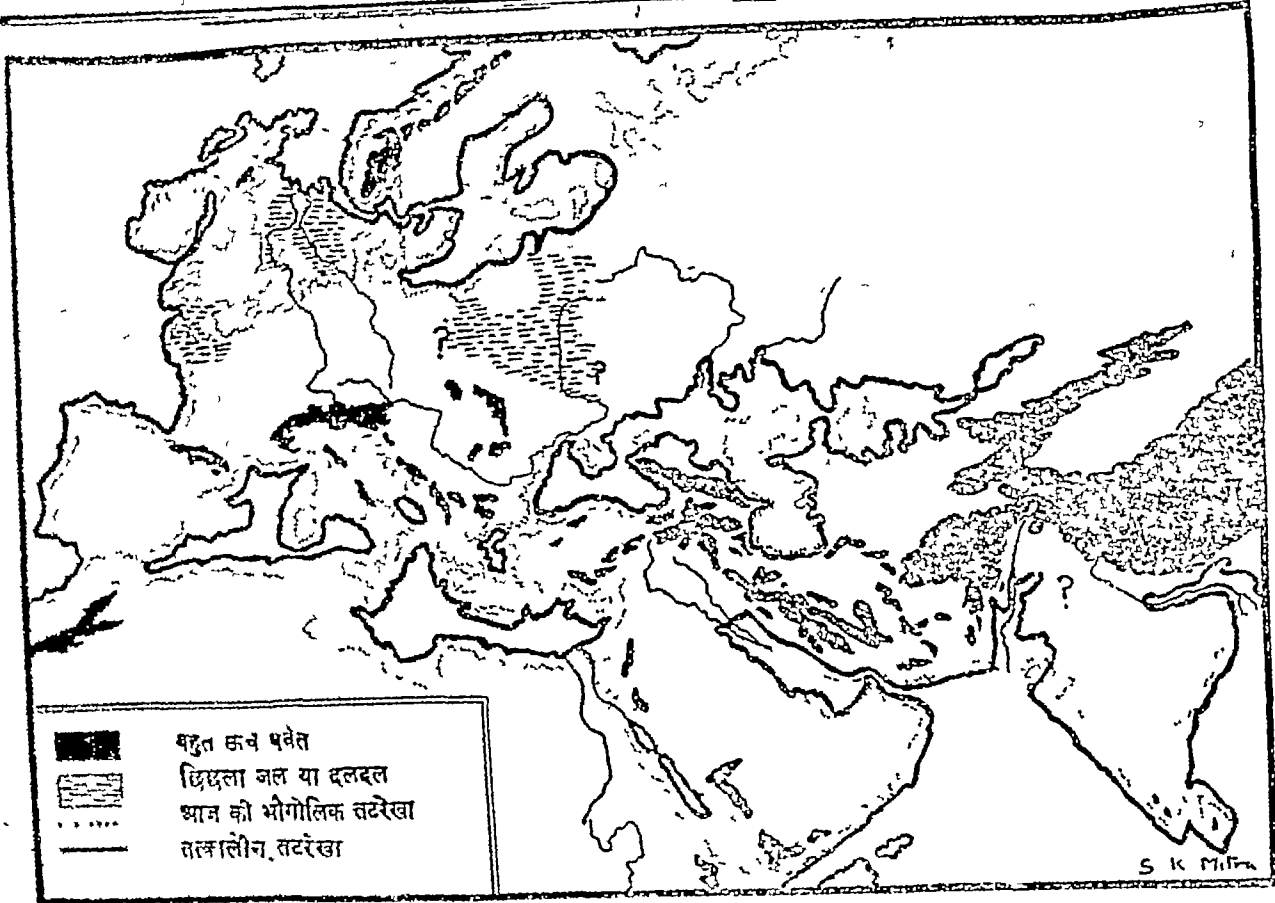
उत्तर पेलिओलिथिक या पाषाण युग (३५ हज़ार से २५ हज़ार वर्ष पूर्व) में योरप, पश्चिमी एशिया और उत्तरी अफ्रीका की रूपरेखा की एक कल्पना

यह उन दिनों की दुनिया का मानचित्र है जब अंतिम हिम-प्रलय समाप्त हो रहा था। इसी समय योरप में क्रोमैगनन जाति के अच्छे मानव विचरते होंगे। जहाँ ? चिह्न लगा है, वहाँ संभवतः स्थल के स्थान में जल रहा होगा।

वह पुरुष की हड्डी थी। अब यह ठठरी आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के अजायबघर में रक्खी हुई है।

फ्रांस देश में कई स्थानों पर चट्टानों के नीचे सन् १८६८ से लेकर १९२९ तक बहुत-सी खोपड़ियाँ और हड्डियाँ खोदी जा चुकी हैं। इनमें से मुख्य वे हैं, जो १८६८ ई० में डोरडोग्ने नगर के एक गाँव में क्रोमैगनन नामक चट्टानी आश्रय से खोदी गई थीं। इनमें ५ प्राणियों के अस्थि पंजरों के भाग हैं, जिनमें एक बूढ़े आदमी की खोपड़ी तथा एक औरत की खोपड़ी है। ये दोनों खोपड़ियाँ होमो सेपियन्स उपजाति की ही हैं और उनके साथ वालों और की हड्डियों से अनुमान होता है कि वे लोग आजकल के मनुष्यों से लम्बे होते थे। स्त्री की खोपड़ी को देखने से पता चलता है कि वह माथे पर चोट खाकर मरी थी और बूढ़े आदमी की जाँघ की हड्डी टूट गई थी, लेकिन वह उसकी मृत्यु के पहले पुनः जुड़ गई थी। उसके जबड़े और दाँतों को देखकर यह भी कहा जाता है कि उनको पायरिया नामक रोग (दाँतों से मवाद निकलने का रोग) था।

ये हड्डियाँ पिछले पाषाण-काल की हैं तथा उनके साथ बहुत-सी हाथ की बनाई हुई वस्तुएँ पाई गई हैं। ये नीएन्डरथल जाति की बनाई हुई वस्तुओं से अधिक सुन्दर और काम की हैं। ये हड्डियाँ पेरिस के 'प्राकृतिक इतिहास के अजायबघर' (Natural History Museum) में रक्खी हुई हैं।

इटली देश में भी तीन-चार गुफाओं से कई हड्डियाँ क्रोमैगनन मनुष्यों की ही मिली हैं। इनमें स्त्री, पुरुष और बालक सभी की हड्डियाँ हैं। कैवीलन गुफा में मिली हुई ठठरी एक लम्बे क़द के युवक की है। गाड़ते समय उसके साथियों ने उसे रंग-बिरंगे सीपी और घोंघों की माला से सजाकर दफ़न किया था तथा उसके साथ हड्डी का एक लम्बा नोकीला औज़ार तथा चकमक पत्थर के अन्य कई हथियार भी रक्खे थे। इस देश की एक अन्य मेंटो गुफा

कई अस्थियाँ खोदकर निकाली गई हैं। इसमें एक जगह तीन लाशें एक साथ दफ़न की हुई थीं, जो एक युवक, एक युवती तथा एक पन्द्रह वर्ष के लड़के की हैं। ये तीनों एक ही गड्ढे में वेल्सवाली हड्डी की भाँति गेरू से रँगी हुई थीं और गेरू से ही ढकी हुई थीं। इनके साथ भी पत्थर के शस्त्र तथा नाना प्रकार के आभूषण एवं एक सुन्दर आकर्षक कंठा मिला है। इसी प्रकार की और भी बहुत-सी हड्डियाँ जर्मनी तथा पूर्वी योरोप के देशों में खोजी गई हैं।

इन सबसे यह ज्ञात होता है कि क्रोमैगनन मनुष्य नीएनडरथलों से अधिक लम्बे थे, क्योंकि उनकी टाँग की हड्डियाँ निएनडरथलों की अपेक्षा अधिक लम्बी हैं। उनकी ठोड़ी और माथा भी उनसे अधिक सुस्पष्ट है। ये लोग एक तो अपने क़द या ऊँचाई और दूसरे कला-कौशल के कामों में अपूर्व थे। एक वृद्ध पुरुष की ठठरी की लम्बाई ६' ४" से भी कुछ अधिक है तथा एक स्त्री का पंजर ५' ५" है। इससे निश्चय होता है कि उनकी औरत भी आजकल के औसत मनुष्य से लम्बी होती थीं और उनके सिर भी बड़े थे। वे बिलकुल सीधे और चुस्ती से खड़े होते थे; उनके कंधे तनिक भी न झुकते थे और न उनके भावों से सुस्ती ही झलकती थी। उनके शानदार डील-डौल से लम्बे सिक्ख, अफ़ग़ानी या मध्य एशिया के कुछ निवासियों का ध्यान आ जाता है।

उनकी दूसरी विशेषता कला में प्रवीणता थी। जिन गुफ़ाओं में वे रहते थे, उनकी दीवालों और छतों पर उन्होंने अपनी चित्रकारी में दक्ष होने के उदाहरण छोड़े हैं। फ्रांस की प्रसिद्ध गुफ़ा फ्रौन्त-द-गौमे यथार्थ में उस समय के पशुओं की चित्रशाला है। नीची-ऊँची दीवालों पर बहुत से मैमथ, बारहसिंघे, बिसन, घोड़े आदि के रंग-बिरंगे चित्र खिंचे हैं और एक झबरे गैंडे की भी अद्भुत तस्वीर बनी है। बहुत-सी और भी गुफ़ाएँ तथा चट्टानी आश्रय स्पेन और फ्रांस में हैं, जिनमें इन आदमियों की बनाई हुई तस्वीरें और मूर्तियाँ हैं। इनको देखकर हम अचम्भे में रह जाते हैं कि ये प्राचीन लोग कैसे सुन्दर और शुद्ध चित्र बनाना सीख गये थे। ये मिस्र के लोगों के बनाये हुए पुराने-से-पुराने चित्रों से देखने में कहीं अधिक यथार्थ हैं। क्रोमैगनन-कला का सर्वोत्तम उदाहरण स्पेन की अल्टामीरा नामक गुफ़ा की छत में है। उसमें बिसन के झुंड के रंग-बिरंगे चित्र बने हैं। लाल, काले, पीले भूरे और सफ़ेद रंग के ये चित्र देखने में अत्यन्त आकर्षक और स्वाभाविक प्रतीत होते हैं। जंगली सुअर, घोड़े और हिरन भी उनमें बने हुए हैं। सब मिलाकर देखने में ये अद्भुत चमत्कार-से जान पड़ते हैं। ये अब से दस पन्द्रह हज़ार वर्ष से भी पहले के बने हुए हैं, परन्तु अब भी ये हाल के ही बने हुए नए-से ही जान पड़ते हैं। ये लोग मूर्तिकार भी थे। ये भाँति-भाँति की छोटी-छोटी बहुत सी वस्तुएँ गढ़ते थे। इनमें से बहुतों के चिह्न इन लोगों के निवास-स्थानों में पाये गये हैं। इन मूर्तियों में से कुछ भद्दी मूर्तियाँ स्त्रियों की हैं, परन्तु अधिकतर उस समय के पशुओं की ही हैं। उनमें से कुछ इतनी अच्छी बनी हुई हैं कि उनसे

गुफ़ा की दीवार पर चित्र बनाते हुए क्रोमैगनन मानव

पृष्ठ ५८५ के चित्र की तरह यह चित्र भी कल्पना के आधार पर बनाया गया है, किन्तु संभवतः इसी तरह दीपक या मशाल जलाकर अँधेरी गुफ़ाओं में ये लोग अपनी भौंडी तूलिका और विचित्र रंगों से चित्र बनाते रहे होंगे। इस चित्र के द्वारा आप इनके क़द, आकृति आदि का भी कुछ अनुमान कर सकते हैं।

कुशल कलाकारी टपकती है। कुछ मूर्तियाँ हड्डी की हैं, कुछ हाथीदाँत की, कुछ पत्थर की और कुछ मिट्टी की भी हैं। ये मानव-जाति के सर्वप्रथम चित्रकार और गुणीजन थे।

हमको आश्चर्य होता है कि इतने सुनसान, कठोर और प्रतिकूल समय में रहते हुए भी, जबकि वे अनेकों भयंकर पशुओं से घिरे रहे होंगे, ये लोग कैसे अपना ध्यान घरेलू चीज़ों से इतनी सुन्दर और सुहावनी वस्तुएँ बनाने में लगा सकते थे। इससे उनकी बुद्धि और पौरुष ही का नहीं बल्कि उनकी उद्यमशीलता और आत्मनिर्भरता का भी पता लगता है।

ये लोग हड्डी के टुकड़ों को घिसकर सुइयाँ भी बनाना जानते थे, जिनसे ये मारे हुए पशुओं की खालों को जोड़कर शरीर को ढकने तथा अपने आपको सर्दी से बचाने के लिए वस्त्र तैयार कर लेते थे। उनके हथियार नीएनडरथल मनुष्यों के भारी-भरकम हथियारों के सामने छोटे और व्यर्थ से जान पड़ते हैं; किन्तु वे इन हड्डी और हाथीदाँत के सुकुमार शस्त्रों से ही अपनी चतुर बुद्धि द्वारा बहुत से काम ले लेते थे। जहाँ तक हमें पता चलता है, ये प्राचीन कलाकार प्रकृति के वास्तविक प्रेमी थे। ये अपने लिए न तो किसी प्रकार की झोपड़ी बनाते थे, न धरती को जोतकर खेती करना जानते थे और न ये अपनी सुविधा के लिए जानवर ही पालते थे। ये सब बातें किसी अधिक क्रियात्मक जाति ने की होंगी, जिसने या तो इनके बाद प्रवेश किया होगा, या जो संसार के किसी अन्य भाग में रहती होगी, जहाँ की खोज अभी तक नहीं हो पाई है।

पता नहीं कि ये लोग भी अपने पूर्वजों की तरह कैसे लुप्त हो गये! इनसे हमको कम-से-कम इस बात की झलक अवश्य मिलती है कि मनुष्य क्योंकर एक आक्रमणकारी और आत्मनिर्भर जीव बना, जिसकी श्रेष्ठ बुद्धि ने उसको जीवित जगत् पर अधिकार प्राप्त करने के योग्य बनाया, जिससे वह सदा विजयी बना रहा; साथ ही क्योंकर उसमें कठोरता, साहस और तीव्र जिज्ञासा भी उत्पन्न हो गई।

मनुष्य के प्राचीन पूर्वजों की कहानी हम वर्तमान मनुष्य की प्रथम पहली उपजाति तक पहुँचा चुके हैं। इसके बाद उसका पाषाण-काल आरम्भ होता है। इस काल में मनुष्य गुफाएँ छोड़कर बाहर रहने लगा तथा अपनी सुविधा के लिए कुछ पालने लगा था। हथियारों में
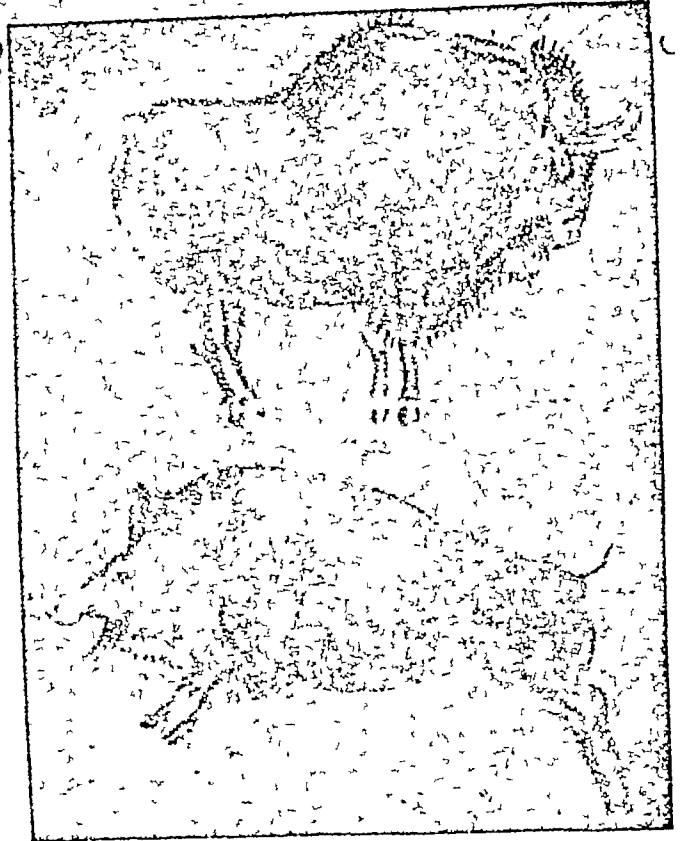
क्रोमैगनन मानव की उत्कृष्ट कला का एक नमूना

ये दो चित्र स्पेन की अलटामीरा गुफा में बने ऐसे अनेकों चित्रों में से हैं, जिनके उत्कृष्ट सौंदर्य को देखकर आज के कलाकार भी दाँतों तले उँगली दबाने लगते हैं!

भी पहले से बहुत उन्नति हो गई थी। भाले, धनुष, बाण, कुल्हाड़ी आदि शस्त्र अब उसे शिकार में सहायता देते थे। इनका वर्णन आप 'इतिहास की पगडंडी' में पढ़ चुके हैं।

फिर भी पृथ्वी की आयु तथा अन्य जीवों के इतिहास पर विचार करते हुए यह कहा जा सकता है कि मानव-जाति की अभी शैशवावस्था ही है। वैज्ञानिकों ने हिसाब लगाया है कि पृथ्वी को बने कम-से-कम १६ करोड़ वर्ष तथा अधिक से-अधिक ३० करोड़ वर्ष बीत चुके हैं। परन्तु पृथ्वी पर जीवन का विकास हुए इसका केवल चतुर्थांश समय व्यतीत हुआ है। पृथ्वी के इतिहास के पाँचवें या छठे भाग से पृष्ठवंशी जीवों का पता लगता है। प्राचीन-से-प्राचीन जीव को—जो मनुष्य कहा जा सकता है, बनमानुष नहीं—पृथ्वी के रंगमंच पर आये १ करोड़ वर्ष से अधिक समय नहीं हुआ। मनुष्य की वर्तमान उपजाति को उत्पन्न हुए तो अभी १० लाख वर्ष भी नहीं हुए। यदि पृथ्वी की आयु का औसत २३ करोड़ वर्ष मान लिया जाय, तो मनुष्य की आयु उसका केवल २३०० वाँ

स्पष्ट है कि मनुष्य पृथ्वी पर अभी केवल उग ही रहा है अथवा वह इस समय केवल अपनी बाल्यावस्था में ही है। यदि उसने बचपन में ही (इतने थोड़े से ही समय में) इतनी उन्नति कर ली है कि वह पृथ्वी के जीवों में सर्वश्रेष्ठ और सर्वोत्तम हो गया है; तो फिर पहले-से कौन कह सकता है कि आगे चलकर मानव-जाति क्या-क्या उन्नति करेगी और बदलकर क्या से क्या हो जायगी? वैज्ञानिकों का विचार है कि पृथ्वी को इतनी ठंडी होने में, जबकि उस पर जीवन असम्भव हो जाय, युग-के-युग बीत जायँगे। यह विश्वास करने योग्य है कि जीवन के प्रारम्भ से जितने वर्ष अब तक बीते हैं, कम-से-कम उतने ही समय तक उस पर जीव जीवित रह सकेंगे। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि मनुष्य का विकास अचानक ही हो गया या प्रकृति की इस सब कारीगरी के पीछे और कोई समझदार शक्ति है! पृथ्वी के रंगमंच पर एक के बाद दूसरे नाना प्रकार के जीवों का लगातार प्रकट होना किसी प्राकृतिक शक्ति के कारण ही प्रतीत होता है, जिसके कारण मछली-जैसे नीची श्रेणी के जीव से महात्मा बुद्ध और महात्मा गांधी जैसे महापुरुष बन गये। ब्रूम साहब का कथन है कि जीवन-धारा का आरम्भ, जो वर्त्तमान परिणाम से बिल्कुल विभिन्न था तथा जिसका विकास इतने धीरे-धीरे और एक के बाद दूसरी सीढ़ी पर चढ़कर हुआ है, अवश्य ही कोई विशेष अर्थ रखता है तथा किसी अज्ञात शक्ति द्वारा ही हुआ है। उनके कहने के अनुसार यह पहले से ही निश्चित था कि सोच-विचार करनेवाला मनुष्य ही पृथ्वी के अब तक के समस्त विकासों का मुख्य लक्ष्य है।

आदि युग में मानवीय पुरखों के कठोर जीवन-संघर्ष की एक कल्पित झाँकी

...रे पुरखों को दोहरी लड़ाई लड़नी पड़ी होगी—एक मैमथ आदि जानवरों से रक्षा, दूसरे शिकार द्वारा जीवन-निर्वाह के लिए।

चेतनवृत्तियाँ और चेतना-प्रवाह

मनोविज्ञान का ध्येय मनुष्य के स्थूल मस्तिष्क (Brain) का अध्ययन नहीं, वरन् उसकी चेतनता तथा उससे संबंधित क्रिया-प्रक्रियाओं पर प्रकाश डालना है। यदि स्थूल मस्तिष्क का कुछ ज्ञान हमें प्राप्त करना आवश्यक होता है, तो वह केवल अपने मुख्य लक्ष्य की सिद्धि में सहायता के लिए ही। अतएव आइए, सबसे पहले हम चेतना-प्रवाह पर ही विचार करें।

हम कहते हैं कि मनुष्य चेतन है और मिट्टी जड़ है; क्योंकि मनुष्य सोच-विचार सकता है, उसे सुख-दुःख की अनुभूति होती है, वह इच्छा कर सकता है, उसके स्मृति है, और वह चिन्तन कर सकता है, जो गुण कि मिट्टी में नहीं है। इन्हीं गुणों को मनोविज्ञान की भाषा में चेतनवृत्तियाँ कहते हैं। मनुष्यमात्र को जाग्रत अवस्था में, और कभी कभी निद्रित अवस्था में भी चेतना रहती है। चेतनवृत्तियाँ मनुष्य के मन में उठती और विलीन होती रहती हैं, वे निरन्तर बदलती रहती हैं।

चेतना का क्षेत्र वह इकाई होती है, जो एक विशेष समय में मस्तिष्क के सामने होती है। इस क्षेत्र में भावना, विचार, रूप और दृश्य सभी कुछ सम्मिलित रूप में आते रहते हैं और जाग्रत अवस्था से लेकर निद्रित अवस्था तक यह क्षेत्र निरन्तर क्रमबद्ध रहता है। कभी कभी कहा जाता है कि चेतना की विभिन्न अवस्थाओं में अन्तर होता है और चेतना की कई श्रेणियाँ होती हैं, जैसे 'गहरी' चेतना और 'हल्की' चेतना। इसका मतलब केवल इतना ही है कि किसी समय किसी वस्तु-विशेष को हम अधिक मूल्यवान् समझते हैं और उसके बारे में हमारी चेतना विशेष रूप से गहरा अथवा अनुभूतिपूर्ण रहती है।

चेतना में 'अहं' का स्थान बड़ा महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि 'अहं' चेतना के साथ सर्वदा ही विद्यमान रहता है और अनुभव सदा उसे जारी रखता है। यहाँ अनुभव और चेतना का अन्तर समझ लेना आवश्यक होगा। यद्यपि 'अनुभव करनेवाला व्यक्ति' और 'चेतन व्यक्ति' का अन्तर हम समझ सकते हैं तथापि व्यवहार में दोनों शब्द भ्रम भी उत्पन्न कर देते हैं। ये दोनों शब्द समानार्थक केवल उसी अवस्था में कहे जा सकते हैं जबकि 'चेतन' कहते समय हम पूर्ण 'जड़ का विरोधी' अर्थ प्रकट करना चाहें। दूसरी अवस्था में इन शब्दों का एक अर्थ में प्रयोग करने और भ्रम से खाली नहीं हो सकता। चूँकि 'चेतना' निश्चयपूर्वक हमारी मानसिक क्रियाओं के आत्मगत (subjective) पहलू से सम्बन्ध रखती है, न कि वाह्यगत (objective) पहलू से, इसीलिए वह अनुभव से सर्वदा भिन्न चीज़ है, जो उक्त दोनों या किसी एक से भी सम्बन्ध रख सकती है। इतना और कह देना पर्याप्त होगा कि जब हम यह कहते हैं कि हम इस या उस वस्तु के गुणों अथवा रूप के प्रति 'चेतन' (सचेत अर्थात् conscious) हैं, तो हमारा मतलब सिर्फ़ इतना होता है कि हम दृश्य या चिन्त्य रूप में उस चीज़ की अथवा उसके गुणों की विद्यमानता से 'सचेत' हैं। इसके विपरीत एक यात्री जब अपनी यात्रा का वर्णन करेगा तो वह अपने अनुभव बतलावेगा न कि अपनी 'चेतना' की अवस्थाओं का वर्णन करेगा।

चेतना का प्रवाह नदी के बहाव-जैसा अविच्छिन्न रूप से जारी रहता है। ऐसा कभी नहीं होता कि मन में एक चेतनवृत्ति उपस्थित होकर समाप्त हो जाय और फिर कुछ देर रुककर दूसरी आवे। इसके विपरीत, एक चेतनवृत्ति के रहते ही दूसरी आ उपस्थित होती है। चेतना के आधार होते हैं अनुभूति और इन्द्रियजनित ज्ञान (sensation)। यद्यपि अनुभूति और इन्द्रियजनित ज्ञान का विस्तृत विवेचन हम अगले अध्यायों में करेंगे ही, पर यहाँ यह जान

होना आवश्यक है कि अनुभूति के गुणात्मक अन्तर जितने ही कम हैं, इन्द्रियजनित ज्ञान के उतने ही असंख्य; इसलिए इन्द्रियजनित ज्ञान के साथ उस प्रकार के ज्ञान की क्रमबद्धता स्वभावतः ही अनेकों दिशा में प्रसरित और मिश्रित होगी और ज्ञान की अनुभूति से एवं अनुभूति का अनुभूति से क्रम इसी तरह कम और साधारण रहेगा। अब देखा जाय कि चेतनवृत्तियों के साधारण लक्षण क्या हैं।

आप अपने कमरे मे एकान्त में बैठे हैं। आप के आगे मेज़ पर सुन्दर नक़्क़ाशी की हुई तश्तरी रक्खी है। उसको देखकर आपको एक दर्शनजनित ज्ञान पैदा हुआ, जिसे साधारण भाषा में यों कहेंगे कि आपको आनन्द प्राप्त हुआ। अर्थात् आपको वह तश्तरी सुन्दर लगी। अब ध्यान देने की बात है कि वह चेतनवृत्ति जो आप को उक्त तश्तरी को सुन्दर समझने की प्रेरणा देती है, आपके मन में कितनी देर तक रह सकती है। शायद आप कहना चाहेंगे कि यह बात आपकी इच्छा पर निर्भर करती है किन्तु यह एक भ्रमात्मक धारणा होगी, क्योंकि आपकी यह चेतनवृत्ति कुछ क्षणों से अधिक स्थायी कदापि नहीं हो सकेगी। उस तश्तरी पर आप चाहे जितनी देर भी दृष्टि लगाये रहें, आपकी चेतनवृत्तियाँ लगातार परिवर्तित होती रहेंगी। आप कभी तश्तरी की धातु पर ध्यान देंगे, कभी उसके रंग पर और कभी उसकी नक़्क़ाशी पर। आप कितने ही संयम से काम लें, क्षण भर में ही आपका मन न जाने कहाँ कहाँ घूम आयेगा। कभी आपके ध्यान में धातु के साथ-साथ उसकी खान का ध्यान आयेगा; कभी उस तश्तरी के बनानेवाले कारीगर का; कभी उस कारीगर के परिश्रम का; कभी उस परिश्रम के शोषण का; फिर शोषण जनित दरिद्रता का। फिर अनुभूति जाग्रत होगी और यहाँ आकर दो भिन्न प्रकार की चेतनता के आधारों का सम्मिश्रण होगा। यानी आपकी चेतनवृत्ति इन्द्रियजनित ज्ञान के धरातल से उतरकर अनुभूति के धरातल पर आ जायेगी और इस तरह आपकी चेतनवृत्तियों की क्रमबद्धता लगातार चलती रहेगी।

अब हम आप से पूछें कि क्या उस अवस्था में उस तरह की तश्तरी देखकर सभी व्यक्तियों के मन में एक ही तरह का चेतना प्रवाह हो सकता है? तश्तरी को देखकर साफ़ ही है कि सबके मन में एक ही प्रकार के भाव नहीं उठ सकते। उसी प्रकार की तश्तरी को देखकर किसी के मन में यह भाव पैदा हो सकता है कि इस ढंग की थाली बने तो कितना सुन्दर हो, और फिर उस सिलसिले में उसे किसी ऐसे स्थान का नाम भी याद आ सकता है, जहाँ उस प्रकार की तश्तरियाँ और थालियाँ बनती हों। फिर उक्त स्थान की नदियों पर उसका ध्यान जा सकता है, तथा उक्त नदी की छाती पर नौका-विहार की इच्छा भी जाग्रत हो सकती है। इसी तरह उसके चेतना-प्रवाह का क्रम अविच्छिन्न चल निकलेगा। इस तरह जितने आदमी उक्त प्रकार की तश्तरी देखेंगे, सबके मन में भिन्न भिन्न चेतनवृत्तियाँ कार्यशील हो उठेंगी और स्वभावतः बदलती भी रहेंगी। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि यद्यपि वृत्तियों की क्रमबद्धता की रीति सबके साथ एक-ही जैसी होगी, यानी एक चेतनवृत्ति के बाद दूसरी का पैदा होते जाना जारी रहेगा, तथापि उनका स्थूल रूप सबके मन में भिन्न-भिन्न होगा।

अब चेतना के मुख्य लक्षणों पर संक्षेप में विचार किया जायः—

(१) चेतनवृत्तियाँ प्राणिमात्र में कम या अधिक अवश्यम्भावी होती हैं। ये वृत्तियाँ हवा में उड़ती नहीं फिरा करतीं, बल्कि वे किसी चेतन प्राणी की वृत्तियाँ होती हैं।

(२) प्रत्येक प्राणी की चेतनवृत्तियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं। आपकी आपके मन में, मेरी मेरे मन में, और किसी तीसरे व्यक्ति की उसके मन में। हाँ, यह संभव हो सकता है कि कोई-कोई मनुष्यों की चेतनवृत्तियों का क्रम किसी विशेष रूप में समान हो। पर उनका पारस्परिक संबंध तो ऐसा नहीं होता। दो व्यक्तियों की चेतनवृत्ति में समानता असंभव है।

(३) चेतनवृत्तियाँ पानी की धारा की तरह निरंतर प्रवाहमान होती हैं। क्रमबद्धता और परिवर्तन उनका प्रधान गुण है। कोई भी चेतनवृत्तियाँ अपने मौलिक स्वरूप में कुछ क्षणों से अधिक स्थायित्व नहीं रखतीं।

(४) यद्यपि एक चेतनवृत्ति का सम्बन्ध परवर्ती सैकड़ों चेतनवृत्तियों से हो सकता है, परन्तु मौलिक चेतनवृत्ति का संकेत पाकर मात्र एक ही वृत्ति उसके पीछे आती है। एक ही तश्तरी को देखकर भिन्न भिन्न व्यक्तियों के मन में भिन्न भिन्न प्रकार की चेतना पैदा हो सकती है, परन्तु किसी के मन में वे सारी चेतनाएँ एक साथ जाग्रत हो आवें ऐसा असंभव है।

चेतनवृत्तियों के गुणात्मक परिचय अथवा उनकी प्रकृति के बारे में जानने के लिए हम एक स्थूल उदाहरण लें। एक प्रोफेसर अपना लेक्चर तयार कर रहे हैं। उनका ध्यान उसमें लीन है, घड़ी सामने रक्खी है, कालेज का समय हुआ आ रहा है, मन में देर होने का भाव एक कोने में पड़ा हुआ है, मुहल्ले के लड़के चीख़ रहे हैं और

प्रोफेसर साहब का ध्यान बटा लेते हैं। उनके काम में विघ्न उपस्थित होता है, यद्यपि वह काम किये ही जा रहे हैं। वह इतना ही चाहते हैं कि शोर करनेवाले बच्चों को डाँट बताएँ कि घड़ी पर ध्यान जाकर टिक जाता है। फिर देरी का ख्याल आता है और अपना ध्यान केन्द्रित कर वह फिर अपने काम में लग जाते हैं। अब इस उदाहरण से स्पष्ट है कि प्रोफेसर की चेतना के केन्द्र में लेक्चर तैयार करने का ही विचार स्थापित है, फिर भी उनके चेतना-केन्द्र के इर्द गिर्द कालेज के लिए देर होने, लड़कों के चिल्लाने आदि के भाव का भी हल्का-हल्का प्रभाव विद्यमान है। किन्तु उन सबका प्रभाव भी एक-सा नहीं है, किसी का कम है, तो किसी का अधिक। लेक्चर तैयार करने, देर होने, आदि की चेतना प्रोफेसर के मन में एक साथ उपस्थित अवश्य है, पर उसका अधिकांश लेक्चर तैयार करने के ध्यान से ही भरा हुआ है। अन्य बातें क्रमशः गौण स्थान रखती हैं।

सारांश यह है कि चेतना की एक ही वृत्ति में साथ-साथ लगी अन्य कई वृत्तियाँ भी रहा करती हैं, किन्तु सबकी शक्ति क्रमशः निम्नांशों में हुआ करती है। जिसका प्रभाव सबसे अधिक होता है, चेतना केन्द्र पर उसी का अधिकार होता है, और उसी के नाम से तत्कालीन चेतनवृत्ति जानी जाती है। लेकिन इन विचारों में उलटफेर हुआ करता है। अक्सर ऐसा भी होता है कि जिस विचार का चेतना-केन्द्र पर अधिकार हो, उसकी उपस्थिति में भी गौण विचार पर्याप्त जागरूक हो उठें और केन्द्रीय चेतना पर हावी हो जायँ। राजनीति की भाषा में यदि हम कहें तो मन वह प्रदेश है, जिस पर विजय प्राप्त करने के लिए अनेक अराजक चेतनवृत्तियाँ सदैव संघर्षशील रहती हैं।

बच्चों के मन में एक ही साथ बहुत-से विचार आते हैं। कभी एक शक्तिमान हो उठता है, तो कभी दूसरा। ज्यादातर यह होता है कि उनका विचार एक ही चीज पर स्थिर नहीं रहा करता। चेतना की उपमा बहते हुए पानी से दी गई है। ठीक उसी तरह चेतनवृत्तियों का जितना अधिक अव्यवस्थित प्रसार होगा, उतनी ही गंभीरता उतनी ही कम होगी। सारांश यह कि एक चेतनवृत्ति को शक्तिशील और [illegible] बनाने के लिए आवश्यक है कि चेतनवृत्तियों को निरर्थक प्रवाहित न होने दिया जाय और उन्हें [illegible] दिया जाय।

ऊपर बताया जा चुका है कि चेतनवृत्तियों का आधार होता है अनुभूतियाँ और इन्द्रियजनित ज्ञान, जिनके भीतर मन की लगभग समस्त वृत्तियाँ नहीं तो अधिकांश अवश्य ही आ जाती हैं। सुख, दुःख, संतोष, ज्ञान सब इनके अन्तर्गत आ जाते हैं। चीज़ों के देखने, सुनने, छूने, चखने, स्मरण करने, तर्क करने आदि की सभी क्रियाएँ इसके अन्तर्गत आ जाती हैं। यद्यपि चेतना के उक्त आधारों का पारस्परिक संयोग और उनकी क्रमबद्धता बनी रहती है, तथापि उनमें से प्रधानता किसी एक ही की रहती है।

कल्पना कीजिए कि कोई हाकी खेलते खेलते गिर गया। उसके सिर में गेंद लगने से सिर लहूलुहान हो गया। होश आने पर वह देखता है (यहाँ उसे ज्ञान होता है) कि उसे पीड़ा हो रही है (यहाँ उसे अनुभूति हुई)। वह देखता है कि उसके ख़ून भी गिरा है (यह फिर ज्ञान का सूचक है), वह इच्छा करता है कि ख़ून बन्द करने के लिए दवा लगा दी जाय (यहाँ पुनः उसे अनुभूति हुई)। और इस तरह चेतना के धरातल ज्ञान से अनुभूति और अनुभूति से ज्ञान तथा फिर ज्ञान से अनुभूति में बदलते रहते हैं।

अब कल्पना कीजिए कि वहीं उसका कोई साथी भी खड़ा है। उसके मन में भी इस घटना को देखकर उक्त दोनों चेतना के प्रधान गुण काम करते हैं। फटा हुआ सिर देख (यह ज्ञान की क्रिया है) उसे दया आती है और दुःख होता है (यह अनुभूति का सूचक है), और वह फौरन् पानी से रूमाल भिगोकर घाव पर बाँध देता है (यह पुनः ज्ञान की सूचना है)। इसी तरह अनेकानेक दर्शकों के मन में भी उसके देखने से उत्पन्न ज्ञान और सहानुभूति के कारण पैदा अनुभूति और फिर सिर के लिए शुभ या अशुभ कामना के रूप में अनुभूति जाग्रत होती है।

अब इन विभिन्न व्यक्तियों के मन में कौन सी वृत्ति प्रधान है, यह कह सकना कठिन है। चोट खानेवाले खिलाड़ी के सिर में पीड़ा है, प्रतिशोध की भावना है। इसलिए उसके मन में अच्छे होने, उपचार करने आदि वृत्तियों के होते हुए भी अनुभूति की ही प्रधानता है। उसके साथी के मन में भी दोनों चेतन वृत्तियाँ हैं; परन्तु प्रधानता अनुभूति की है, क्योंकि वह चाहता है कि सिर जल्दी अच्छा हो जाय। पर अन्य लोगों के मन में मात्र कौतूहलजनित ज्ञान है।

इसी प्रकार विभिन्न परिस्थितियों में विभिन्न व्यक्तियों के मन पर विभिन्न चेतनवृत्तियों का प्रभाव अलग-अलग होता जा सकता है, और उनका विवरण इस प्रकार दिया जा सकता है कि मानो उनका कोई भी पारस्परिक

नहीं है, पर यथार्थ में देखें तो हर चेतनवृत्ति से परस्पर अविच्छिन्न सम्बन्ध हुआ करता है।

एक प्रश्न और है। क्या हमारी सम्पूर्ण चेतना किसी भी घड़ी सुख अथवा दुःख से एकदम असम्बन्धित रह सकती है? संभव हो, ऊपर से ही देखकर इसका जवाब यह दे दिया जाय कि क्यों नहीं? क्या हम एक पत्थर अथवा एक लकड़ी के टुकड़े के अस्तित्व का ज्ञान किसी प्रकार के सुख-दुःख की भावना मन में लाये ही नहीं प्राप्त कर सकते? पर यदि गहराई में पैठकर देखा और विचार किया जाय तो साफ़ हो जायगा कि हमारी पूर्व अनुभूति वस्तुओं और दृश्यों के ऐसे अनुकूल अथवा प्रतिकूल भाव (likings or prejudices) हमारे चेतन मन में सदा विद्यमान रहते हैं; जिनके अनुकूल या विपरीत वस्तुओं को पाकर हमें किसी न किसी मात्रा में आनन्द या दुःख अथवा चिढ़ होती ही है। इस तरह हमारी सम्पूर्ण चेतना प्रसन्नता अथवा अप्रसन्नता की भावना से कभी भी ख़ाली नहीं रहती, न रह ही सकती है।

मनोविज्ञान-शास्त्र प्रधानतः चेतना के प्रकारों से ही सम्बन्धित है, पर उन प्रकारों (modes) का परस्पर सम्बन्ध न हम अब तक जान ही सकते हैं और न उसकी स्थापना ही कर सकते हैं, जब तक कि हम यह ठीक तरह से न समझ लें कि चेतना या चेतना का आधार—उसका स्थान—कहाँ है।

तनिक-सा विचार करने पर बात साफ हो जाती है। निश्चय ही एक चेतन मन (mind or self) के बिना हम चेतनता के प्रकार अथवा उनके पारस्परिक सम्बन्धों की कल्पना नहीं कर सकते, क्योंकि चेतन मन ही सम्पूर्ण चेतना का स्वामी होता है। वही उसका आधार होता है।

इस चेतन मन (conscious self) का ज्ञान हमें कैसे होता है, यह प्रश्न ऐसा है, जिसके वैज्ञानिक उत्तर की सत्यता निजी अनुभवों से जाँची जा सकती है। इस चेतन मन का अस्तित्व हमें उसके प्रभाव से—चेतन-प्रवाह को व्यवस्थित करने के उसके अनिवार्य कार्यों से—ज्ञात होता है।

हमारी चेतना का क्षेत्र दो भागों में विभाजित रहता है। एक को कहा जा सकता है जागरूक (attentive) और दूसरे को सुप्त (inattentive)। चेतना का जागरूक क्षेत्र वह होता है जहाँ चेतन (conscious self) पूरी चौकसी रखता है और सुप्त क्षेत्र ठीक इसी का विपरीत है। इस तरह कहा जा सकता है कि साधारणतः सम्पूर्ण चेतना के क्षेत्र से पूर्णतः चिन्तित और दृष्टिगत पदार्थ केन्द्रीय रूप से, तथा अधूरे और अव्यवस्थित ढंग से सोचे और देखे गये पदार्थ परिधि पर आते हैं। अब यहाँ पर ग़लतफ़हमी से बचने के लिए यह भी कह दिया जाय कि यह सच नहीं भी हो सकता है कि पूरी तौर से सोचे और देखे गये सभी पदार्थ चेतन मन की चौकसी के दायरे में अवश्यमेव आते ही हों, लेकिन इतना ध्रुव सत्य है कि उनके अतिरिक्त अन्य पदार्थ कदापि नहीं आते।

ऊपर के वक्तव्य को ठीक तरह समझा देने के लिए आवश्यक है कि यह बतला दिया जाय कि पूर्णतः चिन्तित और दृष्टिगत पदार्थ किन अवस्थाओं में चेतन मन की चौकसी के दायरे के बाहर भी हो सकते हैं। उदाहरण के लिए एक उपवन लिया जाय, जहाँ एक से एक सुन्दर क्यारियों में एक से एक मनोहर फूल खिले हैं। जब हमारी चेतना उपवन की सम्पूर्ण सुन्दरता से परिपूर्ण होगी तो यह आवश्यक नहीं होगा कि उस उपवन के एक-एक गुलाब और एक-एक बेले के फूल की सुन्दरता की पृथक् पृथक् चेतना हमारे मन को हो। इसी तरह किसी अपरिचित विदेशी भाषा के गान सुनते समय उसकी सम्पूर्ण ध्वन्यात्मक अथवा रागात्मक सौन्दर्य की चेतना से अभिभूत होने के साथ उन ध्वनियों और रागों में से प्रत्येक की चेतना पर्में अलग-अलग भी हो यह कदापि अनिवार्य या आवश्यक नहीं है।

पदार्थों के प्रत्यक्ष चेतना में अवतीर्ण होने के लिए प्रमुख आवश्यकता है रुचि सम्बन्धी सम्मान (dispositional interest) की। अक्सर रुचियाँ—जन्मगत अथवा अभ्यास द्वारा प्राप्त—ऐसी होती हैं जो अनुभूतियाँ और इच्छाओं का आधार होती हैं, और हमारे चेतना के प्रवाह की गति निर्धारण करने अथवा उसका संचालन करने में इनका ही प्रधान हाथ होता है। इनकी मात्रा और शक्ति सम्मान (interest) की मात्रा और शक्ति के अनुसार ही कम या अधिक हुआ करती हैं।

मगर यह समझना भूल होगी कि चेतना एक ऐसी अनावश्यक और फालतू चीज़ है, जो किसी विशेष स्थिति पर अकारण और अनायास उत्पन्न हो जाती है, और जिसका कोई औचित्य अनौचित्य नहीं है, जैसा कि जड़ भौतिकवादियों का ख़याल है। हाँ, वैज्ञानिक भौतिकवाद के अनुसार यह सच है कि बहुत अंशों में भौतिक कणों के नियमानुसार भौतिक उपादानों से ही इसका प्रादुर्भाव एक विशेष निर्धारित नियम की सीमा में होता है।

विवाह-पद्धति—उसका आरम्भ, वर्त्तमान रूप और भविष्य—(२)

विवाह का उद्देश्य तथा रूप

पिछले प्रकरण में हमने विवाह-पद्धति की उत्पत्ति तथा विकास की ऐतिहासिक रूपरेखा का दिग्दर्शन किया था और यह जानने का प्रयत्न किया था कि किस प्रकार आदिकाल से आज तक विवाह का रूप बदलता रहा और आज उसके विकास की धारा किस ओर जा रही है। इस लेख में हमें उस मूल भित्ति पर ही विचार करना है जिस पर कि विवाह की नींव स्थापित है—अर्थात् हमें देखना है कि विवाह का मूल सामाजिक उद्देश्य क्या है और उसका रूप क्या होना चाहिए।

विवाह की प्रथा तथा रूप पर सबसे महत्त्वपूर्ण प्रभाव विवाह के सामाजिक उद्देश्य का पड़ा है। सामाजिक आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए ही स्त्री-पुरुष को नियमानुसार कार्य करने के लिए समाज ने बाध्य किया है। यों भी कह सकते हैं कि सामाजिक नियम केवल सामाजिक आवश्यकताओं के ही दूसरे रूप हैं। विवाह-जैसी संस्था का निर्माण, पुष्टि, अस्तित्व व विनाश यदि समाज-परिवर्त्तन के अनुकूल हुआ है तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। समाज के सर्वमान्य और अति आवश्यक नियमों ने धर्म का स्थान ग्रहण किया है और इसीलिए हमारे बहुत से अनिवार्य कार्यों को धर्म में सम्मिलित कर लिया गया है। हिन्दुओं में, जहाँ धर्म का विस्तार बहुत अधिक है, विवाह एक धार्मिक कर्म है। इस प्रकार विवाह का सामाजिक उद्देश्य भी विवाह के रूप को निर्धारित करनेवाला एक मुख्य कारण है।

प्रारम्भिक समय में विवाह का उद्देश्य जाति की स्थिति तथा वृद्धि था। इस विचार पर धर्म व आचार नीति के प्रभाव से विवाह के उद्देश्य का नया विचार उत्पन्न हुआ, जिसे आजकल 'धार्मिक या शास्त्रोक्त (Sacramental) विवाह' कहते हैं। इसके अनुसार विवाह एक धार्मिक संस्कार है, जिसका मुख्यतम उद्देश्य शारीरिक सुख व कामतृप्ति न होकर सन्तानोत्पत्ति द्वारा समाज सेवा है। हिन्दू-धर्म में आत्म स्वच्छन्दता तथा व्यक्तिगत रुचि का ध्यान रखते हुए आठ प्रकार के विवाहों का वर्णन पाया जाता है। इन विवाहों में स्वयंवर (जैसे नल-दमयन्ती का) स्त्री-हरण (जैसे अर्जुन-सुभद्रा का), गन्धर्व जैसे (दुष्यन्त-शकुन्तला का), और पैशाचिक विवाह (जैसे भीम ने अज्ञात-वास के दिनों में राक्षसी से किया था) भी सम्मिलित हैं। परन्तु इन सब विवाहों में धार्मिक विवाह को सर्वश्रेष्ठ एवं अनुकरणीय बतलाया है और अधिकांश में यही व्यवहार में भी आता है। धार्मिक विवाहों के माननेवालों का विचार है कि सन्तानोत्पत्ति में असफल पिता ही स्वर्ग में प्रवेश करने से वंचित नहीं रहता, वरन् उसके पितरों को भी स्वर्ग से निकलकर नरक में जाना पड़ता है। वैवाहिक धर्म के इस रूप के कारण प्रत्येक को विवाह करना आवश्यक था, चाहे वह कितने ही अनिच्छापूर्वक विवाह करे। ऐसी स्थिति में विवाह निश्चित करने में प्रेम सकलन न होना कोई आश्चर्य की बात नहीं। उनके लिए विवाह एक पवित्र बन्धन तथा धार्मिक बन्धन है, जिसमें हस्तक्षेप करने का किसी व्यक्ति को कोई अधिकार ही न था। अतः विवाह माता-पिता अथवा गुरुजनों द्वारा निश्चय किये जाते थे और उनमें वर वधू की सम्मति नहीं ली जाती थी। ऐसे विवाहों में स्त्री अपने पति के अधीन रहती थी और उसे अपने पति की सेवा करनी पड़ती थी, चाहे वह उससे हृदय से प्रेम करती हो अथवा नहीं। पाश्चात्य देशों में विवाह उनमें होता है जो परस्पर प्रेम करते हैं, परन्तु हिन्दुओं में जिससे विवाह हो जाता है, उसी से प्रेम करना पड़ता है।

इस प्रकार के दाम्पत्य जीवन में यदि स्त्री-पुरुष दोनों सदाचारी हों तो कोई विशेष आपत्ति नहीं होती, परन्तु यदि किसी

परिवार में पुरुष अथवा स्त्री में से एक भी दुराचारी हुआ, अथवा दोनों भिन्न-भिन्न प्रकृति या विपरीत विचारवाले हुए, तो ऐसे विवाह सर्वथा दुःखदायी हो जाते हैं और कहीं-कहीं इसके बहुत भीषण परिणाम भी हुए हैं। ऐसे दुःखी परिवारों की संख्या-वृद्धि होने पर इस प्रकार के विवाहों की महिमा घट गई। दूसरे, बीसवीं शताब्दी में व्यक्तिगत अधिकारों की पुकार व स्वतन्त्रता की ध्वनि ने इन दुःखी जनों में एक नई जाग्रति पैदा कर दी, जिसने गुरुजनों द्वारा निश्चित विवाहों की जड़ को हिला दिया और विवाह-सम्बन्ध में वर और कन्या की सम्मति होने का अधिकार पुनः स्थापित कर दिया। पूर्वकाल में आर्य-धर्म के अनुयाइयों में वर व कन्या की सम्मति से विवाह होने की रीति थी। गुरुजनों द्वारा निश्चित विवाह, सम्भवतः, बाल-विवाह की कुरीति के साथ-साथ होने लगे होंगे, क्योंकि बाल-विवाह में कन्या व वर अनुमति देने योग्य होते ही न थे। स्वयंवर की प्रसिद्ध प्रथा वर तथा कन्या की विवाह में सम्मति होने की पुष्टि करती है। गुरुजनों द्वारा निश्चित विवाह नीतियुक्त अथवा उच्च आदर्शवाले भले ही हों, परन्तु प्रति दिन के व्यवहार तथा मनुष्य की स्वाभाविक दुर्बलता का ध्यान रखते हुए यह नहीं कहा जा सकता कि इन विचारों पर निर्धारित विवाह दोष से रहित हैं। प्रथम तो ऐसे विवाह स्त्री पुरुष के व्यक्तिगत अधिकारों को कुचलते हैं और उन्हें बिना सोचे समझे परम्परा से चली आई रीतियों का दास बनाते हैं। आजकल जबकि बाल-विवाह की प्रथा क़रीब क़रीब समाप्त हो रही है और विवाह पूर्ण युवावस्था के प्राप्त होने पर ही होते हैं, अपने आजीवन के संगी या सङ्गिनी के चुनाव को किसी अन्य व्यक्ति पर, चाहे वह अपना पिता ही क्यों न हो, नितान्त छोड़ देना बिल्कुल न्यायसंगत नहीं प्रतीत होता। दूसरे, ऐसे विवाहों में स्त्री-पुरुष के पारस्परिक प्रेम, विचार तथा मनोवृत्ति पर कोई ध्यान ही नहीं दिया जाता। वृद्धजन प्रायः यह भूल जाते हैं कि वैवाहिक जीवन को सुखी बनाने के लिए स्त्री-पुरुष में पारस्परिक आकर्षण होना अनिवार्य है और इस आकर्षण की अनुपस्थिति में प्रेम का अभाव प्रायः अनिवार्य हो जाता है। तीसरे, विचार तथा आदर्श की एकता पर ध्यान देने से मालूम होगा कि विचारों में समानता न होने से स्त्री-पुरुष का हार्दिक मिलाप कठिन है और यदि दोनों स्वतन्त्रता के पुजारी हैं तो उनमें मानसिक द्वन्द्व होना स्वाभाविक है। जब दोनों व्यक्ति अपने-अपने विचारों के अनुआचरण करेंगे तो एक-दूसरे में यदि घृणा नहीं तो पारस्परिक विरोध की अवश्य संभावना रहेगी। कहीं-कहीं ऐसे विवाहों का विच्छेद भी हो जाता है और जहाँ खुली तरह से विच्छेद होना मानहानि समझा जाता है, वहाँ तो दोनों का जीवन और भी दुःखदायी हो जाता है। कहीं-कहीं इसकी सीमा यहाँ तक पहुँच जाती है कि ऐसे अनमेल विवाहों का अन्त प्रायः आत्महत्या द्वारा होता है। कम-से-कम आजकल, जब प्रत्येक स्त्री अथवा पुरुष व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का पुजारी हो रहा है, इन धार्मिक विवाहों के फलने-फूलने की सम्भावना कम मालूम होती है।

इन नवीन विचारों के फलस्वरूप पूर्वीय देशों की संयुक्त परिवार संस्था (joint family) व्यक्तिगत परिवार (individualistic family) में परिणत होने लगी। व्यक्तिगत विचारों की पुष्टि व्यक्तिगत सम्पत्ति के आधार पर हुई। सम्पत्ति में व्यक्तिगत अधिकार स्वीकृत होने से वैवाहिक नियमों पर भी भारी प्रभाव पड़ा। अब विवाह प्रेम-सङ्कलन द्वारा अथवा ठेके (contract) के आधार पर होने लगे। धार्मिक विवाह के विचार शिथिल पड़ गये और ठेके के विवाहों में स्त्री-पुरुष के अधिकार समान हो गये। ऐसे विवाहों को पाश्चात्य देशों में प्रचलित ईसाई धर्म के समानता (Equality) तथा सदाचार के नियमों ने बहुत सहायता दी। इस नवीन समाज में स्त्रियों का मान बढ़ गया और उनके पति-प्रेम, आदर तथा अधिकारों की समानता अब निश्चित हो गई। इसके साथ-साथ विवाह-सबंध-विच्छेद की प्रथा भी प्रचलित हुई। प्रारम्भ में पुरुष को स्त्री-त्याग करने में, स्त्री को पुरुषत्याग करने की अपेक्षा, अधिक सुगमता थी। हाँ, विशेष स्थिति में स्त्रियाँ भी पति-त्याग कर सकती थीं। पर समानता के आदर्श के प्रस्थापित होने के साथ स्त्रियों को भी वह सुविधा प्राप्त हो गई और उन्हें विद्याध्ययन करने का भी अधिकार दिया गया।

क्रमशः विवाह नियम सरल हो गये और विवाह पारस्परिक सम्मति, मित्रता व सहवास पर निर्भर हो गया। स्त्रियों का सम्मान समाज में और भी बढ़ गया; क्योंकि विवाह-सम्बन्ध निश्चित करने में उनकी सम्मति आवश्यक थी। धार्मिक संस्था (Church) व पादरियों का प्रभाव धीरे-धीरे कम हो गया और विवाह स्नेह तथा सम्मति पर निर्भर हो गया। आज तो विवाह-विच्छेद-नियम बहुत ही सरल हो गये हैं और स्त्रियाँ साधारण वाद विवाद अथवा अप्रसन्नता पर ही पति त्याग का प्रश्न उठा सकती हैं। कुछ देशों में इन नवीन अधिकारों का स्त्रियों द्वारा दुरुपयोग भी किया गया है। विवाह के महत्त्व तथा आदर्श को भूलकर वे ठके

शारीरिक उपभोग का साधन मात्र समझने लगी है और एक समय में कई पुरुषों से दाम्पत्य-सम्बन्ध रखना तथा अनेक प्रकार के व्यभिचार करना वे न्याय-विरुद्ध नहीं समझतीं। ऐसे कुकर्मों के करने में उन्हें संतान निरोध के नाना वैज्ञानिक साधनों से भी सहायता मिलती है। नवीन व्यक्तिगत अधिकारों की आड़ में तथा प्रेम की भित्ति पर स्थापित विवाहों के बहाने से नाना प्रकार के व्यभिचार होते हैं और ऐसे व्यभिचारों की मात्रा दिन-प्रतिदिन बढ़ती ही जाती है। इसके उदाहरण अमेरिका के न्यायाधीश लिंडसे की डायरी में मिलते हैं। इँगलिस्तान में मेरी कोरेली की पुस्तकों में भी वहाँ की सामाजिक दशा व स्त्री-स्वतन्त्रता के दुरुपयोग की कथाएँ मिलती हैं। इसका कारण क्या है? स्वतन्त्रता या कुछ और? स्वतन्त्रता बुरी नहीं है, परन्तु यह उसका दुरुपयोग है, जो घृणित लीलाओं का जन्मदाता है। किसी वस्तु का उपयोग व दुरुपयोग कर्ता के विचारों तथा आस-पास की सामग्री व वातावरण पर, जिसका उसके विचारों पर भारी प्रभाव पड़ता है, निर्भर है। स्वतंत्रता स्वयं दोषी नहीं है। इन घृणित कार्यों का दोष समस्त समाज पर है, न कि केवल अल्पशिक्षित नववयस्का नवीन अधिकार-प्राप्त कन्याओं पर। यदि इन कन्याओं को ठीक धार्मिक शिक्षा दी जाय और उनके आचरणों पर उनके माता-पिता व समाज कड़ी दृष्टि रक्खें तो पूरी सम्भावना है कि इन अधिकारों के होते हुए भी उनका दुरुपयोग आजकल न हो और समाज उन्नति कर सके।

कला-परिस्थिति (Industrial System) के आगमन से स्त्रियाँ कारखानों में मजदूरों की तरह काम करने जाने लगीं। इसके उदाहरण के लिए इँगलैंड, अमेरिका, जापान इत्यादि देशों का हाल जानना पर्याप्त है, जहाँ स्त्रियाँ कारखानों में पुरुष के बराबर काम करती हैं। कारखानों में काम करनेवालों की अशान्ति तथा आर्थिक संघर्ष (economic conflict) के कारण अनेक राजनैतिक आन्दोलनों के द्वारा स्त्रियों ने इन देशों में वोट देने का अधिकार भी प्राप्त कर लिया है और बहुत-से अंशों में [illegible] है। अब विवाह स्त्री-पुरुष की आर्थिक आवश्यकताओं के अनुसार होते हैं, अर्थात् एक स्त्री अपना विवाह करने के पहले इस प्रश्न पर विचार करती है कि उसको एक विवाहित जीवन में रहते हुए अच्छा होगा अथवा किसी कारखाने में एक मजदूरनी की तरह काम करके। यदि वह समझती है कि उसके लिए इस समय कारखाने के जीवन की अपेक्षा किसी पुरुष की स्त्री बनकर रहने में अधिक सुख है, तब ही वह विवाह करने का निश्चय करती है अन्यथा वह आजन्म अविवाहित रहने के लिए पूर्ण रूप से स्वतन्त्र है। कोई अन्य व्यक्ति उसे विवाह करने पर बाध्य नहीं कर सकता। ऐसे विवाह अब धर्म की सम्मति पर निर्भर नहीं हैं और न उनकी राह में धर्म, धर्म-संस्थाएँ व पुरोहित किसी प्रकार की अड़चन कर सकते हैं। ऐसे स्त्री-पुरुष राष्ट्रीय न्यायालयों में इकरारनामे पर हस्ताक्षर भर कर देते हैं और वह सम्बन्ध-स्थापन करने के लिए पर्याप्त समझा जाता है। विवाह-विच्छेद-नियम भी साथ साथ बदलते जा रहे हैं और स्त्री किसी समय भी अपने पति को अपनी इच्छा से छोड़ सकती है।

दूसरी विशेष बात इस समय की स्थिति में यह है कि व्यक्तिगत परिवार भी खण्डित हो रहा है और स्त्री व पुरुष दोनों ही पृथक् पृथक् रहते हैं। इसका कारण यह है कि दोनों को पृथक्-पृथक् कारखानों में काम करने जाना पड़ता है। या कभी स्त्री व पुत्र गाँव में ही रहते हैं और पुरुष बड़े बड़े शहरों में काम करने जाते हैं। इस प्रकार इन दो व्यक्तियों में भी विछोह रहता है। इन्हीं अवस्थाओं से रूस में अल्पसामयिक विवाह की पद्धति (Short Marriage) प्रचलित है, जिसके अनुसार स्त्री-पुरुष थोड़े समय के लिए विवाह कर सकते हैं और उस समय के पूर्ण होने पर फिर पृथक्-पृथक् रहकर अपना जीवन व्यतीत कर सकते हैं। ऐसे विवाह व्यक्तिगत सम्मति पर निर्भर हैं और इनमें माता-पिता व गुरुजनों को हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं है। यह विवाह आदर्श की दूसरी सीमा है और इसमें धार्मिक विवाहों की तरह सन्तानोत्पत्ति का कोई स्थान नहीं है, वरन् सन्तानोत्पत्ति को स्त्री व पुरुष दोनों अनावश्यक समझते हैं और यथाशक्ति उसे रोकने का प्रयत्न करते हैं। कुछ लोग विवाह करना ही व्यर्थ समझते हैं और यदि गुप्त संसर्ग से काम चल जाय तो विवाह करने के झगड़ों से बचे रहना ही श्रेयस्कर समझते हैं। संक्षेप में वे लोग विवाह को केवल काम-वासना की तृप्ति का साधन मानते हैं और पुराने विवाह के आदर्श व धर्म को व्यर्थ समझते हैं। इन विवाहों के भी दोष प्रत्यक्ष हैं। एक तो ऐसे विवाहों से जन-संख्या की वृद्धि नहीं होती, जिसका प्रमाण फ्रांस और इटली की दशा में मिलता है, जहाँ की जन-संख्या वास्तव में घट गई है और जिसे बढ़ाने का प्रयत्न वहाँ की सरकार कर रही है। दूसरे, ऐसे माता-पिता द्वारा उत्पन्न संतान का पालन-पोषण करनेवाला कोई नहीं होता। ऐसे

विवाह की अल्प अवधि की समाप्ति पर उस अवधि में उत्पन्न संतान के पालन-पोषण के भार व कष्ट को उठाने के लिए कोई नहीं प्रस्तुत होता और वह भार सरकारी अनाथालयों पर पड़ता है, जिसका परिणाम यह होता है कि उन बच्चों को गृह-जीवन का सुख, ज्ञान, शिक्षा व सभ्यता नहीं मिल पाती और उनकी देख रेख भी उतनी अच्छी तरह नहीं होती, जितनी कि उनके माता-पिता कर सकते थे। यह मनुष्य-सभ्यता के आदर्श के विरुद्ध है और माता-पिता के साधारण धर्म के भी अनुकूल नहीं। पशुओं में भी माता अथवा पिता अपने बच्चों को स्वय ही पालते हैं और निम्न श्रेणी के पशुओं को छोड़कर अन्य पशु प्रायः एक पत्नी के साथ ही जीवन-पर्यन्त निर्वाह करते हैं।

अमरीका में एक नये प्रकार का विवाह प्रचलित हो रहा है, जिसका तात्पर्य मनुष्य-जाति की उन्नति है। कहा जाता है कि ऐसे विवाहों द्वारा उत्पन्न संतान सामान्य मनुष्यों से शारीरिक तथा मानसिक अवस्था में बढ़कर होगी, और इस प्रकार मनुष्य-जाति की उन्नति हो सकेगी। इस विचार की पूर्ति के लिए दो मुख्य नियम बनाये गये हैं। पहला यह कि रोगी, पागल या अस्वस्थ व्यक्तियों को विवाह करने से वञ्चित किया जाय, और दूसरा यह कि विवाह डाक्टर द्वारा शरीर-निरीक्षण करने के पश्चात् पूर्ण युवावस्था प्राप्त होने पर किया जाय तथा विवाह होने के बाद पति-पत्नी काम-तृष्णा को रोकते हुए संयमी जीवन व्यतीत करें और उनका समागम विज्ञान-शास्त्र के आदेशानुसार हो।

हिन्दूशास्त्र का निरीक्षण करने से ज्ञात होगा कि हिन्दू-धर्म भी अक्षरशः यही आदेश करता है। पहला नियम मनुष्य जाति का पतन रोकनेवाला है और दूसरा उसे उन्नति की ओर ले जानेवाला है। पर पहले उपाय के सम्बन्ध में हमें यह कहना है कि जो उपाय उन रोगी व पागलों के विवाह रोकने के लिए वहाँ किये जाते हैं, उनमें से कुछ सर्वथा अमानुषिक है; जैसे डाक्टरों द्वारा नश्तर देकर उस व्यक्ति को नपुंसक कर देना, इत्यादि। ऐसे नियम सभ्य समाज को शोभा नहीं देते। शिक्षा का प्रभाव ऐसा होना चाहिए कि ऐसे व्यक्ति स्वयं ही विवाह न करें ताकि ऐसी अमानुषिक क्रियाओं का उन पर प्रयोग करने की आवश्यकता ही न हो।

कुछ विद्वानों का मत है कि जिस प्रकार कल-कारखानों में अमुक कार्य केवल अमुक व्यक्ति ही करता है और उसे करने से वह उसमें विशेषज्ञ हो जाता है, उसी प्रकार विशेषज्ञता के नियम पर मानव-समाज को विभाजित करना चाहिए और सन्तानोत्पत्ति के उद्देश्य से केवल उन्हीं गिने-चुने व्यक्तियों को विवाह की आज्ञा होनी चाहिए, जो इस कार्य के लिए सर्वोत्तम हों। हर किसी को विवाह करके कुरूप अस्वस्थ बालक पैदा करने का अवसर नहीं मिलना चाहिए। उनका कथन है कि इस तरह चुने हुए परिवारों द्वारा जाति-वृद्धि से मानव-जाति की उन्नति होगी। इस संबंध में यह जानकर आपको दिलचस्पी होगी कि हिन्दू शास्त्रज्ञों ने भी मनमानी जाति-वृद्धि को रोकने की चेष्टा की थी। उनके निश्चय और नवीन विद्वानों के उपरोक्त मत में केवल भेद इतना है कि हिन्दू शास्त्र के आदेशानुसार स्वस्थ स्त्री-पुरुष युवावस्था के केवल प्रारम्भिक काल में ही सन्तानोत्पत्ति कर सकते हैं तथा युवावस्था के ढलने के पूर्व ही उनको वानप्रस्थ धारण कर लेना चाहिए। इस तरह सन्तानोत्पत्ति भी नियमित होगी और किसी स्वस्थ पुरुष को गृहस्थ जीवन के सुख से वञ्चित भी न किया जायगा। इस प्रकार के विवाहों को ही आज दिन अमेरिका में 'वैज्ञानिक' या 'यूगेनिक' विवाह कहते हैं।

आजकल न तो पुराने धार्मिक विवाह ही पूर्ण रूप से सफल हो सकते हैं और न रूसवाले अल्पसामयिक व ठेके के विवाह ही। हमको वर्त्तमान तथा प्राचीन आदर्शों को मिलाकर कोई नया मार्ग ढूंढना चाहिए और हमारी यह धारणा है कि प्राचीन सिद्धान्त के साथ, जिसमें विवाह का आदर्श सन्तानोत्पत्ति द्वारा जाति-सेवा था, नवीन अर्थात् प्रेम-सङ्कलन का आदर्श जोड़कर ऐसे विवाह करने चाहिए, जो प्रेम-सङ्कलन पर निर्धारित हों तथा जिनका आशय काम तृप्ति न होकर सन्तानोत्पत्ति द्वारा जाति सेवा हो। वह सन्तानोत्पत्ति भी हिन्दू-शास्त्रों द्वारा बतलाये हुए नियमों-जैसे नियमों के आधार पर, जो अमेरिका के वैज्ञानिक विवाहों में भी व्यवहार में लाये जाने लगे हैं, होनी चाहिये। इसी में मनुष्य-जाति की भलाई व उन्नति है।

मनुष्य के सामाजिक जीवन में विवाह-प्रथा का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। विवाह प्रथा की नींव पर ही परिवार-रूपी उस 'इकाई' का निर्माण हुआ है जो समाज के ढाँचे की रचना में ईंट का काम करती रही है। विवाह के इसी महत्त्व के कारण हमने इस और पिछले लेख में विस्तार के साथ इस विषय पर विचार करना आवश्यक समझा, ताकि हमें इसके आगे आनेवाले समाज-व्यवस्था (Social Order) के विकास की रूपरेखा समझने में आसानी हो।

सभ्यताओं का उदय—(४) बेबिलोनियन सभ्यता

इसी स्तंभ के तीसरे लेख में हम दजला और फ़रात नदियों की उपजाऊ घाटी में प्रस्फुटित होनेवाली सुमेरियन सभ्यता का आपको परिचय करा चुके हैं। जैसा कि हम पहले बता चुके हैं, संसार की अन्य कई नदियों की तलहटियों की तरह दजला-फ़रात की यह घाटी भी मानवीय सभ्यता के विकास के लिए विशेष अनुकूल रही है। अतएव सुमेरियन सभ्यता के साथ ही वहाँ से सभ्यता का अंत नहीं हो गया, वरन् उसके बाद एक और महान् सभ्यता का वहाँ विकास हुआ। मिस्र तथा भारत की तरह इस सभ्यता ने भी संसार को कई अमूल्य वस्तुएँ भेंट कीं। इस लेख में आपको उसी का हाल सुनाया जा रहा है।

सुमेरिया की सभ्यता के विनाश के तीन कारण मुख्य माने जाते हैं। पहला तो यह है कि भौगोलिक परिस्थिति की वजह से वहाँ की आबहवा अच्छी और स्वास्थ्यरक्षक न थी। दूसरा यह कि सुमेरिया के स्वतंत्र या अर्द्धस्वतंत्र नगर आपस में लड़ने के कारण निर्बल हो गये थे। तीसरा यह कि उसके पड़ोस की जातियाँ, जैसे कि सेमेटिक, मिटानी और एलामी, उसे तीन ओर से दबा कर समुद्र की ओर ढकेलती चली आईं। सुमेरिया के लोगों का कार्यक्षेत्र संकुचित होता गया, यहाँ तक कि उनकी स्वतंत्रता और शक्ति दूसरों के और विशेषकर सेमेटिक लोगों के हाथ में चली गई।

सेमेटिक जाति के लोग सुमेरिया के पश्चिम और दक्षिण-पश्चिम भाग में रहते थे। उनके उद्गम का स्थान और उनका मूल निवास अरब समझा जाता है। जनसंख्या के बढ़ने और भोजन और चारे की सामग्री कम होने के कारण वे अरब से बाहर फैल गये। किन्तु यह मत असंदिग्ध नहीं है। कारण यह है कि सेमेटिक

प्रतापी बेबिलोनियन सम्राट् हम्मूरबी

लोगों के अरब में आने के पहले ही सीरिया और दजला-फ़रात के दोआबे में उनकी बस्तियों का पता मिलता है। मरुभूमि के दोनों ओर के समुद्र-तटों एवं उत्तरी चन्द्राकार भूभाग में तो उनकी सभ्यता के अगणित चिह्न हैं। किन्तु अरब में वैसे चिह्नों का उतने पुराने काल में अभाव पाया जाता है। अनेक विद्वानों का यह मत है कि सेमेटिक लोग एक जाति के न थे। वे सम्भवतः अनाटोलिया की ओर से सीरिया, फ़िलस्तीन और मसोपोटेमिया में आकर बस गये थे। आर्यों की तरह वे भी कई जातियों के मिश्रण से बने थे। उनका व्यक्तित्व एक जाति के कारण नहीं, बल्कि एक भाषा और कुछ संस्थाओं की एकता के कारण है। जो कुछ भी हो, सेमेटिक लोग सुमेरियन लोगों से विभिन्न जाति के थे। सुमेरियन लोग सिर और दाढ़ी मुड़वाते थे और नंगे पैर चलते थे, किन्तु सेमेटिक काली जुल्फ़ें और दाढ़ी रखते थे और सेण्डल पहनते थे। वे सर पर पगड़ी बाँधते और छड़ी लेकर चलते थे।

सेमेटिक लोग सैकड़ों वर्ष
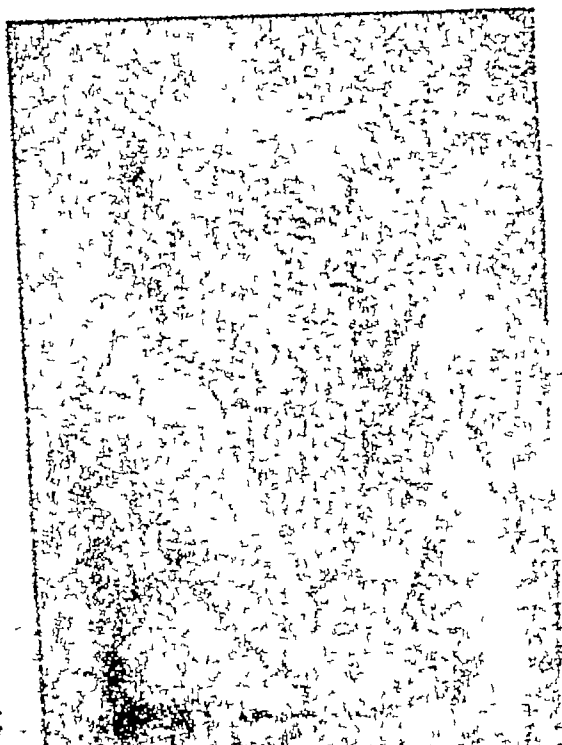
से सुमेरियावालों से लड़ते चले आते थे। वे प्रायः धनुष-बाण से लड़ते थे। उनके हथियार ताँबे के थे। उनका अक्कद नामक नगर धीरे-धीरे प्रबल होता और सुमेरिया पर अधिकार जमाता चला गया। उनका सबसे पहला प्रसिद्ध नेता शर्रूकिन (सारगन) था, जिसका समय ईसा से अट्ठाइस सौ वर्ष पूर्व माना जाता है। उसने सुमेरिया के नगरों को अपने अधिकार में कर लिया। उसकी सेना ने एलाम की पहाड़ियों से भूमध्य सागर के पूर्वी तट तक अपना आतंक जमा दिया। बिखरे हुए सेमेटिक लोगों में उसने स्वाभिमान और एकजातीयता का भाव पैदा कर दिया। खानाबदोश और भ्रमणशील सेमेटिक अपने तम्बू छोड़कर नगरों के मकानों में रहने लगे और सुमेरिया की सभ्यता का अनुकरण करने लगे। लेखन-कला, अङ्क-गणना, कालगणना, नाप-तौल और व्यापार के विधान, धार्मिक ज्ञान, शिल्पकला आदि उन्होंने सुमेरिया से सीख ली। क़रीब ढाई सौ वर्ष में सुमेरिया और अक्कदवालों में ऐसा मेलजोल हो गया कि वे मिश्रित होकर बेबीलोनिया राज्य और सभ्यता के संस्थापक बन गये। तथापि अक्कद से राजनीतिक शक्ति बेबिलान के सेमेटिक लोगों के हाथ में चली गई। ये लोग 'एमोराइट' कहलाते थे। सीरिया की ओर से आकर बाबिल नगर में इन्होंने अपना प्रभुत्व जमा रखा था। यह निश्चित सा है कि बेबिलान की सभ्यता सुमेरियन और सेमेटिक लोगों के संयोग से बनी थी।

शर्रूकिन के वंश में नरम-सिन नाम का दूसरा तेजस्वी नेता हुआ। दोनों ने शिल्पकला, साहित्य और भास्कर कला की उन्नति में ऐसा उत्साह दिखाया कि इन क्षेत्रों में बेबीलान ने अपूर्व श्रेय प्राप्त कर लिया। किन्तु अक्कद का राजवंश धीरे-धीरे क्षीण होता गया। उसका आतंक इतना घट गया कि मसोपटेमिया के नगर स्वतंत्र हो गये। पड़ोसियों ने भी अपना अधिकार जमाना शुरू कर दिया। आख़िरकार एलामवालों की सहायता से 'सिप्पर' नगर के एमोराइट लोगों ने (लगभग २२०० ई० पू०) अक्कद राज्य का अन्त कर दिया। 'सुमूअबू' ने ही संभवतः अपनी राजधानी 'बेबिलान' में स्थापित करके नये राजवंश का आरम्भ कर दिया।

इस नये वंश में खम्मूरबी (हम्मूरबी) नाम का एक बड़ा प्रतापी राजा हो गया है। उसने दक्षिणी मसोपटेमिया से एलामवालों को निकालकर वहाँ बाबिल (बेबिलान) का अखण्ड प्रभुत्व स्थापित कर दिया। उसने उत्तर की ओर असीरिया को भी अपने अधिकार में कर लिया, जिससे उसका ऊपर को बढ़ने का मार्ग खुल गया। उसने बयालिस वर्ष राज्य किया (२१२३-२०८१ ई०-पू०)। मसोपटेमिया में उसने ऐसा संगठन कर दिया, जिससे कि लोग उसको बेबिलोनिया का राज्य कहने लगे। खम्मूरबी ने अपने सैनिक बल से एक साम्राज्य स्थापित कर दिया, तथापि उसका सच्चा महत्त्व उसके प्रकाशित क़ानूनों और घोषणाओं से है, जो कि पुरानी मिट्टी की शिलाओं पर खुदे पाये गये हैं। हम्मूरबी ने बड़ी-बड़ी नहरें खुदवाईं, सड़कें बनवाईं, क़िले बनवाये और अनेक शहरों और मन्दिरों की रचना करवाई। उसकी सबसे प्रख्यात कृति उसके विधान या क़ानूनों का संग्रह है, जो सन् १९०२ में सूसा में मिला था। संसार के और विशेषतः क़ानून के इतिहास में ये विधान बड़े ही मार्के के माने जाते हैं।

सम्राट खम्मूरबी और उसके विधान

इस चित्र में खम्मूरबी को दैवी विभूति द्वारा उन क़ानूनों को पाते हुए दिखाया गया है जो मूर्ति के अधोभाग में अंकित हैं।

खम्मूरबी की मृत्यु के बाद साम्राज्य का प्रान्तीय संगठन और सैनिक बल शीघ्रता से क्षय होने लगा। उस पर

बहुतायत से लगे थे, जिनसे खाने के अलावा चीनी व शराब भी बनाई जाती थी। ताड़ और खजूर की पत्तियों से रस्से तथा छाने की सामग्री बनती और लकड़ी से भी बहुत-से काम निकलते थे। खेतों और बग़ीचों के आगे जङ्गल था, जो सिंह, तेंदुओं, सियारों, लोमड़ियों आदि से भरा पड़ा था। लोग खूनी जानवरों के भय से दूर जाने से डरते थे। मैदानों में हिरन झुंडों में चौकड़ी मारते और जङ्गली गधे, सुअर और बैल विचरण करते थे। वहाँ के लोग गधे, ऊँट, भैंस, बैल, बकरे और भेड़ें पालते थे। काशी लोगों के आने से वहाँ घोड़ों का रखना भी शुरू हो गया था। कुत्ते और चिड़ियाँ भी लोग पाला करते थे। गाँवों के मकान करवी या झाऊ की टट्टियों से या मिट्टी की नीची दीवालों पर छाकर बनाये जाते थे। लोग प्रायः मिट्टी के सादे बरतनों का प्रयोग करते थे। उन पर नक्काशी या बेलबूटे नहीं होते थे।

बेबिलोनिया के बहुत पुराने काल की इमारतों के अधिक चिह्न नहीं मिलते। फिर भी ईसा के पूर्व सातवीं शताब्दी में बेबिलान का जो वर्णन तथा ध्वंसावशेष मिलते हैं, उनसे जान पड़ता है कि वहाँ का नागरिक जीवन बहुत उन्नत और समृद्धिशाली था। ग्रीक इतिहासकार हेरोडोटस ने उसका सुन्दर वर्णन किया है। बेबिलान एक विस्तृत मैदान में चौकोर बसा हुआ था, जिसका प्रत्येक भुज १२० फ़र्लाङ्ग का था। नगरों के चारों ओर चौड़ी और गहरी जल से भरी खाई और दो सौ हाथ ऊँची और पचास हाथ चौड़ी दीवार थी। नगर की चहारदीवारी में चौखट-समेत पीतल के सौ दरवाज़े थे। शहर के बीच से फ़रात नदी बहती थी। मकानों की मोटी दीवारें नदी के किनारे तक थीं। पहले तो वहाँ एक मंज़िल के ही मकान बनते थे, किन्तु बाद में तीन-चार मंज़िल के भी बनाये जाते थे। किराये के मकानों को साल भर के लिये लोग भाड़े पर लेते थे और किराया हर छः महीने पर देते थे। बादशाह के महल, क़िले, कचहरियाँ, ६५० फीट ऊँची जिगुरात (मीनार), आलीशान मन्दिर आदि शहर के बीच में थे। बड़ी इमारतों के दरवाज़े प्रायः ठोस पीतल के बनाये जाते थे। वहाँ की सड़कें सीधी थीं और चारों ओर बनी थीं। नदी को पार करने के लिए अनेक पुल बने हुए थे। शायद नदी से नीचे-नीचे आने-जाने की चौड़ी सुरंग या टनल थी। शहर में ताँबे, काँसे, जस्ते, सोने, चाँदी और लोहे के साधारण और ढलाई के काम होते थे। सूती और ऊनी कपड़े बुने जाते थे। वहाँ लोग प्रायः ऊनी कपड़े ही पहनते थे। वे शौक़ीन मिज़ाज के थे और लम्बे बाल रखते थे, जिन्हें वे घूँघरदार बनाते थे। वे शरीर में सुगन्धि लगाते, गालों को रँगते, तथा कान, हाथ और गले में आभूषण पहनते थे। वे रङ्गीन कपड़ों के शौक़ीन थे। रँगाई और बेलबूटे काढ़ने का काम खूब होता था, जिसका यूनान और रोम में बड़ा आदर होता था। गधों, घोड़ों, गाड़ियों, ऊँटों और नावों के द्वारा उनका व्यापार पूर्व में भारत तक तथा मिस्र और भूमध्य सागर तक फैला हुआ था। नगर का व्यापारिक जीवन इतना प्रगतिशील था कि वहाँ के सम्पन्न निवासियों ने ऊबकर शहर के किनारे अपने रहने के मकान बनवा लिये थे। यद्यपि वहाँ सिक्कों का प्रचलन न था, किन्तु सोने के कई क़िस्म और वज़न के टुकड़ों को वे लेन-देन के काम में लाते थे। सबसे छोटा टुकड़ा 'शकल' कहाता था। साठ शकलों का एक 'मीना' और साठ मीनाओं का एक 'टेलेन्ट' होता था। यद्यपि वहाँ बंक न थे, किन्तु वहाँ के सेठ-साहूकार २० रुपये सैकड़ा सालाना सूद पर क़र्ज़ दिया करते थे और हुन्डी का काम भी करते थे। धनिकों की रक्षा और उनकी व्यापारिक उन्नति के अनुकूल क़ानून भी बना दिये गये थे।

बेबिलोनिया का समाज कई श्रेणियों में विभक्त था। सबसे ऊँची श्रेणी के लोग धर्मरक्षक अथवा पुरोहित थे। वे धर्म अथवा विद्याओं के रक्षक माने जाते थे। दूसरी श्रेणी में योद्धागण थे। तीसरी श्रेणी व्यापारियों और धनिकों की थी। और चौथी श्रेणी में साधारण ग़रीब लोग थे। पाँचवीं श्रेणी ग़ुलामों और दासों की थी। राजा के वंशज पहली, दूसरी और तीसरी श्रेणीवालों के काम करते थे। विद्या, धन और बल की विभिन्नता के अलावा क़ानून के अनुसार भी लोग तीन श्रेणी में विभक्त किये गये थे। एक तो थे 'अमेलू' (अवेलू?), जिनको हानि पहुँचाने पर हानिकारक को बड़ी दण्ड या भारी हरजाना देना पड़ता था। किन्तु यदि वे स्वयं कोई जुर्म करते थे तो उनको कड़ा दण्ड अथवा प्राणदण्ड दिया जाता था। तीसरी और चौथी श्रेणी में मज़दूर, कारीगर, व्यापारी, शिक्षकगण, दरबारी और भिक्षुक लोग थे। ये 'मुश्किनू' कहलाते थे। यद्यपि उन्हें ग़ुलामों और जायदाद के रखने का अधिकार था, किन्तु वे हथियार नहीं बाँध सकते थे और यदि उनको कोई शारीरिक हानि पहुँचाता तो हर्जाना या जुर्माना देकर छूट जाता था। जुर्म करने पर वे 'अमेलू' की तरह कठोर दण्ड के भागी नहीं होते थे, यद्यपि सबके सामने वे कोड़ों से मारे जा सकते थे। तीसरी श्रेणी के लोग 'अरदू' या ग़ुलाम थे। ग़ुलामों की परिस्थिति विचित्र थी। वे प्रायः

लड़ाइयों में पकड़े गये क़ैदी अथवा ज़बरदस्ती अपहरण किये हुए अन्यजातीय व्यक्ति अथवा गुलामों के वंशज या ख़रीदे हुए दास थे। राज्य में गुलामों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती गई और एक समय ऐसा आ गया कि उनकी संख्या स्वतन्त्र जनता से भी बढ़ गई। गुलामों को भागकर बचने की कोई राह न थी। यदि कोई उनको भागने में सहायता देता अथवा उन्हें चुराता, तो वह प्राणदण्ड का भागी होता था। गुलाम अपने मालिक के पूर्णतया अधिकार में थे। उनसे वह चाहे जो काम ले सकता था, और उन्हें बिना चूँ-चरा किये वह करना पड़ता था। उनसे प्रायः मजदूरी के काम लिये जाते थे। उन्हें बेगारी के तौर पर नहरों, सड़कों अथवा सेनाओं में काम करना पड़ता था। गुलाम का तन, धन और सम्पत्ति मालिक के ही गिने जाते थे। यदि गुलाम स्त्री होती तो उसका यह कर्तव्य था कि वह अपने ख़रीदार को भोजन और बिस्तर दे और उसको अपने जी भरकर सन्तान पैदा करने में हर प्रकार की सुविधा दे। यदि मालिक चाहता तो वह गुलाम को चाहे गिरवी रख देता, चाहे क़र्ज़ के बदले में दे डालता और यदि उसके मरने से उसे अधिक लाभ की संभावना जान पड़ती तो मार भी डालता। इतनी कड़ी गुलामी में भी गुलाम को यदि मालिक चाहता तो व्यापार में लगा देता और उससे जो लाभ होता उसका कुछ अंश दे देता। इस अंश से गुलाम अपनी स्वतंत्रता को मोल ले सकता था। इसके अलावा उसकी बीमारी में हकीम की फ़ीस, दवा के दाम और बेकारी या बुढ़ापे में भोजन-छाजन का भार मालिक के ज़िम्मे रहता था। यदि मालिक चाहता तो उसे मुक्त भी कर सकता था। किसी किसी दशा में गुलाम स्वतंत्र स्त्री से विवाह भी कर सकता था। उससे उत्पन्न सन्तति भी स्वतन्त्र मानी जाती थी और गुलाम की आधी जायदाद की हक़दार होती थी। गुलाम का स्वतन्त्र स्त्री धन भी गुलाम का मालिक नहीं ले सकता था। गुलाम स्त्री से उत्पन्न सन्तति स्वतंत्र मानी जाती थी और मालिक के मरने पर वह भी स्वतंत्र कर दी जाती थी। गुलामों के या तो गोदना गोदकर या दागकर गुलामी के चिह्न बना दिये जाते थे, और बाद को उनके लिए मिट्टी का एक विशेष चिह्न (Clay docket) बाँधना अनिवार्य कर दिया गया था।

बेबिलोनिया का गृहस्थ जीवन भी व्यवस्थित था। सन्तति पर माता-पिता के अपार अधिकार थे। वे चाहे गुलामों की तरह उनसे व्यवहार करें, या उन्हें गिरवी रख दें, या क़र्ज़ में दे दें। चाहें तो घर से निकाल दें अथवा उत्तराधिकार छीन लें। लड़कियों को माता-पिता के आदेश के अनुसार विवाह करना पड़ता था। माता-पिता की आज्ञा का उल्लंघन करनेवाली सन्तान को गुलामी की सज़ा मिलती थी और गुलामी के चिह्न उन पर अङ्कित कर दिये जाते थे। किन्तु यदि ऐसी कोई आपत्ति न हुई और निर्वाह हो गया, तो माता पिता की जायदाद उनकी मृत्यु के पश्चात् उनके लड़कों और लड़कियों में बराबर बाँट दी जाती थी। यदि स्त्री विधवा हो जाती तो उसको भी लड़कों या लड़कियों की तरह बराबर हिस्सा मिल जाता था। बेबिलोनिया में स्त्रियों की दशा काफ़ी अच्छी थी। क़ानूनी विवाह होने के पहले यदि युवक और युवतियाँ चाहते तो सांकल्पिक विवाह (Trial marriages) कर सकते थे और इच्छानुकूल विच्छेद भी कर सकते थे। किन्तु ऐसी दशा में उनको अपने साथ विशेष चिह्न रखना पड़ता था। लड़की का क़ानूनी विवाह उसके माता पिता लड़केवाले से कुछ लेकर करते थे, और उनको दहेज़ या स्त्रीधन एवं आसन-वसन देते थे। विवाह के बाद अपने श्वसुर के घर में रहना लड़की का कर्तव्य समझा जाता था। यदि मँगनी होने पर कोई लड़का विवाह न करे, तो लड़की का बाप नज़राने की रकम हड़प सकता था और यदि लड़की इन्कार करे, तो उसके पिता को दुगनी रक़म देना पड़ती थी। विवाह की कोई ख़ास विधियाँ या रस्में न थीं। गवाहों के सामने क़ानूनी तौर पर दर्ज कर देने मात्र से ही विवाह हो जाता था। विवाह जीवन भर के लिए होता था, किन्तु तलाक़ भी आसानी से हो सकता था। पत्नी पर बाँझपन, मूर्खता या अनमेल स्वभाव और गृहस्थी के कामों में लापरवाही का इल्ज़ाम लगा तलाक़ दिया जा सकता था, और स्त्री भी अत्याचार के कारण यदि चाहती तो तलाक़ देकर अपना मालमता लेकर पिता के घर चली जाती थी। उसे अपने दहेज़ को भी वापस ले लेने का अधिकार था। यदि पुरुष का क़सूर हुआ तो उसे घर-बार स्त्री के सुपुर्द कर ख़ाली हाथ घर से निकल जाना पड़ता था। और यदि औरत का अपराध हुआ, तो वह पानी में डुबा दिये जाने की सज़ा पाती थी। इल्ज़ाम साबित होने पर पति चाहे उसे घर से नङ्गा न निकाले, किन्तु उससे पत्नी का अधिकार छिन जाता था और उसके साथ दासी का सा बर्ताव किया जाता था। व्यभिचार के लिए स्त्री या तो पानी में डुबा दी जाती थी या ऊँची मीनार से ढकेल दी जाती थी। यही दण्ड उसके साथ व्यभिचार करने वाले को भी दिया जाता था। यदि पति

लड़ाई में क़ैद हो गया, या व्यापार के लिए गया, किन्तु स्त्री की जीविका का प्रबन्ध कर गया तो वह दूसरे पुरुष के साथ सम्बन्ध नहीं कर सकती थी। किंतु यदि जीविका का उचित प्रबन्ध वह नहीं कर गया, तो स्त्री दूसरा विवाह अथवा जीविका के लिए किसी पुरुष से अपने पति के लौटने तक सम्बन्ध कर सकती थी। यदि स्त्री चिररोगिणी हो तो पुरुष दूसरा ब्याह कर सकता था, किन्तु उसे पहली स्त्री का भरण-पोषण करना पड़ता था। पुरुष को यह अधिकार अवश्य था कि वह चाहे तो उपपत्नी या कम अधिकारवाली पत्नी कर ले, किन्तु अधिकतर लोग एक ही ब्याह करते थे। यदि चाहे तो वह गुलाम स्त्री या दासी रख सकता था किन्तु उनके अधिकार गुलामों या दासियों के ही रहते थे। यदि मालिक चाहता तो दासी की सन्तति को भी ब्याही हुई पत्नी की सन्तान के समान अधिकार मिल जाते थे। साधारणतया स्त्रियों को गृहस्थी का काम करना पड़ता था। वे बच्चों के पालने के सिवा घर की सफाई करतीं, कुएँ या नदी से पानी लातीं, भोजन बनातीं, अनाज पीसतीं, सूत काततीं और बुनाई करती थीं। बड़े घरों की स्त्रियाँ प्रायः ज़नानख़ाने या पर्दे में रहती थीं। वे जब बाहर जातीं तो उनके साथ खोजा (Eunuchs) जाते थे। साधारण लोगों में ये सभी रुकावटें न थीं। स्त्रियों को व्यापार, रोज़गार आदि करने का अधिकार था। वे अपनी निजी हैसियत से जायदाद या माल ख़रीद और बेच सकती थीं, या दे सकती थीं। चाहें तो वे साझे में भी व्यापार कर सकती थीं। उनकी गवाही अदालत में मानी जाती थी। इस तरह हम देखते हैं कि स्त्रियों को सामाजिक और क़ानूनी क्षेत्र के भीतर बहुत स्वतंत्रता थी।

बेबिलोनिया का राजकीय संगठन भी उन्नत दशा में था। वहाँ राजा का शासन था। राजनीतिक सिद्धान्त के अनुसार असली शासक तो देवता थे, और राजा उनका प्रतिनिधिमात्र था। यद्यपि वह मनुष्य ही समझा जाता था, किन्तु अन्य मनुष्यों से उसका स्थान बहुत ऊँचा माना जाता था। मृत्यु के बाद राजा भी देवता के समान समझा जाता था। देवेच्छा के अलावा उस पर कोई अन्य बन्धन न था। यद्यपि देवता के आदेशों को छोड़कर उसकी स्वच्छन्दता और स्वतंत्रता में अन्य कोई बाधा न थी, तथापि क़ानून, पुरोहित और महाजनों (Aristocracy) का उस पर प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से दबाव रहता था। न्याय करना, प्रजा का पालन और उन्नति, एवं धर्म, विद्या और कला-कौशल की उन्नति करना उसके मुख्य कर्त्तव्य थे। उसको यह अधिकार था कि अपने पुत्रों में से जिसे चाहे वह उत्तराधिकारी बना दे। इसका परिणाम यह होता था कि प्रत्येक राजकुमार अपने को राज्याधिकार का पात्र समझता था और अपनी विजय के लिए षड्यंत्र रचता अथवा बलप्रयोग करने के लिए उद्यत रहता था। राजा राज्य की सारी ज़मीन का स्वामी माना जाता था। वह जिसे जितनी ज़मीन देना चाहे दे सकता था। उसके प्रधान सहायक और सलाहकार पुरोहित, ज़मींदार और धनिक थे। साम्राज्य कई अर्द्धस्वतंत्र छोटे राज्यों या सूबों में विभक्त था। उनका शासन स्थानीय परंपरानुसार होता था।

पहले पुरोहित और धर्माधिकारी लोग न्याय किया करते थे, किन्तु बेबिलोनिया में वह अधिकार उनके हाथ से जाता रहा। न्याय करने के लिए प्रत्येक नगर में एक 'रबिअनु' होता था। साधारणतया उसका फ़ैसला पक्का रहता था। न्याय के अलावा 'रबिअनु' को शान्ति और क़ानून की रक्षा भी करनी पड़ती थी। यदि उसके अधिकार क्षेत्र में डाका आदि पड़े तो माल बरामद कराना उसका कर्त्तव्य था। यदि माल बरामद न हुआ तो उसे और उसके क्षेत्र की रियाया को ही उतना माल देना पड़ता था। 'रबिअनु' की सहायता के लिए वयोवृद्ध और प्रमुख व्यक्तियों की एक छोटी समिति रहती थी। वे शायद 'शिबूतो' कहलाते थे। बाज़-बाज़ मामलों में 'रबिअनु' के फ़ैसले के ख़िलाफ़ राजधानी के मुख्य न्यायाधीश 'शक्कनक्कू' की कचहरी में अपील की जा सकती थी। 'शक्कनक्कू' की सहायता के लिए भी शायद ६ या १० प्रमुख व्यक्तियों की समिति होती थी। यदि कोई उससे भी सन्तुष्ट न होता तो वह राजा के सामने अपील कर सकता था। न्याय करना राजा का मुख्य कर्त्तव्य माना जाता था। उस समय भी न्यायालयों में कुछ रिश्वत चलने लगी थी और अदालत में देवताओं की शपथ भी ली जाती थी, किन्तु न्यायाधीशों को वह सर्वदा विश्वसनीय नहीं जान पड़ती थी।

बेबिलोनिया के क़ानून भी व्यवस्थित और सुसंगठित थे। इस विषय में वहाँ पश्चिम के अन्य समकालीन राज्यों से अधिक उन्नत अवस्था थी। हम्मूरबी ने उनको लिपिबद्ध करा दिया था, यद्यपि जनश्रुति यह थी कि उसे वे क़ानून सूर्यदेव से मिले थे। जुर्माने, कोड़े, क़ैद, देशनिकाले, अंगभंग और प्राणदण्ड की सज़ायें वहाँ प्रचलित थीं। धोखा देकर रुपया मारने तथा चोरी आदि में मूलधन से कई गुना जुर्माना होता था। अपने से बड़े को मारनेवाले को कोड़े की सज़ा दी जाती थी। जीभ काटनेवाले, आँख फोड़ने एवं स्तन

काटनेवाले को प्रायः उसी प्रकार के अङ्ग-भङ्ग का दण्ड मिलता था। मकान के गिरने अथवा आपरेशन करने से यदि किसी की मृत्यु हो जाती तो मकान बनानेवाले को और सर्जन को भी यही दण्ड भोगना पड़ता था। डकैती, ज़बरदस्ती किसी को उठा ले जाने, चोरी, बलात्कार वर्जित सहवास, धूस देने, दूसरे के गुलामों को छिपा रखने, शत्रु के सामने कायरता दिखाने, अपने ओहदे का दुरुपयोग करने, गृहस्थी के प्रबन्ध में लापरवाही करने या ख़र्चीली एवं शराब बेचने के नियमों के उल्लंघन आदि के अपराध के लिए प्राणदण्ड दिया जाता था। किसी के चालचलन के विरुद्ध झूठा दोष लगाने के लिए भी प्राणदण्ड दिया जाता था। जल-परीक्षा और शपथ से भी सत्यासत्य का निर्णय होता था। जायदाद के अधिकार, लेन-देन, सूद आदि के सम्बन्ध में क़ानून थे। क़ानून के द्वारा कुछ अंश तक नौकरों की फ़ीमत, मेहनताना, वेतन आदि का भी नियंत्रण होता था।

इश्टर देवी की प्रतिमा

बेबिलोनिया में अनेक देव और देवियों का पूजन हुआ करता था। ई० पू० नवीं सदी में यहाँ के देवताओं की संख्या ६५,००० थी। बेबिलोनियनों ने सुमेरिया के देवताओं का सेमेटिक नाम रखकर उन्हें अपना लिया। सुमेरियनों के 'बब्बर', 'नन्नर', 'इनानी' और 'एनलील' के यथाक्रम शमश (सूर्य), सिन (चद्रमा), इश्टर और नाब (धरती) नाम रख लिये गये। इश्टर देवी सौन्दर्य और प्रेम की साक्षात् परम मूर्ति है, किन्तु वह मातृत्व के महान् भावों से विभूषित है। वह युद्ध और प्रेम दोनों की देवी है। वह स्वच्छन्द विचरण और विहरण करनेवाली कामिनी कुमारी है। वह दुखों का दमन करनेवाली ज्योतिर्मयी जगदम्बा है। बेबिलन के साम्राज्य-स्थापन के साथ वहाँ का मुख्य देवता 'मर्दक' और सब पुराने देवताओं से महत्व में बढ़ गया और साम्राज्य का देवता माना गया, किन्तु स्थानिक देवताओं व प्रतिमाओं की जो प्रतिष्ठा थी, उसको न हिला सका। बेबिलान में स्वर्ग, पृथ्वी आदि के देवताओं की तो कल्पना की गई, किन्तु हिब्रू देवताओं के समान उनको एक परमेश्वर का ज्ञान न था। उनमें निवृत्ति का सिद्धान्त अनेक रूपों में प्रचलित था।

बेबिलन में देवालय बहुत थे। प्रत्येक मन्दिर का एक मुख्य देवता होता था, किन्तु वहाँ दूसरे देवताओं को भी स्थान दिया जाता था। अपने विश्वास के लिए न किसी को दण्ड दिया जाता था न अनुदारता का ही सामना करना पड़ता था। देवताओं की चेष्टाएँ और वासनाएँ मनुष्यों की सी होती थीं। वे खाते, पीते और अपनी कामादि वासनाएँ भी पूरी करते थे। उनको अनेक विधानों और पशुबलि से सन्तुष्ट करने की चेष्टा की जाती थी। उनके लिए गवैये और अनेक प्रकार के बाजे बजानेवाले रखे जाते थे। भोगादि के अन्य साधनों में देवपत्नी और देवदासियाँ भी मन्दिर में उपस्थित रहती थीं। उन्हीं की आड़ में वेश्याएँ और मदिरा बेचनेवाली अपना कुत्सित व्यवसाय करती थीं। उन सब साधनों को प्राप्त करने के लिए लोग बड़े-बड़े दान देते थे, जायदाद लगा देते थे। उस धन से मन्दिरों के अधिकारी लोग गहरा व्यापार और लेन-देन करते थे और अपनी और मन्दिरों की सम्पत्ति बढ़ाते चले जाते थे। मन्दिरों में जो पशु पाले जाते थे, उनकी अच्छी तरह देखभाल होने का प्रमाण यह है कि वहाँ के कुत्तों को दूध मलीदा दिया जाता था। धर्माधिकारी, समृद्धिपूर्ण और शिक्षित होने के कारण मंदिरों के अधिकारी जनता और राजा पर रोब दाब जमाये रहते थे। पुरुषों के अलावा मन्दिरों में स्त्रियाँ भी रहती थीं। उनमें से 'देवपत्नी' का बड़ा आदर और सम्मान होता था। वे 'नतीतू' अथवा 'एन्तू' कहलाती थीं। उस सम्मान के लिए बड़े बड़े राजे और धनी लोग अपनी पुत्रियों को देवता को समर्पित कर देते थे। कभी-कभी देवता उन्हें अलौकिक ढंग से सन्तान प्रदान कर देते थे। 'सारगन' का जन्म इसी अलौकिक विधान से हुआ था। वहाँ के देवता एकपत्नीव्रत न थे। उनके एक मुख्य पत्नी और अनेक उपपत्नियाँ व दासियाँ होती थीं। वे पुरुषों से विवाह भी कर सकती थीं, पर उनसे सन्तान पैदा न कर सकती थीं। इस के लिए वे उन्हें अन्य स्त्री या स्त्रियाँ दे दिया करती थीं।

बेबिलनवाले देवताओं से परलोक के सुख की आशा न रखते थे और न उसके लिए उनसे प्रार्थना करते थे। वे इसी संसार और जीवन में सुख तथा आनन्द की कामना करते थे। वे लोग स्वर्ग जानते ही न थे। उनका विश्वास था कि मरने के बाद सब लोग पृथ्वी के नीचे अन्धकारपूर्ण लोक में हाथ पैर बँधे हुए विवश पड़े रहते हैं।

अतः अपने वंशजों से श्राद्ध की सामग्री पाने के लिए वे लालायित रहते थे। अधोलोक में एक विकट देवी की अध्यक्षता में वे अगणित युगों तक पड़े रहते हैं, इसी भयंकर विश्वास के कारण उन्होंने समाधिस्थान की रचना की ओर विशेष ध्यान कभी नहीं दिया।

ग्रीक इतिहास-लेखक हेरोडोटस के अनुसार बेबिलान में प्रत्येक स्त्री का यह कर्त्तव्य था कि वह मन्दिर में जाकर एक बार किसी अपरिचित व्यक्ति से संभोग करे। मन्दिर में इस निमित्त जाने पर स्त्री तब तक वापस न आ सकती थी जब तक उसका काम सिद्ध न हो जाय। सुन्दरी स्त्रियों को तो शीघ्र सफलता प्राप्त हो जाती थी, किन्तु कुरूपिणी के लिए कठिनाई होती थी। बाज़-बाज़ ऐसी अभागिनी होती थीं कि उनको तीन-चार साल तक प्रतीक्षा करनी पड़ती थी! यह क्रिया 'माईलिट्टा' देवी को सन्तुष्ट करने के लिए अनिवार्य थी। ऐसी प्रथा पश्चिमी एशिया के अन्य देशों और जातियों में भी प्रचलित थी।

बेबिलानवाले जलतत्त्व को प्रधान कारण और सृष्टि के उद्भव का मूल मानते थे। ज्ञान का उद्गम वे इलहाम (Revelation) को मानते थे। नियति (तक़दीर) में उनका पूरा विश्वास था। बिना दैवी इच्छा को जाने वे कोई काम नहीं करते थे। दैवी इच्छा के जानने के कई रहस्यपूर्ण विधान वहाँ प्रचलित थे। उत्तर काल में नियति के सिद्धान्त में कुछ लोगों को सन्देह हो चला था। सेमेटिक होने के कारण बेबिलोनियावालों में भक्ति का भाव भी उत्पन्न हो गया था। वे देवताओं की भावमय स्तुतियाँ रचते और गाते थे। उनके अध्ययन से प्रतीत होता है कि वे मानव जीवन को पापपूर्ण समझते थे और देवता से अधीनता तथा दास्यभाव के साथ क्षमा माँगते थे। तथापि उनके साधारण जीवन में उसका विशेष प्रभाव नहीं पाया जाता है। उनकी समझ में पाप रोग आदि के समान है, जो मंत्र-तन्त्रादि क्रियाओं द्वारा भगाया जा सकता है। व्यापारिक सभ्यता के कारण उनमें भोग-विलास की मात्रा बहुत बढ़ गई। यद्यपि वे व्यभिचार को पाप समझते थे, किन्तु पतनकाल में तो यह परिस्थिति पैदा हो गई थी कि निर्धन लोग अपनी कन्याओं के व्यभिचार की कमाई खाने में कोई बुराई नहीं देखते थे। भले-बुरे का ज्ञान रखते हुए भी वे भलाई की ओर अधिक न झुक सके। कारण यह था कि उनका विश्वास था कि बुराई में भी भलाई रहती है और वह भलाई का एक दूसरा रूप है।

सुमेरिया की तरह बेबिलानवालों का भी मुख्य उत्सव नये वर्ष का उत्सव था। यह उत्सव बड़े धूम-धाम से सुमेरिया में शरद-सपात में और बेबिलोनिया में वसंत-सपात में ग्यारह दिन तक मनाया जाता था। राजा को भी सब राजकीय ठाट बाट को छोड़कर उसमें भाग लेना आवश्यक था। इस उत्सव में प्रत्येक वर्ष राजा को उसके अधिकार प्रधान पुरोहित प्रदान करता था। इसके अलावा कोई-न-कोई उत्सव प्रत्येक महीने में होता रहता था।

बेबिलोनिया की सभ्यता का सबसे पूर्ण विकास उनके क़ानूनों और व्यापार में पाया जाता है। कहा जाता है कि क़ानून को व्यवस्थित और व्यापक रूप वहाँ ही सबसे पहले मिला था। क़ानून का आदर राजा स्वयं करता और उस पर भी वह वैसा ही लागू होता, जैसा कि जनता पर था। वहाँ के लोग विद्या के महत्त्व को समझते थे। शिक्षा प्रायः मन्दिरों में दी जाती थी। 'नबू' विद्या का देवता माना जाता था। लेखनकला का उनको मिस्रवालों से भी अच्छा ज्ञान था। उन्हें वर्ण का ज्ञान तो न था, तथापि लगभग ३०० वाक्चित्रों के द्वारा वे अपना सारा काम निकाल लेते थे। लेखनकला का पेशा कुछ लोग करते थे। वे उसकी मुख्य उपयोगिता व्यापार के लिए, न कि साहित्य के लिए, मानते थे। वे मिट्टी की ईंटों पर लिखते और मिट्टी ही के लिफाफे बनाते थे। इन ईंटों को वे सँवारकर पुस्तकालय में रखते थे। उनकी भाषा सुमेरियन और सेमेटिक भाषाओं के मिश्रण से बनी थी। उसको अच्छी तरह समझने के लिए उन्होंने अनेक प्रकार के कोश और व्याकरण रचे थे। इसलिए वे शब्दकोश और भाषा-विज्ञान के प्रणेता माने जाते हैं। वे कविता करते थे और उन्होंने काव्य में दो उपाख्यान और नीति के अनेक छन्दों की रचना की थी। इसके अलावा कालक्रम से घटनाओं और राजाओं की कृतियों का सविस्तर वर्णन करने की पद्धति निकालकर उन्होंने इतिहास-साहित्य का भी सूत्रपात किया।

बेबिलोनियावालों को गणित और ज्योतिष का भी शौक़ था। उन्होंने गोले को ३६० अंशों में विभक्त किया। तीन हिस्सों तक की वे गणना कर लेते थे। गणना की सुविधा के लिए वे जन्त्रियों का प्रयोग करते थे। ज़मीन का क्षेत्रफल निकालने की रीति भी उन्हें मालूम थी। प्राचीन काल के सबसे प्रसिद्ध ज्योतिर्विद बेबिलोनियावाले ही माने जाते थे। नक्षत्रों को वे देवता मानते थे और उनकी चालों तथा मानव जीवन पर उनके प्रभाव का विशेष रूप से अन्वेषण करते थे। अतएव फलित ज्योतिष की ओर उन्होंने विशेष रूप से ध्यान दिया था। उन्हें बारह राशियों

का ज्ञान था। चान्द्रायण गणना के अनुसार उनका वर्ष बारह महीनों का और कभी तेरह महीनों का होता था। उनके छः महीने ३१ और छः २६ दिनों के होते थे। वे चार सप्ताहों का एक महीना और सात दिन का एक सप्ताह मानते थे। किन्तु उनका दिन २४ घंटों के बजाय १२ घंटा का ही होता था, और प्रत्येक घंटा ३० मिनटों का तथा प्रत्येक मिनट ६० सेकेंडों का होता था। इस हिसाब से उनका एक मिनट आजकल के चार मिनटों के बराबर था। समय के ज्ञान के लिए वे जल-घड़ी और सूर्यघड़ी का प्रयोग करते थे। नाप-तौल के विधान भी उन्हें मालूम थे। बेबि-लोनियावाले चिकित्सा के क्षेत्र में वनस्पति काष्ठादि औषधियों के अलावा मांस, हड्डियों और पुरीष, तेल और आसव आदि का भी प्रयोग करते थे। वे जर्राही जानते थे। चिकित्सक और जर्राही की फ़ीस क़ानून द्वारा निश्चित थी। यदि उनकी लापरवाही या भूल से बीमार को हानि पहुँचती तो उन्हें प्राण-दण्ड तक दिया जाता था। चिकित्सा मन्त्रतन्त्रादि से भी की जाती थी।
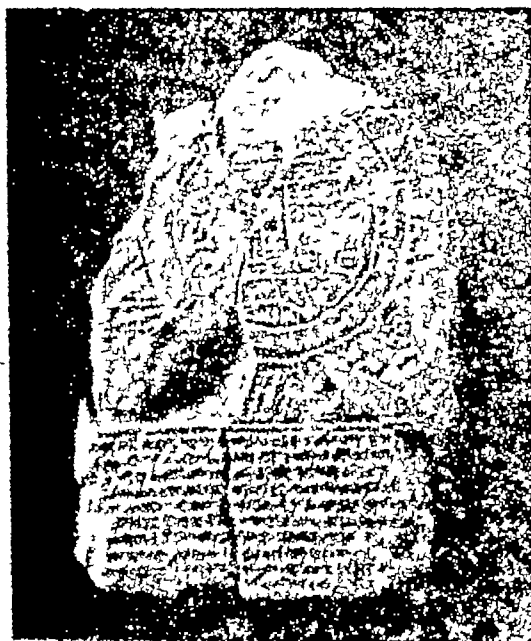
बेबिलोनिया की प्राचीन इमारतें नष्ट हो गयीं, किन्तु उनके चिह्नों से उनका कुछ अनुमान किया जाता है। उनके नष्ट होने का मुख्य कारण यह था कि बेबिलोनियन लोग पत्थरों के अभाव के कारण ईंटों की इमारतें बनाया करते थे। इमारतों की दीवारों को वे या तो कई रंगों से रँग देते या उन पर कलई या रंगीन चीनी के-से मोज़ेइक टुकड़ों को सजा देते थे। कभी वे उन्हें धातुओं के आवरण से ढाँक देते थे। इन कलाओं में वे मिस्रवालों से बढ़े-चढ़े थे। उन्हें मिट्टी और पत्थर पर रंगीन पालिश करना आता था। सोने, चाँदी, ताँबे, काँसे और बाद को लोहे की भी छोटी और बड़ी चीज़ें, शस्त्र और मूर्तियाँ वे बनाया करते थे। उन्हें अनेक प्रकार के ज़ेवर बनाना आता था, किन्तु उनकी कारीगरी मिस्र से घटिया थी। गाने बजाने का शौक होने के कारण उन्हें तरह-तरह के बाजों का ज्ञान था। मन्दिरों, महलों और घरों के यहाँ उत्सवादि में प्रायः गाना-बजाना होता था। मन्दिरों के निर्माण में उन्होंने अधिक विवेक और योग्यता दिखाई। उनमें प्रत्येक आवश्यकता का विचार रखा गया है। उनकी ही इमारतों में पहले-पहल मेहराब दिखाई पड़ती है। ऊँचे चबूतरे और 'ज़िग्गूरात' (मीनारें) इनकी इमारतों की विशेषताएँ हैं। उनका स्थापत्य उपयोगी और प्रभाव-शाली, किन्तु अधिक कलात्मक न था। ईंटों की इमारतों में कला के लिए अधिक अवसर ही कहाँ होते हैं। चित्रकला में बेबिलान मिस्र से पीछे रहा। वहाँ वह केवल मन्दिरों, स्मारकों आदि की सजावट के लिए ही काम में लाई जाती थी। स्वतंत्र रूप से उसकी कभी उन्नति नहीं हुई। फिर भी भित्तिचित्र बनाने में उन्होंने अच्छा कौशल प्राप्त कर लिया था। चित्रों के विषय प्रायः धार्मिक, एवं काल्पनिक पशु पक्षी, प्राकृतिक दृश्य, राजा आदि होते थे। वे लोग बीभत्स एवं नग्न चित्र बनाना अनुचित समझते थे। इसीलिए उनकी कला खुल कर न खेल सकी। मिस्र के देवता प्रायः अर्द्ध पशु होते थे, किन्तु बेबिलान के देवता मनुष्यों की तरह होते थे। विलक्षण पशु पक्षियों और उनके-से मुखवाले जीवों का यदि वे चित्रण करते तो उनका तात्पर्य किसी गुप्त भावना का प्रदर्शन मात्र होता था। उनके चित्रों में व्यक्तित्व का अभाव रहता था, अन्यथा वे काफ़ी अच्छे थे। यही दोष मूर्तिकला में भी थे।

बेबिलोनियनों द्वारा प्रणीत दुनिया का नक़शा

यद्यपि भारत और मिस्र की सभ्यता से बेबिलान की सभ्यता घटकर थी, तथापि वहाँ ही से यूनान और रोम को गणित, ज्योतिष, चिकित्सा-विधान, व्याकरण, कोष, इतिहास, पुरातत्त्व-निरीक्षण और दर्शन का ज्ञान मिला था। उन्हीं की मेहराब और मीनारों का उपयोग ईसाइयों और मुसलमानों ने किया, जिससे उनकी इमारतों की इतनी ख्याति हुई। उनके क़ानून रोम के क़ानूनों से सैकड़ों वर्ष पूर्व के हैं। इस क्षेत्र में उनका आसन प्राचीन इतिहास में बहुत ऊँचा था। यही नहीं, अन्तर्राष्ट्रीय संधियों और पंचायत द्वारा राजनीतिक झगड़ों के निर्णय करने के साधन भी बेबिलोनिया ही से संसार भर में फैले।

एक जल-नलिकायुक्त ब्वॉयलर

यह बेबकॉक और विल्काक्स टाइप के जल-नलिकायुक्त ब्वॉयलर का चित्र है। यह एक पुराना मॉडल है। अब इसमें अन्य कई सुधार कर दिये गये हैं और प्रायः बिजली का उत्पादन करने के लिए इसी प्रकार के ब्वॉयलरों का प्रयोग किया जाता है। इस जाति के ब्वॉयलर में पानी बहुत-सी नलियों के अंदर चक्कर लगाया करता है और भट्टी की आँच इन नलियों के चारों ओर लगती रहती है। ये नलियाँ—जैसा कि चित्र में दिखाई दे रहा है—न तो बिल्कुल सीधी न एकदम आड़ी रहती हैं। ये थोड़ी झुकी रहती हैं ताकि उतनी ही आँच में नली का बहुत-सा धरातल गर्म हो सके। इस चित्र में नलियों के आसपास का भाग आड़े काट के रूप में खुला दिखाया गया है, पर वास्तव में वह भट्ठी की दीवारों से घिरा रहता है।
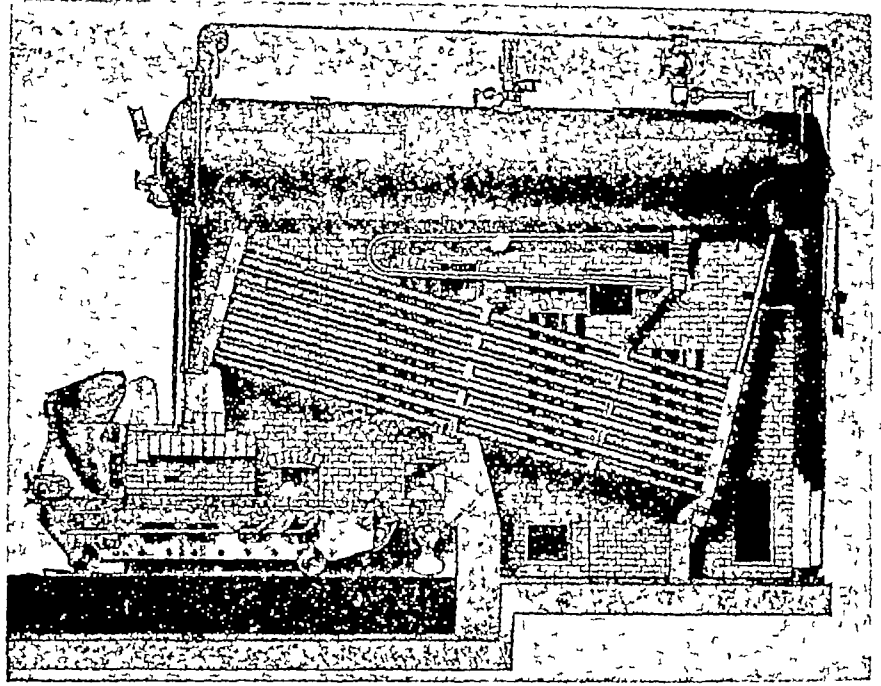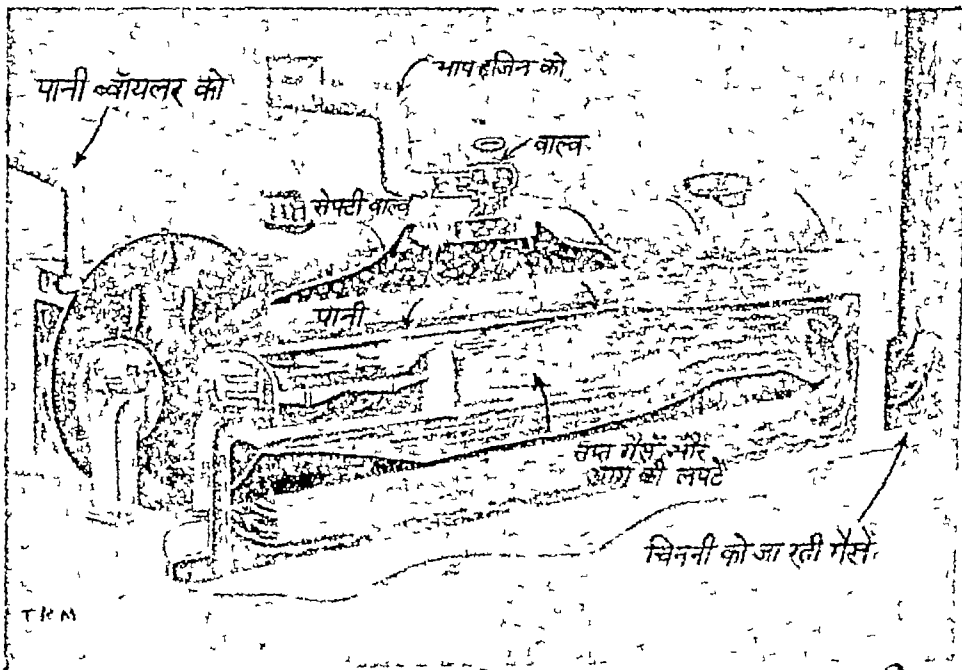
लंकाशायर ब्वॉयलर

इस जाति के ब्वॉयलरों में कार्निश ब्वॉयलरों से यह विशेषता होती है कि इनमें एक के बजाय दो सुरंगों के मुँह पर अलग अलग भट्टियाँ होती हैं। इस ब्वॉयलर में पंखों द्वारा भट्टी में हवा झोंकी जाती है। उसके झोंके से आग की लपटें तथा उत्तप्त गैसें भट्टी की बिचली सुरंग की राह से एक सिरे से दूसरे तक जाती हैं। तब ब्वॉयलर के नीचे से होकर वे वापस लौटकर आती हैं और पुनः उसके अगल-बगल की सुरंगों में चक्कर काटते हुए अंत में चिमनी की राह से बाहर निकल जाती हैं। उत्तप्त गैसों के इस परिभ्रमण के फलस्वरूप ब्वॉयलर के पात्र का जल गर्म होकर भाप में परिणत होता रहता है और वह ऊपर की नली की राह से इंजिन को जाती रहती है।
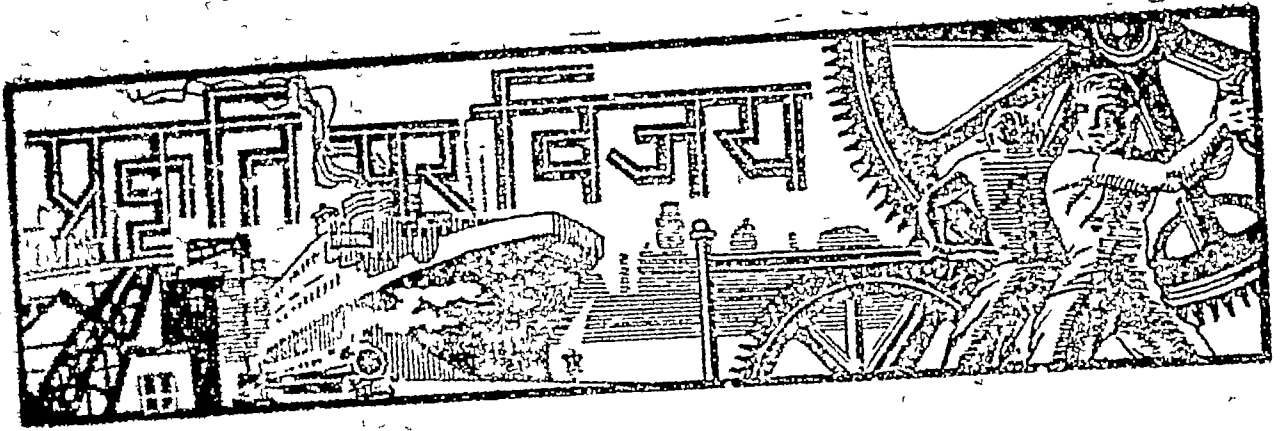
ब्वॉयलर की भिन्न जातियाँ

पिछले लेख में हम कह चुके हैं कि इंजिन ही में भाप की शक्ति के उत्पादन-संबंधी यंत्र-प्रणाली का अंत नहीं हो जाता—उसका एक प्रमुख अंग ब्वायलर है जिस पर भाप के इंजिनों का दारमदार रहता है। इस लेख में आपको इसी महत्त्वपूर्ण यंत्र-संबंधी बातें बताई जा रही हैं।

अच्छे ब्वॉयलर के लिए सबसे पहली शर्त यह है कि वह इतना काफ़ी मज़बूत हो कि भाप के असाधारण दबाव से भी जल्दी फटे नहीं। भाप बनने पर पानी आयतन में १६०० गुना ज्यादा बढ़ जाता है। यही कारण है कि देगची में उबलते हुए पानी से भाप ज़ोरों में बाहर को निकलती है। भाप का आयतन इतना बढ़ जाता है कि वह देगची के अन्दर समा नहीं सकती। लेकिन अगर देगची का ढक्कन अच्छी तरह बन्द कर दिया जाय तो इस दशा में भाप को फैलने का मौक़ा न मिलेगा। नतीजा यह होगा कि भाप का प्रत्येक ज़र्रा देगची की दीवालों को धक्का मारेगा। क्योंकि ये ज़र्रे फैलकर अधिक जगह घेरना चाहते हैं, अतः देगची की दीवालों को धक्का मारकर ये कोशिश करते हैं कि दीवाल फोड़कर बाहर निकल जायँ। भाप जितनी ही अधिक गर्म होती है, उतने ही अधिक ज़ोर से वह फैलना चाहती है, और फलस्वरूप देगची की दीवालों पर उतना ही अधिक वह दबाव भी डालती है। इसलिए तापमान बढ़ने पर भाप की शक्ति भी बढ़ती है।

भाप-इंजिन के प्रारंभिक दिनों में, जब तक कि केवल न्यूकमेन इंजिन ही ईजाद हो पाये थे, साधारण दबाव-वाली भाप से ही इंजिन का काम चल जाता था; क्योंकि इस भाप से पिस्टन को धक्का देने का काम नहीं लिया जाता था। बल्कि इंजिन के सिलिन्डर में भाप प्रवेश कराकर उसे ठण्डा करके पानी में परिवर्तित कर लेते थे। ऐसा करने से भाप के आयतन में एकाएक कमी हो जाती और इस तरह सिलिन्डर के अन्दर आंशिक वैक्युम उत्पन्न हो जाता था। तब आकाश की हवा के दबाव के कारण पिस्टन नीचे को गिरता, तथा खान में लगे पम्प का संचालन करता था। अतः उन दिनों लोगों ने ब्वॉयलर की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया, क्योंकि उन्हें विशेष शक्तिशाली भाप पैदा करने की ज़रूरत ही नहीं पड़ती थी। किन्तु जेम्स वेट ने जब पहली बार वास्तविक वाष्प-इंजिन तैयार किये तो लोगों को ऐसे ब्वॉयलर की ज़रूरत महसूस हुई जो शक्तिशाली भाप निरापद उत्पन्न कर सकें।

मज़बूती के विचार से गोले आकार के ब्वॉयलर को सर्वोपरि स्थान प्राप्त है। अतः विशेषज्ञों ने पहले गोले की ही शक्ल के बर्तन ब्वॉयलर के लिए चुने, ताकि भाप के ज़ोर से ये फटें नहीं। किन्तु ब्वॉयलर के चुनाव में मज़बूती के अतिरिक्त इस बात का भी विचार रखना ज़रूरी होता है कि वह ज्यादा ईंधन न खा जाय। ज्यामिति के जाननेवाले लोगों को यह बात मालूम होगी कि एक नियत समाववाले भिन्न-भिन्न शक्ल के जितने बर्तन बनाये जा सकते हैं, उनमें गोला ही ऐसी शक्ल है, जिसके बाहरी धरातल का क्षेत्रफल सबसे कम होता है। चूँकि ऐसे ब्वॉयलरों में आँच बाहर से लगती है, इसलिए उतने ही पानी के लिए गोले बर्तन में दूसरी शक्ल के बर्तनों की अपेक्षा कम आँच लग पायेगी, क्योंकि गोले ब्वॉयलर में आँच के लिए लब्ध धरातल का क्षेत्रफल कम पड़ता है। इस प्रकार हम देखते हैं, कि गोले शक्ल का ब्वॉयलर रखने में ईंधन की लागतों का बहुत बड़ा अंश बेकार जायगा।

यहाँ की गर्मी को खूब अधिक मात्रा में ब्वॉयलर के अन्दर प्रवेश कराने के लिए ज़रूरी है कि ब्वॉयलर की

शक्ल ऐसी बनाई जाय कि उतने ही समाव के लिए ब्वॉयलर के धरातल का क्षेत्रफल गोले की अपेक्षा अधिक हो, साथ ही इसकी मज़बूती में भी फ़र्क़ न आवे। सिलिण्डर (ढोलनुमा) आकार के ब्वॉयलर इस दृष्टिकोण से सर्वोत्तम ठहरते हैं। ऐसे ब्वॉयलरों में उक्त दोनों ही बातें पाई जाती हैं। अतः ढोलनुमा ब्वॉयलर गोल शक्ल के ब्वॉयलरों की जगह काम में आने लगे। रेलगाड़ी का जो सबसे पहला इंजिन बना था, उसमें ढोलनुमा शक्ल का ब्वॉयलर था। यह ब्वॉयलर सीधा फ़िट किया गया था। बाद में इसे बेड़े लिटाकर नीचे से आग लगाने की बात सोची गयी। इस तरह बेड़े ढोलनुमा ब्वॉयलरों का चलन जारी हुआ।

कुछ दिनों बाद जर्ज स्टीफ़ेन्सन ने, जिसे रेलवे-इंजिन के ईजाद का श्रेय प्राप्त है, तत्कालीन ब्वॉयलरों में क्रान्तिकारी परिवर्त्तन किये। उसने सोचा, ब्वॉयलर में बाहर से आँच लगाने में केवल उसके पेटे पर ही आँच लगती है। अगर किसी तरह आग की लपटों को ब्वॉयलर के पेट में एक लम्बी सुरंग के रास्ते एक सिरे से दूसरे सिरे तक प्रवेश करा सकें, तो भट्टी की लगभग समूची गर्मी ब्वॉयलर के पानी को मिल सकेगी। उसने अपनी इस सूझ को फ़ौरन् ही कार्यान्वित किया और अपने प्रयोग में उसे आशातीत सफलता भी मिली। आज दिन भी रेलगाड़ी के इंजिनों में भट्टी में से आग की लपटें ब्वॉयलर के भीतर नलिकाओं में होकर प्रवेश करती हैं। यह ब्वॉयलर भी स्टीफ़ेन्सन की सूझ का एक परिष्कृत रूप है। इस ढंग के ब्वॉयलरों में ईंधन की भारी बचत होती है।

आधुनिक युग के सभी ब्वॉयलरों में अब भट्टी और आँच ब्वॉयलर के भीतर ही रहती हैं। बाहर से आँच पहुँचाने का बन्दोबस्त केवल उन्हीं ब्वॉयलरों में देखने को मिलता है, जो ऐसी जगहों में इस्तेमाल किये जाते हैं जहाँ ईंधन बेहद सस्ता होता है। वरना ऐसे ब्वॉयलरों में ईंधन बेहद फुँकता है।

भीतर से आँच दिये जानेवाले ब्वॉयलर मुख्यतः दो प्रकार के होते हैं—एक 'कार्निश' ब्वॉयलर, दूसरे 'लङ्काशायर'। कार्निश ब्वॉयलर में आँच के लिए एक ही [सुरंग] होती है, किन्तु 'लङ्काशायर' में दो सुरंगें होती हैं। ढोलनुमा बैरेल में उतनी ही जगह में एक के बजाय दो सुरंगें बना देने से आँच लगने के धरातल में समुचित वृद्धि हो जाती है। अतः ईंधन की बचत के ख़याल से 'लङ्काशायर' ब्वॉयलर अधिक वाञ्छनीय हैं। 'लङ्काशायर' और 'कार्निश' दोनों ही ब्वॉयलरों की शक्ल ढोलनुमा होती है और ढोलनुमा बैरेल के सिरे चिपटी प्लेट के बने होते हैं।

'कार्निश' ब्वॉयलर के पिछले हिस्से में भट्टी बनी होती है, और इसी भट्टी से आग की लपटें चौड़े मुँह की केन्द्रीय नली (सुरंग) में से होकर भीतर प्रवेश करती हैं। फिर दूसरे छोर से भट्टी की गर्म गैसें निकलकर ब्वॉयलर के पानीवाले बैरेल की बाहरी दीवालों को छूती हुई 'अ' रास्ते से पीछे को वापस आती हैं, और फिर 'ब' रास्ते से सामने की ओर लौटकर ऊपर को निकल जाती हैं (दे० इसी पृष्ठ का चित्र)। इस तरह ईंधन की आँच का यथासम्भव पूरा उपयोग कर लिया जाता है। ब्वॉयलर का बाहरी रास्ता ('अ' और 'ब') पक्की ईंट के उस चबूतरे में ही बना होता है, जिस पर ब्वॉयलर फ़िट किया हुआ रहता है।
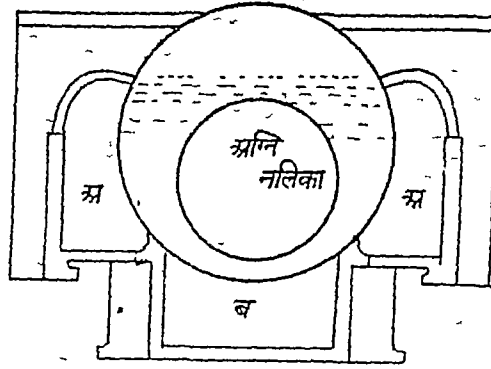
कार्निश ब्वॉयलर की रचना

लङ्काशायर ब्वॉयलर में दोनों सुरंगों के मुँह पर अलग-अलग भट्टियाँ होती हैं। कार्निश ब्वॉयलर की ही भाँति इस ब्वॉयलर में भी भट्टी की गर्म गैसें दूसरे सिरे पर पहुँचकर पीछे की ओर वापस आती हैं, और फिर सामने की ओर लौटकर चिमनी के रास्ते बाहर निकल जाती हैं।

जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं, ब्वॉयलर की वाष्प-उत्पादन की कार्यक्षमता उसके तप्त धरातल के क्षेत्रफल पर निर्भर है, अतः उस दिशा में लोगों के उद्योग और अनुसन्धान निरन्तर जारी रहे। आख़िर कार्निश ब्वॉयलर का एक परिष्कृत रूप तैयार किया गया, जिसमें उत्पन्न गैसें अकेली एक सुरंग में नहीं, वरन् अनगिनत नलियों में से होकर ब्वॉयलर के पेट में प्रवेश करती हैं। पानी इन्हीं नलियों के चारों ओर रहता है। नलियों के भीतर से गुज़रती हुई गर्म आँच उस पानी को गर्म करके उसे भाप में परिवर्त्तित करती है।

आधुनिक तेल के इंजिनों में इसी प्रकार के ब्वॉयलर का प्रयोग होता है। इस ब्वॉयलर के सामने का भाग ढोलनुमा होता है, और पीछे का आयताकार। इसी

आयताकार भाग में कोयला जलानेवाली भट्टी होती है। ढोलनुमा बैरेल के सामनेवाले भाग में धुआँबक्स बना होता है। धुआँ फेंकनेवाली चिमनी का निचला हिस्सा यहीं तक पहुँचता है। अनेक अग्निनलिकाएँ उसी बैरेल में एक सिरे से दूसरे सिरे तक फिट की हुई होती हैं। भट्टी से गर्म आँच तथा गैसें इन्हीं नलियों के रास्ते से सामने के धुआँबक्स में पहुँचती हैं, और फिर वहाँ से चिमनी के रास्ते बाहर निकल जाती हैं। पानी इन्हीं अग्निनलियों के चारों ओर रहता है।

अधिक शक्ति देनेवाले लगभग सभी इंजिनों के बॉयलर आड़े लिटाये रहते हैं, किन्तु कभी-कभी जब अत्यधिक शक्ति की ज़रूरत नहीं होती, साथ ही फ़र्श पर अधिक जगह बॉयलर के लिए नहीं दी जा सकती, तो ऐसी दशा में प्रायः खड़े बॉयलर भी फ़िट किये जाते हैं। साधारणतः जहाज़ों पर बॉयलर खड़े ही फ़िट किये जाते हैं। "स्कॉच मैरीन बॉयलर" में भट्टी से आँच नलियों में होकर धुआँबक्स में पहुँचती है। अपनी यात्रा के उस भाग में वह पानी को भाप में परिवर्तित कर देती है। अब धुआँबक्स में आगे बढ़ने पर ये उत्तप्त गैसें फिर कुछ नलियों में से गुज़रती हैं। इन नलियों के भीतर से होकर बारीक नलियों में भाप गुज़रती रहती है। गर्म आँच के रास्ते में भाप और भी गर्म हो जाती है। इस तरह पूर्णतया सूखी और उत्तप्त भाप ऐसे बॉयलरों में उत्पन्न कर ली जाती है। उत्पन्न भाप का तापक्रम ऊँचा होने के कारण उसका दबाव और उसकी शक्ति भी बढ़ जाती है। यही कारण है कि लगभग सभी आधुनिक बॉयलरों में इंजिन के ओर आनेवाली भाप को [illegible] होकर गुज़रना होता है। पहले पानी गर्म करके उसे भाप में परिवर्तित कर लेते हैं, तब उस भाप को पुनः आँच में [illegible] उत्पन्न बना लेते हैं। यही [illegible] इंजिन के सिलिन्डर को चलाती है।
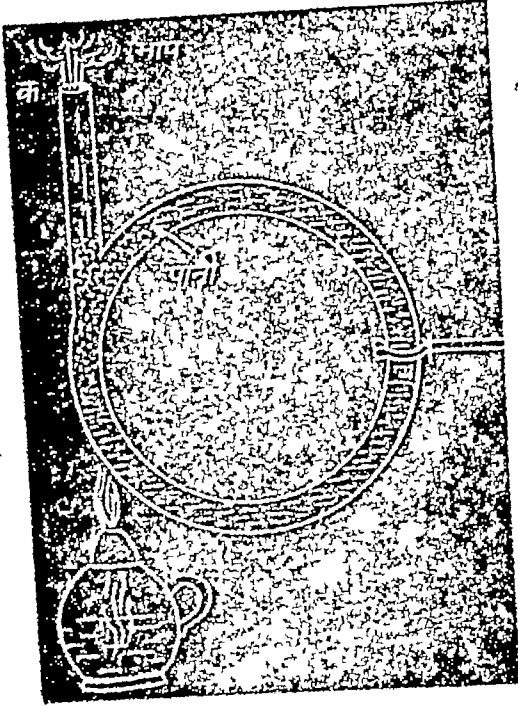
[illegible] अग्निनलिकावाले बॉयलरों का विकास हो रहा था, दूसरी ओर एक नवीन ढंग के बॉयलर का निर्माण जारी था। १८वीं शताब्दी के प्रारम्भिक दिनों में सर गर्नी, जिसने सड़क पर चलनेवाला सर्वप्रथम वाष्प-इंजिन तैयार किया था, बढ़िया क़िस्म के बॉयलर बनाने की धुन मे लगा हुआ था। उसने इस सिलसिले में एक मनोरंजक प्रयोग किया। उसने एक वृत्ताकार नली में पानी लेकर एक किनारे से उसे गर्म करना शुरू किया। थोड़ी देर में समूची नली का पानी खौलने लगा, और ऊपर के रास्ते 'क' से भाप ज़ोरों के साथ निकलने लगी। इस प्रयोग ने उसके मस्तिष्क में नवीन सूझ पैदा की। उसने देखा कि ट्यूब के उस भाग में, जहाँ स्पिरिट की लौ लगती है, पानी गर्म हो जाता है। गर्म होने पर ठंडे पानी की अपेक्षा हल्का हो जाने से यह ऊपर को उठता है, और बग़ल से उसका स्थान लेने को ठंडा पानी आता है। इस तरह पानी की धारा ट्यूब में चक्कर लगाने लगती है। यहाँ तक कि तनिक-सी देर में पानी खौलने लगता है, और ज़ोरों के साथ भाप तैयार होने लगती है।

सर गर्नी का प्रयोग

इस प्रयोग का महत्त्व समझने के लिए यह ज़रूरी है कि हम किसी देगची में खौलते हुए पानी को ग़ौर से देखें। देगची के पेंदे के हर एक बिन्दु से भाप के बबूले ऊपर को उठते हैं। नतीजा यह होता है कि ऊपर से नीचे को आती हुई पानी की धारा के रास्ते में रुकावट पड़ती है, और देगची का समूचा पानी उतनी तेज़ी के साथ गर्म नहीं हो पाता है। बॉयलर की इस कमी को दूर करने के लिए पानी को मुड़े हुए ट्यूब के अंदर ले सकते हैं, ताकि एक रास्ते से गर्म पानी ऊपर को उठे और दूसरे रास्ते से ठंडा पानी नीचे को आवे। इस तरह भाप ट्यूब के ऊपरी भाग में पैदा होगी, और पानी की धारा निरन्तर चालू रहेगी और इसमें किसी प्रकार की रुकावट न होगी।

इस प्रयोग के आधार पर नये ढंग के बॉयलर बने। इन बॉयलरों में पानी बहुत-सी नलियों में [illegible] फैला रहता है, और भट्टी की आँच इन नलियों [illegible]

ओर लगती रहती है। प्रायः ये नलियाँ न तो एकदम सीधी खड़ी रहती हैं, और न एकदम आड़ी ही लिटाई रहती हैं, बल्कि ये थोड़ी झुकी होती हैं; ताकि उतनी ही आँच में ट्यूब का बहुत सा धरातल तप्त हो सके, साथ ही एक ओर से गर्म पानी आसानी से ऊपर को उठ सके, तथा दूसरी ओर अपेक्षाकृत ठण्डा पानी आसानी के साथ नीचे आ सके। अच्छे ब्वॉयलरों में पानी के इन ट्यूबों की संख्या काफी बढ़ा देते हैं। इस प्रकार पानी के तप्त धरातल का क्षेत्रफल बढ़ जाता है और ब्वॉयलर से भाप प्रचुर मात्रा में निकलती है। इन जल-नलिकावाले ब्वॉयलरों में भाप पहली मंज़िल में तैयार होकर दूसरी मंज़िल के लिए अन्य नलियों में प्रवेश करती है, जहाँ यह पुनः आँच में तपाकर विशेष उत्तप्त बना ली जाती है। तदुपरान्त यह उत्तप्त भाप इंजिन में प्रवेश करती है।

समुद्र के जहाज़ों के इंजिन के लिए प्रायः जल-नलिकावाले ही ब्वॉयलर इस्तेमाल किये जाते हैं। यद्यपि साधारण व्यापारी जहाजों में अब भी अग्निनलिकावाले ब्वॉयलर फिट किये हुए पाये जाते हैं, किन्तु लड़ाई के जहाज़ों में ब्वॉयलर हमेशा जल-नलिकावाले ही लगाये जाते हैं, क्योंकि जल-नलिकावाले ब्वॉयलर में पानी से भाप क्षण-भर में और काफ़ी प्रचुर मात्रा में तैयार की जा सकती है। युद्ध के जहाजों को अचानक ख़तरे की सूचना मिलते ही तेज़ रफ़्तार से भागने की ज़रूरत पड़ा करती है, और ऐसे अवसर पर जल-नलिकावाले ब्वॉयलर ही उसके लिए शक्तिशाली भाप बात की बात में तैयार कर सकते हैं। यही कारण है कि शीघ्रगामी व्यापारिक जहाज़ों में अब जल-नलिकावाले ही ब्वॉयलर फ़िट किये जाते हैं।

जल-नलिकावाले ब्वॉयलरों में 'यरो' ब्वॉयलर विशेष उल्लेखनीय है। इस ब्वॉयलर में एक बड़े आकार के पीपे का उसी प्रकार के दो अन्य छोटे पीपों से नलियों के ज़रिये सबंध रहता है। ये नलियाँ कई पाँत में लगी हुई होती हैं। पानी गर्म होकर इन्हीं नलियों के रास्ते ऊपरवाले पीपे में चढ़ता है, और अन्त में भाप बनकर पीपे से अन्य नलियों में विशेष उत्तप्त होने के लिए जाता है।

जल-नलिकावाले ब्वॉयलर में इस्तेमाल करने के लिए पानी के चुनाव में भी विशेष सावधानी बरतनी पड़ती है। यदि यह पानी खारा हुआ, अर्थात् इसमें खड़िया-सदृश विजातीय पदार्थ घुले हुए रहे, तो गर्म किये जाने पर ये ... से निकल आते हैं, और इनकी तहें इन नलियों में जाती हैं। नतीजा यह होता है कि भट्टी की आँच का पूरा असर नली के अन्दर पानी तक नहीं पहुँच पाता, और इस प्रकार ब्वॉयलर की कार्यक्षमता में भारी ह्रास हो जाता है। इन नलियों के भीतर से खुरचकर खड़िया मिट्टी की जमी हुई परत को साफ करना बड़े झंझट का काम है। नलियों की पेंचदार टोपियाँ खोलकर भीतर की सफाई करनी होती है। बार-बार टोपियाँ खोलने से वे ढीली पड़ जाती हैं और उनके अन्दर से साँस आने लगती है। किन्तु कार्निश या लङ्काशायर ढोलनुमा ब्वॉयलर में, चूंकि पानी बाहर बैरेल में ही रहता है, अतः इसी बैरेल की दीवालों पर आगवाली चौड़ी सुरंग की बाहरी दीवालों पर ही खारे जल की घुली खड़िया मिट्टी जमती है, जिसे आसानी से खुरचकर साफ कर लेते हैं। लेकिन ढोलनुमा ब्वॉयलरों में भट्टी की चद्दरों और अग्नि-नलिकाओं के जलने का, साथ ही तापक्रम के घटने-बढ़ने में चद्दरों से बल पड़ जाने का भी भय रहता है।

ढोलनुमा अग्नि-नलिकावाले ब्वॉयलरों को इंजिनघर में जमाने में जल-नलिकावाले ब्वॉयलरों की अपेक्षा कम ख़र्च बैठता है, किन्तु जहाँ जगह की कमी हो, वहाँ पर जल-नलिकावाले ही ब्वॉयलर फिट किये जाने चाहिएँ, क्योंकि इतनी ही शक्ति-उत्पादन के लिये जल-नलिकावाले ब्वॉयलर अग्नि-नलिकावाले ढोलनुमा ब्वॉयलर की अपेक्षा एक-चौथाई जगह घेरते हैं। फिर जल-नलिकावाले ब्वॉय-लर के पुर्ज़े आसानी से अलग करके दूसरी जगह ले जाये जा सकते हैं। ढोलनुमा ब्वॉयलरों में ऐसी बात नहीं है, उनका बैरेल काफी भारी-भरकम होता है।

इन ब्वॉयलरों में भट्टी के प्रज्ज्वलित रखने का प्रश्न भी कम महत्वपूर्ण नहीं है; क्योंकि भट्टी में कोयले को पूर्ण रूप से जलाने के लिए ताज़ी हवा के झोंके का अबाध रूप से निरन्तर पहुँचना ज़रूरी होता है। जिस वक्त चिमनी से भट्टी की तप्त गैसें ऊपर को निकलती हैं, वे अपने साथ भट्टी के अन्दर की हवा को खींचती हैं। इस खिंचाव के कारण भट्टी के दरवाज़े से जिस रास्ते से कोयला झोंका जाता है, ताज़ी हवा भीतर को प्रवेश करती है। इस तरह हवा का झोंका भट्टी के अन्दर अपने आप पहुँचता रहता है।

किन्तु बड़े ब्वॉयलरों में इस रीति से हवा पर्याप्त मात्रा में नहीं पहुँच पाती। अतः चिमनी के नीचे धुआँबक्स में कोई ऐसा प्रबन्ध करना पड़ता है, जिससे अधिक मात्रा में भट्टी में हवा खिंच उठे। रेलगाड़ी के इंजिन में सिलेण्डर और पिस्टनबक्स से निकली हुई शक्तिविहीन भाप इसी धुँआबक्स से होकर तेज़ी के साथ चिमनी के

(दाहिनी ओर) अबू सिम्बेल के देवालय के द्वार के आसपास चबूतरों पर बनी हुई चार भीमकाय मूर्त्तियाँ जो एक ही चट्टान से काटकर बनाई गई हैं। इन भव्य मूर्त्तियों को प्रतापी सम्राट् रामसेस द्वितीय ने बनवाया था, जिसका मिस्र के भवन-निर्माताओं में सर्वप्रथम स्थान है। (नीचे) मिस्र के अंतिम काल की सुंदर कलाकृतियों का एक नमूना। मेष का यह शीश पाषाण में खोदा गया है।
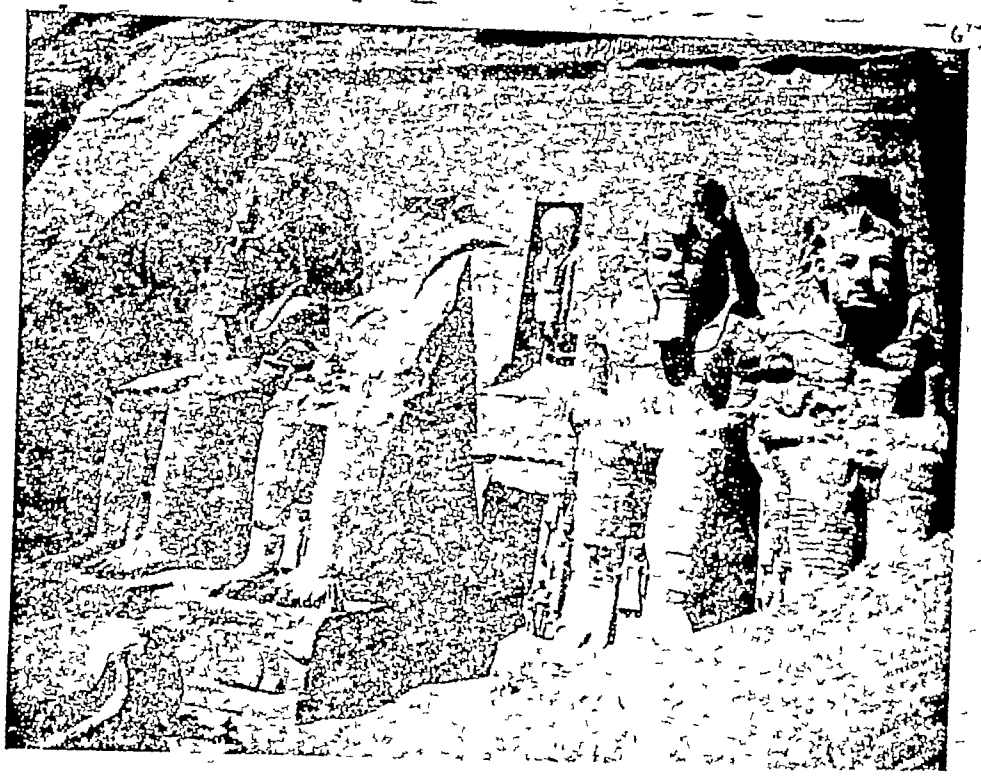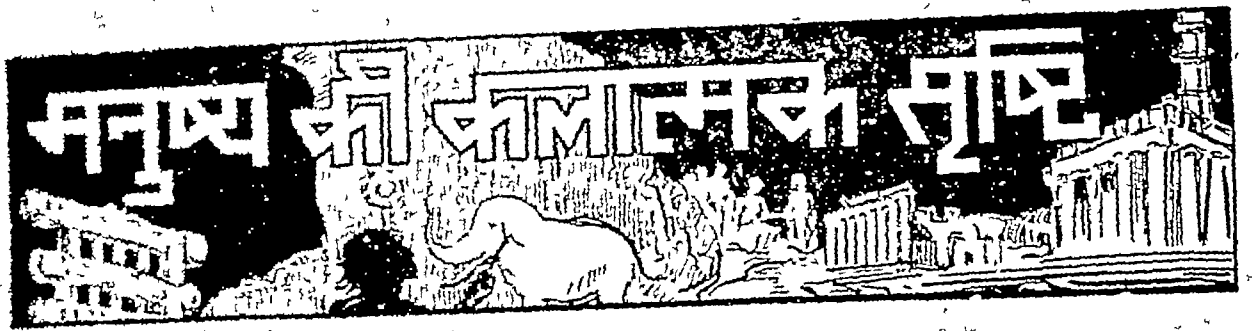
प्राचीन मिस्र की कला—(३)

पिछले दो लेखों में आप कला के क्षेत्र में प्राचीन मिस्र की अद्भुत प्रगति का काफ़ी अच्छी तरह परिचय पा चुके हैं, यद्यपि इसका दायरा इतना अधिक बड़ा है कि इस विषय पर जितना अधिक लिखा जाय उतना ही कम है। यह मिस्र की कला के दिग्दर्शन संबंधी हमारी लेखमाला का उत्तरार्द्ध है। इसके बाद हम बेबिलोनिया और असीरिया आदि की ओर मुड़ेंगे।

ग्यारहवें राजवंश के शासनकाल में मिस्र की राजधानी के मेम्फिस से उठकर थीबिज को चले जाने पर वहाँ की कला के स्वरूप में भी हम परिवर्तन होता देखते हैं और अब मृतात्माओं के चित्रों का स्थान देवी देवताओं के भक्तिपूर्ण चित्र ले लेते हैं। मक़बरों का स्थान अब मन्दिर ले लेते हैं, और मध्यकालीन राज्य और साम्राज्य के शासक अब मुख्यतया मिस्री देवालय के प्रधान अधिपति आमोन-रा के पुत्र समझे जाने लगते हैं।

यह कहा गया है कि ज्यों-ज्यों हम नील नदी के ऊपर की ओर बढ़ते जाते हैं, त्यों-त्यों हम आगे की शताब्दियाँ पार करते जाते हैं। दूसरे शब्दों में, हम दक्षिण की ओर जितने ही आगे बढ़ते हैं, उतने ही अपने युग के निकट पहुँचते जाते हैं। पिरामिडों का बनाया जाना अब भी पहले ही की तरह जारी था, लेकिन अब वे शाही मक़बरों के चिह्नमात्र ही रह गए थे, और पिछले समय की तुलना में बहुत छोटे पैमाने पर बनाये जाने लगे थे। दूसरी ओर मन्दिरों के परिमाण और उनकी विशालता में क्रमशः वृद्धि होती चली गई। केन्द्रीय पिरामिड के इर्दगिर्द बने हुए मन्दिरों में अब काफ़ी चौड़े मण्डप और गैलरियाँ बनने लगीं। थोड़े दिनों बाद पिरामिडों का बनाया जाना बिल्कुल ही छोड़ दिया गया, और चट्टानों को काटकर [illegible] समाधि-भवन, जिनमें ख़र्च भी कम था, पहाड़ियों या ही [illegible] को काटकर बनाये जाने लगे। [illegible] दूर की दूरी पर पहाड़ी के [illegible] पर [illegible] समाधि का [illegible] [illegible] बाहर से समाधियों को देखकर किसी के लिए यह अनुमान करना असम्भव था कि अन्दर शानदार गैलरियाँ और वैभवपूर्ण ख़ज़ाने भरे पड़े होंगे। लेकिन इतनी सावधानी बरतने पर भी मानव-लोभ की गृद्धदृष्टि के आगे उनमें से कम ही अधिक दिन तक टिक पाए और हिरोडोटस के ज़माने तक तो कितने ही समाधि भवन भ्रष्ट कर डाले जा चुके थे और उनके भीतर का सामान चुरा लिया गया था। पत्थर के ताबूतों में जो मोमियाइयाँ बन्द थीं, उन्हें पुरोहितों ने उठाकर चुपके-से एक गुप्त समाधि-भवन में पहुँचा दिया, जहाँ बहुत से बादशाहों और बेगमों के शवों को बिल्कुल बेढंगे तरीक़े पर एक दूसरे पर लाद दिया गया था। इसी दशा में प्रसिद्ध मिस्रविद् सर गैस्टन मैस्पेरो ने उन्हें बाद में ढूँढ़ निकाला। इन मोमियाइयों के आवरण अब भी ज्यों-के-त्यों थे, और उन पर उनके हटाये जाने के समय उक्त कार्य का निरीक्षण करनेवाले अधिकारियों के नाम अंकित थे। कभी-कभी समाधि-भवनों को आसानी से भ्रष्ट होने से बचाने और लुटेरों को धोखे में रखने के इरादे से झूठे शवगृह आदि भी बना दिये जाते थे। बड़ी मुश्किलों से छानबीन करने के बाद आधुनिक अन्वेषकों को उन होशियारी से छिपाकर रखे गये दरवाज़ों का पता चल पाया है, जिनमें होकर उन असली समाधि-भवनों को जाने का रास्ता था, जहाँ कि वास्तव में शाही मोमियाइयाँ रखी गई थीं। यद्यपि कुछ समाधि-भवनों की स्थापत्य शैली में परिवर्तन अवश्य हो गया था, किन्तु उनको बनाते समय किन-किन संस्कारों के लिए क्या-क्या करना चाहिए, इस सम्बन्ध में अब भी पुरानी धारणा ही ज्यों-की त्यों काम कर रही थी।

अबीडास और देरअल-बहरी में इस प्रकार चट्टानों को काटकर बनायी गयी अधिकतर समाधियों के साथ पहले की तरह मन्दिर भी जुड़े हुए हैं, जो कि समाधियों से कुछ दूरी पर मैदान में नदी के किनारे बनाये गये हैं। वहाँ देवताओं की पंक्ति में प्रतिष्ठित राजाओं की पूजा बड़े धूम-धाम के साथ शानदार ढंग से की जाती थी। कभी-कभी दो तीन पीढ़ी के राजाओं की पूजा एक ही मन्दिर में साथ ही होती थी, उदाहरणार्थ अमर्ना के उस मन्दिर में जिसे ग्यारहवें वंश के महान् संस्थापक रामसेस प्रथम ने बनवाना आरम्भ किया था और सेती प्रथम द्वारा निर्माण जारी रहकर जो सम्भवतः रामसेस द्वितीय द्वारा पूरा हुआ था।

एक राजवंश के समाप्त हो जाने के बाद दूसरे वंश के आने पर पहले वंश के मन्दिर प्रायः विनष्ट हो जाते थे, क्योंकि केवल उसी वंश के राजा इस कार्य को जारी रखते और उनकी मरम्मत करते रहते थे, जिस वंश के लोग उन मन्दिरों को बना जाते थे। नील नदी के उस पार लक्सर और कार्नाक के मन्दिर अधिक अच्छी दशा में सुरक्षित हैं, क्योंकि इनको बनानेवाला राजवंश अधिक दिनों तक चला, और उसके द्वारा पहले के बनाये मन्दिर-समूहों की मरम्मत तथा नये मन्दिरों का निर्माण प्रायः होता रहा। सम्राट् इन देवालयों के निर्माण तथा वृद्धि में सबसे अधिक सहायता देते थे, और शाही मक़बरों की बारी, जिनके निर्माण में पहले के राजवंश बड़ी रुचि रखते थे, उनके बाद आती थी। इन मन्दिरों में निरन्तर होनेवाली वृद्धि और सजावट के कारण इन मन्दिरों के ढाँचे की बनावट समझना बहुत मुश्किल हो जाता है, यद्यपि हेरोडोटस और स्ट्रैबो आदि आरंभिक यूनानी इतिहासकारों ने विस्तृत रूप से उनका वर्णन करने का प्रयत्न बड़ी सावधानीपूर्वक किया है। सच तो यह है कि मिस्र के मन्दिरों की स्थापत्य-सम्बन्धी विशेषताओं का वर्णन करने के लिए यूनानी इतिहासकारों द्वारा प्रयुक्त नामावली का ही हम आज भी आश्रय लेते हैं, जैसा कि 'पाइलोन' (pylon), 'हाइपोस्टाइल हाल' (hypostyle hall) 'ओबिलिस्क' (obelisk) और 'ड्रोमो' (dromo) इत्यादि शब्दों के प्रयोग से पता चलता है।
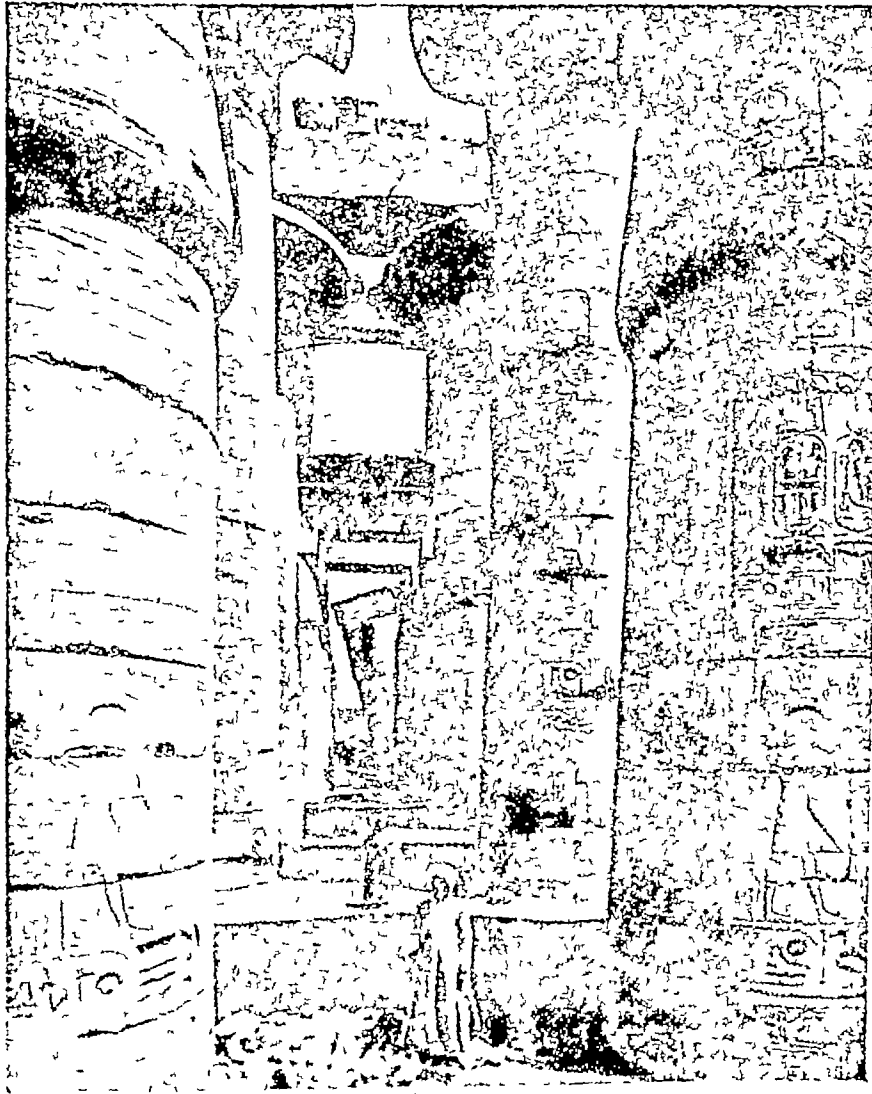
कार्नाक के देवालय में विशालकाय स्तम्भों की पंक्तियाँ

इन खंभों की ऊँचाई और चौड़ाई का कुछ अनुमान पास में खड़े आदमियों के आकार से तुलना करने पर किया जा सकता है। इन खंभों पर पत्थर की सुंदर खुदाई की गई है। मूल में यह विशाल सभामण्डप कैसा होगा, इसका एक काल्पनिक रंगीन चित्र अलग दिया जा रहा है।

इस युग के मिस्री मन्दिरों की जटिल बनावट का विस्तृत वर्णन सम्भवतः उपयोगी होने पर भी पाठकों के जी को उबानेवाला होगा। परन्तु इस लेख तथा इससे पहले के लेखों के साथ दिये गये चित्रों से साधारण पाठक इसकी भलीभाँति धारणा कर सकता है कि मिस्र के मन्दिर देखने में किस प्रकार के होते थे।

थीबीज़ के गौरवशाली युग में कार्नाक के भव्य सभामण्डप का दृश्य

यह कल्पना के आधार पर निर्मित चित्र है, किन्तु कार्नाक के मंदिर के भव्य खण्डहरों को देखकर कोई भी इस बात से असहमत न होगा कि अपनी असली हालत में इस कलामण्डप का रूप ऐसा रहा होगा। स्तम्भों की इन पंक्तियों के ध्वंसावशेष का एक फ़ोटो अन्यत्र दिया गया है।
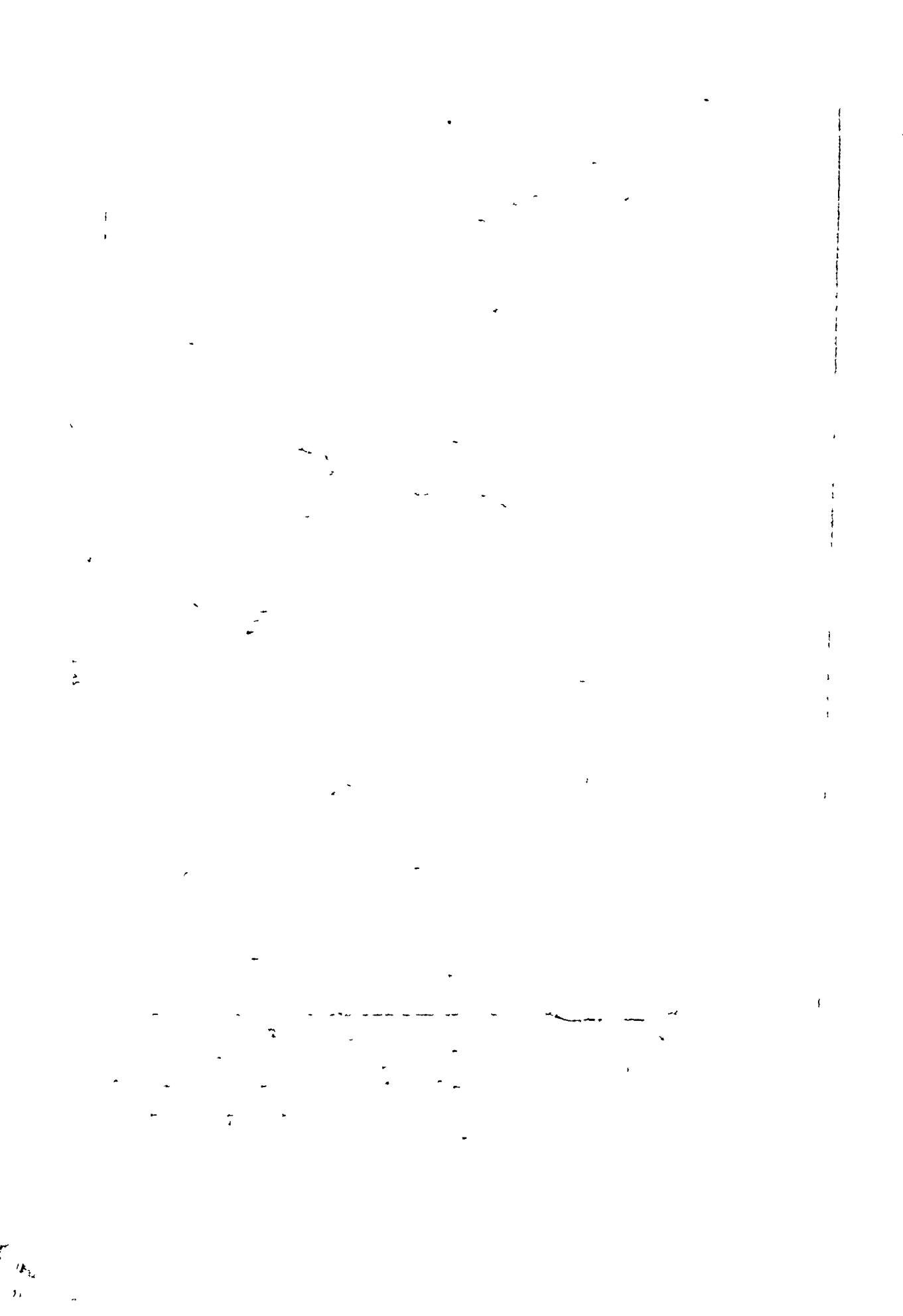
[illegible] और लम्बे-चौड़े होने पर भी बाद में बने हुए मिस्री मन्दिरों में से अधिकतर लापरवाही से बनाये गये थे। उनकी नींव जैसी होनी चाहिए वैसी नहीं रहती थी। [illegible] कभी अपने सीध में नहीं रहते थे। इनकी दीवारें बाहर निकल आती हैं और गिरकर चूर हो जाती हैं। फलतः प्राचीन स्थापत्य के इन अवशेषों का जीर्णोद्धार एक कठिन और खर्चीला कार्य हो गया है। इन भवनों की सारी भीतरी और बाहरी सतह भित्तिचित्रों, मूर्तियों तथा पदार्थ की सतह पर उभाड़ कर बनाई गई रंगीन मूर्तियों से बहुतायत से भरी हुई है, जिनमें से कुछ के मूल रंग अपनी असली चमक सहित इस तरह सुरक्षित हैं कि देखकर स्वभावतः मन में प्रशंसा के भाव उठते हैं। उत्कीर्ण अर्थात् सतह उभाड़कर बनाई गई मिस्री मूर्तियाँ दो प्रकार की हैं—पूर्णोत्कीर्ण (bas relief), जिसमें मूर्ति की आकृति दीवाल की सतह से केवल थोड़ी-सी ऊँची उठी रहती है; और न्यूनोत्कीर्ण (sunk-relief), जिसमें आकृति पृष्ठभूमि से तो [illegible] आगे को उभड़ी रहती है, पर उसका उभड़ा हुआ [illegible] भाग दीवाल की सतह से नीचा रहता है। पिछली प्रकार का कौशल मिस्र की एक विशेषता है, जो [illegible] के [illegible] सस्ता समय [illegible] कराई या [illegible] के कारण [illegible] बिगड़ जाने के [illegible] था।

[illegible]

थटमोज़ तृतीय, अमेनहोतेप तृतीय, रामसेज़ द्वितीय, अखनातोन और उसकी महारानी नेफ़र-तीती—इन सभी के शीश भाग की प्रतिमाएँ इस बात की साक्षी हैं कि उनको रचनेवाले कलाकार को चित्रादर्श के व्यक्तित्व के भीतरी तथा बाहरी दोनों रूपों से पूर्ण परिचय है। साथ-साथ जटिल विषयों के सरल निरूपण तथा कौशल-सम्बन्धी पूर्णता-जैसे दुर्लभ गुणों का भी इनसे बोध होता है। ये गुण यूनानी कला में भी मुश्किल से मिलते हैं, जिसमें चंचल भंगियों तथा अविश्रान्त शारीरिक स्थितियों में मांस-पेशियों के आवश्यकता से अधिक चित्रण की भरमार-सी मिलती है। कौशलपूर्ण शोभामय चित्रण की यह सरलता मिस्र में केवल राजा और रानियों के गौरवपूर्ण विकार रहित प्रतिमाओं में ही नहीं दिखलाई पड़ती, बल्कि वहाँ के उन देवों और
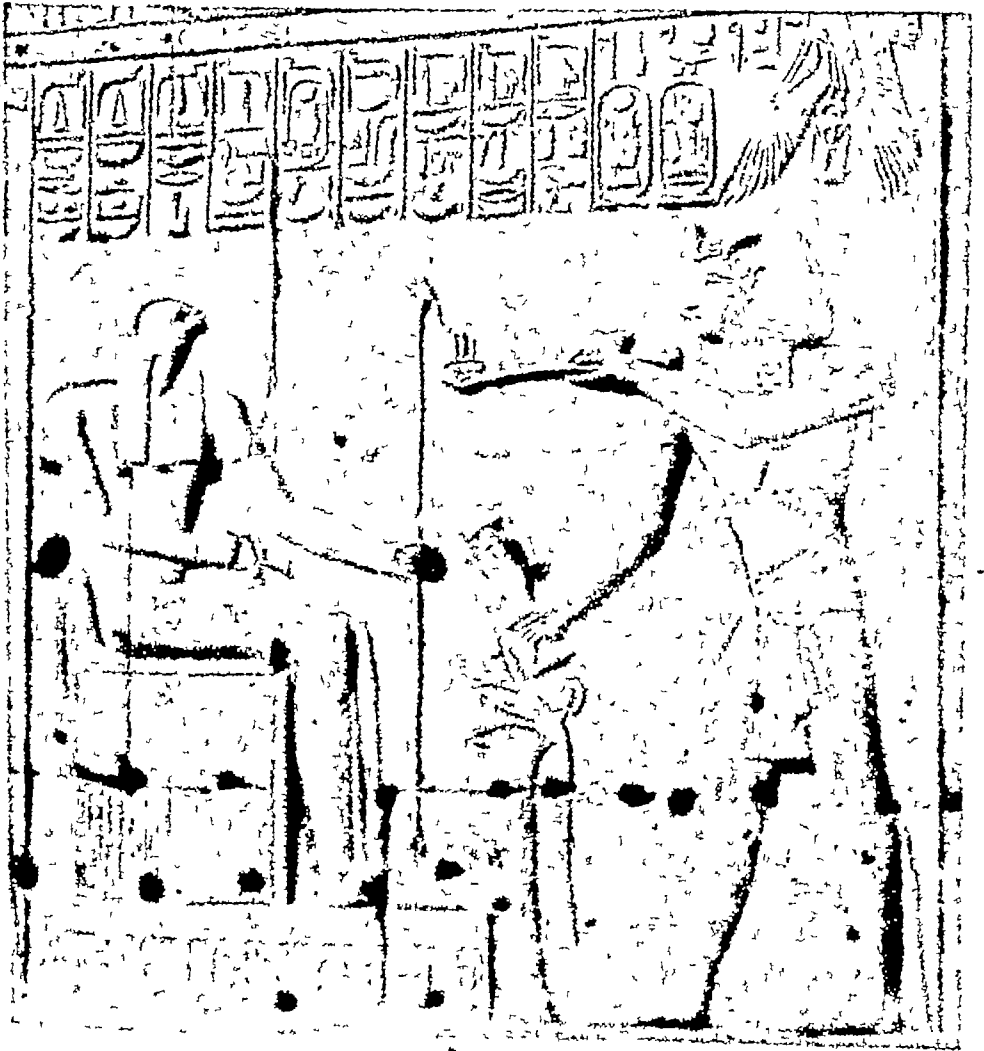
सेती युग की उत्कीर्ण कला का एक सुन्दर नमूना

यह अबीडास के देवालय की दीवारों पर उभाड़ कर बनाए हुए सैकड़ों पूर्णोत्कीर्ण चित्रों का एक अंश है। इसमें सम्राट् सेती प्रथम सेक्रमेत नामक देवता की पूजा-अर्चना करता हुआ दिखाया गया है।

अर्ध-देवों के अत्यन्त सुन्दरता के साथ कल्पित रूपों में भी दिखलाई पड़ती है, जिन्होंने कि अब गाय, उलूक, बाज़, बिल्ली, शेर तथा अफ्रीक़ा के जंगलों के अन्य कितने ही पशु-पक्षियों का रूप धारण कर लिया था। पशुओं के इन रूपों में से अधिकतर चाहे वे बहुमूल्य पत्थरों और अन्य क़ीमती सामग्रियों से गढ़े गये हों, चाहे ग्रैनाइट या बैसाल्ट-जैसे कड़े-से-कड़े पत्थर से, निस्सन्देह बड़ी ही आश्चर्य-जनक रीति से निर्मित किये गये हैं और उनसे उसी सूक्ष्म निरीक्षण, आकृति-संबंधी ज्ञान और सरल निरूपण का पता चलता है, जो मिस्रियों द्वारा निर्मित मानव आकृतियों में है।

थीबी के शाही क़ब्रगाह के मक़बरों के चित्रों में मिस्र के घरेलू जीवन के दृश्यों की विशद रूप से हमें झलक मिलती है। इनमें गवैये, नर्तक, बालक-बालिकाएँ, विवाह, मृतक-संस्कार, राष्ट्रीय समारोह, राजाओं की विजय-यात्रा तथा सामान्य नागरिक और पशुपालकों के जीवन के भी अन्य साधारण चित्र पाये जाते हैं, जिनमें बीच-बीच में शाही दरबार और क्रीड़ा-भूमि के शानदार दृश्य भी खचित हैं। इन रमणीय भित्तिचित्रों की सजावट के अलावा मिस्र की प्रसिद्ध 'मृतात्माओं की पुस्तकों' के अक्षरों की सजावट में ही हमें कलात्मक रुचि का पर्याप्त परिचय मिलता है। ये 'मृतात्माओं की पुस्तकें' पैपिरस पत्रों की बहियों-सी हैं, जो कि अक्सर मोमियाई के साथ गाड़ दी जाती थीं, और जिनमें जीव की परलोक-यात्रा के सम्बन्ध में आदेश दिये रहते थे। ये प्रायः ऐसे छोटे-छोटे चित्रों से चित्रित होती थीं, जिनमें अन्तिम संस्कार और अग्नि-परीक्षाओं आदि के दृश्य रहते थे, जिनसे गुज़रना मरणोत्तर जीवन के पुरस्कार या दण्ड को ग्रहण करने के पूर्व मृतात्मा के लिए अनिवार्य समझा जाता था।

न्यूबिया, इथोपिया और सूदान में मिस्र का साम्राज्य-विस्तार होने पर मिस्री देवताओं ने इन विजित प्रदेशों में भी अपना आसन जा जमाया। मिस्र की महती सेना के शूरवीरों ने उन देवताओं के सम्मान में, जिनकी कृपा से उन्हें विजय मिली थी, वहाँ मन्दिर बनाना चाहा। किन्तु आसपास के प्रदेश में अशान्ति फैली रहने के कारण उन्होंने पत्थर के कटे हुए टुकड़ों से निर्मित मन्दिरों के स्थान पर चट्टानों को काटकर बनाये गये 'स्पिओज़' तैयार कराना ज़्यादा पसन्द किया। न्यूबिया की चट्टानों को काटकर बनाये गये वे मन्दिर अब भी 'स्पिओज़' कहलाते हैं। प्राचीन ग्रीस में इन मन्दिरों का यही नाम प्रचलित था। अबू सिम्बेल का महान् स्पिओज़ दक्षिण की नीग्रो जातियों और सीरिया के नगरों पर रामसेस द्वितीय के विजय के उपलक्ष में बनाये गये थे। इस मन्दिर के प्रवेश-द्वार पर स्थापित एक ही पत्थर से बनाई गई चार भीमकाय मूर्तियों का जो प्रभाव यात्री के मन पर पड़ता है, वह भुलाया नहीं जा सकता। रामसेस द्वितीय का मिस्र के भवन-निर्माताओं में सर्वोपरि स्थान है। उसने अपने सुविस्तृत साम्राज्य के प्रत्येक नगर में एक-एक मन्दिर बनवाने की आज्ञा दी थी। यह आज्ञा न्यूबिया के उपनिवेश के लिए भी थी, जिसे कि वह मिस्र का ही विस्तार समझता था। अबू सिम्बेल की चार चबूतरोंवाली दैत्याकार मूर्तियाँ, जो फाटक के दोनों ओर दो दो बनी हुई हैं, ऊँचाई में ६० फ़ीट हैं। इनके साथ-साथ अम्मोन-रा की आराधना करते हुए सम्राट् की उभरी हुई मूर्तियाँ भी दिखाई गई हैं।

न्यूबिया में नील नदी के किनारे अन्य बहुत-से महत्त्व-पूर्ण और मनोरंजक मन्दिर हैं, उदाहरणार्थ मिस्र की रतिदेवी 'हाथौर' के सम्मान में बनाया गया अबू सिम्बेल का छोटा स्पिओज़, एलिफैण्टाइन का मन्दिर, गार्फ़ हुसेन का अर्ध-स्पिओज, जो कुछ अंशों में पत्थर को गाद-कर और कुछ अंश में पत्थर के टुकड़े जोड़कर बनाया गया है, तथा 'मेरो' में स्थित पिरामिड और सूर्य का मन्दिर आदि। इन सभी में अनेक युगों की स्थापत्य-शैली का विचित्र खिचड़ी-जैसा सम्मिश्रण दृष्टिगोचर होता है, जो बहुत कुछ इस प्राचीन

न्यूबिया की सीमा पर नील नदी में फ़िली द्वीप पर सैत एवं टालमियों के युग के स्मारक

असुअन बाँध के कारण दुर्भाग्यवश अब इनका अधिकांश भाग जलमग्न हो गया है।

सम्राज्ञी हातशेपसुत की लावण्यमयी मूर्त्ति

यह अठारहवें राजवंश के युग (१४८० ईस्वी पूर्व) की मानी जाती है।

अठारहवें राजवंश के युग (लगभग १३७० ई० पूर्व) का मूर्त्ति बनाने का एक प्लास्टर का साँचा

प्राचीन मिस्री सम्राटों के अन्तिम वंश के ये स्मारक किसी दिन बिल्कुल आँखों से ओझल हो जायँगे !

सैत युग तथा टॉलमियों के समय (सिकन्दर की मृत्यु से लगाकर क्लियोपाट्रा के शासनकाल तक का समय मिस्री इतिहास में टॉलमियों का युग कहा जाता है) की कला को मिस्र के पुराने युग से प्रेरणा मिली थी; और उसमें भी बाद की शैलियों की अपेक्षा पहले की शैलियाँ अधिक पसन्द की जाती थीं। फिर भी इन कला-कृतियों में पहले की वह दिव्यता और ओज नहीं था, यद्यपि पहले की प्रकाण्डता और निर्विकारता का स्थान अब एक प्रकार की कोमल रमणीयता, सुरुचि तथा मानवता के संस्पर्श ने ले लिया था। सैत युग की राजकीय आज्ञा से बनाई गई मूर्तियों में से अधिकांश लाल ग्रेनाइट (granite) तथा हरे पॉरफीरी या सगे सिमाक (porphyry) जैसे कड़े-से-कड़े पदार्थों से बनाई जाती थीं। इनकी रूपरेखाएँ जटिल नहीं हैं और अंगभंगियों में पहले वंशों की तरह धर्माधिकारियों की भावभंगी की झलक है। इनकी रचना में रूढ़िवादिता का कड़ाई के साथ पालन किया गया है, और वस्त्रों की सिकुड़न दिखलाने का पूर्ण बहिष्कार किया गया है। मूर्तियों की आकृतियाँ प्रायः एक तग वस्त्रावरण से ढकी हुई हैं, जो प्रायः प्रत्येक सुडौल आकृति की मूर्ति की बाह्य रेखाओं का काम देता है। इस युग का मिस्री कलाकार पशुओं की मनोहर आकृतियाँ खोदकर गढ़ने में भी अत्यन्त पटु था। प्रसिद्ध मिस्रविद् सर गैस्टन मैस्पेरो का कथन है कि "अपनी चित्र लिपि को चित्र में या खोदकर बनाने में वे (मिस्रवासी) पूर्णता की एक उत्कृष्ट अवस्था को पहुँचे हुए थे, और साधारणतया पूर्णोत्‌कित मूर्त्तियों (bas reliefs) का उनके द्वारा एक बड़ी संख्या में निर्माण हुआ था। सैत युग की कला का प्रधान लक्षण कला-कृतियों की सुघड़ता तथा उनके छोटे से छोटे भाग पर की हुई बढ़िया कारीगरी है। कठोर-से-कठोर पदार्थ भी निर्माण-शैली की पवित्रता और मनोहर सरलता द्वारा कोमल बना लिये जाते थे।"

प्राचीन मिस्र की कला का कोई भी वर्णन वहाँ के कलात्मक उद्योग-धन्धों (art-crafts) का उल्लेख किये बिना अधूरा ही रह जायगा। इस प्राचीन देश की जलवायु की अनुकूलता तथा इन वस्तुओं के इस प्रकार के सुरक्षित पाषाण-गृहों में बन्द रहने के कारण कि जिसमें इन्हें हवा भी न लग पाये, प्रायः सभी रत्नजटित आभूषण, मेज़ के सजावट की चीज़ें, अस्त्र-शस्त्र और कवच, कुर्सी-मेज़ आदि कमरे की सजावट के सामान (फ़र्नीचर), वस्त्र तथा गृहस्थी के बर्त्तन आदि हम लोगों को बिलकुल सुरक्षित मिले हैं। इनमें अलबैस्टर नामक संगमरमर के पत्थर के चाँदनीनुमा सुन्दर बर्त्तन मिले हैं, जिनके ढक्कन तरह-तरह के पशुओं के शीश-भाग की मूर्त्तियों के बने हैं। इन बर्त्तनों में मृत व्यक्तियों की अँतड़ियाँ आदि रखी हैं, और ये कारीगरी के ऐसे बढ़िया नमूने हैं कि उनकी बनावट और काम की प्रशंसा किये बिना नहीं रहा जा सकता। इनके अतिरिक्त मिस्री सम्राटों की सभी प्रकार की निजी उपयोग की वस्तुएँ भी एक के बाद दूसरे अन्वेषक द्वारा प्रकाश में लाई गई हैं, जिनसे शिल्प की उन्नति की चरमावस्था का पता चलता है। काहिरा के पुरातत्त्व-सम्बन्धी अजायबघर की प्रदर्शन की आलमारियों में आश्चर्यजनक डिज़ाइन (बनावट) और कल्पनातीत कलात्मक पूर्णता के कामवाले रत्नमय गुबरैले के आकार के शिरोभूषण तथा अन्य शिरोवस्त्र, हार, बाजूबन्द और तावीज आदि देखे जा सकते हैं। दूसरे देशों के सुनारों ने इन राजसी रत्नों से बढ़कर सुन्दरता और कारीगरी का काम शायद ही कभी किया हो। मक़बरों में पाये जानेवाले नक़्क़ाशी से भरे हारों में हमें कारीगरी की बहुलता और सुरुचि का सुन्दर संयोग मिलता है। मैस्पेरो ने एक शिलालेख का अनुवाद किया है, जिसमें १२वें राजवंश के महान् राजाओं में से एक ने यह दावा किया है कि "संसार में ऐसा कोई भी नहीं है जो मुझसे और मेरे ज्येष्ठ पुत्र से चाँदी और सोने की धातु की कारीगरी में, जिसमे रत्न, आबनूस और हाथी-दाँत के काम हों, बाज़ी मार ले।" इससे पता चलता है कि मिस्र के सम्राट् भी अपनी प्रजा के कला और शिल्प सम्बन्धी उत्साह में भाग लेते थे। वस्तुतः मिस्र की सोना, शीशा और चीनी की कारीगरी प्राचीन काल में सभी जगह बड़े सम्मान के साथ देखी जाती थी।

होवार्ड कार्टर महाशय द्वारा हाल में तूत-अन ख़ामोन के मक़बरे की खोज ने तो मानो अलीबाबा की कहानी वाले गुफा का ही द्वार खोल दिया है ! इसमें मिस्र की कल्पनातीत द्रव्यराशि भरी पड़ी है, और उससे राजाओं के प्रत्येक काम में आनेवाली विभिन्न प्रकार की अनेक वस्तुएँ प्रकाश में आई हैं। कार्टर महोदय ने इस सम्बन्ध में अंग्रेज़ी में बड़ी सजधज के साथ अनेक अपूर्व चित्रों सहित तीन भागों में एक विस्तृत ग्रन्थ तैयार किया है और जो कोई भी कला की सुन्दर वस्तुओं में रुचि रखते हों, उन्हें इस उत्तम प्रकाशन को अवश्य देखना चाहिए।

मानव ने लिखना कैसे सीखा ?—(३)

वर्णों की उत्पत्ति और विकास सम्बन्धी अनुसन्धान के क्रम में हम देख चुके हैं कि किस प्रकार मिस्र की चित्रलिपि से क्रमशः आदिम वर्णों की धुँधली रूपरेखा प्रस्फुटित हुई और सैमीटिक कीलाक्षरों के रूप में तो हमें अपने आज के अक्षरों के ही आदिम भौंडे रूप स्पष्ट दिखाई दिये। इस लेख में हम योरप की ग्रीक-लातिन आदि वर्णमालाओं के विकास-क्रम पर ध्यान देंगे और अगले लेख में देवनागरी वर्णमाला के विकास पर प्रकाश डालेंगे।

ऐतिहासिक खोज के आधार पर इतना तो अवश्य ही कहा जा सकता है कि ईस्वी पूर्व पाँचवीं शताब्दी के अन्तिम चरण तक प्रत्येक यूनानी राजधानी की अपनी वर्णमाला थी। पीछे से समस्त यूनान में साधारणतया एक ही वर्णमाला का प्रचलन हुआ, और इस वर्णमाला में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुए। पैलोपोनीशियन युद्ध के पश्चात् समस्त जनता की राय से लिखने-पढ़ने के लिए ईओनिअन वर्णमाला चुन ली गई और यही वर्णमाला यूनान देश के अधिकांश भाग में व्यवहृत होने लगी। एक अभिलेख के आधार पर यह दृढ़तापूर्वक कहा जा सकता है कि एशिया माइनर में ईओनिअन वर्णमाला ईस्वी पूर्व ४६० तक अर्थात् ओलिम्पिक खेलों के अस्सीवें अधिवेशन तक अपने पूर्ण रूप को पा चुकी थी। किस प्रकार यह फिनीशियन वर्णमाला से निर्मित हुई इसका परिवर्तन-क्रम क्या रहा, यह कुछ अभिलेखों के आधार पर ही कहा जा सकता है। इन अभिलेखों में से एक अबू सिम्बेल का अभिलेख है। यह अभिलेख नील नदी के द्वितीय प्रपात के निकट है। प्राचीन मिस्र के [illegible] का यह [illegible] गौरवपूर्ण उदाहरण है। तीन सहस्र वर्षों से अधिक काल बीत जाने पर भी यहाँ के [illegible] अब भी [illegible] हैं। [illegible] थे, तब यहाँ मिस्र की [illegible] रामसेस द्वितीय ने इस स्थान [illegible] काटकर एक विशाल मन्दिर [illegible], और उसकी भित्तियों पर अपनी महत्त्वपूर्ण [illegible] अङ्कित कराया। इस मन्दिर के प्रवेश-द्वार के सामने इस सम्राट् की चार भीमकाय मूर्तियाँ हैं, जो चट्टान खोदकर बनाई गई हैं। प्रत्येक मूर्ति ६६ फ़ीट ऊँची और २५½ फ़ीट चौड़ी (छाती के समीप) है। इनकी विशेषता और महानता तो इनकी सनातन शान्त मुद्रा में निहित है। ऐसा प्रतीत होता है, मानो जादू के ज़ोर से ही ये मूर्तियाँ गढ़ी गई हों (दे० पृ० ६१४ का चित्र)।

इस मन्दिर की भित्तियों पर रामसेस के राज्यकाल की गाथाओं के साथ-साथ प्रत्येक देश के मनुष्यों का वर्णन भी अङ्कित है। इतना ही नहीं, प्रत्युत् इन भीमकाय मूर्तियों पर अगणित यात्रियों और दर्शकों के अपने हाथों द्वारा विभिन्न वर्णाक्षरों में अंकित स्मृतिचिह्न भी हैं। अधिकतर तो नाम ही हैं। इनमें से अनेक नाम भाषाविज्ञों के लिए बहुमूल्य हैं। कुछ नाम फिनीशियन वर्णाक्षरों में हैं, और अधिकांश यूनानी (ग्रीक) में। सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रीक वर्णाक्षरों में लिखित पाँच पंक्तियोंवाला एक अभिलेख है, जिससे उसके लिखे जाने की तिथि निर्धारित की जा सकती है। इसके द्वारा ज्ञात हुआ है कि छब्बीसवें वंश के मिस्री राजा सामेटीकस (Psammetichus) की चाकरी में कुछ यूनानी थे, जो अबू सिम्बेल गये थे, और इसकी तिथि ईसा से पूर्व छठी शताब्दी का आरम्भिक काल है। छोटे-छोटे अन्य यूनानी अभिलेखों में से आठ और हैं जो कि इसी काल में लिखे मालूम होते हैं।

[illegible] अबू सिम्बेल में आदिम ग्रीक के नौ अभिलेख हैं, जिनकी तिथि निश्चयपूर्वक की जा सकती है। [illegible] हैं, और [illegible] हुए हैं।

अबू सिम्बेल के पाँच सतरोंवाले अभिलेख का अनुवाद नीचे दिया जाता है—

"जब नराधिप सामेटीकस एलीफ़ैन्टिना पहुँचा, तो उस समय थिओक्लीज़ का पुत्र (कप्तान) सामेटीकस साथ था, उसने यह लिखा। वे नावों में चले और कर्क्रीज़ तक चले गये, जहाँ तक सरिता में जा सके। पोटासिम्टो विदेशियों का नायक था, और आमासीस मिस्रियों का। इसके लेखक अमोईबिकौस का पुत्र आर्कन और यूदामौस का पुत्र पैलीक्रौस थे।"

अनुमान किया जाता है कि कुछ यूनानी सिपाही नूबिया प्रदेश में खोज के लिए नावों द्वारा गये। जब यह द्वितीय प्रपात पर पहुँचे तो आगे न बढ़ सके। लौटते समय यह अबू सिम्बेल ठहरे, और अपनी महत्त्वपूर्ण यात्रा का विवरण अंकित करके चलते हुए।

छोटे-छोटे अभिलेखों से लेखकों की जातीयता का पता लगता है। एक ने लिखा है—"मैं कोलोफ़ोनिया-निवासी पाबीस हूँ। मैं सामेटीकस के साथ आया था।" दूसरे ने लिखा है—"मैं ईआलिसिया-निवासी तैलीफ़स यह लिख रहा हूँ" इत्यादि। इन सबको पढ़ने से ईओनिअन यूनानियों में साक्षरता के प्रसार का पता लगता है।

बड़े अभिलेख द्वारा लेखन-तिथि का निर्णय किया जा सकता है। विद्वानों ने यह तिथि ईस्वी पूर्व ६५४ और ६१७ के बीच में रक्खी है। यूनान के प्रसिद्ध और सर्वप्रथम इतिहासकार हिरोडोटस ने भी अपने इतिहास में ईओनिआ और कारिआ के सैनिकों का मिस्र देश के राजा के यहाँ नौकरी करने का उल्लेख किया है। अबू सिम्बेल के अभिलेखों से प्रकट है कि ईस्वी पूर्व सातवीं शताब्दी में ग्रीक लिपि अपने पूर्ण रूप को प्राप्त हो गई थी। अबू सिम्बेल के नौ अभिलेखों के समस्त अक्षरों में लगभग पूर्ण साम्य है। एक-दो अक्षरों में जो रूप-विभिन्नता है वह निस्सार है, और अन्य बातों में जो समानता है, वह प्रमाणित करती है कि ईस्वी पूर्व सातवीं शताब्दी में ग्रीक लिपि बहुत उन्नति कर गई थी, यहाँ तक कि विदेशी राजाओं के भी जो ग्रीक सैनिक नौकरी करते थे, वे साक्षर थे। और ये ग्रीक सैनिक ग्रीस (यूनान) के विभिन्न प्रदेशों के निवासी थे। साक्षरता के इतने अधिक विस्तार के लिए काफी समय अपेक्षित है। इससे प्रकट हो जाता है कि ग्रीक लिपि अवश्य ही बहुत पुरानी है। वह कितनी पुरानी है, तत्कालीन फ़िनीशियन और कारियन लिपियों की तुलना करके मालूम हो सकता है। कारियन और ईओनिअन लिपियाँ एक दूसरे से बहुत विभिन्न हैं, यहाँ तक कि इनमें से एक को जाननेवाला दूसरी से अवश्य ही अपरिचित रहेगा। इतनी अधिक विभिन्नता, और वह भी दो पड़ौसियों की लिपियों में, यूनान देश के लिपिज्ञान की प्राचीनता को ही प्रमाणित करती है।

ग्रीक और फ़िनीशियन अभिलेखों के तुलनात्मक अध्ययन से ज्ञात हो जाता है कि जहाँ ग्रीक अभिलेखों में पहले दाईं ओर से बाईं ओर को लिखा जाता था, और बाईं ओर से दाईं ओर को लिखा जाता है। ध्वनि-विकार अब भी स्पष्ट हैं। चार कंठ्य ध्वनियाँ और दो अर्ध-व्यञ्जनात्मक ध्वनियाँ **अलफ़ा, ऐपसाइलौं, ईटा, ओमाइक्रौं**, नू और **आइआटा** में परिणत हो गई हैं, और तीन और नए वर्णाक्षर, जो किसी भी सैमिटिक वर्णमाला में नहीं हैं, जोड़ दिये गये हैं, और लगभग आधे से अधिक वर्णाक्षरों में आकृतिमूलक परिवर्तन भी कर दिये गये हैं। वे सभी विशेषताएँ, जो योरप और एशिया के वर्णाक्षरों में दृष्टिगोचर होती हैं, ईस्वी पूर्व सातवीं शताब्दी में प्रकट होने लगी थीं।

फ़िनीशियन वर्णमाला में जो इतने परिवर्तन हुए, उन्हें अवश्य ही बहुत समय लगा होगा। बाईं ओर से दाईं ओर को लिखना, स्वरों में वृद्धि होना, इनमें तो अधिक समय की अपेक्षा होती ही है; वर्णाक्षरों के रूप-परिवर्तन में ही अनेक पीढ़ियाँ लग गई होंगी। अन्य वर्णमालाओं के अध्ययन से प्रकट हो जाता है कि रूपांतर बहुत धीमा होता है, और एक दो पीढ़ियों में जो कुछ हो पाता है, वह तो नहीं के बराबर ही—वह मालूम ही नहीं होता।

अबू सिम्बेल के अभिलेख की वर्णलिपि को अपना पूर्ण रूप पाने में अनेक शताब्दियाँ लग गई होंगी, इसमें कोई भी शक नहीं।

जब सैमिटिक वर्णमाला ग़ैर-सैमिटिक लोगों के पास पहुँची तो उसमें अनेक परिवर्तन हो जाना और त्रुटियों का होना तो अवश्यम्भावी था ही। अतिरिक्त वर्णों व ध्वनियों का लोप हो जाना अथवा सजातीय ध्वनियों का सङ्केत बन जाना, और नवीन वर्णों का प्रकाश में आना कोई आश्चर्य उत्पन्न नहीं करते।

जब ग्रीक वर्णमाला बनी तो सैमिटिक अर्ध-व्यञ्जन और कण्ठ्य ध्वनियाँ स्वरों में परिणत हो गईं; सप्राण स्पर्श वर्णों और अन्य स्वरों का विकास हुआ, और ऊष्म वर्णों में परिवर्तन हुए; कुछ अक्षरों के रूप बदले और कुछ ज्यों-के-त्यों बने रह गये।

सिम्बेल के अभिलेखों में **सिग्मा** का आदिम रूप ज्यों-का त्यों बना हुआ है। जिस रूप में यह आजकल प्रयुक्त होता है, वह आठवीं शताब्दी से अधिक पुराना नहीं है। **ज़ीटा** का प्राचीन रूप ईत्रुस्कन लिपि से लिया गया था। इसका जो रूप सिक्कों पर अभिलिखित मिलता है, वह 'विश्व-भारती' के तीसरे अंक के पृष्ठ ३५१ पर तीसरे ख़ाने में Z वर्ण के सामने दिया हुआ है। **एपसाइलों** का आदिम रूप आधुनिक रूप से अधिक भिन्न नहीं है। **आइओटा** का प्राचीन रूप उक्त पृष्ठ पर तीसरे ख़ाने में अंग्रेज़ी I वर्ण के सामने दिया हुआ है। इसको और अधिक सरल करने की गुञ्जाइश ही नहीं रही, इसी से यह एक सीधी लकीर के रूप में है। **ताउ** पहले क्रॉस के आकार का था, फिर ऊपर की चोटी ग़ायब कर दी गई और अंग्रेज़ी वर्णाक्षर 'टी' (T) के रूप में व्यवहृत होने लगा। **रहो** का प्राचीन रूप अंग्रेज़ी वर्णाक्षर R के सामने विश्व-भारती के उक्त पृष्ठ पर दिया हुआ है। ग्रीक **डेल्टा** से अन्तर दिखाने के लिए इसमें पुछल्ला और लगा दिया गया। यही अब 'आर' (R) के रूप में अभी तक अंग्रेज़ी में व्यवहृत होता है। प्राचीन हस्तलिखित लिपियों में **रहो** को लकीर के कुछ नीचे से P के अनुसार लिखते हैं। **'बीटा'** के प्राचीन रूप अनेक हैं। अबू सिम्बेल के अभिलेख पर दिया गया इसका रूप बहुत पीछे का है। प्राचीनतम अभिलेखों में **'गामा'** का पता लगाना बहुत कठिन है। इसको चार प्रकार से लिखा गया है। **'मू'** और **'नू'** का नामकरण **ज़ीटा** और **ईटा** के वज़न पर किया गया होता है। इधर ग्रीक-वर्णमाला का विकास ईओनिआ के नगरों में हो रहा था, एशिया माइनर में भी इस वर्णमाला के साथ-साथ अन्य वर्णमालाओं का विकास यूनानियों से इतर जातियों में हो रहा था। इनमें से प्रसिद्ध वर्ण-मालाएँ हैं अरामिअन, फ्रीज़िअन, कारिअन और जीसिअन। इन वर्णमालाओं में बहुत-कुछ ग्रीक वर्णमाला का छाप है। अरामिअन का उल्लेख पिछले अंक में हो चुका है। फ्रीज़िअन वर्णमाला का पता प्रिमनीसस के अभिलेखों से मिला है। यह ग्रीक-वर्णमाला का कोई प्राचीन रूप ही है। दो या तीन अक्षर स्पष्टतया थीरा में प्राप्य रूपों से मिलते-जुलते हैं। अबू सिम्बेल में चार अभिलेख किसी अज्ञात लिपि में हैं। सन्देह किया जाता है कि यह कारिअन लिपि में हैं। इस कारिअन लिपि में तीस और चालीस के बीच में अक्षर प्रयुक्त हुए हैं, और अधिकांश ग्रीक लिपि से मिलते-जुलते हैं। लीसिआ प्रदेश की वर्णमाला लीसिअन है। लीसिआ में एक अभिलेख मिला है, जिसमें २५० सतरें हैं। ईस्वी पूर्व लगभग पाँचवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में लौंगिमेनस नामक एक उच्च पदाधिकारी ने इसको लिख-वाया था। लीसिअन वर्णमाला आर्य वर्णाक्षरों से प्रकट रूप में विभिन्न है। २८ वर्णाक्षरों में से आधे से अधिक ग्रीक हैं, और शेष वर्णाक्षरों के बारे में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। जब सिकन्दर महान् ने सम्पूर्ण ग्रीस पर अपना आधिपत्य जमा लिया, तब से लीसिअन वर्णमाला का स्थान ग्रीक ने पाया। कालान्तर में लीसिअन वर्णमाला का महत्त्व बहुत-कुछ घट गया। लीसिअन में आधे व्यञ्जन हैं और आधे स्वर। व्यञ्जनों में दो के अतिरिक्त सभी फ्रीज़िअन हैं। स्वरों में चार ग्रीक हैं, और शेष सब ग्रीक से इतर हैं। जो ग्रीक वर्ण हैं, वे फ्रीज़िअन के रूपान्तर मात्र हैं।

एक और वर्णमाला का पता साईप्रस में लगा है। डाली नगर में, प्राचीन इदालिअन नगर के निकट, १८६६ में एक तख्ती मिली है, और उसके साथ ही फिनीशियन में उसका उल्था भी है, जिसकी तिथि है ईस्वी पूर्व लगभग चौथी शताब्दी। इस वर्णमाला को सिप्रिओट कहते हैं। यह एक स्वतन्त्र आक्षरिक (syllabic) वर्णमाला है। इसका सैमिटिक से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं मालूम होता। कम-से-कम इसका अभी तक कोई प्रमाण नहीं मिला है। यह 'वर्णमाला' आक्षरिकता के आगे न बढ़ सकने के कारण मृतप्राय हो गई, और जो वर्णमालाएँ अधिक विकसित हो सकीं, वे उसकी स्थानापन्न हो गईं। सम्भव था कि यदि वह अधिक विकसित हो जाती तो पश्चिमी जगत् की भाषा बन जाती।

योरपीय सभ्यता के प्रसार में यदि फिनीशियन जाति ने व्यापार द्वारा सबसे पहले हाथ बँटाया तो यूनानियों ने विदेशों में बसकर उसको और आगे बढ़ाया। भूमध्य-सागर के तटवर्ती प्रदेशों में सबसे पहले बसनेवाले यूनानी ही थे। जहाँ-जहाँ ये बसे, वहाँ-वहाँ विभिन्न लिपियाँ प्रादु-र्भूत हुईं। इनमें से मुख्य हैं ईत्रुस्कन, लातिन, तथा रूनिक; और इनके पश्चात् की लिपियाँ हैं ग्लेगोलिथिक, गौथो-गौमिक, सिरिल्लिक, अलबानिअन और कौप्टिक।

लातिन और ईत्रुस्कन जातियों की वर्णमाला इटालिक के नाम से प्रचलित है। इटालिक वर्णमालाएँ पाँच हैं— ईत्रुस्कन, औस्कन, अम्ब्रिअन, लातिन और फ़ालिस्कन। एक दूसरे के निकटवर्ती प्रदेशों की वर्णमालाएँ होने पर भी इनमें विशेष अन्तर है। लातिन बाईं ओर से दाईं ओर

को लिखी जाती है और शेष सब दाईं ओर से बाईं ओर को। इट्रुस्कन में कोमल स्पर्श वर्णों का अभाव है; ठीक इसके उलटा लातिन में है। इट्रुस्कन और अम्ब्रिअन में 'सान' और 'सिग्मा' प्रयुक्त होते हैं, और शेष तीनों में केवल 'सिग्मा' ही व्यवहृत होता है।

फालिस्कन और लातिन वर्णमालाओं का मूल स्थान चाल्सीडिया है। इट्रुस्कन वर्णमाला के मूल के लिए कोई तो एशिया और कौरिन्थ् के कुम्भकारों को बताता है, और कोई-कोई सीधे फिनीशियन वर्णमाला को। अस्तु सम्पूर्ण इटालिक वर्णमालाओं का मूल चाल्-सीडिया है। यह कहना कठिन है कि इन सबकी अपनी एक ही लिपि थी। लिखित प्रमाणों के बल पर भाषाविदों का कथन है कि जब यूनानी जाति इटली में आकर बसी तो वह एक ही वर्णमाला काम में लाने लगी। इसको पेलासजिक (Pelasgic) नाम दिया गया है। इटालिक वर्णमालाओं और पेलासजिक वर्णमाला के तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि जो भी विभिन्नताएँ पाई जाती हैं, वे केवल दोषपूर्ण लेखन के कारण। अतएव कहा जा सकता है कि इटली की सम्पूर्ण वर्णमालाएँ पेलासजिक वर्णमाला से निकली हुई और पेलासजिक वर्णमाला का मूल चाल्सीडिया की आदिम वर्णमाला थी।

राजनीतिक कारणों से और सब इटालिक वर्णमालाओं का लोप हो गया, केवल लातिन ही शेष रही। यही इटली की अकेली वर्णमाला बनी। रोम नगर की वर्णमाला होने के कारण यह ईसाई-जगत् की वर्णमाला बन गई। लातिन अनेक बातों में फिनीशियन से मिलती-जुलती है (देखो पृष्ठ ३५१)। रोमन लोगों के प्राचीनता के पुजारी होने, प्रस्तर अभिलेखों पर अधिकाधिक प्रयुक्त होने और व्याकरण के नियमशील होने के कारण, लातिन में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हो पाये। लातिन वर्णमाला के [illegible] अक्षर फिनीशियन वर्णमाला के हैं, और केवल [illegible] नये चिह्न हैं।

रोमन-वर्णमाला का प्रारम्भिक इतिहास प्रस्तर अभिलेखों और [illegible] पर आधारित है। प्रस्तर के [illegible] अधिक स्थायी होते हैं। लेकिन जब [illegible] प्रयोग में आने लगे तो वर्णाक्षरों का [illegible] रूप बदल गया। कागज पर लिखा [illegible] वर्णाक्षरों का रूप प्रस्तर-अभिलेखों पर प्रयुक्त [illegible] वर्णमाला का ही भ्रष्ट रूप है।

रोमन साम्राज्य का पतन होने पर प्रस्तर वर्णाक्षरों के रूप में परिवर्तन प्रारम्भ हुआ। जब फिर से रोमन संस्कृति का उद्धार किया गया और पुस्तकों और पेपिरस पर लिखे जाने योग्य वर्णाक्षरों की आवश्यकता हुई, तो प्रस्तर वर्णाक्षरों के भ्रष्ट रूप को ही अपनाया गया। द्रुत गति से लिखी जानेवाली यह लिपि माइनस्क्यूल (Minuscule) कहलाई। इसका रूप सुन्दर और पढ़ने में स्पष्ट था।

वर्णाक्षरों के प्रारम्भिक इतिहास में तीन प्रकार की लिपियों के दर्शन होते हैं—एक तो हस्ताक्षर और नाम आदि लिखने योग्य लिपि; इसको बृहत् लिपि (Capital) कहते हैं। दूसरी चिट्ठी-पत्री आदि लिखने योग्य लिपि जो अनवरुद्ध गति से लिखी जाती थी। इसीलिए इसे अन-वरुद्ध लिपि (Cursive) नाम दिया गया। तीसरी लिपि थी पुस्तकों में प्रयोग करने के लिए। इसको अंसिअल (Uncial) कहा गया। 'अंसिअल' शब्द अंग्रेज़ी के इंश या इंच (Inch) का विशेषण है, परन्तु यह अक्षर एक इंश (इंच) ऊँचे हर्गिज़ नहीं लिखे जाते। सार्वजनिक प्रयोग में होने के कारण यह अब भी इसी नाम से पुकारा जाता है। अंसिअल अक्षर कुछ गोलाई लिये हुए और थोड़े तिर्छे होते हैं। नवीं शताब्दी तक अंसिअल और अनवरुद्ध लिपियाँ स्वतन्त्र रूप से विकसित होती रहीं। इसके पश्चात् एक नई लिपि का विकास हुआ। अक्षर छोटे होने के कारण ही यह माइनस्क्यूल कह-लाई। इसमें विशेषता यह थी कि दो समानान्तर रेखाओं के ऊपर और नीचे तक इसके अक्षर लिखे जा सकते थे। उदाहरणार्थ अंग्रेज़ी के बृहत्लिपि रूप (कैपिटल) B. D. H. P. हैं और इसी के माइनस्क्यूलर रूप b, d, h, p हैं। माइनस्क्यूलर लिपि बारहवीं शताब्दी में अपने पूर्ण रूप को प्राप्त हुई। यही लिपि अभी तक पुस्तकों में व्यवहृत होती है।

ग्रीक हस्तलिखित लिपियों की सर्वप्रथम प्रतियाँ मिस्र देश में मिली हैं। यह प्रमाणित करती है कि मिस्र ग्रीक-निवासियों का उपनिवेश रहा है। प्रतियों के सुरक्षित रहने का कारण है मिस्र-निवासियों के मृतक के साथ ही समाधि-स्थल में पुस्तकों को भी समाधिस्थ करने की प्रथा और वहाँ की जलवायु का सहयोग। ग्रीक-लिखित हस्त-लिखित प्रतियों के प्राचीनतम नमूने [illegible] की पुस्तक के दो कटे-फटे पृष्ठ हैं। इनमें लगभग ५०० पंक्तियाँ हैं। ये [illegible] में एक समाधि में उपलब्ध हुए थे। ये ईसा पूर्व [illegible] शताब्दी के माने जाते हैं।

लातिन वर्णाक्षर भी ग्रीक-वर्णाक्षरों की तरह चार प्रकार से लिखे जाते हैं—कैपिटल, अंसिअल, कर्सिव और माइनस्क्यूल। लातिन का अंसिअल रूप ग्रीक की देखा-देखी हुआ और बहुत काल के पश्चात्।

लातिन के कर्सिव रूप के उदाहरण कोई अधिक संख्या में प्राप्य नहीं हैं। १८७५ में पाम्पिआई नगर में १३२ मोम की तख्तियाँ मिली हैं। इनमें सन् ५५ और ५६ के काल में एक कोषाध्यक्ष का लेन देन का ब्योरा है। अनुमान किया जाता है कि पाम्पिआई के ध्वस्त होने से पहले कम-से-कम दो सौ साल तक कर्सिव लिपि व्यवहार में रही। इसके प्रमाण में कहा जाता है कि जूलियस सीज़र भी d को a की तरह लिखता था। लातिन में शॉर्टहैण्ड के लिए भी लिपि थी। कवि मार्शल के समय में जल्दी-जल्दी लिखने के लिए अवश्य एक लिपि थी। आधुनिक शॉर्टहैण्ड से छठी शताब्दी की यह लिपि बहुत-कुछ मिलती-जुलती है।

रोमन साम्राज्य के नष्ट होने पर अनेक जातीय लिपियाँ प्रकट हुईं। फ्रांस में मैरोविजियन नामक लिपि का उदय हुआ; इटली में लॉम्बार्डिक लिपि का; स्पेन में वीज़ीगौथिक लिपि का और आयर्लैंड में आइरिश लिपि का। आयर्लैंड के मठों में संत पैट्रिक के द्वारा आइरिश लिपि का प्रचार बताया जाता है। इस आइरिश लिपि का योरप की लिपियों पर विशेष प्रभाव पड़ा। आयर्लैंड के साधुओं ने जर्मनी, फ्रांस, इटली और स्विट्ज़र्लैंड में जाकर मठ स्थापित किये, और इस प्रकार आइरिश लिपि का प्रचार योरप महाद्वीप में खूब हुआ। अंग्रेज़ों (Anglo-Saxons) ने लिखना रोम के पादरियों और आयर्लैंड के साधुओं से सीखा। आइसलैंडिक लिपि भी आइरिश वर्णाक्षरों की नक़ल ही है। ऐंग्लो-सैक्सन लिपि कैरोलाइन लिपि की, जिसको सम्राट् शार्लमेन के मित्र तथा गुरु आलक्विन (Alcuin) ने लौम्बार्डिक माइनस्क्यूल लिपि और रोमन अंसिअल लिपि के संयोग से बनाया था, जननी थी और इसीलिए वह रोमन लिपि की भी जननी हुई। रोमन लिपि में ही अंग्रेज़ी का विशाल साहित्य लिखा जाता है। कैरोलाइन लिपि का प्रचार योरप में आलक्विन के शिष्यों ने किया। बारहवीं शताब्दी का प्रारम्भिक काल इसके पूर्ण विकास का काल था। उसके अंतिम चरण में इस लिपि में परिवर्त्तन होने आरम्भ हो गये। तेरहवीं शताब्दी में वर्णाक्षर कोण रूप में परिवर्तित हो गये और चौदहवीं शताब्दी में वर्णाक्षरों में क्रूस का रूप दीखने लगा। ... लिपि को ही गौथिक-लिपि के नाम से पुकारते हैं, और अधिकांश जर्मन भाषा की पुस्तकें इस लिपि में छपी हुई हैं। अब वे रोमन लिपि में छपती हैं। जब पंद्रहवीं शताब्दी में मुद्रण-कला जर्मनी प्रदेश से इटली को ले जाई गई, तो गौथिक में परिवर्त्तन किये गये। इन्हीं परिवर्त्तनों को रोमन लिपि के रूप में हम जानते हैं। १४७० में यह रोमन लिपि रोम से पैरिस ले जाई गई और यहाँ सॉरबौं (विश्वविद्यालय) में फ्रांस देश में सबसे पहली पुस्तक छपी। यही रोमन वर्णाक्षर पैरिस से लंदन लाये गये, और रोमन लिपि में जो सबसे पहली पुस्तक मुद्रित हुई, वह हैनरी अष्टम द्वारा लिखित एक पुस्तक थी, जिससे प्रसन्न होकर पोप ने हैनरी को 'धर्मरक्षक' (Defender of the Faith) की उपाधि से विभूषित किया। यह उपाधि आज के दिन भी अंग्रेज़ी सम्राटों के सिक्कों पर अभिलिखित है। यह भी हो सकता है कि पोप के प्रसन्नतार्थ रोमन लिपि में पुस्तक छापी गई। इस प्रकार रोमन लिपि गौथिक लिपि को हटाकर इंग्लैंड की लिपि बनी। गौथिक लिपि का प्रचार जर्मनी, हॉलैण्ड और डैन्मार्क में आज भी है। यह लिपि रोमन लिपि-जैसी सुन्दर नहीं है, और न यह उतनी सरलतापूर्वक पढ़ी ही जा सकती है। यह गौथिक और रोमन लिपियों की तुलना करने से शीघ्र ही स्पष्ट हो जाता है। जिस लिपि में जिस देश की प्रथम पुस्तक मुद्रित हुई, उस देश में उसी लिपि का प्रचार बढ़ता गया। प्रचार का श्रेय मुद्रण-कला को है। वर्णाक्षरों के इतिहास में धातु के ढले हुए अक्षरों का अस्तित्व एक महत्त्वपूर्ण घटना है। रोमन लिपि का प्रचार अधिकाधिक बढ़ता जा रहा है। एशिया में भी बहुधा पुस्तकें रोमन लिपि में ही छापी जाती हैं, और भारतवर्ष में भी कुछ नेता इसी लिपि को राष्ट्रीय बनाने के पक्ष में हैं। मुस्तफ़ा कमालपाशा ने भी टर्की में रोमन लिपि को ही अपनाया है। जर्मनी भी रोमन लिपि की ओर झुक रहा है, और रूस में भी रोमन लिपि की ओर अधिक आकर्षण है।

लातिन वर्णाक्षरों से पश्चिमी योरप के वर्णाक्षरों का उद्भव हुआ, और पूर्वीय वर्णाक्षरों का उद्भव ग्रीक वर्णाक्षरों से हुआ। पूर्वीय वर्णाक्षरों में प्राचीनतम कौप्टिक (Coptic) है। यह डेढ़ लाख से कुछ कम जनता की धार्मिक भाषा है। कौप्ट जाति ईसाई धर्म की प्राचीनतम रूढ़ियों की उपासक है। कौप्टिक भाषा में सेमिटिक और ग्रीक का बहुत मिश्रण है। इनकी प्रार्थना-पुस्तकें कौप्टिक में लिखी हुई हैं, और उनके सामने अरबी में उल्था छपा रहता है।

(बाईं ओर) मेलानेशियनों के एक शक्तिशाली कबीले पर शासन करने-वाली एक मुखिया स्त्री। इसके अद्भुत शृंगार पर ध्यान दीजिए।

(ऊपर) सोलोमन द्वीप की एक युवा लड़की। इसके कान का निचला भाग छिदा हुआ है और उसमें सीपी के भारी टुकड़े लटक रहे हैं, जिससे उसका चमड़ा फैल गया है। इसके बाल खड़िया मिट्टी से सने हैं।
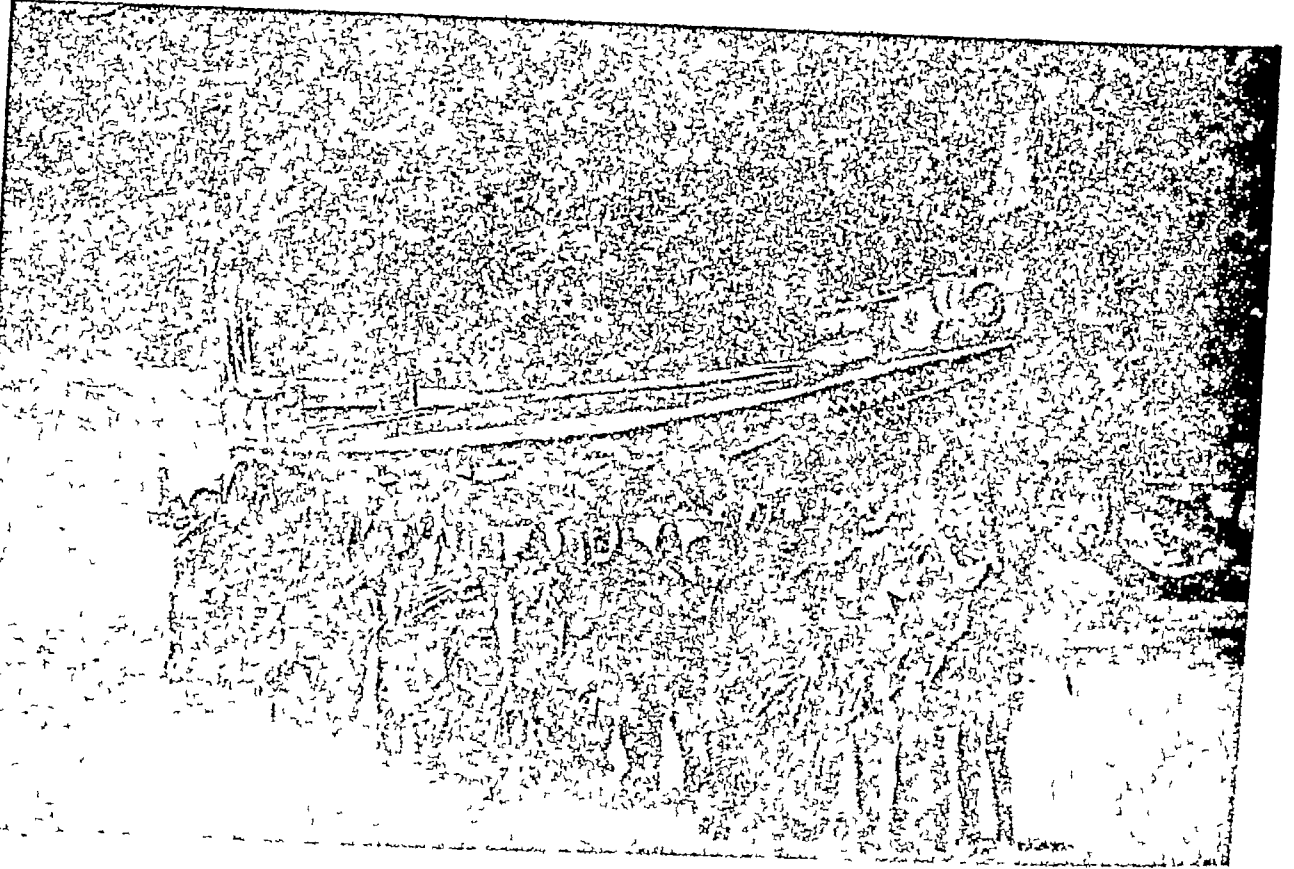
उत्सव के समय रण-नौका को ऊंचा उठाकर शक्ति-प्रदर्शन तथा रणनाद करते हुए मेलानेशियन

नग्न हड्डी की तरह फिर से ऊँचा कर उठ आती हैं। इसी प्रकार के कई फेरे लगते हैं। समुद्र की लहरें अनेक बार तीस-तीस फीट ऊँचा उठ आती हैं। फिर थोड़ी देर में सब ज्यों-का-त्यों शांत हो जाता है।

पर अनेक मौक़े ऐसे आते हैं, जब यह शांति भी क्षणिक रहती है। फिर से दुबारा धक्का इतने ज़ोरों का आता है कि पूरे टापू के ही टुकड़े-टुकड़े हो गया दीखता है। ये धक्के धीरे-धीरे कम होते हैं। दस-दस मिनट के अन्तर पर भूमि हिलती दिखाई देती है। यह एक-एक सप्ताह तक जारी रह जाता है। इसके बाद कुछ घंटों के अन्तर पर धक्के लगते हैं; शांति बड़ी ही क्षणिक दीखती है। अनेक दिनों तक बिलकुल शांत हुए तो ये टापू कभी रहते ही नहीं।

गाँव-के-गाँव अनेकों बार पूर्णतया नष्ट हो जाते हैं। जहाँ पर झोपड़े खड़े थे, उन स्थानों को पहचानना कठिन हो जाता है। टापू के निवासी इसे *प्रलय आ गया* समझते हैं। पर अपेक्षाकृत शांति आने पर उनके भी मन शांत होते हैं। गरजनेवाले बिजली के कड़ाके के काले बादल लोप होते हैं। निवासी फिर से मुसकराने लगते हैं। पर साथ ही पिछले दिनों की याद कर काँप भी जाते हैं।

यहाँ ही उनकी मुसीबतों का अन्त नहीं। प्रकृति के शांत रहने पर भी बीमारियाँ तो लगी ही रहती हैं। कभी-कभी बीमारियाँ बाहरी देशों से आनेवाले व्यापारियों के साथ-साथ आती हैं, और टापूवालों के लिए बड़ी भयानक साबित होती हैं। खाँसी, कफ़, इन्फ्लूएंज़ा से भी ये लोग मरने लगते हैं। अपने यहाँ की बीमारियों का तो वे किसी क़दर इलाज कर लेते हैं, पर बाहर से आई बीमारियों के सामने ये बिलकुल लाचार हो जाते हैं।

मलेरिया तो यहाँ बारहो महीने लगा रहता है। इसी लिए बच्चों तक के पाँव-हाथ सुतली-जैसे पतले और पेट नगारे-जैसे निकले दीखते हैं। इस पर भी मलेरिया के मच्छर और भी दिक़ करते जाते हैं। उनके मारे शायद ही कोई चैन ले पाता होगा। यदि उनसे बचने के लिए चादर ओढ़ी जाय तो चन्द मिनटों में ही आदमी पसीने से सराबोर हो जाता है।

फिर भी इस प्रदेश में मनुष्य निवास करते हैं। ये मनुष्य अपने यहाँ की प्रकृति से मिले हुए हैं, इसीलिए शायद वे जीवित भी रह पाते हैं। हम लोगों की तरह वे अपने को प्रकृति से अलग नहीं करते। शायद इसीलिए प्रकृति के लिए उनकी भाषा में कोई शब्द नहीं है। उनके [illegible] पृथ्वी, आकाश, पानी, हवा, आग, पशु और आदमी ही सब कुछ हैं। इन्हीं के बीच वे रहते हैं; और अपने को जीवित रखने के लिए अनवरत संग्राम किया करते हैं।

इन टापुओं के आदमी जानते हैं कि समुद्र विशाल है; वह आदमी से कहीं अधिक ताक़तवर, ख़तरनाक और गहरा है। सिर्फ़ विश्वास के द्वारा ही उससे काम निकाला जा सकता है। मनुष्यों को वह नष्ट कर दे अथवा बचा रखे, यह उसी के हाथ में रहता है।

फिर भी अपने पुराने ढंग की छोटी-छोटी नौकाओं में यात्रा करने के लिए वे बाध्य होते हैं। पर अपनी यात्रा आरंभ करने के पहले समुद्र को दयालु और नम्रहृदय बनाने के लिए वे अपने प्रदेश में पैदा होनेवाले फल अर्पण करते हैं। सिर्फ़ इतना ही नहीं, उस नाव को तैयार करने तथा उसकी सब तरह की रस्में अदा करने में उन्हें एक साल लग जाता है। वे अपने पुराने ढंग के कुल्हाड़े से विशाल वृक्षों को खरोंचते हैं; आरे के अभाव में तख्ता तैयार करने में उन्हें अथक परिश्रम करना पड़ता है। नारियल के रस्से आदि जुटाने में भी कम परिश्रम नहीं। नाव किसी तरह तैयार हो जाती है। पर उसकी पहली यात्रा के पहले उसके उपलक्ष में एक मनुष्य की बलि चढ़ाकर उसे संतुष्ट करना पड़ता है। बल्कि ख़ून का नाव में लगाया जाना आवश्यक नहीं होता; आदमी उसी मौक़े के लिए मारा गया है, सिर्फ़ यह काम ही यथेष्ट गिना जाता है।

भयानक प्राकृतिक परिस्थिति तथा सदा भय की अवस्था में रहने के कारण मेलानेशियन स्वभाव से ही अन्धविश्वासी होते हैं। यदि उनका कोई धर्म कहा जाय तो वह यह अन्धविश्वास ही हो सकता है। अपने को जीवित रखने के लिए, प्रकृति के साथ संघर्ष में धैर्य लाने के लिए, उसके आक्रमणों को सहन कर सकने के लिए, किसी-न-किसी प्रकार के विश्वास की आवश्यकता पड़ती है। मेलानेशियनों का यह विश्वास बहुत तरह के देवी-देवता और भूत-प्रेतों में होता है। इन्हीं को वे भूकंप का असली कारण भी मानते हैं।

इन टापुओं के 'पंडितों' के अनुसार ये टापू एक महान् घड़ियाल की पीठ पर स्थित हैं। जब तक लोग उस घड़ियाल को समुचित मात्रा में भेंट चढ़ाते जाते हैं, वह चुप रहता है, पर भेंट की मात्रा कम होते ही वह असंतुष्ट हो जाता है, और क्रोध में आकर टापुओं को हिलाने लगता है। इसी भय से उस भयानक घड़ियाल को हमेशा ही सुअर के गले का गोश्त, सुपारी, सिंघाड़े आदि चढ़ाये जाते हैं। मेलानेशियनों के हरएक काम इसी तरह के विश्वास

(ऊपर) मेलानेशियनो का एक वृद्ध ओझा

ये इन लोगों में जादू-टोना, मन्त्र-तन्त्र, दवा-दारू आदि के आचार्य माने जाते हैं।

(दाहिनी ओर) बाजा बजाते और नृत्य करते हुए मेलानेशियन

ये अपने प्राचीन ढंग के बाजे बजाते हुए उनकी गत पर पैरों से ताल देते हुए नृत्य करते हैं।

ऐसे मौक़ों के नाचों में एक ख़ास 'लड़कियों' का नृत्य होता है। लड़कियाँ अपने को उस दिन खूब सजाती हैं और अपने नृत्य द्वारा बाज़ार करके लौटने वालों के लौटने पर प्रसन्नतासूचक नाच दिखाती हैं। ख़ूब हँसी-मज़ाक और धूम-धाम रहती है। इसके बाद लड़कियाँ एक-एक कर अपने प्रिय युवकों के साथ लोप हो जाती हैं।

इस मौके का एक दूसरा नृत्य 'पन्ची-मत्स्य-नृत्य' होता है। ये पन्ची एक विशेष प्रकार के होते हैं और सिर्फ़ इन्हीं टापुओं में पाये जाते हैं। इन पन्चियों की यह विशेषता होती है कि ये अपने पंख का ज़ोर लगाये बिना ही उड़ जाते हैं। मछलियों को पकड़नेवाले पन्चियों पर ये एकाएक टूटकर उनका शिकार छीन लेते हैं। नृत्य के समय इन पन्चियों-जैसे ही स्वाँग इन टापुओं के रहनेवाले बनाते हैं। इसके लिए वे पत्ते और डालियों का व्यवहार करते हैं। ठीक इसी भाँति अपने पास के समुद्र में पाई जानेवाली बड़ी भयानक मछलियों का भी वे स्वाँग बना लेते हैं। फिर अपने नृत्य द्वारा वे पन्ची और भयानक मछली का संग्राम दिखाते हैं। मछली भागने की हज़ार कोशिशें करती है, किन्तु पन्चियों के झुंड से वह बच नहीं सकती। ये नृत्य इतने भली-भाँति से किये जाते हैं कि पहली बार देखनेवालों के लिए विश्वास करना कठिन हो जाता है कि पन्ची और मछलियों के बदले मनुष्य इस प्रकार का नृत्य कर रहे हैं।

अपने यहाँ के पन्ची या मछली अथवा अन्य जानवरों की भली-भाँति नकल कर पाने में मेलानेशियन उतने दूर तक सफल होते हैं, इसका कारण यह है कि उनका बचपन से ही उन जीव-जन्तुओं के साथ एक विशेष प्रकार का सहवास रहता है। दोनों ही एक-दूसरे के बहुत अधिक निकट रहते हैं और विरोधी प्राकृतिक परिस्थित में विकास का मार्ग ढूँढते रहते हैं। मेलानेशियन लोगों का जानवरों के प्रति प्रेम देखने ही लायक़ होता है। उनके प्रति कभी किसी तरह की ज़्यादती करते वे नहीं देखे गये।

सिर्फ़ इतना ही नहीं, जानवरों के जीवन को उतने निकट से निहारते रहने के कारण मेलानेशियन और भी बहुत सी बातें सीख जाते हैं, जिन्हें हमारे सभ्य संसार के लोगों के लिए कर पाना कठिन होता है। इन लोगों के शरीर का विकास प्राकृतिक ढंग पर होता है और चलने, दौड़ने, कूदने, बर्छा फेकने आदि कार्यों में ये हमारे यहाँ के प्रवीण लोगों से भी अधिक कुशल साबित होते हैं।

इनका जीवन सभ्यता की ओर अधिक विकसित न होने के कारण मेलानेशियन अपने को हमसे कहीं अधिक प्रकृति के निकट पाते हैं। इनके भीतरी भावों और उसके बाह्य प्रकाशन में अधिक अंतर नहीं होता। इसी सिलसिले के अनुसार वे काम-भाव को भी बड़े ही सरल और सीधे सादे रूप में लेते हैं। मैथुन से संबंध रखनेवाली बातें हमारे समाज की तरह न तो उनके लिए कोई भारी समस्या ही रहती हैं और न इनमें वह अस्वाभाविक ढंग का ही होता है। लड़के-लड़कियों का ध्यान बचपन में जानवरों और पेड़-पौधों की ओर खिंचता ही रहता है।

थोड़ी उम्र हो जाने पर लड़कियों को एक विशेष प्रकार का कष्ट गोदना गोदवाते समय सहना पड़ता है। उनके सारे शरीर में नीले रंग की धारियाँ खींच दी जाती हैं, जिससे वह पतले झलमल बिने हुए कपड़े के समान दीखने लगता है। कई टापुओं की लड़कियाँ नग्न ही रहती हैं। शायद इसीलिए अपनी छाती और जाँघ के सौंदर्य को बढ़ाने के ख़याल से वे गोदना गोदवाती हैं। यह एक प्रकार से उनका धार्मिक कृत्य-सा हो गया है। गोदना हो जाने के बाद लड़कियों का ध्यान उन गोदनों के रस्म की ओर रहता है।

इसके बाद लड़कियों के मासिक धर्म आरंभ होने का समय आता है। पर यह उनके लिए कोई ख़ास समस्या नहीं उपस्थित किया करता। उन्हें युवकों के साथ प्रेम करने के काफ़ी मौक़े मिलते हैं। वे इन मौक़ों का स्वतंत्रतापूर्वक उपभोग भी किया करती हैं। पर इतना होने पर भी इनमें शादी की प्रथा पवित्र मानी जाती है और व्यभिचार भयानक अपराध गिना जाता है, जिसके लिए ख़ून-ख़राबी तक की नौबत आ जाती है।

कामवासना के भूखी न रहने के कारण उसके द्वारा आनेवाली समस्यायें भी इन लोगों के सामने नहीं रहतीं। लड़कियों को 'प्रेम' के क्षेत्र में कभी भूखा रहना ही नहीं पड़ता। इसीलिए उनमें अस्वाभाविक मानसिक या शारीरिक क्रियाओं की गुँजायश ही नहीं रह जाती।

लड़कों के जीवन का विकास भी बहुत-कुछ इसी ढंग पर होता है। सयाने होने के पहले मछली मारने, शिकार और लड़ाई करने में उनका समय बीतता है। लड़ाई से संबंध रखते हुए खेल ही ये खेला करते हैं। ये इस खेल के समय भी जातियों में बँट जाते हैं। लड़ाई के वक़्त क़ैद करने का भी ये खेल करते हैं और क़ैदियों को सुअरों की तरह टाँगकर ले जाते हैं। कभी-कभी क़ैदी को क़त्ल करने और उसका मांस खा डालने का भी खेल ये खेलते हैं। पर इन खेलों में एक भारी विशेषता यह होती है कि इनके

कूकी लोगों के बाँस के मकान

ये मकान दुमंज़िले होते हैं। समूचा ढाँचा बाँस के खंभों पर टिका होता है। छत बाँस और घास से छाई रहती है। निचली मंज़िल में इनके पालतू जानवर रहते हैं। ऊपर चढ़ने के लिए बाँस की सीढ़ियाँ बनी रहती हैं। ये बड़े अच्छे ढंग के बने होते हैं। इनकी रचना से कूकियों की बौद्धिक या मानसिक कोटि का भी कुछ आभास हमें मिलता है।
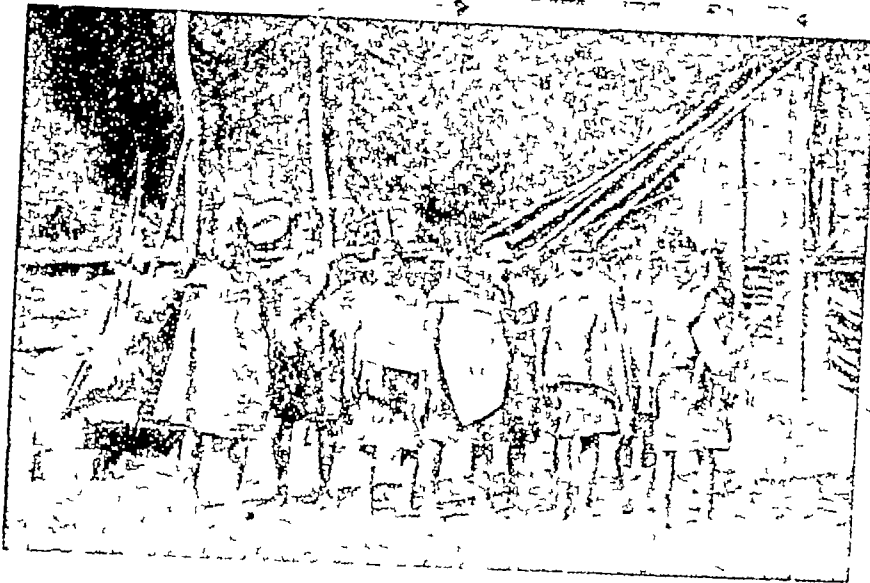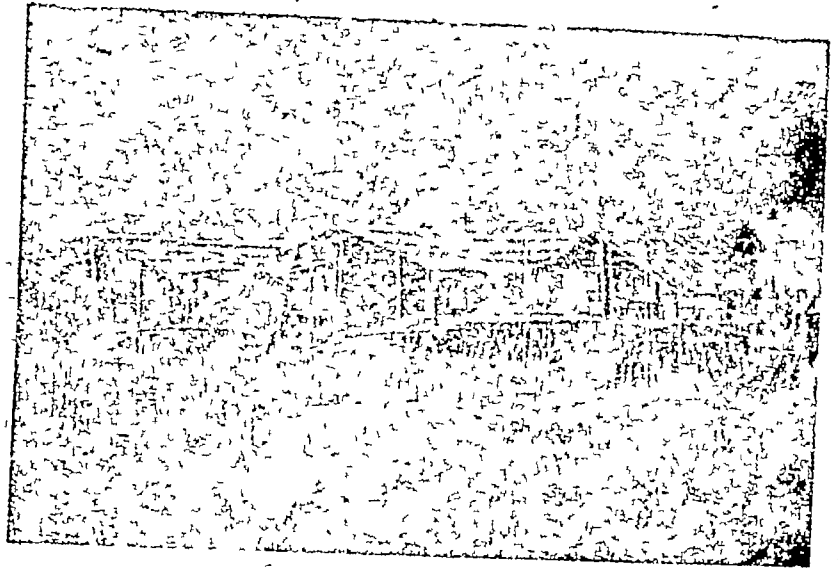
कुछ कूकी स्त्रियाँ

इस चित्र के द्वारा आप इनकी आकृति, वस्त्र आदि का कुछ अनुमान कर सकते हैं। कुछ स्त्रियाँ अपने साथ छोटे बच्चों को लिये हुए हैं। ज़रा ग़ौर से देखिए, किस प्रकार उन्होंने बच्चों को कपड़े से बाँधकर लटका रक्खा है। यह इनका बच्चों को उठाये रखने का विशेष ढंग है।

कूकी जाति की स्त्रियाँ उखल में धान कूट रही हैं।

इनके रोज़मर्रे के काम में आनेवाले अन्य घरेलू पात्र भी पास में रक्खे हैं। [तीनों फ़ोटो—श्री० बी० भाटिया द्वारा। लखनऊ एन्थ्रापालाजिकल एक्सपीडिशन की कृपा से]

के नाम से मशहूर हैं। लुशेई लोग कूकी की जंगली जातियों में सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। लुशेई सरदार पश्चिम में कर्णफूली नदी और उसकी मुख्य सहायक नदी तुईलान पुई और पूर्व में त्याओ और कोलादीने नदियों के बीच के प्रदेश पर राज्य करते हैं। माट और कोलादीने नदियों के संगम से होती हुई पूर्व और पश्चिम दिशा के बीच एक रेखा खींची जाय तो यह उनकी दक्षिणी सीमा होगी और उनके सुदूर उत्तर के गाँव सिलचर ज़िले के सरहद पर पड़ते हैं। लुशेई लोग और उनसे स्पष्ट सम्बन्ध रखनेवाले दूसरे लोग बहुत दूर तक फैले हुए हैं; वे सिलहट की दक्षिणी सरहद, टिपरा और उत्तरी कचार पहाड़ियों में पाये जाते हैं और चटगाँव के पहाड़ी मैदानों में भी इन लोगों के कुछ गाँव मिलते हैं।

लुशेई लोगों के अलावा दूसरे क़बीलेवाले, कर्नल शेक्सपीयर के वर्गीकरण के अनुसार (जनके द्वारा लिखित निबन्ध आज भी इन लोगों संबंधी सबसे प्रामाणिक विवरण है) निम्नलिखित पाँच भागों में बाँटे जा सकते हैं—(क) थाडो कूकी (Thado Kukis); (ख) पुराने कूकी क़बीले; (ग) कुछ कूकी क़बीले जो कि लुशेई लोगों के प्रभाव में आकर उन्हीं के साथ रहते हैं, लेकिन थँगुर(Thang-Ur) सरदारों के शासन के अन्तर्गत हैं, (घ) कुछ कूकी क़बीले जो कि लुशेई लोगों के साथ या उनके निकट पड़ौस में रहते हैं, किन्तु जिन्होंने थँगुर सरदारों के अधीन क़बीलों की तरह उनमें मिलकर अपनी पृथक सत्ता खो नहीं दी है, (ङ) लाखेर लोग या उन चिन पहाड़ियों से आकर बसनेवाले प्रवासी, जिन्हें लुशेई लोग अपना उद्भव-स्थान बतलाते हैं। यद्यपि हम यहाँ पर यह वर्गीकरण दे रहे हैं, किन्तु व्यवहार-रूप में कूकी क़बीलों का अन्तर पहचानना बड़ा कठिन होता है। कूकियों की अपनी एक विशेष ढंग की संस्कृति है और वह कूकी नस्ल के सभी क़बीलों में एक-सी पाई जाती है। मिस्टर एन० ई० पैरी (N. E Parry) ने, जिन्होंने १६३१ की मर्दुमशुमारी की रिपोर्ट, खण्ड १, भाग ३, में लुशेई लोगों के बारे में लिखा है, इस संबंध में लिखते हुए दिखलाया है कि किस प्रकार लुशेई लोग दूसरे कूकी क़बीलों को, जो कि उनके साथ रहते हैं, अपने में मिला लेने में सफल हुए हैं और किस प्रकार दूर रहनेवाले क़बीले भी उनके सांस्कृतिक प्रभाव से नहीं बच पाये हैं। फ़नाई (Fanais), पैहटे (Paihtes), थाडो (Thados) वग़ैरह और दूसरे कूकी क़बीले लुशेई लोगों के प्रभाव में आ गये हैं और थोड़े समय बाद ही (अधिक वर्ष बीतने के पहले ही) उनमें और लुशेई लोगों में व्यवहार-रूप में कोई अन्तर नहीं रह जायगा। सभी ने नहीं तो अधिकांश कूकी क़बीलों ने लुशेई लोगों के, जिन्होंने कुछ समय पहले ही दूसरे क़बीलों पर विजय पाई है, रहन सहन और प्रथाओं को अपना लिया है और यद्यपि उनकी मूल बोलियाँ अब भी चली आती हैं, किन्तु लुशेई लोगों में मिलने का क्रम बहुत कुछ पूरा हो चुका है।

लुशेई तथा दूसरे कूकी क़बीले मंगोलियन नस्ल से निकले हैं। वे क़द के छोटे किन्तु बलिष्ठ मांसपेशियोंवाले, चौड़े पर गोल चेहरेवाले, उभरी गाल की हड्डियोंवाले और छोटी बादाम के आकार की आँखोंवाले मज़बूत नस्ल के लोग हैं। उनकी नाक आम तौर पर छोटी और चौड़ी होती है और नथुने जड़ के पास चौड़े होते हैं। उनके शरीर का रंग पीले-भूरे रंग से लेकर काले कमरखी के रंग का पाया जाता है। दाढ़ी और गलमुच्छे प्रायः एकदम देखने में नहीं आते और अगर किसी के मूछ के बाल निकलते भी हैं तो वह मुँह के एक किनारे के बालों को छोड़कर बाक़ी को उखाड़कर फेंक देता है। इन लोगों की खोपड़ी में ज्यादा बाल नहीं उगते, लेकिन स्त्री-पुरुष दोनों ही सिर के बालों की चोटी बनाकर और बीच में से उसके दो भाग करके गर्दन के पीछे बाँध लेते हैं। उनके बालों का घुमाव सीधा होता है, घुँघराले बाल उनमें अपवाद के-रूप में ही मिलते हैं।

कूकी लोगों को अपनी वंशावली देखने का बड़ा शौक़ होता है और किसी मानव-शास्त्रवेत्ता के लिए उनके परिवारों की १३ पीढ़ियाँ ढूँढ निकालना कोई मुश्किल काम नहीं है। सभी मौजूदा लुशेई सरदार अपनी उत्पत्ति थँगुर नामक पुरुष से बतलाते हैं, जिसके पूर्वजों का पता नहीं चलता। कर्नल शेक्सपीयर ने अपने निबन्ध में जो वंशावली दी है, उससे पता चलता है कि थँगुर कोई कपोलकल्पित दन्तकथा का पूर्वज नहीं है, बल्कि १८वीं शताब्दी के आरम्भ में वह शासन करता था और इस बात की बहुत सम्भावना जान पड़ती है कि वह फालम के उत्तर में त्लांगकुआ (Tlang-kua) ग्राम का रहनेवाला था। वह अपने पीछे थँगुर सरदारों के छः वंश छोड़ गया, जो क्रमशः रोकुम (Rok-um), ज़ेडेंग (Zadeng) थँगबोह (Thangbuah), पैल्लियन (Pallian), रीवग (Rivung) और सेला (Saila) कहलाये। थँगुर सरदारों के ये राजवंश कूकी प्रदेश के अलग-अलग भागों में स्थापित हुए। इनमें से कुछ परिवार आज भी ख़ानाबदोशी की ज़िन्दगी

लोगों के ढंग का एक दाओ (dah or dao) मात्र होता था। योद्धा लोग जंगली भैंसे के चमड़े की बनी हुई ढाल काम में लाते हैं, जिनके ऊपर कोनों में ख़ूबसूरती के लिए लाल रँग में रँगा हुआ बकरे के बालों का गुच्छा लगा रहता है। भाले और दाओ के अलावा बाँस के शूल (मोटी नोकदार तीलियाँ) भी काम में लाये जाते हैं। बाणों की नोक कँटीले लोहे के फलों से मढ़ी जाती है और वे बाँस के एक थैले में, जिस पर चमड़े का एक ढक्कन लगा रहता है, ले जाये जाते हैं।

कूकी के लुशेई क़बीलेवालों के आर्थिक जीवन का वर्णन करते हुए हम देखते हैं कि उनके धन्धों और आर्थिक रचना का उनके वासस्थान के साथ आश्चर्यजनक सामंजस्य पाया जाता है। संस्कृति और वासस्थान अन्योन्याश्रित पाये जाते हैं, और सामाजिक झुण्ड जितना ही आदिम होता है, दोनों के बीच यह अन्योन्याश्रयिता भी उतनी ही अधिक मात्रा में पाई जाती है। अनुन्नत सांस्कृतिक अवस्था में लोगों के औज़ार, बर्त्तन, घर और उनके जीवन-निर्वाह के सभी पदार्थों में प्राप्त [प्राकृतिक] साधनों के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध पाया जाता है। उदाहरण के लिए जब हम कूकी लोगों के आर्थिक जीवन की जाँच करते हैं तो हम उनके जीवन में बाँस और बेंत की जो प्रधानता है उसकी उपेक्षा नहीं कर सकते। अधिकांश आदिम जातियों में लोग किसी-न-किसी तरह के बर्त्तन या तो स्वयं बना लेते हैं या वे विशेष जातियों द्वारा बनाये जाते हैं, लेकिन कूकी लोगों में बाँस के चोंगों या नलियों [tubes] और डलियों से लोगों की ज़्यादातर ज़रूरतें पूरी हो जाती हैं। सवेरे तड़के ही कूकी औरतें पानी इकट्ठा करने के लिए बाँस के चोंगों [नलियों] से भरी हुई बेंत की डलिया लिये हुए झरने की ओर जाती हुई दिखलाई देती हैं। अनाज इकट्ठा करने के लिए बड़े-बड़े खाँचे बनाये जाते हैं, और उनकी रोज़मर्रा की बहुत सी ज़रूरतें भी बाँस और बेंत से पूरी होती हैं; यहाँ तक कि उनके भोजन का कुछ भाग भी बाँस की जड़ों और फुनगियों का होता है!

जिन जंगलों में कूकी लोग रहते हैं, वे घने बाँस के वृक्षों से ढके रहते हैं। दूसरे किसी क़िस्म के पेड़ मुश्किल से नज़र आते हैं और चारों तरफ़ पहाड़ियाँ बाँस के ऐसे झुरमुटों से ढकी रहती हैं, जिनमें दिन के प्रकाश में भी रास्ता मिलना मुश्किल होता है। जब तक कोई आदमी इन भागों से अच्छी तरह परिचित न हो, उसके लिए कूकी लोगों के रास्ते को ढूंढ निकालना आसान नहीं होता, क्योंकि कभी-कभी ये रास्ते ऐसे नालों के बीच से होकर गुज़रते हैं जिनके कारण पैर के निशान नहीं दिखाई देते।

डारलुँग कूकियों का, जो लुशेई लोगों की एक शाखा है, और जिनके यहाँ हम लोग अपनी यात्रा में गये थे, वर्त्तमान वास-स्थान त्लांग (Tlong) नदी से निकलनेवाले एक नाले के किनारे पर है। यह नाला जाड़े के दिनों में प्रायः सूख जाता है, जबकि बरसात के मौसम में वह इतना भर जाता है कि उसे पार करना नामुमकिन होता है। बरसात का मौसिम इन हिस्सों में साल के सात महीने तक चलता है और डारलुंग लोग इस अवधि के अधिकांश भाग में बाहरी दुनिया से कटे हुए रहते हैं। अपने रोज़मर्रा की ज़रूरत की चीज़ें उन्हें खुले मौसम के उन चार-पाँच महीनों में ही इकट्ठा कर लेनी पड़ती हैं, जबकि वे अपनी बस्ती से स्वच्छन्दतापूर्वक बाहर आ-जा सकते हैं। ख़ास मौक़ों पर वे बेशक बरसात में बाहर जा सकते और जाते हैं, लेकिन इसमें हमेशा ख़तरा रहता है; क्योंकि रास्ता बाँस के घने झुरमुटों के बीच में से होकर जाता है, जहाँ बरसात में कई तरह के कीड़े-मकोड़े और जोंकों की भरमार रहती है और कूकी लोग भी उनके संघातक ज्वर पैदा करनेवाले ज़हरीले दंश से डरते हैं। जब वे बाँस के वृक्षों से ढके हुए जंगल से होकर गुज़रते हैं तो गहरी वर्षा के बाद वृक्षों से चूनेवाली जल की बूँदों की तरह जोंकें भी ऊपर से उन पर गिरती हैं। वे देह की चमड़ी के सम्पर्क में आईं नहीं कि देह के उस हिस्से का फूलना और उसमें भयंकर पीड़ा होना शुरू हो जाता है और अंत में संघातक ज्वर हो जाता है। अगर यह ज्वर संघातक न हुआ तो भी आदमी को एक लम्बे अरसे तक बीमार बनाये रखता है। आसाम अपने जंगली हाथियों के झुण्ड के लिए बदनाम है और यह झुण्डों के हमले-के-हमले इन भागों में अक्सर हुआ करते हैं। हर साल बहुत-से जंगली हाथी पकड़कर पाले और सिखाये जाते हैं और अच्छी खेती करनेवाले किसान भी अपने पास हाथी रखते हैं, जो कि भीतरी प्रदेशों से लकड़ी ढोकर लाने के काम में लाये जाते हैं। चीते और बाघ ज़्यादा यहाँ नहीं मिलते, लेकिन हिरन, बिसन और जंगली भैंसों की तो यहाँ भरमार है। कूकी लोग जंगली रीछों और सुअरों का शिकार भी करते हैं। इनके पालतू जानवर कुत्ते और सुअर हैं; पहला रखवाली का काम करता है और दूसरा मांस के काम में आता है। अकाल आदि के समय, जब अनादि का मिलना मुश्किल हो जाता है, कुत्ते का मांस भी खाने के काम में लाया जाता है। जब कभी

लोग धीरे-धीरे खेती के इस नये तरीक़े के ख़िलाफ़ अपने मिथ्या-विश्वास को छोड़ देंगे। जब जंगल के पेड़ों को गिराने के बाद खेत तैयार हो जाते हैं और उनमें प्रथा के अनुसार बीज बो दिया जाता है, तो ज्यों ही मानसून का पानी गिरना शुरू होता है, त्यों ही कूकी लोग इस विश्वास में अपने को उस पानी में अच्छी तरह भिगोते हैं कि ऐसा करने से उनकी फ़सल को फ़ायदा पहुँचेगा। कूकी लोगों द्वारा सब प्रकार की सावधानी बरतने और उनके सारे बलिदानों और नाचों के बावजूद भी उनका आर्थिक दृष्टिकोण आशापूर्ण नहीं है। वे भविष्य का कोई विचार नहीं करते, सब कुछ भाग्य के भरोसे छोड़ देते हैं। जब खेतों की लवाई का मौसम आता है, तो खेत धान की पकी बालियों से भर जाते हैं। किन्तु कूकी लोगों की समझ में नहीं आता कि वे अपनी पैदावार को किस तरह काम में लाएँ। लवाई की दो मौसमों के बीच उन्हें भोजन के लिए जितनी जरूरत पड़ती है, वे अपने पैदावार का सिर्फ़ उतना ही हिस्सा घर ले जाते हैं और बाक़ी हिस्सा पालतू जानवरों के चरने के लिए छोड़ दिया जाता है। लेकिन दो महीने भी नहीं बीत पाते कि उनके अनाज का अधिकांश भाग शराब तैयार करने, जिसका कि उन्हें हद से ज़्यादा शौक़ होता है, या देशी शराब के बदले देने में खर्च हो जाता है।

शासन-प्रणाली का राजतंत्रात्मक रूप और कहीं इतना जनप्रिय नहीं है जितना कि कूकी कबीलों में। राजा कूकियों का वास्तविक सरदार होता है। उसकी एक समिति होती है, जिसमें जीवन के विविध क्षेत्रों में प्रधानता प्राप्त करनेवाले व्यक्ति राजा द्वारा नामजद किए जाते हैं और उन्हें "मत्री", "दीवान", और "कोतवाल" आदि के अवैतनिक पद दिये जाते हैं। इन अधिकारियों का लोगों पर काफी असर रहता है। राजा का बहुत आदर किया जाता है और उसका पद पैतृक होता है। कूकियों में उसकी गणना प्रधानतम सर्वश्रेष्ठ कुलीन व्यक्ति के रूप में होती है। धर्म उसके गौरव की वृद्धि करता है और वह उन लोगों का धर्म-रक्षक समझा जाता है। कूकी समाज का दूसरा सबसे महत्वपूर्ण अधिकारी थियाम्पू (Thiampu) है, जो कि उन लोगों का पुरोहित और शमन (Shaman)—धर्माधिकारी—दोनों ही है। वर्तमान डारलुंग-नरेश राजा लालचक खमाबहादुर हैं, जिन्हें अपनी उपाधि त्रिपुरा दरबार से मिली है, क्योंकि उनका राज्य टिपरा की देशी रियासत के अन्तर्गत पड़ता है। उनके [illegible] मुरचेंग ने ईसाई मज़हब क़बूल कर लिया है, लेकिन यह खुद अब तक अपने स्थानीय धर्म में विश्वास बनाये हुए हैं। दोनों भाइयों की शादी दोनों सौतेली बहनों से हुई है और वे अब तक अपने वंश की पवित्रता की रक्षा करते आए हैं। लेकिन चूंकि एक भाई ने अपना धर्म परिवर्तन कर लिया है, इसलिए अब एक विकट समस्या खड़ी हो जायगी।

डारलुंगों के राजा के पास अधिक जायदाद नहीं है और उनके राज्य से जो कुछ आमदनी होती है, वह उनके ख़र्च के लिए काफ़ी नहीं है। जिन दिनों हम लोग डारलुङ्ग-नरेश राजा लालचक के मेहमान थे, उन्होंने विधिवत् हमारा स्वागत किया था और भेंट में हमें एक साड़ी दी थी। यह ५ × ३ फ़ीट की मामूली साड़ी वहीं की बनी हुई और टिकाऊ बनावट की थी। हमने इस भेंट को आदर के साथ ग्रहण किया और बदले में कुछ भेंट करने की सोच ही रहे थे कि हमें महल के भीतर इस घटना की प्रतिक्रिया का पता महल के एक नौकर से चला। रानी शोकाकुल हो रही थीं; राजा से महीनों कहने-सुनने के बाद जो एकमात्र अतिरिक्त वस्त्र उसने पाया था, उसे राजा ने हम लोगों को भेंट कर दिया था और राजा की समझ में नहीं आ रहा था कि वे उसके स्थान पर रानी को क्या देकर संतुष्ट करें! हम लोग तुरन्त महल को पहुँचे और एक रुपए के साथ वही साड़ी पुनः भेंट कर दी और इस प्रकार राजा लालचक खमाबहादुर को संकटपूर्ण परिस्थिति से बचा लिया!

कूकी क़बीले मूलतः विजातीय विवाह की प्रथा को माननेवाले हैं, अर्थात् वे अपने कबीले के भीतर शादी न करके उसके बाहर दूसरे कबीलेवालों से शादी करते थे। किन्तु आजकल बहुत-से क़बीले विजातीय विवाह की प्रथा को नहीं मानते। उदाहरण के लिए लुशेई लोग क़बीले से बाहर शादी नहीं करते, और कुछ दिनों पहले उनमें यह रिवाज रहा हो, ऐसा भी नहीं पाया जाता। दो भाई की संतानों में परस्पर विवाह सबसे अधिक प्रचलित हैं। लुशेई लोगों के सैलो क़बीलेवाले पहले अपनी शादियाँ अपने क़बीले के भीतर ही करते थे, लेकिन आजकल उनके नवजवान सर्दार जहाँ इच्छा होती है वहीं से अपने लिए औरतें ले आते हैं। कूकी लोगों में सगे भाई-बहन में साधारणतया विवाह-सम्बन्ध नहीं पाया जाता, पर सौतेली बहनों के साथ शादी की जा सकती है। कभी-कभी भाई-बहनों में विवाह की बात भी सुनी जाती है। चीरू (Chiru) कूकी लोग डनला (Danla), रेज़र (Rezar)

ऊपर नवयुवक के स्वीकृत अधिकार में हस्तक्षेप नहीं करता और कदाचित् ही ऐसा अवसर पड़ा है जबकि जाति के किसी सदस्य ने दूसरे सदस्य के इस अधिकार को चुनौती दी हो। प्रयोग की इस प्रथा से दम्पति को एक दूसरे के स्वभाव को समझकर अपने-अपने स्वभाव को एक दूसरे के अनुकूल बनाने और इस प्रकार एक चिरस्थायी एवं सुखद वैवाहिक जीवन की कल्पना करने का अवसर मिलता है। इससे एक लाभ यह भी होता है कि बाद में सम्बन्ध-विच्छेद, जो कि आजकल भारतवर्ष की आदिम जातियों में बहुत गम्भीर परिमाण में पाया जाता है, की आवश्यकता कम ही पड़ती है। कभी-कभी प्रयोग की शर्त स्थायी बन जातीहै और लड़का-लडकी बिना संस्कार-विधि के ही पति-पत्नी की तरह रहने लगते हैं; इस प्रकार का संबंध उन लोगों में जायज़ समझा जाता है। कूकी समाज में इस प्रकार के मान्य वैवाहिक सम्बन्ध का एक कारण कभी कभी वर का विवाह के खर्च को बर्दाश्त करने में असमर्थ होना है। किन्तु इस सम्बन्ध को जायज़ ठहराने में सबसे महत्वपूर्ण विचार उन दोनों पक्षों का परस्पर आकर्षण और अनुराग है, जो बिना विवाह-संस्कार के झमेले में पड़े ही अपना काम चलाना चाहते हैं। समाज दोनों पक्षों की नीयत को प्रधानता देता है, और सम्बन्धित पक्षों की सचाई और साथ रहने की उत्कण्ठा में असंदिग्ध विश्वास रखता है। ऐसे मामले बहुत कम देखने में आये हैं, जब कि समाज का इस प्रकार विश्वास रखना मिथ्या सिद्ध हुआ हो। इस प्रकार का विवाह-सम्बन्ध आदर्श समझा जा सकता था, अगर वह सार्वभौम बनाया जा सकता। किन्तु कूकी लोगों में विधिवत् विवाह कन्याक्रय की प्रथा द्वारा होता है, जिसके अनुसार नवयुवक को लड़की के माता-पिता की हैसियत के मुताबिक वधू-मूल्य यानी दुलहिन की कीमत चुकानी पड़ती है और अभीष्ट मूल्य न मिलने पर माता-पिता अपनी लड़की को शादी में देने से इनकार कर देते हैं। कूकी समाज कन्या-विक्रय और संस्कार-मुक्त-स्वेच्छा चुनाव (companionate marriage) के आदर्शों के बीच भूल रहा है, और उसने सेवा (नौकरी) द्वारा विवाह की प्रथा का अपने यहाँ समावेश किया है। इस प्रथा के अनुसार कन्या के कुटुम्ब में रहनेवाले वर के लिए आवश्यक है कि वह कन्या के कुटुम्ब में रहकर कुटुम्ब की सेवा द्वारा वधू का मूल्य चुकावे। इस प्रथा के अनुसार समाज से हटकर रुचि का केन्द्र परिवार बन जाता है और कन्या जो मूल्य दोनों पक्षों द्वारा निर्धारित किया गया है, उसके बदले में नवयुवक से कितनी सेवा ली जाय, यह कन्या के कुटुम्ब की दशा पर निर्भर करता है। अगर वर को इस ज़िम्मेदारी से स्थायी या अस्थायी तौर पर मुक्त भी कर दिया जाता है, तो भी वर कन्यापक्ष के अहसान को नहीं भूल सकता और विवाह को भग न होने देने के लिए यह अच्छी रोक रहती है। इस ज़िम्मेदारी से इनकार करने का सवाल कभी नहीं उठा है, क्योंकि कोई कूकी परदेशियों के साथ चाहे जैसा व्यवहार क्यों न करे, वह इस प्रकार का प्रयोग करने का साहस कभी नहीं करेगा। ऐसा करना सिर्फ़ अनुचित और उनके आत्म-सम्मान को ठेस पहुँचानेवाला ही नहीं समझा जायगा, बल्कि उत्तरदायित्व से इस प्रकार के पलायन के विरुद्ध उसका सारा मनुष्यत्व विद्रोह कर उठता है। कई बार ऐसा हुआ है कि कोई व्यक्ति अपने क़र्ज़ को नहीं अदा कर सका है। उसने समाज से यह मजूरी ले ली है कि उसके स्वाभाविक उत्तराधिकारी उसके क़र्ज़ को अदा करेंगे और जब तक परिवार का भुगतान अदा न हो जाय, तब तक वे अपनी शादी न कर सकेंगे। बहुत बार दो परिवारों के बीच नई शादियाँ होने से परिवार का ऋण और भी बढ़ गया है, और कूकी लोगों में पाई जानेवाली इस प्रथा का कि नवयुवकों को विवाह में ख़ास कन्याओं को तरजीह देनी पड़ती है बहुधा यह भी कारण होता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि ऐसा कभी होता ही नहीं कि कोई भुगतान न चुका सके या चुकाने से इनकार कर दे। किन्तु ऐसा इतने थोड़े परिमाण में होता है कि इस आदर्श के प्रति समाज के साधारण रुख़ पर कोई असर नहीं पड़ता। प्रयोग के काल में स्थिति को पेचीदा होने से बचाया जाता है। अगर किसी लड़की के गर्भ रह जाय तो नवयुवक को फटकार पड़ती है और उसे लड़की से शादी करनी पड़ती है या गाँव के किसी दूसरे नवयुवक को रिश्वत देकर लड़की का पति बनने के लिए राजी करना पड़ता है। पहले ऐसा होता था कि लड़की के गर्भ-धारण पर स्थानीय दाइयाँ बुलाई जाती थीं जो कि गर्भाधान के ६ महीने बीत जाने पर गर्भाशय में बच्चे के सिर के स्थान को ढूँढ निकालती थीं और उस पर पत्थर से हलकी-हलकी चोट लगाती थीं; जिसके फलस्वरूप बच्चा मर जाता था, और लड़की का गर्भपात हो जाता था। आजकल मौका आने पर लड़कियाँ घर में बूढ़ी औरतों से सलाह लेती हैं, जो उन्हें गर्भपात की ज़रूरत पड़ने पर जड़ी-बूटियाँ तुरन्त बतलाती हैं।

राजर्षि मनु
[चित्रकार—श्री० वीरेश्वर सेन, एम० ए०]

प्रणव रहस्य से भरी हुई त्रयी-विद्या का प्रतीक है, उसी प्रकार सब राजाओं की शासन-नीति के प्रतीक मनु हैं। मनु ने मानव-धर्म के जिस उत्कृष्ट स्वरूप का उपदेश किया है उसी के कुछ प्रधान सूत्र कालिदास ने रघुवंशीय राजाओं के चरित्र की मीमांसा में लिखे हैं। समुद्र-पर्यन्त पृथ्वी के एकराट्, जन्म से मृत्यु पर्यन्त संस्कारों के द्वारा शुद्ध रहनेवाले, आयु के प्रथम भाग में विद्या का अभ्यास करनेवाले, यौवन में यथान्याय विषयों का उपभोग करनेवाले, वृद्धावस्था में मुनियों की वृत्ति धारण करनेवाले और अन्त में योग के द्वारा शरीर छोड़नेवाले, इस प्रकार के सुव्यवस्थित आश्रम-जीवन के अनुयायी सूर्यवंशी राजा थे! वे लोग यश के लिए जीतनेवाले, सत्य के लिए मितभाषी, दान के लिए अर्थसञ्चयी और सन्तति के लिए गृहमेधी बनते थे। विधि के अनुसार अग्निहोत्र करना, समय के अनुसार जागना, अपराध के अनुसार दण्ड देना और कामना के अनुसार याचकों को दान देना ये उनकी विशेषताएँ थीं। इन स्फुट रेखाओं से मानव-जीवन का जो स्वरूप हमारे सामने आता है, वही संक्षेप में मानव-धर्म है। हमारे आदर्शों के चिरपरिचित रघु और दिलीप के ही पूर्वज मनु थे। उदात्त क्षात्र-धर्म के उत्कृष्ट प्रतिनिधि इन राजर्षिवर्यों का जो स्वरूप हमारे सामने आता है, उसमें कवि के शालप्रांशु, वृषस्कन्ध, व्यूढोरस्क और महाबाहु ये विशेषण अक्षरशः चरितार्थ होते हैं। राजर्षि मनु के भौतिक स्वरूप की कल्पना भी कुछ कुछ इसी रूप में हमारे सामने आती है।

आर्य जीवन की इसी उदार परम्परा में भगवान् श्रीकृष्ण थे। उन्होंने गीता में स्वय कहा है कि राजर्षियों का यह उत्तम प्रज्ञा योग वैवस्वत मनु से ही प्रारम्भ हुआ और इसी के अनुयायी जनक भी थे। हम कह चुके हैं कि ब्रह्म और क्षत्र दोनों आदर्शों का पूरा मानदण्ड कृष्ण का जीवन था। यही बात मनु और जनक तथा उन्हीं आदर्शों से पोषित इतर राजर्षि-परम्परा के लिए भी कही जा सकती है। महाकवि कालिदास ने लिखा है कि मनु ने जिस मार्ग को चलाया, रघुवंशी राज्य की प्रजाएँ तिल भर भी उससे इधर-उधर नहीं हटती थीं। भारवि ने कहा है कि दुर्योधन भी अपनी शासन-नीति में मनु की पदवी का अनुयायी था। मनु-राजधर्म का ऊँचा आदर्श राज्याभिषेक की शपथ के साथ से ही भारतीय नरेशों को दीक्षित करता रहा है। ऐतिहासिक युग मे गुप्तवंशी सम्राट् इसके उदाहरणस्वरूप हमारे सन्मुख आते हैं, जिनके समय कवि के अनुसार स्वर्ग की समृद्धि पृथ्वी पर उतर आई थी।

मनु-स्मृति

वर्तमान मनुस्मृति या मानवधर्मशास्त्र बारह अध्यायों* में अनुष्टुप् श्लोकों में निबद्ध है। इसी स्मृति की अन्तरङ्ग साक्षी से मालूम होता है कि एकाग्र बैठे हुए भूरितेज, अमितौजा, धीमान् महात्मा मनु से ऋषियों ने धर्म के सम्बन्ध में प्रश्न किया। परन्तु कुछ दूर तक धर्म का निरूपण करने के बाद भगवान् मनु अपने मनीषी शिष्य भृगु को आगे के निर्वाचन का कार्य सौंपकर चले जाते हैं और शेष ग्रन्थ का व्याख्यान भृगु के द्वारा होता है। वस्तुतः वर्त्तमान मनुस्मृति का संस्करण मानव चरण के भृगुवंशी आचार्यों ने किया। इसमें एक प्रमाण यह है कि मनुस्मृति और महाभारत में गहरी समानता है। स्वर्गीय डाक्टर व्हूलर ने शान्ति, अनुशासन और वनपर्व के साथ मनुस्मृति की तुलना करके यह बताया था कि दोनों में लगभग २५० श्लोक समान हैं और यह संख्या उपलब्ध मनुस्मृति का दसवाँ भाग है। महाभारत के शेष पर्वों में और भी समान श्लोक होंगे। अभी हाल में भंडारकर इंस्टीट्यूट के अध्यक्ष श्रीयुत डा० विष्णु सुकथङ्कर ने अपने 'भृगु' शीर्षक लेख में बहुत खोज और विद्वत्ता के साथ, जिसे डा० कीथ ने भी माना है, यह सिद्ध किया है कि महाभारत का वर्त्तमान संस्करण भार्गववंशी ब्राह्मणों के द्वारा तैयार कराया गया था। यह अनुमान होता है कि उन्होंने ही इन समान श्लोकों का मनुस्मृति और महाभारत दोनों में समावेश किया। इस प्रश्न के उत्तर में कि मनुस्मृति का पूर्व रूप क्या था, विद्वानों का बहुमत इस पक्ष में है कि मनुस्मृति से पहले एक मानव धर्मसूत्र था, जिसमें प्रतिशाख्यों की तरह श्लोक और सूत्र दोनों मिले हुए थे। यह मानव धर्मसूत्र अब उपलब्ध नहीं होता, परन्तु किसी समय इसका सम्बन्ध कृष्ण यजुर्वेद की मैत्रायणी शाखा से था। मैत्रायणी शाखा के अन्तर्गत एक मानवों का चरण था। प्राचीन परिभाषा में चरण वैदिक परिषद् या आचार्य विशेष के चारों ओर पनपनेवाले विद्या-संस्थान को कहते थे। मानव आचार्यों के चरण में जिस धर्मसूत्र की रचना हुई उसी के आधार पर

---

* प्राचीनतम रोमन लॉ का संग्रह भी द्वादशाध्यायात्मक होने के कारण 'Twelve Tables' के नाम से प्रसिद्ध है। उनका संग्रह ४५१ ई० पूर्व में दस आप्त व्यक्तियों (*Decemviri*) के द्वारा किया गया था, जिसके साथ मनु की 'दशावरा परिषद्' का ध्यान आता है।

मूलक धर्म है। रामायण के द्वारा रामचरित का जो आदर्श वाल्मीकि ने रक्खा है, वही दस लक्षणोंवाला * आचार-प्रधान धर्म मनु ने कहा है। मनु का वाक्य है—

आचारः परमो धर्मः। (१।१०८)

और भी, 'आचार से विहीन विप्र को वेद का कुछ भी फल प्राप्त नहीं होता, आचारवान् होकर ही वह सम्पूर्ण फल को पाता है।' इस प्रकार आचार से धर्म की प्राप्ति मानते हुए ऋषियों ने समस्त तप का मूल आचार को कहा—

सर्वस्य तपसो मूलमाचारं जगृहुः परम्।

मनु ने बारम्बार वेद को अपने शास्त्र का मूल माना है। ऋग्वेद में कहा है—

ऋतस्य पन्थां न तरंति दुष्कृतः (ऋ० ६।७३।६)

अर्थात् आचारहीन व्यक्ति सत्य के मार्ग के पार नहीं पहुँच पाते। मनु ने इसी का अनुवाद करते हुए कहा है—

वेदास्त्यागाश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च।
न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित्॥
(म० २।९७)

अर्थात् वेद त्याग, यज्ञ, नियम और तप ये सब दुष्ट मनोभाववाले मनुष्य के लिए निष्फल हैं।

इस आचारमूलक जीवन की साधना मनु का ब्रह्मचर्य आश्रम है। मनु के शिक्षाक्रम का उद्देश्य डाक्टर, वकील, या इन्जीनियर अथवा इनके समान पेशेवर लोग उत्पन्न करना नहीं है, † बल्कि ऐसे आचारवान् पुरुषों को बनाना है जो शरीर और मन से बलवान् हों और अपने और जाति के महान् जीवन में जिनकी श्रद्धा हो। विवाह करने का अधिकारी कौन है, इसका उत्तर मनु एक शब्द में देते हैं कि जो 'अविप्लुत ब्रह्मचर्य' वाला हो। गृहस्थाश्रम में प्रवेश का यह अधिकार राष्ट्र के जीवन-मरण के साथ सम्बन्ध रखता है और त्रिकाल में भी कोई अधीर व्यक्ति इसमें परिवर्तन नहीं कर सकता। वास्तव में नीतिमूलक आचार ही नित्य धर्म है। वह सत्य होने के नाते ही हमारे लिए एक अटल कर्तव्य बना रहता है ×।

कुल धर्म

गीताञ्जलि की भूमिका के विद्वान् लेखक ने लिखा है कि 'क्या आप यह जानते हैं कि पूर्व में किस प्रकार कुलों को यशस्वी बनाया जाता है'। मनु के धर्म का गोत्र भी कुल है। प्राचीन आर्य-जातियों के समाज संगठन में गृहपति, जिसे रोम के क़ानून में (*Pater familias*) कहा गया है, प्रधान केन्द्र था। हिन्दू जाति में गृहपति की भावना एक स्वर्गीय दिव्य भावना है, जिसके अमृत-जल से आज भी जाति का जीवन प्राणमय है। राज्य की और समाज की व्यवस्थाएँ भी जब ढीली पड़ जाती हैं, तब भी गृहपति सौर मण्डल की तरह अपने परिवार के केन्द्र में बैठा हुआ उसको नियंत्रित रखता है। नियमन का नाम ही जीवन है, अराजकता मृत्यु है। राजा के राज्याभिषेक की तरह गृहपति का भी मूर्धाभिषेक किया जाता था। एक राष्ट्र का ककुद् या उच्चतम स्थान है, दूसरा परिवार का। हिन्दू-जाति में एक गृहपति की मृत्यु के बाद उसके पुत्र को उसके स्थान में मूर्धाभिषेक करने की प्रथा आज तक जीवित है, जिसका बचा हुआ रूप तेरहवें दिन पगड़ी बाँधने की क्रिया है।

विवाह के समय मनु ने समृद्ध कुल और निंद्य कुलों में विवेक करने पर बहुत ज़ोर दिया है। कुविवाहों से उत्तम कुल भी हीन बन जाते हैं। अतएव बहुत सोच-समझकर वैवाहिक धर्मों (Marriage laws) को स्थिर करना चाहिए।

मनु के द्वारा आर्य नारी का यशोगीत

मनु के अनुसार स्त्री उत्तम सन्तति और प्रजाविशुद्धि का हेतु है। परिवार में माता-पिता वृत्त के केन्द्र और परिधि की तरह हैं। दोनों देखने में दो, पर वास्तव में अभिन्न हैं। मनु की व्यवस्था है—

यो भर्ता सा स्मृतांगना

अर्थात् जो पति है, वही अभिन्न रूप से पत्नी है। दोनों का अस्तित्व एक इकाई है। दोनों में न अधिकार की पृथकता है, न स्वार्थों का विरोध। परन्तु माता हज़ार पिताओं से गौरव में भारी है। माता पृथिवी है, वह क्षमाशील धात्री के रूप में परिवार का पोषण करती है।

स्त्री के जीवन की पूर्णता माता बनने में है। वीर्यवान्

---

*"धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥"
(मनुस्मृति ६। ९२)

† That was only made possible because only higher school education produced not men, but rather officials, engineers, jurists, literateurs and—in order to keep this intellectuality—professors.'—*My Struggle.*

× The right is a duty and is equally there at all times.—

सर्वसम्मत क़ानूनी व्यवस्था थी। मनुस्मृति से बहुत अंशों में समानता रखनेवाले प्राचीन रोमन लॉ में भी ऐसा ही प्रबंध था। संक्षेप में मनु के आदर्शों का प्रतीक वह पुरन्ध्रि स्त्री है, जिसके द्वारा सप्तसिंधु से लेकर योरप तक आर्य जाति का महान् विस्तार हुआ।

मनु और राष्ट्र

मनु का भारतवर्ष एक पुण्यभूमि है। वह इसे देव-निर्मित देश मानते हैं। इस यज्ञीय देश में जो आचार प्रचलित था, उसके लिए मनु के हृदय में गर्व है। वह सदाचार कहा गया है और मनु आर्योचित गौरव के साथ उस सदाचार को पृथ्वी के सब मानवों के लिए आदर्श मानते हुए अपने राष्ट्र को सबसे ऊँचे आसन पर स्थापित कर देते हैं। इस प्रकार की भावना ही राष्ट्र के अमर जीवन का हेतु है, जो उसे अंधकार में भी आत्मविषाद से बचाता है। अर्वाचीन भारत के पुनरुत्थान के तोरणद्वार पर मनु का यह श्लोक सोने के अक्षरों में लिखा जायगा :—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्व चरित्रं शिक्षेरन्पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

अर्थात् इस देश मे जन्म पाये हुए श्रेष्ठजन्मा पुरुषों से पृथिवी के सर्व मानव अपने चरित्र की शिक्षा ग्रहण करें।

राष्ट्र में राजा की आसंदी (गद्दी) सबसे ऊँचा स्थान है, जहाँ से दंड प्रवृत्त होता है। मनु को अराजक राष्ट्र से घृणा है। अराजकता की व्यवस्था से मात्स्यन्याय के द्वारा बलवान् निर्बलों का भक्षण और शोषण करने लगते हैं। जब तक राजनीति ठीक है, तभी तक मनु की पद्धति ठीक चलती है। स्वराष्ट्र में राजशक्ति के लड़खड़ाते ही मनु की आदर्श व्यवस्थाएँ भी बैठ जाती हैं। इसीलिए मनु ने राष्ट्रीय शक्ति के मूल को महती देवता माना है। मनु के अनुसार धर्म का ही दूसरा नाम दंड है। दंड के निर्बल होने पर धर्म रसातल को चला जाता है। यह स्मरण रखना चाहिये कि मनु का धर्म थोथा परलोक-विश्वास नहीं है, बल्कि वह प्रजाओं का धारण और संवर्धन करनेवाली जीवन की एक शक्तिशाली पद्धति है। दंड ही न्याय का मूल है। जब दंड का प्रणेता साधु अर्थात् निष्पक्ष भाव से दंड का प्रयोग करता है, तभी प्रजाएँ एक दूसरे को दबाना नहीं चाहतीं। मनु के अनुसार दंड ही राजा है, दंड ही नेता है, दंड ही शासिता है और दंड ही राष्ट्र में अकेला पुरुष है, दंड के सामने अन्य सब कुछ स्त्री की तरह प्रतीत होता है। सब भूतों का गोप्ता, प्रजापति का पुत्र, ब्रह्मतेज से युक्त ० ही है, जिससे राष्ट्रीय धर्म विचलित नहीं होते। इस प्रकार का सबसे निडर रहनेवाला और सबको निडर रखनेवाला दंड जब तक राष्ट्र का ककुद् या सबसे ऊँचा स्थान बना रहता है, तभी तक राष्ट्र की आत्म-सम्पदा पनपती रहती है। मनु का आदर्श राष्ट्र के ब्राह्मधर्म और क्षात्रधर्म का (जिन्हें आजकल की राजनीतिक परिभाषा में Legislative और Executive शक्ति कहते हैं) सुन्दर समन्वय है—

नाब्रह्म क्षत्रमृध्नोति नाक्षत्रं ब्रह्म वर्धते।
ब्रह्म क्षत्रं च संपृक्तमिह चामुत्र वर्धते॥ ६।३२२॥

अर्थात् बिना ब्रह्म के क्षत्र और बिना क्षत्र के ब्रह्म का विकास नहीं होता। ये मिलकर ही इस लोक में और परलोक में संवर्द्धित होते हैं।

इस प्रकार की व्यवस्था मे मस्तिष्क और बल, दोनों, की पूजा की जाती है। मनु के आदर्श ब्राह्मण वे हैं, जिनमें उच्च राष्ट्रीय संस्कृति मूर्तिमान् रूप धारण करती है। वे ब्राह्मण धर्म के कोश हैं। राष्ट्रीय धर्मों का निर्माण इसी प्रकार के ज्ञानियों की परिषद् में होता है, राजदण्ड तो उन धर्मों को प्रचलित रखता है। मानव संस्कृति बहुसख्या पर निर्भर नहीं है। एक ज्ञानी दस हज़ार मूर्खों से श्रेष्ठ है।

एकोऽपि वेदविद्धर्मं, यं व्यवस्येद् द्विजोत्तमः।
स विज्ञेयः परो धर्मो नाज्ञानामुदितोऽयुतैः॥

मानव धर्मशास्त्र बुद्धि का समादर करता है। वह जकड़ने वाले धर्मों का पुलिन्दा नहीं है। युगधर्म के अनुसार क़ानूनों की वृद्धि और विकास करने के उदार बीज इस शास्त्र में जान-बूझकर रक्खे गये हैं। शिष्ट विद्वानों की दशावरा परिषदों को संगठित करने का विधान इसीलिए था।

मनु के अनुसार विद्वान् या कर्मशील ज्ञानी का मूल्य सबसे अधिक है। धन, बन्धु, आयु, कर्म और विद्या, ये पाँच आदर की चीज़ें हैं, इनमें बाद की वस्तु पहले से श्रेष्ठ है। धन से ज्ञान बहुत ऊँचा है। यही ऋषियों का पैमाना था जिससे मानव की ऊँचाई नापी जाती थी, और मनु ने इसी को अपनाया है। मनु की दृष्टि में 'मनुष्य' सबके केन्द्र में है, उसी का निर्माण सब शास्त्र और धर्मों का ध्येय है। मनुष्य की समृद्धि के लिए ही आदर्श संस्थाओं का विकास राष्ट्र में किया जाता है। मनु का विचार है कि राजा ही युग का प्रवर्तक होता है (राजा हि युगमुच्यते), अतएव सप्तांग राज्य की ठीक व्यवस्था मानव-समाज की सबसे बड़ी आवश्यकता है। इसकी सिद्धि के लिए जहाँ एक ओर वीर्यवान् दण्ड की स्थापना चाहिए, वहीं दूसरी ओर राष्ट्र की प्रजा में निर्मलता और तेज भी आना चाहिए।